॥ श्रीगोडीजीपार्श्वनाथजैनग्रन्थमाला—चतुर्थं पुष्पम् ॥

॥ श्रीमत्सूत्रकृताङ्गम् ॥

[तत्रापि प्रथमश्रुतस्कंधस्य षोडशाध्ययनस्वरूपः प्रथमो विभागः]

संपादकाः—पूज्य-पन्न्यासप्रवरश्रीचन्द्रसागरगणीन्द्राः ।

प्रकाशिका—"श्रीगोडीजीपार्श्वनाथ-जैन-देरासर पेढी" इति संस्था, नं. १२; मुंबई-नं. ३.

॥ सन्मार्गस्वरूपम् ॥

पंथो मग्गो णाओ विही धिती सुगती हियं सुयं च ।
पत्थं सेयं णिव्वुइ णिव्वाणं सिवकरं चेव ॥ ११५ ॥

भावार्थः—पंथादि तेर पदार्थोथी मोक्षमार्गनुं यथार्थ-स्वरूप प्रतिपादन करेलुं छे.

[श्रीसूत्रकृताङ्गे-११ श्रीमार्गाध्ययनम्]

Presented with best Compliments to the Library of Congress, America, from Jain Muni Jambuvijay. C/o Jain Atmanand Sabha, BHAVNAGAR. (India). 15-11-1952.

|| श्रीगोडीपार्श्वजैनग्रन्थमाला-चतुर्थ-पुष्पम्-४ ||

शाश्वतशान्तिदायक-श्रीयन्त्राधिराजराजेश्वर-श्रीसिद्धचक्रेभ्यो नमो नमः ।

सकलसमीहितपूरक-श्रीशङ्खेश्वरपार्श्वनाथो विजयतेतमाम् । शासनसञ्चालक-सूत्रकृच्छ्रीगणधराय नमो नमः ।

|| श्रीमत्सूत्रकृताङ्गम् ||

वर्तमानशासनमान्यसूत्रकार-पञ्चमगणधरप्रवर-श्रीसुधर्मस्वामिसंदृब्धं, तत्सूत्रार्थ-रहस्यकारशिरोमणि-श्रीमद्भद्रबाहुस्वामिनिर्मितनिर्युक्तियुतं, तद्वृत्तिकारवरश्रीमच्छीलाङ्काचार्यविहितविवरणसुशोभितं विविधप्रत्यन्तर-टीप्पनाद्यनेकपरिशिष्टालङ्कृतं च ।

तस्यायं द्वितीयश्रीसूत्रकृताङ्गीय-प्रथमश्रुतस्कंधस्य षडधिकदशाध्ययनस्वरूपः प्रथमो विभागः ॥

संशोधकाः सम्पादकाश्च

प्रातःस्मरणीयपूज्यानां गीतार्थसार्वभौमानामागमोद्धारकाणां श्रीवर्धमानजैनागममन्दिरसंस्थापकानां **श्रीआनन्दसागरसूरीश्वराणां**

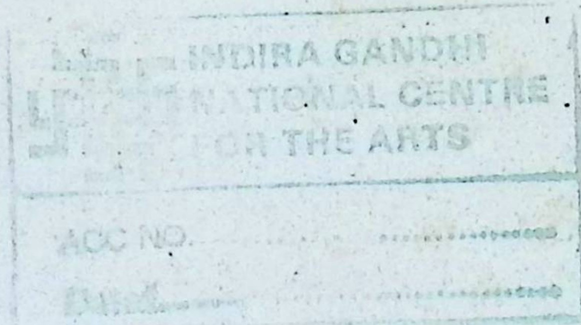
विद्वद्विनेयाः पन्न्यासप्रवरश्रीचन्द्रसागरगणीन्द्राः ।

प्रकाशकाः—श्रीविजयदेवसूरसंघसंस्थापित-" श्रीगोडीजीपार्श्वनाथ-जैनदेरासरपेढी " इति संस्थासञ्चालकाः ॥

वीरसंवत्-२४७६ । विक्रमसंवत्-२००६ । क्राइस्टाब्द-१९५० ।

पण्यम्-रू. ४-०-० ।

प्रकाशिका :—
श्रीविजयदेवसूर-संघनी पेढी.
ठि–श्रीगोडीजीपार्श्वनाथ जैन देरासर,
पायधुनी नं० १२, मुंबई नं० ३.



श्रीऋषभदेवस्वामिनः सदुपदेशः ।

संबुज्झह किं न बुज्झह ?, संबोही खलु पेच्च दुल्लहा ।
णो हूवणमंति राइओ नो सुलभं पुणरावि जीवियं ॥ १ ॥

मुद्रक :—
शाह गुलाबचंद लल्लुभाई.
श्री महोदय प्रीन्टींग प्रेस,
दाणापीठ–भावनगर.

॥ प्रकाशिकानुं निवेदन ॥

प्रस्तुत–प्रकाशन.

मुम्बापुरी मुकामे श्रीगोडीजीपार्श्वनाथ जैन–दहेरासर पासेना उपाश्रयमां प्रातःस्मरणीय–पूज्यपाद–गीतार्थसार्वभौम–आगमोद्धारक–श्रीआनन्दसागरसूरीश्वरजीनी आज्ञाथी, अने सकलसंघनी आग्रहभरी विनंतीथी; तेओश्रीना परमविद्वद्विनेय–पन्न्यासप्रवर–श्रीचन्द्रसागरजी गणीन्द्र महाराजादिनुं पोताना शिष्य–प्रशिष्यादिपरिवार साथे वि. सं. १९९७मां चातुर्मास थयुं. आ चातुर्मास दरमियान प्रथम व्याख्यानमां श्रीसूत्रकृतांग अने भावनाधिकारमां समराइच्चकहा, आ रीतिए बन्ने ग्रन्थरत्नोनी उपर देवाती देशनाथी अनेकविध भावनाथी भावित थयेला श्रीसंघे आ चातुर्मास दरमियान अनेक शासनहितवर्धक कार्यो कर्यां; अने प्रस्तुत प्रकाशन माटे पण निर्णय थयो.

प्रातःस्मरणीय–पूज्यपाद–आगमोद्धारक–आचार्यदेवेशनी परमपुनित–नजरतले प्रथमावृत्तिरूपे मुद्रित–थयेल श्रीसूत्रकृतांगनी प्रति मेलववी अतिदुर्लभ होवाथी, अने साथे साथे वांचनार श्रमणभगवंतोनी संख्या दिनप्रतिदिन वृद्धि पामती होवाथी; पू. पन्न्यासप्रवरश्रीजीए आ सूत्रकृतांगनुं अनेकविध–संपादन–सामग्रीओ अने परिशिष्टो साथे द्वितीयावृत्तिरूप प्रकाशन माटे पुनित विचार जाहेर कर्यो.

१ जुओः–श्रेष्ठी देवचंद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार ग्रन्थांकः ९४। श्री सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनबृहद्वृत्त्यवचूर्णि नामना ग्रंथना प्रारंभमां प्रकाशकनिवेदन पृ. १ थी पृष्ठ २१ सुधी, जिज्ञासुओए उपरना स्थळे वांचवुं।

उपरना बन्ने कारणोने लक्ष्यमां लईने अने पू. पन्न्यासप्रवरश्रीजीनी पुनित-अभिलाषाने मान आपीने आ अतिदुर्लभ-साहित्य-प्रकाशनरूप-द्वितीय-श्रीसूत्रकृतांगसूत्रने मुद्रण करावीने प्रसिद्ध करवानो निर्णय कर्यो छे, कारणके ते अवसरे ते चातुर्मासमां ज्ञानखातानी उपजमां सारी रकम थयेल होवाथी, अने कदाच आर्थिक-सामग्रीनी ओछाश हशे तो अमे ते पूरी करशुं एम कहेल होवाथी, पू. पन्न्यासप्रवरश्रीनी पुनित नजरे संपादित-संशोधित थयेल आ ग्रंथरत्नने पडतर किंमतथी पण ओछी किंमते अभ्यासी ओना करकमलमां नव वर्षे समर्पण करवा अमे भाग्यशाली थया छीए.

चालु चातुर्मासमां श्रीसूत्रकृतांगने मुद्रण करावववानो विचार थयो एटले ते अवसरे अमारी पेढीना कार्यवाहकोए कार्यवाहक-समितिमांथी आ कार्यना संपादनादिना सर्व कार्यने अंगे पडती जरूरीयातोने पूरी करीने वेग आपवा माटे श्रेष्ठि-सौभाग्यचंद उमेदचंद सोलीसीटर, अने झवेरी पानाचंद रूपचंदनी निमणुक करी. आ कार्यने हाथ धर्या पछी प्रकाशनने प्रसिद्ध करवानी मुश्केलीओनुं वर्णन करीए तो एक निबंध तैयार थाय; छतां मुख्यतः आ ग्रंथने मुद्रण करावववानुं कार्य अमदावादमां शारदा मुद्रणालयना मालीक पंडित भगवानदास हस्तक शरु कर्युं, अने त्रीश फोर्म पृ. १ थी पृ. १८० सुधीनुं काम संतोषकारक रीते पूर्ण कर्युं; परंतु पाछळथी कोइ अज्ञात कारणे अमारुं काम अटकावी दीधुं; अने तेथी ज आ ग्रंथ विलंबे बहार पडे छे. छेवटना फोर्म ३१-पृ. १८१ थी अधुरुं रहेलुं सर्व कार्य भावनगर-श्री महोदय प्रिन्टिंग प्रेसना मालीक गुलाबचंद लल्लुभाईनी दर देखरेख नीचे तेमना प्रेसना सघळां माणसोए काळजीपूर्वक पूरुं करी आप्युं छे.

श्री सूत्रकृतांगसूत्रनुं प्रथम मुद्रण करावनार प्रातःस्मरणीय-पूज्यपाद-आगमोद्धारक-श्रीआनन्दसागरसूरीश्वरजीनो, संपादन-

संशोधनादिनी सर्व सामग्रीओथी प्रकाशित थता आ द्वितीयावृत्तिरूप श्रीसूत्रकृतांगसूत्र ग्रंथरत्नने संपादन करनार श्रीसिद्धचक्राराधन–तीर्थोद्धारक–पूज्य–पंन्यासप्रवर–श्रीचन्द्रसागरजी गणिन्द्र महाराजनो, प्रथमावृत्तिरूपे मुद्रण थयेल ते प्रति मुद्रण कराववा माटे आपनार श्रीविजयदेवसूर संघना ज्ञानभंडारना कार्यवाहकोनो, संशोधनादि–शुद्ध पाठान्तरोनी प्राप्ति माटे ताडपत्रीय–ग्रंथोने लावी आपनार–खंभात श्रीशान्तिनाथ–प्राचीन–ताडपत्रीय–जैन–ज्ञान–भंडारना कार्यवाहको पैकी स्व० मूलचंद बुलाखीदास, अने श्रेष्ठि–मोहनलाल दीपचंद चोक्सीनो, आ ग्रन्थना परिशिष्ट–शुद्धिपत्रकादिने काळजीपूर्वक तैयार करनार संपादक पू. पंन्यासप्रवरश्रीजीना परमविनेय–पं. श्री देवेन्द्रसागरजीना तथा मुनिश्रीधर्मसागरजीना क्रमशः सुशिष्य मुनिश्री दोलतसागरजीनो, अने मुनिश्री अभयसागरजीनो, ग्रन्थ मुद्रण करी आपनार प्रेसना मालीकनो अने माणसोनो; अने आ ग्रन्थनी एक हजार प्रति प्रथम भागनी प्रसिद्ध करवामां लगभग दश हजार रूपियानो खर्च थवा संभव छे, छतां अभ्यासक–श्रमण–भगवंतादि यथार्थ लाभ ले ते हेतुथी तद्दन नजीवी किंमते आपवानो निर्धार करनार श्री विजयदेवसूर संघना ज्ञानभंडारनी व्यवस्थापिका ज्ञानसमितिना कार्यवाहकोनो पण अत्र अंतःकरणपूर्वक आभार मानीने विरमीए छीए।

लि. श्री विजयदेवसूर संघनी पेढीना कार्यवाहको।



शाश्वतशान्तिदायक-विश्व-मन्त्र तन्त्र-यन्त्राधिराजराजेश्वर-श्रीसिद्धचक्रेभ्यो नमो नमः ।
सकलसमीहितपूरक-श्रीशङ्खेश्वरपार्श्वनाथो विजयतेतमाम् ॥

॥ श्रीसूत्रकृतांग-प्रस्तावना ॥

मनुष्यना आयुष्य-बंधनी आकरी परीक्षा—

अनादि-अनंतकाळथी परिभ्रमण करनार दरेके-दरेक जीवने आ भवचक्रनी परंपरामां साधन-सामग्री-संयोगोथी भरपूर मानवजीवन पामवुं ए मुश्केल छे, अने प्राप्त थयेल समग्र-साधन-सामग्री संयोगोथी भरपूर मानवजीवन सफळ करवुं ए पामवा करतां पण अत्यंत मुश्केल छे. क्षणभर विराम पाम्या वगर राधा नामनी पूतळीनुं अस्खलित फेरफुंदडीरूपे फरवुं, तेलना तावडामां तेनुं (राधानुं) प्रतिबिंब पडवुं, पडेला प्रतिबिंबमां डाबी आंखने लक्ष्यबिंदु तरीके नक्की करवुं, अने निर्निमेषपणे-अप्रमत्तपणे ते आंखने विंधवुं अति मुश्केल छे, छतां उद्यमशील आत्माओ उपर जणावेल राधावेधने साधीने रसभरी-इष्ट कार्य-सिद्धि करी शके छे; परंतु संसारी जीवने मनुष्यगतिने योग्य आयुष्य बांधवुं, अने ते आयुष्य बांधवा माटेनी नियमित थयेली त्रण परीक्षामांथी पसार थवुं ए राधावेध करतां अत्यंत पण कठिनमां कठिन-कार्य छे. कारण के जे जीवोने १ कषायनी मंदतावाळो स्वभाव थाय, २ प्राप्त थयेला साधन-सामग्री-संयोगोमां दान देवाना परिणाम थाय, अने ३ दयादाक्षिण्यादि-गुणगणनो मध्यम रीतिए आविर्भाव थाय; त्यारे ते दरेक आत्माओ मनुष्यने योग्य आयुष्यनो बंध पाडे छे. विश्वभरना सांसारिक-वर्तमान-

म०आ०ब० आकरी परीक्षा०

कालीन–जीवोने माटे कळाकौशल्य–विज्ञाननी उच्च कक्षाए पहोंचवा अनेकविध–परीक्षाओ योजाएली छे, अने ते ते परीक्षामां तेत्रीस टकानी फतेहमंद कार्यवाही करनाराओ ते ते विषयनी परीक्षामां उत्तीर्ण गणाय छे,–पास थया कहेवाय छे, परंतु आ कर्म-राजानी कठिनमां कठिन एक परीक्षा मनुष्यगति माटेना आयुष्य बांधवानी छे. वर्तमानमां अढी अबज उपरांत मनुष्योनी गणत्री गणनारा दरेके–दरेक मनुष्योए आ नियम स्मृतिपट पर स्थिर करवा जेवो छे के—उपरनी त्रण करणीरूप—परीक्षामां पूरेपूरा मार्क्स मेळव्या वगर कोई पण जीव मनुष्यभवने योग्य आयुष्य बांधतो नथी, बांध्युं नथी, अने बांधशे पण नहिं. एटले मनुष्यना आयुष्य–बंधनी पूर्वे आ त्रण परीक्षाओ नियमित वर्ते छे. जे माटे प्रथम कर्मग्रंथमां आ रीतिए जणाव्युं छे के—"पयइतणुकसाओ दाणरूई मज्झिमगुणो अ"–स्वाभाविक पातळा कषाय, देवानी रुची, अने मध्यमगुणोनी प्राप्ति; ए मनुष्यनुं आयुष्य बांधवा माटेनी त्रण परीक्षाओ छे. मनुष्यभवनुं आयुष्य बांधवा माटे आ करणीय–परीक्षाओमांथी दरेके–दरेक जीवने पसार थवुं पडे छे.

पामवा लायकनी चीज.

मनुष्यभवनुं आयुष्य बांधवाना अवसरे राधावेध करतां पण अति सावधानी उपरनी त्रण करणीमां राखी हती, अने मनुष्य थयो एटले पूर्वे करेली त्रण करणीनी गंध वर्तमान–जीवनमां जणाती नथी; अर्थात् ते माटे लेशभर वर्तमानमां विचार करवानी फुरसद पण नथी. नाणाभीडमां मुंझायेलो माणस कोइ आबरुदार शाहुकारने त्यां सेंकडो वखत खुशामत करीने, सो वखत आंटा–फेरा–धक्का खाईने, अने हजारो वखत दाढीमां हाथ घालीने मनगमतुं नाणुं मेळवीने जती आबरुने स्थिर करवा भाग्यशाळी

थाय छे, परंतु ते मुंझायेलाने ज्यारे नाणांनी छुट थाय छे, त्यारे आपनारो, शाहुकारी टकावनार शाहुकार पेला मुंझायेला माणस पासे अवसर आवे उघराणी करे छे, ते अवसरे ते नाणां लेनार, नाणां आपनार प्रत्ये केवी करडी आंख करे छे ?, केवुं अघटित बोले छे ?, अने केवा अणछाजता वाग्बाणथी हुमला करे छे ?; ते समजवा जेवुं छे, तेवी ज रीते मनुष्यने योग्य आयुष्य मेळववा माटे देव-गुरु-धर्मनी उपासना करीने, अने सर्वज्ञकथित-सिद्धांतोनी सेवना करीने, प्राप्त करेला पुण्यद्वारा आयुष्य मेळवी लीधुं; एटलुं ज नहिं पण देव-गुरु-धर्मनी आराधनाद्वारा प्राप्त करेला प्रबळ-पुण्यथी आर्यदेश-उत्तमकुळ-उत्तमजाति-पंचेन्द्रियपणुं-निरोगीपणुं आदि अनुकूळ साधन-सामग्री-संयोग प्राप्त कर्यां छतां जेना प्रभावे ए प्राप्त कर्यां ते धर्मने भूले छे, ते धर्मनी आराधनाने भूलवानो प्रयत्न करे छे, अने रात्रि दिवस भूली जवाय एवो अस्खलित उद्यम चालु राखे छे; तो पछी आना जेवी बीजी कृतघ्नता कई होइ शके ?, ते बुद्धिमानोए विचारवुं जरुरनुं छे. कृतघ्नताने दूर करीने अमोघ-साधन-सामग्री-संयोगद्वाराए पामवालायक चीज पामीने मोंघुं मानवजीवन सफळ करवुं जोइए. आर्यदेश, त्रसपणुं, उत्तम कुळ, उत्तम-जाति, दीर्घ-आयुष्य, निरोगी-शरीर, पांच इन्द्रियो, इन्द्रियोनी पूर्णपटुता, धन-माल, मिलकत, कुटुंब-कबीला, पुत्र-परिवार, स्थावर-जंगम-मिलकतो, दिगंतव्यापी सत्ता, यश-कीर्ति अने जीवनभर पोते अने पोताना आश्रित कुटुंबो जीवी शके तेवां अनुकूळ-साधन-सामग्री-संयोगोनी संपूर्ण जमावट होवा छतां-आ बधुं मेळव्या छतां पामवा लायकनी चीज बाकी छे. वांचकने विचार थशे के—एवी ते पामवा लायकनी चीज कई छे ?, कहेवुं पडशे के—वीर्योल्लासपूर्वक संयम-मार्गे अविरत कूच करवी ते पामवा लायकनी चीज छे.

श्रवणादिनी आवश्यकता—

मोंघा–मनुष्य जीवन पामेलाओने पामवा लायकनी चीज संयम छे. संयमनुं सुंदर रक्षण करवुं, अने वीर्योल्लासपूर्वक संयमनी वृद्धि करवापूर्वक आगळ वधवुं एटले अनेकानेक जीवने संयमने मार्गे योजन करवुं ए ज संयम पाम्यानी वास्तविक सफलता छे. "पामवा लायक सर्वज्ञ कथित संयमनी किंमत श्रेष्ठतम छे," अने "ते सिवायनुं जीववुं निरर्थक छे; निरर्थक नहिं पण अनर्थकारी छे." आ श्रद्धा थती, आ प्रतीति थवी, अने आ रुचिना रंगमां रंगाइ जवुं–ओतप्रोत थवुं ए पामवा लायक संयमनी आवश्यक–कर्तव्यभूमि छे. आ आवश्यक–कर्तव्यभूमिना स्पर्शन–पालननी पुनित–प्रवृत्तिमां उत्तरोत्तर आगळ वधवुं ए सर्वज्ञकथित–वाणीना श्रवण पर आधार राखे छे. अने आ ज क्रमने प्रतिपादन करतां भगवान् श्रीसुधर्मास्वामीजी अंतिम केवळी–श्रीजंबूस्वामीजीने उत्तराध्यनना त्रीजा "चाउरंगिज्ज०" नामना अध्ययनना प्रारंभमां जणावे छे के—

चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जन्तुणो । माणुसत्तं-सुइ सद्धा-संजमम्मि य विरियं ॥ १ ॥

संसारमां परिभ्रमण करनार जीवो आ चार दुर्लभ वस्तुओ पामीने एटले–१ मनुष्यपणुं, २ श्रवण, ३ श्रद्धा; अने ४ संजमने विषे वीर्योल्लासनी प्राप्तिपूर्वक–जीवन सफळ करे छे. संयममां वीर्योल्लासपूर्वक वृद्धि करीने, तपश्चर्याओनुं सेवन करीने, बांधेला कर्मोने दूर करीने, शाश्वत–स्थानने पामवावाळा जीवो शाश्वत भावने पामे छे. आ ज अध्ययननी अंतिम गाथाना "चउरंग-दुल्लहा०" इत्यादि पदोना परमार्थने विचारवाथी उपरनो भावार्थ स्मृतिपटपर स्थित थाय छे. आ उपरथी मानवजीवननी दरेके दरेक क्षणोने सफलवती बनाववा माटे, अने उच्च–उच्चतर–उच्चतम–पदनी प्राप्ति माटे आत्महितकर–संस्कार–शून्य–आत्माने

आत्महितकर संस्काररूप संयमादिनी सौरभथी सुवासित करवाने सर्वज्ञ कथित वाणीनुं श्रवण, मनन अने परिशीलन करवुं अवश्यमेव जरुरनुं छे.

सर्वज्ञ०क० उपदेशनी जरुर ।

सर्वज्ञकथित उपदेशनी जरुर—

सर्वज्ञ–देवना शासनमां आत्महितकर–प्रवृत्तिओ आदरीने जे जे पुण्यात्माओ कल्याण साधी गया, वर्तमानमां कल्याण साधी रह्या छे, अने भाविकालमां कल्याण साधशे ते बधानो मुख्य आधार सर्वज्ञकथित वाणीना श्रवण पर अवलंबे छे. हेय विभागना सकल पदार्थो प्रत्येनी हेयता, अने उपादेय विभागना समग्र–पदार्थो प्रत्येनी उपादेयता पण सर्वज्ञकथित उपदेशने आभारी छे. ज्यारे सर्वज्ञकथित उपदेशामृतनुं आस्वादन करवा आत्मा उद्यमवंत थाय छे, अने श्रवणद्वारा हेय–उपादेय–विभागनो तेने निश्चय थाय छे; त्यारे अनादिकाळनी रखडंपट्टीना प्रभावे अनेकानेक–जन्म–मरणरूप अनंतानंत भवोनी परंपरानुं नियमन करवा ते पुण्यात्मा सौभाग्यशाली बने छे. भगवान श्रीऋषभदेवना तेर भव, श्रीशांतिनाथ प्रभुना बार भव, श्रीनेमिनाथ प्रभुना नव भव, श्रीपार्श्वनाथ प्रभुना दश भव अने आसन्नोपकारि–चरम–तीर्थंकर–प्रभु–श्रीमहावीर महाराजाना सत्तावीश भवने सांभळीए छीए; छतां श्रवण करनारे याद राखवुं घटे छे के आ तीर्थंकरोए पण अनंत भवो करेला छे, तो पछी आ भवोनुं नियमन करनार कोण ?, समाधानमां समजवुं के ते ते तीर्थंकरोने पण सर्वज्ञकथित उपदेशने श्रवण करावनाराओनो समागम थयो, अने ते ते उपदेशकोए सदुपदेश श्रवण कराव्यो, एटले ते श्रवणथी हेय उपादेयनो निश्चय थयो; त्यारे तेओ भवनियमन करी शक्या. एटले श्रवणथी ज देवाधिदेवना देवत्व प्रति, गुरुवर्योना गुरुत्व प्रति, तथा रत्नत्रयि–धर्मना धर्मत्व प्रति श्रद्धा थई एटले ते तीर्थंकरोने पण

अनंत काळना जन्म-मरणरूप भव-परंपराना वेगमां नियमनरूप प्रथम भवनी शरुआत थई. आ उपरथी जगतना समग्र जीवोनो उद्धार करवा माटे सर्वज्ञकथित-उपदेश अने सर्वज्ञकथित उपदेशने देनारा उपदेशकोना समागमनी अनिवार्य जरुर पूर्वे हती, वर्तमानमां छे, अने भाविकाळमां रहेशे एमां कोइना बे मत ज नथी.

देव-गुरु-धर्मरूप त्रण तत्त्वो प्रति श्रद्धा, प्रतीति अने रुचि करावनार सर्वज्ञकथित-उपदेशनुं श्रवण-वीतरागनी वाणीनुं श्रवण छे. एटलुं ज नहिं पण श्रद्धापूर्वकनी समजना सुंदर फलरूप विरति धर्मनुं अंगीकरण, आश्रवोनुं रोकाण, संवरस्थानोनुं सेवन, तपश्चर्यामां ओतप्रोत बनीने सकल कर्मोनुं निर्जरण; अने क्षायिक भावोनुं स्वीकरण करवुं ते सर्वज्ञकथित-उपदेशने ज आभारी छे.

उपदेशक प्रथम के उपदेश प्रथम ?—

सर्वज्ञकथित उपदेश कोई एवी चीज नथी के अन्य दर्शनकारोनी मान्यतानी जेम भींत आदि पदार्थोमांथी स्वयं स्फुरायमान थाय. शासन संस्थापकोने जैन दर्शनमां शरीरधारी स्वीकारेला छे, कारण के शरीर वगर मुख न होय अने मुख वगरनुं वक्तृत्व,-बुद्धिमानोना बुद्धिप्रदेशमां निश्चित थतुं ज नथी. आ ज वातनुं समर्थन पण 'मुखाद्विना न वक्तृत्वं' इत्यादि पदोथी कलिकाल-सर्वज्ञ-श्रीहेमचन्द्रसूरीश्वरजी जणावे छे. एटले उपदेशना आद्य प्रवर्तको तीर्थंकरो शरीरधारी हता, अने होय छे. आ उपरथी कोई आत्मा पूर्वभवमां उपदेशकनो समागम प्राप्त करे छे, अने ते उपदेशकना सदुपदेशनुं श्रवण करीने सुधामय-श्रद्धानुं आस्वादन करे छे; त्यारे मोक्षनी योग्यताने पुरवार करवारूप भवोनी गणत्रीनुं नियमन करे छे. आवी ज रीतिए दरेके-दरेक

तीर्थंकरोने सम्यक्त्व-प्राप्तिना प्रथम भवनी शरुआत पण ते ते उपदेशकनो समागम अने ते ते उपदेशकोद्वारा प्राप्त थयेल उपदेशनुं श्रवण कर्या पछी ज थाय छे. आसन्नोपकारी—श्रीमहावीर महाराजाने, अने आद्य-तीर्थंकर-प्रभु-श्रीऋषभदेवने पण अनुक्रमे श्रीनयसारना भवमां तथा धनसार्थवाहना भवमां सर्वज्ञ-शासन-संचालक-श्रमण भगवंतोना समागम अने तेओश्री द्वारा सदुपदेश प्राप्त थयेलो छे. एटले "उपदेशक अने उपदेशना यथार्थ लाभनी प्राप्ति वगर आ संसारमां कोइनो उद्धार थयो नथी, थतो नथी; अने थशे पण नहिं," ए त्रिकालाबाधित—अविच्छिन्नप्रभावमय-सत्य अद्यापि पर्यंत अखंडित रहेलुं ज छे. शासन-संस्थापको अने शासन संचालको शरीरधारी होवाथी शरीरने मूकवाना छे ए वात चोक्कस छे; एटले पूर्व-कालीन पू. तीर्थंकरोए, पू. आचार्योए, पू. उपाध्यायोए, अने पू. साधु भगवंतोए उपदेशकपणानुं यथार्थ काम करीने नाशवंत-शरीरने मूकी दीधुं छे. अने भाविकालमां ते उपदेशकपणानी उच्चतम पदवीने विभूषित करनारा नवनवीन महाभाग्यशालीओ जन्म धारण करीने शरीरीपणामां ते ते पदने शोभावे छे, हवे प्रश्न एक ज छे के उपदेशक वगर उपदेश होइ शके ज नहिं, अने दरेके दरेक उपदेशकने उपदेश प्राप्त थया पछीज उपदेशकपणुं प्राप्त थाय छे; तो पछी उपदेशक प्रथम के उपदेश प्रथम ?, जो उपदेशकने प्रथम तरीके स्वीकारवामां आवे तो उपदेशकना उपदेशनी प्राप्ति कर्या वगर उपदेशक थयो के उपदेश प्राप्ति करीने उपदेशक थयो. आ प्रश्ननी आंटीगुंटी उकले नहिं, त्यांसुधी उपदेशकनी अने उपदेशनी यथावस्थित पूर्वकथित-मर्यादा समजाय ज नहिं; माटे आ प्रश्नना प्रत्यवस्थान पियूषनुं प्रथम आस्वादन करीने आगळ वधीए.

उपदेशकपणानी योग्यतावाळा तीर्थंकर—

अढार क्रोडाक्रोडी सागरोपमनो काळ धर्मवगरनो एटले त्याग, त्यागी अने त्यागना साधन वगरनो गयो. युगलिआओना अवसरमां पण विश्वभरना प्राणिओ भोगोने भोगववामां, भोगना साधनो मेळववामां, भोगनी साधन–सामग्रीओने टकाववामां; अने वधारवामां समग्र जीवन पसार करी रह्या हता. एटले तेओने भोग–अवसरमां भोग–भोगी अने भोग–भोगीना साधन–सामग्री संयोगोनी ज कींमत हती. भोग–भोगी अने भोगना अस्खलित प्रवाहना पूरमां जगत्‌भरना सघळा जीवो तणाइ रह्या हता, अने ते भयंकर–प्रबळ–प्रवाहमां तणाता जीवने तारवानो उपदेश देनार एक पण उपदेशक ते काळमां–ते समयमां हतो ज नहिं. भोगना सुखमां तल्लीन बनेली दुनियाने—" **त्यागमां सुख छे, त्यागी सुखी छे, त्यागना साधन सामग्री संयोगो सुख देनारा छे.** " आवो उपदेश–आ भावने अनुसरतो उपदेश आपनार एक पण उपदेशकनी विद्यमानता ज नहोती. आवा अवसरे नाभि–कुलकरना स्वर्गीय–गृहमंदिरे विश्वोद्धार करवानुं कार्य करवा माटे श्रीऋषभदेव प्रभुनो जन्म थाय छे. त्रण ज्ञाने करीने सहित तीर्थंकरो होवाथी "भोगमां दुःख छे अने त्यागमां सुख छे" आ धारणानी दृढता अनेक भवोमां करीने आव्या छे, एटले आ अवसर्पिणीमां जन्म पामेला प्रथम तीर्थंकरे ८३ लाख पूर्व संसारमां–गृहस्थाश्रममां व्यतीत कर्या. भवान्तरमां आराधना करीने आवेला तीर्थंकरो '**त्यागमां ज सुख छे, त्यागमां सुख ज छे**' आ मान्यतानी सुदृढताना जोरे ज त्यागी बने छे, अने साथे चार–हजार मनुष्यो दीक्षित थाय छे; छतां सर्वज्ञकथित–उपदेशना अभावमां जैन साधुपणुं मूकीने साथेना बधा दीक्षितो तापसो बने छे. **धर्मसारथी** पदने शोभावनार ते प्रभु उपदेश आपीने संसारसमुद्रमां डूबता चार हजारने तारी शके छे, छतां उपदेश

केम आपता नथी ?, शासननी मर्यादा समजनारे कहेवुं पडशे के—च्हाय जेटलो लाभ थवानो होय, परंतु तीर्थंकरो दीक्षा लईने, घोर परिसह उपसर्गो सहन करीने, ग्रामानुग्राम विचरीने, अप्रमत्तपणे संयम सेवीने, चार घनघाती कर्मोने (ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय-मोहनीय अने अंतराय ए चार घातीकर्मोने) तोडीने, कैवल्य ज्ञान पामीने ज उपदेश दइ शके छे; अन्यथा उपदेशक तरीके उपदेश देवानुं पारमार्थिक कार्य करतां ज नथी, पूर्वे कोइ(तीर्थंकरे)ए कर्युं नथी, अने भाविमां कोइपण करशे नहिं; आ अकाट्य-सिद्धांत शासनमां सर्वदा सुप्रसिद्ध ज हतो, अने छे.

उपदेशक अने उपदेश पण अनादिना—

एक हजार वर्ष सुधी घोर तपस्या तपीने, प्रथम तीर्थंकरप्रभु-श्रीऋषभदेवे समवसरणमां देशना दइने चतुर्विध संघनी स्थापना करी. हवे आ जगोए आ अवसर्पिणीमां प्रथम राजा, प्रथम भिक्षुक, प्रथम व्रतधारी, प्रथम ब्रह्मचारी अने प्रथम उपदेशक तरीके होय तो श्री आदिनाथ-श्रीऋषभदेव प्रभु ज छे, एम कहीए तो शो वांधो छे ?, सर्वज्ञकथित उपदेश श्रवण करे नहिं त्यां सुधी कोइपण तीर्थंकरने पण भवनियमन करावनार सम्यक्त्व रत्ननी प्राप्ति थती ज नथी. एटले आ श्री ऋषभदेवने आ अवसर्पिणीना प्रथम तीर्थंकर-प्रथम उपदेशक स्वीकारीए तो वांधो नथी, परंतु उपदेशकपणानी प्राप्तिने योग्य थवामां प्रथम भवमां (धनासार्थवाहना भवमां) श्री धर्मघोष-अणगारनो समागम अने सर्वज्ञकथित उपदेशनुं श्रवण प्राप्त थयुं हतुं. आ उपरथी आ अवसर्पिणीना सघळा तीर्थंकरोने भवनियमन करावनार, सम्यक्त्व-रत्ननी प्राप्तिने अनुकूळ उपदेश आपनार; श्रमण-भगवंतरूपी उपदेशकोनो समागम थवो ए तेओश्रीना जीवनचरित्रो साक्षी पूरे छे. हवे ज्यारे ते ते तीर्थंकरोने पण सम्यक्त्वप्राप्तिना प्रथम भवमां सर्वज्ञकथित उपदेश देनारा-

होय छे, अने ते ते उपदेशकोनो समागम थयो छे; तो पछी ते ते उपदेशकोने पण उपदेश देनारा उपदेशकोनो समागम थयेलो ज होवो जोइए. आ उपरथी सर्वज्ञकथित उपदेश देनारा उपदेशकोनी अने सर्वज्ञकथित उपदेशनी परम्परा अनादिनी छे.

आ बन्नेनी अनादिता न स्वीकारीए तो सदुपदेशक वगर सदुपदेश थइ गयो, अथवा तो सदुपदेशनी प्राप्ति वगर सदुपदेशक थई गयो; अने आथी ज जैनशासनना संस्थापक–तीर्थंकरोनी अनंतानंती चोवीशी स्वीकारेली छे. एटले ते तीर्थंकरनी शरुआत क्यारे थइ ?, ते कही शकाय ज नहिं. जेवी रीते वर्तमानमां जन्म पामेला मनुष्यनी सातमी पेढीना नामने शोभावनारना मात–पिता होवां ज जोइए, तेवी ज रीतिए जिनेश्वर भगवंतना शासनमां सदुपदेशक सर्वज्ञ भगवंत तीर्थंकरो अने तेओना उपदेशनी व्यवस्था पण अनादिनी छे ए मर्यादा समजवा साथे हवे आपणे आगळ वधीए.

वर्तमान–सदुपदेशना आद्य प्रवर्तक—

ज्यारे अनंताअनंत चोवीशीओ छे त्यारे तीर्थंकरो पण अनंत, गणधरो पण अनंत; अने ते ते गणधर भगवंतोनी द्वादशांगीओ पण अनंत ज होय ए स्वाभाविक छे. दरेके दरेक उत्सर्पिणीमां अने अवसर्पिणीमां उत्पन्न थनारा–तीर्थंकरोने ते ते काळमां पोतपोताना शासनमां सदुपदेशना आद्य प्रवर्तको मानेला छे, अने ते बधाने तीर्थंकरो कहेवाय छे; परंतु ते तीर्थंकरपणुं प्राप्त थवानी योग्य भूमि उपर आरूढ शी रीते थया ?, ते तपासीए तो पूर्वे जणावेल सदुपदेशक–सदुपदेशनी अनादि व्यवस्था बुद्धि प्रदेशमां निःशंकपणे निश्चित थाय छे. आ अवसर्पिणीमां चोवीश तीर्थंकरो थयां, अने ते सर्वे २४ तीर्थंकरोना १४५२ गणधरो थयां. ते ते गणधरोए–हे भयवं ! किं तत्तं ?, आ प्रश्नने त्रण वार पूछीने ते ते तीर्थंकरोना शासनमां भगवान् तीर्थंकर

पासेथी त्रिपदी अनुक्रमे उपन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा; एटले आ त्रण पदो समाधानरूपे पामीने बीजबुद्धिना, अने कोष्ट-बुद्धिना धणी तेओ द्वादशांगीनी रचना करे छे. एटले आसन्नोपकारि–चरम–तीर्थंकर–श्रीमहावीर महाराजाए घर–संसार छोडीने, साधु बनीने, आश्रवद्वारोने ध्यानमां लइने, आवतां कर्मो पर निर्निमेष नजर राखीने, संवर भावनुं सेवन करीने, घोर उपसर्ग–परिसहोने सम्यक्–प्रकारे सहन करीने, पूर्वे बांधेला कर्मोने तोडीने, साडाबार वर्ष पर्यंत विविध तपोधर्म तपीने घनघाती चार कर्मनो चूरो करीने; पछी रज्जुआलिका नदीकिनारे भगवान् केवळज्ञान पाम्या. देवोए समवसरणनी रचना करी अने श्रवण करवा आवनाराओ आव्या खरा, परंतु योग्यताना अभावे सदुपदेशनुं फळ विरतिधर्म कोइपण पामी शक्या ज नथी. सदुपदेश सांभळ-नाराओ ज्यांसुधी सर्वविरति धर्म पामी शकतां नथी, त्यांसुधी सदुपदेशनुं फळ बेठुं छे एम कहेवातुं नथी, आथी भगवंतनी देशना निष्फळ गइ; अने आश्चर्य मनायुं. पूर्वे थयेला त्रेवीस तीर्थंकरोए जे क्षेत्रमां जे दिवसे घनघाती–कर्मोने चूर्ण कर्या ते ज दिवसे ते ज क्षेत्रमां द्वादशांगीनी रचना करनार गणधरो सहित चतुर्विध संघनी स्थापना करेली छे, परंतु वर्तमान–शासनना मालीक–श्रीवर्धमान-स्वामीजीने वैशाख सुद १० ना रज्जुआलिका नदी किनारे केवळज्ञान थयुं, विहार करीने भगवान् महसेन वनमां गया, अने तेमना पट्टप्रभावक–शिष्य–गणधरोना हाथे श्रीद्वादशांगीनी रचनादि वैशाख सुद ११ ना दिवसे महसेन नामना वनमां थइ. आ उपरथी वर्तमानकालीन–चतुर्विध–संघसदुपदेशसुधानुं पान करीने जे जीवन कृतार्थ करी रह्या छे ते सदुपदेशना आद्य–प्रवर्तक–पुण्यश्लोक–भगवान्–श्रीवर्द्धमानस्वामी छे.

श्रुत-संपदानुं मूळ—

महसेन नामना वनमां द्वितीय-समवसरणनी रचना देवोए करी. ते समवसरण मध्ये अगीआर मुख्य ब्राह्मणोनुं ४४०० ना परिवार साथे आवागमन थवुं, मुख्य अगीआर ब्राह्मणोना हृदयमां लांबा काळथी स्थिर थयेल शंकाना समाधान साथे चुम्मालीस-सोना परिवार साथे दीक्षित थवुं, अने पूर्वे जणावेल अगीआरे गणधरोए(मुख्य शिष्योए) त्रिपदि पामीने अंतर्मुहूर्तमां तेओना हाथे द्वादशांगीनी रचना थवी; आ बधो वृत्तांत विस्तारथी जाणवानी जिज्ञासावाळाए आवश्यक-सूत्र-वृत्ति आदिथी अवलोकन करवो जरुरीनो छे. अगीआर गणधरो पैकी नव गणधरो तो प्रभु श्रीमहावीरनी हयातिमां ज काळधर्म पामीने मोक्षे जवाथी, अने पछी प्रथम गणधर गौतमस्वामीजी(श्री इन्द्रभूतिजी) पण काळधर्म पामी मोक्षे जवाथी; दशे गणधरोना सघळाए परिवारादि पंचम-गणधर भगवान्-श्रीसुधर्मस्वामीजीने सुप्रत थयां. एटले ते काळथी अद्यापि पर्यंत वर्तमानकालीन-सर्व-साधु-साध्वीओ तेओश्रीना (श्रीसुधर्मस्वामीना) संतानीयापणे वर्ते छे ए शास्त्र-सुप्रसिद्ध वात छे. आ उपरथी वर्तमानकाले जैन-शासननुं संचालन करनारा पू. आचार्य भगवंतो, पू. उपाध्याय भगवंतो अने पू. श्रमण भगवंतो स्वपरकल्याणार्थे जे सदुपदेशनी अमोघवर्षा वर्षावी रह्या छे, ते सर्वनो आधार पंचम-गणधर-भगवंत-श्रीसुधर्मास्वामीजीनी आ द्वादशांगी उपरज अवलंबे छे. मोक्षमार्गना अभिलाषि-साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविकाए स्वपरहितकर-मोक्षमार्गमां अस्खलित गमन करीने इष्ट सिद्धि साधवी होय तो द्वादशांगी पैकी अगीआर अंगोने आगळ करीने ज (अगिआर अंगोना भावथी भावित थइने) जीवन जीववानी सर्वज्ञादि भगवंतो तरफथी भलामण सर्वदा सर्वत्र निश्चित थई चूकी छे. आ उपरथी स्वतंत्रपणे बोलवानो के स्वतंत्रपणे आलेखन करवानो हक

वर्तमानकालीन-शासनमां चतुर्विध-संघनी कोइपण व्यक्तिने आपेलो ज नथी, कारण के शासन-संस्थापक-तीर्थंकरो पण केवळ-ज्ञाननी प्राप्ति थया पछी ज एटले ते प्रगट थया पछी ज तेओ स्वतंत्रपणे बोले छे. एटले विश्वोद्धारक-त्रैलोक्यनाथ-तीर्थंकर पासेथी अति-विनम्रपणे त्रिपदी पामीने, अर्थमय देशनाने अवधारण करीने; अने ते ज अर्थने अनुलक्षीने सूत्रोनी रचना श्रीमद् गणधर भगवंतो करे छे. अने सर्वज्ञकथित अर्थानुसारिज ते सूत्रो छे तेनी वास्तविक छाप महोर ज अंकित करावतां होय तेम ते ज गणधरोने पोतानी अध्यक्षतामां केवळज्ञानीओ विद्यमान होवा छतां पण तेओनी पासे देशना देवरावे छे. एटले वर्तमान सदुपदेशना मूळभूत आचारांग, सूत्रकृतांग आदि अंग-उपांगोना प्रणेता गणधर छे, अने वर्तमानकालीन सघळीए श्रुत संपदाना मूळ प्रणेता श्री सुधर्मास्वामीजी छे. एक पण अध्ययन, एक पण उद्देश, एक पण शतक, एक पण प्रकरण, एक पण आलावो; के एक पण सूत्रनी मूळ भूमिका विचारीए तो आद्य-प्रणेता-श्रीसुधर्मास्वामी ज छे ए मान्यताने विवेकीओए सुदृढपणे स्वीकारवानी जरुर छे.

ज्ञानीपणानी प्राप्तिनो हक्क क्यारे ?

श्रुत-संपदाओना मूळ प्रणेता श्रीसुधर्मास्वामी छे, ए आपणे पूर्वे प्रकरणमां विचारी गया. त्रिपदी पामीने सघळाए पूर्वोनी, सघळाए अंग अध्ययनादिनी रचना करनार श्रीसुधर्मास्वामीजी सूत्रकार छे, अने पोताना शिष्य-अंतीम केवली श्री जंवूस्वामीजीने उद्देशीने सूत्रो रचे छे, छतां मान-मदनुं सर्वांशे मर्दन करवानुं शिक्षण आपवा माटे आ अपूर्व दृष्टांत दरेके दरेकने अनुकरणीय छे. वर्तमानकाळीन आगमनना अभ्यासीओने स्मृति-पथमां आ प्रसंग सुस्थित ज हशे के-श्री आचारांगसूत्रनां प्रथम सूत्र कयुं ?,

कहेवुं पडशे के—" सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं इहमेगेसिं नो सन्ना भवइ " आ सूत्र आवे छे. पोताना सुशिष्य–श्रीजम्बूस्वामीजीने उद्देशीने पंचमगणधर–भगवान्–श्री सुधर्मास्वामीजी जणावे छे के—हे जंबू ! भगवान् श्रीमहावीर–महाराजा पासेथी म्हें सांभळेलुं हतुं अर्थात् भगवान् श्रीमहावीर महाराजाए आ प्रमाणे कहेलुं हतुं, अने में जे कणोपकर्ण सांभळ्युं हतुं ते ज हुं तने संभळावुं छुं के—" आ संसारमां कोइपण जीवने वास्तविक ज्ञान नथी. " आ वातनी वधु स्पष्टता करनारे प्रथम सूत्रनी पू. श्रीशीलांकसूरीश्वरजीविरचित–वृत्तिनुं वांचन, मनन अने परिशीलन करवुं जरुरनुं छे. आ संसारमां परिभ्रमण करनारा एकेन्द्रियथी पंचेन्द्रिय सुधीना सघळा जीवोने चार संज्ञा मानेली छे एटलुं ज नहिं पण श्रीप्रज्ञापनादि–सूत्रोमां दश संज्ञाओ दरेक जीवो माटे जणावेली छे, ते आ प्रमाणे छे— १ आहार, २ भय, ३ मैथुन, ४ परिग्रह, ५ क्रोध, ६ मान, ७ माया, ८ लोभ, ९ ओघः अने १० लोक संज्ञा जणावी छे. आ संज्ञावाळा सर्व जीवो छे; छतां " इहमेगेसिं नो सन्ना भवइ " ए सूत्र केम रचाय छे ?, आ संज्ञाओ दरेके दरेक जीवोने होवा छतां पण निषेधवाचक शब्द साथे संज्ञानुं सूचन होवाथी कोइ विशिष्ट ज्ञानसूचक संज्ञा होवी ज जोइए, ए आ सूत्रना रचयितानो उद्देश छे, एम ध्वनित थाय छे. जो आ वात न विचारीए तो चौद विद्याना पारंगतो इन्द्रभूति आदि मुख्य अगिआर ब्राह्मणो अने तेओनो ४४००) चुम्मालीसोनो शिष्यादि परिवार पण अभण नथी, एटले दुनिया-दारीना सघळाए व्यवहारिक–ज्ञानमां कुशळ, बाहोश, अने निष्णात हता एम कहेवाय छे; आ वातने तेओनी पूर्व अवस्थानुं जीवन साक्षी पूरवा साथे वधु मजबूत बनावे छे. आथी स्त्रीओनी चोसठ कळाओमां के पुरुषोनी व्होंतेर कळाओमां, दुनियामां कहेवाती विद्याओमां के कहेवाता विज्ञानोमां, दुनियाना व्यवहारोमां के विविध जातिना व्यापारोमां; अने अनेकविध राज्य रमतोमां

के पराजयोने विजयोमां पलटाववानी कुनेहोमां च्हाय जेटली विद्वत्ता, कुशळता, अगर बाहोशीपणुं आव्युं होय तो पण जैनशासनना चोपडे तेओने ज्ञानीपणे स्वीकारवानो प्रातःस्मरणीय पूज्यपाद भगवान् सुधर्मास्वामीजी आ प्रथम-सूत्रथी साफ साफ इन्कार करे छे, ते ध्यानमां राखवा जेवुं छे.

श्रीआचारांग सूत्रना प्रथम-सूत्रमां नो शब्द ए सर्व संज्ञानो निषेध सूचवतो नथी, पण कोइ विशिष्ट-ज्ञान सूचक-संज्ञानो निषेध जणावे छे, कारण के 'नो' शब्द देश-निषेधवाची छे अने सर्व-निषेधवाची पण छे; अने आथी ज आ स्थळे पण देश-निषेधवाचीपणामां नो शब्दनो अर्थ सुसंगत छे.

ज्यांसुधी दरेकेदरेक जीव आत्मादि-पदार्थनुं स्वरूप, अने गति-आगति विगेरेनुं स्वरूप जाणे नहिं, त्यांसुधी "हुं अज्ञानी छुं" ए वातनो एकरार करीने ज आगळ वधवानुं छे. आथी ज पू. गणधर-भगवंते श्री आचारांगनी आदिमां आ सूत्रनी रचना करीने चौद विद्याना पारंगतपणामां पण असे अज्ञानी हता, अने त्रैलोक्यनाथ-भगवंतना चरणकमळमां आवीने आत्मादि पदार्थोने जाण्या त्यारे ज वास्तविक-श्रद्धापूर्वकनी समजथी आ शासने अमने ज्ञानी तरीके स्वीकार्या. विशिष्ट संज्ञाने पामनारो रात्रिदिवस एक ज झंखनामां होय छे के—"म्हारो आत्मा बीजी गतिमांथी आवीने अहिं उत्पन्न थयो छे, अने आयुष्यनी समाप्ति साथे तुरत बीजी गतिमां चाल्यो जशे, माटे साधवा लायकनुं सघळुं ये साधी लेवुं एमां मानवजीवननी सफलता छे." आ झंखनाने अनुसरती करणी थाय त्यारे ज्ञानीपणुं प्राप्त थाय छे. आ प्रसंगने वधु सुस्थित करवा माटे श्रीआचारांग सूत्रना अनुक्रमे बीजा-त्रीजा सूत्रमां रहेला भावोनुं आस्वादन थाय तो ज ज्ञानीयो ज्ञानीपणानो दावो करवाने क्यारे हक्कदार थाय छे ?, ते वात अभ्यासकोने आपो आप

बे ने बे चार जेवी वात सीधी रीते अने सरळपणे समजाइ जाय छे. शासन–मान्य–ज्ञानीपणाने वास्तविक रीतिए स्पर्शन करीने दिनप्रतिदिन कल्याणकारी जीवनचर्याने जाणीने वीर्योल्लासमां आगळ वधीए.

पंचम–गणधरनी जीवनचर्या—

आसन्नोपकारी–अंतिम–श्रीवीरवीभुना सुशिष्य–पंचमगणधर–भगवान्–श्रीसुधर्मास्वामीजी हता, अने आ ग्रंथना रचयिता पण तेओ हता; एटले तेओश्रीना जीवननी संक्षिप्त–नोंधने स्मृतिपथमां लइने वीर्योल्लासनो वेग वधारवापूर्वक आगळ वधीए. प्रभु-श्रीमहावीर–महाराजानी पाटपरंपरामां ते पांचमी पाटे छे, अने तेओश्रीनुं स्वरूप आ प्रमाणे छे. कुल्लाग नामना एक गाममां अग्निवैश्यायन गोत्रवाळा धम्मिल नामना ब्राह्मण रहेता हता, अने तेमने भद्दिला नामनी स्त्री हती. आ बन्नेने संसारनी लीलाना अनुभवमां आगळ वधता भद्दिलाए एक पुत्रने जन्म आप्यो, अने संसारमां अति कुशळता प्राप्त करवा माटे पितानी आज्ञाथी पोते चौद विद्याना पारंगत बन्या हता. तेओनी (आर्य–सुधर्मानी) निश्रामां रहीने विद्या संपादनना अर्थि–पांचसो शिष्यो अध्ययन करता हता. पचास वर्ष लगभग पठनपाठन, वादविवाद अने ब्राह्मण कुळने अनुसरती क्रियाकांडमां व्यतीत कर्यां. अपापा नामनी नगरीमां सोमिल–ब्राह्मणने घेर यज्ञ होमनी क्रिया करवा–कराववा माटे देश–परदेशथी ब्राह्मणो आवेला छे. ते सर्व–ब्राह्मणोमां आर्य इन्द्रभूति, आर्य अग्निभूति, आर्य वायुभूति, आर्य व्यक्त; अने आर्य सुधर्मादि अगीआर ब्राह्मणो आदि मोटी संख्यामां अनेक जातिना ब्राह्मणो एकठा मळ्या छे. आ अवसरे केवळज्ञानी विभु श्रीमहावीर महाराजा रज्जुआलिका नदी पासेना क्षेत्रमांथी विहार करीने महसेन वनमां पधार्या छे. देवोए प्रभु श्री वीर पधारे छे, एटले समवसरणनी रचना करी छे. आकाशमांथी आवतां जतां विमानोने अने

देव-देवीओना परिवारने निहाळीने यज्ञनी महत्ता माननारा आगेवान ब्राह्मणो अने तेमनो सघळोए परिवार आश्चर्य-चकित थाय छे. एटलुं ज नहिं पण आ बधां विमानो, देवेन्द्रो, देवो, देवीओ अने सघळोए जन समुदाय यज्ञमां नहिं आवतां भगवान श्री महावीर-महाराजाने वंदन करवाने अने वाणी श्रवण करवाने जाय छे, आ वातनो निर्णय करीने आगेवान ब्राह्मण गौतम गोत्रवाळा आर्य-इन्द्रभूति सर्वज्ञपणाना अहंभाव साथे भगवान् श्रीमहावीर महाराजा साथे वाद करीने जीतवा जाय छे; अने छेवटे केवी रीते जीताइ जाय छे तेनुं संक्षिप्त वर्णन श्री कल्पसूत्रना गणधर-वाद नामना प्रसिद्ध व्याख्यानावसरे चतुर्विध संघ नियमतः श्रवण करे छे. गणधर-वाद-विवाद संबंधी शंका समाधान विस्तारथी जाणवानी अभिलाषावाळाए श्री आवश्यक-सूत्र, श्री विशेषावश्यकादि प्रौढ-ग्रंथोनुं वांचन, मनन, परिशीलन करवुं जरुरीनुं छे. आर्य-इन्द्रभूति पोतानी घणा वर्षोनी जूनी शंकानुं समाधान पामीने जीताइ गया पछी पोताना पांचसो शिष्योनी साथे दीक्षित थाय छे, अने प्रथम गणधर तरीके प्रसिद्ध थाय छे. त्यार पछी अनुक्रमे पोताना भाइ अग्निभूति पोताना ज्येष्ठ बांधवने पाछो लइ जवाने जीतवानी मुरादथी भगवान् महावीर पासे आवे छे, अने तुरत पोतानी शंकाना समाधान साथे जीताइ जाय छे. छेवटे पोताना पांचसो शिष्य साथे दीक्षा लेइने बीजा गणधर तरीके प्रसिद्ध थाय छे. ते पछी अमारा वडील भाइ आर्य-इन्द्रभूतिए अने आर्य अग्निभूतिए जेओने मुरब्बी तरीके स्वीकार्या तेओश्री म्हारा पण मुरब्बी छे ए भावथी अनुक्रमे आर्य वायुभूति, आर्य व्यक्त अने आर्य सुधर्मा विगेरे आगेवान ब्राह्मणो आवे छे. तेओना हृदयना खूणामां छुपाइ रहेली शंकाओने प्रभु महावीर जणावे छे, अने सर्वनी शंकाना समाधान तेओना वेदना ते ते पदोद्वारा वास्तविक-अर्थनुं अनुस्यूत संबंध साथे निवेदन करीने समजावे छे. अंते आगेवान अगीआर ब्राह्मणो पोताना शिष्यादि

४४००) ना परिवार साथे दीक्षित थाय छे, अने ते अगीआर आगेवान ब्राह्मणो एटले मुख्य शिष्यो गणधर पदथी विभूषित थयेला शासनमान्य–सुशिष्यो थया छे; ए वात शासनमान्य–शास्त्र–सुप्रसिद्ध छे. आ अवसरे सकल अंगादिना रचयिता आ पंचम गणधर भगवान् श्रीसुधर्मास्वाजीनी उम्मर पचास वर्षनी छे. दीक्षा लीधा पछी तेओए त्रीश वर्ष पर्यंत श्रीवीर–विभुना चरणकमळनी उपासना करी छे, अने श्रीमहावीर–महाराजाना निर्वाण पछी ९२ बाणुं वर्षे एटले बाणुं वर्षनी उम्मरे विशुद्ध भावनाथी भावित थयेला ते पंचम गणधर भगवानने केवळज्ञान प्रगट थाय छे. केवळज्ञानना पर्यायथी विभूषित थयेला भगवान् श्रीसुधर्मास्वामीजीए ग्रामानुग्राम विहार करीने अनेक भव्योनो उद्धार कर्यो, अने आठ वर्ष सुधी केवळी पर्याय पूर्ण करीने, एक महिनाना चोविहार उपवासनी घोर तपश्चर्या तपीने, पादपोपगमन नामना अनशनने अनुसरीने; अने सकळ–कर्मनो क्षय करीने भगवान् श्रीसुधर्मा-स्वामीजी मोक्षे गया हता, अने भगवान श्रीमहावीर महाराजाना मोक्षगमन पछी १–आर्य श्री इन्द्रभूति प्रथम गणधर अने २–आर्य श्रीसुधर्मास्वामीजी पंचम गणधर हता. पूर्वना नव गणधरोए जेम पोतानो शिष्य परिवारादि श्रीसुधर्मास्वामीजीने भळाव्यो हतो, तेम प्रथम गणधर भगवंते पण पोताना सघळा परिवारने श्रीसुधर्मास्वामीजीने भळावीने पोते मोक्षे गया. एटले ते अवसरनी शरुआतथी अद्यापि पर्यंतना जे साधु–साध्वीओ छे ते बधाए श्री आर्य सुधर्मास्वामिजीना शिष्य संतानो छे– जुओ स्थविरावलिमां आ प्रमाणे उल्लेख छे.

जे इमे अज्जत्ताए समणा निग्गंथा विहरंति । एएणं सव्वे अज्जसुहम्मस्स अणगारस्स आवच्चिज्जा ।

श्रीद्वादशांगीना रचनावसरे स्थळे स्थळे भगवान् श्रीसुधर्मास्वामीजी पोताना शिष्य श्रीजंबूस्वामीजीने उद्देशी कथन करे छे, माटे

तेओश्रीना जीवनने जाणीने, विचारीने अने परिशीलन करीने अनुमोदनरूप-अमृतनुं आस्वादन करीए.

अंतिम केवळीनी जीवनचर्या—

पंचम-गणधर-भगवान्-श्रीसुधर्मास्वामीजीना प्रथम-सुशिष्य के जे वर्तमान शासनमां अंतिम-केवळी-श्रीजंबूस्वामीजी कहेवाय छे. सूत्रकार श्री पंचम गणधर छे, अने अनंतर-आगमने सूत्रथी प्राप्त करनार श्री जंबूस्वामीजी होवाथी तेओश्रीजीनुं जीवन जाणवुं जरुरी जाणीने अत्र विचाराय छे. लगभग २४७५ वर्षोना व्हाणां वीती गयां, छतां पण आ महापुरुषोनी जीवनगाथाओना यशोगान गाइए छीए, त्यारे भूतकाळने भूली जवाय छे, अने तेओनुं भूतकालनुं जीवन वर्तमान काळना साक्षात्कारोनो अनुभव करावे छे. आ जंबूद्वीपना दक्षिणार्द्ध भरतना भरतक्षेत्रमां मगध नामनो देश छे, अने तेनी राज्यधानी राजगृह नामना नगरमां हती, ते नगरमां अति धनवान अने ओट वगरनी संपत्तिना भव्य तरंगोना अनुभव श्रेष्ठि ऋषभ अने धारिणी करतां हतां. संसारनी लीलानो अनुभव करतां धारिणीनी कुक्षिमां पांचमा देवलोकमांथी च्यवीने एक देव गर्भपणे उत्पन्न थयो, अने ते गर्भनो परिपक्व काळे पुत्रपणे जन्म थयो. स्वप्नना अने दोहदना भावने अनुसरतुं श्रेष्ठिना सगां-वहालांओए मळी श्रीजंबू एवुं नाम स्थापन कर्युं, अने तेणे श्रीसुधर्मास्वामिजीनी देशना श्रवण करीने सम्यक्त्व सहित शील अंगीकार कर्यों. श्रीजंबूस्वामीने परणवानी इच्छा नहोती, छतां मातपिताना अति आग्रहथी ते आठ कन्याओ परण्यो, परंतु तेओनी स्नेहवर्धक-वाणीथी लेशभर व्यामोहित थयो नहिं; कारण के संसारसमुद्रनो पार पामवा माटे जेणे सम्यक्त्व अने शील नामना तुंबडा ग्रहण कर्यां छे, ते श्रीजंबूस्वामीजी स्त्रीरूप सरिताओमां डूबी शकतो ज नथी. रात्रिमां ते स्त्रीओ साथे अनेक

प्रकारनी शंकाओना समाधान आपीने, अने सुंदर विचार–विनिमय करीने; ते आठे स्त्रीओने प्रतिबोध पमाडीने दीक्षानी अर्थिनी बनावी. एटलुं ज नहिं पण ते ज रात्रिमां प्रभव नामनो चोर वीजा चोरो साथे चोरी करवा आव्यो हतो. परंतु " आ घरनो मालिक स्त्रीओ साथे ९९ नवाणुं क्रोडनी संपत्तिने छोडीने जनार छे " ए वातने विवेकपूर्वक हृदयमां स्थिर करीने चोरी करवा आवेला ते चोरे विनाशि–संपत्तिओनो मोह मूकीने अविनाशि–महामूल्यवाळां त्रण रत्नोनी चोरी करवानो सघळा चोर साथे निर्णय कर्यो. सवारमां पांचसो चोर, आठ स्त्रीओ, आठ स्त्रीओना मातापिता, पोताना मातापिता; अने पोते मळीने कुल–५२७ पांचसो सत्तावीशनी संख्यामां दीक्षित थया. भगवान् सुधर्मास्वामीजीनी पासे श्रीजंबूस्वामी प्रथम शिष्य थया, अने तेमनी पाटे श्रीप्रभवस्वामी आव्या. श्रीजंबूस्वामीजी सोळ वर्ष गृहस्थाश्रममां रहीने, ते पछी दीक्षा लइने, वीश वर्ष सुधी श्रीसुधर्मास्वामीजीना चरणकमळनी उपासना करीने चुम्मालीश वर्ष केवलिपर्याय पामीने; अने समग्र एंशी वर्षनुं आयुष्य पूर्ण करीने परमपदने पाम्या. श्रीजंबूस्वामीजी मोक्षे गया पछी कोई पण केवळज्ञान पाम्युं नथी, अर्थात् केवळज्ञान पामीने मोक्षे गयुं नथी; माटे तेओश्रीने शासनमां अंतिम केवळीना नामथी पिछाणे छे.

' सुयं मे ' अने ' त्तिबेमि ' पदोनी व्यापकता—

शासनमान्य–ज्ञानीओने, शासनना संचालक पंचम गणधर श्रीसुधर्मास्वामीजीना जीवनने, अने अंतिम केवळी श्रीजंबूस्वामीजीना जीवनने स्मृतिपथमां राखीने; हवे आपणे अंगना प्रारंभकाळने, अने ते अवसरनी रचना पर ध्यान दइए. शासनमान्य–ज्ञानिपणुं स्पर्श्युं छे, ते माटे तेओश्रीनी रचनाओ ज साक्षी पूरवा समर्थ छे. आत्मादि भावोनी साथे गति–आगतिने समजीने म्हारां

साधुओ अने साध्वीओ; तथा म्हारां श्रावको अने श्राविकाओ पण ते ज रस्ते अनादिकाळनी अज्ञानीपणानी आंधीमांथी नीकळीने शासनमान्य-ज्ञानिपणाने स्पर्शे ए ज एक हेतुथी—"सुयं मे आउसंतेणं इहमेगेसिं नो सन्ना भवइ" आ समुदित-पदोद्वारा श्रीआचारांगना प्रथम सूत्रनुं आयोजन करे छे. ज्ञानीपणाने अने अज्ञानीपणाना वास्तविक तफावतने समजी शके एवा समजु वांचकोने, विचारकोने अने अभ्यासीयोने "सुयं मे" इत्यादि पदोना परमार्थ समजवामां अने ते परमार्थ-पीयूषनुं आस्वादन करवामां लवलेशभर विलंब थतो ज नथी. आथी ज अंगना प्रारंभमां पंचम गणधर भगवान् श्रीसुधर्मास्वामीजी जणावे छे के—आसन्नोपकारि-शासनसंस्थापक-अंतिम-तीर्थंकर-भगवान्-श्रीमहावीर-महाराजाना चरणकमळनी उपासना करतां में जे सांभळ्युं छे, ते हे जंबू! हुं तने कहीश. आ रीतिए 'सुयं मे' इत्यादि पदोद्वारा पोताना शिष्य-श्रीजंबूस्वामीजीने उद्देशीने जणावे छे. श्रीआचारांग-सूत्रनी आदिमां 'सुयं मे०' अने अंतमां 'त्ति बेमि' ए पद व्यवस्थित आवे छे, परंतु श्रीसूत्रकृतांगमां प्रथम सूत्रमां 'बुज्झिज्जत्ति०' इत्यादि पदो छे, पण शरु थता सूत्रनी साथे 'सुयं मे' ए पदो नथी, छतां पण छे एम समजीने ज वांचके, विचारके अने अभ्यासके अर्थ करवानो छे, अने जगो जगो पर ते ज रीतिए वर्तवानुं छे; ए आ उपरना आलेखनथी स्पष्ट थाय छे.

ते बे पदोनी सुव्यवस्था—

हवे 'सुयं मे' ए सूत्रनी व्यवस्थामां 'मे' प्रथम जोइए, अने सुयं पछी जोइए; परंतु "मंगलवचनाः शब्दा आद्याः प्रयोक्तव्याः" ए नियमथी जे वात आगळ धरे छे, ए ज सूत्रमां मंगलतादर्शक पद पहेलुं जोईए ए वात ध्यानमां होय तो आ शंकाने अवकाश नथी. एटले सुयं मंगलवाचक शब्द होवाथी प्रथम होवो जोइए, अने रचनामां प्रथम छे ए सुसंगत छे. ॥ १३ ॥

श्रीशीलांकसूरिजी आ सूत्रना पदच्छेद वखते श्रुतं मया० एवुं वृत्तिमां उपर प्रमाणे जणावे छे, 'मे' पदनी व्याख्यामां षष्ठीने बदले तृतीयानी व्याख्या संगत छे. 'विभक्तिथमन्ततसाद्याभाः' ए सूत्रथी अव्ययपद-बोधक 'मे' शब्द होवाथी गमे ते विभक्तिनो अर्थ करी शकाय छे, ते सिवाय अस्मद्नुं प्राकृत-भाषामां तृतीयामां 'मे' रूप बने छे, एटले उपरना समाधान साथे आ पण विचार कर्यो होय, अने तेथी व्याख्याकारे तृतीयानो अर्थ कर्यो छे ते पण सुसंगत छे. पोताना शिष्यने सूत्रसंदर्भ आपता हुं तने आम जणावुं छुं एम नहिं, पण भगवान्-श्रीमहावीर पासेथी म्हें मेळव्युं छे ते ज तने हुं अनुवादरूपे जणावुं छुं. हुं कहेतो नथी, म्हारा घरनुं कहेतो नथी, मनोघडंत कल्पनाओ ठालवतो नथी; परंतु श्रीभगवंते जे कीधुं ते ज कहुं छुं, अने तेथी ते माटे अभ्यासके विचारवानी जरूर छे के अध्ययन के उद्देशनी परिसमाप्तिमां 'त्तिबेमि' ए पद स्वमनीषिकानो भारपूर्वक परिहार सूचवे छे. एटलुं ज नहिं पण शासनसंस्थापक-परमतारक-गुरुवर्य-श्रीतीर्थंकर प्रति पू. गणधरनो अति आदर बहुमान सूचवे छे, अने तरण-तारण-गुरुवर्यो प्रत्ये भावि-शिष्यादिके आ रीते वर्तवुं एवुं हितकर सूचन आथी ध्वनित थाय छे. जे जे अध्ययन विगेरेनी आदिमां "सुयं मे" आदि पदो होय, अने अंतमां "त्तिबेमि" पद होय तो भगवान्-श्रीमहावीर-महाराजा पासेथी श्रीसुधर्मास्वामीजीए मेळव्युं, अने पोताना शिष्य-श्रीजंबूस्वामीजीने स्वपरहितार्थे दीधुं ए स्पष्ट थाय छे. आ प्रसंगने स्पष्ट करतां श्रीसूत्रकृतांगनी वृत्ति करतां श्रीशिलांकसूरिजी पण प्रथम अध्ययनना प्रथम उद्देशानी समाप्तिमां मूलकार आ रीते जणावे छे—

इति बेमि पढमज्झयण पढमो उद्देशो समत्तो ॥ अने वृत्तिकार आ रीते "इति बेमि" संबंधमां आ रीते वृत्तिमां जणावे छे.

"ब्रवीमीति सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनं प्रत्याह-ब्रवीम्यहं तीर्थंकराज्ञया,
न स्वमनीषिकया, स चाहं ब्रवीमि येन मया तीर्थङ्करसकाशाच्छ्रुतम् ॥"

(श्रीगोडीजी० मु० सू० पृ० ३०-पंक्ति ४-५)

हवे आ उपरथी जे अध्ययननी अंतमां 'त्तिबेमि' होय, ते अध्ययनना प्रारंभमां 'सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं' आ पदो अवश्यमेव छे; एम समजी ज लेवां जोईए. जेवी रीते श्रीदशवैकालिकसूत्रनी अंतमां 'त्तिबेमि' पद छे, परंतु अध्ययनमां 'सुयं मे' इत्यादि पदो नथी छतां ते स्वीकारी लेवां ज जोईए. आवी ज स्पष्टता नवांग-वृत्तिकार-श्रीअभयदेवसूरिजीए पण ठाम ठाम पोतानी वृत्तिमां करेली छे. आ उपरथी "सुयं मे" अने "त्तिबेमि" इत्यादि पदोनी मौलिकता, अने पारमार्थिकता वांचकोए अने अभ्यासकोए अनुक्रमे वांचनकाले अने अभ्यासकाले अवश्यमेव विचारवी जरूरनी छे. आ उपर जणावेला पदोना परमार्थ प्रत्ये वास्तविक-प्रीतिपूर्वकनी प्रतीति अने रुचि थाय छे, तेना हृदयमां ज पू. तीर्थंकरोए कथन करेला अर्थनुं अमृतास्वादन अने पू. गणधर भगवंतोना रचेला सूत्रोनुं सुधास्वादन स्पष्टपणे निरंतर थयुं छे, थाय छे, अने थशे; ते निःशंक वीना छे.

सर्वश्रुत-संपदाना मालिक-श्रीसुधर्मास्वामीजी—

"वर्तमानकालीन सघळीए श्रुतसंपदाना मूळ प्रणेता श्रीसुधर्मास्वामीजी छे." ए वातने पूर्वे निर्णीत स्वरूपे विचारी गया. हवे निर्णीत वातनी आडे आवनारी वातो विचारीए छीए, तो अनेकविध रचनाओ अनेकानेक महात्माओए करेली छे; अने ते ते कृतिओ नजर सन्मुख थई रही छे. पांचमुं अंग श्रीभगवतीजीसूत्रना सूत्रोना रचयिता प्रथम गणधर भगवान् श्रीगौतमस्वामीजी छे.

प्रातःस्मरणीय–पूर्वधरोनी अने शासनमान्य स्थविर–भगवंतोनी अनेकविध रचनाओ होवा छतां बधीए शासनमान्य--रचनाओना आद्य–रचयिता–पंचम–गणधर–भगवान्–श्रीसुधर्मास्वामीजी मानवा शी रीते ?, ए अत्र प्रासंगिक प्रश्न थाय ते संभवित छे. आ प्रश्नना समाधानमां समजवानुं ए छे के–सर्वज्ञ भगवंतना शासनमां मनोघडंत कल्पनाओने मान्य राखवाने लेशभर अवकाश ज नथी. दरेक श्रुतस्कंधमां, दरेक अध्ययनमां, दरेक सूत्रमां अने दरेक शासनमान्य–विशिष्ट–रचनाओमां 'सुयं मे' पदो न लीधां होय, अगर 'त्तिबेमि' पद न बोल्या होय अगर न जणाव्यां होय तो ते पदो त्यां छे एम ते स्थळे समजी ज लेवां जोइए. आ 'सुयं मे' इत्यादि पदोथी कल्पनाना गोळा गबडाववाने भगवंतना शासनमां साफ साफ मनाइ करेली छे. एटलुं ज नहीं पण 'सुयं मे' इत्यादि पदो विगेरेथी जैनशासन--मान्य आगम संबंधी अर्थथी थती प्ररूपणाओ अने सूत्रथी थती प्ररूपणाओ निश्चित बनी जाय छे, जैनागमना सारभूत रहस्यना जेओ आस्वादी हशे तेओने आ वात समजाववी पडे तेम नथी. अर्थथी–आत्मागम, अनंतर–आगम अने परंपरा–आगमने समजवामां; तथा सूत्रथी–आत्मागम, अनंतर–आगम अने परंपरा–आगम समजवामां विलंब थतो नथी. अर्थथी प्ररूपणा करनारा अरिहंतोने आत्मागम, तेमनी पासेथी श्रवण करनारा एटले ते अरिहंत भगवंतोनी अमोघ–दिव्य–देशनाने झीलनारा गणधर भगवंतोने अनंतर आगम, अने प्राप्त थयेला अर्थने शिष्य–परंपरामां पठन, पाठन करावे ते बधाने परंपरा आगम होय छे. आ रीतिए आसन्नोपकारि–अंतिम–विभु श्रीवीर–परमात्मा अर्थथी देशना देनार होवाथी तेओने आत्मागम, शासनना मालिक पंचम गणधर भगवंत ते देशना झीलनार होवाथी तेओने अनंतर–आगम, अने अंतिम–केवळी–भगवन्त–श्रीजंबूस्वामीजी ते अर्थने तेओ पासेथी (श्रीसुधर्मस्वामीजी पासेथी) पाम्या तेथी तेमने परंपरा आगम होय ए स्वाभाविक छे. आ रीतिए अर्थथी

अर्थ–आगमना त्रण प्रकारो समज्या. हवे सूत्रना रचयिता श्रीसुधर्मास्वामीजी होवाथी सूत्रथी आत्मागम श्रीसुधर्मास्वामीजीने, तेमनी पासेथी सूत्रोनी अनंतर प्राप्ति करनार श्रीजंबूस्वामी छे, माटे सूत्रथी अनंतर आगम श्रीजंबूस्वामीजीने; अने ते पछी तेओश्रीजीए (श्रीजंबूस्वामीजीए) श्रीप्रभवस्वामीजीने परंपरामां सूत्रथी दीधुं माटे सूत्रथी परंपरागम श्रीप्रभवस्वामिजीने छे. पक्खी, चउम्मासी अने सांवत्सरिक प्रतिक्रमण अवसरे जे पक्खी खामणा खमाय छे (चउम्मासी, अने सांवत्सरिक–अवसरे जे खामणा खमाय छे); ते अवसरे त्रीजा खामणानो पाठ बोलवाना अवसरे–अक्खरं वा, पयं वा, गाहं वा, सिलोगं वा, सिलोगद्धं वा, अट्ठं वा, हेउं वा, पसिणं वा, वागरणं वा०; इत्यादि पदो बोलनारने पोतानी मालिकी नथी, पण परंपरामां मळ्युं छे ते ज अपाय छे, अने भणावाय छे. अने तेथी ज वडीलो ते खामणा प्रसंगे "आयरियसंतियं" एम बोले छे. एटले तमने जे कांई वस्त्रपात्रादि अगर अक्षरादि अपाय छे, ते बधुं आचार्यनी परंपरामां प्राप्त थयुं ते रीते अपाय छे, अमारुं तेमां कंइ नथी; आ स्थळे पण स्वमनीषिकानो परिहार प्रगटपणे सूचवाय छे. आथी ए वात अत्र निर्णीत थाय छे के च्हाय तो चौदपूर्वधरनी के दशपूर्वधरनी रचनाओ होय, च्हाय तो निर्युक्तिकारनी के भाष्यकारनी रचना होय, च्हाय तो चूर्णिकारनी के वृत्तिकारनी रचना होय; च्हाय तो सूरिपुरंदरनी के वाचकवर्यनी रचना होय तो पण दरेके–दरेकनी रचनाओनी परंपराना ऊंडाणने तपासीए तो शासननी सघळी–श्रुतसंपदाना अने चारित्रसंपदाना मालीक सुधर्मास्वामी हता, छे; अने वर्तमान शासननी परिसमाप्ति पर्यन्त तेओ ज रहेशे, ए सर्वदा स्मृतिपटमां स्थिर करवुं आवश्यक छे. हवे तेओश्रीनी अति महत्त्वभरेली अंग–उपांगोनी रचना पैकी श्रीसूत्रकृतांगनुं नाम, तेनी महत्ता अने सामग्रीसंचयने विवेकपूर्वक विचारीए.

ग्रन्थनुं गुणनिष्पन्न-नाम—

शासनमान्य-सूत्रकार-पंचम-गणधर-श्रीसुधर्मास्वामिजी, अने जेओने उद्देशीने सूत्रो कहेवाय छे ते अंतिम केवली श्रीजंबूस्वामीजी; आ बन्नेनी जीवनचर्यानो अभ्यास करीने, अने साथे साथे सर्व श्रुतसंपदाना मालिक श्रीसुधर्मास्वामीजीनो स्वीकार करीने "सुयं मे" इत्यादि पदोनी व्यापकता अने व्यवस्था समजी गया. आथी बधा अंग-उपांगनी जेम श्रीसूत्रकृतांग-सूत्रनी सघळी-सामग्रीना रचयिता-पंचम-गणधर-भगवान-श्रीसुधर्मास्वामी ज छे. हवे आ ग्रंथनुं नाम शी रीते पड्युं ते वातने जणावतां थकां चौद पूर्वधर-अर्थकार-शिरोमणि-श्रीभद्रबाहुस्वामिजी श्रीसूत्रकृतांगनो परिचय करावतां आ प्रमाणे जणावे छे के-बार अंगोमां आ श्रीसूत्रकृतांग ए बीजुं अंग छे, अने तेना गुणनिष्पन्न नामो त्रण छे.

सूयगडं अङ्गाणं बिइयं तस्स य इमाणि नामाणि । १ सूयगडं २ सुत्तकडं ३ सूयगडं चेव गोण्णाइं ॥ २ ॥

१ सूयगडं, २ सुत्तकडं, ३ सूयगडं; पू. श्रीनिर्युक्तिकार जणावे छे, अने पू. श्रीवृत्तिकार सूतकृत, सूत्रकृत, अने सूचाकृत एम जणावे छे. तीर्थंकर भगवंत पासेथी अर्थरूप उत्पन्न थयेलाने ग्रन्थरचना शैलीथी गणधर भगवंतोए जे गुंथ्युं ते सूतकृत-१, गणधर भगवंतविरचित-सूत्रानुसारे सूत्रस्थित-भावानुसारे, तद्विषयक-तत्त्वावबोध कराय छे, अर्थात् निर्वाणपथ जणाय छे; ते सूत्रकृत-२, अने स्वपरसमयना भावोनुं सूचन आ सूत्रोमां ठांसी ठांसीने भरेलुं छे, तेथी "स्वपरसमयार्थसूचनं सूचा" आ सूत्रने विषे करेली छे तेथी सूचाकृत ३; आ उपरना त्रण नामोना भावार्थने जणावीने ते ज नामोनी यथार्थ गुणनिष्पन्नता पू. निर्युक्तिकार वधु स्पष्ट करे छे.

सोऊण जिणवरमतं गणहारी काउ तक्खओवसमं । अज्झवसाणेण कयं सुत्तमिणं तेण सूयगडं ॥ १८ ॥

निर्युक्तिना अढारमा पद्यमां पू. श्री निर्युक्तिकार जणावे छे के-त्रैलोक्यनाथ तीर्थंकर भगवंतोना अभिप्रायने श्रवण करीने, अने ग्रन्थरचनाने अनुकूळनो कर्म क्षयोपशम करीने; शुभ-अध्यवसायथी आ सूत्रो कहे छे, तेथी तेनुं नाम सूयगडं=सूत्रकृत कहेलुं छे.

आ रीते विवेकपूर्वक विचारतां ग्रंथनुं नाम सूत्रकृतांग राखेलुं छे, ए गुणनिष्पन्न युक्तियुक्त छे.

सूत्रकृतांगनी महत्ता—

वर्तमानकालीन श्रमण भगवंतोने उभय टंक प्रतिक्रमण काळे आ सूत्रकृतांगनुं महत्त्व स्मृतिपथमां सर्वदा सुस्थिर राखवा माटे "पगामसिज्जाए०ना" (श्रमणसूत्रना) उच्चारण वखते "सोलसहिं गाहासोलसेहिं", अने "तेवीसाएहिं सूयगडज्झयणेहिं"; आ बे वाक्योना उच्चारण कराय छे. अभ्यासीओ श्रीसूत्रकृतांग-सूत्रना त्रेविस-अध्ययननो सारांश स्मृतिपथमां राखवाथी स्वदर्शनमां वधु ने वधु स्थिर बने छे, अने परदर्शननी मान्यताओ अने चित्तने विह्वळ-बनावनारा-चमत्कारादिथी लवलेशभर व्यामोहित बनता नथी. प्रथमांग-श्रीआचारांगमां कथन करेला पांच आचारोथी पुनित-जीवन-जीवनारा श्रमण-भगवंतो स्वपरसमयने विवेकपूर्वक जाणीने श्रद्धामां वधु ने वधु स्थिर थईने अन्य जीवोने वधु स्थिर करे ते माटे आ सूत्रकृतांगनी महत्तानुं मूल्यांकन जेटलुं करीए, कहीए, अने आलेखन करीए तेटलुं ओछुं छे; माटे विवेकीओए आ महत्त्वभर्या मूल्यांकन प्रसंगने अवश्यमेव विचारवानुं जरुरनुं छे. प्रथम-श्रुतस्कंधना सोळ अध्ययनोना पूर्वापर-संबंधने विचारीने, परिशीलन करीने, अने अभ्यास करीने; साथे साथे बीजा श्रुतस्कंधना सात अध्ययनोना पूर्वापर संबंधने विचारीए तो, परिशीलन करीए तो; अने अभ्यास करीए तो विवेकी वांचकोने अवश्यमेव मालूम पडशे के दुनियाभरना विविध-जैनेतर-शासनोनी मान्यताओ सामे, आचारो,

विचारो, सिद्धान्तो, युक्तिओ अने प्रयुक्तिओ सामे अभेद्य दिवालनी जेम अडग रहेवानी अपूर्व आस्तिक्यतानुं अपूर्व जोम टकावी राखनार अने विद्वानो सामे सुंदर समाधानो आपीने जैन-शासननी अपूर्व जयपताका फरकाववानी ताकात समर्पण करनार होय तो आ एक ज सूत्रकृतांग छे.

सूत्रकृतांगनी सामग्रीओ—

शासनमान्य-प्रातःस्मरणीय-पूज्यपाद-पंचम गणधर भगवंत-श्री सुधर्मास्वामीजीए आ सूत्रकृतांग सूत्रनी रचना श्रुतस्कंधरूप बे विभागमां करी छे. प्रथम श्रुतस्कंधमां १६ अध्ययनो छे, अने बीजा श्रुतस्कंधमां सात अध्ययनो छे. एकंदर बे श्रुतस्कंध अने त्रेवीस अध्ययनो छे, अने ३३ उद्देशक छे. श्री आचारांग सूत्रथी बमणुं छे, अने छत्रीस हजार पदप्रमाण आ श्रीसूत्रकृतांग छे. आ ज वातने समर्थन करतां पू. श्री निर्युक्तिकार आ प्रमाणे सूत्रकृतांगनी निर्युक्तिमां जणावे छे.—

दो चेव सुयक्खंधा, अज्झयणाइं च हुंति तेवीसं। तेत्तिसुद्देसणकाला आयाराओ दुगुणमंगं ॥ २२ ॥

प्रथम अध्ययनमां चार, बीजा अध्ययनमां त्रण, त्रीजा अध्ययनमां चार, चोथा अध्ययनमां बे, पांचमा अध्ययनमां बे; अने छ थी सोळ अध्ययनमां एक एक उद्देशो एटले अगीआर उद्देशा छे. आथी प्रथम श्रुतस्कंधमां सोळ अध्ययनो, अने छवीस उद्देशा छे; अने बीजा श्रुतस्कंधमां सात अध्ययनना सात उद्देशा छे. एकंदर मळीने बन्ने श्रुतस्कंधना त्रेवीस अध्ययन छे, अने तेत्रीस उद्देशा छे. पोताना नामने सार्थक करनार नामथी विभूषित थयेला आ सूत्रना अध्ययनोनो अनुक्रम आ प्रमाणे छे, अने

पूर्वापर अनुस्यूत-संबंधने समजवाथी संयमधारिओना जीवनमां नवीन जोम प्रगट थाय छे.

अध्ययनना अनुक्रमने समजवा पहेलां प्रथम श्री आचारांगसूत्रमां मुख्यत्वे कथन करेला श्रमण भगवंतोना आचारादिनुं स्वरूप समजीने एटले जैन शासनमान्य-आचारो अने विचारो, सिद्धान्तो अने युक्तिओ, मान्यताओ अने रूढिओ; समजवा छतां जैनेतर-दर्शनोना आचारो अने विचारो, सिद्धान्तो अने युक्तिओ, अने मान्यताओ अने रूढिओने समज्या वगर श्रद्धाथी खसी जवाना प्रसंगो बने छे, ते हेतुथी श्रमण भगवंतोने स्व-परदर्शनमान्य-सिद्धांतोने, अने विचारोने विवेकपूर्वक समजवाने आचार-विचारमां अति सुस्थिर बनाववा माटे श्रीसूत्रकृतांग सूत्रनी रचना थयेली छे. "वरनी प्रशंसा वरनी मा करे" ए प्रचलित-कहेवतने अनुसरीने आ कहेवातुं नथी, पण आ सूत्रकृतांगना अध्ययनोना पूर्वापर-अनुस्यूत-संबंधने समजवाथी हेतुपुरस्सरनी युक्तिसंगत रचना थयेली छे, एम दृढ श्रद्धापूर्वक प्रतीति थाय छे; अने ए मानवामां लेशभर वांधो आवतो नथी. आ सूत्रकृतांगना अध्ययनोनो पूर्वापर संबंध आ प्रमाणे छे.

अध्ययनोनी ओळख—

प्रथम अध्ययन स्वसमय-परसमयनी प्ररूपणाना नामथी मशहूर छे. आ अध्ययनमां स्वसमय एटले जैन शासनमान्य सिद्धांतो, युक्तिओ, आचारो, विचारो; अने मान्यताओमां तन्मय-जीवन-जीवनाराओने विश्वभरना विविध-दर्शनोनी मान्यतादिना प्रसंगमां अवसरे अवसरे प्रश्नादिनी प्रक्रियामां आववुं पडे तो तेनुं समाधान केवी रीते करवुं ?, तेनुं शिक्षण आपीने, लौकिक मतोनी

१ जुओ परिशिष्ट १लुं. पृ. १थी पृ. ५३.

માન્યતાઓનું યથાવસ્થિત દિગ્દર્શન કરાવીને; ઉપસંહારમાં " તં સવ્વણયવિસુદ્ધં જં ચરણગુણટ્ઠિઓ સાહૂ " પૂ. શ્રી નિર્યુક્તિકાર-કથિત-શાસનમાન્ય-સિદ્ધાંતરૂપે ચારિત્ર-જ્ઞાનમાં રહેલો સાધુ મોક્ષમાર્ગે સાધી શકે છે એ જણાવાય છે. એટલે અધ્યયનમાં સ્વ-સમયના (જૈનદર્શનના) ગુણોને અને પરસમયના (જૈનેતર દર્શનોના) દોષોને જણાવીને અને જૈનશાસનમાન્ય શ્રદ્ધામાં દૃઢ-શ્રદ્ધાળુ બનાવીને સ્વસમયમાન્ય બોધને અનુસરવાની આ અધ્યયનમાં ખાસ ભારપૂર્વકની ભલામણ છે.

બીજા અધ્યયનનું નામ વૈતાલીય અધ્યયન છે. આ અધ્યયનમાં પૂ. શ્રી વૃત્તિકાર જણાવે છે કે, " સ્વસમયગુણાઃ પરસમય-દોષાશ્ચ પ્રતિપાદિતાઃ તાશ્ચ જ્ઞાત્વા યથા કર્મ વિદાર્યતે તથા બોધો વિધેયઃ " ॥ આ પંક્તિનો પરમાર્થ એ છે કે—સ્વસમયના અને પરસમયના અનુક્રમે ગુણોને અને દોષોને વિવેકપૂર્વક જાણીને, અને આ અધ્યયનમાં દર્શાવેલા માર્ગને અનુસરીને સ્વસમયને અનુસરતા બોધથી જીવનને ઓતપ્રોત બનાવનાર સાધુએ અષ્ટવિધ-કર્મોને વિદારણ કરવાની કુશળ-કાર્યવાહીનું શિક્ષણ દાખલા-દલીલ-યુક્તિઓપુરસ્સર આ અધ્યયનમાં અપાય છે.

ત્રીજા અધ્યયનનું નામ ઉપસર્ગ અધ્યયન છે. સફળ કાર્યવાહી કરનારને શુભ કાર્યમાં વિઘ્નો અવશ્યમેવ પ્રતિકૂળ-અનુકૂળ આવે છે, તેથી ઉપસર્ગરૂપી વિઘ્નોનું સ્વરૂપ, અને ઉપસર્ગરૂપી વિઘ્નો વિદારણ કરવાની કુશળ કાર્યવાહીનું દિગ્દર્શન અને પારમાર્થિક-ઉપદેશ આ અધ્યયનમાં આવે છે.

ચોથા અધ્યયનનું નામ સ્ત્રીપરિજ્ઞા-અધ્યયન છે. સઘળાએ ઉપસર્ગોમાં અનુકૂળ-ઉપસર્ગનું અધિકતમ દુર્જયપણું છે, તેથી જ આ અધ્યયનમાં અનુકૂળ ઉપસર્ગને અનુસરવામાં સ્ત્રી એ મુખ્ય સાધન છે, માટે સ્ત્રીસ્વભાવ, સ્ત્રીસંગદોષાદિનું વિસ્તૃત સ્વરૂપ આપીને

स्त्रीसंगपरिहार माटे पारमार्थिक-उपदेश आ अध्ययनमां आपेलो छे.

पांचमा अध्ययननुं नाम नरकविभक्ति-अध्ययन छे. संयम लीधा छतां गभरायेला स्त्रीवशवर्ति-संयमधारि-जीवो नरकगामी थया छे, थाय छे, अने थशे; एटले आ अध्ययनमां नरकनुं स्वरूप, नारकनी यातनाओ, अने नरकना परमाधामी आदिना वर्णन साथे नरकगमन केवी रीते थाय छे तेनुं विस्तृत वर्णन आ अध्ययनमां आवे छे.

छट्ठा अध्ययननुं नाम वीरस्तुति छे. प्रथम श्रुतस्कंधना सोळ-अध्ययनो कहेवाना छे, छतां भगवान्-श्रीमहावीर-महाराजानी शरुआतमां स्तुति करी नहिं, अने अंतिम-भागमां पण स्तुति करी नहि; परंतु छट्ठा अध्ययनमां पूर्वे जणावेल शंकाना समाधानमां पू. श्री निर्युक्तिकार समजावे छे के-" एवं महप्पा वीरो जयमाह तहा जएज्जाहि । " जेवी रीते भगवान् महावीरे संसारने जीत्यो तेवी रीते तेने जीतवा प्रयत्न करवो । आ वीना भगवान् श्री सुधर्मास्वामीजी पोताना परमविनेय श्री जंबूस्वामीने जणावे छे, कारणके पूर्वार्द्धमां ते ज भाव भरेलो छे. आ जणावेल समाधान सूत्रकृतांगनी शरूआतमां के अंतिममां होय तो नभी शके छे, छतां अहीं पांचमा अध्ययननी अनंतर छट्ठुं अध्ययन श्री वीरस्तुतिनुं कर्युं छे. तेथी छ अध्ययनोनो अने पछीना अध्ययनोना पूर्वापर-प्रसंग तपासतां मालूम पडे छे के, दुःषमकाळमां नरकना स्थाननी श्रद्धा थवी अशक्य हती, अने वर्त्तमानमां पण तत्संबन्धि वातावरण पण तेवुं ज छे; कारणके आजना कहेवाता पंडितो पण नरकगति माटे अश्रद्धा धरावे छे अने ते अश्रद्धाना प्रतिबिम्बो निवेदनोमां, जाहेर सभाओना व्याख्यानोमां, लेखोमां अने भाषान्तरोमां ठाम ठाम नजरे पडे छे. आ बधुं विचारतां मालुम पडे छे के-" स्त्रीसंगनुं वर्जन नहिं करनारने नियमतः नरके जवुं ज पडशे ", ए वीना सामान्य माणस कहेता नथी पण

भगवान्–श्रीमहावीर जणावे छे, अने तेथीं पूर्व अधिकार साथे संबंध मेळवतां पू. वृत्तिकार पण जणावे छे के–" अत्रानन्तराध्ययने नरकविभक्तिः प्रतिपादिता सा च श्रीमन्महावीरवर्धमानस्वामिनाऽभिहितेत्यतस्तस्यैवानेन गुणकीर्तनं "....इत्यादि ॥ आ आलेखन पू. वृत्तिकारनुं सुसंगत छे.

विशेषमां युक्तिथी पण नरकनुं स्थान मान्या वगर अदल–इन्साफनी प्रवृत्ति थवी अशक्य छे, कारणके एक खून करनारने फांसीनी सजा तो, सो हजार–लाख–क्रोड माणसोने मारी नांखनार, अगर एटम बोम्बथी भरपूर वस्तीने भस्मीभूत करनार पकडाय तो; आजनुं राजतंत्र फांसी आपे तो एकना खूनमां अने क्रोडोना खूनमां एक ज वखत फांसी आवे ए शुं न्याय कहेवाय ? तेथी कर्म–सिद्धान्तनी व्यवस्थामां न्यायनी खातर एवुं एक स्थान होवुं ज जोइए, के जे स्थानमां करेला खूननो बदलो व्यवस्थित–रीतिए घटता न्यायथी पश्चात्तापपूर्वक भोगवाववो ज जोइए, अने ते भोगववानुं स्थान तेनुं नाम नरक छे. तेवी रीते क्रोडो माणसने सुख–शांति आपनारने न्यायी बदलो देवा खातर देवगति होवी ज जोइए अने ते माटे पण देवलोकनी मान्यता माटे विवेकपूर्वक समजवुं अवश्यमेव जरुरनुं छे. आथी नरकनी वातो प्रति हास्यपूर्वक कटाक्ष करनाराओने, अने " नरकनी वातो तो भय देखाडवा माटे छे " एवुं बोलनाराओने आ पांचमा " नरक–विभक्ति "–अध्ययनमां कहेला भावो ए अंतिम–शासनाधिपति–श्रीमहावीर–महाराजाए जणावेला छे; अने तेथी ज छट्ठा अध्ययनमां योग्य–सूचनपूर्वकनी स्तुति छे. साथे साथे भगवान्–श्रीमहावीर–महाराजानी आज्ञानो लोप करीने जेओ स्त्रीनो संसर्ग सेवन करशे, तेओ जरुर नरकनी यातनाओने विना संकोचे भोगवशे, ए ज हिसावे पांचमा अध्ययन पछी आ छट्ठा अध्ययननी रचनामां श्रीवीर–विभुनी यथार्थ–गुणोनी स्तुति करी छे; ते अवसरोचित–प्रासंगिक छे, एम

समजवुं ते स्थानपुरस्सरतुं छे.

आ सातमा अध्ययननुं नाम कुशील-परिभाषा छे. आ अध्ययनमां कुशील एवा परतीर्थिको अगर पासत्थाओ के जेओ मार्ग-विरुद्ध निरूपण करी रह्या छे, ते संबंधितुं वर्णन दृष्टान्तपुरस्सर विस्तारथी अहीं कराय छे; अने कुशीलपणुं ए ज संसारवर्द्धन माटे अमोघ साधन छे, ए अत्र जणावाय छे.

आ आठमा अध्ययननुं नाम वीर्य-अध्ययन छे. वीर्यान्तराय-कर्मना उदयथी कुशीलपणुं, अने ते ज कर्मना क्षयोपशमादिथी सुशीलपणुं आविर्भाव थाय छे. अने तेथी ज त्रण प्रकारना बालवीर्य, बाल-पंडितवीर्य, तथा पंडितवीर्यनुं अत्र हेतुस्वरूप-फल-द्वाराए शास्त्रविहित-नीतिरीतिए प्रतिपादन कराय छे. आ रीते शासनमान्य-पंडितवीर्यने अनुसरतुं जीवन जीवनारा श्रमण-भगवंतो बाह्य-ग्रन्थरूप-नवविध-परिग्रहादि साधन-सामग्री आदि संयोगोने तिलांजलि आपीने आभ्यन्तर-ग्रन्थिने भेदवामां कुशळ कार्यवाही करीने समस्त कर्मनो क्षय करी शकवानी शक्तिने केळवी शकशे, अने तेथी पंडितवीर्यनी पुनित-कार्यवाहीमां परिपूर्ण-जीवन-जीवनाराओ सर्वविरति-धर्मनुं सुंदर सेवन करे छे. तेथी ज अनंतर नवमा अध्ययनमां धर्मनुं प्रतिपादन कराय छे.

नवमा अध्ययननुं नाम धर्म-अध्ययन छे. दुर्गतिमां पडता जीवोने धारण करीने, अने सद्गतिमां स्थापन करीने, सुंदर साधन-सामग्री-संयोगोनी प्राप्ति करावनार धर्म छे. श्रीदशवैकालिकना धर्मार्थ-काम नामना छट्ठा अध्ययननी चोथी गाथामां "हंदि धम्मत्थ-कामाणं०" इत्यादि पदोद्वारा धर्मादिनुं वर्णन पू. श्रीसूत्रकारे अने पू. श्रीनिर्युक्तिकारे पण विस्तृत-व्याख्याथी करेलुं छे, तो पछी धर्मनुं कथन आ अध्ययनमां आवे छे ते शुं ?, समाधानमां समजवुं के-आ अध्ययनमां आत्महितकर भाव-

धर्मनो अधिकार छे, कारण के-प्रभुशासनमां भावधर्मने ज भावमार्ग कही शकाय छे, अने आत्मिक-सुख-शान्ति-आनन्द आपनार भावधर्म ज छे, अने तेनुं वर्णन आ अध्ययनमां आवे छे.

दशमा अध्ययननुं नाम समाधि-अध्ययन छे. नवमा अध्ययनमां जणावेलो भाव-मार्गरूप भावधर्म-भावसमाधिनी विद्यमानतामां होय छे, माटे आ अध्ययनमां समाधिनुं द्रव्य-भावस्वरूप, द्रव्य-भावसमाधिना हेतु-फल जणावीने संयमधारीओने आ अध्ययनना उपसंहारमां भावसमाधिरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रनुं सेवन करवा जणावेल छे.

अगियारमा-अध्ययननुं नाम मार्ग-अध्ययन छे. आ अध्ययनमां भावसमाधिरूप ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप मार्गनुं प्रतिपादन कराय छे. द्रव्य-भावमार्गमां योग क्षेमपणुं कया मार्गमां छे ?, ते प्रश्नना समाधान साथे भावमार्गनी विशिष्टता देखाडाय छे. एटलुंज नहिं पण सन्मार्गना एकार्थिक-पंथ-मार्ग-न्यायादि तेर पदोनी यथार्थ विस्तारथी व्याख्या समजावीने भावमार्गना योग-क्षेमकरणपणानी सिद्धि आ अध्ययनमां करेली छे.

बारमा अध्ययननुं नाम समवसरण-अध्ययन छे. समवसरण एटले समुदायरूपे एक जगोए मळवुं. ते समवसरणना द्रव्य-भावादि विभागो जणावाय छे. हवे पूर्वे जणावेला अध्ययनमां कुमार्गनी भयंकरता दर्शावीने भावमार्ग प्रतिपादन करवो छे, तेथी ते ते मतोनी मान्यताओ प्रथम जणावाय छे. हवे आ अध्ययनमां कुमार्ग प्रतिपादन करनारा क्रियावादिओ, अक्रियावादिओ, अज्ञानवादिओ; अने विनयवादिओ विगेरेनुं स्वरूप ते ते दरेकना चार समवसरण अने तेओना विविध सिद्धान्तो अने मान्यताओने दूर करवा माटे तेनुं विस्तारहेतुयुक्तिपूर्वकनुं स्वरूप, अने समवसरणमां ते ते वादिओना वादमां गुणदोषो जणावीने

संसारमां परिभ्रमण करावनारा ते ते मत-मतान्तरो छे, एम आ अध्ययनमां निर्णय कराय छे.

तेरमा अध्ययननुं नाम याथातथ्य अध्ययन छे. पूर्वे जणावेला धर्म-समाधि-मार्ग-समवसरण नामना अनुक्रमे नव-दश-अगीआर-बार अध्ययनोमां जे शासनमान्य सिद्धान्तरूपे जे सत्य समजाव्युं छे ते ज सत्यने आ अध्ययनमां व्यवस्थित करेलुं छे. अने तेथी ज आ अध्ययननुं नाम याथातथ्य राखेलुं छे. शरुआतमां शासनमान्य सिद्धान्तथी विपरीत शुं शुं छे ते लेशतः समजावीने, अने शासनमान्य विपरीत सिद्धांतो-आचरणाओ केवी रीते नुकसानकारक छे ?, ते पू. श्री निर्युक्तिकार जमालिना संबंधने जणावे छे. अने उपसंहारमां याथातथ्य एटले सम्यक्चारित्रनुं प्रतिपादन करेलुं छे.

चौदमा अध्ययननुं नाम ग्रन्थ-अध्ययन छे. नवविध बाह्य परिग्रह अने चौद प्रकारना अभ्यन्तर परिग्रहोने ग्रंथ कहेवाय छे. ग्रन्थ एटले गांठ, अने कोईपण पदार्थने बंधनथी बांधवुं होय तो गांठ लगावाय छे, तेम आ संसारमां बंधनथी बांधी राखवानो अमोघ उपाय कर्मराजाने घेर बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रहरूप बंधन ते ज ग्रन्थ छे-गांठ छे. आ बन्ने बंधन (द्रव्य-भाव-बंधन) छोड्या वगर कोई आत्मा पामवा लायक परमोत्कृष्ट-पदार्थने पामी शकतो ज नथी; तेथी आ अध्ययनमां ग्रन्थनुं (परिग्रहरूप गांठानुं) प्रतिपादन कराय छे. बाह्य ग्रन्थरूप-परिग्रहने छोड्या वगर अभ्यन्तर गांठोने भेदवा शक्तिमान् थतो नथी, तेथी तत्संबंधी उपदेश आ अध्ययनमां आपेलो छे.

पंदरमा अध्ययननुं नाम आदानीय-अध्ययन छे. आदान पदनो अर्थ ग्रहण थाय छे, अथवा आदिमां स्वीकार कराय छे ते आदान कहेवाय छे, आदि पदना चार निक्षेपा करीने भाव आदिमां आगमथी अने नोआगमथी बे भेद छे. आगमथी

बार–अंग–अध्ययन उद्देश–पाद–पद–अक्षर विगेरे, आ रीतिए बार अंगमां आदि आचारांग, तेनुं आदि अध्ययन शस्त्रपरिज्ञा, तेनो आदि उद्देश जीवोद्देशक, तेनुं पहेलुं सूत्र–'सुयं मे आउसंतेणं', अने तेनुं पहेलुं पद 'सुयं' तेनो पहेलो अक्षर 'सु' इति; अने तेवी रीते चालु श्रीसूत्रकृतांगनुं आदि अध्ययन स्व–समय पर–समय अध्ययननो आदि रूपे उद्देश–पाद–पद–अक्षरो विचारवा; अने नोआगमथी पंचमहाव्रतोमां आद्य व्रतनो स्वीकार आदि ग्रहण कराय छे, ते पण विचारवुं. आ अध्ययननुं बीजुं नाम "जं मइयं" छे, एटले जे सर्व श्रमण भगवंतोने इष्ट छे; ते ज आ अध्ययनमां प्रतिपादन कराय छे.

सोळमा अध्ययननुं नाम गाथाषोडशक–अध्ययन छे. आ अध्ययनमां बीजा श्रीसूत्रकृतांग–सूत्रना प्रथम श्रुतस्कंधना जे पंदर अध्ययनो कह्या तेनो विधि–प्रतिषेधरूप सारांश–एटले पिंडित–अर्थ अहीं जणावाय छे. अने तेथी आ अध्ययननुं नाम "गाथाषोडशक" राखेलुं छे,–गाथा–पद परमार्थ–तात्पर्यार्थ पण कहेवाय छे. आ प्रसंगने पू. श्री निर्युक्तिकार निर्युक्तिमां आ रीते जणावे छे:—

"पण्णरससु अज्झयणेसु पिंडितत्थेसु जो अवितहत्ति । पिंडियवयणेणऽत्थं गहेति तम्हा ततो गाहा ॥ १४० ॥"

एटले आ अध्ययनमां पंदर अध्ययननां परमार्थ प्रकाशन कराय छे. आवी रीते सोळ अध्ययननां पूर्वापर प्रसंगो समजीने, अने सोळ अध्ययनमां कथन करेलां भावोथी भावित थईने श्रमण–भगवंतोए श्रमण–जीवन केवी रीते जीववुं ?, ए उपरना सोळे अध्ययनोना सारांशने वांचीने, विचारीने, मनन करीने, परिशीलन–करीने कृतार्थ थवुं जरुरनुं छे.

पू. श्रीनिर्युक्तिकारनी ओळखः—

श्रीसूत्रकृतांग–प्रथम–श्रुतस्कंधना सोळ–अध्ययन उपर अर्थकार–शिरोमणि, चौद–पूर्वधर, निर्युक्तिकार, उवसग्गहरं स्तोत्रना रचयिता, भगवान्–श्रीभद्रबाहुस्वामीजीए निर्युक्तिने एकसो एकतालीस पद्योमां रची छे, अने श्रीसूत्रकृतांगना सूत्र-स्थित–पदोना परमार्थ जणाववा माटे दरेक अध्ययनोमां निर्युक्तिस्थित–पदोने विवेकपूर्वक समजवा माटे विस्तृत–विषयाद्यनुक्रम नामना प्रथम–परिशिष्टमां जणाव्या छे.

आसन्नोपकारी–चरमतीर्थंकर–भगवान् श्रीमहावीर महाराजाना पंचमगणधर–श्रीसुधर्मस्वामीजीनी शिष्यादि परंपरामां अनुक्रमे शासननी पाटपरंपराने शोभावनार अने प्रभावना–करनार–श्रीजंबूस्वामीजी, श्रीप्रभवस्वामीजी, श्रीशय्यंभवसूरिजी (दशवैकालिकना रचयिता) अने तेओना शिष्य श्रीयशोभद्रसूरि थया. तेओने एक श्रीसंभूतिविजयजी (श्रीस्थूलद्रस्वामीजीना गुरु), अने बीजा श्रीभद्रबाहुस्वामीजी बे शिष्य थया. पू. श्रीनिर्युक्तिकारनुं वधु वृत्तांत जाणवानी ईच्छावाळाए श्रीकल्पसूत्रनी स्थविरावली जोवी. श्रीआवश्यकसूत्र, श्रीदशवैकालिक सूत्र आदि दश शास्त्रो उपर पू. श्री निर्युक्तिकारे निर्युक्ति रची छे, ते पैकी श्रीसूत्रकृतांग पर निर्युक्तिनी रचना पण तेओश्रीए ज करी छे. आ वातनुं समर्थन करतां तेओश्री आवश्यकसूत्रनी निर्युक्तिमां जणावे छे केः—

" आवस्सगस्स दसकालिअस्स तह उत्तरज्झमायारे । सूयगडे निज्जुत्तिं वुच्छामि तहा दसाणं च ॥ ८४ ॥ "

पू. वृत्तिकार–श्रीशीलांकसूरिजी—

आ श्रीसूत्रकृतांगमां सूत्रोनी पद्यात्मक–रचना वधु प्रमाणमां छे, अने गद्यात्मक–रचना अल्पप्रमाणमां छे. आ अंगना सूत्रो,

सूत्रस्थित पदो, अने ते ते सूत्रपदोना परमार्थने जणाववा माटे, अने पूज्य-निर्युक्तिकारे रचेली निर्युक्ति-पद्योना पदोना भावार्थ-रहस्यने जणाववा माटे वृत्तिनी रचना करनार पू. श्रीशीलांकसूरिजी छे. पू. वृत्तिकारे प्रथम आचारांग उपर विस्तृत वृत्ति करीने शासननी भारे सेवा बजावी छे. आ वृत्तिकारना जीवनने स्पर्शता पूर्वावस्थाना पुनित-प्रसंगो अने श्रमण-अवस्थाना सुंदर-प्रसंगोनो निर्णय करी शकाय तेवा साधनो दुर्लभ छे एटलुंज नहिं पण पू. वृत्तिकारे श्रीआचारांगसूत्र अने श्रीसूत्रकृतांगसूत्र उपर वृत्ति क्यारे करी ?, ते संबंधमां श्रीआचारांगनी प्रशस्तिमां गुप्तसंवत्सर मले छे, ते सिवाय बीजी कोई साधन-सामग्री वर्तमानमां उपलब्ध नथी. परंतु वृत्तिमां आवता साक्षिपाठो जे जे आपेला छे ते ते पाठो उपरथी तेओश्रीनी वृत्तिना रचनासमयनुं प्रायः अनुमान करी शकीए. वधुमां श्री सूत्रकृतांगना बीजा भागना प्रकाशन वखते बन्ने अंगना साक्षिपाठोना स्थलादि जणावाशे, त्यारे आ पू. श्रीवृत्तिकारना रचनासमयादिनो निर्णय तेने अनुसरीने विचाराशे, अने साथे साथे प्राप्त थतां साधनरूप जैन-साहित्यनो संक्षिप्त-इतिहास, प्राचीन लिपिमाळा; अने हिंदुस्ताननो इतिहास-ए त्रणना आधारे पण तेओश्रीनुं जीवन विचाराशे.

पाठान्तरोनो अने प्रतिओनो परिचय—

आ सूत्रकृतांग सूत्रनी बीजी आवृत्ति छे, के जेनी अंदर प्रथम श्रुतस्कंधना सोळ अध्ययनना सूत्र-निर्युक्ति-वृत्ति अने टिप्पनमां पाठान्तरोथी परिपूर्ण आ प्रथमविभाग छे. सूत्र-निर्युक्ति-वृत्ति-संबंधि योग्य परिचय करावीने, पाठान्तरोनो परिचय अत्र अपाय छे. आ ग्रन्थनुं द्वितीय-संस्करण करती वखते प्रातःस्मरणीय-पूज्यपाद-आगमोद्धारक-पू० गुरुदेवनी पुनित नजरथी पावन थयेल संस्करणने लक्ष्यमां राखेलुं छे. एटले टिप्पनमां प्रथम पृष्ठ-प्रथम पुंठीनी दशमी पंक्ति पर-" सा. १ सदृश पाठाः । २ शब्द-

पर्यायाः । ३ अभिधेय गुणः । ४ नयगहनम् इ ।" आ चार पाठान्तरो छे. तेमां सा. अक्षरथी प्रातःस्मरणीय-पूज्यपाद-श्री सागरानन्दसूरीश्वरजी ग्रहण करवुं, अने सा. थी शरु थयेल एक नंबरथी त्रण पाठान्तरो प्रथम संस्करणना प्रत्यन्तर-पाठो पण तेओश्रीना छे एम समजवुं. अने ४ नंबरना पाठान्तरना अंतमां इ. संज्ञाथी संज्ञित थयेल छे, ते द्वितीय-संस्करणनो पाठान्तर छे. आवी रीते टिप्पनमां सा. संज्ञाथी शरु थता जे जे पाठान्तरो अगर प्राकृत-पद्योथी संस्कृत-छाया आवे ए सर्व प्रथम संस्करणनी पू० श्री गुरुदेवनी कार्यवाही छे. अने ते सिवाय अ. आ. इ. संज्ञाथी संज्ञित थयेल पाठान्तरो द्वितीय-संस्करणना छे. अने ते पाठान्तरोना मूलस्थानना परिचयने मेलववा अभिलाषि-अभ्यासको माटे प्रतिओनी संक्षिप्त-रूपरेखा जणावाय छे, अने आ बीना खंभात-श्रीशान्तिनाथ-ताडपत्रीयादि-ग्रंथ-भंडार तरफथी प्रकाशित थयेल सूचिपत्रमां पण जणावेल छे.

अ.—संज्ञिकप्रति-कबाट नं. २ दाबडा नं. ४५ प्रति नं. १ पत्र ४२९ } भाषा-प्राकृत-संस्कृत.
आ.—संज्ञिकप्रति- ,, ,, ,, ,, ,, ६२ ,, ,, १ ,, ४६३

उपर जणावेल श्रीसूत्रकृतांग-सूत्रनिर्युक्ति-वृत्तिनी बे ताडपत्रीओ अनुक्रमे ३२-३१ ईंच लांबी छे अने पहोळाईमां अनुक्रमे ईंच २।-१॥। छे, अने दरेक पत्र पर वधारेमां वधारे चार पांच पंक्तिओ छे, अने ओछामां ओछी बे त्रण पंक्तिओ आपेली छे.

छसो वर्ष उपरांतनो काळ व्यतीत थया छतां पण ते प्रतिओ घणीज सारी अवस्थामां छे, अने ते बन्ने प्रतिओनुं श्लोकप्रमाण १६६७०) अने १३०००) अनुक्रमे वि. सं. १३२७ भादरवा वद २ रविवारे वीजापुरमां अने वि. सं. १३४९ मां लखाई छे.

बन्ने प्रतिओनुं लखाण सरखुंज होवा छतां अक्षरो नानामोटा लखवानी पद्धतिथी पाना ओछा–वधु प्रमाणमां होय ते स्वाभाविक छे, पण श्लोकप्रमाणनी गणत्रीमां लेखक (लहीया) विगेरेनी खामी कल्पी शकाय छे. आ सर्व हकीकत मुद्रित–सूचिपत्र–पृ. १०–१४ पर आलेखेली छे.

ई—संज्ञिकप्रति मुद्रित–सूचिपत्र–४४ पर नीचेनी हकीकत आलेखेली छे.

काश्मीरी–कागलपर लखायेल सूयगडांगवृत्तिनी आ प्रति सारी अवस्थामां छे. पत्र ३७४ छे, भाषा प्राकृत–संस्कृत छे. दाबडा–नं. २, प्रति नंबर २४; आ प्रतिपर संवत्–स्थळादि स्पष्ट जणातां नथी.

एक सरखुं लखाण आवतां लखनार–लहीयाओने भूल थवानो संभव केवी रीते उत्पन्न थाय छे, अगर प्रमादादि दोषोने लीधे पण केवी केवी भूलो थाय छे, तेवा पाठान्तरो पण लीधा छे; माटे वांचनारे विवेकपूर्वक ते ते स्थानादिमां पाठान्तरोनो आश्रय लेतां पहेलां पूर्वापर प्रसंगोने विचारीने उपयोग करवो.

हवे उपयोगी बीना एक समजवानी छे, पू. श्रीवृत्तिकारे ज्यारे वृत्तिनी रचना करी त्यारे तेओश्रीने जे जे सूत्रकृतांग–सूत्रनी अने तेनी निर्युक्तिनी लखेली प्रतिओ मळी हशे ते ते प्रतिओ उपरथी प्राप्त थयेल लगभग पंचावन–प्रत्यन्तरो लीधा छे, अने प्रसंगे प्रसंगे पण तेओश्रीए ते ते प्रत्यन्तरोनी पण वृत्ति लखी छे. पाठान्तरोनुं परिशीलन करवाना अभ्यासीओ वृत्तिना पाठान्तरोना स्थानोने सहेलाइथी जोई शके, विचारी शके अने परिशीलन करी शके; ते हेतुथी ७ मुं परिशिष्ट जोवानी भलामण छे.

परिशिष्टोनो परिचयः—

प्रथम–परिशिष्टमां आ ग्रन्थना अध्ययनो, उद्देशाओ, मूलसूत्रो, निर्युक्ति; अने वृत्तिना विवरण अवसरे आवनारा अनेकविध विषयोनो अनुक्रम आपवामां आवेलो छे.

द्वितीय–परिशिष्टमां वृत्ति रचनाकाले आपेल पद्यात्मक–गद्यात्मक–साक्षिपाठोना अकारादिक्रमे पत्रांक–पृष्ठांक–पंक्त्यंक–सहित अनुक्रम आपवामां आवेल छे.

तृतीय–परिशिष्टमां सूत्र–निर्युक्ति अने वृत्तिमां जणावेला दृष्टांतोना–पत्रांक–पृष्ठांक–पंक्त्यंक–साथे स्थानो जणाववामां आव्या छे; अने आ प्रथम विभागमां लगभग २४०) उपर दृष्टांतोनो समावेश थाय छे.

चतुर्थ–परिशिष्टमां अभ्यासिओने अने वक्ताओने मननीय एवी लगभग भाववर्धक–पुनित–पंक्तिओना संचय स्थानोना निर्देश-पूर्वक जणावेलो छे.

पंचम–परिशिष्टमां विशेष–नामो, छट्ठा–परिशिष्टमां न्यायशास्त्रना अभ्यासिओने उपयोगी एवा न्याय–पदो, सातमा–परिशिष्टमां वृत्ति–रचनाकाले श्री पू. वृत्तिकारने प्राप्त थयेला सूत्र–निर्युक्तिस्थित–प्रत्यन्तर पाठान्तरो; अने अष्टम–परिशिष्टमां भाषासंबन्धि–आलेखनो अने आर्ष–वचननो संचय करवामां आवेलो छे.

अभ्यासीओने भलामण—

सुधारीने छापवानी रजा आपती वखते प्रेसना कम्पोझीटरनी नजर–चूकथी, सुधारा प्रमाणे न सुधर्या होय अगर मुद्रण थती

वखते कानो, मात्रा, मींडी वगेरे आघापाछा टाइपो थई जवाथी, अथवा सुधारवा अवसरे नजरदोषथी जे जे अशुद्धि रहेवा पामे ते स्वाभाविक छे; तेथी ग्रन्थ-परिसमाप्तिनी साथे पृ. २७६ थी पृ. २७८ सुधीना शुद्धिपत्रकथी अशुद्ध-स्थलोने प्रथमतः सुधारी लईने अभ्यासीओने मुद्रित थयेल ग्रन्थनो अभ्यास करवा भलामण छे. विशेषमां पृ. १ थी पृ. २८ सुधीना आठ-परिशिष्टोमां नीचे मुजब सुधारो करीने अभ्यास करवो.

पत्राङ्क	पृष्ठाङ्क	पङ्क्त्याङ्क	अशुद्धम्	शुद्धम्
१	१	२	प्रथमश्रुतस्कन्धीय-श्रीमत् सूत्रकृताङ्गे	श्रीमत्सूत्रकृताङ्गीय प्रथमश्रुतस्कंधे
७	१	७	अगत्य०	विशिष्ट०
७	२	१	०धर्मा०	०धर्मे०
७	२	२	०ताङ्गीय-द्विती०	०ताङ्गद्विती०
७	२	३	०राद्यअनु०	०राद्यनु०
७	२	४	निर्देशकपूर्व	निर्देशपूर्व
१५	१	७	०प्तेदं	०प्तमिदं
१५	१	७	द्वितीय०	द्वितीयं०
१५	२	२	०ताङ्गीय-द्विती०	०ताङ्गद्विती०
१५	२	३	प्रदर्शयन्ते	प्रदर्श्यन्ते
२०	१	९	०प्तेदं०	०प्तमिदं०
२०	२	२	०ताङ्गीय-द्विती०	०ताङ्गद्विती०
२०	२	४	०र्थेऽगत्य०	०र्थं विशिष्ट०
२२	२	१०	०प्तेदं	०प्तमिदं
२६	१	११	,,	,,
२६	२	१३	,,	,,
२७	१	२	०ताङ्गिय	०ताङ्गद्विती०

२८	१	१३	०प्तेदं	०प्तमिदं	२८	२	२	प्रदश्यन्ते	प्रदर्श्यन्ते
२८	१	१३	सप्त परि०	सप्तमं परि०	२८	२	१३	समाप्तेदं	समाप्तमिदं

उपर मुजबनी शुद्धि करीने अभ्यासीओए अभ्यास करवानुं लक्ष्य राखवुं.

उपसंहारमां—

आ रीते सम्पादन-संशोधन-कार्यने अंगे सावधानीपूर्वक काम करवा छतां प्रमादादि दोषथी जे कांई क्षति थई होय, अथवा प्रातःस्मरणीय-पूज्यपाद-पंचम गणधर भगवन्त, पू. श्रीनिर्युक्तिकार, पू. श्रीवृत्तिकार अने पू. श्रीगुरुदेवना आशय विरुद्ध जे कांई दोष रहेवा पाम्यो होय; ते संबंधमां " मिथ्या दुष्कृत थाओ " एवी हार्दिक-अभिलाषापूर्वक विवेकी-वांचकोने, विचारकोने; अने अभ्यासकोने अभ्यास करवा सादर भलामण छे. अने प्रकाशन थता आ ग्रन्थने प्रत्यक्षमां के परोक्षमां प्रेसकोपी तैयार करवामां, प्रूफ सुधारवामां-तथा प्रकाशन अंगे आर्थिक-सहाय करवा विगेरेमां जेओए उदारता बतावी छे ते सर्वने स्मृतिपट पर स्थिर करीने आ प्रस्तावनानी परिसमाप्ति कराय छे. आ ग्रन्थनुं साद्यंत-वांचन-मनन-परिशीलन करीने, शासन-मान्य-भावनाओथी भावित थईने; स्व-परहित साधवामां वधु ने वधु अभ्यासको अविरत-उद्यमवंत थाय ए ज एक महेच्छापूर्वक विरमुं छुं.

लि०—श्रीतपागच्छगगनार्हमणि-गीतार्थ-सार्वभौम-आगमोद्धारक-श्रीवर्द्धमान-जैनागममंदिराद्यनेक-संस्थानिर्माणोपदेशक-शासनसंरक्षक-श्रीआनन्दसागरसूरीश्वरचञ्चरीकः—

चन्द्रसागरः

॥ १ परिशिष्टम् ॥

अस्मिन्नेव प्रथमश्रुतस्कन्धीय-श्रीमत्सूत्रकृताङ्गेऽध्ययनान्यध्ययनस्थित-सूत्रकारमुनिर्मितसूत्राणि, तत्स्थितनिर्युक्तिकार-निर्मलपद्यानि, तत्स्थितवृत्तिकारविरचितविषयाणि च तेषां पृष्ठपङ्क्त्याद्यनुसारेणाऽत्र प्रथमपरिशिष्टे प्रदर्श्यन्ते ।

॥ श्रीमत्सूत्रकृताङ्गे विस्तृतविषयाद्यनुक्रमः ॥

१ श्रीसमयाध्ययने—उद्देशकाः ४, मू० श्लो० ८८, नि० श्लो० ३५; पृष्ठ—१ पृ० ५३ ।

प्रथमोद्देशके—मू० श्लो० २७, नि० श्लो० ३५ ।

६ श्रीवीरस्तुत्याख्याऽध्ययने—मू० श्लो० २९, नि० श्लो० (८३—८५) ३; पृ० १४१—१५२ ।

७ श्रीकुशीलपरिभाषाऽध्ययने—मू० श्लो० ३०, नि० श्लो० (८६—९०)=५; पृ० १५२—१६४ ।

८ श्रीवीर्याऽध्ययने–मू० श्लो० २६, नि० श्लो० (९१–९८) ८; पृ० १६५–१७५।

९ श्रीधर्माऽध्ययने–मू० श्लो० ३६, नि० श्लो० (९९–१०२) ४; पृ० १७६–१८६।

१० श्रीसमाध्यध्ययने—मू० श्लो० २६; नि० श्लो० (१०३—१०६) ४; पृ० १८६—१९७।

११ श्रीमार्गाध्ययने—मू० श्लो० ३८, नि० श्लो० (१०७—११५) ९; पृ० १९७—२१०।

१२ श्रीसमवसरणाध्ययने–मू० श्लो० २२, नि० श्लो० (११६–१२१) ६; पृ० २११–२३५ ।

१३ श्रीयाथातथ्याध्ययने–मू० श्लो० ३३, नि० श्लो० (१२२–१२६) ५; पृ० २३५–२४७।

१४ श्रीग्रन्थनामकाध्ययने–मू० श्लो० २७, नि० श्लो० (१२७–१३१) ५; पृ० २४७–२५९।

१५ श्रीआदाननामकाध्ययने–मू० श्लो० २५, नि० श्लो० (१३२–१३६) ५; पृ० २५८–२६८ ।

१६ श्रीगाथाध्ययने–मू० श्लो० ४ नि० श्लो० (१३७–१४१) ५; पृ० २६९–२७५ ।

॥ समाप्तोऽयं विषयाद्यनुक्रमः ॥

प्रकीर्णाः ।

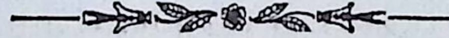
॥ परिशिष्टानि ॥

॥ २ परिशिष्टम् ॥

परम–प्रभाविक–पञ्चमगणधरभगवच्छ्रीमत्सुधर्मास्वामिविरचितसूत्रकृताङ्गीय–द्वितीयाङ्गे प्रथमश्रुतस्कंधे तद्वृत्तिकार-श्रीशीलाङ्कसूरि-विरचितवृत्ति–व्याख्यावसरे वृत्तिस्पष्टीकरणार्थमनेकशास्त्र-प्रसिद्धानि–स्वीकृतान्यकाराद्यनुक्रमेण पद्यान्यत्रस्थलनिर्देशकपूर्वकं द्वितीयपरिशिष्टे प्रदर्श्यन्ते ।

आदि—पदानि—	पत्राङ्कः	पृष्ठाङ्कः	पङ्क्त्यङ्कः
अकर्ता निर्गुणो भोक्ता०	२२	१	६
अकर्ता निर्गुणो भोक्ता०	१९४	१	१३
अक्कोसह०	९४	२	२
अक्कोसहणणमारण०	१६७	१	६
अक्खरलंभेण०	७	२	९
अच्छड्डिय विसयसुहो०	१२७	१	१०
अच्छिणि मीलणमेत्तं	१३०	१	८
अच्छेद्योऽयम०	२५	१	३
अजरामरवद्वाल०	१९५	२	३
अज्ञानिकवादिमतं०	२१३	२	३
अट्ठकुक्कुडिअंडगमे तप्पमाणे०	१७५	१	७
अणुहूयदिट्ठिचिंतिय०	२२२	२	३
अण्णं भणति०	१०४	१	१
अत्थिमो आया०	१९	१	१
अधित्य शास्त्राणि भवन्ति मूर्खा	२२७	२	२

॥ समाप्तेदं द्वितीयपरिशिष्टम् ॥



॥ ३—परिशिष्टम् ॥

अस्मिन्नेव श्रीसूत्रकृताङ्गीय-द्वितीयाङ्गे वृत्तिव्याख्यानावसरे विविधप्रसंगदृढीकरणार्थं स्थलनिर्देशपूर्वकं दृष्टान्तादयः तृतीयपरिशिष्टे प्रदर्श्यन्ते ॥

॥ दृष्टान्तादयः ॥

पत्राङ्कः	पृष्ठाङ्कः	पंक्तिः	आदिपदम्
१८	२	११	देवदत्तवत्०
३३	१	८	जविणो मिगा जहा संता०
३५	१	१०	जहा वुत्ताणुभासए०
३५	२	१	म्लेच्छभाषानभिज्ञस्य यद्भाषितं तद् अनुभाषते०
३६	१	२	गौरखरवदरण्यमिति०
३६	२	१	वणे मूढे जहा जंतू०
३६	२	२	अंधो अंधं पहं णिंतो०
३७	२	११	यथा पञ्जरस्थः शकुनिः पञ्जरं त्रोटयितुं-
३८	२	९	पथि गच्छतो यथा०
३९	२	८	पुत्तं पिया समारब्भ०
४०	१	३	जहा अस्साविर्णि णावं०
४१	१	५	आसमन्तात् स्रवति०
४२	२	३	मत्स्याः-पृथुरोमाणो विशालः० (वैशालिकमत्स्यानां)

पत्राङ्कः	पृष्ठांकः	पङ्क्तिः	आदिपदम्
४२	२	१०	समुद्रवायसवत्०
४२	२	११	अरहट्टघटीन्यायेन०
४३	१	८	घटादिरिति दृष्टान्तोऽयं०
४३	२	१	कण्टकादितैक्ष्ण्यवत्०
५१	२	८	अन्तर्वाँल्लोकः सप्तद्वीपावच्छिन्नत्वा०
५१	२	९	अपुत्रस्य न सन्ति लोका०
५२	१	९	उरालं जगतो जोगं०
५५	१	२	भरताधिपभरतेन........अङ्गार-दाहकदृष्टान्तं०
५६	२	१	यथा श्येनः पक्षिविशेषो०
५७	१	६	ताले जहा बंधणच्चुए०
५७	२	२	यथा तालफलं०
५८	१	४	जइ वि य णिगणे०
५८	१	१०	मिथ्यादृष्ट्युपदिष्टतपसाऽपि०
५९	२	३	कुड्यं गोमयादिलेपेन०
६२	१	२	यथा उरगः स्वां त्वचं०
६२	२	३	तत्रेह जन्मनि सुघरो०
६३	१	११	स्कन्दकशिष्यगणवत्०
६३	२	८	राजगृहे नगरे श्रेणिको महाराजः०
६४	२	१	ह्रद इव स्वच्छाम्भसा०
६६	१	९	आभिग्रहिको०
६६	१	११	समुद्रवन्नक्रादिभिः०
६७	१	१	शुन्यागारगतस्य०
६७	२	६	सागपत्तेहिं०
६८	१	१०	कुक्कुटसाध्यो लोको०
६८	२	४	कुजए अपराजिए जहा०
७०	२	१०	युगसमिलादिदृष्टान्तनीत्या०

७२	१	४	तटाकोदरसंस्थितमुदकं०
७२	२	९	यथा प्रधानरत्नानां०
७३	१	१	पटवन्मणिकुट्टिमवद्वा०
७३	१	५	कूटपाशादिना क्षतः०
७३	२	१	क्षुल्लककुमारवत्०
७३	२	१	वैरस्वामिजम्बूनामादिवद्वा०
७४	१	२	सागरोपमापेक्षया०
७४	१	६	ण य संखयमाहु जीवितं०
७४	२	९	आयतुलं पाणेहिं संजए०
७७	१	१	णो सुलभं बोहिं च०
७८	१	३	बौद्धमतनिरासद्वारेण०
७८	२	९	तत्त्वभेदपर्यायै०
७९	१	४	तत्रौघिको०
७९	१	४	औपक्रमिकस्तु०
७९	२	१	पृथग्विमात्रात०
८०	१	६	तावद्गजः प्रस्रुतदानगण्डः०
८०	१	१०	वसुदेवसुसाए०
८०	२	५	साम्प्रतं सर्वजनप्रतीतं०
८१	१	२	रज्जहीणा व खत्तिया०
८१	१	९	राज्यच्युताः यथा–क्षत्रिया०
८१	१	१०	मच्छा अप्पोदए जहा०
८१	२	४	मत्स्या अल्पोदके विषीदन्ति०
८२	१	५	संगामंमिव भीरुया०
८२	१	६	सुणी डंसति लूसए०
८२	१	८	यथा भीरवः संग्रामे०
८२	२	११	सनत्कुमारवद्विनष्टाङ्गः०
८३	२	१	मच्छा विट्ठा व केयणे०
८३	२	६	यथा मत्स्याः केतने०
८४	१	२	नातीणं सरती बाले०

पत्राङ्कः	पृष्ठांकः	पंक्तिः	आदिपदम्
८४	१	३	हत्थी वा सरसंवित्ता०
८४	१	८	मातुलिङ्गादिना०
८४	१	१०	यथा स्त्री क्रुद्धा सती०
८४	२	४	हस्तिन इव रणशिरसि०
८५	२	६	अयमेव लौकिकः पन्था०
८६	१	१	परित्यक्ता सती अन्यं जनं०
८६	१	४	तावद्गृहकर्मभि०
८६	२	४	जहा रुक्खं वणे जायं०
८६	२	७	गृहपाशमनुबध्नातीति०
८६	२	८	यथा वृक्षं वने अटव्यां०
८७	१	१	विबद्धो नातिसंगेहिं०
८७	१	२	एते संगा मणूसाणं०
८७	१	३	' विवद्धो ' इत्यादि०
८७	१	५	यथाऽभिनवप्रसूता गौ०
८७	१	७	मनुष्याणां पाताला इव०
८७	१	१२	अहिमे संति आवट्टा०
८७	२	६	प्राणिनं भ्रामयन्तीत्यावर्ताः०
८८	१	१	यथा ब्रह्मदत्त०
८८	२	२	तत्थ मंदा विसीयंति०
८८	२	६	यथा ' नीवारेण '०
८८	२	११	ऊर्ध्वं यानमुद्यानं०
८९	१	२	उज्जाणंसि जरग्गवा०
८९	१	६	' जिर्णो दुर्बलो गौरिव युनोऽपि'०
८९	२	४	जहा संगामकालंमि०
९०	२	७	जे उ संगामकालंमि०
९१	१	१	जे उ संगाम०
९२	२	८	नातिकंडूइयं सेयं०

९३	१	१	यथा अरुषः व्रणस्या०
९३	१	५	गोशलकमतानुसारिण आजीविकादयः०
९३	१	१२	गिहिणो अभिहडं सेयं०
९३	२	१२	गोशालकमतानुसारिणो०
९३	२	१३	वादं निराकृत्य, सम्यग्हेतुदृष्टान्तै०
९४	१	१०	यथा 'टङ्कणा' म्लेच्छविशेषा०
९५	२	४	अभुंजिया नमी०
९६	१	३	नमीराजा विदेहो०
९६	१	४	तथा रामगुप्तश्च०
९६	१	६	आसिले देविले०
९६	१	७	एते पुव्वं महापुरिसा०
९६	१	८	असिलो नाम महर्षिस्तथा०
९६	२	१	तत्थ मंदा०
९६	२	२	इहमेगे उ०
९६	२	५	वल्कलचीरिप्रभृतीनामिव०
९६	२	६	वहनं वाहो–भारोद्वहनं०
९६	२	७	यथा पृष्ठसर्पिणो०
९७	१	२	शालिबीजाच्छाल्यङ्कुरो०
९७	२	१२	मनोज्ञाऽऽहारादिना०
९८	१	१	यथाऽसौ अयसो–लोहस्याऽऽहर्ता
९८	१	९	एवमेगे०
९८	१	१०	जहा गंडं पिलागं वा०
९८	१	११	जहा मंधादए नाम०
९८	१	१२	जहा विहंगमा पिंगा०
९८	२	८	'जहा गंडं' इत्यादि०
९९	१	१	जहा विहंगम०
९९	१	२	'पिंगे'ति कपिञ्जला०
९९	१	८	जह णाम मंडलग्गेण०

पत्राङ्कः	पृष्ठांकः	पंक्तिः	आदिपदम्
९९	१	९	जह वा विस गंडूसं०
९९	१	१०	जह नाम सिरिघराओ०
९९	१	११	नाम कश्चिन्मन्डलाग्रेण०
९९	१	१२	यथा कश्चिद्विषगण्डूषं०
९९	२	१	तथा–यथा कश्चित् श्रीगृहाद्०
११	२	२	यथा कश्चिद् शठतया०
९९	२	१०	यथा वा पूतना डाकिनी०
९९	२	९९	यथा किल सर्वपशूनामपत्यानि०
१००	१	२	अणागयमपस्संता०
१००	१	३	जेहिं काले परिक्कंतं०
१००	२	२	जहा नई वेयरणी०
१००	२	३	जेहिं नारीण संजोगा०
१००	२	७	तदेवं वैतरणीनदीवत्०
१०१	१	४	लवणसागरमिव०
१०३	२	१	सुरामो मन्नंता०
१०३	२	६	तम्हाण उ वीसंभो०
१०३	२	७	सुगतिमार्गार्गेला०
१०५	२	४	कुलवालुकादीनामिव०
१०६	२	९	पाशा इव पाशिका०
१०७	१	६	सीहं जहा व कुणिमेण०
१०७	२	१	' सीहं जहा ' इत्यादि०
१०७	२	७	यथा रथकारो०
१०७	२	८	स च साधुर्मृगवत्०
१०८	१	२	अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयति० (कश्चिद्विषमिश्रं भोजनं)
१०८	१	९	तम्हा उ वज्जए०
१०८	१	१२	विषोपलिप्तं०

१०८	२	११	ज्वलिताङ्गारपुञ्जवद्
१०९	२	१२	निदर्शनमत्र यथा०
१११	२	१	एको युवा०
११२	२	६	दत्तावैशिकवत्०
११३	१	१	जतुकुंभे जहा०
११३	१	६	कूलवालुकमिव०
११३	१	८	यथा जातुषः कुम्भो०
११३	२	१	जातुषकुम्भवत्
११३	२	५	ममैषादुहितृकल्पा०
११४	१	५	यथाहि निवारेण०
११५	२	१२	वाक्फलानि०
११७	१	५	कुटवर्धनिकादि०
११८	२	६	दासदृष्टान्त०
११८	२	११	उष्ट्रा इव परवशा०
११९	१	१०	वागुरापतितः०
१२१	१	१०	कालकसौकरिकादय०
१२८	२	८	तत्तोवर्मं०
१२८	२	१०	णिसिओ जहा खुर इव०
१३०	१	११	ते तत्थ चिट्ठंत०
१३०	२	२	हत्थेहि पाएहिं०
१३०	२	५	यथा जीवन्तो 'मत्स्या०'
१३१	२	८	आक्रन्दनशब्दो०
१३३	२	२	सैवम्भूता कुम्भी समन्ततो०
१३६	२	१	समूसियं नाम विधूमठाणं०
१३६	२	१०	संजीवणी नाम चिरट्ठितीया०
१३७	१	३	सञ्जीवनीवत्०
१३७	२	२	सप्पी जहा पडियं०
१३७	२	७	यथा—'सर्पिः घृतं ज्योतिर्मध्ये०
१३८	२	८	कोट्टवलिं०

पत्राङ्कः	पृष्ठाङ्कः	पङ्क्तिः	आदिपदम् ।
१३८	२	९	वेतालिए नाम महाभितावे०
१३९	२	१२	सदा जलाभिधाना वा नदी०
१४०	१	७	रत्नप्रभायामुत्कृष्टा०
१४०	१	१०	किल सीतेन्द्रेण लक्ष्मणस्य०
१४२	१	७	दोसोला वतीसा०
१४२	२	४	भावे संताण गुणाण०
१४२	२	८	एत्र महप्पा वीरो०
१४२	२	१०	यथा भगवान०
१४४	१	११	संसारार्णवपतितानां०
१४४	१	१२	द्विप इव द्विपः०
१४५	१	६	यथा–सूर्यः 'अनुत्तरं' सर्वाधिकं०
१४७	१	१३	मेरुदृष्टान्तोपक्षेपेण दार्ष्टान्तिकं०
१४७	२	१	साम्प्रतमेतदेव भगवति दार्ष्टान्तिकं०
१४७	२	५	गिरीवरे०
१४८	२	३	दृष्टान्तद्वारेण भगवतः स्तुतिमाह०
१४९	१	९	हत्थीसु एरावणमाहु०
१५०	१	४	अभयप्रदानप्राधान्यख्यापनार्थं कथानकमिदं०
१५४	१	१	जह णाम गोयमा चंडीदेवगा वारिभद्दगा चेव । जे अग्गिहोत्तवादी०
१५५	२	२	मृगापुत्रस्य०
१६६	२	६	कोटिशिला त्रिपृष्ठेन०
१६७	१	३	षट्खण्डमपि भरतं०
१६७	२	१	कूर्मवदतिष्ठत०
१६९	२	९	तन्दुलमत्स्यवन्मनसैव०
१७०	२	१	जमदग्निना स्वभार्याऽकार्यं०
१७२	१	१	इलापुत्रवत् श्रुत्वा०

१७२	१	६	जहा कुम्मे सअंगाइं०	१९८	१	७	चारुदत्तो०
१७२	१	१०	'जहा कुम्मे' इत्यादि०	१९८	१	७	वेत्रवर्ती०
१७२	२	३	कूर्मवद्धस्तौ पादौ०	१९८	१	१०	सुवर्णभूम्यां०
१७२	२	११	सुभूमादीनामिव०	१९८	१	१०	चारुदत्तो०
१७३	१	१	सुभटसंकटे परानीकं०	२०७	१	२	जहा ढंका य कंका य०
१७४	१	१२	कुवैद्यचिकित्सा०	२०७	२	११	'यथा' येन प्रकारेण 'ढङ्कादयः०'
१७८	१	२	जमदग्निकृतवीर्यादीनामिव०	२०८	१	५	जहा आसाविणि नावं०
१७८	२	४	कालसौकरिकसुतः	२०९	१	५	संति तेसिं पइट्ठाणं भूयाणं जगती जहा०
१९१	१	८	असावेव राजगृहनगरोत्सव०				
१९५	१	११	तद्यथा कश्चिद्वणिग् महता क्लेशेन०	२१०	१	२	शान्ति प्रतिष्ठानत्वे दृष्टान्तमाह०
१९५	२	२	मम्मणवणि०	२१०	१	११	अत्र च दृष्टान्तः,तद्यथा कश्चिद्गोपः०
१९५	२	१०	कण्डरीकवत्	२१९	२	१२	गान्धर्वं नगरतुल्या०
,,	,,	,,	मम्मणवणिग्वत्	२२३	१	१२	मरुमरीचिकानिचये०
,,	,,	,,	तिलकश्रेष्ठिवद्	२२४	२	१	करतलामलकन्यायेन०

पत्राङ्कः	पृष्ठाङ्कः	पङ्क्तिः	आदिपदम् ।
२२५	२	६	पर्यासं परिक्षेपमरहट्टघटीन्यायेन०
२२६	१	६	सद्वैद्या इव०
२२६	२	४	अणगारे णं भंते ! माई मिच्छादिट्ठी०
२३७	१	१	दृष्टान्तगर्भं दर्शयितुमाह०
२४५	२	५	पालकपुरोहितवत्०
२४८	२	२	जहा दियापोतमपत्तजातं
२४९	१	१०	गच्छसमुद्रान्निःसारयन्ति०
२४९	२	११	न हि भवति निर्विगोपकमनुपासित०
२४९	२	१२	तथाऽजां गलविलग्नवालुकां०
२५१	२	१३	वणंसि मुढस्स०
२५२	१	१०	'वणंसि' इत्यादि, 'वने'–गहने महाटव्यां०
२५२	२	८	गहंमि अग्गिजाला०
२५२	२	९	जह वा विससंजुत्तं०

॥ समाप्तेदं तृतीय-परिशिष्टम् ॥

॥ ४-परिशिष्टम् ॥

अस्मिन्नेव श्रीसूत्रकृताङ्गीय-द्वितीयाङ्गे प्रथमश्रुतस्कन्धे पठन-पाठनाभ्यास-परिशीलनकाले स्मृतिकरणार्थमगत्य-पङ्क्तयः चतुर्थपरिशिष्टे प्रदर्श्यन्ते ।

॥ परिशीलनार्थेऽगत्य-पङ्क्तयः ॥

पत्राङ्कः	पृष्ठाङ्कः	पङ्क्तिः	आदिपदम् ।
१	२	५	आगमश्च द्वादशाङ्गादिरूपः०
२	१	५	भावतीर्थं०
२	१	९	शास्तुः प्राधान्येन०
२	१	१२	निर्युक्तिं कीर्तयिष्ये०
६	२	२	सूत्रकृतस्य०
७	२	२	यथा यथा गणधराः०
७	२	४	अक्षरगुणमतिसंघटनायोगेन०
८	१	५	तथा चेयं द्वादशाङ्गी
८	१	८	द्वावत्र श्रुतस्कन्धौ०
१०	२	११	तत्र तीर्थकृतामर्थो०
२२	१	२	आत्मनश्चामूर्तत्वान्नित्यत्वात्०
२८	२	१०	पञ्चभूततज्जीवतच्छरीरवादि०
४२	१	९	आहाकम्मं णं भुञ्जमाणे०
५१	२	२	स वै एष शृगालो जायते०
५५	२	६	मानुषं जन्म०

पत्राङ्कः	पृष्ठाङ्कः	पङ्क्तिः	आदिपदम् ।
५६	१	१२	त्रिपल्योपमायुष्कस्यापि०
५८	१	६	यद्यपि तिर्थिकः०
६२	१	१	यथा उरगः स्वां त्वचं०
६२	१	१०	तपः संयम ज्ञानेष्वपि०
६५	२	८	साधोः स्वाध्यायध्यान०
६७	२	५	महत्पुण्यं तत्कलहं०
७५	२	२	सव्वत्थ विणीयमच्छरे०
७५	२	९	सर्वत्रापनीतो मत्सरो येन स०
७६	१	२	धर्मेणार्थो धर्म एव०
७६	१	१०	'नो' नैव वित्तादिकं०
७७	१	९	'जिनो' रागद्वेषजेता०
७८	२	९	तत्रोपसर्ग उपतापः
९३	२	७	यतो न हि सर्वज्ञा०
९५	२	५	अभुंजिया नमी०
१२२	१	९	तत्राप्यार्य क्षेत्र०
१२२	२	३	अनार्य क्षेत्रं०
१२७	१	६	क्रिण्हलेसे णं भंते०
१२८	१	६	ते नारगाओ भयभिन्नसन्ना०
१३५	२	५	तिसृषु नरकपृथिवीषु०
१४४	१	९	शाक्यादिमतनिरासेन०
१५०	२	३	तपस्सु मध्ये यथैवोत्तमं०
१५१	१	१०	निदानोच्छेदेन०
१५३	२	१	सुत्ति पसंसा०
१५६	१	१२	तथा चाऽऽगमः-दो भंते ! पुरिसा०
१५६	२	३	अपि चोक्तम् भूयाणं०
१५७	१	१०	कललार्बुदमांसपेशी

१५८	१	९	'संवुज्झहा' इत्यादि, हे ! 'जन्तवः'
१५८	२	१०	लवणेन हि०
१५९	२	९	यतीनां ब्रह्मचारिणाम्०
१६१	२	३	सर्वेऽप्यसुमन्तः०
१६२	१	११	यश्चैवम्भूतः०
१६२	२	१०	पञ्चमहाव्रतभारस्य०
१६३	२	४	एवमसौ संयमानुष्ठानं०
१६४	२	१०	यथा सुभटः कश्चित्०
१६६	१	११	तीर्थकृतामनुत्तरो०
१६६	२	१	तत्र सम्भवे तीर्थकृतां०
१६६	२	१०	यस्य कस्यचिदनुपहते०
१६७	२	२	कथमहमतिचारं०
१६७	२	१२	पण्डितवीर्यं०
१६८	२	९	प्रमादव्रतः०
१६८	२	११	बालवीर्यमभव्यानाम०
१७१	२	७	आराद्यतः सर्वहेयधर्मेभ्य०
१७३	२	२	परवञ्चनार्थं मृषावादो०
१७४	१	५	ये केचन 'अबुद्धा'०
१७४	१	८	महान्तश्च ते०
१७४	१	११	बालानां यत्किमपि०
१७५	१	१०	'सुव्रतः' साधुः 'अल्पं'०
१७७	१	२	साधुगुणानां पार्श्वे०
१७९	२	२	पलिउंचणं च भयणं च,०
१८०	१	३	विचित्रत्वात्०
१८१	१	३	'आयतनम्'—आविष्करणं०
१८२	१	१०	बहुसमरसङ्कट०
१८३	२	२	मिश्रापि भाषा दोषाय०

पत्राङ्कः	पृष्ठांकः	पंक्तिः	आदिपदम् ।
१८४	२	४	साम्प्रतमल्पानि०
१८५	१	८	गिहे दीवमपासंता०
१८६	१	२	द्वीपःसमुद्राद्रौ०
१८७	२	११	दर्शनसमाद्धौ०
१८८	१	३	तपः समाधिनापि०
१९१	२	१०	श्लाघाभिलाषी०
२००	१	६	' सुगतिरिति०
२००	१	७	सुगति शब्देन०
२०५	२	५	ये केचन प्रपासत्रादिकं
२०७	२	५	येऽपि च किल सूक्ष्मधियो०
२०६	१	२	यद्यस्ति पुण्यमित्येव०
२०७	१	८	सातर्द्धिर सगौरवा०
२०७	१	९	न ह्यैहिकसुखैषिणां०
२०९	१	९	तमेवंभूतं कषायन्नातं०
२०९	२	९	तथोपधानं–तपस्तत्र०
२२२	२	८	भौममुत्पातं स्वप्नमान्तरिक्षमाङ्गं,०
२२४	१	४	सर्वा हि क्रिया०
२२४	१	५	ज्ञानस्यापि प्राधान्यं०
२२५	१	६	मनुष्याणामेव०
२३७	१	१२	एवं तस्मादात्मोत्कर्षः०
२३८	२	९	ते हिं गम्भीराभिप्रायं०
२३९	१	६	ये केचनाविदितपरमार्थाः
२४१	१	६	जलचन्द्रवत्तदर्थशून्यं०
२४३	२	१	यो ह्यल्पान्तरायो०
२४४	२	९	महामुनेरप्यस्नानतया०
२४५	१	७	स्वयम्–आत्मना०
२४५	२	७	धर्मदेशना हि०

२४६	१	१०	एतद्दर्शयति–' रूपैः'०
२४८	१	८	शिष्यापेक्षया०
२४८	२	१२	यथा हि आतुरः०
२४९	२	८	यथा द्विजपोतमसंजातपक्षं०
२४९	२	८	स एव च परमार्थतो०
२५०	१	१	अनुपासितगुरोर्बहवो०
२५०	२	७	गुरुकुलवासे निवसन्०
२५१	१	१३	'नीयमानः' उह्यमानो०
२५३	१	१३	यथा हि इन्द्रियार्थ०
२५७	१	१	विभज्यवादः–स्याद्वादस्तं०
२६२	१	१०	असर्वज्ञत्वाच्च०
२६४	२	१०	पराणि व्रतानि०
२६४	२	११	सर्वाण्यपि व्रतानि०
२६५	१	५	ये महासत्वाः०
२६५	१	८	सर्वाविनयास्पदभूतः०
२६६	२	११	यथा क्षुरादीनां०
२६७	१	१०	यथा मनुष्य०
२७४	२	१०	आह–दान्तो द्रव्यभूतो०

॥ समाप्तेदं चतुर्थ–परिशिष्टम् ॥

॥ ५—परिशिष्टम् ॥

अस्मिन्नेव श्रीसूत्रकृताङ्गीय-प्रथमश्रुतस्कन्धे सूत्र-निर्युक्ति-वृत्तिव्याख्यानावसरे आगतानि-विशेषनामानि तानि सर्वाणि चात्र पञ्चमपरिशिष्टे प्रदर्श्यन्ते ।

॥ विशेषनामानि ॥

पत्राङ्कः	पृष्ठाङ्कः	पङ्क्तिः	आदिपदम् ।
१	२	५	आर्यरक्षितमिश्रै०
१	२	५	चरणकरण०
१	२	६	आचाराङ्गं०
१	२	७	सूत्रकृताख्यं०
३	१	४	०मुत्तराध्ययन०
३	१	५	ज्ञातधर्मकथादि०
३	१	५	ब्रह्मचर्याध्ययनादि०
३	१	६	कापिलीयमध्ययनं०
६	२	२	सूत्रकृतस्य०
६	२	९	सूत्रकृताङ्गं०
८	२	४	अनुपयोगो०
९	२	८	गाहासोलस
९	२	११	अनुयोगद्वारा०
११	२	१०	मीलक०
११	२	१०	वाममार्गा०

११	२	११	शाक्यानां	२८	२	१२	सांख्यादयः
११	२	११	गण्डिताडन	४२	२	८	शाक्यपाशुपतादयः
१३	१	३	आचाराङ्गे०	४३	१	६	ब्रह्मणा०
१३	१	९	'वीरः'	४३	१	७	प्रजापतयः०
१४	२	११	शाक्या	४३	१	१	वास्यादिवदिति०
१४	२	१२	सांख्या	४३	१	८	ईश्वरकारणिका०
१५	१	२	वैशेषिकाः	४५	१	१३	स्वयंभूः
१५	१	२	नैयायिकाः	६५	१	४	नागार्जुनीयः०
१५	१	३	मिमांसकाः	६५	२	७	नागार्जुनीया०
१५	१	४	चार्वाकाः	६९	१	११	ऋषभस्वामिनो०
१५	२	४	साङ्ख्यादि	६९	१	११	वर्धमानस्वामिनो०
१५	२	८	वैशेषिका	६९	२	२	श्रीमद् वर्धमानस्वामिना०
२०	१	८	कृषिवलादयः	६९	२	३	जमालिप्रभृतयः
२२	२	९	नास्ति सत्वा०	७३	२	१	वैरस्वामिजम्बूनामादिवद्द वा०

पत्राङ्कः	पृष्ठाङ्कः	पङ्क्तिः	आदिपदम् ।
७३	२	१	क्षुल्लककुमारवत्०
७७	१	९	नाभेयो०
९२	२	२	दिगम्बराणां०
९३	२	१२	गोशालकमतानुसारिणो दिगम्बरा०
९५	१	४	काश्यपेन श्रीमन्महावीरवर्द्धमान-स्वामिनो०
९६	२	५	वल्कलचीरिप्रभृतीनामिव०
९७	१	३	आगमो०
१३६	२	३	चितिकाकृति०
१४५	२	७	स्वयम्भूरमण
१४८	२	४	शाल्मलीवृक्षः
१४८	२	५	नन्दनं वनं०
१५३	१	९	णाणतवादि०
१५५	२	२	मृगापुत्र०
१५९	१	३	वारिभद्रकादयो०
१६५	२	११	योनिप्राभृतका०
१६५	२	१२	देवकुर्वादिकं
१६६	२	६	कोटिशिला त्रिपृष्टेन०
१६६	२	८	जम्बूद्वीपं०
१६७	१	३	भरतं०
१६७	२	३	वीर्यप्रवाद-पूर्वे०
१६९	१	४	चाणक्याभिप्रायेण०
१६९	१	५	कामशास्त्रादिकं०
१६९	२	९	तन्दुलमत्स्यवन्०
१७०	२	१	जमदग्निना०
१७०	२	२	परशुरामेण०
१७२	१	१	इलापुत्रवत्०

१७२	१	१	चिलातपुत्रवद्वा०	,,	,,	,,	सुलसानाम
१७२	१	९	भक्तपरिज्ञे०	,,	,,	,,	अभयकुमारस्य
१७२	१	१०	'जहाकुम्भे०'	१८२	१	५	महावीरे महामुणी०
१७२	२	११	संभूमादीनामिव०	१८२	२	९	'महावीर' इति श्रीमद्वर्धमानस्वामी०
१७६	१	७	दशवैकालिकश्रुतस्कन्ध०	१८५	१	२	नाप्यनागतान् ब्रह्मदत्त०
१७७	१	२	सूयगडे अज्झयणे०	१८७	१	६	उत्तराध्ययनेषु चतुर्थमध्ययनं
१७७	१	३	पार्श्वस्थाः। अवसन्ना।	१८८	२	६	वीरवर्धमानस्वामी
१७७	१	४	कुशीलाः। सूत्रकृतेऽङ्गे०	१८८	२	१०	शाक्याः
१७७	१	११	जम्बूस्वामी सुधर्मस्वामिनमुद्दिश्येदमाह	१९४	१	१३	कपिलदर्शने
१७७	१	१२	भगवान् वीरवर्धमानस्वामी तेन ?	१९५	२	२	सम्मणवणिग्वद्
१७७	२	२	सुधर्मस्वाम्याह०	१९५	२	१०	कण्डरीकवत्
१७८	१	२	जमदग्निकृतवीर्यादि०	,,	,,	,,	सम्मणवणिग्वत्
१७८	२	४	कालसौकरिकसुतः	,,	,,	,,	तिलकश्रेष्ठिवद्

पत्राङ्कः	पृष्ठाङ्कः	पङ्क्तिः	आदिपदम् ।
१९८	१	७	चारुदत्तो०
,,	,,	,,	वेत्रवर्ती
,,	,,	१०	सुवर्णभूम्यां
,,	,,	१०	चारुदत्तो
२००	१	६	माषतुषादा०
२००	२	८	जम्भूस्वामी
२००	२	९	सुधर्मस्वामीनम्
२०१	१	११	सुधर्मस्वाम्याह
२०१	२	२	सुधर्मस्वामी०
२०२	१	१	महावीरवर्धमानस्वामी
२०२	१	१०	सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनं०
२०२	२	६	बौद्धादिमतनिरासः
२०२	२	७	प्रसिद्धस्वरूपनिरूपणमाचारे०
२०२	२	७	शस्त्रपरिज्ञाख्ये०
२०६	१	१०	अश्विन्यादिनां०
२०८	१	१२	शाक्यादीनां०
२०८	२	३	शाक्यादयो०
२०८	२	९	श्रीवर्धमानस्वामिना०
२१०	१	१०	मेरुरिति०
२१०	२	५	जम्बूस्वामिनम्
,,	,,	,,	सुधर्मस्वाम्याह०
२१५	२	९	वीरो दत्तैषणां चरन्नभिनिर्वृतः०
२१८	२	८	शाक्यादयश्च०
२१८	२	९	बौद्धानामयमभ्युपगमो०
२१९	१	५	लोकायतिकबौद्धसांख्या०
२१९	२	४	लोकायतिका०
२१९	२	६	बौद्धा०

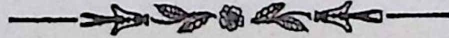
५

२१९	२	१०	आवीचिनरकं०
२२०	१	७	बौधाश्च क्षणिकत्वात्०
२२०	१	८	सांख्याश्च
२२०	२	८	देवदत्त
२२०	२	१०	चार्वाकबौद्धादयो
२२१	१	७	बौद्धानाम
२२२	२	९	नवमपूर्वतृतियाचार
२२४	१	१२	'लोकं' चतुर्दशरज्ज्वात्मकं०
२२५	२	८	स्वयम्भुरमणसलिलौघवदपारं०
२२५	२	८	स्वयम्भुरमणसलिलौघो०
२२६	१	६	शैलेश्यवस्थायां०
२२६	२	४	रायगिहे०–वाराणसीए०
२२८	२	१	'लोकं' चराचरं०
२२८	२	६	द्रव्यास्तिकनयाश्रयाद्

२२९	२	७	नैयायिकदर्शनेन०
२३०	१	६	कृत्तिकादर्शनादिति०
२३१	१	४	साङ्ख्यानां
२३१	१	३	सर्वतन्त्रसिद्धान्तः०
२३१	१	४	समानतन्त्रसिद्धः०
२३१	१	५	सोऽधिकरणसिद्धान्तः०
२३१	१	९	अभ्युपगमसिद्धान्तः०
२३१	२	१	उपनयः०
२३१	२	८	वादो जल्पो वितण्डा०
२३२	१	५	वाकछलं०
२३२	२	२	वैशेषिकोत्कं०
२३२	२	४	अतिप्रसङ्गा०
२३४	१	१	समवाय
२३४	१	३	वैशेषिकमते

पत्राङ्कः	पृष्ठाङ्कः	पङ्क्तिः	आदिपदम् ।
२३५	२	९	जमालिनासं
२३७	१	१	सुधर्मस्वामिजम्बूनामप्रभवार्य-रक्षिता०
२३७	१	५	'जमालिनाशं'–
२३७	१	८	देवदत्ते । कान्यकुब्जं । देवदत्तो ।
२३८	२	७	गोष्ठामाहिलवदनु
२४२	१	१	हरिवंशस्थानीये
२४३	२	८	इक्ष्वाकुवंश–हरिवंशादिके
२४४	२	१३	प्रज्ञादीनि
२४५	२	५	पालकपुरोहितवत् । स्कन्दका-चार्यस्येति
२४७	२	४	उत्तराध्ययने ष्वध्ययनं०
२४७	२	४	क्षुल्लकनैर्गन्ध्यं
२५७	१	७	०उदायिनृपमारक०
२६२	१	५	बौद्धादिके०
२६२	१	६	शाक्यमुनिः
२६७	२	७	युगसमिलादि०
२७०	१	१	श्रीवीरवर्धमानस्वामिना

॥ समाप्तेदं पञ्चमपरिशिष्टम् ॥



॥ ६ परिशिष्टम् ॥

अस्मिन्नेव श्रीसूत्रकृताङ्गीयप्रथमश्रुतस्कन्धे वृत्तिव्याख्यानावसरे प्रकटीकृतानि न्यायपदस्थानान्यत्र परिशिष्टे प्रदर्श्यन्ते ।

॥ न्यायपदस्थानानि ॥

पत्राङ्कः	पृष्ठाङ्कः	पङ्क्तिः	आदिपदम् ।
२	२	४	तत्त्वभेदपर्यायै०
८	१	६	उच्चरितप्रध्वंसिनो वर्णा०
२३	२	१३	मुद्राप्रतिबिम्बोदयन्यायेन भोग०
४२	२	११	अरहट्टघटीन्यायेन०
४६	१	८	अरहट्टघटीन्यायेन०
६२	२	१	भवोदधावरघट्टघटीन्यायेन०
७६	२	१०	अरघट्टघटीयन्त्रन्यायेन०
१४४	२	१२	करतलाऽऽमलकन्यायेन०
१५१	१	१०	निदानोच्छेदेन०
१५५	२	४	अरहट्टघटीयन्त्रन्यायेन०
२००	१	७	'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्ष' इति न्यायात्०
२०८	२	११	अरघट्टघटी न्यायेन०
२१९	१	७	काकाक्षिगोलकन्यायेन०
२२४	२	१	करतलामलकन्यायेन०
२२५	२	६	अरहट्टघटीन्यायेन

॥ समाप्तेदं षष्ठपरिशिष्टम् ॥

॥ ७ परिशिष्टम् ॥

अस्मिन्नेव श्रीसूत्रकृताङ्गीयद्वितीयाङ्के प्रथमश्रुतस्कन्धेऽभ्यासकालेऽवश्यमेव विचारणार्थं पाठान्तराण्यत्र सप्तम-परिशिष्टे प्रदर्श्यन्ते ॥

॥ पाठान्तराणि ॥

पत्राङ्कः	पृष्ठाङ्कः	पङ्क्तिः	आदिपदम् ।
२७	१	३	जाणगा
३४	१	१	पदं–कूटं पाशः–प्रतीतस्ताभ्यां मुच्येत कचित्पद्पाशादीति पठ्यते ।
३८	२	१	क्वचित् संसारवर्धनमिति पाठः ।
४९	१	६	जत्थ बालेऽवसीयइ
५६	१	९	' सुव्रतः ' शोभनव्रतः सन् सुस्थितो वेति ।
६२	१	३	' महण 'त्ति साधुः पाठान्तरं वा जे विउ'त्ति ।
६२	२	१	' महद् ' अत्यर्थं महान्तं वा कालं कचित् ' चिरम् ' इति पाठः
६३	१	१२	' समयाऽहियासए० '
६३	२	१	पण्हसमत्थे०
७०	२	५	' अणहे ' ति०
७१	१	८	वा ' अवितह '०

७२	१	१२	' उड्ढं तिरियं० '	१३०	१	१	कुम्भिकाकृतिः सर्व एव०
७७	१	९	पाठान्तरं वा ' अहियासए '	१३०	१	३	समूसिओ जत्थऽगणी०
७९	१	१	पाठान्तरं वा ' बहूवोघभयं० '	१४३	२	११	महर्षिरिति क्वचित्पाठः०
८७	२	१	पाठान्तरं वा ' अहो ' इति०	१४५	२	९	भिक्षुरिति क्वचित्पाठः०
९६	२	११	' भाषन्ते ' ब्रुवते मन्यन्ते वा०	१५७	१	४	(पाठांतरे पोरुसा य)
१०५	२	१	क्वचित्पाठो ' विवित्ते सित्ति ' ' विविक्कं '	१५७	२	१२	मज्झिमपोरुसा०
				१५८	२	९	आहारस पंचयवज्जणेण
१०५	२	९	पाठान्तरं वा ज्ञातवत्यः	१५९	१	२	पाठान्तरं वा आहारओ०
१०८	१	६	विवेकमिति वा क्वचित् पाठः	१६९	२	५	पाठान्तरं वा आरंभाय तिवट्टइ
११०	१	६	क्वचित्पश्चार्द्धमेवं पठ्यते०	१७०	२	११	पाठान्तरं वा सड्ढं कंतइ अप्पणो
११३	१	३	' रूक्ष'मिति संयमं मौनमिति	१७२	२	१०	,, ,, अइमाणं च मायं च०
११६	१	३	अन्नपाकायेति०	१७२	२	१२	,, ,, सुयं मे इहमेगेसिं०
१२०	२	४	पाठान्तरं वा धूतः	१७३	१	२	,, ,, आयतट्ठं सुआदाय०
१२६	२	१०	पाठान्तरं वा ' दुक्कडिणं ' ति०	१७७	२	३	,, ,, 'जणगा तं सुणेह मे०'

पत्राङ्कः	पृष्ठाङ्कः	पङ्क्तिः	आदिपदम् ।
१७८	१	१	,, ,, ' वेरं तेसिं पवड्ढइ'त्ति
१७९	१	१	,, ,, चिच्चा णऽणंतगं०
१८४	१	७	,, ,, न निश्रितोऽनिश्रितः०
१९०	२	९	,, ,, एवं तु बाले०
१९१	१	६	,, ,, आदीनभोज्यपि पापं करोतीति०
१९२	२	७	,, ,, ' छन्दणं कुज्जा ' इत्यादि०
१९५	१	८	,, ,, जायाएँ बालस्स पगब्भणाए०
१९६	२	७	,, ,, निव्वाणभूए व परिव्वएज्जा०
२०९	२	७	,, ,, 'सद्दहे साधुधम्मं' च०
२२३	१	८	,, ,, जाणामुलोगंसि वयंति
२२४	२	२	,, ,, तथा तथेति वा क्वचित्पाठः
२२६	१	१०	,, ,, नाददति क्वचित्पाठः
२२७	१	११	,, ,, विण्णत्तिवीरा य भवंति०
२३८	२	१३	क्वचित्पाठः अट्ठाणिए होंति०
२४०	२	२	पाठान्तरं वा ' एगंतसड्ढि '
२४२	१	१०	,, ,, ' अगारिकम्मं ' ति
२४६	१	१०	आयभावं ति क्वचित्पाठः

॥ समाप्तेदं सप्तपरिशिष्टम् ॥

॥ ८ परिशिष्टम् ॥

अस्मिन्नेव श्रीसूत्रकृताङ्गीयप्रथमश्रुतस्कन्धे भाषाबद्ध-पद्य-पदानि आर्षवचनानि चात्र अष्टम-परिशिष्टे प्रदर्श्यन्ते।

भाषा (भा०)

पत्राङ्कः	पृष्ठाङ्कः	पङ्क्तिः	आदिपदम्।
७	१	८	प्राकृतभाषयेत्युक्तं०
१००	१	१०	'परितप्यन्ते' न शोकाकुला भवन्ति, एकवचननिर्देशस्तु सौत्रश्छान्दसत्वादिति (छा)
१५४	२	६	छान्दसत्वात् नपुंसकलिङ्गता० (छा)
१७३	२	४	'वुसीमउ' त्ति छान्दसत्वात् (छा)
२१७	२	१०	आहुः—कथितवन्तः, छान्दसत्वाचैकवचनं सूत्रे कृतमिति (छा)
२२०	१	१०	प्राकृतशैल्या छान्दसत्वाद्वायमर्थो (छा)

आर्षवचनानि

पत्राङ्कः	पृष्ठाङ्कः	पङ्क्तिः	आदिपदम्।
२०	१	१०	आर्षत्वाद् बहुवचनार्थे एकवचनमकारि०
२८	२	९	विमुच्यन्ते, आर्षत्वादेकवचनं सूत्रे कृतं "विमुच्चई०"
४९	१	१०	'सिया' इति आर्षत्वाद्बहुवचनेन०

॥ समाप्तेदमष्टमपरिशिष्टम् ॥

श्रीगोडीपार्श्वजैनग्रन्थमाला-पुष्प—४.

॥ अर्हम् ॥

श्रीपञ्चमगणधरवरसुधर्मस्वामिसंदृब्धम् ।

श्रीमद्भद्रबाहुस्वामिनिर्मितनिर्युक्तियुतम् ।

श्रीमच्छीलाङ्काचार्यविहितविवरणशोभितम् ।

श्रीसाधुरङ्गोपाध्यायरचितदीपिकालंकृतम् ।

श्रीमत्सूत्रकृताङ्गम् ।

स्वपरसमयार्थसूचकमनन्तगम[1]पर्यया[2]र्थ[3]गुण[4]कलितम् । सूत्रकृतमङ्गमतुलं विवृणोमि जिनान्नमस्कृत्य ॥१॥
व्याख्यातमङ्गमिह यद्यपि सूरिमुख्यैर्भक्त्या तथापि विवरीतुमहं यतिष्ये ।

सा. १ सदृशपाठाः । २ शब्दपर्यायाः । ३ अभिधेयगुणाः ॥ ४ नयगहनम् इ. ।

किं पक्षिराजगतमित्यवगम्य सम्यक्[1], तेनैव वाञ्छति पथा शलभो न गंतुम् ? ॥२॥[2]

ये मय्यवज्ञां व्यधुरिद्धबोधा, जानन्ति ते किञ्चन तानपास्य। मत्तोऽपि यो मन्दमतिस्तथाऽर्थी, तस्योपकाराय ममैष यत्नः ॥३॥[3]

ईहा[4]पसदसंसारा[5]न्तर्गतेनासुमताऽवाप्यातिदुर्लभं[6] मनुजत्वं सुकुलोत्पत्तिसमग्रेन्द्रियसामग्र्याद्युपेतेनार्हद्दर्शनम् अशेषकर्मोच्छित्तये यतितव्यम्, कर्मोच्छेदश्च सम्यग्विवेकसव्यपेक्षः, असावप्याप्तोपदेशमन्तरेण न भवति, आप्तश्चात्यन्तिकाद्दोषक्षयात्, स चार्हन्नेव[7], अतस्तत्प्रणीतागमपरिज्ञाने यत्नो विधेयः, आगमश्च द्वादशाङ्गादिरूपः, सोऽप्यार्यरक्षितमिश्रैरैदंयुगीनपुरुषानुग्रहबुद्ध्या चरणकरणद्रव्यधर्मकथागणितानुयोगभेदाच्चतुर्धा व्यवस्थापितः, तत्राचाराङ्गं चरणकरणप्राधान्येन व्याख्यातम्, अधुनाऽवसरायातं द्रव्यप्राधान्येन[8] सूत्रकृताख्यं द्वितीयमङ्गं व्याख्यातुमारभ्यत इति। ननु चार्थस्य शासनाच्छास्त्रमिदं, शास्त्रस्य चाशेषप्रत्यूहोपशान्त्यर्थमादिमङ्गलं तथा स्थिरपरिचयार्थं मध्यमङ्गलं शिष्यप्रशिष्याविच्छेदार्थं चान्त्यमङ्गलमुपादेयं तच्चेह [9]नोपलभ्यते, सत्यमेतत्, मङ्गलं हीष्टदेवतानमस्कारादिरूपम्, अस्य च प्रणेता सर्वज्ञः, तस्य चापरनमस्कार्याभावान्मङ्गलकरणे प्रयोजनाभावाच्च न मङ्गलाभिधानं, गणधराणामपि, तीर्थकृदुक्तानुवादित्वान्मङ्गलाकरणं, अस्मदाद्यपेक्षया[10] तु सर्वमेव शास्त्रं मङ्गलम्। अथवा निर्युक्तिकार एवात्र भावमङ्गलमभिधातुकाम आह–

[11]"तित्थयरे य जिणवरे सुत्तकरे गणहरे य णमिऊणं। सूय[12]गडस्स भगवओ णिज्जुत्तिं कित्तइस्सामि ॥१॥

सा. १ पक्षिराजगतमप्यवगम्येति प्र०। २ त्भौ जौ गौ वसन्ततिलका (छन्दोऽनुशासने अ० २ सू० २३१)। ३ तौ जौ गाविन्द्रवज्रा (छन्दो० २–१५४)। ४ इहापारसंसारेति प्र०। ५ °राभूर्गते° आ.। ६ दुर्लभमनुजत्व आ. इ.। ७ चार्हत एव आ. इ.। ८ °प्राधान्य° आ.। ९ नोपलक्ष्यते आ. इ.। सा. १० श्रोतारः। ११ नमो जिनाय तित्थ° अ–आ। १२ सुत्त० अ. आ।

गाथापूर्वार्द्धेनेह भावमङ्गलमभिहितं, पश्चार्द्धेन तु प्रेक्षापूर्वकारिप्रवृत्त्यर्थं प्रयोजनादित्रयमिति, तदुक्तम्—"उक्तार्थं[1] ज्ञातसंबन्धं, श्रोतुं श्रोता प्रवर्त्तते। शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः, सम्बन्धः सप्रयोजनः ॥१॥" तत्र सूत्रकृतस्येत्यभिधेयपदं, निर्युक्तिं कीर्त्तयिष्ये[2] इति प्रयोजनपदं, प्रयोजनप्रयोजनं तु मोक्षावाप्तिः, सम्बन्धस्तु प्रयोजनपदानुमेय इति पृथक् नोक्तः, तदुक्तम्—"शास्त्रं प्रयोजनं चेति, सम्बन्धस्याश्रयावुभौ। तदुक्त्यन्तर्गतस्तस्माद्भिन्नो नोक्तः प्रयोजनात् ॥१॥" इति समुदायार्थः॥ अधुनाऽवयवार्थः कथ्यते—तत्र तीर्थं द्रव्यभावभेदाद्द्विधा, तत्रापि द्रव्यतीर्थं नद्यादेः [3]समुत्तरणमार्गः, भावतीर्थं तु सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि, संसारार्णवादुत्तारकत्वात्, तदाधारो वा सङ्घः प्रथमगणधरो वा, तत्करणशीलास्तीर्थङ्करास्तान्नत्वेति क्रिया। तत्रान्येषामपि तीर्थकरत्वसंभवे तद्व्यवच्छेदार्थमाह—'जिनवरानि'ति रागद्वेषमोहजितो जिनाः, एवंभूताश्च सामान्यकेवलिनोऽपि भवन्ति, तद्व्यवच्छेदार्थमाह—वराः–प्रधानाः चतुस्त्रिंशदतिशयसमन्वितत्वेन, तान्नत्वेति, एतेषां च नमस्कारकरणमागमार्थोपदेष्टृत्वेनोपकारित्वात्, विशिष्टविशेषणोपादानं च शास्त्रस्य गौरवाधानार्थं, शास्तुः प्राधान्येन हि शास्त्रस्यापि प्राधान्यं भवतीति भावः। अर्थस्य सूचनात्सूत्रं, तत्करणशीलाः सूत्रकराः, ते च स्वयंबुद्धादयोऽपि भवन्तीत्यत आह—गणधरास्तांश्च नत्वेति, सामान्याचार्याणां गणधरत्वेऽपि तीर्थकरनमस्कारानन्तरोपादानाद्गौतमादय एवेह विवक्षिताः। प्रथमश्चकारः सिद्धाद्युपलक्षणार्थो द्वितीयः समुच्चितौ। क्त्वाप्रत्ययस्य क्रियाऽन्तरसव्यपेक्षत्वात्तामाह–स्वपरसमयसूचनं कृतमनेनेति सूत्रकृतस्तस्य, महार्थवत्त्वाद्भगवांस्तस्य, अनेन च सर्वज्ञप्रणीतत्वमावेदितं भवति। 'निर्युक्तिं कीर्तयिष्ये' इति योजनं युक्तिः–

सा. १ उक्तप्रयोजनं। २ चान्द्रमतेन णिजन्तात्कर्त्तर्यात्मनेपदभावान्न परस्मैपदित्वादसाधुः प्रयोगोऽयमिति शङ्क्यम्। स्वपरसमयसूचनार्थत्वात्सूत्रकृतशब्दस्य नाभिधेयत्वेऽस्य क्षतिः, स्वकृत्यपेक्षया निर्युक्तिं कीर्त्तयिष्य इति प्रयोजनोक्तिः। ३ समः समुत्तरणमार्गः प्र०। ४ जिनेत्यनुक्त्वा जिनवरानिति वरत्वयुक्तजिनेत्युपादानं॥

अर्थघटना, निश्चयेनाधिक्येन वा युक्तिर्निर्युक्तिः—सम्यगर्थप्रकटनमितियावत्, निर्युक्तानां वा—सूत्रेष्वेव परस्परसम्बद्धानामर्थानामाविर्भावनं, युक्तशब्दलोपान्निर्युक्तिरिति, तां 'कीर्त्तयिष्यामि' अभिधास्य इति ॥ इह सूत्रकृतस्य निर्युक्तिं कीर्त्तयिष्ये इत्यनेनोपक्रमद्वारमुपक्षिप्तं, तच्च 'इहापसदे' त्यादिनेषदभिहितमिति, तदनन्तरं निक्षेपः, स च त्रिविधः, तद्यथा—ओघनिष्पन्नो नामनिष्पन्नः सूत्रालापकनिष्पन्नश्चेति। तत्रौघनिष्पन्ने निक्षेपेऽङ्गं, नामनिष्पन्ने तु निक्षेपे सूत्रकृतमिति ॥१॥ तत्र 'तत्त्वभेदपर्यायैर्व्याख्ये'त्यतः पर्यायप्रदर्शनार्थं निर्युक्तिकृदाह—

सूयगडं अंगाणं [2]बितियं तस्स य इमाणि नामाणि। सूतगडं सुत्तकडं सूयगडं[3] चेव गोण्णाइं[4] ॥२॥

सूत्रकृतमित्येतदङ्गानां द्वितीयं, तस्य चामून्येकार्थिकानि, तद्यथा—सूतम्—उत्पन्नमर्थरूपतया तीर्थकृद्भ्यः ततः कृतं ग्रन्थरचनया गणधरैरिति, तथा 'सूत्रकृत'मिति [5]सूत्रानुसारेण तत्त्वावबोधः क्रियतेऽस्मिन्निति, तथा 'सूचाकृत'मिति स्वपरसमयार्थसूचनं सूचा साऽस्मिन्कृतेति, एतानि चास्य गुणनिष्पन्नानि नामानीति ॥२॥ साम्प्रतं सूत्रकृतपदयोर्निक्षेपार्थमाह—

दव्वं तु पोण्डयादी भावे सुत्तमिह सूयगं नाणं। सण्णासंगहवित्ते जातिणिबद्धे य कत्थादी ॥३॥

नामस्थापने अनादृत्य द्रव्यसूत्रं दर्शयति—'पोण्डयाइ'त्ति पोण्डगं च [6]वनीफलादुत्पन्नं कार्प्पासिकं, आदिग्रहणादण्डजवालजादेर्ग्रहणं, भावसूत्रं तु 'इह' अस्मिन्नधिकारे सूचकं ज्ञानं—श्रुतज्ञानमित्यर्थः, तस्यैव स्वपरार्थसूचकत्वादिति। तच्च श्रुतज्ञानसूत्रं चतुर्द्धा-

१ तच्चेहोद्देसेनिद्देसेत्यादि॰ इ.। २ वीयं अ. पीयं आ.। सा. ३ सूयागडमिति वाच्ये दीर्घह्रस्वाविति वन्धानुलोम्येन ह्रस्वता, तथा च न पर्यायैक्यं। ४ गुण्णाणि अ-आ.। सा. ५ भावसूत्रेण सूत्रानुसारेण निर्वाणपथो गम्यते चू॰ ॥ ६ वपनी॰ आ. इ।

भवति, तद्यथा—संज्ञासूत्रं संग्रहसूत्रं वृत्तनिवद्धं[1] जातिनिवद्धं च, तत्र संज्ञासूत्रं यत् स्वसंकेतपूर्वकं निवद्धं, तद्यथा—"[2]जे छेए सागारियं[3] न सेवे, सव्वामगंधं परिण्णाय णिरामगंधो परिव्वए" इत्यादि, तथा लोकेऽपि–पुद्गलाः [4]संस्कारः क्षेत्रज्ञा इत्यादि[5] । संग्रहसूत्रं तु यत्प्रभूतार्थसंग्राहकं, तद्यथा–द्रव्यमित्याकारिते समस्तधर्माधर्मादिद्रव्यसंग्रह इति, यदि[6]वा, उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदि'ति, वृत्तनिवद्धसूत्रं पुनर्यदनेकप्रकारया वृत्तजात्या निवद्धं तद्यथा–बुं[7]र्द्धिज्जत्ति तिउट्टिज्जेत्यादि[8], जातिनिवद्धं तु चतुर्द्धा, तद्यथा—कथनीयं कथ्यमुत्तराध्ययनज्ञाताधर्मकथादि, पूर्वर्षिचरितकथानकप्रायत्वात्तस्य, तथा गद्यं ब्रह्मचर्याध्ययनादि, तथा पद्यं—छन्दोनिवद्धं, तथा गेयं यत् स्वरसंचारेण गीतिकाप्रायनिवद्धं, तद्यथा कापिलीयमध्ययनं 'अ[10]धुवे असासयंमि संसारंमि दुक्खपउराए' इत्यादि ॥३॥ इदानीं कृतपदनिक्षेपार्थं निर्युक्तिकृद्गाथामाह—

करणं च कारओ य[11] कडं च तिण्हंपि छक्कनिक्खेवो। दव्वे खित्ते काले भावेण उ कारओ [12]जीवो ॥४॥

इह कृतमित्यनेन कर्मोपात्तं, न चाकर्तृकं कर्म भवतीत्यर्थात्कर्तुरापेक्षो धात्वर्थस्य च करणस्य, अमीषां त्रयाणामपि प्रत्येकं नामादिः षोढा निक्षेपः, तत्र गाथापश्चार्द्धेनाल्पवक्तव्यत्वात्तावत्करणमतिक्रम्य कारकस्य निक्षेपमाह, तत्र नामस्थापने प्रसिद्धत्वादनादृत्य

१ वृत्तवद्धं वृत्तनिरुद्ध आ.। सा. २ यश्छेकः स सागारिकं (मैथुनं) न सेवेत, सर्वमामगन्धं परिज्ञाय निरामगन्धः परिव्रजेत् (आमं विशोधि गन्धमविशोधि)। ३ सागारियं ण सेवे से सव्वा० आ. सागारियं न सेसेवो सव्वा० इ.। ४ संस्काराः इ.। सा. ५ उभए जं ससमए परसमए य चू०। ६ चोत्पाद०। सा. ७ बुध्येतेति त्रोटयेत्। ८ बुज्झेज्जतिउट्टेज्जेत्यादि आ. इ.। सा. ९ वित्तवद्धं सिलोगादिवद्धं वा चू०। १० अध्रुवेऽशाश्वते संसारे दुःखप्रचुरतायाम् (दुःखप्रचुरे)। ११ कारगौ वा. अ. कारयो वा आ.। १२ कारगो जीवा अ. कारगो जीवो आ.॥

द्रव्यादिकं दर्शयति—दव्वे' इति द्रव्यविषये कारकश्चिन्त्यः, स च द्रव्यस्य द्रव्येण द्रव्यभूतो वा कारको द्रव्यकारकः, तथा क्षेत्रे भरतादौ यः कारको यस्मिन् वा क्षेत्रे कारको व्याख्यायते स क्षेत्रकारकः, एवं कालेऽपि योज्यम्, 'भावेन तु' भावद्वारेण चिन्त्यमानो जीवोऽत्र कारको, यस्मात्[1]सूत्रस्य गणधरः कारकः, एतच्च निर्युक्तिकृदेवोत्तरत्र वक्ष्यति 'ठिइ अणुभावे'त्यादौ ॥४॥ साम्प्रतं करणव्याचिख्यासया नामस्थापने मुक्त्वा द्र[2]व्यादिकरणनिक्षेपार्थं निर्युक्तिकृदाह—

[3]दव्वं पओगवीसस पओगसा मूल उत्तरे चेव। उत्तरकरणं वंजण [4]अत्थो उ उवक्खरो सव्वो ॥५॥

'द्रव्ये' द्रव्यविषये करणं चिन्त्यते, तद्यथा—द्रव्यस्य द्रव्येण द्रव्यनिमित्तं [5]वा करणम्—अनुष्ठानं द्रव्यकरणं, तत्पुनर्द्विधा—प्रयोगकरणं विस्रसाकरणं च, तत्र प्रयोगकरणं पुरुषादिव्यापारनिष्पाद्यं, तदपि द्विविधं—मूलकरणमुत्तरकरणं च, तत्रोत्तरकरणं गाथापश्चार्द्धेन दर्शयति—उत्तरत्र करणमुत्तरकरणं—कर्णवेधादि, यदिवा तन्मूलकरणं घटादिकं येनोपस्करेण—[6]दण्डचक्रादिना [7]अभिव्यज्यते स्वरूपतः प्रकाश्यते तदुत्तरकरणं, कर्त्तुरुपकारकः सर्वोऽप्युपस्[8]कारार्थ इ[9]त्यर्थः ॥५॥ पुनरपि प्रपञ्चतो मूलोत्तरकरणे प्रतिपादयितुमाह—

मूलकरणं सरीराणि पंच तिसु [10]कंणखंधमादीयं। द[11]व्विंदियाणि परिणामियाणि विसओसहादीहिं ॥६॥

मूलकरणमौदारिकादीनि शरीराणि पञ्च, तत्र चौदारिकवैक्रियाहारकेषु त्रिषूत्तरकरणं कर्णस्कन्धादिकं विद्यते, तथाहि—'सीसं[12]मुरो-

---

१ सूत्रकृतस्य गणधराः कारका आ. इ. । सा. २ सण्णाकरणं नोसण्णाकरणं च कडकरणं अद्धाकरणं पेलुकरणादि चू० । ३ दव्वे पउग अ. आ. । ४ अत्थो-तदुवक्खरो अ. आ. । ५ च० आ. इ. । ६ दण्डवज्रादिना आ. । ७ अभिव्यय्यते आ. । ८ सा. उपकारसमर्थं भवति संस्करणादित्यर्थः चू० । ९ इति आ. इ. । १० कण्णवेहमाईयमिति टीकाकृद्हार्दम् । ११ कालेन संघातनादि चिन्ता विस्तरेण चूर्णौ उ० वृ० वत् । १२ शीर्षमुर उदरं पृष्ठिः द्वौ बाहू उरू चाष्टौ अङ्गानि ॥

यर पिट्ठी दो बाहू ऊरया य अट्ठंग'त्ति त्रयाणामप्येतन्निष्पत्तिर्मूलकरणं, कर्णस्कन्धाद्यङ्गोपाङ्गनिष्पत्तिस्तूत्तरकरण, कार्मणतैजसयोस्तु स्वरूपनिष्पत्तिरेव मूलकरणम् , अङ्गोपाङ्गाभावान्नोत्तरकरणं, यदिवा औदारिकस्य कर्णवेधादिकमुत्तरकरणं, वैक्रियस्य तूत्तरकरणम्-उत्तरवैक्रियं दन्तकेशादिनिष्पादनरूपं वा, आहारकस्य तु गमनाद्यूत्तरकरणं यदिवा औदारिकस्य मूलोत्तरकरणे गाथापश्चार्द्धेन प्रकारान्तरेण दर्शयति—'द्रव्येन्द्रियाणि' कलम्बुकापुष्पाद्याकृतीनि मूलकरणं तेषामेव परिणामिनां [1]विषौ[2]षधादिभिः पाटवाद्यापादनमुत्तरकरणमिति ॥६॥ साम्प्रतमजीवाश्रितं करणमभिधातुकाम आह—

संघायणे य [3]परिसाडणा य मीसे तहेव पडिसेहो । पडसंखसगडथूणाउड्ढतिरिच्छादिकरणं च ॥७॥

संघातकरणम्—आतानवितानीभूततन्तुसंघातेन पटस्य, परिसाटकरणं—करपत्रादिना शङ्खस्य निष्पादनं, संघातपरिसाटकरणं शकटादेः, तदुभयनिषेधकरणं—स्थूणादेरूर्ध्वतिरश्चीनाद्यापादनमिति ॥७॥ प्रयोगकरणमभिधाय विस्र[4]साकरणाभिधित्सयाऽऽह--

खंधेसु दुप्पएसादिएसु अब्भेसु [5]विज्जुमाईसु । णि[6]प्फण्णगाणि दव्वाणि [7]जाण तं वीससाकरणं ॥८॥

विस्रसाकरणं साद्यनादिभेदाद्द्विधा, तत्रानादिकं धर्माधर्माऽऽकाशानामन्योऽन्यानुवेधेनावस्थानम् , अन्योऽन्यसमाधानाश्रयणाच्च सत्यप्यनादित्वे करणत्वाविरोधः, रूपिद्रव्याणां च द्व्यणुकादिप्रक्रमेण भेदसंघाताभ्यां स्कन्धत्वापत्तिः सादिकं करणं, पुद्गलद्रव्याणां च दशविधः परिणामः, तद्यथा—[8]बंधनगतिसंस्थानभेदवर्णगन्धरसस्पर्शअगुरुलघुशब्दरूप इति, तत्र बन्धः स्निग्धरूक्षत्वात् , गतिपरि-

सा. १ विधिविपर्ययेऽन्यथाभावः विविधा गतिर्वा चू० ॥ २ विविधौषधादिभिः आ. । ३ परिसाडणे अ. आ. । ४ विश्रसा० आ. । सा. ५ अचिता काचिद्विद्युदिति लक्ष्यतेऽनेन ॥ ६ निप्पण्णगाणि अ. आ. । ७ जाणि तं अ. आ. । ८ बंधन १ गति २ संस्थान ३ भेद ४ वर्ण ५ गन्ध ६ रस ७ स्पर्श ८ अगुरुलघु ९ शब्दरूप १० इ. ।

णामो—देशान्तरप्राप्तिलक्षणः, संस्थानपरिणामः—परिमण्डलादिकः पञ्चधा, भेदपरिणामः—खण्डप्रतरचूर्णकानुतटिकोत्करिकाभेदेन पञ्चधैव, खंडादिस्वरूपप्रतिपादकं चेदं गाथाद्वयम्, तद्यथा—‘[1]खंडेहि खंडभेयं पयरब्भेयं जहब्भपडलस्स। चुण्णं चुण्णियभेयं अणुतडियं वंसवकलियं ॥१॥ [2]卐दुंदुमि समारोहे भेए उक्केरिया य उक्केरं। वीससपओगमीसगसंघायविओग विविहगमो ॥२॥ वर्णपरिणामः पञ्चानां श्वेतादीनां वर्णानां परिणतिस्तद्द्व्यादिसंयोगपरिणतिश्च, एतत्स्वरूपं च गाथाभ्योऽवसेयं, ताश्चेमाः—जइं[3] कालगमेगगुणं सुक्किलयंपि य हविज्ज बहुयगुणं। परिणामिज्जइ कालं सुक्केण गुणाहियगुणेणं ॥१॥ जँइ[4] सुक्किलमेगगुणं कालगदव्वं तु बहुगुणं जइ य। परिणामिज्जइ सुक्कं कालेण गुणाहियगुणेणं ॥२॥ जँइ[5] सुक्कं एकगुणं कालगदव्वंपि एक्कगुणमेव। कावोयं परिणामं तुल्लगुणत्तेण संभवइ ॥३॥ एवं[6] पंचवि वण्णा संजोएणं तु वण्णपरिणामो। एकत्तीसं भंगा सव्वेवि य ते मुणेयव्वा ॥४॥ एमेव[7] य परिणामो गंधाण रसाण तहय फासाणं। संठाणाण य भणिओ संजोगेणं बहुविगप्पो ॥५॥ एकत्रिंशद्भङ्गा एवं पूर्यन्ते—दश द्विकसंयोगा दश त्रिकसंयोगाः पञ्च चतुष्कसंयोगा एकः पञ्चकसंयोगः प्रत्येकं वर्णाश्च पञ्चेति। अगुरुलघुपरिणामस्तु परमाणोरारभ्य यावदनन्तानन्तप्रदेशिकाः स्कन्धाः सूक्ष्माः, शब्दपरिणामस्ततविततघनशुषिरभेदाच्चतुर्द्धा, तथा ताल्वोष्ठपुटव्यापाराद्यभिनिर्वर्त्त्यश्च, अन्येऽपि च पुद्गलपरिणामाश्छायादयो भवन्ति, ते चामि—[8]छाया य

सा. १ खण्डानां खण्डभेदः प्रतरभेदो यथाऽभ्रपटलस्य। चौर्णश्चूर्णितभेदोऽनुतटिका वंशवल्कलिका ॥१॥ २ शुष्कतडागे समारोहे भेदे उत्करिका चोत्कीर्णः। विश्रसाप्रयोगमिश्रसंघातवियोगतो विविधो गमः ॥२॥ 卐 वुंदंसीति काष्ठघटनो बुन्द इति वि० प० ॥ ३ यदि कालकमेकगुणं शुक्लमपि च भवेत् बहुकगुणम्। परिणम्यते कालकं शुक्लेन गुणाधिकगुणेन ॥१॥ ४ यदि शुक्लमेकगुणं कालद्रव्यं तु बहुगुणं यदि च। परिणम्यते शुक्लं कालकेन गुणाधिकगुणेन ॥२॥ ५ यदि शुक्लमेकगुणं कालकद्रव्यमप्येकगुणमेव। कापोतः परिणामः तुल्यगुणत्वेन संभवति ॥३॥ ६ एवं पञ्चापि वर्णाः संयोगेन तु वर्णपरिणामः। एकत्रिंशद्भङ्गाः सर्वेऽपि च ते मुणितव्याः ॥४॥ ७ एवमेव च परिणामो गन्धयो रसानां तथैव स्पर्शानाम्। संस्थानानां च भणितः संयोगेन बहुविकल्पः ॥५॥

–आयवो वा उज्जोओ तहय अंधकारो य। एसो उ पुग्गलाणं, परिणामो फंदणा चेवं[2] ॥१॥ [3]सीया णाइपगासा छाया [4]णाइच्चिया बहुविगप्पा। उण्हो पुणप्पगासो णायव्वो आयवो नाम ॥२॥ [5]नवि सीओ नवि उण्हो समो पगासो य होइ उज्जोओ। कालं मइलं तमंपि य वियाण तं अंधयारंति ॥३॥ [6]दव्वस्स चलण पप्फंदणा उ सा पुण गई उ निद्दिट्ठा। वीससपओगमीसा अत्तपरेणं तु उभओवि ॥४॥ तथाऽभ्रेन्द्रधनुर्विद्युदादिषु कार्येषु यानि पुद्गलद्रव्याणि परिणतानि तद्विस्रसाकरणमिति ॥८॥ गतं द्रव्यकरणम्, इदानीं क्षेत्रकरणाभिधित्सयाऽऽह—

ण विणा आगासेणं कीरइ जं किंचि खेत्तमागासं। वंजणपरियावण्णं उच्छुकरणमादियं बहुहा ॥९॥

'क्षि निवासगत्योः' अस्मादधिकरणे ष्ट्रना क्षेत्रमिति, तच्चावगाहदानलक्षणमाकाशं, तेन चावगाहदानयोग्येन विना न किञ्चिदपि कर्तुं शक्यत इत्यतः क्षेत्रे करणं क्षेत्रकरणं, नित्यत्वेऽपि चोपचारतः क्षेत्रस्यैवं करणं क्षेत्रकरणं, यथा गृहादावपनीते कृतमाकाशमुत्पादिते विनष्टमिति, यदिवा 'व्यञ्जनपर्यायापन्नं' शब्दद्वाराऽऽयातम् 'इक्षुकरणादिक'मिति इक्षुक्षेत्रस्य करणम्–लाङ्गलादिना संस्कारः क्षेत्रकरणं, तच्च बहुधा–शालिक्षेत्रादिभेदांदिति ॥९॥ साम्प्रतं कालकरणाभिधित्सयाऽऽह—

सा. १–आतपो वोद्योतस्तथैवान्धकारश्च च। एष एव पुद्गलानां परिणामः स्पन्दनं चैव ॥१॥ २ जाया आ. इ.। सा. ३शीता नातिप्रकाशा छाया अनादित्यिका बहुविकल्पा। उष्णः पुनः प्रकाशो ज्ञातव्य आतपो नाम ॥२॥ ४ णायच्चिया आ. इ.। सा. ५ नापि शीतो नाप्युष्णः समः प्रकाशो भवति चोद्योतः। कालं मलिनं तमोऽपि च विजानीहि तदन्धकार इति ॥३॥ ६ द्रव्यस्य चलनं प्रस्पन्दना तु सा पुनर्गतिस्तु निर्दिष्टा। विश्रसाप्रयोगमिश्रादात्मपराभ्यां तूभयतोऽपि ॥४॥ ७ °दादिषु ××× यानि इ.। ८ उत्थ° अ. आ.। ९ °स्यैव करणं ××× यथा आ.। सा. १० साहूहिं अच्छमाणेहिं गामो खेत्तीकओ चू०।

कालो जो [1]जावइओ जं कीरइ जंमि जंमि कालंमि । ओहेण [2]णामओ पुण [3]करणा एक्कारस [4]हवंति ॥१०॥

कालस्यापि मुख्यं करणं न संभवतीत्यौपचारिकं दर्शयति–'कालो यो यावानिति' यः कश्चिद् घटिकादिको नलिकादिना व्यवच्छिद्य व्यवस्थाप्यते, तद्यथा—षष्ट्युदकपलमाना घटिका द्विघटिको मुहूर्त्तस्त्रिंशन्मुहूर्त्तमहोरात्रमित्यादि, तत्कालकरणमिति, यद्वा—यत् यस्मिन् काले क्रियते यत्र वा काले करणं व्याख्यायते तत्कालकरणम्, एतदोघतः नामतस्त्वेकादश करणानि ॥१०॥ तानि चामूनि—

बंव च [6]बालवं चेव, कोलवं [7]तेत्तिलं [8]तहा। [9]गरादि वणियं चेव, [10]विट्ठी हवइ सत्तमा ॥११॥ सउणि चउप्पयं नागं [11]किंसुग्घं च करणं भवे एयं। [12]एते चत्तारि धुवा अन्ने [13]करणा चला सत्त ॥१२॥ चाउद्दसि रत्तीए सउणी [14]पडिवज्जए सदा करणं। तत्तो अहक्कमं खलु चउप्पयं णाग [15]किंसुग्घं ॥१३॥

[16]एतद्गाथात्रयं सुखोन्नेयमिति ॥११॥१२॥१३॥ इदानीं भावकरणप्रतिपादनायाऽऽह—

भावे पओगवीसस पओगसा मूल उत्तरे चेव। उत्तर कमसुयजो[17]व्वण वण्णादी भो[18]अणादीसु ॥१४॥

भावकरणमपि द्विधा—प्रयोगवि[19]स्रसाभेदात्, तत्र जीवाश्रितं प्रायोगिकं मूलकरणं पञ्चानां शरीराणां पर्याप्तिः, तानि हि पर्याप्ति-

---

१ जावइउ अ. आ.। २ नामउ अ. आ.। ३ करणाणेक्कारस अ. आ.। ४ भवंति अ. आ.। ५ च आ.। ६ पालवं अ. आ.। ७ थीविलेयणं अ. थीविलोयणं आ.। सा. ८ थीविलोयणं प्र०। ९ गराइ अ. आ.। १० वट्ठी हवइ ति अ. आ.। ११ किंच्छुग्घं अ. आ.। १२ एए अ. आ.। १३ करणा से सा चला सत्त अ. आ.। १४ पडिवज्झए सया अ. आ.। १५ किंच्छुग्घं अ. आ.। सा. १६ पक्खतिहिओ दुगुणिआ दुरूवहीणा य सुक्कपक्खंमि। सत्तहिए देवसियं तं चेव रूवाहियं रत्तिं ॥१॥ इति गाथानुसारेण करणयोजना ४×२=८-२=६+(विष्टि) १+७(वणिक्)=१०=२÷, २०=६+१=७ (व. वि०)। १७ जोव्वण वण्णाई अ. आ.। १८ भोयणाइसु अ. आ.। १९ विश्रसा° आ.।

नामकर्मोदयादौदयिके भावे वर्तमानो जीवः स्ववीर्यजनितेन प्रयोगेण निष्पादयति। उत्तरकरणं तु गाथापश्चार्द्धेनाह—उत्तरकरणं क्रम-श्रुतयौवनवर्णादिचतूरूपं, तत्र क्रमकरणं शरीरनिष्पत्त्युत्तरकालं बालयुवस्थ[1]विरादिक्रमेणोत्तरोत्तरोऽवस्थाविशेषः, श्रुतकरणं तु व्याकरणादिपरिज्ञानरूपोऽवस्थाविशेषो[2]ऽपरकलापरिज्ञानरूपश्चेति, यौवनकरणं कालकृतो वयोऽवस्थाविशेषो रसायनाद्यापादितो वेति, तथा वर्णगन्धरसस्पर्शकरणं विशिष्टेषु [3]भोजनादिषु सत्सु यद्विशिष्टवर्णाद्यापादनमिति, एतच्च पुद्गलविपाकित्वाद्वर्णादीनामजीवाश्रितमपि द्रष्टव्यमिति ॥१४॥ इदानीं [4]विस्रसाकरणाभिधित्सयाऽऽह—

[5]वण्णादिया य वण्णादिएसु जे केइ वीससामेला। ते हुंति थिरा अथिरा [6]छायातवदुद्धमादीसु ॥१५॥

'वर्णादिका' इति रूपरसगन्धस्पर्शाः ते यदाऽ[7]परेष्वपरेषां वा स्वरूपादीनां मिलन्ति ते वर्णादिमेलका [8]विस्रसाकरणं, ते च मेलकाः स्थिरा—असंख्येयकालावस्थायिनः, अस्थिराश्च—क्षणावस्थायिनः—सन्ध्यारागाभ्रेन्द्रधनुरादयो भवन्ति, तथा छायात्वेनातपत्वेन च पुद्गलानां [9]विस्रसापरिणामत एव परिणामो भावकरणं दुग्धादेश्च स्तनप्रच्यवनानन्तरं प्रतिक्षणं [10]कठिणाम्लादिभावेन गमनमिति ॥१५॥ साम्प्रतं श्रुतज्ञानमधिकृत्य मूलकरणाभिधित्सयाऽऽह—

मूलकरणं पुण [11]सुते तिविहे जोगे सुभासुभे झाणे। ससमयसुएण पगयं अज्झवसाणेण य [12]सुहेणं ॥१६॥

'श्रुते' पुनः श्रुतग्रन्थे मूलकरणमिदं [13]'त्रिविधे योगे' मनोवाक्कायलक्षणे व्यापारे शुभाशुभे च ध्याने वर्तमानैर्ग्रन्थरचना क्रियते,

१ स्थविरादिकः आ. इ. । २ विशेषः अपरः आ. इ.। ३ भोगादिषु आ.। ४ विश्रसा आ.। ५ वण्णाईया य वण्णाइएसु अ. आ.। ६ छायायवदुद्धमाईसु अ. आ. । ७ परेषु परेषां आ.। ८ विश्रसा° आ. इ. । ९ विश्रसा° आ.। १० कठिना० आ. इ.। ११ सुए अ. आ । १२ सुभेणं अ. आ. ।१३ त्रिविधं आ. इ. ।

तत्र लोकोत्तरे शुभध्यानावस्थितैर्ग्रन्थरचना विधीयते, लोके त्वशुभध्यानाश्रितैर्ग्रन्थग्रथनं क्रियत इति, लौकिकग्रन्थस्य कर्मबन्धहेतुत्वात्[1] कर्तुरशुभध्यायित्वमवसेयम्, इह तु सूत्रकृतस्य तावत्स्वसमयत्वेन[2] शुभाध्यवसायेन च[3] प्रकृतं, यस्माद्गणधरैः शुभध्यानावस्थितैरिदसंज्ञी-[4]कृतमिति ॥१६॥ तेषां च ग्रन्थरचनां प्रति शुभध्यायिनां कर्मद्वारेण योऽवस्थाविशेषस्तं दर्शयितुकामो निर्युक्तिकृदाह—

ठिइअणुभा[6]वे बंधण[7]निकायणनिहत्तदीहहस्सेसु। संकमउदीरणाए उदए [8]वेदे उवसमे य ॥१७॥

तत्र कर्मस्थितिं प्रति अजघन्योत्कृष्टकर्मस्थितिभिर्गणधरैः सूत्रमिदं कृतमिति, तथाऽनुभावो—विपाकस्तदपेक्षया मन्दानुभावैः, तथा बन्धमङ्गीकृत्य ज्ञानावरणीयादिप्रकृतीर्मन्दानुभावा बध्नद्भिः तथाऽनिकाचयद्भिरेवं निधत्तावस्थामकुर्वद्भिः तथा दीर्घस्थितिकाः कर्मप्रकृतीर्ह्रसीयसीर्जनद्भिः, तथोत्तरप्रकृतीर्बध्यमानासु संक्रामयद्भिः, तथोदयवतां कर्मणामुदीरणां विदधानैरप्रमत्तगुणस्थैस्तु सातासाताऽऽयूंष्यनुदीरयद्भिः, तथा मनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकशरीरतदङ्गोपाङ्गादिकर्मणामुदये वर्तमानैः, तथा वेदमङ्गीकृत्य पुंवेदे सति, तथा 'उवसमे'त्ति सूचनात्सूत्रमिति क्षायोपशमिके भावे वर्तमानैर्गणधारिभिरिदं सूत्रकृताङ्गं दृब्धमिति ॥१७॥ साम्प्रतं स्वमनीपिकापरिहारद्वारेण करणप्रकारमभिधातुकाम आह—

सोऊण जिणवरमतं[9] गणहारी काउ तक्खओवसमं[10]। अज्झवसाणेण कयं सूत्तमिणं तेण सूयगडं[11] ॥१८॥

१ हेतुत्वात्तत्कर्तु॰ आ. इ. । सा. २ समयेन प्र० । ३ समयत्वेनेति पाठे योगसमुच्चयाय अन्यथा स्वसमयसमुच्चयः, शुभध्यानसमुच्चयोऽप्युभयत्र । ४ ॰मंगंकृतमिति आ. इ. । सा. ५ ॰रिदमङ्गीकृत इति प्र० । ६ भागे अ. । ७ वंधणणिकायणणिद्दंत्तदीहहुस्सेसु अ. वंधणणिणिकायणणिहत्तदीहहुस्सेसु आ. । ८ वेए अ. आ. । ९ मयं अ. आ. । १० उवसमं अ. आ. । ११ सूतगडं आ. ।

'श्रुत्वा' निशम्य जिनवराणां—[1]तीर्थकराणां मतम्—अभिप्रायं [2]मातृकादिपदं 'गणधरैः' गौतमादिभिः कृत्वा 'तत्र' ग्रन्थरचने क्षयोपशमं, तत्प्रतिबन्धककर्मक्षयोपशमाद्दत्तावधानैरितिभावः, शुभाध्यवसायेन च सता कृतमिदं सूत्रं तेन सूत्रकृतमिति ॥१८॥ इदानीं कस्मिन् योगे वर्तमानैस्तीर्थकृद्भिर्भाषितं ? कुत्र वा गणधरैर्दृब्धमित्येतदाह—

वइजोगेण पभासियमणेगजोगंधराण साहूणं। तो [3]वयजोगेण कयं जीवस्स सभावियगुणेण ॥१९॥

॥८॥ तत्र 'तीर्थकृद्भिः' क्षायिकज्ञानवर्तिभिर्वाग्योगेनार्थः प्रकर्षेण भाषितः प्रभाषितो गणधराणां, ते च न प्राकृतपुरुषकल्पाः किं त्वनेकयोगधराः, तत्र योगः—क्षीराश्रवादिलब्धिकलापसं[4]बन्धस्तं धारयन्तीत्यनेकयोगधरास्तेषां, प्रभाषितमिति सूत्रकृताङ्गापेक्षया नपुंसकता, साधवश्चात्र गणधरा एव गृह्यन्ते, तदुद्देशेनैव भगवतामर्थप्रभाषणादिति, ततोऽर्थं निशम्य गणधरैरपि वाग्योगेनैव कृतं, तच्च जीवस्य 'स्वाभाविकेन गुणेनेति' स्वस्मिन् भावे भवः स्वाभाविकः प्राकृत इत्यर्थः, प्राकृतभाषयेत्युक्तं भवति, न पुनः संस्कृतया [5]लट्लिट्शप्प्रकृतिप्रत्ययादिविकारविकल्पनानिष्पन्नयेति ॥१९॥ पुनरन्यथा सूत्रकृतनिरुक्तमाह—

॥१०॥ **अक्खरगुणम[6]तिसंघायणाए कम्मप[7]रिसाडणाए य। तदुभयजोगेण कयं सुत्तमिणं तेण [8]सूत्तगडं ॥२०॥**

[9]अक्षराणि—अकारादीनि तेषां गुणः—अनन्तगमपर्यायवत्त्वमुच्चारणं वा, अन्यथाऽर्थस्य प्रतिपादयितुमशक्यत्वात्, मतेः—मतिज्ञानस्य संघटना मतिसंघटना, अक्षरगुणेन मतिसंघटना अक्षरगुणमतिसंघटना, भावश्रुतस्य द्रव्यश्रुतेन प्रकाशनमित्यर्थः, अक्षरगुणस्य वा

१ तीर्थकृतां आ. इ. । २ मातृकापदादिकं आ. इ. । सा. मातृकापदादिकं प्र० । ३ वइ° अ. आ. । ४ संबंधस्तान् आ. । ५ लट्लिट्ण° आ. लट्लडशव० इ. । ६ °मइसंजोगणाय° आ. । ७ °पडिसाडणाए य अ. आ. । ८ सूयगडं अ. । ९ अक्षण्यकारा° आ. इ. ।

मत्या–वुद्ध्या सं[1]घटना रचनेतियावत् तयाऽक्षरगुणमतिसंघटनया, तथा कर्मणां–ज्ञानावरणादीनां परिशाटना–जीवप्रदेशेभ्यः पृथक्करणरूपा तया च हेतुभूतया, सूत्रकृताङ्गं कृतमिति संबन्धः, तथाहि–यथा यथा गणधराः सूत्रकरणायोद्यमं कुर्वन्ति तथा तथा कर्मपरिशाटना भवति, यथा यथा च कर्मपरिशाटना तथा तथा ग्रन्थरचनायोद्यमः संपद्यत इति, एतदेव गाथापश्चार्धेन दर्शयति–'तदुभययोगेनेति' अक्षरगुणमतिसंघटनायोगेन कर्मपरिशाटनायोगेन च, यदिवा वाग्योगेन मनोयोगेन च कृतमिदं सूत्रं तेन सूत्रकृतमिति ॥२०॥

इहानन्तरं सूत्रकृतस्य निरुक्तमुक्तम्, अधुना सूत्रपदस्य निरुक्ताभिधित्सयाऽऽह—

सु[2]त्तेण सुत्तिया चिय अत्था तह सूइया[3] य जुत्ता[4] य। तो ब[5]हुविहप्प[6]उत्ता एय पसिद्धा अणादीया ॥२१॥[7]

अर्थस्य सूचनात्सूत्रं [8]तेन सूत्रेण केचिदर्थाः साक्षात्सूत्रिता–मुख्यतयोपात्ताः, तथाऽपरे सूचिता–अर्थापत्त्याक्षिप्ताः साक्षादनुपादानेऽपि दध्यानयनचोदनया तदाधारानयनचोदनावदिति, ए[9]वं च कृत्वा चतुर्दशपूर्वविदः परस्परं षट्स्थानपतिता भवन्ति, तथा चोक्तम्–"अ[10]क्खरलंभेण समा ऊणहिया [11]हुंति मतिविसेसेहिं। तेऽविय मईविसेसा सुयणाणऽब्भंतरे जाण ॥१॥" तत्र ये साक्षादुपात्तास्तान् प्रति सर्वेऽपि तुल्याः, ये पुनः सूचितास्तदपेक्षया कश्चिदनन्तभागाधिकमर्थं वेत्त्यपरोऽसंख्येयभागाधिकमन्यः संख्येयभागाधिकं तथाऽन्यः संख्येयासंख्येयानन्तगुणमिति, ते च सर्वेऽपि 'युक्ता' युक्त्युपपन्नाः सूत्रोपात्ता एव वेदितव्याः, तथा चाभिहितम्–"तेऽविय मईविसेसे"

१ घटना आ.। २ सूइय त्तिय° अ. आ.। सा. ३ प्रोताः। ४ युज्यमानाः। ५ वहुविहं पउत्तापयाय सिद्धा अणाईया अ. आ.। सा. ६ चउव्विहेण जाइबंधेण पंचावयवविशेषेण वा चू०। ७ सूयगडं ति गयं अ. आ.। ८ तेन च सूत्रेण आ. इ.। ९ एवं कृत्वा इ.। सा. १० अक्षरलाभेन समा ऊनाधिका भवन्ति मतिविशेषैः। तानपि च मतिविशेषान् श्रुतज्ञानाभ्यन्तरे जानीहि ॥१॥ ११ होंति आ. इ.।

इत्यादि, ननु किं सूत्रोपात्तेभ्योऽन्येऽपि केचनार्थाः सन्ति ? येन तदपेक्षया चतुर्दशपूर्वविदां षट्स्थानपतितत्वमु[1]द्घुष्यते, बाढं विद्यन्ते, यतोऽभिहितम्—"पण्णवणिज्जा[2] भावा अणंतभागो उ अणभिलप्पाणं। पण्णवणिज्जाणं पुण अणंतभागो सुयनिबद्धो[3] ॥१॥" यतश्चैवं ततस्ते अर्था आगमे बहुविधं प्रयुक्ताः—सूत्रैरुपात्ताः केचन साक्षात्केचिदर्थापत्त्या समुपलभ्यन्ते, यदिवा क्वचिद्देशग्रहणं क्वचित्सर्वार्थोपादानमित्यादि, यैश्च पदैस्ते अर्थाः प्रतिपाद्यन्ते तानि पदानि[4] प्रकर्षेण सिद्धानि प्रसिद्धानि न साधनीयानि, तथाऽनादीनि च तानि नेदानीमुत्पाद्यानि, तथा चेयं द्वादशाङ्गी शब्दार्थरचनाद्वारेण विदेहेषु नित्या, भरतैरावतेष्वपि शब्दरचनाद्वारेणैव प्रति तीर्थकरं क्रियते अन्यथा तु नित्यैव। एतेन च 'उच्चरितप्रध्वंसिनो वर्णा' इत्येतन्निराकृतं वेदितव्यमिति ॥२१॥ साम्प्रतं सूत्रकृतस्य श्रुतस्कन्धाध्ययनादिनिरूपणार्थमाह—

दो चेव सुयक्खंधा अज्झयणाइं च हुंति[5] तेवीसं। तेत्तिसुद्देसणकाला[6] आयाराओ[7] दुगुणमंगं[8] ॥२२॥

द्वावत्र श्रुतस्कन्धौ, त्रयोविंशतिरध्ययनानि, त्रयस्त्रिंशदुद्देशनकालाः, ते चैवं भवन्ति—प्रथमाध्ययने चत्वारो, द्वितीये त्रयस्तृतीये चत्वारः, एवं चतुर्थपञ्चमयोर्द्वौ द्वौ, तथैकादशस्वेकसरकेष्वेकादशैवेति प्रथमश्रुतस्कन्धे; तथा द्वितीयश्रुतस्कन्धे सप्ताध्ययनानि तेषां सप्तैवोद्देशनकालाः, एवमेते सर्वेऽपि त्रयस्त्रिंशदिति। एतच्चाचाराङ्गाद्द्विगुणमङ्गं—षट्त्रिंशत्पदसहस्रपरिमाणमित्यर्थः ॥२२॥ साम्प्रतं सूत्रकृताङ्गनिक्षेपानन्तरं प्रथमश्रुतस्कन्धस्य नामनिष्पन्ननिक्षेपाभिधित्सयाऽऽह—

१ °मुदुष्यते आ.। सा. २ प्रज्ञापनीया भावा अनन्तभाग एवानभिलाप्यानाम्। प्रज्ञापनीयानां पुनरनन्तभागः श्रुतनिबद्धः ॥१॥ ३ सुअणिवद्धो आ.। ४ पदानि ×××× सिद्धानि आ. इ.। ५ होंति अ. आ.। ६ तेत्तिसं उद्देसा ××× आया० अ. आ.। ७ °उ अ. आ.। ८ °भंगं अ. °संगं आ.।

निक्खेवो गाहाए चउव्विहो छे[1]व्विहो य सोलसस्सु। निक्खेवो ये[2] सुयंमि[3] य खंधे य चउव्विहो होइ ॥२३॥

इहाद्यश्रुतस्कन्धस्य गाथाषोडशक इति नाम, गाथाख्यं षोडशमध्ययनं यस्मिन् श्रुतस्कन्धे स तथेति, तत्र गाथाया नामस्थापनाद्रव्यभावरूपश्चतुर्विधो निक्षेपः, नामस्थापने प्रसिद्धे, द्रव्यगाथा द्विधा–आगमतो नोआगमतश्च, तत्र आगमतो ज्ञाता तत्र चानुपयुक्तः 'अनुपयोगो द्रव्य'मितिकृत्वा, नोआगमतस्तु त्रिधा–ज्ञशरीरद्रव्यगाथा भव्यशरीरद्रव्यगाथा ताभ्यां विनिर्मुक्ता च–"सत्तट्ठतरू[4] विसमे ण से हया ताण छट्ठ णह जलया। गाहाए पच्छद्धे भेओ[6] छट्ठोत्ति इक्ककलो ॥१॥" इत्यादिलक्षणलक्षिता पत्रपुस्तकादिन्यस्तेति, भावगाथापि द्विविधा–आगमनोआगमभेदात्, तत्राऽऽगमतो गाथापदार्थज्ञस्तत्र चोपयुक्तः, नोआगमतस्त्विदमेव गाथाख्यमध्ययनम्, आगमैकदेशत्वादस्य। षोडशकस्यापि नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात् षोढा निक्षेपः, तत्र नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यषोडशकं ज्ञशरीरभव्यशरीरविनिर्मुक्तं सचित्तादीनि षोडश द्रव्याणि, क्षेत्रषोडशकं षोडँ[7]शाकाशप्रदेशाः, कालषोडशकं षोडश समयाः एतत्कालाव[8]स्थायि वा द्रव्यमिति, भावषोडशकमिदमेवाध्ययनषोडशकं, क्षायोपशमिकभाववृत्तित्वादिति। श्रुतस्कन्धयोः प्रत्येकं चतुर्विधो निक्षेपः, स चान्यत्र न्यक्षेण प्रतिपादित इति नेह प्रतन्यते ॥२३॥ साम्प्रतमध्ययनानां प्रत्येकमर्थाधिकारं दिदर्शयिषयाऽऽह—

ससमयपरसमयपरूवणा[9] य णाऊण वुज्झणा चेव। संवुद्धस्सुवसग्गा[3] थीदोसविवज्जणा[10] चेव ॥२४॥

१ छु० आ.। २ उ अ. आ.। ३ °मी अ. आ.। सा. ४ सप्त तरवः (चतुर्मात्रा गणाः) अष्टमः (गुरुः) विषमे न (जगणः,) तस्याघातकास्तासां षष्ठे नह्रौ (चतुर्लघवः) जो वा। गाथायाः पश्चार्धे भेदः षष्ठ एककल इति ॥१॥ ५ °गुरु अ. आ.। ६ भेदो अ. आ.। ७ षोडशक्षेत्रप्रदेशाः आ.। ८ स्थायिकद्रव्य० आ.। ९ °सु० अ.। १० ज्झ० अ. आ.।

उवसग्गभीरुणो थीवसस्स णरएसु होज्ज उववाओ। एव महप्पा वीरो जयमाह तहा जएज्जाह[६] ॥२५॥
[३]परिचत्तनिसीलकुसीलसुसीलसविग्ग सीलवं चेव। णाऊण वीरियदुगं पंडियवीरिएँ पयट्टेह (पयट्टिज्जा) ॥
धम्मो समाहि मग्गो समोसढा चउसु सव्ववादीसु[७]। सीसगुणदोसकहणा [८]गंथंमि सदा गुरुनिवासो ॥२७॥
आदाणिय संकलिया आदाणीयंमि[१०] आदयचरित्तं। अप्पग्गंथे पिंडियवयणेणं[१२] होइ अहिगारो ॥२८॥

तत्र प्रथमाध्ययने स्वसमयपरसमयप्ररूपणा, द्वितीये स्वसमयगुणान् परसमयदोषांश्च ज्ञात्वा स्वसमय एव बोधो विधेय इति, तृतीयाध्ययने तु संबुद्धः सन् यथोपसर्गसहिष्णुर्भवति तदभिधीयते, चतुर्थे स्त्रीदोषविवर्जना, पञ्चमे त्वयमर्थाधिकारः, तद्यथा—उपसर्गासहिष्णोः [१३]स्त्रीवशवर्तिनोऽवश्यं नरकेषूपपात इति, षष्ठे पुनः 'एवमिति' अनुकूलप्रतिकूलोपसर्गसहनेन स्त्रीदोषवर्जनेन च भगवान् महावीरो जेतव्यस्य कर्मणः संसारस्य वा पराभवेन जयमाह ततस्तथैव यत्नं विधत्त यूयमिति शिष्याणामुपदेशो दीयते, सप्तमे त्विदमभिहितं, तद्यथा—निःशीला—गृहस्थाः [१४]कुशीलास्तु—अन्यतीर्थिकाः पार्श्वस्थादयो वा ते परित्यक्ता येन साधुना स परित्यक्तनिःशीलकुशील इति, तथा सुशीला—उद्युक्तविहारिणः संविग्नाः[१५]—संवेगमग्नास्तत्सेवाशीलः शीलवान् भवतीति, अष्टमे त्वेतत्प्रतिपाद्यते, तद्यथा—ज्ञात्वा वीर्यद्वयं पण्डितवीर्ये प्रयत्नो विधीयत इति, [१६]नवमे अर्थाधिकारस्त्वयं, तद्यथा—यथाऽवस्थितो धर्मः कथ्यते, दशमे तु समाधिः प्रतिपाद्यते, एका-

१ नरगेसु अ. आ.। २ °उ। ३ निस्सीलकुसीलजढोसुसीलसेवीयंसी° अ. आ.। ४ ना° अ. आ.। ५ विरिए य जइयव्वं अ.। ६ ससमाहिं अ.। ७ °ईसु अ. आ.। ८ °थम्मि आ.। ९ °या अ. आ.। १० आयणीज्झंमि अ. आ.। ११ °य° अ. आ। १२ °ण गाहाएहो° अ. आ.। सा. १३ त्रीवशगस्य प्र०। स्त्रीवशगस्य आ. इ.। १४ कुशीलास्तीर्थिकाः आ.।१५ संविग्नास्तान् स च शीलवान् भवतीति आ. संविग्नास्ततसेवाशीलः शीलवान् भवतीति इ.। १६ नवमे चार्थाधिकारः इ.।

दशे तु सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मको मोक्षमार्गः कथ्यते, द्वादशे त्वयमर्थाधिकारः तद्यथा–‘समवसृता’ अवतीर्णा व्यवस्थिताश्चतुर्षु मतेषु क्रियाऽक्रियाऽज्ञानवैनयिकाख्येष्वभिप्रायेषु त्रिषष्ट्युत्तरशतत्रयसंख्याः पाषण्डिनः स्वीयं स्वीयमर्थं प्रसाधयन्तः समुत्थितास्तदुपन्यस्तसाधनदोषोद्भावनतो निराक्रियन्ते, त्रयोदशे त्विदमभिहितं, तद्यथा–सर्ववादिषु कपिलकणादाक्षपादशौद्धोदनिजैमिनिप्रभृतिमतानुसारिषु कुमार्गप्रणेतृत्वं साध्यते, चतुर्दशे तु ग्रन्थाख्येऽध्ययनेऽयमर्थाधिकारः, तद्यथा–शिष्याणां गुणदोषकथना, तथा शिष्यगुणसम्पदुपेतेन च विनेयेन नित्यं गुरु[1]कुलवासो विधेय इति, पञ्चदशे त्वादानीयाख्येऽध्ययनेऽर्थाधिकारोऽयं, तद्यथा–आदीयन्ते–गृह्यन्ते उपादीयन्ते इत्यादानीयानि–पदान्यर्था वा ते च प्रागुपन्यस्तपदैरर्थैश्च प्रायशोऽत्र संकलिताः, तथा आयतं चरित्रं–सम्यक्चरित्रं मोक्षमार्गप्रसाधकं तच्चात्र व्यावर्ण्यत इति, षोडशे तु गाथाख्येऽल्पग्रन्थेऽध्ययनेऽयमर्थो व्यावर्ण्यते, तद्यथा–पञ्चदशभिरध्ययनैर्योऽर्थोऽभिहितः सोऽत्र ‘पिण्डितवचनेन’ संक्षिप्ताभिधानेन प्रतिपाद्यत इति ॥२८॥ “[2]गाहासोलसगाणं पिंडत्थो व[3]ण्णिओ समासेणं। इ[4]त्तो इक्कि[5]क्कं पुण अज्झयणं कित्तयिस्सामि[6] ॥१॥”[7] तत्राद्यमध्ययनं समयाख्यं, तस्य चोपक्रमादीनि चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति, तत्रोपक्रमणमुपक्रम्यते वाऽनेन शास्त्रं न्यासदेशं–निक्षेपावसरमानीयत इत्युपक्रमः, स च लौकिको नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदेन षड्रूप आवश्यकादिष्वेव प्रपञ्चितः, शास्त्रीयोऽप्यानुपूर्वीनामप्रमाणवक्तव्यताऽर्थाधिकारसमवताररूपः षोढैव, तत्रानुपूर्व्यादीन्यनुयोगद्वारानुसारेण ज्ञेयानि[8] तावद्यावत्समवतारः, तत्रैतदध्ययनमानुपूर्व्यादिषु यत्र यत्र समवतरति तत्र तं[9]त्र समवतारयितव्यं, तत्र दशविधायामानुपूर्व्यां

सा. १ गुणानुरूपगु० प्र०। २ गाथाषोडशकानां पिण्डार्थो वर्णितः (समुदायार्थः) समासेन। इत एकैकं पुनरध्ययनं कीर्त्तयिष्यामि ॥१॥ ३ वण्णिता आ. इ. ४ एत्तो आ.। ५ एक्केक्कं आ. इ.। ६ कित्तइस्सामि आ. इ.। सा. ७ चूर्णिगाथा। ८ नेयानि आ. इ.। ९ तत्रावतारयितव्यं आ. इ.।

गणनानुपूर्व्यां समवतरति, सापि त्रिधा–पूर्वानुपूर्वी पश्चानुपूर्वी अनानुपूर्वी चेति, तत्रेदमध्ययनं पूर्वानुपूर्व्यां प्रथमं, पश्चानुपूर्व्यां षोडशम्, अनानुपूर्व्यां तु चिन्त्यमानमस्यामेवैकादिकायामेकोत्तरिकायां षोडशगच्छगतायां श्रेण्यामन्योऽन्याभ्यासद्विरूपोनसंख्याभेदं भवति। अनानुपूर्व्यां[1] तु भेदसंख्यापरिज्ञानोपायोऽयं, तद्यथा–"एकाद्या गच्छपर्यन्ताः, परस्परसमाहताः। राशयस्तद्धि विज्ञेयं, विकल्पगणिते फलम् ॥१॥" प्रस्तारानयनोपायस्त्वयम्–"पुव्वाणुपुव्वि हेट्ठा[2] समयाभेएण कुण जहाजेट्ठं। उवरिमतुल्लं-पुरओ नसेज्ज पुव्वक्कमो सेसे ॥१॥" तत्र[3]–"गणितेऽन्त्यविभक्ते तु, लब्धं शेषैर्विभाजयेत्। आदावन्ते च तत् स्थाप्यं, विकल्पगणिते क्रमात् ॥१॥" अयं श्लोकः शिष्यहितार्थं वित्रियते–तत्र सुखावगमार्थं षट् पदानि समाश्रित्य तावद् श्लोकार्थो योज्यते, तत्रैवं[4] १२३४५६ षट् पदानि स्थाप्यानि, एतेषां परस्परताडनेन सप्त शतानि विंशत्युत्तराणि गणितमुच्यते, तस्मिन् गणितेऽन्त्योऽत्र षट्कः तेन भागे हृते विंशत्युत्तरं शतं लभ्यते, तच्च षण्णां पङ्क्तीनामन्त्यपङ्क्तौ षट्कानां न्यस्यते, तदधः पञ्चकानां विंशत्युत्तरमेव शतम्, एवमधोऽधश्चतुष्कत्रिकद्विकैककानां प्रत्येकं विंशत्युत्तरशतं न्यस्यम्, एवमन्त्यपङ्क्तौ सप्त शतानि विंशत्युत्तराणि भवन्ति, एषा च गणितप्रक्रियाया आदिरुच्यते, तथा यत्तद्विंशत्युत्तरं शतं लब्धं, तस्य च पुनः शेषेण पञ्चकेन भागेऽपहृते लब्धा चतुर्विंशतिः, तावन्तस्तावन्तश्च पञ्चकचतुष्कत्रिकद्विकैककाः प्रत्येकं पञ्चमपङ्क्तौ न्यस्याः यावद्विंशत्युत्तरं शतमिति, तदधोऽग्रतो न्यस्तमङ्कं मुक्त्वा येऽन्ये तेषां यो यो महत्संख्यः स सोऽधस्ताच्चतुर्विंशतिसंख्य एव तावत् न्यस्यो यावत्सप्त शतानि विंशत्युत्तराणि पञ्चमपङ्क्तावपि पूर्णानि भवन्ति, एषा च गणितप्रक्रिययैवान्त्योऽभिधीयते,[5] एवमनया प्रक्रियया चतु-

१ °र्व्यास्तु आ. इ । २ °हेट्ठो इत्यादि पद्मानि न सन्तीति आ. इ. । ३ तथा गणिते° आ. इ. । ४ तत्रैवं पदानि स्थाप्यानि १२३४५६ आ. इ. । °क्रियैवात्याभिधीयते आ. क्रिययैवांत्याऽभिधीयते इ. ।

विंशतेः शेषचतुष्ककेन भागे हृते षट् लभ्यन्ते, तावन्तश्चतुर्थपङ्क्तौ चतुष्ककाः स्थाप्याः, तदधः षट् त्रिकाः, पुनर्द्विका भूय एककाः, पुनः पूर्वन्यायेन पङ्क्तिः पूरणीया, पुनः षट्कस्य शेषत्रिकेण भागे हृते द्वौ लभ्येते, तावन्मात्रौ त्रिकौ तृतीयपङ्क्तौ, शेषं पूर्ववत्, शेषपङ्क्तिद्वये शेषमङ्कद्वयं क्रमोत्क्रमाभ्यां व्यवस्थाप्यमिति [2]१२३४, २१३४, १३२४, ३१२४, २३१४, ३२१४, १२४३, २१४३, १४२३, ४१२३, २४१३, ४२१३, १३४२, ३१४२, १४३२, ४१३२, ३४१२, ४३१२, २३४१, ३२४१, २४३१, ४२३१, ३४२१, ४३२१। तथा नाम्नि षड्विधनाम्न्यवतरति, यतस्तत्र षड् भावाः प्ररूप्यन्ते, श्रुतस्य च क्षायोपशमिकभाववर्तित्वात्। प्रमाणमधुना–प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणं, तत् द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदाच्चतुर्द्धा, तत्रास्याध्ययनस्य क्षायोपशमिकभावव्यवस्थितत्वाद्भावप्रमाणेऽवतारः, भावप्रमाणं च गुणनयसंख्याभेदात्रिधा, तत्रापि गुणप्रमाणे समवतारः, तदपि जीवाजीवभेदाद् द्विधा, समयाध्ययनस्य च क्षायोपशमिकभावरूपत्वात् तस्य च जीवानन्यत्वाज्जीवगुणप्रमाणे समवतारः, जीवगुणप्रमाणमपि ज्ञानदर्शनचारित्रभेदात्रिविधं, तत्रास्य बोधरूपत्वात् ज्ञानगुणप्रमाणे समवतारः, तदपि प्रत्यक्षानुमानोपमानागमभेदाच्चतुर्द्धा, तत्रास्यागमप्रमाणे समवतारः, सोऽपि लौकिकलोकोत्तरभेदाद् द्विधा, तदस्य लोकोत्तरे समवतारः, तस्य च सूत्रार्थतदुभयरूपत्वात्त्रैविध्यं, (अस्य त्रिरूपत्वात्) त्रिष्वपि समवतारः, यदिवा–आत्मानन्तरपरम्परभेदादागमस्त्रिविधः, तत्र तीर्थकृतामर्थापेक्षयाऽऽत्मागमो गणधराणामनन्तराग[3]मस्तच्छिष्याणां परम्परागमः, सूत्रापेक्षया तु गणधराणामात्मागमस्तच्छिष्याणामनन्तरागमस्तदन्येषां परम्परागमः, गुणप्रमाणानन्तरं [4]नयप्रमाणावसरः, तस्य चेदानीं पृथक्त्वानु-

१ °द्वयक्रमो° आ. इ.। २ अत्र सर्वेऽपि व्यवस्थिताङ्का न दृश्यन्ते आ. इ.। ३ °रागमशिष्याणां। सा. ४ वस्तुनः पर्यायाणां संभवतां निगमनम्।

योगे नास्ति समवतारो, भवेद्वा पुरुषापेक्षया, तथा चोक्तम्–"मूं[1]ढनइयं सु[2]यं कालियं तु ण णया स[3]मोरयंति इहं। अपुहुत्ते समोयारो णत्थि पु[4]हुत्ते समोयारो ॥१॥" तथा "आ[5]सज्ज उ सो[6]यारं नए नयविसारउ बूया," संख्याप्रमाणं त्वष्टधा–नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालपरिमाणपर्यवभावभेदात् , तत्रापि परिमाणसंख्यायां समवतारः, सापि कालिकदृष्टिवादभेदात् द्विधा, तत्रास्य कालिकपरिमाणसंख्यायां समवतारः, तत्राप्यङ्गानङ्गयोरङ्गप्रविष्टे समवतारः,पर्यवसंख्यायां त्व[7]नन्ताः पर्यवाः, तथा संख्येयान्यक्षराणि, संख्येयाः संघाताः, संख्येयानि पदानि, संख्येयाः पादाः, संख्येयाः श्लोकाः, संख्येया गाथाः, संख्येया वेढाः, संख्येयान्यनुयोगद्वाराणि। साम्प्रतं वक्तव्यतायाः समवतारश्चिन्त्यते–सा च स्वपरसमयतदुभयभेदात्त्रिधा, तत्रेदमध्ययनं त्रिविधायामपि समवतरति। अर्थाधिकारो द्वेधा–अध्ययनार्थाधिकार उद्देशार्थाधिकारश्च, तत्राध्ययनार्थाधिकारोऽभिहितः, उद्देशार्थाधिकारं तु गाथान्तरितं निर्युक्तिकृद्वक्ष्यति। साम्प्रतं निक्षेपावसरः, स च त्रिधा–ओघनिष्पन्नो नामनिष्पन्नः सूत्रालापकनिष्पन्नश्च, तत्रौघनिष्पन्नेऽध्ययनं, तस्य च निक्षेप आवश्यकादौ प्रबन्धेनाभिहित एव, नामनिष्पन्ने तु समय इति नाम, तन्निक्षेपार्थं निर्युक्तिकार आह—

ना[1]मं ठ[2]वणा द[3]विए खेत्ते[4] का[5]ले कुतित्थ[6]संग[7]ारे। कु[8]लगण[9]संक[10]रं[11]गंडी बोद्धव्वो[8] भा[12]वसमए य ॥२९॥

नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालकुतीर्थसंगारकुलगणसंकरगण्डीभावभेदात् द्वादशधा समयनिक्षेपः, तत्र नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यसमयो

सा. १ मूढनयिकं (नयशून्यं) श्रुतं कालिकं तु न नयाः समवतरन्तीह । अपृथक्त्वे समवतारो नास्ति पृथक्त्वे समवतारः ॥१॥ २ सूय इ. । ३ समोयरंति आ. इ. । ४ °पुहुत्थो आ. । ५ आसाद्य तु श्रोतारं नयान् नयविशारदो ब्रूयात् ॥ ६ सोतारं णए णय° आ. । ७ × अनंताः पर्यायाः आ. । ८ बोधव्वे अ. ।

द्रव्यस्य सम्यगयनं-परिणतिविशेषः-स्वभाव इत्यर्थः, तद्यथा-जीवद्रव्यस्योपयोगः पुद्गलद्रव्यस्य मूर्तत्वं धर्माधर्माकाशानां गतिस्थित्य-वगाहदानलक्षणः,अथवा यो यस्य द्रव्यस्यावसरो-द्रव्यस्योपयोगकाल इति, तद्यथा-"वर्षासु लवणममृतं शरदि जलं गोपयश्च हेमन्ते। शिशिरे चामलकरसो घृतं वसन्ते गुडश्चान्ते ॥१॥" क्षेत्रसमयः-क्षेत्रम्-आकाशं,तस्य समयः-स्वभावः, यथा "एगेणवि से पुण्णे दोहिवि पुण्णे सयंपि माएज्ञा। लक्खसएणवि पुण्णे कोडिसहस्संपि माएज्ञा ॥१॥" यदिवा देवकुरुप्रभृतीनां क्षेत्राणामीदृशोऽनुभावो यदुत तत्र प्राणिनः सुरूपा नित्यसुखिनो निर्वैराश्च भवन्तीति, क्षेत्रस्य वा परिकर्मणावसरः क्षेत्रसमय इति, कालसमयस्तु सुषमादेरनुभावविशेषः, उत्पलपत्रशतभेदाभिव्यङ्ग्यो वा कालविशेषः कालसमय इति, अत्र च द्रव्यक्षेत्रकालप्राधान्यविवक्षया द्रव्यक्षेत्रकालसमयता द्रष्टव्येति, कुतीर्थसमयः पाखण्डिकानामात्मीयात्मीय आगमविशेषः तदुक्तं वाऽनुष्ठानमिति, संगारः-संकेतस्तद्रूपः समयः संगारसमयः, यथा सिद्धार्थसारथिदेवेन पूर्वकृतसंगारानुसारेण गृहीतहरिशिवो बलदेवः प्रतिबोधित इति, कुलसमयः-कुलाचारो यथा शकानां पितृशुद्धिः आभीरकाणां मन्थनिकाशुद्धिः, गणसमयो यथा मल्लानामयमाचारो-यथा यो ह्यनाथो मल्लो म्रियते स तैः संस्क्रियते, पतितश्चोद्ध्रियत इति, संकरसमयस्तु संकरो-भिन्नजातीयानां मीलकस्तत्र च समयः-एकवाक्यता, यथा वाममार्गादावनाचारप्रवृत्तावपि गुप्तिकरणमिति, गण्डीसमयो-यथा शाक्यानां भोजनावसरे गण्डीताडनमिति, भावसमयस्तु नोआगमत इदमेवाध्ययनम्, अनेनैवात्राधिकारः, शेषाणां तु शिष्यमतिविकासार्थमुपन्यास इति ॥२९॥ साम्प्रतं प्रागुपन्यस्तोद्देशार्थाधिकाराभिधित्सयाऽऽह-

सा० १ कालओ भमरो सुगंधं चंदणादि तित्तो निंबो कक्खडो पाहाणो चू०। २ तथा आ. इ.। सा. ३ एकेनापि स पूर्णो द्वाभ्यामपि पूर्णः शतमपि मायात्। लक्षशतेनापि पूर्णः कोटीसहस्रमपि मायात् ॥१॥ ४ पुन्ने इ.। ५ °यमाचारो ××× यो° इ.। ६ °स्तत्र × समयः इ.।

महपंचभूय एकप्पए य तज्जीवतस्सरीरे य । तहय अगारगवाती[1] अत्तच्छट्ठो[2] अफलवादी ॥३०॥
बीएनियईवाओ अण्णाणिय तहय नाणवाईओ । कम्मं चयं न गच्छइ चउव्विहं भिक्खुसमयंमि ॥३१॥[3]
तइए आहाकम्मं कडवाई जह य ते य वाईओ । किच्चुवमा य चउत्थे परप्पवाई अविरएसु ॥३२॥

अस्याध्ययनस्य चत्वार उद्देशकाः, तत्राद्यस्य षडर्थाधिकारा आद्यगाथयाऽभिहिताः, तद्यथा पञ्च भूतानि—पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशाख्यानि महान्ति च तानि सर्वलोकव्यापित्वात् भूतानि च महाभूतानि इत्ययमेकोऽर्थाधिकारः । तथा चेतनाचेतनं सर्वमेवात्मविवर्त इत्यात्माऽद्वैतवादः प्रतिपाद्यत इत्यर्थाधिकारो[5] द्वितीयः । स चासौ जीवश्च तज्जीवः—कायाकारो भूतपरिणामः, तदेव च शरीरं जीवशरीरयोरैक्यमितियावदिति तृतीयोऽर्थाधिकारः । तथाऽकारको जीवः सर्वस्याः पुण्यपापक्रियाया इत्येवंवादीति चतुर्थो[6]ऽधिकारः । तथाऽऽत्मा षष्ठ इति पञ्चानां भूतानामात्मा षष्ठः प्रतिपाद्यत इत्ययं पञ्चमोऽर्थाधिकारः । तथाऽफलवादीति न विद्यते कस्याश्चित् क्रियायाः फलमित्येवंवादी च प्रतिपाद्यत इति षष्ठोऽर्थाधिकार इति । द्वितीयोद्देशके[7] चत्वारोऽर्थाधिकाराः, तद्यथा—नियतिवादस्तथाऽज्ञानिकमतं ज्ञानवादी च प्रतिपाद्यते, कर्म चयम्[8]—उपचयं चतुर्विधमपि न गच्छति 'भिक्षुसमये' शाक्यागमे इति चतुर्थो[9]ऽर्थाधिकारः । चातुर्विध्यं तु कर्मणो[10]ऽविज्ञोपचितम्—अविज्ञानमविज्ञा तयोपचितम् अनाभोगकृतमित्यर्थः, यथा मातुः स्तनाद्याक्रमणेन पुत्रव्यापत्तावप्यनाभोगान्न कर्मो[11]पचीयते, तथा परिज्ञानं परिज्ञा—केवलेन मनसा पर्यालोचनं, तेनापि कस्यचित्प्राणिनो व्यापादनाभावात् कर्मोपचयाभाव इति, तथा

---

१ अकारयवादी अ. आ. । २ आयछट्ठो अ. आ. । ३ ॥३४॥ अ. आ. । ४ ॥३५॥ अ आ । ५ इति द्वितीयोऽर्थाधिकारः आ. इ. । ६ चतुर्थोऽर्थाधिकारः आ.इ. । ७ द्वितीये तूद्देशके आ. इ. । ८ कर्म च चयमुपचयं इ. । ९ चतुर्थोधिकारः आ. । १० कर्मण अविज्ञौप आ. कर्मणः अविज्ञौप. इ. । ११ कर्मोपचीयत इति आ. ।

ईरणमीर्या-गमनं तेन जनितमीर्याप्रत्ययं तदपि कर्मोपचयं न गच्छति, प्राणिव्यापादनाभिसन्धेरभावादिति, तथा स्वप्नान्तिकं-स्वप्न-प्रत्ययं कर्म नोपचीयते, यथा स्वप्नभोजने तृप्त्यभाव इति। तृतीयोद्देशके त्वयमर्थाधिकारः, तद्यथा-आधाकर्मगतविचारस्तद्भोजिनां च दोषोपदर्शनमिति, तथा कृतवादी च भण्यते, तद्यथा-ईश्वरेण कृतोऽयं लोकः, प्रधानादिकृतो वा, यथा च ते प्रवादिन आत्मीयमा-त्मीयं कृतवादं गृहीत्वो[1]त्थितांस्तथा भण्यन्त इति द्वितीयोऽधिकारः, चतुर्थोद्देशकाधिकारस्त्वयं, तद्यथा-अविरतेषु-गृहस्थेषु यानि कृत्या-नि-अनुष्ठानानि स्थितानि तैरसंयमप्रधानैः कर्तव्यैः 'परप्रवादी' परतीर्थिक उपमीयत इति। इदानिमनुगमः, स च द्वेधा-सूत्रानुगमो निर्युक्त्यनुगमश्च, तत्र निर्युक्त्यनुगमस्त्रिविधः, तद्यथा-निक्षेपनिर्युक्त्यनुगम उपोद्घातनिर्युक्त्यनुगमः सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यनुगमश्च। तत्र निक्षेपनिर्युक्त्यनुगमोऽनुगतः, ओघनामनिष्पन्ननिक्षेपयोरन्त[2]र्गतत्वात्, तथाच [3]वक्ष्यमाणस्य सूत्रस्य निक्षेप्स्यमानत्वात्। उपोद्घात-निर्युक्त्यनुगमस्तु षड्विंशतिद्वारप्रतिपादकाद्गाथाद्वयादवसेयः, तच्चेदम्-'उद्देसे [4]निद्देसे य' इ[5]त्यादि। सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यनुगमस्तु सूत्रे सति सं[6]भवति, सूत्रं च सूत्रानुगमे, स चावसरप्राप्त एव, तत्रास्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमु[7]च्चारणीयं, तच्चेदम्—

सा० १-°त्वोपस्थिताः प्र.। २ यो××र्गत० आ.। ३ वक्ष्यमाणश्च सू० आ. इ.। सा० ४ उद्देसे निद्देसे य निग्गमे खित्त काल पुरिसे य। कारण पच्चय लक्खण नए समोयारणाणुमए ॥१॥ किं कइविहं कस्स कहिं केसु कहं किच्चिरं हवइ कालं। कइसंतरमविरहिअं भवागरिस फासण निरुत्ती ॥२॥ उद्देशो निर्देशश्च निर्गमः क्षेत्रं कालः पुरुषश्च। कारणं प्रत्ययो लक्षणं नयः समवतारोऽनुमतम् ॥१॥ किं कतिविधं कस्य क्व केषु कथं कियच्चिरं भवति कालम्। कति सान्तरमविरहितं भवा आकर्षाः स्पर्शना निरुक्तिः ॥२॥ ५ प्रसूतिर्निर्गमनमित्यर्थः-मेघच्छन्ने यथा चन्द्रो, न राजति नभस्तले। उपोद्घातं विना शास्त्रं, तथा न भ्राजते विधौ ॥१॥ ६ सति × भवति, आ. इ.। सा. ७ संहिता लक्षिता 'संहिया य पयं चेव पयत्थो पयविग्गहो। चालणा य पसिद्धी य छव्विहं विद्धि लक्षणम् ॥१॥

[1]बुज्झि[2]ज्जात्ति तिउट्टिज्जा, बंधणं परिजाणिया। किमाह बंधणं [3]वीरो, किंवा जाणं तिउट्टई ? ॥१॥

अस्य संहितादिक्रमेण व्याख्या–शुध्येतेत्यादि, सूत्रमिदं सूत्रकृताङ्गादौ वर्तते, अस्य चाचाराङ्गेन सहायं संबन्धः, तद्यथा–आचाराङ्गेऽभिहितम्–'जीवो छक्कायपरूवणा य तेसिं वहेण बंधोत्ति' इत्यादि तत्सर्वं बुध्येतेत्यादि, यदिवेह केषाञ्चिद्वादिनां ज्ञानादेव मुक्त्यवाप्तिरन्येषां क्रियामात्रात्, जैनानां तूभाभ्यां निःश्रेयसाधिगम इत्येतदनेन श्लोकेन प्रतिपाद्यते। तत्रापि ज्ञानपूर्विका क्रिया फलवती भवतीत्यादौ बुध्येतेत्यनेन ज्ञानमुक्तं त्रोटयेदित्यनेन च क्रियोक्ता, तत्रायमर्थो–'बुध्येत' अवगच्छेत् बोधं विदध्यादित्युपदेशः, किंपुनस्तद्बुध्येतात आह–'बन्धनं' बध्यते जीवप्रदेशैरन्योऽन्यानुवेधरूपतया व्यवस्थाप्यत इति बन्धनं–ज्ञानावरणाद्यष्टप्रकारं कर्म तद्धेतवो वा मिथ्यात्वाविरत्यादयः परिग्रहारम्भादयो वा, न च बोधमात्रादभिलषितार्थावाप्तिर्भवतीत्यतः क्रियां दर्शयति–तच्च बंधनं परिज्ञाय विशिष्टया क्रियया–संयमानुष्ठानरूपया 'त्रोटयेद्' अपनयेदात्मनः पृथक्कुर्यात्परित्यजेद्वा, एवं चाभिहिते जम्बूस्वाम्यादिको विनेयो बन्धादिस्वरूपं विशिष्टं जिज्ञासुः पप्रच्छ–'किंमाह' किमुक्तवान् बन्धनं 'वीरः' तीर्थकृत् ?, किंवा 'जानन्' अवगच्छंस्तद्बन्धनं त्रोटयति ततो वा त्रुट्यति ?, इति श्लोकार्थः ॥१॥ [6]बन्धनप्रश्नस्वरूपप्रश्ननिर्वचनायाह–

चित्तमं[7]तमचित्तं वा, परिगिज्झ [8]किसामवि। अ[9]न्नं वा अणुजा[10]णाइ, एवं दुक्खा ण [11]मुंचइ ॥२॥

---

१ नमः श्रीवर्द्धमानाय अ. । अर्हम् आ. । २ °ज× तिउ° अ. आ. । ३ वीरे अ. आ. । ४ °नुबंधरू° आ. । ५ सा० एकान्तपरोक्षे चू० । ६ बन्धनप्रश्न ××××× निर्वचनायाह–आ. इ. । ७ °मत्तम° अ. । ८ कसामवि अ. । ९ अणगं अ. । १० °जाणाति अ. °जाणाए आ. । ११ मुचती अ. ।

इह बन्धनं कर्म तद्धेतवो वाऽभिधीयन्ते, तत्र न निदानमन्तरेण निदानिनो जन्मेति निदानमेव दर्शयति, तत्रापि सर्वारम्भाः दर्शयति, तत्रापि सर्वारम्भाः कर्मोपादानरूपाः प्रायश आत्मात्मीयग्रहोत्थाना इतिकृत्वाऽऽदौ परिग्रहमेव दर्शितवान्, चित्तम्—उपयोगो ज्ञानं तद्विद्यते यस्य तच्चित्तवत्—द्विपदचतुष्पदादि, ततोऽन्यदचित्तवत्—कनकरजतादि, तदुभयरूपमपि परिग्रहं परिगृह्य 'कृशमपि' स्तोकमपि तृणतुषादिकमपीत्यर्थः, यदिवा कसनं कसः—परिग्रहग्रहणबुद्ध्या जीवस्य गमनपरिणाम इतियावत्, तदेवं स्वतः परिग्रहं परिगृह्यान्यान्वा ग्राहयित्वा गृण्हतो वाऽन्याननुज्ञाय दुःखयतीति दुःखम्—अष्टप्रकारं कर्म तत्फलं वा असातोदयादिरूपं तस्मान्न मुच्यत इति, परिग्रहाग्रह एव परमार्थतोऽनर्थमूलं भवति, तथा चोक्तम्—"ममाहमिति चैष[2] यावदभिमानदाहज्वरः, कृतान्तमुखमेव तावदिति न प्रशान्त्युन्नयः। यशःसुखपिपासितैरयमवसानर्थोत्तरैः, परैरपसदः कुतोऽपि कथमप्यपा[3]क्रुष्यते ॥१॥" [4]तथाच—"द्वेषस्यायतनं धृतेरपचयः क्षान्तेः प्रतीपो विधिर्व्याक्षेपस्य सुहृन्मदस्य भवनं ध्यानस्य कष्टो रिपुः। दुःखस्य प्रभवः सुखस्य निधनं पापस्य वासो निजः, प्राज्ञस्यापि परिग्रहो ग्रह इव क्लेशाय नाशाय च ॥२॥" तथाच—परिग्रहेष्वप्राप्तनष्टेषु काङ्क्षाशोकौ, प्राप्तेषु च रक्षणमुपभोगे चातृ[5]प्तिरित्येवं परिग्रहे सति दुःखात्मकाद्बन्धनान्न मुच्यत इति ॥२॥ परिग्रहवतश्चावश्यंभाव्यारम्भस्तस्मिंश्च प्राणातिपात इति दर्शयितुमाह—

स[6]यं तिवायए पाणे, अदुवाऽन्नेहिं घायए। हणंतं वाऽणुजाणाइ, वेरं वड्ढइ[7] अप्पणो ॥३॥

जस्सिं कुले समुप्पन्ने, जेहिं वा संवसे नरे। ममाइ लुप्पई[8] बाले, अण्णे[9] अण्णेहि मुच्छिए ॥४॥

सा. १ कर्मणो बन्धनत्वपक्षे। २ °वैष° आ.। ३ °वाक्रुष्यते आ.। ४ तथा × आ. ५ चावितृप्ति आ.। ६ सेयं अ.। ७ वट्टति अ.। ८ ममाती लुप्पती अ. आ.। ९ अन्नमन्नेहिं अ. आ.।

यदिवा–प्रकारान्तरेण बन्धनमेवाह—'सयं तीत्यादि', स परिग्रहवानसंतुष्टो भूयस्तदर्जनपरः समर्जितोपद्रवकारिणि च द्वेषमुपगतस्ततः 'स्वयम्' आत्मना 'त्रिभ्यो' मनोवाक्कायेभ्य आयुर्बलशरीरेभ्यो वा 'पातयेत्'–च्यावयेत् 'प्राणान्'–प्राणिनः, अकारलोपाद्वा अतिपातयेत् प्राणानिति, प्राणाश्चामी—"पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च, उच्छ्वासनिश्वासमथान्यदायुः। प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्तास्तेषां वियोजीकरणं तु हिंसा ॥१॥" तथा स परिग्रहाग्रही न केवलं स्वतो व्यापादयति अपरैरपि घातयति घ्नतश्चान्यान् समनुजानीते, तदेवं कृतकारितानुमतिभिः प्राण्युपमर्दनेन जन्मान्तरशतानुबन्ध्यात्मनो वैरं वर्धयति, ततश्च दुःखपरम्परारूपाद् बन्धनान्न मुच्यत इति। प्राणातिपातस्य चोपलक्षणार्थत्वात् मृषावादादयोऽपि बन्धहेतवो द्रष्टव्या इति ॥३॥ पुनर्बन्धनमेवाश्रित्याह–'जस्सि' मित्यादि, 'यस्मिन्' राष्ट्रकूटादौ कुले जातो 'यैर्वा' सहपांसुक्रीडितैर्वयस्यैर्भार्यादिभिर्वा सह संवसेन्नरः, तेषु मातृपितृभ्रातृभगिनीभार्यावयस्यादिषु ममायमिति ममत्ववान् स्निह्यन् 'लुप्यते' विलुप्यते, ममत्वजनितेन कर्मणा नारकतिर्यङ्मनुष्यामरलक्षणे संसारे भ्रम्यमाणो बाध्यते–पीड्यते। कोऽसौ?—'बालः' अज्ञः, सदसद्विवेकरहितत्वाद्, अन्येष्वन्येषु च 'मूर्छितो' गृद्धोऽध्युपपन्नो, ममत्वबहुल इत्यर्थः, पूर्वं तावन्मातापित्रोस्तदनु भार्यायां पुनः पुत्रादौ स्नेहवानिति ॥४॥ साम्प्रतं यदुक्तं प्राक्–'किं वा जानन् बन्धनं त्रोटयतीति' अस्य निर्वचनमाह—

वित्तं सोयरिया चेव सव्वमेयं न ताणइ। संखाए जीविअं चेवं, कम्मुणा उ तिउट्टइ ॥५॥

१ °स्तदार्ज° आ. इ.। २ °गतः xxx स्व° आ. °गतः xxx स्व° इ.। सा. ३ अष्टप्रकारं कर्म चू०। ४ द्वाभ्यामाकलितः चू०। ५ °मेतं न ताणए आ.। ६ कम्मुणा उ तिउट्टतिए अ. कम्मणा उ तिउट्टइं आ.।

'वित्तं' द्रव्यं, तच्च सचित्तमचित्तं वा, तथा 'सो[1]दर्या' भ्रातृभगिन्यादयः, सर्वमपि च 'एतद्' वित्तादिकं संसारान्तर्गतस्यासुमतोऽतिकटुकाः शारीरमा[2]नसीर्वेदनास्समनुभवतो न 'त्राणाय' रक्षणाय भवतीत्येतत् 'संख्याय'–ज्ञात्वा तथा 'जीवितं च' प्राणिनां स्वल्पमिति संख्याय–ज्ञपरिज्ञया, प्रत्याख्यानपरिज्ञया तु सचित्ताचित्तपरिग्रहप्राण्युपघातस्वजनस्नेहादीनि बन्धनस्थानानि प्रत्याख्याय 'कर्मणः' सकाशात् 'त्रुट्यति' अपगच्छत्यसौ, तुरवधारणे, त्रुटयेदेवेति, यदिवा–'कर्मणा' क्रियया संयमानुष्ठानरूपया बन्धनात्त्रुटयति, कर्मणः पृथग्भवतीत्यर्थः ॥५॥ अध्ययनार्थाधिकाराभिहितत्वात्स्वसमयप्रतिपादनानन्तरं परसमयप्रतिपादनाभिधित्सयाऽऽह—

एए गंथे विउक्कम्म, एगे समणमाहणा। अयाणंता विउस्सित्ता, सत्ता का[3]मेहि माणवा ॥६॥

'ए[4]तान्' अनन्तरोक्तान् ग्रन्थान् 'व्युत्क्रम्य' परित्यज्य स्वरुचिविरचितार्थेषु ग्रन्थेषु सक्ताः[5] 'सिताः' बद्धाः, एके न सर्वे इति संबन्धः। ग्रन्थातिक्रमश्चैते[6]षां तदुक्तार्थानभ्युपगमात्, अनन्तरग्रन्थेषु चायमर्थोऽभिहितः, तद्यथा–जीवास्तित्वे सति ज्ञानावरणीयादिकर्मबन्धनं, तस्य हेतवो मिथ्यात्वाविरतिप्रमादादयः परिग्रहारम्भादयश्च, तत्रोटनं च सम्यग्दर्शनाद्युपायेन, मोक्षसद्भावश्चेत्येवमादिकः, तदेवमेके 'श्रमणाः' शाक्यादयो बार्हस्पत्यामतानुसारिणश्च ब्रा[7]ह्मणाः 'एतान्' अर्हदुक्तान् ग्रन्थानतिक्रम्य परमार्थमजानाना विविधम्–अनेकप्रकारम् उत्–प्राबल्येन सिता–बद्धाः स्वसमयेष्वभिनिविष्टाः। तथाच शाक्या एवं प्रतिपादयन्ति, यथा–सुखदुःखेच्छाद्वेषज्ञानाधारभूतो नास्त्यात्मा कश्चित्, किंतु विज्ञानमे[8]वैकं विवर्तत इति, क्षणिकाः सर्वसंस्कारा इत्यादि, तथा सांख्या एवं व्यवस्थिताः–सत्त्व-

१ सौदर्या इ.। सा. २ °नसवेदनाः प्र.। °नसावेदनाः स° इ.। ३ कामेहिं अ. आ.। ४ एतानंत° आ. इ.। ५ 'सिताः' सक्ता आ. इ.। ६ °श्चतेषां आ. इ.। सा. ७ परिव्राजकादयः अथवा समणलिंगत्था माहणा समणोवासगा समणा एव माहणा। ८ °वैवं आ.।

रजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान्, महतोऽहङ्कारः, तस्माद्गणश्च षोडशकः, [1]तस्मात्षोडशकादपि पञ्च भूतानि, चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमित्यादि, वैशेषिकाः पुनराहुः–'द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः षट् पदार्थाः' इति, तथा नैयायिकाः–प्रमाणप्रमेयादीनां पदार्थानामन्वयव्यतिरेकपरिज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः[2] इति व्यवस्थिताः, तथा मीमांसकाः–चोदनालक्षणो धर्मो, न च सर्वज्ञः कश्चिद्विद्यते, मुक्त्यभावश्चेत्येवमाश्रिताः, चार्वाकास्त्वेवमभिहितवन्तो, यथा–नास्ति कश्चित्परलोकयायी भूतपञ्चकाद्व्यतिरिक्तो जीवाख्यः पदार्थो, नापि पुण्यपापे स्त इत्यादि। एवं चाङ्गीकृत्यैते लोकायतिकाः 'मानवाः'–पुरुषाः, 'सक्ता'–गृद्धा अध्युपपन्नाः, 'कामेषु'–इच्छामदनरूपेषु, तथाचोचुः–"एतावानेव पु[3]रुषो, यावानिन्द्रियगोचरः। भद्रे! वृकपदं पश्य, यद्वदन्त्यबहुश्रुताः॥१॥ पिब खाद च साधु [4]शोभने!, यदतीतं वरगात्रि! तन्न ते। नहि भीरु! गतं निवर्तते, समुदयमात्रमिदं कलेवरम्॥२॥" एवं ते तत्रान्तरीयाः स्वसमयार्थवासितान्तःकरणाः सन्तो भगवदर्हदुक्तं ग्रन्थार्थमज्ञातपरमार्थाः समतिक्रम्य स्वकीयेषु ग्रन्थेषु सिताः–संबद्धाः कामेषु च सक्ता इति॥६॥ साम्प्रतं विशेषेण सूत्रकार एव चार्वाकमताश्रित्याऽऽह–

संति पंच महब्भूया, इहमेगेसिमाहिया[5]। पुढवी आउ तेऊ वा[6], वाउ आगासपंचमा॥७॥

एए पंच महब्भूया, तेब्भो एगोत्ति आहिया। अह [7]तेसिं विणासेणं, विणासो होइ देहिणो[8]॥८॥

'सन्ति' विद्यन्ते महान्ति च तानि भूतानि च महाभूतानि, सर्वलोकव्यापित्वान्महत्त्वविशेषणम्, अनेन च भूताभाववादिनिरा-

१ तस्मादपि षोडशात्पंचत्य पंचभूतानि आ. इ.। २ गम इति ×××× तथा आ.। सा. ३ लोकोऽयं। ४ लोभने आ.। ५ °सिआहिया अ. °सिमाहिया आ। ६ °तेउ×वाऊ° अ. आ.। ७ एसिं विणासेउ आ.। ८ देहिणं आ.।

निर्युक्तिवृत्ति-
दीपिकायुतं
श्रीमत्सूत्र-
कृताङ्गम्

॥१५॥

करणं द्रष्टव्यम्, 'इह' अस्मिन् लोके 'एकेषां' भूतवादिनाम् 'आख्यातानि' प्रतिपादितानि तत्तीर्थकृता तैर्वा भूतवादिभिर्बार्हस्पत्यमतानुसारिभिराख्यातानि–स्वयमङ्गीकृतान्यन्येषां च प्रतिपादितानि। तानि चामूनि, तद्यथा–पृथिवी कठिनरूपा, आपो द्रवलक्षणाः, तेज उष्णरूपं, वायुश्चलनलक्षणः, आकाशं शुषिरलक्षणमिति, तच्च पञ्चमं येषां तानि तथा, एतानि साङ्गोपाङ्गानि[1] प्रसिद्धत्वात् प्रत्यक्षप्रमाणावसेयत्वाच्च न कैश्चिदपह्नोतुं शक्यानि। ननु च साङ्ख्यादिभिरपि भूतान्यभ्युपगतान्येव[2], तथाहि सांख्यास्तावदेवमूचुः[3]–सत्त्वरजस्तमोरूपात्प्रधानान्महान् बुद्धिरित्यर्थः, महतोऽहङ्कारः–अहमितिप्रत्ययः, तस्मादप्यहङ्कारात्षोडशको गण उत्पद्यते, स चायम्–पञ्च स्पर्शनादीनि बुद्धीन्द्रियाणि, वाक्पाणिपादपायूपस्थरूपाणि पञ्च[4] कर्मेन्द्रियाणि, एकादशं मनः, पञ्च तन्मात्राणि, तद्यथा–गन्धरसरूपस्पर्शशब्दतन्मात्राख्यानि, तत्र गन्धतन्मात्रात्पृथिवी गन्धरसरूपस्पर्शवती, रसतन्मात्रादापो रसरूपस्पर्शवत्यः, रूपतन्मात्रात्तेजो रूपस्पर्शवत्, स्पर्शतन्मात्राद्वायुः स्पर्शवान्, शब्दतन्मात्रादाकाशं गन्धरसरूपस्पर्शवर्जितमुत्पद्यत इति। तथा वैशेषिका अपि भूतान्यभिहितवन्तः, तद्यथा–पृथिवीत्वयोगात्पृथिवी, सा च परमाणुलक्षणा नित्या, द्व्यणुकादिप्रक्रमनिष्पन्नकार्यरूपतया त्वनित्या, चतुर्दशभिर्गुणै रूपरसगन्धस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वद्रवत्ववेगाख्यैरुपेता, तथाऽप्त्वयोगादापः, ताश्च रूपरसस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वस्वाभाविकद्रवत्वस्नेहवेगवत्यः, तासु च रूपं शुक्लमेव, रसो मधुर एव, स्पर्शः शीत एवेति; तेजस्त्वाभिसंबन्धात्तेजः, तच्च रूपस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वनैमित्तिकद्रवत्ववेगाख्यैरेकादशभिर्गुणैर्गुणवत्, तत्र रूपं शुक्लं भास्वरं च, स्पर्श उष्ण एवेति, वायुत्वयोगाद्वायुः, स चानुष्णशीतस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्ववेगा-

समयाध्ययने
परसमयेषु
चार्वाक-
पूर्वपक्षः

॥१५॥

सा. १ आगोपालाङ्गना प्र०। °चागोपालांगना° आ. इ.। २ °गतान्येव आ. इ.। ३ °मुचुरुस्तद्यथासत्त्व° आ. इ.। ४ °चपंच° आ.।

ख्यैर्नवभिर्गुणैर्गुणवान् हृत्कम्पशब्दानुष्णशीतस्पर्शलिङ्गः, आकाशमिति पारिभाषिकी संज्ञा एकत्वात्तस्य, तच्च संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागशब्दाख्यैः षड्भिर्गुणैर्गुणवत् शब्दलिङ्गं चेति, एवमन्यैरपि वादिभिर्भूतसद्भावाश्रयणे किमिति लोकायतिकमतापेक्षया भूतपञ्चकोपन्यास इति ? उच्यते–सांख्यादिभिर्हि प्रधानात्साहङ्कारिकं तथा कालदिगात्मादिकं चान्यदपि वस्तुजातमभ्युपेयते, लोकायतिकैस्तु भूतपञ्चकव्यतिरिक्तं नात्मादिकं किञ्चिदभ्युपगम्यते इत्यतस्तन्मताश्रयणेनैव सूत्रार्थो व्याख्यायत इति ॥७॥ यथा चैतत् तथा दर्शयितुमाह–'एए पंच महब्भूया' इत्यादि, 'एतानि' अनन्तरोक्तानि पृथिव्यादीनि पञ्च महाभूतानि यानि 'तेभ्यः' कायाकारपरिणतेभ्यः 'एकः' कश्चिच्चिद्रूपो भूताव्यतिरिक्त आत्मा भवति, न भूतेभ्यो व्यतिरिक्तोऽपरः कश्चित्परपरिकल्पितः परलोकानुयायी सुखदुःखभोक्ता जीवाख्यः पदार्थोऽस्तीत्येवमाख्यातवन्तस्ते, तथा(ते)हि एवं प्रमाणयन्ति–न पृथिव्यादिव्यतिरिक्त आत्माऽस्ति, तद्ग्राहकप्रमाणाभावात् , प्रमाणं चात्र प्रत्यक्षमेव, नानुमानादिकं, तत्रेन्द्रियेण साक्षादर्थस्य संबन्धाभावाद्व्यभिचारसंभवः, सति च व्यभिचारसंभवे सदृशे च बाधासंभवे तल्लक्षणमेव दूषितं स्यादिति सर्वत्रानाश्वासः, तथाचोक्तम्–"हस्तस्पर्शादिवान्धेन, विषमे पथि धावता । अनुमानप्रधानेन, विनिपातो न दुर्लभः ॥१॥" अनुमानं चात्रोपलक्षणमागमादीनामपि, साक्षादर्थसंबन्धाभावाद्धस्तस्पर्शनेनेव प्रवृत्तिरिति । तस्मात्प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणं, तेन च भूतव्यतिरिक्तस्यात्मनो न ग्रहणं, यत्तु चैतन्यं तेषूपलभ्यते, तद्भूतेष्वेव कायाकारपरिणतेष्वभिव्यज्यते, मद्याङ्गेषु समुदितेषु मदशक्तिवदिति, तथा–न भूतव्यतिरिक्तं चैतन्यं, तत्कार्यत्वात् , घटादिवदिति । तदेवं भूतव्यतिरि-

सा. १ हृति० प्र० हरणमित्यर्थः । २ हृत्तिकम्प° आ. इ. । ३ व्याख्यात इति ॥छा॥ आ. इ. । ४ इत्यादिश्लोकः° आ. इ. । ५ °तानि° इ. । ६ तथाहि त एवं आ. इ. । ७ तत्रेंद्रियैः सार्द्धं अर्थ° आ. तत्रेंद्रियेण सार्द्धं अर्थ° इ. । ८ वाक्यपदीये प्र. का. श्लो. ४२ । ९ °र्शेन×च प्र० आ °र्शनै×वप्र° इ. ।

क्तस्याऽऽत्मनोऽभावाद्भूतानामेव चैतन्याभिव्यक्तिः, जलस्य बुद्बुदाभिव्यक्तिव[1]दिति। केषाञ्चिल्लोकायतिकानामाकाशस्यापि भूतत्वेनाभ्युपगमाद्भूतपञ्चकोपन्यासो न दोषायेति। ननु च यदि भूतव्यतिरिक्तोऽपरः कश्चिदात्माख्यः पदार्थो न विद्यते, कथं तर्हि मृत इति व्यपदेश इत्याशङ्क्याह–अथैषां कायाकारपरिणतौ चैतन्याभिव्यक्तौ सत्यां तदूर्ध्वं तेषामन्यतमस्य 'विनाशे' अपगमे वायोस्तेजसश्चोभयोर्वा 'देहिनो' देवदत्ताख्यस्य 'विनाशः' अपगमो भवति, ततश्च मृत इति व्यपदेशः प्रवर्तते, न पुनर्जीवापगम इति भूताव्यतिरिक्तचैतन्यवादिपूर्वपक्ष इति॥ अत्र प्रतिसमाधानार्थं निर्युक्तिकृदाह—

पंचण्हं संजोए अण्णगुणाणं च चेय[2]णाइगुणो। पंचिं[3]दियठाणाणं ण[4] अण्णमुणियं मुणइ अण्णो[5] ॥३३॥[6]

'पञ्चानां' पृ[7]थिव्यादीनां भूतानां 'संयोगे' कायाकारपरिणामे चैतन्यादिकः आदिशब्दात् भाषाचङ्क्रमणादिकश्च गुणो न भवतीति प्रतिज्ञा, अन्यादयस्त्वत्र हेतुत्वेनोपात्ताः, दृष्टान्तस्त्वभ्यूह्यः, सुलभत्वात्तस्य नोपादानं। तत्रेदं चार्वाकः प्रष्टव्यः—यदेतद्भूतानां संयोगे चैतन्यमभिव्यज्यते तत्किं तेषां संयोगेऽपि स्वातन्त्र्य एवाऽऽहोस्वित्परस्परापेक्षया पारतन्त्र्ये इति?, किंचातः?, न तावत्स्वातन्त्र्ये, यत आह–'अण्णगुणाणं चे'ति चैतन्यादन्ये [8]गुणा येषां तान्यन्यगुणानि, तथाहि–आधारकाठिन्यगुणा पृथिवी, द्रवगुणा आपः, पं[9]क्तृगुणं तेजः, चलनगुणो वायुः,अवगाहदानगुणमाकाशमिति, यदिवा प्रागभिहिता गन्धादयः पृथिव्यादीनामेकैकपरिहान्याऽन्ये गुणाश्चैतन्यादिति,तदेवं पृथिव्यादीन्यन्यगुणानि, चशब्दो द्वितीयविकल्पवक्तव्यतासूचनार्थः, चैतन्यगुणे साध्ये पृथिव्यादीनामन्यगुणानां सतां चैतन्यगुणस्य

१ °वत्× के° आ. इ.। २ वेयणायगुणा अ. वेयणायगुणे आ.। ३ °चें° अ.। ४ न आ.। ५ °न्नो अ. आ.। ६ ॥३१॥ अ. आ.। ७ पृथिव्यादीनां×××संयोगे आ.। ८ °गुणो° आ. इ.। ९ °पक्ति° आ. इ.।

पृथिव्यादीनामेकैकस्याप्यभावान्न तत्समुदायाच्चैतन्याख्यो गुणः सिद्ध्यतीति, प्रयोगस्त्वत्र–भूतसमुदायः स्वातन्त्र्ये सति धर्मित्वेनोपादीयते, न तस्य चैतन्याख्यो गुणोऽस्तीति साध्यो धर्मः, पृथिव्यादीनामन्यगुणत्वात् , यो योऽन्यगुणानां समुदायस्तत्र तत्रापूर्वगुणोत्पत्तिर्न भवतीति, यथा सिकतासमुदाये स्निग्धगुणस्य तैलस्य नो[2]त्पत्तिरिति, घटपटसमुदाये वा[3] न स्तम्भाद्याविर्भाव इति, दृश्यते च काये चैतन्यं, तदात्मगुणो भविष्यति न भूतानामिति। अस्मिन्नेव साध्ये हेत्वन्तरमाह–'पञ्चिन्दियठाणाणं'ति पञ्च च तानि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रो[4]त्राख्यानीन्द्रियाणि तेषां स्थानानि–अवकाशास्तेषां चैतन्यगुणाभावान्न भूतसमुदाये चैतन्यम् , इदमत्र हृदयं–लोकायतिकानां हि अपरस्य द्रष्टुरनभ्युपगमादिन्द्रियाण्येव द्रष्टॄणि, तेषां च यानि स्थानानि–उपादानकारणानि तेषामचिद्रूपत्वान्न भूतसमुदाये चैतन्यमिति, इन्द्रियाणां चामूनि स्थानानि, तद्यथा–श्रोत्रेन्द्रियस्याकाशं सुषिरात्मकत्वात् , घ्राणेन्द्रियस्य पृथिवी तदात्मकत्वात् , चक्षुरिन्द्रियस्य तेजस्तद्रूपत्वात् , एवं रसनेन्द्रियस्यापः स्पर्शनेन्द्रिस्य वायुरिति। प्रयोगश्चात्र–नेन्द्रियाण्युपलब्धिमन्ति, तेषामचेतनगुणारब्धत्वात् , यद्यदचेतनगुणारब्धं तत्तदचेतनं, [5]यथा घटपटादीनि, एवमपि च भूतसमुदाये चैतन्याभाव एव साधितो भवति। पुनर्हेत्वन्तरमाह–'ण अण्णमुणियं मुणइ अण्णो'त्ति इहेन्द्रियाणि प्रत्येकभूतात्मकानि, [6]तान्येवापरस्य द्रष्टुरभावाद् द्रष्टॄणि, तेषां च प्रत्येकं स्वविषयग्रहणादन्यविषये चाप्रवृत्तेर्नान्यदिन्द्रियज्ञातमन्यदिन्द्रियं जानातीति, अतो मया पञ्चापि विषया ज्ञाता इत्येवमात्मकः संकलनाप्रत्ययो न प्राप्नोति, अनुभूयते चायं, तस्मादेकेनैव द्रष्ट्रा भवितव्यम् , तस्यैव च चैतन्यं न भूतसमुदायस्येति, प्रयोगः पुनरेवं–न भूतसमुदाये

१ °गुण × तैलस्य आ.। २ °चोत्पत्तिर्न भवति आ. इ.। ३ °वा×स्तं° आ. इ। ४ °त्राक्षानि° आ.। ५ °च यथा° आ। ६ तान्येवचापरस्य आ. इ.।

चैतन्यं, तदारब्धेन्द्रियाणां प्रत्येकविषयग्राहित्वे[1] सति संकलनाप्रत्ययाभावात्, यदि पुनरन्यगृहीतमप्यन्यो गृह्णीयाद् देवदत्तगृहीतं यज्ञदत्तेनापि गृह्येत, न चैतद् दृष्टमिष्टं वेति। ननु च स्वातन्त्र्यपक्षेऽयं दोषः, यदा पुनः परस्परसापेक्षाणां संयोगपारतन्त्र्याभ्युपगमेन भूतानामेव समुदितानां चैतन्याख्यो धर्मः संयोगवशादाविर्भवति, यथा किण्वोदकादिषु मद्याङ्गेषु समुदितेषु प्रत्येकमविद्यमानाऽपि मदशक्तिरिति, तदा कुतोऽस्य दोषस्यावकाश इति ?, अत्रोत्तरं गाथोपात्त[2]चशब्दाक्षिप्तमभिधीयते–यत्तावदुक्तं यथा 'भूतेभ्यः परस्परसव्यपेक्षसंयोगभाग्भ्यश्चैतन्यमुत्पद्यते', तत्र विकल्पयामः–किमसौ संयोगः संयोगिभ्यो भिन्नोऽभिन्नो वा ?, भिन्नश्चेत्षष्ठभूतप्रसंगो, न चान्यत् पञ्चभूतव्यतिरिक्तसंयोगाख्यभूतग्राहकं भवतां प्रमाणमस्ति, प्रत्यक्षस्यैवैकस्याभ्युपगमात्, तेन च तस्याग्रहणात्, प्रमाणान्तराभ्युपगमे च तेनैव जीवस्यापि ग्रहणमस्तु, अथ अभिन्नो भूतेभ्यो संयोगः, तत्राप्येतच्चिन्तनीयं–किं भूतानि प्रत्येकं चेतनावन्त्यचे[3]तनावन्ति वा ?, यदि चेतनावन्ति तदा एकेन्द्रियसिद्धिः, तथा (च) समुदायस्य पञ्चप्रकारचैतन्यापत्तिः, अथाचेतनानि, तत्र चोक्तो दोषो, न हि यद्यत्र प्रत्येकमविद्यमानं तत्तत्समुदाये भवदुपलभ्यते, सिकतासु तैलवदित्यादिना। यदप्यत्रो[4]क्तं–यथा मद्याङ्गेष्वविद्यमानाऽपि प्रत्येकं मदशक्तिः समुदाये प्रादुर्भवतीति, तदप्ययुक्तं, यतस्तत्र किण्वादिषु या च यावती च शक्तिरुपलभ्यते, तथाहि–कि[5]ण्वे बुभुक्षापनयनसामर्थ्यं भ्रमिजननसामर्थ्यं च उदकस्य तृडपनयनसामर्थ्यमित्यादिनेति, भूतानां च प्रत्येकं चैतन्यानभ्युपगमे दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरसाम्यम्। किंच–भूतचैतन्याभ्युपगमे मरणाभावो, मृतकायेऽपि पृथ्व्यादीनां भूतानां सद्भावात्, नैतदस्ति, तत्र मृतकाये वायोस्तेजसो वाऽभावान्मरणसद्भावः इत्यशिक्षितस्योल्लापः, तथाहि–मृतकाये शोफोपलब्धेर्न वायोरभावः, कोथस्य च पक्तिस्वभावस्य दर्श-

१ °त्वे××संक° इ.। २ °त्त च° आ.। ३ °न्त्य चेतनानि वा आ. इ.। ४ °प्यत्रपूर्वोक्तं–इ.। ५ °ण्वस्य बु° आ. इ.।

नान्नाग्नेरिति, अथ सूक्ष्मः कश्चिद्वायुविशेषोऽग्निर्वा ततोऽपगत इति मतिरिति, एवं च जीव एव नामान्तरेणाभ्युपगतो भ[1]वति, यत्किञ्चिदेतत् । तथा न भूतसमुदायमात्रेण चैतन्याविर्भावः, पृथिव्यादिष्वेकत्र व्यवस्थापितेष्वपि चैतन्यानुपलब्धेः, अथ कायाकारपरिणतौ सत्यां तदभिव्यक्तिरिष्यते, तदपि न, यतो लेप्यमयप्रतिमायां समस्तभूतसद्भावेऽपि जडत्वमेवोपलभ्यते । तदेवमन्वयव्यतिरेकाभ्यामालोच्यमानो नायं चैतन्याख्यो गुणो भूतानां भवितुमर्हति, समुपलभ्यते चायं शरीरेषु, तस्मात् पारिशेष्यात् जीवस्यैवायमिति स्वदर्शनपक्षपातं विहायाङ्गीक्रियतामिति । य[2]च्चोक्तं प्राक्–'न पृथिव्यादिव्यतिरिक्त आत्माऽस्ति, तद्ग्राहकप्रमाणाभावात्, प्रमाणं चात्र प्रत्यक्षमेवैक' मित्यादि, तत्र प्रतिविधीयते–यत्तावदुक्तं 'प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणं नानुमानादिक' मित्येतदनुपासितगुरोर्वचः, तथाहि–अर्थाविसंवादकं प्रमाणमित्युच्यते, प्रत्यक्षस्य च प्रामाण्यमेवं व्यवस्थाप्य[3]ते–काश्चित्प्रत्यक्षव्यक्तीर्धर्मित्वेनोपादाय प्रमाणयति–प्रमाणमेताः, अर्थाविसंवादकत्वाद्, अनुभूतप्रत्यक्षव्यक्तिवत्, न च ताभिरेव प्रत्यक्षव्यक्तिभिः स्वसंविदिताभिः परं व्यवहारयितुमयमीशः, तासां स्वसंविन्निष्ठत्वात् मूकत्वाच्च प्रत्यक्षस्य, तथा नानुमानं प्रमाणमित्यनुमानेनैवानुमाननिरासं कुर्वंश्चार्वाकः कथं नोन्मत्तः स्याद् ?, एवं ह्यसौ तदप्रामाण्यं प्रतिपादयेत् यथा–नानुमानं प्रमाणं, विसंवादकत्वाद्, अनुभूतानुमानव्यक्तिवदिति, एतच्चानुमानम्; अथ परप्रसिद्धैतदुच्यते, तदप्ययुक्तं, यतस्तत्परप्रसिद्धमनुमानं भवतः प्रमाणमप्रमाणं वा ?, प्रमाणं चेत्कथमनुमानमप्रमाणमित्युच्यते, अथाप्रमाणं कथमप्रमाणेन सता तेन परः प्रत्याय्यते ?, परेण तस्य प्रामाण्येनाभ्युपगतत्वादिति चेद्, तदप्यसाम्प्रतं, यदि नाम परो मौढ्या[4]दप्रमाणमेव प्रमाणमित्य[5]ध्यवस्यति, किं भवताऽतिनिपुणेनापि तेनैवासौ प्रतिपाद्यते ?, यो ह्यज्ञो गुडमेव विषमिति मन्यते किं तस्य मारयितु-

१ भवतेति य° आ. इ. । २ यथोक्तं आ. इ. । सा. ३ प्येत प्र० । ४ °मांद्या° आ. । ५ °वस्यति आ. °स्यवस्यति इ. ।

कामेनापि बुद्धिमता गुड एव दीयते ?, तदेवं प्रत्यक्षानुमानयोः प्रामाण्याप्रामाण्ये व्यवस्थापयतो भवतोऽनिच्छतोऽपि बलादायातमनुमानस्य प्रामाण्यम् । तथा स्वर्गापवर्गदेवतादेः प्रतिषेधं कुर्वन् भवान् केन प्रमाणेन करोति ?, न तावत्प्रत्यक्षेण प्रतिषेधः कर्तुं पार्यते, यतस्तत्प्रत्यक्षं प्रवर्तमानं वा तन्निषेधं विदध्यान्निवर्तमानं वा ?, न तावत्प्रवर्तमानं, तस्याभावविषयत्वविरोधात्, नापि निवर्तमानं, यतस्तच्च नास्ति तेन च प्रतिपत्तिरित्यसंगतं, तथाहि–व्यापकविनिवृत्तौ व्याप्यस्यापि (वि) निवृत्तिरिष्यते, न चार्वाग्दर्शि[2]प्रत्यक्षेण समस्तवस्तुव्याप्तिः संभा[3]व्यते, तत्कथं प्रत्यक्षविनिवृत्तौ पदार्थ[4]व्यावृत्तिरिति ?, तदेवं स्वर्गादेः प्रतिषेधं कुर्वता चार्वाकेणावश्यं प्रमाणान्तरमभ्युपगतम् । तथाऽन्याभिप्रायविज्ञानाभ्युपगमादत्र[5] स्पष्टमेव प्रमाणान्तरमभ्युपगतम्, अन्यथा कथं परावबोधाय शास्त्रप्रणयनमकारि चार्वाकेणेत्यलमतिप्रसङ्गेन । तदेवं प्रत्यक्षादन्यदपि प्रमाणमस्ति, तेनात्मा सेत्स्यति, किं पुनस्तदिति चेद्, उच्यते, अस्त्यात्मा, असाधारणतद्गुणोपलब्धेः, चक्षुरिन्द्रियवत्, चक्षुरिन्द्रियं हि न साक्षादुपलभ्यते, स्पर्शनादीन्द्रियासाधारणरूपविज्ञानोत्पादनशक्त्या त्वनुमीयते, तथाऽऽत्माऽपि पृथिव्याद्यसाधारणचैतन्यगुणोपलब्धेरस्तीत्यनुमीयते, चैतन्यं च तस्यासाधारणगु[6]ण इत्येतत्पृथिव्यादिभूतसमुदाये चैतन्यस्य निराकृतत्वादवसेयम् । तथा अस्त्यात्मा, समस्तेन्द्रियोपलब्धार्थसंकलनाप्रत्ययसद्भावाद्, पञ्चगवाक्षान्यान्योपलब्धार्थसंकलनाविधाय्येकदेवदत्तवत्, तथाऽऽत्मा अर्थद्रष्टा नेन्द्रियाणि, तद्विगमेऽपि तदुपलब्धार्थस्मरणात्, गवाक्षोपरमेऽपि तद्द्वारोपलब्धार्थस्मर्तृदेवदत्तवत्, त[7]था अर्थापत्त्याऽप्यात्माऽस्तीत्यवसीयते, तथाहि–सत्यपि पृथिव्यादिभूतसमुदाये लेप्यकर्मादौ न सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नादि-

१ °र्गाऽदृष्टपूर्वदे° आ. °र्गापूर्वदे° इ. । सा. २ चार्वाकृदर्शित° । ३ संसाध्यते प्र० । ४ °र्थस्य व्या° आ. । ५ °मात्त्वत्र×स्प° आ. इ. । ६ °णोगु° आ. इ. । ७ °तथाच अर्था° आ ।

क्रियाणां सद्भाव इति, अतः सामर्थ्यादवसीयते–अस्ति भूतातिरिक्तः कश्चित्सुखदुःखेच्छादीनां क्रियाणां समवायिकारणं पदार्थः, स चात्मेति, तदेवं प्रत्यक्षानुमानादिपूर्विकाऽन्याऽप्यर्थापत्तिरभ्यूह्या, तस्यास्त्विदं लक्षणम्–"प्रमाणषट्कविज्ञातो, यत्रार्थो नान्यथा भवन्[1]। अदृष्टं कल्पयेदन्यं, साऽर्थापत्तिरुदाहृता ॥१॥" तथाऽगमादप्य[2]स्तित्वमवसेयं, स चायमागमः—'अत्थि[3] मे आया उववाइए' इत्यादि। यदिवा किमत्रापरप्रमाणचिन्तया ?, सकलप्रमाणज्येष्ठेन प्रत्यक्षेणैवात्माऽस्तीत्यवसीयते, तद्गुणस्य[4] ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वात्, ज्ञानगुणस्य च गुणिनोऽनन्यत्वात् प्रत्यक्ष एवात्मा, रूपादिगुणप्रत्यक्षत्वेन पटादिप्रत्यक्षवत्, तथाहि—अहं सुख्यहं दुःख्येवमाद्यहंप्रत्ययग्राह्यश्चात्मा प्रत्यक्षः, अहंप्रत्ययस्य स्वसंवि[5]द्रूपत्वादिति, ममेदं शरीरं पुराणं कर्मेति च शरीराद्भेदेन निर्दिश्यमानत्वाद्, इत्यादीन्यन्यान्यपि प्रमाणानि जीवसिद्धावभ्यूह्यानीति तथा यदुक्तं—'न भूतव्यतिरिक्तं चैतन्यं तत्कार्यत्वात् घटादिवदि'ति, एतदप्यसमीचीनं, हेतोरसिद्धत्वात्, तथाहि—न भूतानां कार्यं चैतन्यं, तेषामतद्गुणत्वात् भूतकार्यचैतन्ये संकलनाप्रत्ययासंभवाच्च, इत्यादिनोक्तप्रायम्, अतोऽस्त्यात्मा भूतव्यतिरिक्तो ज्ञानाधार इति स्थितम्। ननु च किं ज्ञानाधारभूतेनात्मना ज्ञानाद्भिन्नेनाश्रितेन ?, यावता ज्ञानादेव सर्वसंकलनाप्रत्ययादिकं सेत्स्यति, किमात्मनाऽन्तर्गडुकल्पेनेति, तथाहि—ज्ञानस्यैव चिद्रूपत्वाद् भूतैरचेतनैः कायाकारपरिणतैः सह संबन्धे सति सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नक्रियाः प्रादुष्ष्यन्ति तथा संकलनाप्रत्ययो भवान्तरगमनं चेति, तदेवं व्यवस्थिते किमात्मना कल्पितेनेति ?, अत्रोच्यते, न ह्यात्मानेकमाधारभूतमन्तरेण संकलनाप्रत्ययो घटते, तथाहि—प्रत्येकमिन्द्रियैः स्वविषयग्रहणे सति परविषये चाप्रवृत्तेः एकस्य च परिच्छेत्तुरभावात् मया पञ्चापि विषयाः परिच्छिन्ना इत्यात्मकस्य संकलनाप्रत्ययस्याभाव इति, आलयविज्ञानमेकमस्तीति चेद्, एवं

१ °भवेत् आ.। २ °प्यात्मा° आ.। सा० ३ अस्ति मे आत्मौपपातिकः। ४ °ण×ज्ञा° आ.। ५ °चि° इ.।

सत्यात्मन एव नामान्तरं भवता कृतं स्यात्, न च ज्ञानाख्यो गुणो गुणिनमन्तरेण भवतीत्यवश्यमात्मना गुणिना भाव्यमिति। स च न सर्वव्यापी, तद्गुणस्य सर्वत्रानुपलभ्यमानत्वात्, घटवत्। नापि श्यामाकतन्दुलमात्रोऽङ्गुष्ठपर्वमात्रो वा, तावन्मात्रस्योपात्तशरीराव्यापित्वात्, त्वक्पर्यन्तशरीरव्यापित्वेन चोपलभ्यमानगुणत्वात्, तस्मात्स्थितमिदम्—उपात्तशरीरत्वक्पर्यन्तव्याप्यात्मेति। तस्य चानादिकर्मसंबद्धस्य कदाचिदपि सांसारिकस्यात्मनः स्वरूपेऽनवस्थानात्[1] सत्यप्यमूर्तत्वे[2] मूर्तेन कर्मणा संबन्धो न विरुध्यते, कर्मसंबन्धाच्च सूक्ष्मबादरैकेन्द्रियद्वित्रिचतुष्पञ्चेन्द्रियपर्याप्तापर्याप्ताद्यवस्था बहुविधाः प्रादुर्भवन्ति। तस्य चैकान्तेन क्षणिकत्वे ध्यानाध्ययनश्रमप्रत्यभिज्ञानाद्यभावः एकान्तनित्यत्वे[3] च नारकतिर्यङ्मनुष्यामरगतिपरिणामाभावः स्यात् तस्मात्स्यादनित्यः स्यान्नित्य आत्मेत्यलमतिप्रसङ्गेन ॥८॥ साम्प्रतमेकात्माद्वैतवादमुद्देशार्थाधिकारप्रदर्शितं पूर्वपक्षयितुमाह—

जहा य पुढवीथूभे[4], एगे नाणाहि[5] दीसइ। एवं[6] भो! कसिणे लोए, विन्नू नाणाहि दीसइ ॥९॥

दृष्टान्तबलेनैवार्थस्वरूपावगतेः पूर्वं दृष्टान्तोपन्यासः, यथेत्युपदर्शने, चशब्दोऽपिशब्दार्थे, स च भिन्नक्रम एके इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः, पृथिव्येव स्तूपः पृथिव्या[7] वा स्तूपः पृथिवीसंघाताख्योऽवयवी, स चैकोऽपि यथा नानारूपः—सरित्समुद्रपर्वतनगरसन्निवेशाद्याधारतया विचित्रो दृश्यते निम्नोन्नतमृदुकठिनरक्तपीतादिभेदेन वा दृश्यते, न च तस्य पृथिवीतत्त्वस्यैतावता भेदेन भेदो भवति, 'एवम्' उक्तरीत्या[8] 'भो' इति परामन्त्रणे[9], कृत्स्नोऽपि लोकः—चेतनाचेतनरूप एको विद्वान् वर्तते, इदमत्र हृदयं—एक एव ह्यात्मा विद्वान् ज्ञान-

१ °वस्थात् आ.। २ °मूर्तत्वे मूर्त्तिमूर्त्तेन कर्मणा° आ.। °मूर्तत्वे××न कर्मणा° इ.। ३ °त्वेन×ना° इ.। ४ °थूहे अ.। ५ नाणीहि दीसंती अ.। ६ एवं भो कसिणो लोए एके विज्झाणुवत्तए अ.। ७ पृथिवी×स्तूपः इ.। ८ °नीत्या भो इति आ. °नीत्या भो इत्यादि इ.। ९ °मंत्रणं आ. इ.।

पिण्डः पृथिव्यादिभूताद्याकारतया नाना दृश्यते, न च तस्यात्मन एतावताऽऽत्मतत्त्वभेदो भवति, तथा चोक्तम्—"एक एव हि भूतात्मा, भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥१॥" तथा 'पुरुष एवेदं ग्निं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यं उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति, यदेजति यन्नेजति[1] यद्दूरे यद्दु[2] अन्तिके यदन्तरस्य सर्वस्य यत्सर्वस्यास्य बाह्यतः' इत्यात्माद्वैतवादः ॥९॥ अस्योत्तरदानायाह—

एवमेगेत्ति जप्पंति[3], मंदा आरंभणिस्सिआ[4]। एगे किच्चा सयं पावं, तिव्वं दुक्खं नियच्छइ[5] ॥१०॥[6]

'एव'मिति अनन्तरोक्तात्माद्वैतवादोपप्रदर्शनम् 'एके' केचन पुरुषकारणवादिनो 'जल्पन्ति' प्रतिपादयन्ति, किंभूतास्ते इत्याह—'मन्दा' जडाः सम्यक्त्वपरिज्ञानविकलाः, मन्दत्वं च तेषां युक्तिविकलात्माऽद्वैतपक्षसमाश्रयणात्, तथाहि—यद्येक एवात्मा स्यान्नात्मबहुत्वं ततो ये सत्त्वाः—प्राणिनः कृषीवलादयः 'एके' केचन आरम्भे—प्राण्युपमर्दनकारिणि[7] व्यापारे निःश्रिता—आसक्ताः संबद्धा अध्युपपन्नाः ते च संरम्भसमारम्भारम्भैः 'कृत्वा' उपादाय स्वयम्' आत्मना 'पापम्' अशुभप्रकृतिरूपमसातोदयफलं तीव्रदुःखं तदनुभवस्थानं वा नरकादिकं नियच्छतीति, आर्षत्वाद्बहुवचनार्थे एकवचनमकारि, ततश्चायमर्थो—निश्चयेन यच्छन्त्यवश्यंतया गच्छन्ति—प्राप्नुवन्ति त एवारम्भासक्ता नान्य इति, एतन्न स्याद्, अपि त्वेकेनापि अशुभे कर्मणि कृते सर्वेषां शुभानुष्ठायिनामपि तीव्रदुःखाभिसंबन्धः स्याद्, एकत्वादात्मन इति, न चैतदेवं दृश्यते, तथाहि—य एव कश्चिदसमञ्जसकारी स एव लोके तदनुरूपा विडम्बनाः समनुभवन्नुप-

---

१ यन्नैजति आ.। २ यदुदंतिके आ. यदंतिके इ.। ३ जंपंति अ. आ.। ४ °स्सिया अ. आ.। ५ नियच्छति अ.। ६ सर्व्वगतवादीगतः आ.। ७ °मर्दिनि×××व्या° आ.।

लभ्यते नान्य इति, तथा सर्वगतत्वे आत्मनो बन्धमोक्षाद्यभावः तथा प्रतिपाद्यप्रतिपादकविवेकाभावाच्छास्त्रप्रणयनाभावश्च स्यादिति। एतदर्थसंवादित्वात्प्राक्तन्येव निर्युक्तिकृद्गाथाऽत्र व्याख्यायते, तद्यथा–पञ्चानां पृथिव्यादीनां भूतानामेकत्र कायाकारपरिणतानां चैतन्यमुपलभ्यते, यदि पुनरेक एवात्मा व्यापी स्यात्तदा घटादिष्वपि चैतन्योपलब्धिः स्यात्, न चैवं, तस्मान्नैक आत्मा, भूतानां चान्याऽन्यगुणत्वं न स्याद्, एकस्मादात्मनोऽभिन्नत्वात्, तथा पञ्चेन्द्रियस्थानानां—पञ्चेन्द्रियाश्रितानां ज्ञानानां प्रवृत्तौ सत्यामन्येन ज्ञात्वा
॥ ८ ॥ विदितमन्यो न जानातीत्येतदपि न स्याद्यद्येक एवात्मा स्यादिति ॥१०॥ साम्प्रतं तज्जीवतच्छरीरवादिमतं पूर्वपक्षयितुमाह—

पत्तेअं कसिणे[1] आया, जे बाला जे अ पंडिआ। संति पिच्चा[2] न ते संति, नत्थि सत्तोववाइया॥११॥

तज्जीवतच्छरीरवादिनामयमभ्युपगमः—यथा पञ्चभ्यो भूतेभ्यः कायाकारपरिणतेभ्यश्चैतन्यमुत्पद्यते अभिव्यज्यते वा, तेनैकैकं शरीरं प्रति प्रत्येकमात्मानः 'कृत्स्नाः' सर्वेऽप्यात्मान एवमवस्थिताः, ये 'बाला' अज्ञा ये च 'पण्डिताः' सदसद्विवेकज्ञास्ते सर्वे पृथग् व्यवस्थिताः, नह्येक एवात्मा सर्वव्यापित्वेनाभ्युपगन्तव्यो, बालपण्डिताद्यविभागप्रसङ्गात्, ननु प्रत्येकशरीराश्रयत्वेनात्मबहुत्वमार्हता-
१० नामपीष्टमेवेत्याशङ्क्याह—'सन्ति' विद्यन्ते यावच्छरीरं विद्यन्ते तदभावे तु न विद्यन्ते, तथाहि–कायाकारपरिणतेषु भूतेषु चैतन्याविर्भावो भवति,भूतसमुदायविघटने[3][4] च चैतन्यापगमो, न पुनरन्यत्र गच्छच्चैतन्यमुपलभ्यते[5], इत्येतदेव दर्शयति–'पिच्चा[6] न ते संती'ति 'प्रेत्य' परलोके न 'ते' आत्मानः 'सन्ति' विद्यन्ते, परलोकानुयायी शरीराद्भिन्नः स्वकर्मफलभोक्ता न कश्चिदात्माख्यः पदार्थोऽस्तीति भावः। किमित्येवमत

१ कसिणा अ.। २ पेच्चा ण अ. पच्चा न आ.। सा० ३ विचटने प्र०। ४ विचटने आ. इ.। सा. ५ °पलक्ष्यते प्र०। °पलक्ष्यते आ. इ.। ६ पेच्चा ण° आ. पिच्चा ण इ.

आह—'नत्थि[1] सत्तोववाइया' अस्तिशब्दस्तिङन्तप्रतिरूपको निपातो बहुवचने द्रष्टव्यः, तदयमर्थः–'न सन्ति' न विद्यन्ते 'सत्त्वाः'
प्राणिन उपपातेन निर्वृत्ता औपपातिका—भवाद्भवान्तरगामिनो न भवन्तीति तात्पर्यार्थः, तंथाहि तदागमः–'विज्ञानघन एवैतेभ्यो
भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्ती' ति, ननु प्रागुपन्यस्तभूतवादिनोऽस्य च तज्जीवतच्छरीरवादिनः को विशेष
इति ?, अत्रोच्यते, भूतवादिनो भूतान्येव कायाकारपरिणतानि धावनवल्गनादिकां[2] क्रियां कुर्वन्ति, अस्य तु कायाकारपरिणतेभ्यो भूते-
८ भ्यश्चैतन्याख्य आत्मोत्पद्यतेऽभिव्यज्यते वा, तेभ्यश्चाभिन्न[3] इत्ययं विशेषः ॥११॥ एवं च धर्मिणोऽभावाद्धर्मस्याप्यभाव[4] इति दर्शयितुमाह–

नत्थि पुण्णे व पावे वा, नत्थि लोए इंतो[5] वरे। सरीरस्स विणासेणं, विणासो होइ देहिणो ॥१२॥

'पुण्यम्' अभ्युदयप्राप्तिलक्षणं तद्विपरीतं पापमेतदुभयमपि न विद्यते, आत्मनो धर्मिणोऽभावात् , तदभावाच्च नास्ति 'अतः' अ-
स्माल्लोकात् 'परः' अन्यो लोको यत्र पुण्यपापानुभव इति, अत्र चार्थे सूत्रकारः कारणमाह–'शरीरस्य' कायस्य 'विनाशेन' भूतविघटनेन[6]
'विनाशः' अभावो 'देहिन' आत्मनोऽप्यभावो भवति यतः, न पुनः शरीरे विनष्टे तस्मादात्मा परलोकं गत्वा पुण्यं पापं वाऽनुभवती-
१० ति, अतो धर्मिण आत्मनोऽभावात्तद्धर्मयोः पुण्यपापयोरप्यभाव इति, अस्मिंश्चार्थे बहवो दृष्टान्ताः सन्ति, तद्यथा–यथा जलबुद्बुदो जला-
तिरेकेण नापरः कश्चिद्विद्यते तथा भूतव्यतिरेकेण नापरः कश्चिदात्मेति, तथा यथा कदलीस्तम्भस्य बहिस्त्वगपनयने क्रियमाणे त्वङ्मा-
त्रमेव सर्वं नान्तः कश्चित्सारोऽस्ति एवं भूतसमुदाये विघटति[7] सति तावन्मात्रं विहाय नान्तः सारभूतः कश्चिदात्माख्यः पदार्थ उपल-

१ °णत्थि स° आ. इ. । २ °वल्गनादिकां आ. । सा० ३ °श्च भिन्न प्र० । ४ °स्या×भाव आ. । ५ इउवरे अ. इओवरे आ. । ६ °विघटनेन आ. इ. ।
७ विघटति आ. इ. ।

भ्यते, यथा वाऽलातं भ्राम्यमाणमतद्रूपमपि चक्रबुद्धिमुत्पादयति एवं भूतसमुदायोऽपि[1] विशिष्टक्रियोपेतो जीवभ्रान्तिमुत्पादयतीति, यथा च स्वप्ने बहिर्मुखाकारतया विज्ञानमनुभूयते अन्तरेणैव बाह्यमर्थम्, एवमात्मानमन्तरेण तद्विज्ञानं भूतसमुदाये प्रादुर्भवतीति, तथा यथाऽऽदर्शे स्वच्छत्वात्प्रतिबिम्बितो बहिःस्थितोऽप्यर्थो[2]ऽन्तर्गतो लक्ष्यते, न चासौ तथा, यथा च ग्रीष्मे भौमेनोष्मणा परिस्पन्दमाना मरीचयो जलाकारं विज्ञानमुत्पादयन्ति, एवमन्येऽपि गन्धर्वनगरादयः [3]स्वस्वरूपेणातथाभूता अपि तथा प्रतिभासन्ते, तथाऽऽत्मापि भूतसमुदायस्य कायाकारपरिणतौ सत्यां पृथगसन्नेव तथा भ्रान्तिं समुत्पादयतीति। अमीषां च दृष्टान्तानां प्रतिपादकानि केचित्सूत्राणि व्याचक्षते, अस्माभिस्तु सूत्राऽऽदर्शेषु चिरन्तनटीकायां चादृष्टत्वान्नोल्लिङ्गितानीति। ननु च यदि भूतव्यतिरिक्तः कश्चिदात्मा न विद्यते, तत्कृते च पुण्यापुण्ये न स्तः, तत्कथमेतज्जगद्वैचित्र्यं घटते?, तद्यथा—कश्चिदीश्वरोऽपरो दरिद्रोऽन्यः सुभगोऽपरो दुर्भगः सुखी दुःखी सुरूपो मन्दरूपो व्याधितो [4]नीरोगीति, एवंप्रकारा च विचित्रता किं निबन्धनेति?, अत्रोच्यते, स्वभावात्, तथाहि—कुत्रचिच्छिलाशकले प्रतिमारूपं निष्पाद्यते, तच्च कुङ्कुमागरुचन्दनादिविलेपनानुभोगमनुभवति[5] धूपाद्यामोदं च, अन्यस्मिंस्तु पाषाणखण्डे पादक्षालनादि क्रियते, न च तयोः पाषाणखण्डयोः शुभाशुभे स्तः, यदुदयात्स तादृग्विधावस्थाविशेष इत्येवं स्वभावाज्जगद्वैचित्र्यं, तथा चोक्तम्—"कण्टकस्य च तीक्ष्णत्वं, मयूरस्य विचित्रता। वर्णाश्च ताम्रचूडानां, स्वभावेन भवन्ति हि ॥१॥" इति तज्जीवतच्छरीरवादिमतं गतम् ॥१२॥ इदानीमकारकवादिमताभिधित्सयाऽऽह—

१ °योऽवि° आ.। २ °बहिस्थोऽप्य° आ. इ.। ३ °ऽस्वरूपेण° आ. इ.। ४ नीरुगिति, आ. नीरोगश्चेति इ.। ५ °ति स्रग्धूपा° आ. इ.।

कुव्वं च [1]कारयं चेव, सव्वं कुव्वं न [2]विज्जई। एवं [3]अकारओ अप्पा, एवं ते उ [4]पगब्भिआ ॥१३॥

कुर्वन्निति स्वतन्त्रः कर्ताऽभिधीयते, आत्मनश्चामूर्तत्वान्नित्यत्वात् सर्वव्यापित्वाच्च कर्तृत्वानुपपत्तिः, अत एव हेतोः कारयितृत्वमप्यात्मनोऽनुपपन्नमिति, पूर्वश्चशब्दोऽतीतानागतकर्तृत्वनिषेधको, द्वितीयः समुच्चयार्थः, ततश्चात्मा न स्वयं क्रियायां प्रवर्तते, नाप्यन्यं प्रवर्तयति, यद्यपि च [5]स्थितिक्रियां मुद्राप्रतिबिम्बोदयन्यायेन [जपास्फटिकन्यायेन च] भुजिक्रियां करोति तथाऽपि समस्तक्रियाकर्तृत्वं तस्य नास्तीत्येतद्दर्शयति–'सव्वं कुव्वं ण [6]विज्जइ'त्ति 'सर्वां' परिस्पन्दादिकां देशाद्देशान्तरप्राप्तिलक्षणां क्रियां कुर्वन्नात्मा न विद्यते, सर्वव्यापित्वेनामूर्तत्वेन चाकाशस्येवात्मनो निष्क्रियत्वमिति, तथा चोक्तम्—'अकर्ता निर्गुणो भोक्ता, आत्मा साङ्ख्यनिदर्शने' इति। 'एवम्' अनेन प्रकारेणात्माऽकारक इति, 'ते' सांख्याः, तुशब्दः पूर्वेभ्यो व्यतिरेकमाह, ते पुनः साङ्ख्या एवं 'प्रगल्भिताः' प्रगल्भवन्तो धार्ष्ट्यवन्तः सन्तो भूयो भूयस्तत्र तत्र प्रतिपादयन्ति, यथा—'प्रकृतिः करोति, पुरुष उपभुङ्क्ते, तथा बुद्ध्यध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते' इत्याद्यकारकवादिमतमिति ॥१३॥ साम्प्रतं तज्जीवतच्छरीराकारकवादिनोर्मतं निराचिकीर्षुराह–

जे ते उ वाइणो एवं, लोए तेसिं [7]कओ सिया?। [8]तमाओ ते तमं जंति, मंदा आरंभनिस्सिया ॥१४॥[9]

तत्र ये तावच्छरीराव्यतिरिक्तात्मवादिनः 'एव' मिति पूर्वोक्तया नीत्या भूताव्यतिरिक्तमात्मानमभ्युपगतवन्तस्ते निराक्रियन्ते–तत्र यत्तैस्तावदुक्तम्—'यथा न शरीराद्भिन्नोऽस्त्यात्मे'ति, [10]तदसङ्गतं, यतस्तत्प्रसाधकं प्रमाणमस्ति, तच्चेदम्—विद्यमानकर्तृकमिदं शरी-

१ कारवं अ.। २ विज्जती अ.। ३ °रउ अ.। ४ पगब्भिया अ. आ.। ५ °स्थितिक्रियां ××× करोति° आ. °स्थितिक्रियां मुद्राप्रतिविंबोदयन्यायेन × च भुजिक्रियां करोति इ.। ६ विंज्झतित्ति आ. इ.। ७ कउं अ.। ८ तमातो ते तमं अ. तमाउ ते तमं आ.। ९ अकिरियवादी गया आ.। १० तदसांप्रतं, आ. इ.।

रम्, आदिमत्प्रतिनियताकारत्वात्, इह यद्यदादिमत्प्रतिनियताकारं तत्तद्विद्यमानकर्तृकं दृष्टं, यथा घटः, यच्चाविद्यमानकर्तृकं तदादिमत्प्र[1]तिनियताकारमपि न भवति, यथाऽऽकाशम्, आदिमत्प्रतिनियताकारस्य च सकर्तृत्वेन व्याप्तेः, व्यापकनिवृ[2]त्तौ व्याप्यस्य विनिवृत्तिरिति सर्वत्र योजनीयम्। तथा विद्यमानाधिष्ठातृकानीन्द्रियाणि, करणत्वात्, यद्यदिह करणं तत्तद्विद्यमानाधिष्ठातृकं दृष्टं, यथा दण्डादिकमिति, अधिष्ठातारमन्तरेण करणत्वानुपपत्तिः यथाऽऽकाशस्य, हृषीकाणां चाधिष्ठाताऽऽत्मा, स च तेभ्योऽन्य इति, तथा विद्यमानाऽऽदातृकमिदमिन्द्रियविषयकदम्बकम्, आदानादेयसद्भावात्, इह यत्र यत्राऽऽदानादेयसद्भावस्तत्र तत्र विद्यमान आदाता—ग्राहको दृष्टः, यथा संदंशकायस्पिण्डयोस्तद्भिन्नोऽयस्कार इति, यश्चात्रेन्द्रियैः करणैर्विषयाणामादाता—ग्राहकः स तद्भिन्न आत्मेति, तथा विद्यमानभोक्तृकमिदं शरीरं, भोग्यत्वादोदनादिवत्, अत्र च कुलालादीनां मूर्तत्वानित्यत्वसंहतत्वदर्शनादात्मापि तथैव स्यादिति धर्मिविशेषविपरीतसाधनत्वेन विरुद्धाशङ्का न विधेया, संसारिण आत्मनः कर्मणा सहान्योऽन्यानुबन्धतः कथञ्चिन्मूर्तत्वाद्यभ्युपगमादिति, तथा यदुक्तम् 'नास्ति सत्त्वा औपपातिका' इति, तदप्ययुक्तं, यतस्तदहर्जातबालकस्य यः स्तनाभिलाषः सोऽन्याभिलापपूर्वकः, अभिलाषत्वात्, कुमाराभिलाषवत्, तथा बालविज्ञानमन्यविज्ञानपूर्वकं, विज्ञानत्वात्, कुमारविज्ञानवत्, तथाहि—तदहर्जातबालकोऽपि यावत्स एवायं स्तन इत्येवं नावधारयति तावन्नोपरतरुदितो मुखमर्पयति स्तने इति, अतोऽस्ति बालके विज्ञानलेशः, स चान्यविज्ञानपूर्वकः, तच्चान्यद्विज्ञानं भवान्तरविज्ञानं, तस्मादस्ति सत्त्व औपपातिक इति। तथा यदभिहितं 'विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यती'ति, तत्राप्ययमर्थो—'विज्ञानघनो' विज्ञानपिण्ड आत्मा 'भूतेभ्य उत्थाये'ति प्राक्तनकर्मवशात्तथाविधकायाकारपरि[3]णते भूत-

१ सा. नाम्राणां प्रतिनियत आकारः, जम्बूद्वीपादिलोकस्थितिनिषेधार्थमादिमत्त्वम्। २ °कविनिवृत्तौ आ. इ.। ३ °तभूत° आ.।

समुदाये तद्द्वारेण स्वकर्मफलमनुभूय पुनस्तद्विनाशे आत्मापि तदनु तेनाकारेण विनश्यापरपर्यायान्तरेणोत्पद्यते, न पुनस्तैरेव सह विनश्य-
तीति। तथा यदुक्तं—'धर्मिणोऽभावात्तद्धर्मयोः पुण्यपापयोरभाव'इति, तदप्यसमीचीनं, यतो धर्मी तावदनन्तरोक्तिकदम्बकेन साधितः,
तत्सिद्धौ च तद्धर्मयोः पुण्यपापयोरपि सिद्धिरवसेया जगद्वैचित्र्यदर्शनाच्च। यत्तु स्वभावमाश्रित्योपलशकलं दृष्टान्तत्वेनोपन्यस्तं तदपि त-
द्भोक्तृकर्मवशादेव तथा तथा संवृत्तमिति दुर्निवारः पुण्यापुण्यसद्भाव इति। येऽपि बहवः कदलीस्तम्भादयो दृष्टान्ता आत्मनोऽभावसाध-
नायोपन्यस्ताः तेऽप्यभिहितनीत्याऽऽत्मनो भूतव्यतिरिक्तस्य परलोकयायिनः सारभूतस्य साधितत्वात्केवलं भवतो[1] वाचालतां प्रख्यापय-
॥ ८ ॥ न्ति इत्यलमतिप्रसङ्गेन। शेषं सूत्रं विव्रियतेऽधुनेति। तदेवं 'तेषां' भूतव्यतिरिक्तात्मनिह्नववादिनां योऽयं 'लोकः' चतुर्गतिकसंसारो भवाद्भ-
वान्तरगतिलक्षणः प्राक् प्रसाधितः सुभगदुर्भगसुरूपमन्दरूपेश्वरदारिद्र्यादिगत्या जगद्वैचित्र्यलक्षणश्च स एवंभूतो लोकस्तेषां 'कुतो भवेत् ?'
कयोपपत्त्या घटेत ? आत्मनोऽनभ्युपगमात्, न कथञ्चिदित्यर्थः, 'ते च' नास्तिकाः परलोकयायिजीवाऽनभ्युपगमेन पुण्यपापयोश्चाभाव-
माश्रित्य यत्किञ्चनकारिणोऽज्ञानरूपात्तमसः सकाशादन्यत्तमो यान्ति, भूयोऽपि ज्ञानावरणादिरूपं महत्तरं तमः संचिन्वन्तीत्युक्तं भवति,
॥ १० ॥ यदिवा—तम इव तमो—दुःखसमुद्घातेन सदसद्विवेकप्रध्वंसित्वाद्यातनास्थानं तस्माद्—एवंभूतात्तमसः परतरं तमो यान्ति, सप्तमनरक-
पृथिव्यां रौरवमहारौरवकालमहाकालाप्रतिष्ठानाख्यं नरकावासं यान्तीत्यर्थः। किमिति ?, यतस्ते 'मन्दा' जडा मूर्खाः, सत्यपि युक्त्यु-
पपन्ने आत्मन्यसदभिनिवेशात्तदभावमाश्रित्य प्राण्युपमर्दकारिणि विवेकिजननिन्दिते आरम्भे—व्यापारे निश्चयेन नितरां वा श्रिताः—
संबद्धाः, पुण्यपापयोरभाव इत्याश्रित्य परलोकनिरपेक्षतया[2]ऽऽरम्भनिश्रिता इति। तथा तज्जीवतच्छरीरवादिमतं निर्युक्तिकारोऽपि निरा-

१ भवंतो आ.। २ °पेक्षि° आ.।

चिकीर्षुराह—'पंचण्ह'मित्यादिगाथा प्राग्वदत्रापि ॥३३॥ साम्प्रतमकारकवादिमतमाश्रित्यायमनन्तर(रोक्त)श्लोको भूयोऽपि व्याख्यायते—ये एते अकारकवादिन आत्मनोऽमूर्तत्वनित्यत्वसर्वव्यापित्वेभ्यो हेतुभ्यो निष्क्रियत्वमेवाभ्युपपन्नाः तेषां य एष 'लोको' जरामरणशोकाक्रन्दनहर्षादिलक्षणो नरकतिर्यङ्मनुष्यामरगतिरूपः सोऽयमेवंभूतो निष्क्रिये सत्यात्मन्यप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावे 'कुतः' कस्माद्धेतोः स्यात् ?, न कथञ्चित्कुतश्चित्स्यादित्यर्थः, ततश्च दृष्टेष्टबाधारूपात्तमसोऽज्ञानरूपात्ते तमोऽन्तरं—निकृष्टं यातनास्थानं यान्ति, किमिति ?, यतो 'मन्दा' जडाः प्राण्य[1]पकारकाऽऽरम्भनिश्रिताश्च ते इति। अधुना निर्युक्तिकारोऽकारकवादिमतनिराकरणार्थमाह—

को वेएई अकयं ? कयनासो पंचहा गई नत्थि। देवमणुस्सगयागइ जाईसरणाइयाणं च ॥३४॥[2]

आत्मनोऽकर्तृत्वात्कृतं नास्ति, ततश्चाकृतं को वेदयते ?, तथा निष्क्रियत्वे वेदनक्रियाऽपि न घटां प्राञ्चति, अथाकृतमप्यनुभूयेत तथा सत्यकृतागमकृतनाशापत्तिः स्यात्, ततश्च एककृतपातकेन सर्वः प्राणिगणो दुःखितः स्यात् पुण्येन च सुखी स्यादिति, न चैतद् दृष्टमिष्टं वा, तथा व्यापित्वान्नित्यत्वाच्चात्मनः 'पञ्चधा' पञ्चप्रकारा नारकतिर्यङ्मनुष्यामरमोक्षलक्षणा गतिर्न भवेत्, ततश्च भवतां सांख्यानां काषायचीवरधारणशिरस्तुण्डमुण्डनदण्डधारणभिक्षाभोजित्वपञ्चरात्रोपदेशानुसारयमनियमाद्यनुष्ठानं, तथा "पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो, यत्र तत्राश्रमे रतः। जटी मुण्डी शिखी वापि, मुच्यते नात्र संशयः ॥१॥" इत्यादि सर्वमपार्थकमाप्नोति तथा देवम[3]नुष्यादिषु गत्यागती न स्यातां, सर्वव्यापित्वादात्मनः, तथा नित्यत्वाच्च विस्मरणाभावाज्जातिस्मरणादिका च क्रिया नोपप[4]द्यते, तथा आदिग्रहणात् 'प्रकृतिः करोति पुरुष उपभुङ्क्ते' इति भुजिक्रिया या समाश्रिता साऽपि न प्राप्नोति, तस्या अपि क्रिया[5]त्वादिति, अथ 'मुद्राप्रतिबिम्बोदयन्यायेन

१ प्राण्यु° आ.। २ ॥३२॥ अ. आ.। ३ °नुष्येषु° आ.। ४ °द्यते××आदि° आ. इ.। ५ क्रियत्वा° आ. इ.।

भोग' इति चेद्, एतत्तु निरन्तराः सुहृदः प्रत्येष्यन्ति, वाङ्मात्रत्वात्, प्रतिबिम्बोदयस्यापि च क्रियाविशेषत्वादेव, तथा नित्ये चाविकारिण्यात्मनि प्रतिबिम्बोदयस्याभावाद्यत्किञ्चिदेतदिति ॥३४॥ ननु च भुजिक्रियामात्रेण प्रतिबिम्बोदयमात्रेण च यद्यप्यात्मा सक्रियः तथापि न तावन्मात्रेणास्माभिः सक्रियत्वमिष्यते, किं तर्हि ?, समस्तक्रियावत्त्वे सतीत्येतदाशङ्क्य निर्युक्तिकृदाह—

ण[1] हु अफल[2]थोवणिच्छितकालफलत्तणमिहं अदुमहेऊ। णा[3]दुद्ध थोवदुद्धत्तणे णगो[4]वित्तणे हेऊ ॥३५॥[5]

'न हु' नैवाफलत्वं द्रुमाभावे साध्ये हेतुर्भवति, नहि यदैव फलवांस्तदैव द्रुमः अन्यदा त्वद्रुम इति भावः, एवमात्मनोऽपि सुप्ताद्यवस्थायां यद्यपि कथञ्चिन्निष्क्रियत्वं तथापि नैतावता त्वसौ निष्क्रिय इति व्यपदेशमर्हति, तथा स्तोकफलत्वमपि न वृक्षाभावसाधनायालं, स्वल्पफलोऽपि हि पनसादिर्वृक्षव्यपदेशभाग्भवति, एवमात्माऽपि स्वल्पक्रियोऽपि क्रियावानेव, कदाचिदेषा मतिर्भवतो भवेत्— स्तोकक्रियो निष्क्रिय एव, यथैककार्षापणधनो न धनित्व(व्यपदेश)मास्कन्दति, एवात्माऽपि स्वकल्पक्रियत्वादक्रि[6]य इति, एतदप्यचारु, यतोऽयं दृष्टान्तः प्रतिनियतपुरुषापेक्षया चो[7](ऽत्रो)पगम्यते समस्तपुरुषापेक्षया वा ?, तत्र यद्याद्यः पक्षः तदा सिद्धसाध्यता, यतः— सहस्रादिधनवदपेक्षया निर्धन एवासौ अथ समस्तपुरुषापेक्षया तदसाधु, यतोन्यान् जरच्चीवधारिणोऽपेक्ष्य कार्षापणधनोऽपि धनवानेव, तथाऽऽत्मापि[8] यदि विशिष्टसामर्थ्योपेतपुरुषक्रियापेक्षया निष्क्रियोऽभ्युपगम्यते न काचित्क्षतिः सामान्यापेक्षया तु क्रियावानेव, इत्यलमतिप्रसङ्गेन, एवमनिश्चिताकालफलत्वाख्यहेतुद्वयमपि न वृक्षाभावसाधकम्[9] इत्यादि योज्यं, एवमदुग्धत्वस्तोकदुग्धत्वरूपावपि हेतू[10] न

१ न अ. आ. । २ लत्तमणिच्छय का° अ. लथेवणिच्छय का° आ. । ३ खमदुद्धत्तण° अ. णाछुद्ध° आ. । ४ °माय° अ. °माइ° आ. । ५ ॥३३॥ अ. आ. । ६ °क्रिय×× एत° आ. । ७ चोच्यते आ. चोच्येत इ. । सा. चोच्यते प्र० । ८ °त्मापि××वि° आ. इ. । ९ °कमित्या×योज्यं आ. इ. । १० हेतू गोत्वाभावं न सा° आ. इ. ।

आत्मषष्ठ-
वादिपूर्वपक्षः

गोत्वाभावं साधयतः, उक्तन्यायेनैव दार्ष्टान्तिकयोजना कार्येति ॥३५ ॥१४॥ साम्प्रतमात्मषष्ठवादिमतं पूर्वपक्षयितुमाह—

संति पंच महब्भूया, इहमेगेसि [1]आहिया। आय[2]छट्ठो [3]पुणो आहु, आया लोगे य [4]सासए ॥१५॥

'सन्ति' विद्यन्ते 'पञ्च महाभूतानि' पृथिव्यादीनि 'इह' अस्मिन्संसारे 'एकेषां' वेदवादिनां सांख्यानां[5] शैवाधिकारिणां[6] च, एतद् आख्यातम् आख्यातानि वा भूतानि, ते च वादिन एवमाहुः—एवमाख्यातवन्तः, यथा '[7]आत्मषष्ठानि' आत्मा षष्ठो येषां तानि आत्मषष्ठानि भूतानि विद्यन्त इति, एतानि चात्मषष्ठानि भूतानि यथाऽन्येषां वादिनामनित्यानि तथा नामीषामिति दर्शयति—आत्मा 'लोकश्च' पृथिव्यादिरूपः 'शाश्वतः' अविनाशी, तत्रात्मनः सर्वव्यापित्वादमूर्तत्वाच्चाकाशस्येव शाश्वतत्वं, पृथिव्यादीनां च तद्रूपाप्रच्युतेरविनश्वरत्वमिति ॥१५॥ शाश्वतत्वमेव भूयः प्रतिपादयितुमाह—

[9]दुहओ ण विणस्संति, [10]नो य उप्पज्जए असं। सव्वेऽवि सव्वहा भावा, नियत्तीभावमागया ॥१६॥

'ते' आत्मषष्ठाः पृथिव्यादयः पदार्था 'उभयत'इति निर्हेतुकसहेतुकविनाशद्वयेन न विनश्यन्ति, यथा बौद्धानां स्वत एव निर्हेतुको विनाशः, तथा च [11]ते ऊचुः—"जातिरेव हि भावानां, विनाशे हेतुरिष्यते। यो जातश्च न च ध्वस्तो, नश्येत्पश्चात्स केन च ? ॥१॥" यथा च वैशेषिकाणां लकुटादिकारणसान्निध्ये विनाशः सहेतुकः, तेनोभयरूपेणापि विनाशेन लोकात्मनोर्न विनाश इति तात्पर्यार्थः,

॥२४॥

१ अहिया आ.। २ छट्ठा अ. आ.। ३ पुणे गाहु अ.। ४ सासते अ.। ५ °ख्याणां वैशेषिकाणां° आ. इ.। सा. ६ वैशेषिकाणां प्र०। ७ °षष्ठेत्यात्मा आ। ८ °ष्ठ×भू° आ.। ९ दुहउ तेण अ. दुहओ तेण आ.। १० नो उप्पज्जई मागता अ. नो य उप्पज्जए मागया आ.। ११ °च×ऊ° आ.।

यदिवा—'दुहओ'त्ति द्विरूपादात्मनः स्वभावाच्चेतनाचेतनरूपान्न विनश्यन्तीति, तथाहि—पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानि स्वरूपापरित्यागतया नित्यानि, 'न कदाचिदनीदृशं जगदि'तिकृत्वा, आत्माऽपि नित्य एव, अकृतकत्वादिभ्यो हेतुभ्यः, तथा चोक्तम्—"नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः, न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः ॥१॥" अच्छेद्योऽयमभेद्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते। नित्यः सततगः[2] स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२॥" एवं च कृत्वा नासदुत्पद्यते, सर्वस्य सर्वत्र सद्भावात् असति च कारकव्यापाराभावात् सत्कार्यवादः, यदि[3] च असदुत्पद्येत खरविषाणादेरप्युत्पत्तिः स्यादिति, तथा चोक्तम्—"असदकरणादुपादानग्रहणात्सर्वसंभवाभावात्। शक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥१॥" एवं च कृत्वा मृत्पिण्डेऽपि घटोऽस्ति, तदर्थिनां मृत्पिण्डोपादानात्, यदि चासदुत्पद्येत ततो यतः कुतश्चिदेव स्यात्, नावश्यमेतदर्थिना मृत्पिण्डोपादानमेव क्रियेत इति, अतः सदेव कारणे कार्यमुत्पद्यत इति। एवं च कृत्वा सर्वेऽपि भावाः—पृथिव्यादय आत्मषष्ठाः 'नियतिभावं' नित्यत्वमागता नाभावरूपतामभूत्वा च भावरूपतां प्रतिपद्यन्ते, आविर्भावतिरोभावमात्रत्वादुत्पत्तिविनाशयोरिति, तथा चाभिहितम्—'नासतो जायते भावो, नाभावो जायते सतः' ईत्यादि, अस्योत्तरं निर्युक्तिकृदाह—'को वेएई' त्यादिप्राक्तन्येव गाथा, सर्वपदार्थनित्यत्वाभ्युपगमे कर्तृत्वपरिणामो न स्यात्, ततश्चात्मनोऽकर्तृत्वे कर्मबन्धाभावस्तदभावाच्च[6] को वेदयति ?, न कश्चित्सुखदुःखादिकमनुभवतीत्यर्थः, एवं च सति कृतनाशः स्यात्, तथा असतश्चोत्पादाभावे येयमात्मनः पूर्वभवपरित्यागेनापरभवोत्पत्तिलक्षणा पञ्चधा गतिरुच्यते सा न स्यात्, ततश्च मोक्षगतेरभावाद्दीक्षादिक्रियाऽनुष्ठानमनर्थकमापद्येत, तथाऽप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावत्वे चात्मनो देवमनुष्यगत्यागती तथा विस्मृतेरभावात् जातिस्मरणादिकं च न प्राप्नोति,

सा. १ °मदाह्योऽय° प्र० । २ सर्वगतः प्र० । ३ °दिवासदु° आ. । ४ इति आ. । ५ °मेवत्त्वाभा° आ. । ६ °चभावान् को° आ. । ७ पंचममोक्ष° आ. ।

यच्चोक्तं 'सदेवोत्पद्यते' तदप्यसत्, यतो यदि सर्वथा सदेव कथमुत्पादः ?, उत्पादश्चेत् न तर्हि सर्वदा सदिति, तथा चोक्तम्—"कर्मगुणव्यपदेशाः प्रागुत्पत्तेर्न सन्ति यत्तस्मात्। कार्यमसद्विज्ञेयं क्रियाप्रवृत्तेश्च कर्तॄणाम् ॥१॥" तस्मात्सर्वपदार्थानां कथञ्चिन्नित्यत्वं कथञ्चिदनित्यत्वं सदसत्कार्यवादश्चेत्यवधार्यं, तथा चाभिहितम्—"सर्वव्यक्तिषु नियतं क्षणे क्षणेऽन्यत्वमथ च न विशेषः। सत्योश्चित्यपचित्योराकृतिजातिव्यवस्थानात् ॥१॥"इति, तथा "नान्वयः स हि भेदत्वान्न भेदोऽन्वयवृत्तितः। मृद्भेदद्वयसंसर्गवृत्तिर्जात्यन्तरं घटः ॥१॥" ॥१६॥ साम्प्रतं बौद्धमतं पूर्वपक्षयन्निर्युक्तिकारोपन्यस्तमफलवादाधिकारमाविर्भावयन्नाह—

पंच खंधे वयंतेगे, बाला उ खणजोइणो[1]। अण्णो अणण्णो[2] णेवाहु, हेउयं[3] च अहेउयं ॥१७॥

'एके' केचन वादिनो बौद्धाः 'पञ्चस्कन्धान् वदन्ति' रूपवेदनाविज्ञानसंज्ञासंस्काराख्याः पञ्चैव स्कन्धा विद्यन्ते नापरः कश्चिदात्माख्यः स्कंधोऽस्तीत्येवं प्रतिपादयन्ति, तत्र रूपस्कन्धः पृथिवीधात्वादयो[4] रूपादयश्च १ सुखा दुःखा अदुःखसुखा चेति वेदना वेदनास्कन्धः २ रूपविज्ञानं रसविज्ञानमित्यादि विज्ञानं विज्ञानस्कन्धः ३ संज्ञास्कन्धः[5] संज्ञानिमित्तोद्ग्राहणात्मकः प्रत्ययः ४ संस्कारस्कन्धः पुण्यापुण्यादिधर्मसमुदाय इति ५। न चैतेभ्यो व्यतिरिक्तः कश्चिदात्माख्यः पदार्थोऽध्यक्षेणाध्यवसीयते, तदव्यभिचारिलिङ्गग्रहणाभावात्, नाप्यनुमानेन, न च प्रत्यक्षानुमानव्यतिरिक्तमर्थाविसंवादि प्रमाणान्तरमस्तीत्येवं बाला इव बाला—यथाऽवस्थितार्थापरिज्ञानात् बौद्धाः प्रतिपादयन्ति, तथा ते स्कन्धाः 'क्षणयोगिनः' परमनिरुद्धः[6] कालः—क्षणः क्षणेन योगः—संबन्धः क्षणयोगः स विद्यते येषां ते क्षणयोगिनः क्षणमात्रावस्थायिन इत्यर्थः, तथा च तेऽभिदधति—स्वकारणेभ्यः पदार्थ उत्पद्यमानः किं विनश्वरस्वभाव उत्पद्यतेऽविनश्वरस्व-

१ जोगिणो अ.। २ अन्नो अणन्नो अ.। ३ देउयं अ.। ४ °वीxत्वादयो आ.। ५ °न्धो xx निमित्तो आ.। ६ °निकृष्टः° आ.।

भावो वा ?, यद्यविनश्वरस्ततस्तद्व्यापिन्याः क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाया अभावात् पदार्थस्यापि व्याप्यस्याभावः प्रसजति, तथाहि— यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थतः[1] सदिति, स च नित्योऽर्थक्रियायां प्रवर्तमानः क्रमेण वा प्रवर्तेत यौगपद्येन वा ?, न तावत्क्रमेण, यतो ह्येकस्या अर्थक्रियायाः काले तस्यापरार्थक्रियाकरणस्वभावो विद्यते वा न वा ?, यदि विद्यते किमिति क्रमकरणं ?, सहकार्यपेक्षयेति चेत्[2] तेन सहकारिणा तस्य कश्चिदतिशयः क्रियते न[3] वा ?, यदि क्रियते किं पूर्वस्वभावपरित्यागेनापरित्यागेन वा ?, यदि परित्यागेन ततोऽतादवस्थ्यापत्तेरनित्यत्वम् , अथ पूर्वस्वभावापरित्यागेन ततोऽतिशयाभावात्किं सहकार्यपेक्षया ?, अथ अकिञ्चित्करोऽपि विशिष्टकार्यार्थमपेक्षते, तदयुक्तं, यतः, "अपेक्षेत परं कश्चिद्यदि कुर्वीत किञ्चन। यदकिञ्चित्करं वस्तु, किं केनचिदपेक्ष्यते ? ॥१॥" अथ तस्यैकार्थक्रियाकरणकालेऽपरार्थक्रियाकरणस्वभावो न विद्यते, तथा च सति स्पष्टैव नित्यताहानिः, अथासौ नित्यो यौगपद्येनार्थक्रियां कुर्यात् तथा सति प्रथमक्षण एवाशेषार्थक्रियाणां करणात् द्वितीयक्षणेऽकर्तृत्वमायातं, तथा च सैवानित्यता, अथ तस्य तत्स्वभावत्वात्ता एवार्थक्रिया भूयो[4] भूयो द्वितीयादिक्षणेष्वपि कुर्यात् , तदसाम्प्रतं, कृतस्य करणाभावादिति, किंच—द्वितीयादिक्षणसाध्या अप्यर्थाः[5] प्रथमक्षण एव प्राप्नुवन्ति, तस्य तत्स्वभावत्वात् , अतत्स्वभावत्वे च तस्यानित्यत्वापत्तिरिति। तदेवं नित्यस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरहान्न स्वकारणेभ्यो नित्यस्योत्पाद इति। अथानित्यस्वभावः समुत्पद्यते, तथा च सति विघ्नाभावादायातमसदुक्तमशेषपदार्थजातस्य क्षणिकत्वं, तथा चोक्तम्—"जातिरेव हि भावानां, विनाशे हेतुरिष्यते। यो जातश्च न च ध्वस्तो, नश्येत्पश्चात्स केन च ?, ॥१॥" ननु च सत्यप्यनित्यत्वे यस्य यदा विनाशहेतुसद्भावस्तस्य तदा विनाशः, तथा च स्वविनाशकारणापेक्षाणामनित्याना-

१ °मार्थ×° आ. । २ चेन्न आ. । ३ वा नवा आ. इ. । ४ °भूयो××° आ. इ. । ५ °र्थक्रियाः प्र० आ. । °र्थसार्थाः प्र० इ. ।

मपि पदार्थानां न क्षणिकत्वमिति, एतच्चानुपासितगुरोर्वचः, तथाहि—तेन मुद्गरादिकेन विनाशहेतुना घटादेः किं क्रियते ?, किमत्र प्रष्टव्यम् ? अभावः क्रियते, अत्र[1] च प्रष्टव्यो[2] देवानांप्रियः, अभाव इति किं पर्युदासप्रतिषेधोऽयमुत प्रसज्यप्रतिषेध इति ?, तत्र यदि पर्युदासस्ततोऽयमर्थो——भावादन्योऽभावो भावान्तरं——घटात्पटादिः सोऽभाव इति, तत्र भावान्तरे यदि मुद्गरादिव्यापारो न तर्हि तेन किञ्चिद् घटस्य कृतमिति, अथ प्रसज्यप्रतिषेधस्तदाऽयमर्थो—विनाशहेतुरभावं करोति, किमुक्तं भवति ?——भावं न करोतीति, ततश्च
॥८॥ क्रियाप्रतिषेध एव कृतः स्यात्, न च घटादेः पदार्थस्य मुद्गरादिना करणं, तस्य स्वकारणैरेव कृतत्वात्, अथ भावाभावोऽभावस्तं करोतीति, तस्य तुच्छस्य नीरूपत्वात् कुतस्तत्र कारकाणां व्यापारः ?, अथ तत्रापि कारकव्यापारो भवेत् खरशृङ्गादावपि व्याप्रियेरन् कारकाणीति। तदेवं विनाशहेतोरकिञ्चित्करत्वात् स्वहेतुत एवानित्यताक्रोडीकृतानां पदार्थानामुत्पत्तेर्विघ्नहेतोश्चाभावात् क्षणिकत्वमवस्थितमिति। तुशब्दः पूर्ववादिभ्योऽस्य व्यतिरेकप्रदर्शकः, तमेव श्लोकपश्चार्धेन दर्शयति—'अण्णो अणण्णो' इति ते हि बौद्धा यथाऽऽत्मषष्ठवादिनः सांख्यादयो भूतव्यतिरिक्तमात्मानमभ्युपगतवन्तो यथा च चार्वाका भूताव्यतिरिक्तं चैतन्याख्यमात्मानमिष्टवन्तस्तथा 'नैवा-
॥१०॥ हुः' नैवोक्तवन्तः, तथा हेतुभ्यो जातो हेतुकः कायाकारपरिणतभूतनिष्पादित इतियावत् तथाऽहेतुकोऽनाद्यपर्यवसितत्वान्नित्य इत्येवं तमात्मानं ते बौद्धा नाभ्युपगतवन्त इति ॥१७॥ तथाऽपरे बौद्धाश्चातुर्धातुकमिदं जगदाहुरित्येतद्दर्शयितुमाह—

पुढवी आउ तेऊ[3] य, तहा वाऊ य[4] एगओ[5]। चत्तारि धाउणो[6] रूवं, एवमाहंसु आवरे[7] ॥१८॥

१ अत्र× प्र° इ.। २ प्रहृष्टो देवानांप्रियः आ. देवानां च प्रहृष्टो प्रियः इ.। ३ तेऊ°× अ. तेऊअ° आ.। ४ °अ° आ.। ५ एकउ अ. एकओ आ.। ६ द्धाउ° अ. आ.। ७ जाणगा अ. आ.।

पृथिवी धातुरापश्च धातुस्तथा तेजो वायुश्चेति, धारकत्वात्पोषकत्वाच्च धातुत्वमेषाम्, 'एगओत्ति' यदैते चत्वारोऽप्येकाकारपरिणतिं बिभ्रति कायाकारतया तदा जीवव्यपदेशमश्नुवते, तथा चोचुः--'चतुर्धातुकमिदं शरीरं, न तद्व्यतिरिक्त आत्माऽस्ती'ति, 'एवंमाहंसु यावरेत्ति' अपरे बौद्धविशेषा एवम् 'आहुः' अभिहितवन्त इति, क्वचिद् 'जाणगा' इति पाठः, तत्राप्ययमर्थो'जानका' ज्ञानिनो वयं[2] किलेत्यभिमानाग्निदग्धाः सन्त एवमाहुरिति संबन्धनीयम्। अफलवादित्वं चैतेषां क्रियाक्षण एव कर्तुः सर्वात्मना नष्टत्वात् क्रियाफलेन सबन्धाभावादवसेयं, सर्व एव वा पूर्ववादिनोऽफलवादिनो द्रष्टव्याः, कैश्चिदात्मनो नित्यस्याविकारिणोऽभ्युपगतत्वात् कैश्चित्त्वात्मन एवानभ्युपगमादिति। अत्रोत्तरदानार्थं प्राक्तन्येव[3] निर्युक्तिगाथा 'को वेए' ईर्त्यादि व्याख्यायते, यदि पञ्चस्कन्धव्यतिरिक्तः कश्चिदात्माख्यः पदार्थो न विद्यते ततस्तदभावात्सुखदुःखादिकं कोऽनुभवतीत्यादिगाथा प्राग्वद्व्याख्येयेति, तदेवमात्मनोऽभावाद्योऽयं स्वसंविदितः सुखदुःखानुभवः स कस्य भवत्विति चिन्त्यतां, ज्ञानस्कन्धस्यायमनुभव इति चेत्, न, तस्यापि क्षणिकत्वात्, ज्ञानक्षणस्य चातिसूक्ष्मत्वात् सुखदुःखानुभवाभावः, क्रियाफलवतोश्च क्षणयोरत्यन्तासंगतेः कृतनाशाकृताभ्यागमापत्तिरिति, ज्ञानसंतान एकोऽस्तीति चेत् तस्यापि संतानिव्यतिरिक्तस्याभावाद्यत्किञ्चिदेतत्, पूर्वक्षण एव उत्तरक्षणे वासनामाधाय विनङ्क्ष्यतीति चेत्, तथा चोक्तम्—"यस्मिन्नेव हि संताने, आहिता कर्मवासना। फलं तत्रैव [5]संधत्ते, कार्पासे रक्तता यथा॥१॥" अत्रापीदं विकल्प्यते—सा वासना किं क्षणेभ्यो व्यतिरिक्ताऽव्यतिरिक्ता वा ?, यदि व्यतिरिक्ता वासकत्वानुपपत्तिः, अथाव्यतिरिक्ता क्षणवत् क्षणक्षयित्वं तस्याः, तदेवमात्माभावे सुखदुःखानुभवाभावः स्याद्, अस्ति च सुखदुःखानुभवो, अतोऽस्त्यात्मेति, अन्यथा पञ्चविषयानुभवोत्तरकालमिन्द्रियज्ञानानां स्वविष-

१ °स्त्येवमाहं° आ °स्येवमाह° इ.। २ °नः किल वयमित्य° आ. इ.। ३ पूर्वतन्येव आ.। ४ इत्येषा आ. इ.। ५ संताने क० आ. संधत्ते क° इ.।

यादन्यत्राप्रवृत्तेः संकलनाप्रत्ययो न स्यात्, आलयविज्ञानाद्भविष्यतीति चेदात्मैव तर्हि संज्ञान्तरेणाभ्युपगत इति। तथा बौद्धागमोऽप्यात्मप्रतिपादकोऽस्ति, स चायम्—"इत एकनवते कल्पे, शक्त्या मे पुरुषो हतः। तेन कर्मविपाकेन, पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः! ॥१॥" तथा "कृतानि कर्माण्यतिदारुणानि, तनूभवन्त्यात्मनि गर्हणेन। प्रकाशनात्संवरणाच्च तेषामत्यन्तमूलोद्धरणं वदामि ॥१॥" इत्येवमादि, तथा यदुक्तं क्षणिकत्वं साधयता यथा 'पदार्थः कारणेभ्य उत्पद्यमानो नित्यः समुत्पद्यतेऽनित्यो वे'त्यादि, तत्र नित्येऽप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावे कारकाणां व्यापाराभावादतिरिक्ता वाचोयुक्तिरिति नित्यत्वपक्षानुत्पत्तिरेव, यच्च नित्यपक्षे भवताऽभिहितं 'नित्यस्य न क्रमेणार्थक्रियाकारित्वं नापि यौगपद्येनेति' तत्क्षणिकत्वेऽपि समानं, यतः क्षणिकोऽप्यर्थक्रियायां प्रवर्तमानः क्रमेण यौगपद्येन वाऽवश्यं सहकारिकारणसव्यपेक्ष एव प्रवर्तते, यतः 'सामग्री जनिका, न ह्येकं किञ्चिदि'ति तेन च सहकारिणा न तस्य कश्चिदतिशयः कर्तुं पार्यते, क्षणस्याविवेकत्वेनानाधेयातिशयत्वात्, क्षणानां च परस्परोपकारकोपकार्यत्वानुपपत्तेः सहकारित्वाभावः, सहकार्यनपेक्षायां च प्रतिविशिष्टकार्यानुपपत्तिरिति। तदेवमनित्य एव कारणेभ्यः पदार्थः समुत्पद्यत इति द्वितीयपक्षसमाश्रयणमेव, तत्रापि चैतदालोचनीयं—किं क्षणक्षयित्वेनानित्यत्वमाहोस्वित्परिणामानित्यतयेति ?, तत्र क्षणक्षयित्वे कारणकार्याभावात् कारकाणां व्यापार एवानुपपन्नः कुतः क्षणिकानित्यस्य कारणेभ्य उत्पाद इति ?, अथ पूर्वक्षणादुत्तरक्षणोत्पादे सति कार्यकारणभावो भवतीत्युच्यते, तदयुक्तं, यतोऽसौ पूर्वक्षणो विनष्टो वोत्तरक्षणं जनयेदविनष्टो वा ?, न तावद्विनष्टः, तस्यासत्त्वाज्जनकत्वानुपपत्तेः, नाप्यविनष्टः, उत्तरक्षणकाले पूर्वक्षणव्यापारसमावेशात्क्षणभङ्गभङ्गापत्तेः, पूर्वक्षणो विनश्यंस्तूत्तरक्षणमुत्पादयिष्यति तुलान्तयोर्नामोन्नामवदिति चेत्, एवं तर्हि क्षणयोः स्प-

°श्यन्नुत° आ.।

ष्टैवैककालताऽऽश्रिता, तथाहि–याऽसौ विनश्यदवस्था साऽवस्थातुरभिन्ना उत्पादावस्थाऽप्युत्पित्सोः, ततश्च तयोर्विनाशोत्पादयोर्यौगपद्याभ्युपगमे तद्धर्मिणोरपि पूर्वोत्तरक्षणयोरेककालावस्थायित्वमिति, तद्धर्मताऽनभ्युपगमे च विनाशोत्पादयोरवस्तुत्वापत्तिरिति। यच्चोक्तम्[1]–'जातिरेव हि भावानामि'त्यादि, तत्रेदमभिधीयते–यदि जातिरेव–उत्पत्तिरेव भावानां–पदार्थानामभावे हेतुः, ततोऽभावकारणस्य सन्निहितत्वेन विरोधेनाघ्रातत्वादुत्पत्त्यभावः, अथोत्पत्त्युत्तरकालं विनाशो भविष्यतीत्यभ्युपगम्यते, तथा सति उत्पत्तिक्रियाकाले तस्याभूतत्वात्पश्चाच्च भवन्ननन्तर एव भवति न भूयसा कालेनेति किमत्र नियामकं?, विनाशहेत्वभाव इति चेत्, यत उक्तं––'निर्हेतुत्वाद्विनाशस्य स्वभावादनुबन्धिते'ति, एतदप्ययुक्तं, यतो घटादीनां मुद्गरादिव्यापारानन्तरमेव विनाशो भवन् लक्ष्यते, ननु चोक्तमेवात्र[2] तेन मुद्गरादिना घटादेः किं क्रियते?, इत्यादि[3], सत्यमुक्तं इदमयुक्तं तूक्तं, तथाहि–अभाव इति प्रसज्यपर्युदास विकल्पद्वयेन योऽयं विकल्पितः पक्षद्वयेऽपि च दोषः प्रदर्शितः सोऽदोष एव, यतः पर्युदासपक्षे कपालाख्यभावान्तरकरणे घटस्य च परिणामानित्यतया तद्रूपतापत्तेः, कथं मुद्गरादेर्घटादीन् प्रत्यकिञ्चित्करत्वं?, प्रसज्यप्रतिषेधस्तु भावं न करोतीति क्रियाप्रतिषेधात्मकोऽत्र नाश्रीयते, किं तर्हि?, प्रागभावप्रध्वंसाभावेतरेतरात्यन्ताभावानां चतुर्णां मध्ये प्रध्वंसाभाव एवेहाश्रीयते, तत्र च कारकाणां व्यापारो भवत्येव, यतोऽसौ वस्तुतः[4] पर्यायोऽवस्थाविशेषो नाभावमात्रं, तस्य चावस्थाविशेषस्य भावरूपत्वात्पूर्वोपमर्देन च प्रवृत्तत्वाद्य एव कपालादेरुत्पादः स एव घटादेर्विनाश इति विनाशस्य सहेतुकत्वमवस्थितम्, अपिच––कादाचित्कत्वेन विनाशस्य सहेतुकत्वमवसेयमिति, पदार्थव्यवस्थार्थं चावश्यमभावचातुर्विध्यमाश्रयणीयं, तदुक्तम्—"कार्यद्रव्यमनादिः स्यात्प्रागभावस्य निह्नवे। प्रध्वंसस्य चाभावस्य[5], प्रच्यवेऽनन्ततां व्रजेत्॥१॥

१ यथो° आ.। २ °मेव×ते° आ.। ३ इति आ.। ४ वस्तुनः आ. इ.। सा. ५ च भावस्य प्र०।

सर्वात्मकं तदेकं स्यादन्यापोहव्यतिक्रमे" इत्यादि। तदेवं क्षणिकस्य विचाराक्षमत्वात्परिणामानित्यपक्ष एव ज्यायानिति। एवञ्च सत्यात्मा परिणामी ज्ञानाधारो भवान्तरयायी भूतेभ्यः कथञ्चिदन्य एव शरीरेण सहान्योऽन्यानुवेधादनन्योऽपि, तथा सहेतुकोऽपि नारकतिर्यङ्मनुष्यामरभवोपादानकर्मणा तथा तथा विक्रियमाणत्वात् पर्यायरूपतयेति, तथाऽऽत्मस्वरूपाप्रच्युतेर्नित्यत्वादहेतुकोऽपीति। आत्मनश्च शरीरव्यतिरिक्तस्य साधितत्वात् 'चतुर्द्धातुकमात्रं शरीरमेवेदमि'त्येतदुन्मत्तप्रलपितमपकर्णयितव्यमित्यलं प्रसङ्गेनेति ॥१८॥

साम्प्रतं पञ्चभूतात्माऽद्वैततज्जीवतच्छरीराकारकात्मषष्ठक्षणिकपञ्चस्कन्धवादिनामफलवादित्वं वक्तुकामः सूत्रकारस्तेषां स्वदर्शनफलाभ्युपगमं दर्शयितुमाह—

अगारमावसंतावि[1], अरण्णा[2] वावि पव्वया। इमं दरिसिणमावण्णा, सव्वदुक्खा विमुंच्चई[3] ॥१९॥

'अगारं' गृहं तद् 'आवसन्तः' तस्मिंस्तिष्ठन्तो गृहस्था इत्यर्थः, 'आरण्या वा' तापसादयः, 'प्रव्रजिताश्च' शाक्यादयः[4], अपिः संभावने, इदं ते संभावयन्ति यथा––'इदम्' अस्मदीयं दर्शनम् 'आपन्ना' आश्रिताः सर्वदुःखेभ्यो विमुच्यन्ते, आर्षत्वादेकवचनं सूत्रे कृतं, तथाहि––पञ्चभूततज्जीवतच्छरीरवादिनामयमाशयः—यथेदमस्मदीयं दर्शनं ये समाश्रितास्ते गृहस्थाः सन्तः सर्वेभ्यः शिरस्तुण्डमुण्डनदण्डाजिनजटाकाषायचीवरधारणकेशोल्लुञ्चननाग्न्यतपश्चरणकायक्लेशरूपेभ्यो दुःखेभ्यो मुच्यन्ते, तथा चोचुः—"तपांसि यातनाश्चित्राः, संयमो भोगवञ्चनम्। अग्निहोत्रादिकं कर्म, बालक्रीडेव लक्ष्यत ॥१॥" इति, सांख्यादयस्तु मोक्षवादिन एवं संभावयन्ति—यथा येऽ-

१ आगा° अ. आ.। २ आरन्ना अ. अरन्ना आ.। ३ विमुच्चती आ.। सा. ४ दगसोयरिआदओ चू० तच्चणिआणं उवासगाविवज्झंति आरोप्पगावि अणागमणधम्मिणोय देवा तओ चेव णिधंति। ५ जटा×××ची० आ.। ६ °×××मु० आ.। ७ °वञ्चना इ.।

-सदीयं दर्शनमकर्तृत्वात्माऽद्वैतपञ्चस्कन्धादिप्रतिपादकमापन्नाः प्रव्रजितास्ते सर्वेभ्यो जन्मजरामरणगर्भपरम्पराऽनेकशारीरमानसातितीव्रतरासातोदयरूपेभ्यो दुःखेभ्यो विमुच्यन्ते, सकलद्वन्द्वविनिर्मोक्षं मोक्षमास्कन्दन्तीत्युक्तं भवति ॥१९॥ इदानीं तेषामेवाफलवादित्वाविष्करणायाह—

ते णावि संधिं [1]णच्चा णं, न ते धम्मवि[2]ओ जणा। जे ते उ वाइणो एवं, न ते [3]ओहंतराऽऽहिया ॥२०॥

ते णावि संधिं [1]णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा। जे ते उ वा[4]ईणो एवं, न ते संसारपारगा ॥२१॥

ते णावि संधिं [1]णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा। जे ते उ वाइणो एवं, न ते गब्भस्स पारगा ॥२२॥

ते णावि संधिं [1]णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा। जे ते उ वाइणो एवं, न ते जम्मस्स पारगा ॥२३॥

ते णावि संधिं [1]णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा। जे ते उ वाइणो एवं, न ते दुक्खस्स [5]पारगा ॥२४॥

ते णावि संधिं [1]णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा। जे ते उ वाइणो एवं, न ते मारस्स पारगा ॥२५॥

ते—पञ्चभूतवाद्याद्याः 'नापि' नैव 'सन्धिं' छिद्रं—विवरं, स च द्रव्यभावभेदाद्द्वेधा, तत्र द्रव्यसन्धिः कुड्यादेः भावसन्धिश्च ज्ञानावरणादिकर्मविवररूपः तमज्ञात्वा ते प्रवृत्ताः, णमिति वाक्यालङ्कारे, यथा आत्मकर्मणोः सन्धिर्द्विधाभावलक्षणो भवति तथा अबुद्ध्वैव ते

१ न° अ. । २ °विऊ अ. आ. । ३ उह° अ. । ४ वातिणो अ. आ. । ५ °पारया आ. ।

वराका दुःखमोक्षार्थमभ्युद्यता इत्यर्थः, यथा त एवंभूतास्तथा प्रतिपादितं लेशतः प्रतिपादयिष्यते च, यदिवा—सन्धानं सन्धिः—उत्तरोत्तरपदार्थपरिज्ञानं तदज्ञात्वा प्रवृत्ता इति, यतश्चैवमतस्ते न सम्यग्धर्मपरिच्छेदे कर्तव्ये विद्वांसो—निपुणा 'जनाः' पञ्चभूतास्तित्वादिवादिनो लोका इति, तथाहि—क्षान्त्यादिको दशविधो धर्मस्तमज्ञात्वैवान्यथाऽन्यथा च धर्मं प्रतिपादयन्ति, यत्फलाभावाच्च तेषामफलवादित्वं तदुत्तरग्रन्थेनोद्देशकपरिसमाप्त्यवसानेन दर्शयति—'ये ते त्विति' तुशब्दश्चशब्दार्थे य इत्यस्यानन्तरं प्रयुज्यते, ये च ते एवमनन्तरोक्तप्रकारवादिनो नास्तिकादयः, 'ओघो' [1]भवौघः संसारस्तत्तरणशीलास्ते न भवन्तीति श्लोकार्थः ॥२०॥ त[3]था च न ते वादिनः संसारगर्भजन्मदुःखमारादिपारगा भवन्तीति ॥२१॥२२॥२३॥२४॥२५॥ यत्पुनस्ते प्राप्नुवन्ति तद्दर्शयितुमाह—

[4]णाणाविहाइं दुक्खाइं, अणुहोंति[5] पुणो पुणो। संसारचक्कवालंमि, [6]मच्चुवाहिजराकुले ॥२६॥

उच्चावयाणि[7] गच्छंता, गब्भमेस्सात[8] णतसो। [9]नायपुत्ते महावीरे, एवमाहं[10] जिणोत्तमे ॥२७॥

[11]इति बेमि पढमसज्झयणे पढमो उद्देसो समत्तो ॥

'नानाविधानि' बहुप्रकाराणि 'दुःखानि' असातोदयलक्षणान्यनुभवन्ति पुनः पुनः, तथाहि—नरकेषु करपत्रदारणकुम्भीपाकतप्ता-

१ ××भवौघः आ. इ.। सा. २ अष्टप्रकारं कर्म चू०। ३ तथा×° आ. इ.। ४ णाणा° आ.। ५ °भवंति अ. हवंति आ.। ६ मच्चवाहि° अ. वाहिमच्चुज° आ.। ७ वयाइं गच्छंता आ.। ८ °मेस्संत अ. °मेसंत आ.। ९ नाय° अ. ×° आ.। १० माहि अ. ×आ.। ११ ×××प्रथमोद्देशकः ॥छ॥छ॥ अ. ××पढमज्झयणे पढमो उद्देसओ× ॥छ॥ आ.।

यःशाल्मलीसमालिङ्गनादीनि तिर्यक्षु च शीतोष्णदमनाङ्कन[1]ताडनाऽतिभारारोपणक्षुत्तृडादीनि मनुष्येषु इष्टवियोगानिष्ट[2]संप्रयोगशोकाक्रन्दनादीनि देवेषु चाभियोग्येर्ष्यै[3]किल्बिषिकत्वच्यवनादीन्यनेकप्रकाराणि दुःखानि ये एवंभूता वादिनस्ते पौनः पुन्येन समनुभवन्ति, एतच्च श्लोकार्द्धं सर्वेष्वूत्तरश्लोकार्धेष्वायोज्यम्, शेषं सुगमं यावदुद्देशकसमाप्तिरिति ॥२६॥ नवरम् 'उच्चावचानी'ति अधमोत्तमानि नानाप्रकाराणि वासस्थानानि गच्छन्तीति, गच्छन्तो भ्रमन्तो गर्भाद्गर्भमेष्यन्ति यास्यन्त्यनन्तशो निर्विच्छेद[4]मिति ब्रवीमीति सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनं प्रत्याह—ब्रवीम्यहं तीर्थकराज्ञया, न स्वमनीषिकया, स चाहं ब्रवीमि येन मया तीर्थङ्करसकाशाच्छ्रुतम्, एतेन च क्षणिकवादिनिरासो द्रष्टव्यः ॥२७॥ इति समयाख्यप्रथमाध्ययने प्रथमोद्देशकः समाप्तः ॥[5]

卐 卐 卐 卐 卐

अथ प्रथमाध्ययने द्वितीय उद्देशकः प्रारभ्यते ॥

उक्तः प्रथमोद्देशकस्तदनु द्वितीयोऽभिधीयते, तस्य चायमभिसंबन्धः—इहानन्तरोद्देशके स्वसमयपरसमयप्ररूपणा कृता, इहाप्यध्ययनार्थाधिकारत्वात्सैवाभिधीयते, यदिवाऽनन्तरोद्देशके भूतवादादि[6]मतं प्रदर्श्य तन्निराकरणं कृतं, तदिहापि तदवशिष्टनियतिवाद्यादिमिथ्यादृष्टिमतान्युपदर्श्य निराक्रियन्ते, अथवा प्रागुद्देशकेऽभ्यधायि यथा 'बंधनं बुध्येत तच्च त्रोटयेदिति' तदेव च बन्धनं नियति-

१ °ष्णमदनाङ्कनताडनां आ. °ष्णदहनमदनाङ्कनताडना इ. । २ निष्टसं× ° आ. । ३ °योग्येषां° आ. योग्येर्ष्यं° इ. । ४ निर्वेद° आ. । ५ ग्रन्थाग्रं९६५ आ. ग्रन्थाग्रं९०५. इ. । ६ °दिसमयं आ. ।

वाद्यं[1]भिप्रायेण न विद्यत इति प्रदर्श्यते—तदेवमनेकसवन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि व्यावर्ण्य सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्——

आघायं पुण एगेसिं, उववण्णा[2] पुढो जिया। वेदयंति सुहं दुक्खं, अदुवा लुप्पंति ठाणउ[3] ॥१॥

अस्य चानन्तरपरम्परसूत्रैः संबन्धो वक्तव्यः, तत्रानन्तरसूत्रसंबन्धोऽयम्——इहानन्तरसूत्रे इदमभिहितं, यथा 'पञ्चभूतस्कन्धादिवादिनो मिथ्यात्वोपहतान्तरात्मानोऽसद्ग्रहाभिनिविष्टाः परमार्थावबोधविकलाः सन्तः संसारचक्रवाले व्याधिमृत्युजराकुले उच्चावचानि स्थानानि गच्छन्तो गर्भमेष्यन्त्यन्वेषयन्ति वाऽनन्तश' इति, तदिहापि नियत्यज्ञानिर्ज्ञानचतुर्विधं[4]कर्मा[5]पचयवादिनां तदेव संसारचक्रवालभ्रमणगर्भान्वेषणं प्रतिपाद्यते। परम्परसूत्रं तु 'बुज्झेझे[6]'त्यादि, तेन च सहायं[7] संबन्धः—तत्र बुध्येतेत्येतत् प्रतिपादितम्, इहापि यदाख्यातं नियतिवादिभिस्तद्बुध्येत, इत्येवं मध्यसूत्रैरपि यथासंभवं संबन्धो लगनीय इति तदेवं पूर्वोत्तरसंबन्धसंबद्धस्यास्य सूत्रस्याधुनाऽर्थः प्रतन्यते—पुनःशब्दः पूर्ववादिभ्यो विशेषं दर्शयति, नियतिवादिनां पुनरेकेषामेतदाख्यातं, अत्र च 'अविवक्षितकर्मका अपि अकर्मका भवन्ती'ति ख्यातेर्धातोर्भावे निष्ठाप्रत्ययः तद्योगे कर्तरि षष्ठी ततश्चायमर्थः——तैर्नियतिवादिभिः पुनरिदमाख्यातं, तेषामयमाशय इत्यर्थः, तद्यथा——' उपपन्ना ' युक्त्या घटमानका इति, अनेन च पञ्चभूततज्जीवतच्छरीरवादिमतमपाकृतं भवति, युक्तिस्तु लेशतः प्राग्दर्शितैव प्रदर्शयिष्यते च, पृथक् पृथक् नारकादिभवेषु शरीरेषु वेति, अनेनाप्यात्माद्वैत[8]वादिनिरासोऽवसेयः, के पुनस्ते पृथगुपपन्नाः ?,

१ °वाद्याद्यभि° आ.। २ °न्ना आ.। ३ °ओ आ.। ४ °निज्ञानिचतुर्विधकर्म×च° आ. °निज्ञानिचतुर्विधकर्माप° इ.। सा. ५ न कर्मापचय प्र०। ६ बुज्झेत्यादि आ. बुज्झेज्ज इत्यादि इ.। ७ सहास्यायं आ. इ.। ८ °द्वैतवाद° आ. इ.।

तदाह—'जीवाः' प्राणिनः सुखदुःखभोगिनः, अनेन च पञ्चस्कन्धातिरिक्तजीवाभावप्रतिपादकबौद्धमतापक्षेपः कृतो द्रष्टव्यः, तथा ते जीवाः 'पृथक्' पृथक् प्रत्येकदेहे[1] व्यवस्थिताः सुखं दुःखं च 'वेदयन्ति' अनुभवन्ति, न वयं प्रतिप्राणि प्रतीतं सुखदुःखानुभवं निह्नुमहे, अनेन चाकर्तृवादिनो निरस्ता भवन्ति, अकर्तर्यविकारिण्यात्मनि सुखदुःखानुभवानुपपत्तेरिति भावः। तथैतदस्माभिर्नापलप्यते 'अदुवे' ति अथवा ते प्राणिनः सुखं दुःखं चानुभवन्ति[2], 'विलुप्यन्ते' उच्छिद्यन्ते[3] स्वायुषः प्रच्याव्यन्ते स्थानात्स्थानान्तरं संक्राम्यन्त इत्यर्थः, ततश्चौपपा-
॥ ८ ॥ तिकत्वमप्यस्माभिस्तेषां न निषिध्यते इति श्लोकार्थः ॥१॥ तदेवं पञ्चभूतास्तित्वादिवादिनिरासं कृत्वा यच्चैर्नियतिवादिभिराश्रीयते तच्छ्लोकद्वयेन दर्शयितुमाह—

न तं सयं कडं दुक्खं, केओ[4] अन्नकडं च णं ?। सुहं वा जइ[5] वा दुक्खं, सेहियं वा असेहियं ॥२॥

सयं[6] कडं न अण्णेहिं, वेदयंति[7] पुढो जिया। संगइअं[8] तं तहा तेसिं, इहमेगेसि आहिअं ॥३॥

यत् तैः प्राणिभिरनुभूयते सुखं दुःखं स्थानविलोपनं वा न तत् 'स्वयम्' आत्मना पुरुषकारेण 'कृतं' निष्पादितं दुःखमिति कारणे
॥ १० ॥ कार्योपचारात् दुःखकारणमेवोक्तम्, अस्य चोपलक्षणत्वात् सुखाद्यपि ग्राह्यं, ततश्चेदमुक्तं भवति—योऽयं सुखदुःखानुभवः स पुरुषकार-कृतकारणजन्यो न भवतीति, तथा कुतः 'अन्येन' कालेश्वरस्वभावकर्मादिना च कृतं भवेत् 'ण'मित्यलङ्कारे तथाहि—यदि पुरुषकार[10]-कृतं सुखाद्यनुभूयेत ततः सेवकवणिक्कर्षकादीनां समाने पुरुषाकारे सति फलप्राप्तिवैसदृश्यं फलाप्राप्तिश्च न भवेत्, कस्यचित्तु सेवादिव्या-

१ °क देहं आ. °क देह° इ.। २ °न्तो विलु° आ. °न्तोपिविलु° इ.। ३ उच्छ्रियन्ते आ.। ४ कउ अ.। ५ जाति अ.। ६ न सयं अ. आ.। ७ वेवयंति अ.। ८ संगतियं अ.। ९ कृतं××××दुःख० आ.। १० °कार ×× कार° आ.।

पाराभावेऽपि विशिष्टफलावाप्तिर्दृश्यत इति, अतो न पुरुषकारात्किञ्चिदासाद्यते, किं तर्हि?, नियतेरेवेति, एतच्च द्वितीयश्लोकान्तेऽभिधास्यते नापि कालः कर्ता, तस्यैकरूपत्वाज्जगति फलवैचित्र्यानुपपत्तेः, कारणभेदे हि कार्यभेदो भवति नाभेदे, तथाहि—अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा घटते यदुत विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्च, तथेश्वरकर्तृकेऽपि सुखदुःखे न भवतः, यतोऽसावीश्वरो मूर्तोऽमूर्तो वा?, यदि मूर्तस्ततः प्राकृतपुरुषस्येव सर्वकर्तृत्वाभावः, अथामूर्तस्तथा सत्याकाशस्येव सुतरां निष्क्रियत्वम्, अपिच—यद्यसौ रागादिमांस्ततोऽस्मदाद्यव्यतिरेकाद्विश्वस्याकर्त्तैव, अथासौ विगतरागस्ततस्तत्कृतं सुभगदुर्भगेश्वरदरिद्रादि[2] जगद्वैचित्र्यं न घटां प्राञ्चति, ततो नेश्वरः कर्तेति, तथा स्वभावस्यापि सुखदुःखादिकर्तृत्वानुपपत्तिः, यतोऽसौ स्वभावः पुरुषाद्भिन्नोऽभिन्नो वा?, यदि भिन्नो न पुरुषाश्रिते सुखदुःखे कर्तुमलं, तस्माद्भिन्नत्वादिति, नाप्यभिन्नः अभेदे पुरुष एव स्यात्, तस्य चाकर्तृत्वमुक्तमेव। नापि कर्मणः सुखदुःखं प्रति कर्तृत्वं घटते, यतस्तत्कर्म पुरुषाद्भिन्नमभिन्नं वा भवेत्?, अभिन्नं चेत्पुरुषमात्रतापत्तिः कर्मणः, तत्र चोक्तो दोषः, अथ भिन्नं तत्किं सचेतनमचेतनं वा?, यदि सचेतनमेकस्मिन् काये चैतन्यद्वयापत्तिः, अथाचेतनं तथा सति कुतस्तस्य पाषाणखण्डस्येवास्वतन्त्रस्य सुखदुःखोत्पादनं प्रति कर्तृत्वमिति, एतच्चोत्तरत्र व्यासेनप्रतिपादयिष्यत इत्यलं प्रसङ्गेन। तदेवं सुखं 'सैद्धिकं' सिद्धौ–अपवर्गलक्षणायां भवं यदिवा दुःखम्—असातोदयलक्षणमसैद्धिकं सांसारिकं, यदिवा उभयमप्येतत्सुखं दुःखं वा, स्रक्चन्दनाङ्गनाद्युपभोगक्रियासिद्धौ भवं तथा कशाताडनाङ्कनादिसिद्धौ[3] भवं सैद्धिकं[4], तथा 'असैद्धिकं' सुखमान्तरमानन्दरूपमाकस्मिकमनवधारितबाह्यनिमित्तम् एवं दुःखमपि ज्वरशिरोऽर्तिशूलादिरूपमङ्गोत्थमसैद्धिकं, तदेतदुभयमपि न स्वयं पुरुषकारेण कृतं नाप्यन्येन केनचित् कालादिना कृतं 'वेदयन्ति' अनुभवन्ति 'पृथक्जीवाः'

१ XXX आ. इ. । २ दारिद्र्यादि आ. । ३ °नादिक्रियासिद्धो च भ० आ. इ. । ४ सैद्धिकमिति आ. इ. ।

प्राणिन इति। कथं तर्हि तत्तेषामभूत् ? इति नियतिवादी स्वाभिप्रायमाविष्करोति–'संगइयंति' सम्यक्स्वपरिणामेन गतिः—यस्य यदा यत्र यत्सुखदुःखानुभवनं सा संगतिः—नियतिस्तस्यां भवं सांगतिकं, यतश्चैवं न पुरुषकारादिकृतं सुखदुःखादि अतस्तत्तेषां प्राणिनां नियतिकृतं सांगतिकमित्युच्यते, 'इह' अस्मिन् सुखदुःखानुभववादे[1] एकेषां वादिनाम् 'आख्यातं' तेषामयमभ्युपगमः, तथा चोक्तम्—"प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः, सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा। भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने, नाभाव्यं भवति न

८ भाविनोऽस्ति नाशः ॥१॥" ॥३॥ एवं श्लोकद्वयेन नियतिवादिमतमुपन्यस्यास्योत्तरदानायाह—

एवमेयाणि जंपंता, बाला पंडिअमाणिणो[2]। निययानिययं संतं, अयाणंता[3] अबुद्धिया ॥४॥

एवमेगे उ पासत्था, ते भुज्जो विप्पगब्भिआ। एवं उवट्ठिआ[4] संता, ण ते दुक्खविमोक्खया[5] ॥५॥

'एवम्' इति अनन्तरोक्तस्योपप्रदर्शने 'एतानि' पूर्वोक्तानि नियतिवादाश्रितानि वचनानि 'जल्पन्तः' अभिदधतो बाला इव 'बालाः' अज्ञाः सदसद्विवेकविकला अपि सन्तः 'पण्डितमानिन' आत्मानं पण्डितं मन्तुं शीलं येषां ते तथा, किमिति त एवमुच्यत ? इति

१० तदाह–यतो 'निययानिययं संतमिति' सुखादिकं किञ्चिन्नियतिकृतम्–अवश्यंभाव्युदयप्रापितं तथा अनियतम्–आत्मपुरुषकारेश्वरादिप्रापितं सत् नियतिकृतमेवैकान्तेनाश्रयन्ति, अतोऽजानानाः सुखदुःखादिकारणं अबुद्धिका–बुद्धिरहिता भवन्तीति, तथाहि–आर्हतानां किञ्चित्सुखदुःखादि नियतित एव भवति—तत्कारणस्य कर्मणः कस्मिंश्चिदवसरेऽवश्यंभाव्युदयसद्भावान्नियतिकृतमित्युच्यते, तथा किञ्चिदनियतिकृतं च—पुरुषकारकालेश्वरस्वभावकर्मादिकृतं, तत्र[6] कथञ्चित्सुखदुःखादेः पुरुषकारसाध्यत्वमप्याश्रीयते, यतः क्रियातः फलं

१ °वादौ एकेषां आ. । २ नाणिणो अ. । ३ आयाणंता अ. अजाणंता आं. । ४ पुवट्ठिता अ. पुवट्ठियां आ. । ५ °मोयगा अ. । ६ तथा आ. ।

भवति, क्रिया च पुरुषकाराऽऽयत्ता प्रवर्तते, तथा चोक्तम्,-"न दैवमिति संचिन्त्य, त्यजेदुद्यममात्मनः। अनुद्यमेन कस्तैलं, तिलेभ्यः प्राप्तुमर्हति ? ॥१॥" यत्तु समाने पुरुषव्यापारे फलवैचित्र्यं दूषणत्वेनोपन्यस्तं तददूषणमेव, यतस्तत्रापि पुरुषकारवैचित्र्यमपि फलवैचित्र्ये कारणं भवति, समाने वा पुरुषकारे यः फलाभावः कस्यचिद्भवति सोऽदृष्टकृतः, तदपि चास्माभिः कारणत्वेनाश्रितमेव। तथा कालोऽपि कर्ता, यतो बकुलचम्पकाशोकपुन्नागनागसहकारादीनां विशिष्ट एव काले पुष्पफलाद्युद्भवो न सर्वदेति, यच्चोक्तं 'कालस्यैकरूपत्वाज्जगद्वैचित्र्यं न घटत' इति, तदस्मान् प्रति न दूषणं, यतोऽस्माभिर्न काल एवैकः कर्तृत्वेनाभ्युपगम्यते अपि तु कर्मापि, ततो जगद्वैचित्र्यमित्यदोषः। तथेश्वरोऽपि कर्ता, आत्मैव हि तत्र तत्रोत्पत्तिद्वारेण सकलजगद्व्यापनादीश्वरः, तस्य सुखदुःखोत्पत्तिकर्तृत्वं सर्ववादिनामविगानेन सिद्धमेव, यच्चात्र मूर्तामूर्तादिकं दूषणमुपन्यस्तं तदेवंभूतेश्वरसमाश्रयणे दूरोत्सादितमेवेति। स्वभावस्यापि कथञ्चित्कर्तृत्वमेव, तथाहि—आत्मन उपयोगलक्षणत्वमसंख्येयप्रदेशत्वं पुद्गलानां च मूर्तत्वं धर्माधर्मास्तिकाययोर्गतिस्थित्युपष्टम्भकारित्वममूर्तत्वं चेत्येवमादि स्वभावापादितं, यदपि चात्रात्मव्यतिरेकाव्यतिरेकरूपं दूषणमुपन्यस्तं तददूषणमेव, यतः स्वभाव आत्मनोऽव्यतिरिक्तः, आत्मनोऽपि च कर्तृत्वमभ्युपगतमेतदपि स्वभावापादितमेवेति। तथा कर्मापि कर्तृ भवत्येव, तद्धि जीवप्रदेशैः सहान्योऽन्यानुवेधरूपतया व्यवस्थितं कथञ्चिच्चात्मनोऽभिन्नं, तद्वशाच्चात्मा नारकतिर्यङ्मनुष्यामरभवेषु पर्यटन् सुखदुःखादिकमनुभवतीति। तदेवं नियत्यनियत्योः कर्तृत्वे युक्त्युपपन्ने सति नियतेरेव कर्तृत्वमभ्युपगच्छन्तो निर्बुद्धिका भवन्तीत्यवसेयम् ॥४॥ तदेवं युक्त्या नियतिवादं दूषयित्वा तद्वादिनामपायदर्शनायाह—'एव'मिति पूर्वाभ्युपगमसंसूचकः, सर्वस्मिन्नपि वस्तुनि नियतानियते सत्येके नियतिमेवावश्यंभाव्येव ॥३२॥

१ उपन्यस्तं दूषणत्वेन आ. इ.। २ अतो आ.। ३ °त्मनाऽ° आ.। ४ °मुपग° आ.। ५ नियतमे° आ. इ.।

कालेश्वरादेर्निराकरणेन निर्हेतुकतया नियतिवादमाश्रिताः, तुरवधारणे, त एव नान्ये, किंविशिष्टाः पुनस्ते इति दर्शयति—युक्तिकदम्बकाद्बहिस्तिष्ठन्तीति पार्श्वस्थाः परलोकक्रियापार्श्वस्था वा, नियतिपक्षसमाश्रयणात्परलोकक्रियावैयर्थ्यं, यदिवा-पाश इव पाशः-कर्मबन्धनं, तच्चेह युक्तिविकलनियतिवादप्ररूपणं तत्र स्थिताः पाशस्थाः, अन्येऽप्येकान्तवादिनः कालेश्वरादिकारणिकाः पार्श्वस्थाः पाशस्था वा द्रष्टव्या इत्यादि, 'ते' पुनर्नियतिवादमाश्रित्यापि, भूयो विविधं विशेषेण वा 'प्रगल्भिता' धाष्टर्योपगताः[1] परलोकसाधकासु[2] क्रियासु प्रवर्न्तते, धार्ष्ट्याश्रयणं तु तेषां नियतिवादाश्रयणे सत्येव पुनरपि तत्प्रतिपन्थिनीषु क्रियासु प्रवर्तनादिति, ते पुनः 'एवमप्युपस्थिताः' परलोकसाधकासु[3] क्रियासु प्रवृत्ता अपि सन्तो 'नात्मदुःखविमोक्षकाः' असम्यक्प्रवृत्तत्वान्नात्मानं दुःखाद्विमोचयन्ति। गता नियतिवादिनः ॥५॥ साम्प्रतमज्ञानिमतं दूषयितुं दृष्टान्तमाह—

जविणो मिगा जहा संता, परिताणेण[4] वज्जिआ। असंकियाइं[5] संकंति, संकिआइं[6] असंकिणो ॥६॥

यथा—'जविनो' वेगवन्तः सन्तो 'मृगा' आरण्याः पशवः परि-समन्तात् त्रायते-रक्षतीति परित्राणं तेन वर्जिता-रहिताः, परित्राणविकला इत्यर्थः। यदिवा-परितानं-वागुरादिबन्धनं तेन तर्जिता-भयं ग्राहिताः सन्तो भयोद्भ्रान्तलोचनाः समाकुलीभूतान्तःकरणाः सम्यग्विवेकविकला 'अशङ्कनीयानि' कूटपाशादिरहितानि स्थानान्यशङ्कार्हाणि तान्येव 'शङ्कन्ते' अनर्थोत्पादकत्वेन गृह्णन्ति। यानि पुनः 'शङ्कार्हाणि' शंका संजाता येषु योग्यत्वात्तानि शङ्कितानि-शङ्कायोग्यानि-वागुरादीनि तान्यशङ्किनः तेषु शङ्कामकुर्वाणाः, 'तत्र तत्र' पाशादिके संपर्ययन्त इत्युत्तरेणसंबन्धः[7] ॥६॥ पुनरप्येतदेवातिमोहाविष्करणायाह—

१ धाष्टर्योपेताः आ. इ.। २ °साधिकासु आ. इ.। ३ °साधिकासु आ. इ.। ४ परिताणेण वज्जिया आ. परियाणेण तज्जिया अ.। ५ °कियाणि अ.। ६ संकियाणो अ.। ७ °ण सह सम्बन्धः आ. इ.।

परियाणिआणि[1] संकंता, पासितांणि असंकिणो। अण्णाणभयसंविग्गा, संपलिंति तहिं तहिं ॥७॥

परित्रायते इति परित्राणं तज्जातं येषु तानि तथा, परित्राणयुक्तान्येव शङ्कमाना अतिमूढत्वाद्विपर्यस्तबुद्धयः, त्रातर्यपि भयमुत्प्रेक्षमाणाः, तथा 'पाशितानि' पाशोपेतानि—अनर्थापादकानि 'अशङ्किनः' तेषु शङ्कामकुर्वाणाः सन्तः अज्ञानेन भयेन च 'संविग्ग'त्ति सम्यग्व्याप्ता—वशीकृताः, शङ्कनीयम[2]शङ्कनीयं वा तथा परित्राणोपेतं पाशाद्यनर्थोपेतं वा सम्यग्विवेकेनाजानानाः 'तत्र तत्र' अनर्थबहुले पाशवागुरादिके बन्धने 'संपर्ययन्ते' सम्—एकीभावेन परि—समन्तादयन्ते या[3]न्ति वा, गच्छन्तीत्युक्तं भवति, तदेवं दृष्टान्तं प्रसाध्य नियतिवादाद्येकान्ताज्ञानवादिनो दार्ष्टान्तिकत्वेनाऽऽयोज्याः, यतस्तेऽप्येकान्तवादिनोऽज्ञानिकाः त्राणभूतानेकान्तवादवर्जिताः सर्वदोषविनिर्मुक्तं कालेश्वरादिकारणवादाभ्युपगमेनानाशङ्कनीयमनेकान्तवादमाशङ्कन्ते शङ्कनीयं च नियत्यज्ञानवादमेकान्तं न शङ्कन्ते, 'ते' एवंभूताः परित्राणार्हेऽप्यनेकान्तवादे शङ्कां कुर्वाणा युक्त्याऽघटमानकमनर्थबहुलमेकान्तवादमशङ्कनीयत्वेन गृह्णन्तोऽज्ञानावृतास्तेषु तेषु कर्मबन्धस्थानेषु संपर्ययन्त इति ॥७॥ पूर्वदोषैरतुष्यन्नाचार्यो दोषान्तरदित्सया पुनरपि प्राक्तनदृष्टान्तमधिकृत्याऽऽह—

अह तं पवेज्ज बज्झं[4], अहे बज्झस्स[5] वा[6] वए। मुं[7]चेज्ज पयपासाओ[8], तं तु मंदे[9]ण देहए[10] ॥८॥

'अथ' अनन्तरमसौ मृगस्तत् 'वज्झमिति' बद्धं—बन्धनाकारेण व्यवस्थितं वागुरादिकं वा बन्धनं बन्धकत्वाद्बन्धमित्युच्यते, तदेवंभूतं कूटपाशादिकं बन्धनं यद्यसावुपरि प्लवेत् तदधस्तादतिक्रम्योपरि गच्छेत्, तस्य वध्र्यादेर्बन्धनस्याधो (वा) गच्छेत्, तत एवं क्रिय-

१ °याणि आ. अ.। २ शङ्कनीयं वा आ.। ३ °दयन्तेxxx आ. °दयन्ते यंति वा इ.। ४ ज्जा वब्भं अ. ज्ज गब्भं आ.। ५ वब्भ° अ. आ.। ६ वावहे अ.। ७ मुंच्चेज्ज अ. आ.। ८ पयपासाउ अ. पदपासाओ आ.। ९ मंदो ण आ.। १० देहती अ. देहते आ.।

माणेऽसौ मृगः पदे पाशः पदपाशो–वागुरादिवन्धनं तस्मान्मुच्येत, यदिवा पदं–कूटं पाशः–प्रतीतस्ताभ्यां मुच्येत, क्वचित्पदपाशादीति पठ्यते, आदिग्रहणाद्वधताडनमारणादिकाः क्रिया गृह्यन्ते, एवं सन्तमपि तमनर्थपरिहरणोपायं 'मन्दो' जडोऽज्ञानावृतो न 'देहती'ति न पश्यतीति ॥८॥ कूटपाशादिकं चापश्यन् यामवस्थामवाप्नोति तां दर्शयितुमाह—

अहिअप्पाऽहियपण्णाणे[1], विसमंतेणुवागते[2] । स बद्धे[3] पयपासेणं[4], तत्थ घायं नियच्छइ[5] ॥९॥

॥ ८ ॥ स मृगोऽहितात्मा तथाऽहितं प्रज्ञानं–बोधो[6] यस्य सोऽहितप्रज्ञानः, स चाहितप्रज्ञानः सन् 'विषमान्तेन' कूटपाशादियुक्तेन प्रदेशेनोपागतः, यदिवा–विषमान्ते–कूटपाशादिके आत्मानमनुपातयेत्[7], तत्र चासौ पतितो बद्धश्च तेन कूटादिना पदपाशादीननर्थबहुलानवस्थाविशेषान् प्राप्तः 'तत्र' बन्धने 'घातं' विनाशं 'नियच्छति' प्राप्नोतीति ॥९॥ एवं दृष्टान्तं प्रदर्श्य सूत्रकार एव दार्ष्टान्तिकमज्ञानविपाकं दर्शयितुमाह—

एवं तु समणा एगे, मिच्छदिट्ठी[8] अणारिआ । असंकिआइं[9] संकंति, संकिआइं[10] असंकिणो ॥१०॥

॥ १० ॥ एवमिति यथा मृगा अज्ञानावृता अनर्थमनेकशः प्राप्नुवन्ति, तुरवधारणे, एवमेव 'श्रमणाः' केचित् पाखण्डविशेषाश्रिताः एके न सर्वे, किंभूतास्ते इति दर्शयति–मिथ्या–विपरीता दृष्टिर्येषामज्ञानवादिनां नियतिवादिनां वा ते मिथ्यादृष्टयः, तथा 'अनार्याः' आराद्याताः सर्वहेयधर्मेभ्य इति आर्याः न आर्या अनार्या अज्ञानावृतत्वादसदनुष्ठायिन इतियावत् । अज्ञानावृतत्वं च दर्शयति–'अशङ्कितानि'

१ °पण्णाणो अ. °पन्नाणे आ. । २ °वायाए आ. । ३ से वद्धे अ. आ. । ४ °पासादी अ. °पासाइं आ. । ५ निगच्छती अ. । ६ अववोधो आ. । सा. ७ °तेऽणुवायए इति पाठमाश्रित्य । ८ मिच्छा° अ. । ९ असंकियाणि–अ. असंकियाइं आ. । १० संकियाणि अ. संकियाइ आ. ।

अशङ्कनीयानि सुधर्मानुष्ठानादीनि शङ्कमानाः, तथा 'शङ्कनीयानि' अपायबहुलानि एकान्तपक्षसमाश्रयणानि, अशङ्किनो मृगा इव मूढचेतसस्तत्तदाऽऽरभन्ते यद्यदनर्थाय संपद्यन्त इति ॥१०॥ शङ्कनीयाशङ्कनीयविपर्यासमाह—

धम्मपण्णव[1]णा जा सा, तं तु संकंति मूढगा[2]। आरंभाइं[3] न संकंति, अविअत्ता अकोविआ ॥११॥

धर्मस्य—क्षान्त्यादिदशलक्षणोपेतस्य या प्रज्ञापना—प्ररूपणा, 'तां तु' इति तामेव 'शङ्कन्ते' असद्धर्मप्ररूपणेयमित्येवमध्यवस्यन्ति, ये पुनः पापोपादानभूताः समारम्भास्तान्नाशङ्कन्ते, किमिति ?, यतः 'अव्यक्ता' मुग्धाः—सहजसद्विवेकविकलाः, तथा 'अकोविदा' अपण्डिताः—सच्छास्त्रावबोधरहिता इति ॥११॥ ते च अज्ञानावृता यन्नाप्नुवन्ति तद्दर्शनायाह—

सव्वप्प[4]गं विउक्कस्सं, सव्वं णूमं विहूणिआ[5]। अप्पत्तिअं अकम्मंसे, एयमट्ठं मिगे[6] चुए ॥१२॥

सर्वत्राप्यात्मा यस्यासौ सर्वात्मको—लोभस्तं विधूयेति संबन्धः, तथा विविध उत्कर्षो गर्वो व्युत्कर्षो—मान इत्यर्थः, त[7]था 'णूमं'ति माया तां विधूय, तथा 'अप्पत्तियं'ति क्रोधं विधूय, कषायविधूननेन च मोहनीयविधूननमावेदितं भवति, तदपगमाच्चाशेषकर्माभावः प्रतिपादितो भवतीत्याह—'अकर्मांश' इति न विद्यते कर्मांशोऽस्येत्यकर्मांशः, स चाकर्मांशो विशिष्टज्ञानाद्भवति नाज्ञानादित्येव दर्शयति—'एनमर्थं' कर्माभावलक्षणं मृग इव मृगः—अज्ञानी 'चुए'त्ति त्यजेत्, विभक्तिपरिणामेन वा अस्मादेवंभूतादर्थात् च्यवेत्—भ्रश्येदिति ॥१२॥ भूयोऽप्यज्ञानवादिनां दोषाभिधित्सयाऽऽह—

१ पन्नवणा आ. । २ मूढया अ. । ३ आरंभाणि ण अ. आरंभाइ न आ. । ४ ॰प्पयं अ. । ५ विधूणिया आ. । ६ भिए अ. । ७ ॰र्थः, तं च आ. ।

जे एयं नाभिजाणंति, मिच्छदिट्ठी अणारिया। मिगा वा पासबद्धा ते, घायमेसंति णंतसो ॥१३॥

'ये' अज्ञानपक्षं समाश्रिता 'एनं' कर्मक्षपणोपायं 'न जानन्ति' आत्मीयासद्ग्रहग्रहग्रस्ता मिथ्यादृष्टयोऽनार्यास्ते मृगा इव पाशबद्धा 'घातं' विनाशम् 'एष्यन्ति' यास्यन्त्यन्वेषयन्ति वा, तद्योग्यक्रियानुष्ठानात्, 'अनंतशः' अविच्छेदेनेत्यज्ञानवादिनो गताः ॥१३॥ इदानीमज्ञानवादिनां दूषणोद्बिभावयिषया स्ववाग्यन्त्रिता वादिनो न चलिष्यन्तीति तन्मताविष्करणायाह—

माहणा समणा एगे, सव्वे नाणं सयं वए। सव्वलोगेऽवि जे पाणा, न ते जाणंति किंचणं ॥१४॥

एके केचन ब्राह्मणविशेषाः तथा 'श्रमणाः' परिव्राजकविशेषाः सर्वेऽप्येते ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं—हेयोपादेयार्थाविर्भावकं परस्परविरोधेन व्यवस्थितं 'स्वकम्' आत्मीयं वदन्ति, न च तानि ज्ञानानि परस्परविरोधेन प्रवृत्तत्वात्सत्यानि, तस्मादज्ञानमेव श्रेयः, किं ज्ञानपरिकल्पनयेति, एतदेव दर्शयति—सर्वस्मिन्नपि लोके ये 'प्राणाः' प्राणिनो न ते किञ्चनापि सम्यगपेतवाचं(च्यं) 'जानन्ती'ति विदन्तीति ॥१४॥ यदपि तेषां गुरुपारम्पर्येण ज्ञानमायातं तदपि छिन्नमूलत्वादवितथं न भवतीति दृष्टान्तद्वारेण दर्शयितुमाह—

मिलक्खू अमिलक्खुस्स, जहा वुत्ताणुभासए। ण हेउं से विजाणाइ, भासिअं तऽणुभासए ॥१५॥

१ एतं अ.। २ मिच्छा° अ.। ३ मिया अ.। ४ °सद्ग्रहग्रस्ता आ. इ.। ५ यान्ति अन्वे° आ.। ६ न विचलि° आ.। ७ मेगे अ.। ८ वदे अ. आ.। ९ सव्वे लोयंसि अ. सव्वे लोगेवि आ.। १० ण ते अ.। ११ किंचणं अ. आ.। १२ °न्ति, प्रतिपादयन्ति न° आ. इ.। १३ °त बाधं आ. इ.। १४ °भासती अ.। १५ °जाणाति अ. जाणाइ आ.।

यथा 'म्लेच्छ' आर्यभाषानभिज्ञः 'अम्लेच्छस्य' आर्यस्य म्लेच्छभाषानभिज्ञस्य यद्भाषितं तद् 'अनुभाषते' अनुवदति केवलं, न सम्यक् तदभिप्रायं वेत्ति, यथाऽनया विवक्षयाऽनेन भाषितमिति, न च 'हेतुं' निमित्तं निश्चयेनासौ म्लेच्छस्तद्भाषितस्य जानाति, केवलं परमार्थशून्यं तद्भाषितमेवानुभाषत इति ॥१५॥ एवं दृष्टान्तं प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिकं योजयितुमाह—

एवमन्नाणिया नाणं, वयंता[1]वि सयं सयं। निच्छयत्थं[2] न या[3]णंति, मिलक्खुव्व अबोहि[4]या ॥१६॥

यथा म्लेच्छः अम्लेच्छस्य परमार्थमजानानः केवलं तद्भाषितमनुभाषते, तथा 'अज्ञानिकाः' सम्यग्ज्ञानरहिताः श्रमणा ब्राह्मणा वदन्तोऽपि स्वीयं स्वीयं ज्ञानं प्रमाणत्वेन परस्परविरुद्धार्थभाषणात् निश्चयार्थं न जानन्ति, तथाहि—ते स्वकीयं तीर्थकरं सर्वज्ञत्वेन निर्द्धार्य तदुपदेशेन क्रियासु प्रवर्तेरन्, न च सर्वज्ञविवक्षा अर्वाग्दर्शिना ग्रहीतुं शक्यते, 'नासर्वज्ञः सर्वज्ञं जानाती'ति न्यायात्, तथा चोक्तम्—"सर्वज्ञोऽसाविति ह्येतत्तत्कालेऽपि बुभुत्सुभिः। तज्ज्ञानज्ञेयविज्ञानरहितैर्गम्यते कथम्? ॥१॥" एवं[5] परचेतोवृत्तीनां दुरन्वयत्वादुपदेष्टुरपि यथावस्थितविवक्षया ग्रहणासंभवान्निश्चयार्थमजानाना म्लेच्छवदपरोक्तमनुभाषन्त एव, 'अबोधिका' बोधरहिताः केवलमिति, अतोऽज्ञानमेव श्रेय इति। एवं यावद्यावज्ज्ञानाभ्युपगमस्तावत्तावद्गुरुतरदोषसंभवः, तथाहि—योऽवगच्छन् पादेन कस्यचित् शिरः स्पृशति तस्य महानपराधो भवति, यस्त्वनाभोगेन स्पृशति तस्मै न कश्चिदपराध्यतीति, एवं चाज्ञानमेव प्रधानभावमनुभवति, न तु ज्ञानमिति ॥१६॥ एवमज्ञानवादिमतमनूद्येदानीं तद्दूषणायाह—

१ °तो वि अ.। २ निच्छियत्थं आ.। ३ जाणंति अ. आ.। ४ व अवोहितो अ. य अवोहिए आ.। ५ तदेवं आ. इ.।

अन्नाणियाणं[1] वीमंसा, [2]अण्णाणे ण विनियच्छइ। अप्पणो य परं नालं, [3]कुतो [4]अन्नाणुसासिउं ? ॥१७॥

न ज्ञानमज्ञानं तद्विद्यते येषां तेऽज्ञानिनः, अज्ञानशब्दस्य संज्ञाशब्दत्वाद्वा मत्वर्थीयः, गौरखरवदरण्यमिति यथा, तेषामज्ञानिनाम्—अज्ञानमेव श्रेय इत्येवंवादिनां, योऽयं 'विमर्शः' पर्यालोचनात्मको मीमांसा वा—मातुं परिच्छेत्तुमिच्छा सा 'अज्ञाने' अज्ञानविषये 'न णियच्छति' न निश्चयेन यच्छति–नावतरति, न युज्यत इतियावत्, तथाहि—यैवंभूता मीमांसा विमर्शो वा किमेतज्ज्ञानं सत्यमुतासत्यमिति ?, यथा अज्ञानमेव श्रेयो यथा यथा च ज्ञानातिशयस्तथा तथा च दोषातिरेक इति सोऽयमेवंभूतो विमर्शस्तेषां न युध्यते, एवंभूतस्य पर्यालोचनस्य ज्ञानरूपत्वादिति। अपिच—तेऽज्ञानवादिन आत्मनोऽपि 'परं' प्रधानमज्ञानवादमिति 'शासितुम्' उपदेष्टुं 'नालं' न समर्थाः, तेषामज्ञानपक्षसमाश्रयणेनाज्ञत्वादिति, कुतः पुनस्ते स्वयमज्ञाः, सन्तोऽन्येषां शिष्यत्वेनोपगतानामज्ञानवादमुपदेष्टुमलं—समर्था भवेयुरिति ?। यदप्युक्तं—'छिन्नमूलत्वात् म्लेच्छानुभाषणवत्सर्वमुपदेशादिकं,' तदप्ययुक्तं, यतोऽनुभाषणमपि न ज्ञानमृते कर्तुं शक्यते, तथा यदप्युक्तं 'परचेतोवृत्तीनां दुरन्वयत्वादज्ञानमेव श्रेय इति,' तदप्यसत्, यतो भवतैवाज्ञानमेव श्रेय इत्येवं परोपदेशदानाभ्युद्यतेन परचेतोवृत्तिज्ञानस्याभ्युपगमः कृत इति, तथाऽन्यैरप्यभ्यधायि—"आकारैरिङ्गितैर्गत्या, चेष्टया भाषितेन च। नेत्रवक्त्रविकारैश्च, गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥१॥" ॥१७॥ तदेवं ते तपस्विनोऽज्ञानिन आत्मनः परेषां च शासने कर्तव्ये यथा न समर्थास्तथा दृष्टान्तद्वारेण दर्शयितुमाह—

१ °याण अ. आ.। २ अण्णाणे नो नियच्छती अ. अणोणे णेव नियच्छती आ.। ३ कउ अ.। ४ अण्णेऽणु° अ. अण्णाणु° आ.। सा. ५ तेषां मते सम्यक्तया न ज्ञायते न युज्यते इति भावः।

वणे मूढे[1] जहा जंतू, मूढे णेयाणुगामिए[2]। दोवि[3] एए अकोविया, तिव्वं[4] सोयं नियच्छइ[5] ॥१८॥

'वने' अटव्यां यथा कश्चिन्मूढो 'जन्तुः' प्राणी दिक्परिच्छेदं कर्तुमसमर्थः स एवंभूतो यदा परं मूढमेव नेतारमनुगच्छति तदा[6] द्वावपि 'अकोविदौ' सम्यग्ज्ञाना[7]निपुणौ सन्तौ 'तीव्रम्' असह्यं 'स्रोतो' गहनं शोकं वा 'नियच्छतो' निश्चयेन गच्छतः—प्राप्नुतः, अज्ञानावृतत्वात्। एवं तेऽप्यज्ञानवादिन आत्मीयं मार्गं शोभनत्वेन निर्धारयन्तः परकीयं चाशोभनत्वेन जानानाः स्वयं मूढाः सन्तः परानपि मोहयन्तीति ॥१८॥ अस्मिन्नेवार्थे दृष्टान्तरमाह—

अंधो अंधं पहं णिंतो[8], दूरमद्धाणु[9] गच्छइ। आवज्जे उप्पहं जंतू, अदुवा[10] पंथाणुगामिए[11] ॥१९॥

यथा अन्धः स्वयमपरमन्धं पन्थानं नयन् 'दूरमध्वानं' विवक्षितादध्वनः परतरं गच्छति, तथोत्पथमापद्यते जन्तुरन्धः, अथवाऽपरं पन्थानमनुगच्छेत्, न विवक्षितमेवाध्वानमनुयायादिति ॥१९॥ एवं दृष्टान्तं प्रसाध्य दार्ष्टान्तिकमर्थं दर्शयितुमाह—

एवमेगे णियायट्ठी, धम्ममाराहगा[12] वयं। अदुवा अहम्म[13]मावज्जे, ण[14] ते सव्वज्जुयं वए ॥२०॥

'एव'मिति पूर्वोक्तार्थोपप्रदर्शने, एवं भावमूढा भावान्धाश्चैके आजीविकादयः 'नियायट्ठी'त्ति नियागो–मोक्षः सद्धर्मो वा तदर्थिनः,

---

१ मूढ अ.। २ णेताणु गामिते अ. नेयाणु गामिए आ.। ३ दुहउ वि अकोविता अ. दोवि एए अकुविया आ.। ४ तेवं अ.। ५ निग्गच्छती अ. नियच्छई आ.। ६ तदा तौ द्वा° आ. इ.। ७ सम्यग्मार्गपरिज्ञाना° आ. इ.। ८ णेती अ. निंतो आ.। ९ °मद्धाण गच्छती अ. आ.। १० अहवा आ.। ११ °गामिते अ.। १२ °हमा वयं अ.। १३ अधम्म° अ.। १४ न ते सव्वज्जयं वए अ. ण ते सव्वज्जुयं वदे आ.।

ते किल वयं सद्धर्माराधका इत्येवं संधाय प्रव्रज्यायामुद्यताः सन्तः पृथिव्यम्बुवनस्पत्यादिकायोपमर्देन पचनपाचनादिक्रियासु प्रवृत्ताः
सन्तस्तत्[1]स्वयमनुतिष्ठन्ति अन्येषां चोपदिशन्ति येनाभिप्रेताया मोक्षावाप्तेर्भ्रश्यन्ति, अथवाऽऽस्तां तावन्मोक्षाभावः, त एवं प्रवर्तमाना
'अधर्मं' पापमापद्येरन् , संभावनायामुत्पन्नेन लिङ्प्रत्ययेनैतद्दर्शयति—एतदपरं तेषामनर्थान्तरं संभाव्यते यदुत विवक्षितार्थाभावतया
विपरीतार्थावाप्तेः पापोपादानमिति । अपिच—त एवमसदनुष्ठायिन आजीविकादयो गोशालकमतानुसारिणोऽज्ञानवादप्रवृत्ताः सर्वैः प्र-
८ कारैर्ऋजुः—प्रगुणो विवक्षितमोक्षगमनं प्रत्यकुटिलः सर्वर्जुः—संयमः सद्धर्मो वा तं सर्वर्जुकं ते 'न व्रजेयुः' न प्राप्नुयुरित्युक्तं भवति,
यदिवा—सर्वर्जुकं—सत्यं तत्तेऽज्ञानान्धा ज्ञानापलापिनो न वदेयुरिति । एते चाज्ञानिकाः सप्तषष्टिभेदा भवन्ति, ते च भेदा अमुनोपा-
येन प्रदर्शनीयाः, तद्यथा—जीवादयो नव पदार्थाः, सत् असत् सदसत् अवक्तव्यः सदवक्तव्यः असदवक्तव्यः सदसदवक्तव्य इत्येतैः
सप्तभिः प्रकारैर्विज्ञातुं न शक्यन्ते, न च विज्ञातैः प्रयोजनमस्ति, भावना चेयम्—सन् जीव इति को वेत्ति ? किंवा तेन ज्ञातेन ?, असन्
जीव इति को वेत्ति ? किंवा तेन ज्ञातेनेत्यादि, एवमजीवादिष्वपि प्रत्येकं सप्त विकल्पाः, नव सप्तकास्त्रिषष्टिः, अमी चान्ये चत्वारस्त्रि-
१० षष्टिमध्ये प्रक्षिप्यन्ते, तद्यथा—सती भावोत्पत्तिरिति को जानाति ? किंवाऽनया ज्ञातया ?, एवमसती सदसत्यवक्तव्या भावोत्पत्तिरिति
को जा[2]नाति ? किंवाऽनया ज्ञातयेति, शेषविकल्पत्रयं तूत्पत्त्युत्तरकालं पदार्थावयवापेक्षमतोऽत्र न संभवतीति नोक्तम् , एतच्चतुष्टयप्रक्षे-
पात्सप्तषष्टिर्भवति, तत्र सन् जीव इति को वेत्तीत्यस्यायमर्थो—न कस्यचिद्विशिष्टं ज्ञानमस्ति योऽतीन्द्रियान् जीवादीनवभोत्स्यते, न च
तैर्ज्ञातैः किञ्चित्फलमस्ति, तथाहि—यदि नित्यः सर्वगतोऽमूर्तो ज्ञानादिगुणोपेत एतद्गुणव्यतिरिक्तो वा ततः कतमस्य पुरुषार्थस्य सिद्धि-

१ तत्तत्स्व° आ. । २ वेत्ति आ. इ. ।

रिति ?, तस्मादज्ञानमेव श्रेय इति ॥२०॥ पुनरपि तद्‌दूषणाभिधित्सयाऽऽह—

एवमेगे वियक्काहिं[1], नो अन्नं पज्जुवासिया । अप्पणो य वियक्काहिं, अयमंजूहिं दुम्मई[2] ॥२१॥

'एवम्' अनन्तरोक्तया नीत्या एके—केचनाज्ञानिका 'वितर्काभिः' मीमांसाभिः स्वोत्प्रेक्षिताभिरसत्कल्पनाभिः 'परम्' अन्यमार्हतादिकं ज्ञानवादिनं 'न पर्युपासते' न सेवन्ते स्वावलेपग्रहग्रस्ताः वयमेव तत्त्वज्ञाना[3]भिज्ञा नापरः कश्चिदित्येवं नान्यं पर्युपासत इति । तथा आत्मीयैर्वितर्कैरेवमभ्युपगतवन्तो—यथा 'अयमेव' अस्मदीयोऽज्ञानमेव श्रेय इत्येवमात्मको मार्गः 'अंजू'रिति निर्दोषत्वाद्व्यक्तः—स्पष्टः, परैस्तिरस्कर्तुमशक्यः, ऋजुर्वा—प्रगुणोऽकुटिलः, यथावस्थितार्थाभिधायित्वात्, किमिति (ते) एवमभिदधति[4] ?—'हि' यस्मादर्थे[5] यस्मात्ते 'दुर्मतयो' विपर्यस्तबुद्धय इत्यर्थः ॥२१॥ साम्प्रतमज्ञानवादिनां ज्ञानवादी स्पष्टमेवानर्थाभिधित्सयाऽऽह—

एवं तक्काइ[6] साहिँता[7], धम्माधम्मे अकोविया । दुक्खं ते नाइतुट्टंति[8], सउणी पंजरं जहा ॥२२॥

'एवं' पूर्वोक्तन्यायेन 'तर्कया' स्वकीयविकल्पनया 'साधयन्तः' प्रतिपादयन्तो धर्मे—क्षान्त्यादिके अधर्मे च—जीवोपमर्दोपादिते पापे 'अकोविदा' अनिपुणा 'दुःखम्' असातोदयलक्षणं तद्धेतुं वा मिथ्यात्वाद्युपचितकर्मबन्धनं 'नातित्रोटयन्ति' अतिशयेनैतद्व्यवस्थितं तथा ते न त्रोटयन्ति—अपनयन्तीति, अत्र दृष्टान्तमाह—यथा पञ्जरस्थः शकुनिः पञ्जरं त्रोटयितुं—पञ्जरबन्धनादात्मानं मोचयितुं नालम्, एवमसावपि संसारपञ्जरादात्मानं मोचयितुं नालमिति ॥२२॥ अधुना सामान्येनैकान्तवादिमतदूषणार्थमाह—

१ वितक्काहि अ. । २ दुम्मती अ. आ. । ३ तत्त्वाभिज्ञानाऽ° आ. तत्वाभिज्ञानाना° इ । ४ × एव° इ. । ५ हिर्यस्मा° आ. इ. । ६ तक्काए अ. आ. । ७ साहेंता अ. । ८ नाति° आ. ।

सयं सयं पसंसंता, गरहंता [1]परं वयं। जे उ तत्थ विउस्संति, संसारं ते विउस्सिया ॥२३॥

'स्वकं स्वकम्' आत्मीयमात्मीयं दर्शनमभ्युपगतं 'प्रशंसन्तो' वर्णयन्तः समर्थयन्तो वा, तथा 'गर्हमाणा' निन्दन्तः परकीयां वाचं, तथाहि–साङ्ख्याः सर्वस्याविर्भावतिरोभाववादिनः सर्वं वस्तु क्षणिकं निरन्वयविनश्वरं चेत्येवंवादिनो बौद्धान् दूषयन्ति, तेऽपि नित्यस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरहात् साङ्ख्यान्, एवमन्येऽपि द्रष्टव्या इति। तदेवं 'ये' एकान्तवादिनः, तुरवधारणे भिन्नक्रमश्च, 'तत्रैव' तेष्वेवाऽऽत्मीयात्मीयेषु दर्शनेषु प्रशंसां कुर्वाणाः परवाचं च विगर्हमाणा 'विद्वस्यंते' विद्वांस इवाऽऽचरन्ति, तेषु वा विशेषेणोशन्ति–स्वशास्त्रविषये विशिष्टं युक्तिव्रातं वदन्ति, ते चैवंवादिनः 'संसारं' चतुर्गतिभेदेन संसृतिरूपं विविधम्–अनेकप्रकारम् उत्–प्राबल्येन श्रिताः–संबद्धाः, तत्र वा संसारे उ[2]षिताः संसारान्तर्वर्तिनः सर्वदा भवन्तीत्यर्थः ॥२३॥ साम्प्रतं यदुक्तं निर्युक्तिकारेणोद्देशकार्थाधिकारे 'कर्म चयं न गच्छति चतुर्विधं भिक्षुसमय' इति, तदधिकृत्याह—

अहावरं पुरक्खायं, किरियावाइदरिसणं। कम्मचिंतापणट्ठाणं, संसारस्स पव[3]ड्ढणं ॥२४॥

'अथे' त्यानन्तर्ये, अज्ञानवादिमतानन्तरमिदमन्यत् 'पुरा' पूर्वम् 'आख्यातं' कथितं, किं पुनस्तदित्याह–'क्रियावादिदर्शनं' क्रियैव-चैत्यकर्मादिका प्रधानं मोक्षाङ्गमित्येवं वदितुं शीलं येषां ते क्रियावादिनस्तेषां दर्शनम्—आगमः क्रियावादिदर्शनं, किंभूतास्ते क्रियावादिन इत्याह–कर्मणि–ज्ञानावरणादिके चिन्ता–पर्यालोचनं कर्मचिन्ता तस्याः प्रणष्टा–अपगताः कर्मचिन्ताप्रणष्टाः, यतस्ते अविज्ञानाद्युपचितं चतुर्विधं कर्मबन्धं नेच्छन्ति अतः कर्मचिन्ताप्रणष्टाः, तेषां चेदं दर्शनं 'दुःखस्कन्धस्य' असातोदयपरम्पराया विवर्धनं भवति,

१ °ता य परं वदिं अ. । २ उषिताः–स्थिताः आ. इ. । ३ °र×परिव° अ. ।

क्वचित्संसारवर्धनमिति पाठः, ते ह्येवं प्रतिपद्यमानाः संसारस्य वृद्धिमेव कुर्वन्ति[1] नोच्छेदमिति ॥२४॥ यथा च ते कर्मचिन्तातो नष्टास्तथा दर्शयितुमाह—

जाणं काएणऽणाउट्टी[2], अबुहो जं च हिंसति[3]। पुट्ठो संवेदेइ[4] परं, अवियत्तं खु सावज्जं ॥२५॥

यो हि 'जानन्' अवगच्छन् प्राणिनो हिनस्ति, कायेन चानाकुट्टी, 'कुट्ट छेदने' आकुट्टनमाकुट्टः स विद्यते यस्यासावाकुट्टी नाकुट्टयनाकुट्टी, इदमुक्तं भवति—यो हि कोपादेर्निमित्तात् केवलं मनोव्यापारेण प्राणिनो व्यापादयति, न च कायेन प्राण्यवयवानां छेदनभेदनादिके[5] व्यापारे वर्तते न तस्यावद्यं, तस्य कर्मोपचयो न भवतीत्यर्थः, तथा 'अबुधः' अजानानः कायव्यापारमात्रेण यं च हिनस्ति प्राणिनं तत्रापि मनोव्यापाराभावान्न कर्मोपचय इति, अनेन च श्लोकार्धेन यदुक्तं निर्युक्तिकृता यथा—'चतुर्विधं कर्म नोपचीयते भिक्षुसमय' इति, तत्र परिज्ञोपचितमविज्ञोपचिताख्यं भेदद्वयं साक्षादुपात्तं, शेषं त्वीर्यापथस्वप्नान्तिकभेदद्वयं चशब्देनोपात्तं, तत्रेरणमीर्या–गमनं तत्संबद्धः पन्था ईर्यापथस्तत्प्रत्ययं कर्मेर्यापथम्, एतदुक्तं भवति—पथि गच्छतो यथाकथञ्चिदनभिसंधेर्यत्प्राणिव्यापादनं भवति तेन कर्मणश्चयो न भवति, तथा स्वप्नान्तिकमिति—स्वप्न एव लोकोक्त्या स्वप्नान्तः स विद्यते यस्य तत्स्वप्नान्तिकं, तदपि न कर्मबन्धाय, यथा स्वप्ने भुजिक्रियायां तृप्त्यभावस्तथा कर्मणोऽपीति, कथं तर्हि तेषां कर्मोपचयो भवतीति?, उच्यते, यद्यसौ हन्यमानः प्राणी भवति हन्तुश्च यदि प्राणीत्येवं ज्ञानमुत्पद्यते तथैनं हन्मीत्येवं च यदि बुद्धिः प्रादुष्ष्याद् एतेषु च सत्सु यदि कायचेष्टा प्रवर्तते तस्यामपि यद्यसौ प्राणी व्यापाद्यते ततो हिंसा[6] ततश्च कर्मोपचयो भवतीति, एषामन्यतराभावेऽपि न हिंसा, न च कर्मचयः। अत्र च

१ कुर्वते आ.। २ उट्टी अवुहे अ.। ३ हिंसती अ.। ४ °वेदेति अ. °वेदेइ आ.। ५ च्छेदनाद्दिके आ. च्छेदनभेदनादि इ.। ६ हिंसाऽहिंसातश्च आ. इ.।

पञ्चानां पदानां द्वात्रिंशद्भङ्गा भवन्ति, तत्र प्रथमभङ्गे हिंसकोऽपरेष्वेकत्रिंशत्स्वहिंसकः, तथा चोक्तम्—"प्राणी प्राणिज्ञानं, घातकचित्तं च तद्गता चेष्टा। प्राणैश्च विप्रयोगः पञ्चभिरापद्यते हिंसा ॥१॥" किमेकान्तेनैव परिज्ञोपचितादिना कर्मोपचयो न भवत्येव ?, भवति काचिदव्यक्तमात्रेति दर्शयितुं श्लोकपश्चार्धमाह—'पुट्ठो'त्ति तेन केवलमनोव्यापाररूपपरिज्ञोपचितेन केवलकायक्रियोत्थेन वाऽविज्ञोपचितेनेर्यापथेन स्वप्नान्तिकेन च चतुर्विधेनापि कर्मणा 'स्पृष्ट' ईषच्छुप्तः संस्तत्कर्माऽसौ स्पर्शमात्रेणैव परमनुभवति, न तस्याधिको वि-
॥८॥ पाकोऽस्ति, कुड्यापतितसिकतामुष्टिवत्स्पर्शानन्तरमेव परिशटतीत्यर्थः, अत एव तस्य चयाभावोऽभिधीयते, न पुनरत्यन्ताभाव इति। एवं च कृत्वा तद् 'अव्यक्तम्' अपरिस्फुटं, खुरवधारणे, अव्यक्तमेव, स्पष्टविपाकानुभवाभावात्, तदेवमव्यक्तं सहावद्येन—गर्ह्येण वर्तते तत्परिज्ञोपचितादिकर्मेति ॥२५॥ ननु च यद्यनन्तरोक्तं चतुर्विधं कर्म नोपचयं याति कथं तर्हि कर्मोपचयो भवतीत्येतदाशङ्क्याह—

संतिमे त[1]उ आयाणा, जेहिं कीरइ[2] पावगं[3]। अभिकम्मा[4] य पेसा य, मणसा[5] अणुजाणिया ॥२६॥

'सन्ति' विद्यन्ते अमूनि त्रीणि आदीयते—स्वीक्रियते अमीभिः कर्मेत्यादानानि, एतदेव दर्शयति—यैरादानैः 'क्रियते' विधीयते
॥१०॥ निष्पाद्यते 'पापकं' कल्मषं, तानि चामूनि, तद्यथा—'अभिक्रम्ये'ति आभिमुख्येन वध्यं प्राणिनं क्रान्त्वा—तद्घाताभिमुखं चित्तं विधाय यत्र स्वत एव प्राणिनं व्यापादयति तदेकं कर्मादानं, तथाऽपरं च प्राणिघाताय प्रेष्यं समादिश्य यत्प्राणिव्यापादनं तद्द्वितीयं कर्मादानमिति, तथाऽपरं व्यापादयन्तं मनसाऽनुजानीत इत्येतत्तृतीयं कर्मादानं, परिज्ञोपचितादस्यायं भेदः—तत्र केवलं मनसा चिन्तनमिह

१ तओ आ.। २ कीरति अ.। ३ पावगं अ.। ४ अहिकम्मा अ.। ५ °सा य अणु° अ.।

त्वपरेण व्यापाद्यमाने प्राणिन्यनुमोदनमिति ॥२६॥ तदेवं यत्र स्वयं कृतकारितानुमतयः प्राणिघाते क्रियमाणे विद्यन्ते क्लिष्टाध्यवसायस्य प्राणातिपातश्च तत्रैव कर्मोपचयो नान्यत्रेति दर्शयितुमाह—

एते[1] उ तउ आयाणा, जेहिं कीरइ[2] पावगं[3]। एवं भावविसोहीए, निव्वाणमभिगच्छइ[4] ॥२७॥

तुरवधारणे, 'एतान्येव' पूर्वोक्तानि त्रीणि व्यस्तानि समस्तानि वा आदानानि यैर्दुष्टाध्यवसायसव्यपेक्षैः पापकं कर्मोपचीयत इति, एवं च स्थिते यत्र कृतकारितानुमतयः प्राणिव्यपरोपणं प्रति न विद्यन्ते तथा 'भावविशुद्ध्या' अरक्तद्विष्टबुद्ध्या प्रवर्तमानस्य सत्यपि प्राणातिपाते[5] केवलेन मनसा कायेन वा मनोऽभिसंधिरहितेनोभयेन वा विशुद्धबुद्धेर्न कर्मोपचयः, तदभावाच्च 'निर्वाणं' सर्वद्वन्द्वोपरतिस्वभावम् 'अभिगच्छति' आभिमुख्येन प्राप्नोतीति ॥२७॥ भावशुद्ध्या[6] प्रवर्तमानस्य कर्मबन्धो न भवतीत्यत्रार्थे दृष्टान्तमाह—

5

पुत्तं पिया समारब्भ, आहारेज्ज असंजए। भुंजमाणो य मेहावी[7], कम्मणा नोवलिप्पइ[8] ॥२८॥

'पुत्रम्' अपत्यं 'पिता' जनकः 'समारभ्य' व्यापाद्य आहारार्थं कस्याञ्चित्तथाविधायामापदि तदुद्धरणार्थमरक्तद्विष्टः 'असंयतो' गृहस्थस्तत्पिशितं भुञ्जानोऽपि चशब्दस्यापिशब्दार्थत्वादिति, तथा 'मेधाव्यपि' संयतोऽपीत्यर्थः, तदेवं गृहस्थो भिक्षुर्वा शुद्धाशयः[9] पिशिताश्यपि 'कर्मणा' पापेन 'नोपलिप्यते' नाश्लिष्यत इति, यथा चात्र पितुः पुत्रं व्यापादयतस्तत्रारक्तद्विष्टमनसः कर्मबन्धो न भवति, तथाऽन्यस्याप्यरक्तद्विष्टान्तःकरणस्य प्राणिवधे सत्यपि न कर्मबन्धो भवतीति ॥२८॥ साम्प्रतमेतद्दूषणायाह—

10

१ एए तु तउ अ. एए उ तओ आ.। २ कीरति अ.। ३ पावयं अ.। ४ °णंअहिगच्छती अ. °णमभिगच्छति आ.। ५ °तिपातेन अ.। ६ °शुद्धयाच व° आ.। ७ मेधावी आ.। ८ कम्मुणा नोवलिप्पति अ. कम्मुणा णोवलिप्पई आ.। ९ विशु° आ. इ.।

मणसा जे पउस्संति, चित्तं तेसिं ण[1] विज्जइ। अणवज्ज[2]मतहं तेसिं, ण ते संवुडचारिणो ॥२९॥

इच्चेयाहि[3] य दिट्ठीहिं, सातागारवणिस्सिया[4]। सरणंति[5] मन्नमाणा, सेवंती पावगं[6] जणा ॥३०॥

जहा[7] अस्साविणिं णावं, जाइअंधो[8] दुरूहिया[9]। इच्छई[10] पारमागंतुं, अंतरा य विसीयई[12] ॥३१॥

एवं तु समणा एगे, मिच्छदिट्ठी अणारिया। संसारपारकंखी ते, संसारं अणुपरियट्टंति ॥३२॥[13]

॥८॥ (गाथाग्रं ॥५९॥) त्तिबेमि। इति प्रथमाध्ययने द्वितीयोद्देशकः॥

ये हि कुतश्चिन्निमित्तात् 'मनसा' अन्तःकरणेन 'प्रादुष्यन्ति' प्रद्वेषमुपयान्ति 'तेषां' वधपरिणतानां शुद्धं चित्तं न विद्यते, तदेवं यत्तैरभिहितं—यथा केवलमनःप्रद्वेषेऽपि 'अनवद्यं' कर्मोपचयाभाव इति, तत् तेषाम् 'अतथ्यम्' असदर्थाभिधायित्वं, यतो न ते संवृतचारिणो, मनसोऽशुद्धत्वात्, तथाहि—कर्मोपचये कर्तव्ये मन एव प्रधानं कारणं, यतस्तैरपि मनोरहितकेवलकायव्यापारे कर्मोपचयाभावोऽभिहितः, ततश्च यत् यस्मिन् सति भवत्यसति तु न भवति तत्तस्य प्रधानं कारणमिति, नन्तु तस्यापि कायचेष्टारहितस्याकारणत्वमुक्तं, सत्यमुक्तम्, अयुक्तं तूक्तं, यतो भवतैव 'एवं भावशुद्ध्या निर्वाणमभिगच्छती'ति भणता मनस एवैकस्य प्राधान्यमभ्यधायि,

॥१०॥

१ न विज्जती अ. न विज्झई आ.। २ °वज्जं अतहं अ. आ.। ३ °याहिं अ. आ.। ४ सातागारव णिस्सिता अ. सायागारव णिस्सिया आ.। ५ सरणं× अ.। ६ पावयं अ.। ७ जह आस्साविणिं नावं अ. जहा आसाविणिं णावं आ.। ८ जाति° अ.। ९ दुरूभिया आ.। १० इच्छेज्ज अ. इच्छाई य आ.। ११ °गंतू अ.। १२ विसीयति अ. विसीयइ आ.। १३ वितिउ उद्देसउ सम्मत्तो ॥छ॥ अ. प्रथमस्य द्वितीय ॥छ॥ आ.।

तथाऽन्यदप्यभिहितं--"चित्तमेव हि संसारो, रागादिक्लेशवासितम्। तदेव तैर्विनिर्मुक्तं, भवान्त इति कथ्यते ॥१॥" तथाऽन्यैरप्यभिहितं—"मतिविभव! नमस्ते यत्समत्वेऽपि पुंसां, परिणमसि शुभांशैः कल्मषांशैस्त्वमेव। नरकनगरवर्त्म प्रस्थिताः कष्टमेके, उपचितशुभशक्त्या सूर्यसंभेदिनोऽन्ये ॥१॥" तदेवं भवदभ्युपगमेनैव क्लिष्टमनोव्यापारः कर्मबन्धायेत्युक्तं भवति, तथेर्यापथेऽपि यद्यनुपयुक्तो याति ततोऽनुपयुक्ततैव क्लिष्टचित्ततेति कर्मबन्धो भवत्येव, अथोपयुक्तो याति ततोऽप्रमत्तत्वादबन्धक एव, तथा चोक्तम्--"[1]उंचालियंमि पाए इरियासमियस्स संकमट्ठाए। वावज्जेज्ज कुलिंगी मरेज्ज तं जोगमासज्ज ॥१॥ [2]णे य तस्स तन्निमित्तो बन्धो सुहुमोऽवि देसिओ समए। अणवज्जो उ पयोगेण सव्वभावेण सो जम्हा ॥२॥" स्वप्नान्तिकेऽप्यशुद्धचित्तसद्भावादीषद्बन्धो भवत्येव, स च भवताऽप्यभ्युगत एव 'अव्यक्तं तत्सावद्य'मित्यनेनेति। तदेवं मनसोऽपि क्लिष्टस्यैकस्यैव व्यापारे बन्धसद्भावात् यदुक्तं भवता 'प्राणी प्राणिज्ञान'मित्यादि तत्सर्वं प्लवत इति, यदप्युक्तं—'पुत्रं पिता समारभ्ये'त्यादि तदप्यनालोचिताभिधानं, यतो मारयामीत्येवं यावन्न चित्तपरिणामोऽभूत्तावन्न कश्चिद्व्यापादयति, एवंभूतचित्तपरिणतेश्च कथमसंक्लिष्टता?, चित्तसंक्लेशे चावश्यंभावी कर्मबन्ध इत्युभयो[3]स्संवादोऽत्रेति। यदपि च तैः क्वचिदुच्यते—यथा 'परव्यापादितपिशितभक्षणे परहस्ताऽऽकृष्टाङ्गारदाहाभाववन्न दोष' इति, तदपि उन्मत्तप्रलपितवदनाकर्णनीयं, यतः परव्यापादिते पिशितभक्षणेऽनुमतिरप्रतिहता, तस्याश्च कर्मबन्ध इति, तथा चान्यैरप्यभिहितम्—"अनुमन्ता विशसिता, संहर्ता क्रयविक्रयी। संस्कर्ता चोपभोक्ता च, घातकश्चाष्ट घातकाः ॥१॥" यच्च कृतकारितानुमतिरूपमादानत्रयं तैरभिहितं तज्जैनेन्द्रमतलवास्वादनमेव तैरकारीति।

सा. १ उच्चालिते पादे ईर्यासमितेन संक्रमार्थाय। व्यापद्येत कुलिङ्गी म्रियेत तं योगमासाद्य ॥१॥ २ न च तस्य तन्निमित्तो बन्धः सूक्ष्मोऽपि दिष्टः समये। अनवद्यस्तु प्रयोगेण सर्वभावेन स यस्मात् ॥२॥ ३ °योरविसं° आ. °योरपिसं° इ.।

तदेवं कर्मचतुष्टयं नोपचयं यातीत्येवं तदभिदधानाः कर्मचिन्तातो नष्टा इति सुप्रतिष्ठितमिदमिति ॥२९॥ अधुनैतेषां क्रियावादिनामनर्थपरम्परां दर्शयितुमाह—'इत्येताभिः' पूर्वोक्ताभिश्चतुर्विधं कर्म नोपचयं यातीति 'दृष्टिभिः' अभ्युपगमैस्ते वादिनः 'सातगौरवनिःश्रिताः' सुखशीलतायामासक्ता यत्किञ्चनकारिणो यथालब्धभोजिनश्च संसारोद्धरणसमर्थं 'शरणम्' इदमस्मदीयं दर्शनम् 'इति' एवं मन्यमाना विपरीतानुष्ठानतया 'सेवन्ते' कुर्वते' 'पापम्' अवद्यम्, एवं व्रतिनोऽपि सन्तो जना इव जनाः प्राकृतपुरुषसदृशा इत्यर्थः ॥३०॥ अस्यैवार्थस्योपदर्शकं दृष्टान्तमाह—[1]आसमन्तात्[2]स्रवति तच्छीला वा आस्राविणी सच्छिद्रेत्यर्थः, तां तथाभूतां नावं यथा जात्यन्धः समारुह्य 'पारं' तटम् 'आगन्तुं' प्राप्तुमिच्छत्यसौ, तस्याश्चास्राविणीत्वेनोदकप्लुतत्वात् 'अन्तराले' जलमध्ये एव 'विषीदति' वारिणि निमज्जति तत्रैव च पञ्चत्वमुपयातीति ॥३१॥ साम्प्रतं दार्ष्टान्तिकयोजनार्थमाह—'एव'मिति यथाऽन्धः स[3]च्छिद्रां नावं समारूढः पारगमनाय नालं तथा श्रमणा एके शाक्यादयो मिथ्या—विपरीता दृष्टिर्येषां ते मिथ्यादृष्टयः तथा पिशिताशनानुमतेरनार्याः स्वदर्शनानुरागेण 'संसारपारकाङ्क्षिणो' मोक्षाभिलाषुका अपि सन्तस्ते चतुर्विधकर्मचयानभ्युपगमेनानिपुणत्वाच्छासनस्य 'संसारमेव' चतुर्गतिसंसरणरूपम् 'अनुपर्यटन्ति' भूयोभूयस्तत्रैव जन्मजरामरणदौर्गत्यादिक्लेशमनुभवन्तोऽनन्तमपि कालमासते, न विवक्षितमोक्षसुखमाप्नुवन्ति, इति ब्रवीमीति पूर्ववदिति ॥३२॥ इति सूत्रकृताङ्गे समयाख्याध्ययनस्य द्वितीयोद्देशकः समाप्तः ॥

卐 卐 卐 卐 卐

---

१ जहा आसाविणीमित्यादि आसम° आ. इ. । २ श्रवति आ. इ. । ३ च्छिद्रायां नावि आ. इ. ।

अथ प्रथमाध्ययने तृतीयोद्देशकः प्रारभ्यते ॥

द्वितीयोद्देशकानन्तरं तृतीयः समारभ्यते, अस्य चायमभिसंबन्धः—अध्ययनार्थाधिकारः स्वसमयपरसमयप्ररूपणेति, तत्रोद्देशकद्वयेन स्वपरसमयप्ररूपणा कृता अत्रापि सैव क्रियते, अथवाऽऽद्ययोरुद्देशकयोः कुदृष्टयः प्रतिपादितास्तद्दोषाश्च तदिहापि तेषामाचारदोषः प्रदर्श्यत इत्यनेन संबन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि व्यावर्ण्यास्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

जं किंचि उ[1] पूइकडं, सड्ढी[2]मागंतु[3]मीहियं । सहस्सं[4]तरियं भुंजे, दुपक्खं चेव [5]सेवइ ॥१॥
तमेव अवि[6]याणंता, विसमंसि[7] अकोविया । मच्छा वेसालिया चेव, उदगस्सऽभियागमे ॥२॥
उदगस्स[8] पभावेणं[9], सुक्कं[10] सिग्धं[11] तमिंति उ । ढंकेहि य कंकेहि य, आमिसत्थेहिं[12] ते दुही ॥३॥
एवं तु समणा एगे, वट्टमाणसुहेसिणो । मच्छा वेसालिया चेव, घातमेस्संति[13] णंतसो ॥४॥

१ विपूति° आ. विपूइ° इ. । २ सठ्ठी. सट्ठी आ. । ३ तु इहियां आ. । ४ सहस° आ. इ. । ५ सेवती आ. सेवई इ. । ६ जा° आ. । ७ °मंमि आ. इ. । ८ °हिया° आ. । ९ °यस्सप्प° आ. °गस्सप्प° इ. । १० सुक्खं आ. । ११ सिग्घायमेत्तिउ आ. मिग्घात मिंतिओ इ. । १२ °हि आ. । १३ घातसंत आ घायसंत इ. ।

अस्य चानन्तरसूत्रेण सहायं संवन्ध—इहानन्तरोद्देशकपर्यन्तसूत्रेऽभिहितम् , 'एवं तु श्रमणा एके' इत्यादि, तदिहापि संवध्यते, एके श्रमणा यत्किञ्चित्पूतिकृतं भुञ्जानाः संसारं पर्यटन्तीति, परम्परसूत्रे त्वभिहितं 'बुज्झिज्ज' इत्यादि, यत्किञ्चित्पूतिकृतं तद्बुध्येतेति, एवमन्यैरपि सूत्रैरुत्प्रेक्ष्य संवन्धो योज्यः। अधुना सूत्रार्थः प्रतीयते—'यत्किञ्चि'दिति आहारजातं स्तोकमपि आस्तां तावत्प्रभूतं, तदपि 'पूतिकृतम्' आधाकर्मादिसिक्थेनाप्युपसृष्टम् , आस्तां तावदाधाकर्म, तदपि न स्वयंकृतम् , अपि तु 'श्रद्धावता' अन्येन भक्तिमताऽपरान् आगन्तुकानुद्दिश्य 'ईहितं' चेष्टितं निष्पादितं, तच्च सहस्रान्तरितमपि यो 'भुञ्जीत' अभ्यवहरेदसौ 'द्विपक्षं' गृहस्थपक्षं प्रव्रजितपक्षं चाऽऽसेवते, एतदुक्तं भवति—एवंभूतमपि परकृतमपरागन्तुकयत्यर्थं निष्पादितं यदाधाकर्मादि तस्य सहस्रान्तरितस्यापि योऽवयवस्तेनाप्युपसृष्टमाहारजातं भुञ्जानस्य द्विपक्षसेवनमापद्यते, किं पुनः य एते शाक्यादयः स्वयमेत सकलमाहारजातं निष्पाद्य स्वयमेव चोपभुञ्जते ?, ते च सुतरां द्विपक्षसेविनो भवन्तीत्यर्थः, यदिवा—'द्विपक्ष'मिति ईर्यापथः सांपरायिकं च, अथवा—पूर्ववद्धा निकाचिताद्यवस्थाः कर्मप्रकृतीर्नयत्यपूर्वाश्चादत्ते, तथा चागमः—'आहाकम्मं[1] णं भुञ्जमाणे समणे कइ कम्मपयडीओ वंधइ ?, गोयमा ! अट्ठकम्मपयडीओ वंधइ, सिढिलवंधणवद्धाओ धणियवंधणवद्धाओ[2] करेइ[3], चियाओ करेइ, उवचियाओ करेइ, हस्स[4]ठिइयाओ दीहठिइयाओ[5] करेइ' इत्यादि। ततश्चैवं शाक्यादयः परतीर्थिकाः स्वयूथ्या वा आधाकर्म भुञ्जाना द्विपक्षमेवाऽऽसेवन्त इति सूत्रार्थः ॥१॥ इदानीमेतेषां सुखैषिणामाधाकर्मभोजिनां कटुकविपाकाविर्भावनाय श्लोकद्वयेन दृष्टान्तमाह—'तमेव' आधाकर्मोपभोगदोषम् 'अजानाना' विष-

सा. १ आधाकर्म भुञ्जानः श्रमणः कति कर्मप्रकृतीर्वध्नाति ? गौतम ! अष्टकर्मप्रकृतीर्वध्नाति, शिथिलवन्धनवद्धा गाढवन्धनवद्धाः करोति, चिताः करोति उपचिताः करोति, ह्रस्वकालस्थितिका दीर्घकालस्थितिकाः करोति । २ °वद्धाउ आ. °वद्धातो इ. । ३ करेति आ. इ. । ४ दस्सट्ठियाओ इ. । ५ °ट्ठिइउ आ. ट्ठिईओ इ. ।

मः—अष्टप्रकारकर्मबन्धो भवकोटिभिरपि दुर्मोक्षः चतुर्गतिसंसारो वा तस्मिन्नकोविदाः, कथमेष कर्मबन्धो भवति ? कथं वा न भवति ? केन वोपायेनायं संसारार्णवस्तीर्यत इत्यत्राकुशलाः, तस्मिन्नेव संसारोदरे कर्मपाशावपाशिता दुःखिनो भवन्तीति । अत्र दृष्टान्तमाह—यथा 'मत्स्याः' पृथुरोमाणो विशालः—समुद्रस्तत्र भवा वैशालिकाः विशालाख्यविशिष्टजात्युद्भवा वा वैशालिकाः विशाला एव (वा) वैशालिकाः—बृहच्छरीरास्ते एवंभूता महामत्स्या 'उदकस्याभ्यागमे' समुद्रवेला(यामागता)यां सत्यां प्रबलमरुद्वेगोद्भूतोत्तुङ्गकल्लोलमालाऽपनुन्नाः सन्त उदकस्य प्रभावेन नदीमुखमागताः पुनर्वेलाऽपगमे तस्मिन्नुदके शुष्के वेगेनैवापगते सति बृहत्त्वाच्छरीरस्य तस्मिन्नेव धुनीमुखे विलग्ना अवसीदन्त आमिषग्रध्नुभिर्ढङ्कैः कङ्कैश्च पक्षिविशेषैरन्यैश्च मांसवसार्थिभिर्मत्स्यबन्धादिभिर्जीवन्त एव विलुप्यमाना महान्तं दुःखसमुद्घातमनुभवन्तः अशरणा 'घातं' विनाशं 'यान्ति' प्राप्नुवन्ति, तुरवधारणे, त्राणाभावाद्विनाशमेव यान्तीति श्लोकद्वयार्थः ॥२–३॥ एवं दृष्टान्तमुपदर्श्य दार्ष्टान्तिके योजयितुमाह—यथैतेऽनन्तरोक्ता मत्स्यास्तथा 'श्रमणाः' श्राम्यन्तीति श्रमणा 'एके' शाक्यपाशुपतादयः स्वयूथ्या वा, किंभूतास्ते इति दर्शयति—वर्त्तमानमेव सुखम् आधाकर्मोपभोगजनितमेषितुं शीलं येषां ते वर्तमानसुखैषिणः, समुद्रवायसवत् तत्कालावाप्तसुखलवासक्तचेतसोऽनालोचिताधाकर्मोपभोगजनितातिकटुकदुःखौघानुभवा वैशालिकमत्स्या इव 'घातं' विनाशम् 'एष्यन्ति' अनुभविष्यन्ति' अनन्तशः' अरहट्टघटीन्यायेन भूयो भूयः संसारोदन्वति निमज्जनोन्मज्जनं कुर्वाणा न ते संसाराम्भोधेः पारगामिनो भविष्यन्तीत्यर्थः ॥४॥ साम्प्रतमपराज्ञाभिमतोपप्रदर्शनायाह——

इणमन्नं तु अन्नाणं, इहमेगेसि आहियं[1] । देवउत्ते अयं लोए, बंभउत्तेति आवरे ॥५॥

१ माहियं इ. ।

ईसरेण कडे लोए, पहाणा[1]इ तहावरे। जीवाजीवसमाउत्ते, सुहदुक्खसमन्निए ॥६॥
सयंभुणा कडे लोए, इति वुत्तं महेसिणा। मारेण संथुया[2] माया, तेण लोए असासए[3] ॥७॥

'इद'मिति वक्ष्यमाणं, तुशब्दः पूर्वेभ्यो विशेषणार्थः, 'अज्ञान'मिति मोहविजृम्भणम्–'इह' अस्मिन् लोके एकेषां सर्वेषाम् 'आख्या-
तम्' अभिप्रायः, किं पुनस्तदाख्यातमिति ? तदाह–देवेनोप्तो देवोप्तः, कर्षकेणेव बीजवपनं कृत्वा निष्पादितोऽयं लोक इत्यर्थः, देवैर्वा
॥ ९ ॥ गुप्तो–रक्षितो देवगुप्तो देवपुत्रो वेत्येवमादिकमज्ञानमिति, तथा ब्रह्मणा उप्तो ब्रह्मोप्तोऽयं लोक इत्यपरे एवं व्यवस्थिताः, तथाहि तेषा-
मयमभ्युपगमः–ब्रह्मा जगत्पितामहः, स चैक एव जगदादावासीत्तेन च प्रजापतयः सृष्टाः तैश्च क्रमेणैतत्सकलं जगदिति ॥५॥ तथेश्व-
रेण कृतोऽयं लोकः, एवमेके ईश्वरकारणिका अभिदधति, प्रमाणयन्ति च ते—सर्वमिदं विमत्याधिकर्[4]णभावापन्नं तनुभुवनकरणादिकं
धर्मित्वेनोपादीयते, बुद्धिमत्कारणपूर्वकमिति साध्यो धर्मः, संस्थानविशेषवत्त्वादिति हेतुः, यथा घटादिरिति दृष्टान्तोऽयं, यद्यत्संस्थान-
विशेषवत्तत्तद्बुद्धिमत्कारपूर्वकं दृष्टं, यथा देवकुलकूपादीनि, संस्थानविशेषवच्च मकराकरनदीधराधरधराशरीरकरणादिकं विवादगोचरापन्न-
॥ १० ॥ मिति, तस्माद्बुद्धिमत्कारणपूर्वकं, यश्च समस्तस्यास्य जगतः कर्ता स सामान्यपुरुषो न भवतीत्यसावीश्वर इति, तथा सर्वमिदं तनुभुवनक-
रणादिकं धर्मित्वेनोपादीयते, बुद्धिमत्कारणपूर्वकमिति साध्यो धर्मः, कार्यत्वाद् घटादिवत्, तथा स्थित्वा प्रवृत्तेर्वा, वास्यादिवदिति।
तथाऽपरे प्रतिपन्ना यथा–प्रधानादिकृतो लोकः, सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, सा च पुरुषार्थं प्रति प्रवर्तते, आदिग्रहणाच्च
'प्रकृतेर्महान् ततोऽहङ्कारः तस्माच्च[5] गणः षोडशकः तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्च भूतानी'त्यादिकया प्रक्रियया सृष्टिर्भवतीति, यदिवा

१ °णाति आ. इ.। २ °ता आ. इ.। ३ °ते आ. इ.। ४ °करणापन्नं आ. °करणभावापण्णं इ.। ५ °त् गणश्च आ.।

–आदिग्रहणात्स्वभावादिकं गृह्यते, ततश्चायमर्थः–स्वभावेन कृतो लोकः, कण्टकादितैक्ष्ण्यवत्, तथाऽन्ये नियतिकृतो लोको मयूराङ्गरुहवदित्यादिभिः कारणैः कृतोऽयं लोको 'जीवाजीवसमायुक्तो' जीवैः–उपयोगलक्षणैः तथा अजीवैः–धर्माधर्माकाशपुद्गलादिकैः समन्वितः समुद्रधराधरादिक इति, पुनरपि लोकं विशेषयितुमाह–'सुखम्' आनन्दरूपं 'दुःखम्' असातोदयरूपमिति, ताभ्यां समन्वितो–युक्त इति ॥६॥ किंच–'सयंभुणा'इत्यादि, स्वयं भवतीति स्वयम्भूः–विष्णुरन्यो वा, स चैक एवादावभूत्, तत्रैकाकी रमते, द्वितीयमिष्टवान्, तच्चिन्तानन्तरमेव द्वितीया शक्तिः समुत्पन्ना, तदनन्तरमेव जगत्सृष्टिरभूद् 'इति' एवं महर्षिणा 'उक्तम्' अभिहितम्, एवंवादिनो लोकस्य कर्तारमभ्युपगतवन्तः। अपि च 'तेन' स्वयंभुवा लोकं निष्पाद्यातिभारभयाद्यमाख्यो मारयतीति मारो व्यधायि, तेन मारेण 'संस्तुता' कृता प्रसाधिता माया, तया च मायया लोका म्रियन्ते, न च परमार्थतो जीवस्योपयोगलक्षणस्य व्यापत्तिरस्ति, अतो मायैषा यथाऽयं मृतः, तथा चायं लोकः 'अशाश्वतः' अनित्यो विनाशीति गम्यते ॥७॥ अपि च—

माहणा समणा एगे, आह अंडकडे जगे। असो तत्तमकासी य, अयाणंता मुसं वदे[1] ॥८॥

'ब्राह्मणा' धिग्जातयः 'श्रमणाः' त्रिदण्डिप्रभृतयः 'एके' केचन पौराणिका न सर्वे, एवम् 'आहुः' उक्तवन्तो, वदन्ति च यथा—जगदेतच्चराचरमण्डेन कृतमण्डकृतं अण्डाज्जातमित्यर्थः, तथाहि ते वदन्ति–यदा न किञ्चिदपि वस्त्वासीत्–पदार्थशून्योऽयं संसारः तदा ब्रह्माऽप्स्वण्डमसृजत्, तस्माच्च क्रमेण वृद्धात्पश्चाद्द्विधाभावमुपगतादूर्ध्वाधोविभागोऽभूत्, तन्मध्ये च सर्वाः प्रकृतयोऽभूवन्, एवं पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशसमुद्रसरित्पर्वतमकराकरनिवेशादिसंस्थितिरभूदिति, तथा चोक्तम्—"आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्। अप्रतर्क्य-

१ वए आ. वते इ.।

मविज्ञेयं, प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥१॥" एवंभूते चास्मिन् जगति 'असौ' ब्रह्मा, तस्य भावस्तत्त्वं–पदार्थजातं तदण्डादिप्रक्रमेण 'अकार्षीत्' कृतवानिति। ते च ब्राह्मणादयः परमार्थमजानानाः सन्तो[1] मृषा वदन्त एवं वदन्ति–अन्यथा च स्थितं तत्त्वमन्यथा प्रतिपादयन्तीत्यर्थः ॥८॥

अधुनैतेषां देवोप्तादिजगद्वादिनामुत्तरदानायाह—

सएहिं[2] परियाएहिं, लोयं बूया[3] कडेति[4] य। तत्तं ते[5] ण विजाणंति[6], ण विणासी[7] कयाइवि[8] ॥९॥

'स्वकैः' स्वकीयैः 'पर्यायैः' अभिप्रायैर्युक्तिविशेषैः अयं लोकः कृत इत्येवम् 'अब्रुवन्' अभिहितवन्तः, तद्यथा–देवोप्तो ब्रह्मोप्त ईश्वरकृतः प्रधानादिनिष्पादितः स्वयम्भुवा व्यधायि तन्निष्पादितमायया म्रियते तथाऽण्डजश्चायं लोक इत्यादि, स्वकीयाभिरुपपत्तिभिः प्रतिपादयन्ति–यथाऽस्मदुक्तमेव सत्यं नान्यदिति, ते चैवंवादिनो वादिनः सर्वेऽपि 'तत्त्वं' परमार्थं यथावस्थितलोकस्वभावं 'नाभि (न वि) जानन्ति' न सम्यक् विवेचयन्ति, यथाऽयं लोको द्रव्यार्थतया न विनाशीति–निर्मूलतः कदाचन, न चायमादित आरभ्य केनचित् क्रियते, अपि त्वयं लोकोऽभूद्भवति भविष्यति च, तथाहि–यत्तावदुक्तं यथा 'देवोप्तोऽयं लोक' इति, तदसंगतम्, यतो देवोप्तत्वे लोकस्य न किञ्चित्तथाविधं प्रमाणमस्ति, न चाप्रमाणकमुच्यमानं विद्वज्जनमनांसि प्रीणयति, अपि च–किमसौ देव उत्पन्नोऽनुत्पन्नो वा लोकं सृजेत्?, न तावदनुत्पन्नस्तस्य खरविषाणस्येवासत्त्वात्करणाभावः, अथोत्पन्नः सृजेत्तत्किं स्वतोऽन्यतो वा?, यदि स्वत एवोत्पन्नस्तथा सति तल्लोकस्यापि स्वत एवोत्पत्तिः किं नेष्यते?, अथान्यत उत्पन्नः सन् लोककरणाय, सोऽप्यन्योऽन्यतः सोऽप्यन्योऽन्यत इत्येवमनवस्थालता न-

१ सन्त एवं वदन्तो मृषा आ.। २ सतेहिं इ.। ३ भूय इ.। ४ °तिया आ. इ.। ५ तेन इ.। ६ °ती आ. इ.। ७ °सि आ. इ.। ८ कयाइवी आ. कियाइवि इ.।

भोमण्डलव्यापिन्यनिवारितप्रसरा प्रसर्पतीति, अथासौ देवोऽनादित्वान्नोत्पन्न इत्युच्यते, इत्येवं सति लोकोऽप्यनादिरेवास्तु, को दोषः ?, किंच–असावनादिः सन्नित्योऽनित्यो वा स्यात् ?, यदि नित्यस्तदा तस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधान्न कर्तृत्वम्, अथानित्यस्तथा सति स्वत एवोत्पत्त्यनन्तरं विनाशित्वादात्मनोऽपि न त्राणाय, कुतोऽन्यत्करणं प्रति तस्य व्यापारचिन्तेति ?, तथा किममूर्तो मूर्तिमान् वा ?, यद्यमूर्तस्तदाऽऽकाशवदकर्तैव, अथ मूर्तिमान् तथा सति प्राकृतपुरुषस्येवोपकरणसव्यपेक्षस्य स्पष्टमेव सर्वजगदकर्तृत्वमिति। देवगुप्तदेवपुत्रपक्षौ त्वतिफल्गुत्वादपकर्णयितव्याविति, एतदेव दूषणं ब्रह्मोप्तपक्षेऽपि द्रष्टव्यं, तुल्ययोगक्षेमत्वादिति। तथा यदुक्तम्—'तनुभुवनकरणादिकं विमत्यधिकरणभावापन्नं विशिष्टबुद्धिमत्कारपूर्वकं, कार्यत्वाद्, घटादिवदिति' तदयुक्तं, तथाविधविशिष्टकारणपूर्वकत्वेन व्याप्त्यसिद्धेः, कारणपूर्वकत्वमात्रेण तु कार्यं व्याप्तं, कार्यविशेषोपलब्धौ कारणविशेषप्रतिपत्तिर्गृहीतप्रतिबन्धस्यैव भवति, न चात्यन्तादृष्टे तथा प्रतीतिर्भवति, घटे तत्पूर्वकत्वं प्रतिपन्नमिति चेत् युक्तं तत्र घटस्य कार्यविशेषत्वप्रतिपत्तेः, न त्वेवं सरित्समुद्रपर्वतादौ बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वेन संबन्धो गृहीत इति, नन्वत एव घटादिसंस्थानविशेषदर्शनवत्पर्वतादावपि विशिष्टसंस्थानदर्शनाद्बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वस्य साधनं क्रियते, नैतदेवं युक्तं, यतो न हि संस्थानशब्दप्रवृत्तिमात्रेण सर्वस्य बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वावगतिर्भवति, यदि तु स्यात् मृद्विकारत्वाद्वल्मीकस्यापि घटवत्कुम्भकारकृतिः स्यात्, तथा चोक्तम्—"अन्यथा कुम्भकारेण, मृद्विकारस्य कस्यचित्। घटादेः करणात्सिद्ध्येद्वल्मीकस्यापि तत्कृतिः ॥१॥" इति, तदेवं यस्यैव संस्थानविशेषस्य बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वेन संबन्धो गृहीतस्तद्दर्शनमेव तथाविधकारणानुमापकं भवति न संस्थानमात्रमिति, अपिच–घटादिसंस्थानानां कुम्भकार एव विशिष्टः कर्तोपलक्ष्यते नेश्वरः, यदि पुनरीश्वरः स्यात् किं कुम्भकारेणेति ?, नैतदस्ति, तत्रापीश्वर एव सर्वव्यापितया निमित्तकारणत्वेन व्याप्रियते, नन्वेवं दृष्टहानिरदृष्टकल्पना स्यात्, तथा चोक्तम्—

“शस्त्रौषधादिसंवन्धाच्चैत्रस्य व्रणरोहणे । असंवद्धस्य किं स्थाणोः, कारणत्वं न कल्प्यते ? ॥१॥” तदेवं दृष्टकारणपरित्यागेनादृष्टपरिक-
ल्पना न न्याय्येति, अपिच— देवकुलावटादीनां यः कर्ता स सावयवोऽव्याप्यनित्यो दृष्टः, तद्दृष्टान्तसाधितश्चेश्वर एवंभूत एव प्राप्नोति,
अन्यथाभूतस्य च दृष्टान्ताभावाद्व्याप्त्यसिद्धेर्नानुमानमिति, अनयैव दिशा स्थित्वाप्रवृत्त्यादिकमपि साधनमसाधनमायोज्यं, तुल्ययोग-
क्षेमत्वादिति । यदपि चोक्तं ‘प्रधानादिकृतोऽयं लोक’ इति, तदप्यसंगतं, यतस्तत्प्रधानं किं मूर्तममूर्तं वा ?, यद्यमूर्तं न ततो मकराक-
॥ ८ ॥ रादेर्मूर्तस्योद्भवो घटते, न ह्याकाशात्किञ्चिदुत्पद्यमानमालक्ष्यते, मूर्तामूर्तयोः कार्यकारणविरोधादिति, अथ मूर्तं तत्कुतः समुत्पन्नं ?, न
तावत्स्वतो लोकस्यापि तथोत्पत्तिप्रसङ्गात् , नाप्यन्यतोऽनवस्थापत्तेरिति, यथाऽनुत्पन्नमेव प्रधानाद्यनादिभावेनाऽऽस्ते तद्वल्लोकोऽपि किं
नेष्यते ?, अपिच—सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रधानमित्युच्यते, न चाविकृतात्प्रधानान्महदादेरुत्पत्तिरिष्यते भवद्भिः, न च विकृतं
प्रधानव्यपदेशमास्कन्दतीत्यतो न प्रधानान्महदादेरुत्पत्तिरिति, अपिच—अचेतनायाः प्रकृतेः कथं पुरुषार्थं प्रति प्रवृत्तिः ? येनाऽऽत्मनो
भोगोपपत्त्या सृष्टिः स्यादिति, प्रकृतेरयं स्वभाव इति चेदेवं तर्हि स्वभाव एव बलीयान् यस्तामपि प्रकृतिं नियमयति, तत एव च लो-
॥ १० ॥ कोऽप्यस्तु, किमदृष्टप्रधानादिकल्पनयेति ?, अथादिग्रहणात्स्वभावस्यापि कारणत्वं कैश्चिदिष्यत इति चेदस्तु, न हि स्वभावोऽभ्युपगम्य-
मानो नः क्षतिमातनोति, तथाहि—स्वो भावः स्वभावः—स्वकीयोत्पत्तिः, सा च पदार्थानामिष्यत एवेति । तथा यदुक्तं ‘नियतिकृतोऽयं
लोक’ इति, तत्रापि नियमनं नियतिर्यद्यथाभवनं नियतिरित्युच्यते, सा चाऽऽलोच्यमाना न स्वभावादतिरिच्यते[2], यच्चाभ्यधायि—‘स्व-
यम्भुवोत्पादितो लोक’ इति, तदप्यसुन्दरमेव, यतः स्वयम्भूरिति किमुक्तं भवति ?, किं यदाऽसौ भवति तदा स्वतन्त्रोऽन्यनिरपेक्ष एव

१ °नाल्लोकस्योत्पत्तिरिति आ. इ. । २ °त इति य° आ. इ. ।

भवति अथानादिभवनात्स्वयम्भूरिति व्यपदिश्यते ? तद्यदि स्वतन्त्रभवनाभ्युपगमस्तद्वल्लोकस्यापि भवनं किं नाभ्युपेयते ?, किं स्वयम्भुवा ?, अथानादिस्ततस्तस्यानादित्वे नित्यत्वं, नित्यस्य चैकरूपत्वात्कर्तृत्वानुपपत्तिः, तथा वीतरागत्वात्तस्य संसारवैचित्र्यानुपपत्तिः, अथ सरागोऽसौ ततोऽस्मदाद्यव्यतिरेकात्सुतरां विश्वस्याकर्ता, मूर्तामूर्तादिविकल्पाश्च प्राग्वदायोज्या इति। यदपि चात्राभिहितं–'तेन मारः समुत्पादितः, स च लोकं व्यापादयति', तदप्यकर्तृत्वस्याभिहितत्वात्प्रलापमात्रमिति। तथा यदुक्तम्–'अण्डादिक्रमजो[1]ऽयं लोक' इति, तदप्यसमीचीनं, यतो यास्वप्सुतदण्डं निसृष्टं ता यथाऽण्डमन्तरेणाभूवन् तथा लोकोऽपि भूत इत्यभ्युपगमे न काचिद्बाधा दृश्यते, तथाऽसौ ब्रह्मा यावदण्डं सृजति तावल्लोकमेव कस्मान्नोत्पादयति ?, किमनया कष्टया युक्त्यसंगतया चाण्डपरिकल्पनया ?, एवमस्त्विति चेत् [2]तथा केचिदभिहितवन्तो यथा ब्राह्मणो मुखाद्ब्राह्मणाः समजायन्त बाहुभ्यां क्षत्रिया ऊरुभ्यां वैश्याः पद्भ्यां शूद्रा इति, एतदप्ययुक्तिसंगतमेव, यतो न मुखादेः कस्यचिदुत्पत्तिर्भवन्त्युपलक्ष्यते, अथापि स्यात्तथा सति वर्णानामभेदः स्याद्, एकस्मादुत्पत्तेः, तथा ब्राह्मणानां कठतैत्ति[3]रीयककलापादिकश्च भेदो न स्याद्, एकस्मान्मुखादुत्पत्तेः, एवं चोपनयनादिसद्भावो न भवेद्, भावे वा स्वस्त्रादिग्रहणापत्तिः स्याद्, एवमाद्यनेकदोषदुष्टत्वादेवं लोकोत्पत्तिर्नाभ्युपगन्तव्या। ततश्च स्थितमेतत्—त एवंवादिनो लोकस्यानाद्यपर्यवसितस्योर्ध्वाधश्चतुर्दशरज्जुप्रमाणस्य वैशाखस्थानस्थकटिन्यस्तकरयुग्मपुरुषाकृतेरधोमुखमल्लकाकारसप्तपृथिव्यात्मकाधोलोकस्य स्थालाकारासंख्येयद्वीपसमुद्राधारमध्यलोकस्य मल्लकसमुद्गकाकारोर्ध्वलोकस्य धर्माधर्माकाशपुद्गलजीवात्मकस्य द्रव्यार्थतया नित्यस्य पर्यायापेक्षया क्षणक्षयिण उत्पादव्ययध्रौव्यापादितद्रव्यसत्[4]त्वस्यानादिजीवकर्मसंबन्धापादितानेकभवप्रपञ्चस्याष्टविधकर्मविप्रमुक्ताऽऽत्मलोकान्तोपल-

१ °योऽयं आ.। २ तथाहि आ. इ.। ३ °यकलापादिमेदो आ.। ४ °स्वतत्त्व° आ. इ.।

क्षितस्य तं[1]त्त्वमजानानाः सन्तो मृषा वदन्तीति ॥९॥ इदानीमेतेषामेव देवोप्तादिवादिनामज्ञानित्वं प्रसाध्य तत्फलदिदर्शयिषयाऽऽह—

अमणु[2]न्नसमुप्पायं, दुक्खमेव विजाणिया । समुप्पायमजाणंता, [3]कहं नायंति संवरं ? ॥१०॥

मनोऽनुकूलं मनोज्ञं—शोभनमनुष्ठानं न मनोज्ञममनोज्ञम्—असदनुष्ठानं तस्मादुत्पादः—प्रादुर्भावो यस्य दुःखस्य तदमनोज्ञसमुत्पादम् , एवकारोऽवधारणे, स चैवं संबन्धनीयः—अमनोज्ञसमुत्पादमेव दुःखमित्येवं 'विजानीयात्' अवगच्छेत्प्राज्ञः, एतदुक्तं भवति—स्वकृतासदनुष्ठानादेव दुःखस्योद्भवो भवति नान्यस्मादिति, एवं व्यवस्थितेऽपि सति अनन्तरोक्तवादिनोऽसदनुष्ठानोद्भवस्य दुःखस्य समुत्पादमजानानाः सन्तोऽन्यत ईश्वरादेर्दुःखस्योत्पादमिच्छन्ति, ते चैवमिच्छन्तः 'कथं' केन प्रकारेण दुःखस्य संवरं—दुःखप्रतिघातहेतुं ज्ञास्यन्ति, निदानोच्छेदेन हि निदानिन उच्छेदो भवति, ते च निदानमेव न जानन्ति, तच्चाजानानाः कथं [4]दुःखोच्छेदाय यतिष्यन्ते ?, यत्नवन्तोऽपि च[5] नैव दुःखोच्छेद[6]नमवाप्स्यन्ति, अपि तु संसार एव जन्मजरामरणेष्टवियोगाद्यनेकदुःखव्रा[7]ताघ्राता भूयो भूयोऽरहट्टघटीन्यायेनानन्तमपि कालं संस्थास्यन्ति ॥१०॥ साम्प्रतं प्रकारान्तरेण कृतवादिमतमेवोपन्यस्यन्नाह—

सुद्धे अपावए आया, इहमेगेसिमाहि[8]यं । पुणो कि[9]ड्डापदोसेणं, [10]सो तत्थ अवरज्झई[11] ॥११॥

इह संवुडे मुणी जाए[12], पच्छा होइ अपावए । वियडं[13]बु जहा भुज्जो, नीरयं सरयं तहा ॥१२॥

१ स्वतत्त्व° आ. सतत्त्व° इ. । २ अमणुण्णा इत्यादि आ. इ. । ३ किहनाहं° आ. किह नाहिं° इ. । ४ ते दुःखो° आ. इ. । ५ ×नैव आ. । ६ °च्छेद×° आ. । ७ °जाता° आ. । ८ °आहिय आ. आहितं इ. । ९ °ड्डायदो° आ. °डापओ° इ. । १० स आ. इ. । ११ °ति आ. °इ इ. । १२ °ति आ. इ. । १३ °डंव आ. इ. ।

'इह' अस्मिन् कृतवादिप्रस्तावे त्रैराशिका गोशालकमतानुसारिणो येषामेकविंशतिसूत्राणि पूर्वगतत्रैराशिकसूत्रपरिपाट्या व्यवस्थितानि ते एवं वदन्ति--यथाऽयमात्मा 'शुद्धो' मनुष्यभव एव शुद्धाचारो भूत्वा अपगताशेषमलकलङ्को मोक्षे अपापको भवति—अपगताशेषकर्मा भवतीत्यर्थः, इदम् 'एकेषां' गोशालकमतानुसारिणामाख्यातं, पुनरसावात्मा शुद्धत्वाकर्मकत्वराशिद्वयावस्थो भूत्वा क्रीडया प्रद्वेषेण वा स तत्र मोक्षस्थ एव 'अपराध्यति' रजसा श्लिष्यते, इदमुक्तं भवति--तस्य हि स्वशासनपूजामुपलभ्यान्यशासनपराभवं चोपलभ्य क्रीडोत्पद्यते—प्रमोदः संजायते, स्वशासनन्यक्कारदर्शनाच्च द्वेषः, ततोऽसौ क्रीडाद्वेषाभ्यामनुगतान्तरात्मा शनैः शनैर्निर्मलपटवदुपभुज्यमानो रजसा मलिनीक्रियते, मलीमसश्च कर्मगौरवाद्भूयः संसारेऽवतरति, अस्यां चावस्थायां सकर्मकत्वात्तृतीयराश्यवस्थो भवति ॥११॥ किं च—'इह' अस्मिन् मनुष्यभवे प्राप्तः सन् प्रव्रज्यामभ्युपेत्य संवृतात्मा--यमनियमरतो जातः सन् पश्चादपापो भवति—अपगताशेषकर्मकलङ्को भवतीति भावः, ततः स्वशासनं प्रज्वाल्य मुक्त्यवस्थो भवति, पुनरपि स्वशासनपूजादर्शनान्निकारोपलब्धेश्च रागद्वेषोदयात्कलुषितान्तरात्मा विकटाम्बुवद्--उदकवन्नीरजस्कं सद्वातोद्धूतरेणुनिवहसंपृक्तं सरजस्कं--मलिनं भूयो यथा भवति तथाऽयमप्यात्माऽनन्तेन कालेन संसारोद्वेगाच्छुद्धाचारावस्थो भूत्वा ततो मोक्षावाप्तौ सत्यामकर्मावस्थो भवति, पुनः शासनपूजानिकारदर्शनाद्रागद्वेषोदयात्सकर्मा भवतीति, एवं त्रैराशिकानां राशित्रयावस्थो भवत्यात्मेत्याख्यातम्, उक्तं च--"दग्धेन्धनः पुनरुपैति भवं प्रमथ्य, निर्वाणमप्यनवधारितभीरुनिष्ठम्। मुक्तः स्वयं कृतभवश्च परार्थशूरस्त्वच्छासनप्रतिहतेष्विह मोहराज्यम् ॥१॥" इति ॥१२॥

१ °ल×म° आ. इ. । २ °गते° आ. इ. । ३ °कर्म×त्व° आ. °कर्मकरत्व° इ. । ४ °निकार° आ. इ. । ५ °तीति आ. इ. । ६ °न्निकरौ° इ. । ७ विकटवदुदकवन्नी° आ. इ । ८ °दूधूत° आ. इ. ।

अधुनैतद्दूषयितुमाह—

एताणुवीति मेधावी[1], बंभचेरेण[2] ते वसे। पुढो पावाउया सव्वे, अक्खायारो सयं सयं ॥१३॥

सए[3] सए[3] उवट्ठाणे, सिद्धिमेव न[4] अन्नहा। अहो इहेव[5] वसवत्ती, सव्वकामसमप्पिए ॥१४॥

'एतान्' पूर्वोक्तान् वादिनोऽ[6]नुचिन्त्य 'मेधावी' प्रज्ञावान् मर्यादाव्यवस्थितो वा एतदवधारयेत् यथा—नैते राशित्रयवादिनो देवोप्तादिलोकवादिनश्च 'ब्रह्मचर्ये' तदुपलक्षिते वा संयमा[7]नुष्ठाने 'वसेयुः' अवतिष्ठेरन्निति, तथाहि—तेषामयमभ्युपगमो यथा स्वदर्शनपूजानिकारदर्शनात्कर्मबन्धो भवति, एवं चावश्यं तद्दर्शनस्य पूजया तिरस्कारेण वोभयेन वा भाव्यं, तत्संभवाच्च कर्मोपचयस्तदुपचयाच्च शुद्ध्यभावः शुद्ध्यभावाच्च मोक्षाभावः, न च मुक्तानामपगताशेषकर्मकलङ्कानां कृतकृत्यानामपगताशेषयथावस्थितवर्स्तु[8]तत्त्वानां समस्तुतिनिन्दानामपगतात्मात्मीयपरिग्रहाणां रागद्वेषानुषङ्गः,तदभावाच्च कुतः पुनः कर्मबन्धः?, तद्वशाच्च संसारावतरणमि[9]त्यर्थः, अतस्ते यद्यपि कथञ्चिद् द्रव्यब्रह्मचर्ये व्यवस्थितास्तथापि सम्यग्ज्ञानाभावान्न ते सम्यगनुष्ठानभाज इति स्थितम्। अपिच—सर्वेऽप्येते प्रावादुकाः 'स्वकं स्वकम्' [10]आत्मीयमात्मीयं दर्शनं स्वदर्शनानुरागादाख्यातारः—शोभनत्वेन प्रख्यापयितार इति, न च तत्र विदितवेद्यै[11]र्नास्था विधेयेति ॥१३॥ पुनरन्यथा कृतवादिमतमुपदर्शयितुमाह—'सए सए इत्यादि' ते कृतवादिनः शैवैकदण्डिप्रभृतयः स्वकीये स्वकीये उपतिष्ठन्त्यस्मिन्नित्युपस्थानं—स्वीयमनुष्ठानं दीक्षागुरुचरणशुश्रूषादिकं तस्मिन्नेव 'सिद्धिम्' अशेषसांसारिकप्रपञ्चरहितस्वभावामभिहितवन्तो 'नान्यथा' नान्येन प्रकारेण सिद्धिर-

१ मेहावी इ.। २ °न इ.। ३ °ते आ. इ.। ४ ण अण्ण° आ.। ५ विहोति आ. विहोइ इ.। ६ °नुविचिन्त्य आ. इ.। ७ सत्यसंयमा° आ.। ८ °स्तुस्वतत्त्वा° आ.। ९ °मित्यतस्ते° आ. इ.। १० ×××मात्मीय××××दर्शनानुराग° आ.। ११ °तत्वेनास्था आ. °वोद्यनात्मास्था इ.।

वाप्यत इति, तथाहि–शैवा दीक्षात एव मोक्ष इत्येवं व्यवस्थिताः, एकदण्डिकास्तु पञ्चविंशतितत्त्वपरिज्ञानान्[1]मुक्तिरित्यभिहितवन्तः, तथाऽन्येऽपि वेदान्तिका ध्यानाध्ययनसमाधिमार्गानुष्ठानात्सिद्धिमुक्तवन्त इत्येवमन्येऽपि यथास्वं दर्शनान्[2]मोक्षमार्गं प्रतिपादयन्तीति, अशेषद्वन्द्वोपरमलक्षणायाः सिद्धिप्राप्तेरधस्तात्–प्रागपि यावदद्यापि सिद्धि[3]प्राप्तिर्न भवति तावदिहैव जन्मन्यस्मदीयदर्शनोक्तानुष्ठानानुभावादष्टगुणैश्वर्यसद्भावो भवतीति दर्शयति–आत्मवशे वर्तितुं शीलमस्येति वशवर्ती–वशेन्द्रिय इत्युक्तं भवति, न ह्यसौ सांसारिकैः स्वभावैरभिभूयते, सर्वे कामा–अभिलाषा [4]अर्पिताः–संपन्ना यस्य स सर्वकामसमर्पितो, यान् यान् कामान् कामयते ते तेऽस्य सर्वे सि[5]ध्यन्तीतियावत्, तथाहि–सिद्धेरारादष्टगुणैश्वर्यलक्षणा 'सिद्धिर्भवति' तद्यथा–अणिमा लघिमा महिमा प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं [6]प्रतिघातित्वं यत्र कामावसायित्वमिति ॥१४॥ तदेवमिहै[7]वास्मदुक्तानुष्ठायिनोऽष्टगुणैश्वर्यलक्षणा सिद्धिर्भवत्यमुत्र चाशेषद्वन्द्वोपरमलक्षणा सिद्धिर्भ[8]वतीति दर्शयितुमाह—

सिद्धा य ते अरोगा य, इहमेगेसिमा[9]हियं। सिद्धिमेव [10]पुरो काउं, सासए गढिआ नरा ॥१५॥
असंवुडा अणादीयं, भमिहिंति पुणो पुणो। कप्पकालमुवज्जंति, ठाणा [11]आसुरकिब्बिसिया ॥१६॥

इति बेमि इति प्रथमाध्ययने तृतीयोद्देशकः ॥ गाथा ग्रं. ७५ ॥

---

१ ज्ञात्वान्मु° इ.। २ दर्शनैर्मोक्ष° आ. दर्शनमोक्ष° इ.। ३ सिद्धेःप्रा०। ४ समर्पिताः आ.। ५ सिद्ध्यन्त इति आ.। ६ अप्रति आ. इ.। ७ °मिहास्म° आ.। ८ °भविष्यतीति आ.। ९ आहियं आ. आहितं इ.। १० पुरा आ. इ.। ११ असुर आ. इ.। १२ °किब्बिसियत्ति। बेमि ॥ तइउ उद्देसउ सम्मत्तो ॥ आ.। किब्बिसियत्ति। बेमि ॥ तत्तिओ उद्देसओ सम्मत्तो ॥ छ ॥ इ.।

'सिद्धा य ते' इत्यादि ये ह्यस्मदुक्तमनुष्ठानं सम्यगनुतिष्ठन्ति तेऽस्मिन् जन्मन्यष्टगुणैश्वर्यरूपां सिद्धिमासाद्य पुनर्विशिष्टसमाधियोगेन शरीरत्यागं कृत्वा 'सिद्धाश्च' अशेषद्वन्द्वरहिता अरो[1]गा भवन्ति, अरोगग्रहणं चोपलक्षणम्, अनेकशारीरमानसद्वन्द्वै[2]र्न स्पृश्यन्ते, शरीरमनसोरभावादिति, एवम् 'इह' अस्मिन् लोके सिद्धिविचारे वा 'एकेषां' शैवादीनामिदम् 'आख्यातं' भाषितं, ते च शैवादयः 'सिद्धिमेव पुरस्कृत्य' मुक्तिमेवाङ्गीकृत्य 'स्वकीये आशये' स्वदर्शनाभ्युपगमे 'ग्रथिताः' संबद्धा अध्युपपन्नास्तदनुकूला युक्तीः प्रतिपादयन्ति, नरा इव नराः—प्राकृतपुरुषाः शास्त्रावबोधविकलाः स्वाभिप्रेतार्थसाधनाय युक्तीः प्रतिपादयन्ति, एवं तेऽपि पण्डितंमन्याः परमार्थमजानानाः स्वाग्रहप्रसाधिका युक्तीरुद्घोषयन्तीति, तथा चोक्तम्—"आग्रही बत निनीषति युक्तिं, तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा। पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम् ॥१॥" ॥१५॥ साम्प्रतमेतेषामनर्थप्रदर्शनपुरःसरं दूषणाभिधित्सयाऽऽह—'असंवुडा' इत्यादि ते हि पाखण्डिका मोक्षाभिसन्धिना समुत्थिता अपि 'असंवृता' इन्द्रियनोइन्द्रियैरसंयताः, इहाप्यस्माकं लाभ इन्द्रियानुरोधेन सर्वविषयोपभोगाद्, अमुत्रं[3] मुक्त्यवाप्तेः, तदेवं मुग्धजनं प्रतारयन्तोऽ[3]नादिसंसारकान्तारं 'भ्रमिष्यन्ति' पर्यटिष्यन्ति स्वदुश्चरितोपा[6]र्त्तकर्मपाशावँशापि(पाशि)ताः पौनःपुन्येन नरकादियातनास्थानेषूत्पद्यन्ते, तथाहि—नेन्द्रियैरनियमितैरशेषद्वन्द्वप्रच्युतिलक्षणा सिद्धिरवाप्यते, याऽप्यणिमाद्यष्टगुणलक्षणैहिकी सिद्धिरभिधीयते साऽपि मुग्धजनप्रतारणाय दम्भकल्पैवेति, याऽपि च तेषां बालतपोऽनुष्ठानादिना स्वर्गावाप्तिः साऽप्येवंप्राया भवतीति दर्शयति—'कल्पकालं' प्रभूतकालम् 'उत्पद्यन्ते' संभवन्ति आसुराः—असुरस्थानोत्पन्ना नागकुमारादयः,

१ अरोगाश्च आ. इ.। २ °त्रच आ. इ.। ३ अनादिकं आ. इ.। ४ ××××× आ.। सा. ५ तायात प्र०। ६ तायत्त आ. तायात इ.। ७ °वपाशिताः आ. इ.।

तत्रापि न प्रधानाः, किं तर्हि ?–'किल्बिषिका[1]:' अधमाः प्रेष्यभूता अल्पर्धयोऽल्पभोगाः स्वल्पायुःसामर्थ्याद्युपेताश्च भवन्तीति । इति उद्देशकपरि[2]समाप्त्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥१६॥७५॥ इति समयाख्याध्ययनस्य तृतीयोद्देशकः समाप्तः ॥

卐 卐 卐 卐 卐

अथ प्रथमाध्ययने चतुर्थ उद्देशकः प्रारभ्यते ॥

उक्तस्तृतीयोद्देशकः, अधुना चतुर्थः समारभ्यते, अस्य चायमभिसंवन्धः–अनन्तरोद्देशकेऽध्ययनार्थत्वात्स्वपरसमयवक्तव्यतोक्ते-हापि सैवाभिधीयते, अथवाऽनन्तरोद्देशके तीर्थिकानां कुत्सिताचारत्वमुक्तमिहापि तदेवाभिधीयते, तदनेन संवन्धेनाऽऽयातस्यास्योद्देशकस्योपक्रमादीनि चत्वार्यनुयोगद्वाराण्यभिधाय सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

एते जिया भो[3] ! न सरणं, बाला[4][5] पंडियमाणिणो। हिच्चा[6] णं पुव्वसंजोगं, सिया[7] किच्चोवएसगा[8] ॥१॥

तं च भिक्खू परिन्नाय[9], वियं[10] तेसु ण मुच्छए। अणुक्कस्से अप्पलीणे, मज्झेणं[11] मुणि जावए ॥२॥

'एते जिया भो' इत्यादि अस्य चानन्तरसूत्रेण सहायं संवन्धस्तद्यथा, अनन्तरसूत्रेऽभिहितं–'तीर्थिका असुर[12]स्थानेषु किल्बिषा जायन्त' इति, किमिति ? यत एते जिताः परीषहोपसर्गैः, परम्परसूत्रसंबन्धस्त्वयम्–आदाविदमभिहितं 'बुध्येत त्रोटयेच्च' ततश्चैतदपि बुध्येत–

१ °षाः× आ. । २ ××समाप्त्यर्थे । ३ भोऽ° आ. भो° इ. । ४ तत्थ वालेवसीयति आ. इ. । सा. ५ जत्थ वालेऽवसीय प्र० । ६ हेच्चाण आ. इ. । ७ °मा आ. °ता इ. । ८ °वदेसगा आ. °वदेसिता इ. । ९ °ण्णा° आ. इ. । १० °ज्झं° आ. इ. । ११ °ण मुणि जावते आ. °ण मज्झिणं मुणि जावते इ. । १२ °आसुर आ. ।

यथैते पञ्चभूतादिवादिनो गोशाल[1]कमतानुसारिणश्च जिताः परीषहोसर्गैः कामक्रोधलोभ[2]मानमोहमदाख्येनारिषड्वर्गेण चेति, एवमन्यैरपि सूत्रैः संबन्ध उत्प्रेक्ष्यः। तदेवं कृतसंबन्धस्यास्य सूत्रस्येदानीं व्याख्या प्रतन्यते–'एत' इति पञ्चभूतैकात्मतज्जीवतच्छरी[3]रादिवादिनः कृतवादिनश्च गोशालकमतानुसारिणस्त्रैराशिकाश्च 'जिता' अभिभूता रागद्वेषादिभिः शब्दादिविषयैश्च तथा प्रबलमहामो[4]होत्थाज्ञानेन च 'भो' इति विनेयामन्त्रणम् एवं त्वं गृहाण य[5]थैते तीर्थिका असम्यगुपदेशप्रवृत्तत्वान्न कस्यचिच्छरणं भवितुमर्हन्ति न कश्चित्रातुं समर्था इत्यर्थः, किमित्येवं ?, यतस्ते बाला इव बालाः, यथा शिशवः सदसद्विवेकवैकल्याद्यत्किञ्चनकारिणो भाषिणश्च, तथैतेऽपि स्वयमज्ञाः सन्तः परानपि मोहयन्ति, एवम्भूता अपि च सन्तः पण्डितमानिन इति, क्वचित्पाठो 'जत्थ बालेऽवसीयइ'त्ति 'यत्र' अज्ञाने 'बालः' अज्ञो लग्नः सन्नवसीदति, तत्र ते व्यवस्थिताः यतस्ते न कस्यचित्त्राणायेति। यच्च तैर्विरूपमाचरितं तदुत्तरार्द्धेन दर्शयति–'हित्वा' त्यक्त्वा, णमिति वाक्यालङ्कारे, पूर्वसंयोगो–धनधान्यस्वजनादिभिः संयोगस्तं त्यक्त्वा किल वयं निःसङ्गाः प्रव्रजिता इत्युत्थाय पुनः सिता–बद्धाः परिग्रहारम्भेष्वासक्ता[6]स्ते गृहस्थाः तेषां कृत्यं–करणीयं पचनपाचनकण्डनपेषणादिको भूतोपमर्दकारी व्यापारस्तस्योपदेशस्तं गच्छन्तीति कृत्योपदेशगाः कृत्योपदेशका वा, यदिवा–'सिया' इति आर्षत्वाद्बहुवचनेन व्याख्यायते 'स्युः' भवेयुः कृत्यं–कर्तव्यं सावद्यानुष्ठानं तत्प्रधानाः कृत्या–गृहस्थास्तेषामुपदेशः–संरम्भसमारम्भारम्भरूपः स विद्यते तेषां ते कृत्योपदेशि[7]काः, प्रव्रजिता अपि सन्तः कर्तव्यैर्गृहस्थेभ्यो न भिद्यन्ते, गृहस्था इव तेऽपि सर्वावस्थाः पञ्चसू[8]नाव्यापारोपेता इत्यर्थः ॥१॥ एवम्भू[9]तेषु च तीर्थिकेषु सत्सु भिक्षुणा

१ °ल×म° आ. इ.। २ °मानलोभ° आ.। ३ °रीर×वादिनः आ.। ४ °मोहेनाऽ° आ.। ५ यश्चैते इ. ६ °सक्ता × आ। ७ देशकाः आ.। ८ °शूना आ. °शूनाः इ.। ९ एवं च भू° इ.।

यत्कर्तव्यं तद्दर्शयितुमाह—'तं च भिक्खू' इत्यादि 'तं' पाखण्डिकलोकमसदुपदेशदानाभिरतं 'परिज्ञाय' सम्यगवगम्य यथैते मिथ्यात्वोपहतान्तरात्मानः सद्विवेकशून्या नात्मने हितायालं नान्यस्मै इत्येवं पर्यालोच्य भावभिक्षुः संयतो 'विद्वान्' विदितवेद्यः तेषु 'न मूर्च्छेयेत्' न गार्ध्यं विदध्यात्, न तैः सह संपर्कमपि कुर्यादित्यर्थः। किं पुनः कर्तव्यमिति पश्चार्द्धेन दर्शयति—'अनुत्कर्षवानिति' अष्टमदस्थानानामन्यतमेना[1]प्युत्सेकमकुर्वन् तथा 'अप्रलीनः' असंबद्धस्तीर्थिकेषु गृहस्थेषु पार्श्वस्थादिषु वा संश्लेषमकुर्वन् 'मध्येन' रागद्वेषयो-
८ रन्तरालेन संचरन् 'मुनिः' जगत्त्रयवेदी 'यापयेद्' आत्मानं वर्तयेत्, इदमुक्तं भवति—तीर्थिकादिभिः सह सत्यपि कथञ्चित्संबन्धे त्यक्ताहङ्कारेण तथा [2]भावतस्तेष्वप्रलीयमानेनारक्तद्विष्टेन तेषु निन्दामात्मनश्च प्रशंसां परिहरता मुनिनाऽऽत्मा यापयितव्य इति ॥२॥ किमिति[3] ते तीर्थिकास्त्राणाय न भवन्तीति दर्शयिं[4]तुमाह—

सपरिग्गहा य सारंभा, इहमेगेसिमा[5]हियं। अपरिग्गहा[6] अणारंभा[7], भिक्खू ताणं परिव्वए[8] ॥३॥

कडेसु घासमेसेज्जा विउं[9] दत्तेसणं चरे। अगिद्धो विप्पमुक्को अं[10], [11]ओमाणं परिविज्जए[12] ॥४॥

१० 'सपरिग्गहा' इत्यादि सह परिग्रहेण धनधान्यद्विपदचतुष्पदादिना वर्तन्ते तदभावेऽपि शरीरोपकरणादौ मूर्च्छावन्तः स[13]परिग्रहाः तथा सहारम्भेणजीवोपमर्दादिकारिणा व्यापारेण वर्तन्त इति तदभावेऽप्यौद्देशिकादिभोजित्वात्सारम्भाः—तीर्थिकादयः, सपरिग्रहारम्भकत्वेनैव च मोक्षमार्गं प्रसाधयन्तीति दर्शयति—'इह' परलोकचिन्तायाम् एकेषां केषाञ्चिद् 'आख्यातं' भाषितं, यथा किमनया शिर-

१ °नाशुत्से इ.। २ भाव×ते° इ। ३ °ति× आ.। ४ दर्शयति आ.। ५ आहियं आ.। ६ आहितं इ। ७ °मे आ. इ.। ८ °व्वता आ.। °व्वते इ.। ९ विज्जु आ.। विउ इ.। १० य. आ. इ.। ११ उ° आ.। १२ °ज्जते आ. इ.। १३ ×परि° इ.।

स्तुण्डमुण्डनादिकया क्रियया ?, परं[1] गुरोरनुग्रहात्परमाक्षरावाप्तिस्तद्दीक्षावाप्तिर्वा यदि भवति ततो मोक्षो भवतीत्येवं भाषमाणास्ते न त्राणाय भवन्तीति। ये तु[2] त्रातुं समर्थास्तान्पश्चार्द्धेन दर्शयति–'अपरिग्रहाः' न विद्यते धर्मोपकरणादृते शरीरोपभोगाय स्वल्पोऽपि परिग्रहो येषां ते अपरिग्रहाः, तथा न विद्यते सावद्य आरम्भो येषां तेऽनारम्भाः, ते चैवंभूताः कर्मलघवः स्वयं यानपात्रकल्पाः संसारमहोदधेर्जन्तूत्तारणसमर्थास्तान् 'भिक्षुः' भिक्षणशील उद्देशिकाद्यपरिभोजी 'त्राणं' शरणं परि[3]ः–समन्ताद्व्रजेत्–गच्छेदिति ॥३॥ कथं पुनस्तेनापरिग्रहेणानारम्भेण च वर्तनीयमित्येतद्दर्शयितुमाह–'कडेसु' इत्यादि गृहस्थैः परिग्रहारम्भद्वारेणाऽऽत्मार्थं ये निष्पादिता ओदनादयस्ते कृता उच्यन्ते तेषु कृतेषु–परकृ[4]तेषु परनिष्ठितेष्वित्यर्थः, अनेन च षोडशोद्गमदोषपरिहारः सूचितः, तदेवमुद्गमदोषरहितं ग्रस्यत इति ग्रासः–आहारस्तमेवंभूतम् 'अन्वेषयेत्' मृगयेत् या[5]चयेदित्यर्थः, तथा 'विद्वान्' संयमकरणैकनिपुणः परैराशंसादोषरहितैर्यन्निःश्रेयसबुद्ध्या दत्तमिति, अनेन षोडशोत्पादनदोषाः परिगृहीता द्रष्टव्याः, तदेवम्भूते दौत्यधात्रीनिमित्तादिदोषरहिते आहारे स भिक्षुः 'एषणां' ग्रहणैषणां 'चरेद्' अनुतिष्ठेदिति, अनेनापि दशैषणादोषाः परिगृहीता इति मन्तव्यं, तथा 'अगृद्धः' अनध्युपपन्नोऽमूर्च्छितस्तस्मिन्नाहारे रागद्वेषविप्रमुक्तः, अनेनापि च ग्रासैषणादोषाः पञ्च निरस्ता अवसेयाः, स एवम्भूतो भिक्षुः परेषामपमानं—परावमदर्शित्वं 'परिवर्जयेत्' परित्यजेत्, न तपोमदं ज्ञानमदं च कुर्यादिति भावः ॥४॥ एवं निर्युक्तिकारेणोद्देश[6]कार्थाधिकाराभिहितं 'कि[7]च्चुंवमा य चउत्[8]थे' इत्येतत्प्रदर्श्येदानीं परवादिमतमेवोद्देशार्थाधिकाराभिहितं दर्शयितुमाह—

१ पर° इ.। २ पुनस्त्रातुं आ. इ.। ३ परि आ. इ.। ४ °कृतपर° आ. इ.। ५ याचेते° आ. इ.। ६ °देशार्था° आ.। ७ किंच्चु° आ. किंचु° इ.। ८ चउत्थेत्तीत्ये° आ. चउत्थित्तीत्ये° इ.।

लोगवायं णि[1]सामिज्जा, इहमेगेसि[2]माहियं । वि[3]परीयपन्नसंभू[4]यं, [5]अन्नउत्तं तयाणुयं ॥५॥
अणंते नि[6]इए लोए, [7]सासए ण विणस्सती । अंतवं णिइए[8] लोए, इति धीरो[9]ऽतिपासइ ॥६॥

'लोयवाय'मित्यादि लोकानां–पाखण्डिनां पौराणिकानां वा वादो लोकवादः–यथास्वमभिप्रायेणान्यथा वाऽभ्युपगमस्स्तं 'निशामयेत्' भृणुयात्–जानीयादित्यर्थः, तदेव दर्शयति–'इह' अस्मिन्संसारे 'एकेषां' केषाञ्चिदिदम्' 'आख्यातम्'अभ्युपगमः । तदेव विशिनष्टि विपरीतापरमार्थादन्यथाभूता या प्रज्ञा तया संभूतं–समुत्पन्नं, तत्त्वविपर्यस्तबुद्धिग्रथितमितियावत् , पुनरपि विशेषयति–अन्यैः–अविवेकिभिर्यदुक्तं तदनुगं, यथावस्थितार्थविपरीतानुसारिभिर्यदुक्तं विपरीतार्थाभिधायितया तदनुगच्छतीत्यर्थः ॥५॥ तमेव विपर्यस्तबुद्धिरचितं लोकवादं दर्शयितुमाह–'अणंते निइए लोए' इत्यादि नास्यान्तोऽस्तीत्यनन्तः, न निरन्वयनाशेन नश्यतीत्युक्तं भ[10]वतीति, तथाहि–यो यादृगिह भवे स तादृगेव परभवेऽप्युत्पद्यते, पुरुषः पुरुष एवाङ्गना अङ्गनैवेत्यादि, यदिवा 'अनन्तः' अपरिमितो निरवधिक इतियावत्, तथा 'नित्य' इति अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावो लोक इति, तथा शश्वद्भवतीति शाश्वतो द्व्यणुकादिकार्यद्रव्यापेक्षयाऽशश्वद्भवन्नपि न कारणद्रव्यं परमाणुत्वं परित्य[11]जंतीति तथा न विनश्यतीति दिगात्माकाशाद्यपेक्षया । तथाऽन्तोऽस्यास्तीत्यन्तवान् लोकः, 'सप्तद्वीपा वसुन्धरे'ति परिमाणोक्तेः, स च तादृक्परिमाणो नित्य इत्येवं 'धीरः' कश्चित्साहसिकोऽन्यथाभूतार्थप्रतिपादनात् व्यासादिरि[12]वेति पश्यतीत्यतिपश्यति । तदेवंभूतमनेकभेदभिन्नं लोकवादं निशामयेदिति प्रकृतेन सम्बन्धः । तथा 'अपुत्रस्य न सन्ति लोका, ब्राह्मणा देवाः,

१ निसामे° आ. इ. । २ °आहितं आ. इ. । ३ विव° आ. इ. । ४ °तं आ. इ. । ५ अणण्णवुतिताणुयं आ. अण्णंतिवुतिताणुगं इ. । ६ णितिए इ. । ७ सासतेणविणस्सति आ. इ. । ८ °तिए आ. इ. । ९ °त्तिपासति आ. इ. । १० भवति आ. इ. । ११ °जति आ. इ. । १२ °रतीव आ. इ. ।

श्वानो यक्षा, गोभिर्हतस्य गोघ्नस्य वा न सन्ति लोका' इत्येवमादिकं निर्युक्तिकं लोकवादं निशामयेदिति ॥६॥ किंच—

अपरिमाणं वियाणाई[1], इहमेगेसिमाहियं[2]। सव्वत्थ सपरिमाणं, इति धीरोऽतिपासई[3] ॥७॥

जे केई[4] तसा पाणा, चिट्ठंति अदु[5] थावरा। परियाए[6] अत्थि से अंजू, जेणं ते तसथावरा ॥८॥

'अपरिमाणं' इत्यादि न विद्यते 'परिमाणम्' इयत्ता क्षेत्रतः कालतो वा यस्य तदपरिमाणं, तदेवंभूतं विजानाति कश्चित्तीर्थिकतीर्थकृत्, एतदुक्तं भवति—अपरिमितज्ञोऽसावतीन्द्रियद्रष्टा, न पुनः सर्वज्ञ इति, यदिवा—अपरिमितज्ञ इत्यभिप्रेतार्थातीन्द्रियदर्शीति, तथा चोक्तम्—"सर्वं पश्यतु वा मा वा, इष्टमर्थं तु पश्यतु। कीटसंख्यापरिज्ञानं, तस्य नः क्कोपयुज्यते ? ॥१॥" इति, 'इह' अस्मिँल्लोके 'एकेषां' सर्वज्ञापह्नववादिनाम् 'इदमाख्यातम्' अयमभ्युपगमः, तथा सर्वक्षेत्रमाश्रित्य कालं वा परिच्छेद्यं[11] कर्मतापन्नमाश्रित्य सह परिमाणेन सपरिमाणं—सपरिच्छेदं धीः—बुद्धिस्तया राजत इति धीर इत्येवमसौ अतीव पश्यतीत्यतिपश्यति, तथाहि ते ब्रुवते—दिव्यं वर्षसहस्रमसौ ब्रह्मा स्वपिति, तस्यामवस्थायां न पश्यत्यसौ, तावन्मात्रं च कालं जागर्ति, तत्र च पश्यत्यसाविति, तदेवम्भूतो बहुधा लोकवादः प्रवृत्तः ॥७॥ अस्य चोत्तरदानायाह—'जे केइ' इत्यादि ये केचन त्रस्यन्तीति त्रसा—द्वीन्द्रियादयः 'प्राणाः' प्राणिनः सत्त्वाः 'तिष्ठन्ति'[12] त्रसत्वमनुभवन्ति, अथवा 'स्थावराः' स्थावरनामकर्मोदयात् (याः) पृथिव्यादयस्ते, यद्ययं लोकवादः सत्यो भवेत् यथा यो यादृग-

१ °जाणाति आ. इ.। २ आहितं आ. इ.। ३ °त्तिपासति आ. तिपासति इ.। ४ केति° आ. °तस इ.। ५ अदुव° आ. °तिदुव° इ.। ६ °ताए आ. इ.। ७ अच्छि आ.। ८ तेण ते आ.। ९ तदेतदुक्तं आ.। १० °दर्शी न पुनः सर्वदर्शीति आ. °दर्शीति न पुनः सर्वदर्शी इ.। ११ °च्छेद्यं वा आ.। १२ तिष्ठन्तीति आ.।

स्मिन् जन्मनि मनुष्यादिः सोऽन्यस्मिन्नपि जन्मनि तादृगेव भवतीति, ततः स्थावराणां त्रसानां च तादृशत्वे सति दानाध्ययनजपनियमतपोऽनुष्ठानादिकाः क्रियाः सर्वा अप्यनर्थिका आपद्येरन् । लोकेनापि चान्यथात्वमुक्तं, तद्यथा—"स वै एष शृगालो जायते यः सपुरीषो दह्यते" तस्मात् स्थावरजङ्गमानां स्वकृतकर्मवशात् परस्परसंक्र[1]मणाद्यनिवारितमिति । तथा 'अनन्तो नित्यश्च लोकः' इति यदभिहितं, तत्रेदमभिधीयते—यदि स्वजात्यनुच्छेदेनास्य नित्यताऽभिधीयते ततः परिणामानित्यत्वमस्मदभीष्टमेवाभ्युपगतं न काचित्क्षतिः, अथाप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावत्वेन नित्यत्वमभ्युपगम्यते तन्न घटते, तस्याध्यक्षबाधितत्वात्, न हि क्षणं[2]भाविपर्यायानालिङ्गितं किञ्चिद्वस्तु प्रत्यक्षेणावसीयते, निष्पर्यायस्य च खपुष्पस्येवासद्रूपतैव स्यादिति । तथा शश्वद्भवनं कार्यद्रव्यस्याऽऽकाशात्मादेश्चाविनाशित्वं यदुच्यते द्रव्यविशेषापेक्षया तदप्यसदेव, यतः सर्वमेव वस्तूत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तत्वेन निर्विभागमेव प्रवर्तते, अन्यथा वियदरविन्दस्येव वस्तुत्वमेव हीयेतेति । तथा यदुक्तम्—'अन्तवाँल्लोकः सप्तद्वीपावच्छिन्नत्वा'दित्येतन्निरन्तरा[3]ः सुहृदः प्रत्येष्यन्ति, न प्रेक्षापूर्वकारिणः, तद्ग्राहकप्रमाणाभावादिति । तथा यदप्युक्तम्—'अपुत्रस्य न सन्ति लोका' इत्यादीत्येतदपि बालभाषितं, तथाहि—किं पुत्रसत्तामात्रेणैव विशिष्टलोकावाप्तिरुत तत्कृतविशिष्टानुष्ठानात् ?, तद्यदि सत्तामात्रेण तत इन्द्रमह[4]कामुकगर्त्तवराहादिभिर्व्याप्ता लोका भवेयुः, तेषां पुत्रबहुत्वसंभवात्, अथानुष्ठानमाश्रीयते, त[5]त्र पुत्रद्वये सत्येकेन शोभनमनुष्ठितमपरेणाशोभनमिति तत्र का वार्त्ता ?, स्वकृतानुष्ठानं च निष्फलमापद्येतेत्येवं यत्किञ्चिदेतदिति । तथा 'श्वानो यक्षा' इत्यादि युक्तिविरोधित्वादनाकर्णनीयमिति । यदपि चोक्तम्—'अपरिमाणं विजानाती'ति, तदपि न घटामियर्ति, यतः सत्यप्यपरिमितज्ञत्वे यद्यसौ सर्वज्ञो न भवेत् ततो हेयोपादेयोपदेशदानविकलत्वान्नैवासौ प्रेक्षापूर्वका-

१ 'माद्य°' आ. । २ प्रतिक्षण° आ. इ. । सा. ३ अन्तरं–हृदयं, विचारशून्या इति तात्पर्यम् । ४ कुकुर इति त्रिकाण्डशेषः । ५ ततः आ. इ. ।

रिभिराद्रियेत, तथाहि तस्य कीटसंख्यापरिज्ञानमप्युपयोग्येव, यतो यथैतद्विषयेऽस्यापरिज्ञानमेवमन्यत्राप्या(पीत्या)शङ्कया हेयोपादेये प्रेक्षापूर्वकारिणः प्रवृत्तिर्न स्यात्, तस्मात्सर्वज्ञत्वमेष्टव्यं। तथा यदुक्तं–'स्वापबोधविभागेन परिमितं जानाती'त्येतदपि सर्वजनसमानत्वे[1] यत्किञ्चिदिति। यदपि च कैश्चिदुच्यते–यथा 'ब्रह्मणः स्वप्नावबोधयोर्लोकस्य प्रलयोदयौ भवत' इति, तदप्ययुक्तिसंगतमेव, प्रतिपादितं चैतत् [2]प्रागेवेति न प्रतन्यते। न चात्यन्तं सर्वजगत उत्पादविनाशौ विद्येते 'न कदाचिदनीदृशं जगदि'ति वचनात्। तदेवमनन्तादिकं लो-
८ कवादं परिहृत्य यथावस्थितवस्तुस्वभावाविर्भावनं पश्चार्द्धेन दर्शयति–ये केचन त्रसाः स्थावरा वा तिष्ठन्त्यस्मिन् संसारे तेषां स्वकर्मपरिणत्याऽस्त्यसौ पर्यायः 'अंजू' इति प्रगुणोऽव्यभिचारी तेन पर्यायेण स्वकर्मपरिणतिजनितेन ते त्रसाः सन्तः स्थावराः संपद्यन्ते स्थावरा अपि च त्रसत्वमश्नुवते तथा त्रसास्त्रसत्वमेव स्थावराः स्थावरत्वमेवाऽऽप्नुवन्ति, न पुनर्यो यादृगिह स तादृगेवामुत्रापि भवतीत्ययं नियम इति ॥८॥ अस्मिन्नेवार्थे दृष्टान्ताभिधित्सयाऽऽह—

[3]उरालं जगं[4]तो जोगं, विवं[5]ज्जासं पलिंति य। सव्वे अक्कंतदुक्खा य, [6]अओ सव्वे अहिंसिता ॥९॥

१० एयं खु [7]नाणिणो सारं, [8]जन्न हिं[9]सइ किंचण। अहिंसासमयं चेव, [10]एंतावन्तं वियाणिया ॥१०॥

'[11]उराल'मिति स्थूलमुदारं 'जगत' औदारिकजन्तुग्रामस्य 'योगं' व्यापारं चेष्टामवस्थाविशेषमित्यर्थः, औदारिकशरीरिणो हि जन्तवः

१ °नत्वेन आ. इ.। २ प्रागेव आ. इ.। ३ ओरालं इ.। ४ °उ° आ. °ओ° इ.। ५ विपरीयं संपलेति य आ. विपरीया संपलेति य इ.। ६ अतो सव्वे अहिंसिया आ. अंतो सव्वे अहिंसिया इ.। ७ णा° आ. इ। ८ जं न आ. इ.। ९ हिंसति किंचणं आ. हिंसंति किंचणं इ.। १० इत्तावय आ. इत्तावत्तं इ.। ११ उरालमित्यादि उरालमिति आ. ओरालमित्यादि ओरालमिति इ.।

प्राक्तनादवस्थाविशेषाद्गर्भकललार्बुदरूपाद् 'विपर्यासभूतं' बालकौ[1]मारयौवनादिकमुदारं योगं परि–समन्तादयन्तेगच्छन्ति पर्ययन्ते, एतदुक्तं भवति–औदारिकशरीरिणो हि मनुष्यादेर्बालकौमारादिकः कालादिकृतोऽवस्थाविशेषोऽन्यथा चान्यथा च भवन् प्रत्यक्षेणैव लक्ष्यते, न पुनर्यादृक् प्राक् तादृगेव सर्वदेति, एवं सर्वेषां स्थावरजङ्गमानामन्यथाऽ[2]न्यथा च भवनं द्रष्टव्यमिति। अपि च–'[3]सर्वे' जन्तव आक्रान्ता–अभिभूता दुःखेन–शारीरमानसेनासातोदयेन [4]दुःखाक्रान्ताः सन्तोऽन्यथाऽवस्थाभाजो लभ्यन्ते, अतः सर्वेऽपि ते यथाऽहिंसिता भवन्ति तथा विधेयं। यदिवा–सर्वेऽपि जन्तवः 'अकान्तम्' अनभिमतं दुःखं येषां तेऽकान्तदुःखा चशब्दात् प्रियसुखाश्च, अतस्तान् सर्वान् न हिंस्यादित्यनेन चान्यथात्वदृष्टान्तो दर्शितो भवत्युपदेशश्च दत्त इति ॥९॥ किमर्थं सत्त्वान् न हिंस्यादित्याह–'एयं खु' इत्यादि खुरवधारणे, एतदेव 'ज्ञानिनो' विशिष्टविवेकवतः 'सारं' न्याय्यं यत् [5]कैश्चन प्राणिजातं स्थावरं जङ्गमं वा 'न हिनस्ति' न परितापयति, उपलक्षणं चैतत्, तेन मृषा ब्रूयान्नादत्तं गृह्णीयान्नाब्रह्माऽऽसेवेत न परिग्रहं परिगृह्णीयान्न नक्तं भुञ्जीतेत्येतज्ज्ञानिनः सारं यन्न कर्माश्रवेषु वर्तत इति। अपि च–अहिंसया समता [6]अहिंससमता तां चैतांवद्विजानीयात्, यथा मम मरणं दुःखं चाप्रियमेवमन्यस्यापि प्राणिलोकस्येति, एवकारोऽवधारणे, इत्येवं साधुना ज्ञानवता प्राणिनां परितापनाऽपद्रावणादि न विधेयमेवेति ॥१०॥ एवं मूलगुणानभिधायेदानीमुत्तरगुणानभिधातुकाम आह—

[9]वुसिए य विगयगेही,[10] आयाणं सं(सम्मं)[11]रक्खए[12]। चरिआसणसेज्जासु[13], भत्तपाणे अ अंतसो ॥११॥

---

१ °कुमार° आ. इ.। २ चान्यथा आ.। ३ सर्वेऽपि आ.। ४ दुःखाक्रान्ता यतस्ते दुःखाक्रान्ताः सन्तो आ. इ.। ५ किञ्चिन आ. किश्चन इ.। ६ XXXXXX आ.। ७ चैवैता° आ.। ८ भु° आ.। सा. ९ विगयगिद्धी य प्र०। १० गेहीया आ.। ११ सार इ.। सा. १२ आयाणीयं सरक्खए चू०। १३ °ज्जा इ.।

एतेहिं तिहिं ठाणेहिं, संजए[1] सततं मुणी। उक्कसं जलणं णूमं, मज्झत्थं[2] च [3]विगिंचए ॥१२॥
समिए[4] उ सया[5] साहु, पंचसंवरसंवुडे[6]। सिएहिं[7] असिए[8] भिक्खू, आमोक्खाय[9] परिव्वएज्जासि ॥१३॥त्तिबेमि ॥[10]

'वुसिए य'इत्यादि विविधम्–अनेकप्रकारमुषितः–स्थितो दशविधचक्रवालसामाचार्यां व्युषितः, तथा विगता–अपगता आहारादौ गृद्धिर्यस्यासौ विगतगृद्धिः साधुः, एवंभूतश्चादीयते–स्वीक्रियते–प्राप्यते वा मोक्षो येन तदादानीयं–ज्ञानदर्शनचारित्रत्रयं तत्सम्यग् रक्षयेद्–अनुपालयेत्, यथा यथा तस्य वृद्धिर्भवति तथा तथा[11] कुर्यादित्यर्थः। कथं पुनश्चारित्रादि पालितं भवतीति दर्शयति–'चर्यासनशय्यासु' चरणं चर्या–गमनं, साधुना हि सति प्रयोजने युगमात्रदृष्टिना गन्तव्यं, तथा सुप्रत्युपेक्षिते सुप्रमार्जिते चासने उपवेष्टव्यं, तथा शय्यायां–वसतौ संस्तारके वा सुप्रत्युपेक्षितप्रमार्जिते स्थानादि विधेयं, तथा भक्ते पाने चान्तशः सम्यगुपयोगवता भाव्यम्, इदमुक्तं भवति–ईर्याभाषैषणाऽऽदाननिक्षेपप्रतिष्ठापनासमितिषूपयुक्तेनान्तशो भक्तपानं यावदुद्गमादिदोषरहितमन्वेषणीयमिति ॥११॥ पुनरपि चारित्रशुध्द्यर्थं गुणानधिकृत्याह–'एतेहिं' इत्यादि एतानि–अनन्तरोक्तानि त्रीणि स्थानानि, तद्यथा–ईर्यासमितिरित्येकं स्थानम्, आसनं शय्येत्यनेनादानभाण्डमात्रनिक्षेपणासमितिरित्येतच्च द्वितीयं स्थानं, भक्तपानमित्यनेनैषणासमितिरुपात्ता, भक्तपानार्थं च प्रविष्टस्य भाषणसंभवाद्भाषासमितिराक्षिप्ता, सति चाहारे उच्चारप्रश्रवणादीनां सद्भावात्प्रतिष्ठापनासमितिरप्यायातेत्येतच्च तृतीयं स्थानमिति, अत एतेषु त्रिषु स्थानेषु सम्यग्यतः संयत आमोक्षाय परिव्रजेदित्युत्तरश्लोकान्ते क्रियेति। तथा 'सततम्' अनवरतम् 'मुनिः' सम्यक् यथा-

१ °ते आ. इ. । २ मज्झं च आ. । ३ पिगिंच° आ. । ४ °ते आ. इ. । ५ सदा आ. इ. । ६ °डो आ. । ७ सितेहिं आ. इ. ८ असिते आ. इ. । ९ °क्खाए । १० ॥छ॥ पढम अज्झयण सम्मत्तं ॥छ॥छ॥ आ. इ. । ११ ×तथा आ. ।

वस्थितजगत्त्रयवेत्ता उत्कृष्यते आत्मा दर्पाध्मातो विधीयतेऽनेनेत्युत्कर्षो–मानः, तथाऽऽत्मानं चारित्रं वा ज्वलयति–दहतीति ज्वलनः-क्रोधः, तथा 'णूम' मिति गहनं मायेत्यर्थः, तस्या अलब्धमध्यत्वादेवमभिधीयते, तथा आसंसारमसुमतां मध्ये–अन्तर्भवतीति मध्यस्थो–लोभः, चशब्दः समुच्चये, एतान् मानादींश्चतुरोऽपि कषायाँस्तद्विपाकाभिज्ञो मुनिः सदा विगिंचए'त्ति विवेचयेद्–आत्मनः पृथक्कुर्यादित्यर्थः। ननु चान्यत्रागमे क्रोध आदावुपन्यस्यते, तथा क्षपकश्रेण्यामारूढो भगवान् क्रोधादीनेव संज्वलनान् क्षपयति, तत् किमर्थमागमप्रसिद्धं क्रममुल्लङ्घ्यादौ मानस्योपन्यास इति ?, अत्रोच्यते, माने सत्यवश्यंभावी क्रोधः, क्रोधे तु मानः स्याद्वा न वेत्यस्यार्थस्य प्रदर्शनायान्यथाक्रमकरणमिति ॥१२॥ तदेवं मूलगुणानुत्तरगुणाँश्चोपदर्श्याधुना सर्वोपसंहारार्थमाह–'समि उ सया' इत्यादि तुरवधारणे, पञ्चभिः समितिभिः समित एव साधुः; तथा प्राणातिपातादिपञ्चमहाव्रतोपेतत्वात्पञ्चप्रकारसंवरसंवृतः, तथा मनोवाक्कायगुप्तिगुप्तः, तथा गृहपाशादिषु सिता–बद्धाः अवसेक्ता गृहस्थास्तेष्वसितः–अनवबद्धस्तेषु मूर्च्छामकुर्वाणः पङ्काधारपङ्कजवत्तत्कर्मणाऽदिह्यमानो भिक्षुः–भिक्षणशीलो भावभिक्षुः आमोक्षाय' अशेषकर्मापगमलक्षणमोक्षार्थं परि–समन्तात् व्रजेः–संयमानुष्ठानरतो भवेस्त्वमिति विनेयस्योपदेशः। इति अध्ययनसमाप्तौ, ब्रवीमीति गणधर एवमाह, यथा तीर्थकृतोक्तं तथैवाहं ब्रवीमि, न स्वमनीषिकयेति। गतोऽनुगमः, साम्प्रतं नयास्तेषामयमुपसंहारः "सव्वेसिंपि नयाणं बहुविधवत्तव्वयं निसामित्ता। तं सव्वणयविसुद्धं जं चरणगुणट्ठिओ साहू ॥१॥" ॥१३॥ ॥८८॥ इति सूत्रकृताङ्गे समयाख्यं प्रथमाध्ययनं समाप्तम् ॥

सा° १ प्रकर्षप्राप्तः। २ आसक्ता आ.। ३ °परिसमाप्तौ आ.। सा. ४ सर्वेषामपि नयानां बहुर्विधवक्तव्यतां निशम्य। तत्सर्वनयविशुद्धं यच्चरणगुण (क्रियाज्ञान) स्थितः साधुः ॥१॥ ५ °विह° आ. इ.। ६ °मेत्ता आ. इ.। ७ साहुत्ति। ८ परिसमा°।

॥ अथ द्वितीयाध्ययनस्य प्रथमोद्देशकः प्रारभ्यते ॥

उक्तं समयाख्यं प्रथममध्ययनं[1], साम्प्रतं वैतालीयाख्यं द्वितीयमारभ्यते, अस्य चायमभिसंबन्धः–इहानन्तराध्ययने स्वसमयगुणाः परसमयदोषाश्च प्रतिपादिताः, तांश्च ज्ञात्वा यथा कर्म विदार्यते तथा बोधो विधेय इत्यनेन संबन्धेनाऽऽयातस्यास्याध्ययनस्योपक्रमादीनि चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भणनीयानि, तत्राप्युपक्रमान्तर्गतोऽर्थाधिकारो द्वेधा–अध्ययनार्थाधिकार उद्देशार्थाधिकारश्च, तत्राध्ययनार्थाधिकारः प्रागेव निर्युक्तिकारेणाभाणि–'णाऊण बुज्झणा चेवे' त्यनेन गाथाद्वितीयपादेनेति, उद्देशार्थाधिकारं तु स्वत एव निर्युक्तिकार उत्तरत्र वक्ष्यति, नामनिष्पन्नं तु निक्षेपमधिकृत्य निर्युक्तिकृदाह—

वेयालि[2]यंमि वेयाल[3]गो य वेयाल[4]णं वियालणियं । तिन्निवि चउक्क[5]गाइं वियाल[6]ओ एत्थ पुण जीवो ॥३६॥

'वेयालिग'मित्यादि तत्र प्राकृतशैल्या वेयालियमिति 'दृ विदारणे' इत्यस्य धातोर्विपूर्वस्य छान्दसत्वात् भावे ण्वुल्प्रत्ययान्तस्य विदारकमिति क्रियावाचकमिदमध्ययनाभिधानमिति, सर्वत्र च क्रियायामेतत्त्रयं सन्निहितं, तद्यथा–कर्ता करणं कर्म चेति, अतस्तद्दर्शयति–विदारको विदारणं विदारणीयं च, तेषां त्रयाणामपि नामस्थापनाद्रव्यभावभेदाच्चतुर्द्धा निक्षेपेण त्रीणि चतुष्ककानि द्रष्टव्यानि, अत्र च नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यविदारको यो हि द्रव्यं काष्ठादि विदारयति, भावविदारकस्तु कर्मणो विदार्यत्वात् नोआगमतो जीव-

१ °यनमिति आ. इ. । २ °यंति अ. आ. । ३ °लिगो आ. । ४ °लण्णं अ. आ. । ५ °क्कयाई अ. आ. । ६ °लउ अ. आ. ।

विशेषः, साधुरिति ॥३६॥ करणमधिकृत्याऽऽह—

दव्वं च परसुमादी[1] दंसणणाणतवसंजमा भावे। दव्वं च दारुगादी[2] भावे कम्मं[3] वियालणियं ॥३७॥

'दव्वं चे'त्यादि नामस्थापने क्षुण्णे द्रव्यविदारणं परश्वादि, भावविदारणं तु दर्शनज्ञानतपःसंयमाः, तेषामेव कर्मविदारणे सामर्थ्य-मित्युक्तं भवति, विदारणीयं तु नामस्थापने अनादृत्य द्रव्यं दार्वादि, भावे पुनरष्टप्रकारं कर्मेति ॥३७॥ साम्प्रतं 'वेतालिय'मित्येतस्य निरुक्तं दर्शयितुमाह—

वेयालियं[4] इह[5] देसियंति वेयालियं तओ[6] होइ। वेयालियं तहा[7] वित्तमत्थि तेणेव य णिबद्धं[8] ॥३८॥

'वेयालिय'मित्यादि। इहाध्ययनेऽनेकधा कर्मणां विदारणमभिहितमितिकृत्वैतद[9]ध्ययनं निरुक्तिवशाद्विदारकं ततो भवति, यद्वा— वैतालीयमित्यध्ययननाम, अत्रापि प्रवृत्तौ[11] निमित्तं—वैतालीयं छन्दोविशेषरूपं वृत्तमस्ति, तेनैव च वृत्तेन निबद्धमित्यध्ययनमपि वैता-लीयं, तस्य चेदं लक्षणम्—"वैतालीयं[12] लगनैधनाः षडयुक्पादेऽष्टौ समे च लः। न समोऽत्र परेण युज्यते नेतः[13] षट् च निरन्तरा युजोः ॥१॥" ॥३८॥ साम्प्रतमध्ययनस्योपोद्घातं दर्शयितुमाह—

---

१ °माई अ. आ.। २ °गाई अ. आ.। ३ कमं आ.। ४ वेया° आ. इ.। ५ इहं° अ. आ.। ६ °उ अ. आ.। ७ °लिकंत तहा अ. °लिकं तहा आ.। ८ °यणिवद्धं अ. तेणवयणियद्धं आ.। ९ तदप्यध्य° आ. इ.। १० °कवशा आ.। ११ प्रवृत्तेर्वि आ.। १२ ओजे षण्मात्रा लैगन्ता युज्यष्टौ न युजि षट् संततं ला न समः परेण गो वैतालीयम् (छन्दोऽनुशासने अ. ३–५३) तद्वैतालीयं छन्दः यत्र रगणलघुगुरुप्रान्ताः प्रथमतृतीययोः षट् द्वितीयचतुर्थयोरष्टौ मात्राः, अत्र समसंख्यको लघुर्न परेण गुरुः कार्यः, इतश्चाविषमपादयोः षट् ला निरन्तरा नेति वैतालीयार्थः। १३ तेन आ.।

कामं तु सासयमिणं कहियं अट्ठावयंमि उसभेणं । अट्ठाणउतिसुयाणं सोऊणं तेवि पव्वइया ॥३९॥

'काम' मित्यादि कामशब्दोऽयमभ्युपगमे, तत्र यद्यपि सर्वोऽप्यागमः शाश्वतः तदन्तर्गतमध्ययनमपि तथापि भगवताऽऽदितीर्थाधिपेनोत्पन्नदिव्यज्ञानेनाष्टापदोपरिव्यवस्थितेन भरताधिपभरतेन चक्रवर्त्तिनोप[3]हतैरष्ट[4]नवतिभिः पुत्रैः पृष्टेन यथा भरतोऽस्मानाज्ञां कारयत्यतः किमस्माभिर्विधेयमित्यतस्तेषामङ्गारदाहकदृष्टान्तं प्रदर्श्य न कथञ्चिज्जन्तोर्भोगेच्छा निवर्तत इत्यर्थगर्भमिदमध्ययनं 'कथितं' प्रतिपादितं, तेऽप्येतच्छ्रुत्वा संसारासारतामवगम्य विषयाणां च कटुविपाकतां निःसारतां च ज्ञात्वा मत्तकरिकर्णवच्चपलमायुर्गिरिनदीवेगसमं यौवनमित्यतो भगवदाज्ञैव श्रेयस्करीति तदन्तिके सर्वे प्रव्रज्यां गृहीतवन्त इति । अत्र 'उद्देसे निद्देसे य' इत्यादिः सर्वोऽप्युपोद्घातो भणनीयः ॥३९॥ साम्प्रतं उद्देशार्थाधिकारं प्रागुल्लि[5]खितं दर्शयितुमाह—

पढमे संबोहो[6] अनिचया, य बीयंमि माणवज्जणया । अहिगारो पुण भणिओ[7] तहा तहा बहुविहो तत्थ[8] ॥४०॥
उद्देसंमि य तइए अन्नाण[9]चियस्स अवचंओ[10] भणिओ । वज्जेयव्वो य सया सुहप्पमाओ[11] जइजणेणं ॥४१॥[12]

तत्र प्रथमोद्देशके हिताहितप्राप्तिपरिहारलक्षणो बोधो विधेयोऽनित्यता चेत्ययमर्थाधिकारः, द्वितीयोद्देशके मानो वर्जनीय इत्ययमर्थाधिकारः, पुनश्च तथा तथाऽनेकप्रकारो बहुविधं[13] शब्दादावर्थेऽनित्यतादिप्रतिपादकोऽर्थाधिकारो भणित इति, तृतीयोद्देशके अज्ञानो-

१ °हेण अ. । २ °उइ° अ. आ. । ३ °द्रुतै° आ. । सा. ४ यद्यपि विंशत्याद्येति वचनात्स्यादत्र स्त्रीत्वमेकवचनान्वितं तथापि प्रतिपुत्रं प्रश्नोत्तरपार्थक्यविवक्षयाऽत्र बहुत्वं । चैत्रमैत्राभ्यामेकविंशती दत्तमितिवत् । ५ °ल्लिगितं आ. इ. । ६ संबोहि अणिच्चपायवीयमि, अ. संपोहि अणिच्चयायपियंमि आ. । ७ °णिउ अ. आ. । ८ ॥४२॥ अ. आ. । ९ अण्णाणचि अ. आ. । १० °ववउ भणिउ अ. आ. । ११ °प्पमाउ अ. आ. । १२ ॥४३॥ अ. आ. । १३ विधः ।

पचितस्य कर्मणोऽपचयरूपोऽर्थाधिकारो भणित इति यतिजनेन च सुखप्रमादो वर्जनीयः सदेति ॥४१॥ साम्प्रतं सूत्रानुगमे अस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

संबुज्झह किं न बुज्झह ?, संबोही खलु पेच्च दुल्लहा । णो हूवणमंति राइओ, नो सुलभं पुणरावि जीवियं ॥१॥

[1]डहरा बुड्ढा य पासह[2] गब्भत्था वि चयंति माणवा । सेणे जह वट्टयं हरे एवं आउखयंमि तुट्टई[3] ॥२॥

'संबुज्झह' इत्यादि तत्र भगवानादितीर्थकरो भरततिरस्कारागतसंवेगान् स्वपुत्रानुद्दिश्येदमाह, यदिवा–सुरासुरनरोरगतिरश्चः समुद्दिश्य प्रोवाच यथा–'संबुध्यध्वं[4]' यूयं ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणे धर्मे बोधं कुरूत, यतः पुनरेवंभूतोऽवसरो दुरापः, तथाहि–मानुषं जन्म, तत्रापि कर्मभूमिः, पुनरार्यदेशः, सुकुलोत्पत्तिः, सर्वेन्द्रियपाटवं, श्रवणश्रद्धादिप्राप्तौ सत्यां स्वसंवित्त्यवष्टम्भेनाह–'किं न बुध्यध्व' मिति, अवश्यमेवंविधसामग्र्यवाप्तौ सत्यां सकर्णेन तुच्छान् भोगान् परित्यज्य सद्धर्मे बोधो विधेय इति भावः, तथाहि–"निर्वाणादिसुखप्रदे नरभवे जैनेन्द्रधर्मान्विते, लब्धे स्वल्पमचारु कामजसुखं नो सेवितुं युज्यते । वैडूर्यादिमहोपलौघनिचिते प्राप्तेऽपि रत्नाकरे, लातुं स्वल्पमदीप्तिकाचशकलं किं साम्प्रतं साम्प्रतम् ? ॥१॥" अकृतधर्मचरणानां तु प्राणिनां 'संबोधिः' सम्यग्दर्शनज्ञान[5]चारित्रावाप्तिलक्षणा 'प्रेत्य' परलोकगतानां खलुशब्दस्यावधारणार्थत्वात् सुदुर्लभैव, तथाहि—विषयप्रमादवशात् सकृत् धर्माचरणाद् भ्रष्टस्यानन्तमपि कालं संसारे पर्यटनमभिहितमिति । किंच[6]–हुरित्यवधारणे, नैवातिक्रान्ता रात्रयः 'उपनमन्ति[7]' पुनढौंकन्ते, न ह्यतिक्रान्तो यौवनादिकालः पुनरा-

१ दहरा आ. । २ °हा आ. इ. । ३ °ट्टती आ. इ. । ४ संबुध्यध्वं आ. इ. । ५ ×× चारि° आ. । ६ किंच नो हु° आ । ७ °नमन्ते आ. ।

वर्त्तत इतिभावः, तथाहि–"भवकोटीभिरसुलभं मानुष्यं प्राप्य कः प्रमादो मे ?। न च गतमायुर्भूयः प्रत्येत्यपि देवराजस्य ॥१॥" 'नो' नैव संसारे 'सुलभं'[1] सुप्रापं संयमप्रधानं जीवितं, यदिवा–जीवितम्–आयुस्त्रुटितं सत् तदेव संधातुं न शक्यत इति वृत्तार्थः। संबोधश्च[2] प्रसुप्तस्य सतो भवति, स्वापश्च निद्रोदये, निद्रासंबोधयोश्च नामादिश्चतुर्द्धा निक्षेपः, तत्र नामस्थापने अनादृत्य द्रव्यभावनिक्षेपं प्रतिपादयितुं निर्युक्तिकृदाह—

८ **दव्वं निद्दावेओ दंसणनाणतवसंजमा भावे। अहिगारो पुण भणिओ[3] नाणे तव[4]दंसणचरित्ते ॥४२॥[5]**

'दव्वं' इत्यादि इह च गाथायां द्रव्यनिद्राभावसंबोधश्च दर्शितः, तत्राद्यन्तग्रहणेन भावनिद्राद्रव्यबोधयोस्तदन्तर्वर्तिनोर्ग्रहणं द्रष्टव्यं, तत्र द्रव्यनिद्रा निद्रावेदो, वेदनमनुभवः दर्शनावरणीयविशेषोदय इतियावत्, भावनिद्रा तु ज्ञानदर्शनचारित्रशून्यता। तत्र द्रव्यबोधो द्रव्यनिद्रया सुप्तस्य बोधनं, भावे–भावविषये पुनर्बोधो दर्शनज्ञानचारित्रतपःसंयमा द्रष्टव्याः। इह च भावप्रबोधेनाधिकारः, स च गाथापश्चार्द्धेन सुगमेन प्रदर्शित इति। अत्र[6] च निद्राबोधयोर्द्रव्यभावभेदाच्चत्वारो भङ्गा योजनीया इति ॥४२॥१॥ भगवानेव सर्वसंसारिणां
१० सोपक्रमत्वादनियतमायुँरु[7]पदर्शयन्नाह–'डहराबुड्ढाय' इत्यादि–'डहराः' बाला एव केचन जीवितं त्यजन्ति, तथा वृद्धाश्च गर्भस्था अपि, एतत्पश्यत यूयं, के ते ?–'मानवा' मनुष्याः, तेषामेवोपदेशदानार्हत्वात् मानवग्रहण, बह्वपायत्वादायुषः सर्वास्वप्यवस्थासु प्राणी प्राणाँस्त्यजतीत्युक्तं भवति, तथाहि–त्रिपल्योपमायुष्कस्यापि पर्याप्त्यनन्तरमन्तर्मुहूर्तेनैव कस्यचिन्मृत्युरुपतिष्ठतीति, अपि च—'गर्भस्थं

१ पुनरपि सुलभं आ. °पि सुलभं इ। २ सम्बोधस्तु आ.। ३ पुव्वभणिउ अ. पुण भणिउ आ.। ४ तह अ. आ.। ५ ॥३९॥ अ. आ.। ६ अत्र × आ.। ७ °रुपवदर्श° आ. इ.।

जायमान' मित्यादि। अत्रैव दृष्टान्तमाह–यथा 'श्येनः' पक्षिविशेषो, 'वर्त्तकं' तित्तिर[1]जातीयं, 'हरेत्' व्यापादयेद्, एवं प्राणिनः प्राणान् मृत्युरपहरेत्[2], उपक्रमकारणमायुष्कमुपक्रामेत्, तदभावे वा आयुष्य[3]क्षये 'त्रुट्यति' व्यवच्छिद्यते जीवानां जीवितमिति शेषः ॥२॥ तथा–

[4]मायाहिं पियाहिं लुप्पइ, नो सुलहा सुगई य पेच्चओ। एयाइं भयाइं पेहियां[5], आरम्भा विरमेज्ज सुव्वए[6] ॥३॥

जमिणं जगती पुढो जगा, कम्मेहिं लुप्पंति पाणिणो। सयमेव [7]कडेहिं गाहइ, णो [8]तस्स मुच्चेज्जऽपुट्ठयं ॥४॥

'मायाहिं'इत्यादि कश्चिन्मातापितृभ्यां[9] मोहेन स्वजनस्नेहेन चं[10] न धर्मं प्रत्युद्यमं विधत्ते स च तैरेव मातापित्रादिभिः 'लुप्यते' संसारे भ्राम्यते, तथाहि–"विहितमलोहमहो महन्मातापितृपुत्रदारबन्धुसंज्ञम्। स्नेहमयमसुमतामदः किं बन्धनं शृङ्खलं खलेन धात्रा? ॥१॥" तस्य च स्नेहाकुलितमानसस्य सदसद्विवेकविकलस्य स्वजनपोषणार्थं यत्किञ्चनकारिण इहैव सद्भिर्निन्दितस्य सुगतिरपि 'प्रेत्य' जन्मान्तरे नो सुलभा, अपि तु मातापितृव्यामोहितमनसस्तदर्थं क्लिश्यतो विषयसुखेप्सोश्च दुर्गतिरेव भवतीत्युक्तं भवति, तदेवमेतानि 'भयानि' भयकारणानि दुर्गतिगमनादीनि [11]'पेहियं'त्ति प्रेक्ष्य 'आरम्भात्' सावद्यानुष्ठानरूपाद्विरमेत् 'सुव्रतः' शोभनव्रतः सन्, सुस्थितो वेति पाठान्तरम् ॥३॥ अनिवृत्तस्य दोषमाह–'जमिणं'इत्यादि 'यद्' यस्मादनिवृत्तानामिदं भवति, किं तत्?–'जगति' पृथिव्यां 'पुढो'[12]त्ति

१ तित्तिरि° इ.। २ रुपहरेत् आ. इ.। ३ आयुष्क° आ. इ.। ४ माताति पिताति लुप्पति णो सुलभा सुगती वि पेच्चउ आ. °य पेच्चओ इ। ५ देहिया आ.। ६ सुव्वते आ. इ.। ७ कडेभि गाहती आ. कडेहिं गाहंती इ। ८ तस्सा मुच्चे अपुठवं आ. तसा मुच्चे अपुट्ठव इ। ९ °व्यामोहेन आ.। १० वा आ. इ.। ११ देहिय आं.। १२ पुढो जगति आ. इ.।

पृथग्भूता–व्यवस्थिताः सावद्यानुष्ठानोपचितैः 'कर्मभिः' 'विलुप्यन्ते' नरकादिषु–यातनास्थानेषु भ्राम्यन्ते, स्वयमेव च कृतैः कर्मभिः, न ईश्वराद्यापादितैः, गाहते नरकादिस्थानानि यानि तानि वा कर्माणि दुःखहेतूनि गाहते–उपचिनोति, अनेन च हेतुहेतुमद्भावः कर्मणामुपदर्शितो भवति, न च 'तस्य' अशुभाचरितस्य कर्मणो विपाकेन 'अस्पृष्टः' अच्छुप्तो 'मुच्यते' जन्तुः, कर्मणामुदयमननुभूय तपोविशेषमन्तरेण दीक्षाप्रवेशादिना न तदपगमं विधत्त इति भावः ॥४॥ अधुना सर्वस्थानानित्यतां दर्शयितुमाह—

देवा गंधव्वरक्खसा, असुरा भूमिचरा [2]सरिसिवा । राया नरसेट्ठिमाहणा, ठाणा तेऽवि चयंति [3]दुक्खिया ॥५॥
कामेहि [4]णं संथवेहि [5]गिद्धा, कम्मसहा कालेण जंतवो । ताले जह [6]बंधणच्चुए, एवं आउखयंमि तुट्टती ॥६॥

'देवा'इत्यादि देवा–ज्योतिष्कसौधर्माद्याः, गन्धर्वराक्षसयोरुपलक्षणत्वादष्टप्रकारा व्यन्तरा गृह्यन्ते, तथा 'असुरा' दशप्रकारा भवनपतयः, ये चान्ये भूमिचराः सरीसृपाद्याः तिर्यञ्चः, तथा 'राजानः' चक्रवर्तिनो बलदेववासुदेवप्रभृतयः, तथा 'नराः' सामान्यमनुष्याः 'श्रेष्ठिनः' पुरमहत्तराः ब्राह्मणाश्चैते सर्वेऽपि स्वकीयानि स्थानानि दुःखिताः सन्तस्त्यजन्ति, यतः–सर्वेषामपि प्राणिनां प्राणपरित्यागे महद्दुःखं समुत्पद्यत इति ॥५॥ किञ्च–'कामेहिं' इत्यादि, 'कामैः' इच्छामदनरूपैस्तथा 'संस्तवैः' पूर्वापरभूतैः 'गृद्धा' अध्युपपन्नाः सन्तः 'कम्मसह'त्ति कर्मविपाकसहिष्णवः 'कालेन' कर्मविपाककालेन 'जन्तवः' प्राणिनो भवन्ति, इदमुक्तं भवति–भोगेप्सोर्विषयाऽऽसेवनेन

१ °मनुभूय आ.। २ सिरि° आ. इ.। ३ °क्खिया आ.। ४ य संथवेहि य आ. इ.। सा. ५ कामे हि य संथुवे हि य इति पु०, छन्दोऽनुलोमता चात्र, नवरं टीयाकृद्भिः गृद्धा इत्येतद् व्याख्यातं, परं 'र्यान्ता औपच्छन्दसकम्' इति लक्षणं संगच्छते इति न क्षतिः, तस्यापि वैतालीयप्रकरणगतत्वान्न प्राक्प्रतिज्ञाविरोधः, एवमन्यत्रापि विकल्पसमाहृतेः सर्वजातियसांकर्याभ्युपगमे च नाद्यपादमात्रस्य तथात्वे क्षतिः। ६ °च्चुते आ. इ.। ७ °णार्थत्वा° आ. इ.।

तदुपशममिच्छत इहामुत्र च क्लेश एव केवलं, न पुनरुपशमावाप्तिः, तथाहि–"उपभोगोपायपरो वाञ्छति यः शमयितुं विषयतृष्णाम्। धावत्याक्रमितुमसौ पुरो[1]ऽपराह्णे निजच्छायाम् ॥१॥" न च तस्य मुमूर्षोः कामैः संस्तवैश्च त्राणमस्तीति दर्शयति–यथा तालफलं 'बन्धनात्' वृन्तात् च्युतम् अत्राणमवश्यं पतति, एवमसावपि स्वायुषः क्षये 'त्रुट्यति' जीवितात् च्यवत इति ॥६॥ अपिच–

जे यावि बहुस्सुए सिया, धम्मिय[2] माहणभिक्खुए सिया। अभिणूमकडेहिं मुच्छिए, तिव्वं ते[3] कम्मेहिं किंच्चती[4] ॥
अह पास विवेगमुट्ठिए, अवितिन्ने[5] इह भासई[6] धुवं। णाहिसि आरं कओ परं, वेहासे कम्मेहिं किंच्चती ॥८॥

'जे यावि'इत्यादि ये चापि 'बहुश्रुताः' शास्त्रार्थपारगाः तथा 'धार्मिका' धर्माचरणशीलाः, तथा ब्राह्मणाः तथा 'भिक्षुका'भिक्षाटनशीलाः 'स्युः' भवेयुः, तेऽप्याभिमुख्येन 'णूमं'[8]न्ति कर्म माया वा तत्कृतैः असदनुष्ठानैः 'मूर्च्छिताः' गृद्धाः 'तीव्रम्' अत्यर्थं, अत्र च छान्दसत्वाद्बहुवचनं द्रष्टव्यं, 'ते' एवंभूताः 'कर्मभिः'[9] सद्वेद्यादिभिः 'कृत्यन्ते' छिद्यन्ते पीड्यन्त इतियावत् ॥७॥ साम्प्रतं ज्ञानदर्शनचारित्रमन्तरेण नापरो मोक्षमार्गोऽस्तीतित्रिकालविषयत्वात् सूत्रस्याऽऽगामितीर्थिकधर्मप्रतिषेधार्थमाह–'अह'इत्यादि 'अथे'त्यधिकारान्तरे[10] वह्वादेशे एकादेश इति, 'अथे'त्यनन्तरं एतच्च 'पश्य' कश्चित्तीर्थिको 'विवेकं' परित्यागं परिग्रहस्य परिज्ञानं वा संसारस्याऽऽश्रित्य उत्थितः प्रव्रज्योत्थानेन, स च सम्यक्परिज्ञानाभावादवितीर्णः संसारसमुद्रं तितीर्षुः, केवलम् 'इह' संसारे प्रस्तावे वा शाश्वतत्वात् 'ध्रुवो' मोक्षस्तं तदुपायं वा संयमं भाषत एव न पुनर्विधत्ते तत्परिज्ञानाभावादिति भावः, तन्मार्गे[12] प्रपन्नस्त्वमपि कथं ज्ञास्यसि 'आरम्' इहभवं

१ परो आ.। २ °ए माहणे आ. इ.। ३ से आ. इ.। ४ कच्च° आ. मिच्छ° इ.। ५ °इण्णे आ.। ६ भासती आ. इ.। ७ कच्च° आ.। ८ नूम आ. इ.। ९ °भिरसद्वे° आ. इ.। १० °नन्तरे आ.। ११ ×××केवलं आ. इ.। १२ तन्मार्गा° आ. इ.।

कुतो वा 'परं' परलोकं यदिवा-आरमिति गृहस्थत्वं, परमिति प्रव्रज्यापर्यायं, अथवा-आरमिति संसारं परमिति मोक्षं, एवम्भूतश्चान्यो-
ऽप्युभयभ्रष्टः, 'वेहासि'त्ति अन्तराले उभयां[1]भावतः स्वकृतैः कर्मभिः 'कृत्यते' पीड्यत इति ॥८॥ ननु च तीर्थिका अपिकेचन निष्परि-
ग्रहास्तथा तपसा निष्टप्तदेहाश्च, तत्कथं तेषां नो मोक्षावाप्तिरित्येतदाशङ्क्याह—

[2]जइ वि य णिगणे किसे चरे,जइविय भुंजिय मास[3]मंतसो। जे इह मायाइ मि[4]ज्जइ,आगंता गब्भाय णंतसो॥
९ पुरिसोरम पावकम्मुणा, पलि[5]यंतं मणुयाण जीवियं। सन्ना इह काममुच्छिया, मोहं जंति नरा असंवुडा ॥१०॥

'जइ विय'इत्यादि यद्यपि तीर्थिकः कश्चित्तापसादिस्त्यक्तवाह्यगृहवासादिपरिग्रहत्वात् निष्किञ्चनतया नग्नः त्वक्त्राणाभावाच्च कृशः
'चरेत्' स्वकीयप्रव्रज्यानुष्ठानं कुर्यात्, यद्यपि च षष्ठाष्टमदशमद्वादशादितपो विशेषं विधत्ते यावद् अन्तशो मासं स्थित्वा 'भुङ्क्ते' तथापि
आन्तरकषायापरित्यागान्न मुच्यते इति दर्शयति-'यः' तीर्थिक इह मायादिना मीयते, उपलक्षणार्थत्वात् कषायैर्युक्त इत्येवं परिच्छिद्यते,
असौ 'गर्भाय' गर्भार्थमा-समन्तात् 'गन्ता' यास्यति 'अनन्तशो'निरवधिकं कालमिति, एतदुक्तं भवति-अकिञ्चनोऽपि तपोनिष्टप्तदेहोऽपि
१० कषायापरित्यागान्नरकादिस्थानात् तिर्यगादिस्थानं गर्भाद्गर्भमनन्तमपि कालणग्निशर्मवत् संसारे पर्यटतीति ॥९॥ यतो मिथ्यादृष्ट्युप-
दिष्टतपसाऽपि न दुर्गतिमार्गनिरोधो अतो मदुक्त एव मार्गे स्थेयमेतद्गर्भमुपदेशं दातुमाह-'पुरिसो' इत्यादि, हे पुरुष! येन 'पापेन क-
र्मणा' असदनुष्ठानरूपेण त्वमुपलक्षितस्तत्रासकृत् प्रवृत्तत्वात् तस्मात् 'उपरम' निवर्त्तस्व, यतः पुरुषाणां जीवितं सुबह्वपि त्रिपल्योपमान्तं
संयमजीवितं वा[6] पल्योपमस्यान्तः-मध्ये वर्त्तते तदप्यूनां पूर्वकोटिमितियावत्, अथवा परि-समन्तात् अन्तोऽ[7]स्येति पर्यन्तं-सान्तमि-

१ °यभावयोः आ.। २ जतिविय इ. जाइवि य आ.। ३ मेतसा आ.। ४ मिज्जती आ. निवृति इ.। ५ °यत्तं आ.। ६ च आ.। ७ ऽस्यति आ.।

त्यर्थः, यच्चैवं तद्गतमेवावगन्तव्यं, तदेव मनुष्याणां स्तोकं जीवितमवगम्य यावत्तन्न पर्येति तावद्धर्मानुष्ठानेन सफलं कर्त्तव्यं, ये पुनर्भोगस्नेहपङ्के अवसन्ना–मग्ना 'इह' मनुष्यभवे संसारे वा कामेषु–इच्छामदनरूपेषु 'मूर्च्छिता' अध्युपपन्नाः ते नरा मोहं यान्ति–हिताहितप्राप्तिपरिहारे मुह्यन्ति, मोहनीयं वा[1] कर्म चिन्वन्तीति संभाव्यते, एतदसंवृतानां–हिंसादिस्थानेभ्योऽनिवृत्तानामसंयतेन्द्रियाणां चेति ॥१०॥ एवं च स्थिते यद्विधेयं तद्दर्शयितुमाह—

[2]जययं विहराहि जोगवं, अणुपाणा पंथा दुरुत्तरा। अणुसासणमेव पक्कमे, वीरेहिं संमं पवेइयं ॥११॥

विरया वीरा समुट्ठिया, कोहकाय[3]रियाइपीसणा। पाणे ण हणंति सव्वसो, पावा[4]ओ विरयाऽभिनिव्वुडा ॥१२॥

'जययं' इत्यादि स्वल्पं जीवितमवगम्य विषयांश्च क्लेशप्रायानवबुद्ध्य छित्त्वा गृहपाशबन्धनं 'यतमानः' यत्नं कुर्वन् प्राणिनामनुपरोधेन 'विहर' उद्युक्तविहारी भव, एतदेव दर्शयति–'योगवानि'ति संयमयोगवान् गुप्तिसमितिगुप्त इत्यर्थः, किमित्येवं ?, यतः 'अणवः'–सूक्ष्माः प्राणाः–प्राणिनो येषु पथिषु ते तथा ते चैवम्भूताः पन्थानोऽनुपयुक्त[5]ैर्जीवानुपमर्देन 'दुस्तरा' दुर्गमा इति, अनेन ईर्यासमितिरुपक्षिप्ता, अस्याश्चोपलक्षणार्थत्वात् अन्यास्वपि समितिषु सततोपयुक्तेन भवितव्यम्, अपिच 'अनुशासनमेव' यथागममेव सूत्रानुसारेण संयमं प्रति क्रामेत्, एतच्च सर्वैरेव 'वीरैः' अर्हद्भिः सम्यक् 'प्रवेदितं' प्रकर्षेणाख्यातमिति ॥११॥ अथ क एते वीरा इत्याह–'विरया' इत्यादि, हिंसाऽनृतादिपापेभ्यो ये विरताः, विशेषेण कर्म प्रेरयन्तीति वीराः, सम्यगारम्भपरित्यागेनोत्थिताः समुत्थिता[6]ः, ते एवम्भूताश्च 'क्रोधकातरिकादिपीषणाः' तत्र क्रोधग्रहणान्मानो गृहीतः, कातरिका–माया तद्ग्रहणाल्लोभो गृहीतः, आदिग्रहणात्

१ कर्मोपचि° आ. इ.। २ जततं आ. जयतं इ.। ३ °कात° आ.। ४ पावातो आ.। ५ °युक्त आ.। ६ °ताः×एवं इ.।

शेषमोहनीयपरिग्रहः, तत्पीषणाः–तदपनेतारः, तथा 'प्राणिनो' जीवान् सूक्ष्मेतरभेदभिन्नान् 'सर्वशो' मनोवाक्कायकर्मभिः 'न घ्नन्ति' न व्यापादयन्ति, 'पापाच्च' सर्वतः सावद्यानुष्ठानरूपाद्विरताः–निवृत्तास्ततश्च 'अभिनिर्वृत्ताः' क्रोधाद्युपशमेन शान्तीभूताः, यदिवाऽभिनिर्वृत्ता इव अभिनिर्वृत्ताः–मुक्ता इव द्रष्टव्या इति ॥१२॥ पुनरप्युपदेशान्तरमाह—

णवि ता अहमेव लुप्पए, लुप्पंती लोअंसि[2] पाणिणो। एवं सहिएहिं पासए[3], अणिहे से पुट्ठे[4] अहियासए[5] ॥१३॥

धुणिया कुलियं व लेववं, किसए[6] देहमणासणा इँह। अविहिंसामेव पव्वए, अणुधम्मो मुणिणा पवेदितो ॥१४॥

'णवि ता' इत्यादि परीषहोपसर्गा एतद्भावनापरेण सोढव्याः, नाहमेवैकस्तावदिह शीतोष्णादिदुःखविशेषैः 'लुप्ये' पीडये अपि त्वन्येऽपि 'प्राणिनः' तथाविधास्तिर्यङ्मनुष्याः अस्मिंल्लोके 'लुप्यन्ते' अतिदुःसहैर्दुःखैः परिताप्यन्ते, तेषां च सम्यग्विवेकाभावान्न[8] निर्जराख्यफलमस्ति, यतः–"क्षान्तं न क्षमया गृहोचितसुखं त्यक्तं न संतोषतः, सोढा दुःसहतापशीतपवनक्लेशा न तप्तं तपः। ध्यातं वित्तमहर्निशं नियमितं द्वन्द्वैर्न तत्त्वं परं, तत्तत्कर्म कृतं सुखार्थिभिरहो तैस्तैः फलैर्वञ्चिताः ॥१॥" तदेवं क्लेशादिसहनं सद्विवेकिनां संयमाभ्युपगमे सति गुणायैवेति, तथाहि–"कार्श्यं क्षुत्प्रभवं कदन्नमशनं शीतोष्णयोः पात्रता, पारुष्यं च शिरोरुहेषु शयनं मह्यास्तले केवले। एतान्येव गृहे वहन्त्यवनतिं तान्युन्नतिं संयमे, दोषाश्चापि गुणा[9] भवन्ति हि नृणां योग्ये पदे योजिताः ॥१॥" एवं सहितो ज्ञानादिभिः स्वहितो वा आत्महितः सन् 'पश्येत्'[10] कुशाग्रीयया बुद्ध्या पर्यालोचयेदनन्तरोदितं, तथा निहन्यत इति निहः न निहोऽनिहः–क्रोधादिभि-

१ सर्व× आ. । २ लोगंसि इ. । ३ पासते आ. । ४ पुट्ठो आ. इ. । ५ धिया° आ. । ६ कसते आ. कसए इ. । ७ दिर्हिं आ. इ. । ८ °न्न तन्निर्ज° । ९ गुणीभ° आ. । सा. १० अधिकं पृथग्जनान् पश्यतीति चू. ।

रपीडितः सन् स महासत्त्वः परीषहैः स्पृष्टोऽपि तान् 'अधिसहेत' मनःपीडां न विदध्यादिति, यदिवा 'अनिह' इति तपःसंयये परीषहसहने वाऽनिगूहितबलवीर्यः, शेषं पूर्ववदिति ॥१३॥ अपिच 'धुणिया' इत्यादि, 'धूत्वा' विधूय 'कुलियं' कडणकृतं कुडयं 'लेपवत्' सलेपं, अयमत्रार्थः—यथा कुडयं गोमयादिलेपेन सलेपं जाघट्यमानं लेपापगमात् कृशं भवति, एवम् अनशनादिभिर्देहं 'कर्शयेत्'[1] अपचितमांसशोणितं विदध्यात्, तदपचयाच्च कर्मणोऽपचयो[2] भवतीति भावः, तथा विविधा हिंसा विहिंसा न विहिंसा अविहिंसा तामेव प्रकर्षेण व्रजेत्, अहिंसाप्रधानो भवेदित्यर्थः, अनुगतो–मोक्षं प्रत्यनुकूलो धर्मोऽनुधर्मः असावहिंसा[3]लक्षणः, परीषहोपसर्गसहनलक्षणश्च धर्मो 'मुनिना' सर्वज्ञेन 'प्रवेदितः' कथित इति ॥१४॥ किञ्च—

सउणी जह पंसुगुंडिया, विहुणिय[4] धंसयई[5] सियं रयं। एवं दविओवहाणवं, कम्मं खवइ तवस्सिमाहणे ॥१५॥

उट्ठियमणगारमेसणं, समणं ठाणठिअं[6] तवस्सिणं। डहरा वुड्ढा य पत्थए, अवि सुस्से ण य तं लभेज्ज णो[7] ॥१६॥

'सउणी'इत्यादि 'शकुनिका' पक्षिणी यथा 'पांसुना' रजसा 'अवगुण्ठिता' खचिता सती अङ्गं 'विधूय' कम्पयित्वा तद्रजः 'सितम्' अवबद्धं सत् 'ध्वंसयति' अपनयति, एवं 'द्रव्यो' भव्यो मुक्तिगमनयोग्यो मोक्षं प्रत्युप–सामीप्येन दधातीति उपधानम्–अनशनादिकं तपः तदस्यास्तीत्युपधानवान्, स चैवम्भूतः 'कर्म' ज्ञानावरणादिकं 'क्षपयति' अपनयति, 'तपस्वी' साधुः 'माहण'त्ति मा वधीरिति प्रवृत्तिर्यस्य स प्राकृतशैल्या माणेत्युच्यत इति ॥१५॥ अनुकूलोपसर्गमाह–'उट्ठिये' त्यादि, अगारं–गृहं तदस्य नास्तीत्यनगारः तमेवम्भूतं संयमोत्थानेनैषणां प्रत्युत्थितं–प्रवृत्तं, श्राम्यतीति श्रमणस्तं, तथा 'स्थानस्थितम्' उत्तरोत्तरविशिष्टसंयमस्थानाध्यासिनं 'तपस्विनं' विशिष्टतपो-

१ कर्ष° आ. । २ ऽप्युप° आ. । ३ °हिंसादि° आ. इ. । ४ विधु° आ. । ५ °यती आ. इ. । ६ ठिंतं आ. । ७ लमे जणं आ. लसे जण इ. ।

निष्टप्तदेहं तमेवम्भूतमपि कदाचित् 'डहरा' पुत्रनप्त्रादयः 'वृद्धाः' पितृमातुलादयः उन्निष्क्रामयितुं 'प्रार्थयेयुः' याचेरन् , त एवमूचुः– भवता वयं प्रतिपाल्या न त्वामन्तरेणास्माकं कश्चिदस्ति त्वं वाऽस्माकम् एक एव प्रतिपाल्यः, (इति) भणन्तस्ते जना अपि 'शुष्येयुः' श्रमं गच्छेयुः, न च तं साधुं विदितपरमार्थं 'लभेरन्' नैवाऽऽत्मसात्कुर्युः–नैवाऽऽत्मवशगं विदध्युरिति ॥१६॥ किञ्च—

जइ काल्लुणि[1]याणि [2]कासिया, जइ[3] [4]रोयंति य पुत्तकारणा। दवियं भिक्खू समुट्ठियं, णो लब्भंति, ण [5]संठवित्तए ॥

[6]जइविय कामेहि लाविया, जइ णे[7]ज्जाहि ण बंधिउं घरं। [8]जइ जीविय नावकं[9]खए, [10]णो लब्भंति [11]णं [12]संठवित्तए ॥१८

'जइ'इत्यादि यद्यपि ते मातापितृपुत्रकलत्रादयस्तदन्तिके समेत्य करुणाप्रधानानि–विलापप्रायाणि वचांस्यनुष्ठनानि वा कुर्युः, तथाहि–"[13]णाहपियकंतसामिय अइवल्लह दुल्लहोऽसि भुवणंमि। तुह विरहम्मि य निक्किव ! सुण्णं सव्वंपि पडिहाइ ॥१॥ सेणी गामो गोट्ठी गणो व तं जत्थ होसि [14]संणिहितो। दिप्पइ सिरिए सुपुरिस ! किं पुण निययं घरद्दारं ? ॥२॥" तथा यदि 'रोयंति य' त्ति रुदन्ति 'पुत्रकारणं' सुतनिमित्तं, कुलवर्धनमेकं सुतमुत्पाद्य पुनरेवं कर्त्तुमर्हसीति। एवं रुदन्तो यदि भणन्ति तं भिक्षुं रागद्वेषरहितत्वान्मुक्ति[15]योग्यत्वाद्वा द्रव्यभूतं सम्यक्संयमोत्थानेनोत्थितं तथाऽपि साधुं 'न लप्स्यन्ते' न शक्नुवन्ति प्रव्रज्यातो भ्रंशयितुं–[16]भावाच्च्यावयितुं नापि

१ °णियं आ. । २ अकासिया आ. । ३ जति आ. । ४ रोयंति व. आ. इ. । ५ संथ° आ. इ. । ६ जइतं. आ. । ७ णिज्जाहि । ८ जति जीवित आ. । ९ °खती आ. । १० नो आ. इ. । ११ न आ. इ. । १२ संथ° आ. संन° इ. । सा. १३ नाथ कान्त प्रिय स्वामिन् अतिवल्लभ दुर्लभोऽसि भवने । तव विरहे च निष्कृप !, शून्यं सर्वमपि प्रतिभाति ॥१॥ श्रेणिर्ग्रामो गोष्ठी गणो वा त्वं यत्र भवसि सन्निहितः । दीप्यते श्रिया सुपुरुष ! किं पुनर्निजं गृहद्वारम् ? ॥२॥ १४ सन्नि° १५ मुक्तिगमनयो° आ. । १६ XXXXXXनापि आ. इ. ।

संस्थापयितुं–गृहस्थाभावेन द्रव्यलिङ्गाच्च्यावयितुमिति ॥१७॥ अपिच–'जइवि' इत्यादि, यद्यपि ते निजास्तं साधुं संयमोत्थानेनोत्थितं 'कामैः' इच्छामदनरूपैः 'लावयन्ति' उपनिमन्त्रयेयुरुपलोभयेयुरित्यर्थः, अनेनानुकूलोपसर्गग्रहणं, तथा यदि नयेयुर्बध्ध्वा गृहं, णमिति वाक्यालङ्कारे। एवमनुकूलप्रतिकूलोपसर्गैरभिद्रुतोऽपि साधुः–'यदि जीवितं नाभिकाङ्क्षेत्' यदि जीविताभिलाषी न भवेत् असंयमजीवितं वा नाभिनन्देत् ततस्ते निजास्तं साधुं '[3]णो लब्भंति'त्ति न लभन्ते–न प्राप्नुवन्ति आत्मसात्कर्त्तुं '[5]णं संठवित्तए'त्ति नापि गृहस्थभावेन संस्थापयितुमलमिति ॥१८॥ किञ्च—

सेहंति य णं ममाइणो, माय पिया य [6]सुया य भारिया। पोसाहि ण पासओ तुमं, लोग परंपि जहासि पोसणो॥
अन्ने अन्नेहिं मुच्छिया, मोहं जंति [8]णरा असंवुडा। विसमं विसमेहिं गाहिया, ते पावेहिं पुणो पगब्भिया ॥

[11]'सेहंति य' इत्यादि, ते कदाचिन्मातापित्रादयस्तमभिनवप्रव्रजितं 'सेहंति'त्ति शिक्षयन्ति 'णम्' इति वाक्यालङ्कारे–'ममाइणो'त्ति ममायमित्येवं [12]स्नेहालवः, कथं शिक्षयन्तीत्यत आह–पश्य 'नः' अस्मानत्यन्तदुःखितांस्त्वदर्थं पोषकाभावाद्वा, त्वं च यथावस्थितार्थपश्यकः–सूक्ष्मदर्शी, सश्रुतिक इत्यर्थः, अतः 'नः' अस्मान् 'पोषय' प्रतिजागरणं कुरु अन्यथा प्रव्रज्याऽभ्युपगमेनेहलोकस्त्यक्तो भवता [13]अस्मत्प्रतिपालनपरित्यागेन च परलोकमपि त्वं त्यजसि इति दुःखितनिजप्रतिपालनेन च पुण्यावाप्तिरेवेति, तथाहि–"या गतिः क्लेशदग्धानां,

सा० १ लाविया उवनिमंतणा चू० । २ नयेयुर्यदि बन्धित्वा गृहं आ. नयेयुर्बध्वा गृहे इ. । ३ नो आ. इ. । ४ × न आ. ५ न सत्थवे° आ. न सन्नवे° इ. । ६ सुता आ. ७ जहाहि आ. चयाहि इ. । ८ °ता आ. । ९ असंवुडा नरा आ. । १० °ता आ. । ११ सेहेंति । १२ स्नेहवचः आ. । १३ °न्याय्याऽस्मत् आ. इ. ।

गृहेषु गृहमेधिनाम् । बिभ्रतां पुत्रदारांस्तु, तां गतिं व्रज पुं[1]त्रक ! ॥१॥" ॥१९॥ एवं तैरुपसर्गिताः केचन कातराः कदाचिदेतत्कुर्युरित्याह—'अन्ने' इत्यादि, 'अन्ये' केचनाल्पसत्त्वाः 'अन्यैः' मात्रापित्रादिभिः 'मूर्च्छिता' अध्युपपन्नाः सम्यग्दर्शनादिव्यतिरेकेण सकलमपि शरीरादिकमन्यदित्यन्यग्रहणं, ते एवम्भूताः असंवृता नराः 'मोहं यान्ति' सदनुष्ठाने मुह्यन्ति, तथा संसारगमनैकहेतुभूतत्वात् 'विषमः' असंयमस्तं 'विषमैः' असंयतैरुन्मार्गप्रवृत्तत्वेनापायाभीरुभिः रागद्वेषैर्वा अनादिभवाभ्यस्ततया दुरुच्छेद्यत्वेन विषमैः ग्राहिता—असंयमं प्रतिवर्तिताः, ते चैवम्भूताः 'पापैः' कर्मभिः पुनरपि प्रवृत्ताः 'प्रगल्भिताः' धृष्टतां गताः पापकं कर्म कुर्वन्तोऽपि न ले[2]ज्जन्त इति ॥२०॥ यत एवं ततः किं कर्तव्यमित्याह—

तम्हा दवि इक्ख पंडिए, पावाओ विरतेऽभिणिव्वुडे । पणए वीरं महाविहिं, सिद्धिपहं णेआउयं धु[3]वं ॥२१॥

वेयालियमग्गमा[4]गओ, मणवयसाकायेण संवुडो । चिच्चा[5] वित्तं च णायओ, आरंभं च सुसंवुडे चरे[6] ॥२२॥

त्तिबेमि इति वैतालीयाध्ययनस्य प्रथमोद्देशकः (गाथाग्रम् १२०)

'तम्हा' इत्यादि, यतो मातापित्रादिमूर्च्छिताः पापेषु कर्मसु प्रगल्भा भवन्ति तस्माद् द्रव्यभूतो भव्यः—मुक्तिगमनयोग्यः रागद्वेषरहितो वा सन् 'ईक्षस्व' तद्विपाकं पर्यालोचय 'पण्डितः' सद्विवेकयुक्तः 'पापात्' कर्मणोऽसदनुष्ठानरूपात् 'विरतः' नि[7]र्वृत्तः क्रोधादिपरित्या[8]गाच्छान्तीभूत इत्यर्थः तथा 'प्रणताः' प्रह्वीभूताः 'वीराः' कर्मविदारणसमर्थाः 'महावीथिं' महामार्गं, तमेव विशिनष्टि—'सिद्धिपथं'

१ पुत्रकेति आ. इ. । २ लक्ष्यन्त आ. । ३ धुयं आ. । ४ °गउ आ. । ५ चेचा । ६ चरेज्जसि आ. चरेज्झासि इ. । ७ अभिनिर्वृतः आ. इ. । ८ °गात् शीती° आ.।

ज्ञानादिमोक्षमार्गं तथा मोक्षं प्रति 'नेतारं' प्रापकं 'ध्रुवम्' अव्यभिचारिणमित्येतदवगम्य स एव मार्गोऽनुष्ठेयः, नासदनुष्ठानप्रगल्भैर्भाव्यमिति ॥२१॥ पुनरप्युपदेशदानपूर्वकमुपसंहरन्नाह—'वेयालियमग्ग' इत्यादि, कर्मणां विदारणमार्गमागतो भूत्वा तं तथाभूतं मनोवाक्कायसंवृतः पुनः 'त्यक्त्वा' परित्यज्य 'वित्तं' द्रव्यं तथा 'ज्ञातींश्च' स्वजनांश्च तथा सावद्यारम्भं च सुष्ठु संवृत इन्द्रियैः संयमानुष्ठानं चरेदिति ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥२२॥ इति वैतालीयद्वितीयाध्ययनस्य[1] प्रथमोद्देशकः समाप्तः ॥

卐 卐 卐 卐 卐

अथ द्वितीयाध्ययने द्वितीय उद्देशकः प्रारभ्यते ॥

प्रथमानन्तरं द्वितीयः समारभ्यते—अस्य चायमभिसंबन्धः, इहानन्तरोद्देशके भगवता स्वपुत्राणां धर्मदेशनाऽभिहिता, तदिहापि सैवाध्ययनार्थाधिकारत्वात् अभिधीयते, सूत्रस्य सूत्रेण सह संबन्धोऽयम्—अनन्तरोक्तसूत्रे बाह्यद्रव्य[2]स्वजनारम्भपरित्यागोऽभिहितः, तदिहाप्यान्तरमानपरित्याग उद्देशार्थाधिकारसूचितोऽभिधीयते, तदनेन संबन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रं—

तयसं व जहाइ[3] से रयं, इति संखाय मुणी ण मज्जई[4]। गोयन्नतरेण[5] माहणे, अहसेयकरी[6] अनेसी[7] इंखिणी ॥१॥

जो परिभवई[9] परं जणं, संसारे परिवत्तई[10] महं[11][12]। अदु इंखिणिया[13] उ पाविया, इति संखाय मुणी ण मज्जई[14] ॥२॥

१ वैतालीयस्य प्रथमः आ. इ. । २ ××द्रव्य° इ. । ३ जहाति क्षा. चयाइ इ. । ४ °ती आ. । ५ गोतण्ण° आ. इ. । ६ °इसेउ क्षा. । ७ अण्णेसि आ. अन्नेसि इ. । सा. ८×नेसि. । ९ °ती क्षा. °ई इ. । १० °यत्तती आ. °यत्तई इ. । सा. ११ चिरं पा. । १२ चिरं इ. । १३ इंख° इ. । १४ मज्जती आ. मज्जई इ. ।

'तयसं व'इत्यादि यथा[1] उरगः स्वां त्वचं अवश्यं परित्यागार्हत्वात् 'जहाति' परित्यजति, एवमसावपि साधुः रज इव रजः–अष्टप्रकारं कर्म तदकषायित्वेन परित्यजतीति, एवं कषायाभावो हि कर्माभावस्य कारणमिति 'संख्याय' ज्ञात्वा 'मुनिः' कालत्रयवेदी 'न माद्यति' मदं न याति, मदकारणं दर्शयति–'गोत्रेण' काश्यपादिना, अन्यग्रहणात् शेषाणि मदस्थानानि गृह्यन्त इति, 'माहण'त्ति साधुः, पाठान्तरं वा 'जे विउ'त्ति यो विद्वान्–विवेकी स जातिकुललाभादिभिः न माद्यतीति, न केवलं स्वतो मदो न विधेयः, जुगुप्साऽप्यन्येषां न विधेयेति दर्शयति–'अथ' अनन्तरं[2] असौ 'अश्रेयस्करी' पापकारिणी 'इंखिणि'त्ति निन्दा अन्येषामतो न कार्येति, मुणी न मज्जइ' इत्यादिकस्य सूत्रावयवस्य सूत्रस्पर्शं गाथाद्वयेन निर्युक्तिकृदाह—

तवसंजम[3]णाणे सुवि जइ माणो [4]वज्जिओ महेसीहिं। [5]अत्तसमुक्करिसत्थं किं पुण हीला उ [6]अन्नेसिं ? ॥४३॥[7]
[8]जइ ताव निज्जरम[9]ओ, पडिसिद्धो अट्ठमाणमहणेहिं। [10]अविसेसमयट्ठाणा परिहरियव्वा पयत्तेणं ॥४४॥[11]

वेयालियस्स णिज्जुत्ती सम्मत्ता ॥छ॥

'तव संजम' इत्यादि, तपःसंयमज्ञानेष्वपि आत्मसमुत्कर्षणार्थम्–उत्सेकार्थं यः प्रवृत्तो मानः यद्यसावपि तावद् 'वर्जितः' त्यक्तो 'महर्षिभिः' महामुनिभिः, किंपुनर्निन्दाऽन्येषां न त्याज्येति। यदि तावन्निर्जरामदोऽपि मोक्षैक[12]गमनहेतुः प्रतिषिद्धः 'अष्टमामथनैः' अर्हद्भिरवशेषाणि तु 'मदस्थानानि' जात्यादीनि 'प्रयत्नेन' सुतरां परिहर्त्तव्यानीति गाथाद्वयार्थः ॥४३–४४॥१॥ साम्प्रतं परनिन्दादोषमधिकृत्याह–'जो परिभवइ' इत्यादि, यः कश्चिदविवेकी 'परिभवति'अवज्ञयति, 'परं जनं' अन्यं लोकम् आत्मव्यतिरिक्तं स तत्कृतेन कर्मणा

१ यथाद्युर° आ. इ.। २ °न्तरं××अ°। ३ नाण अ. आ.। ४ वज्जिउ अ. आ.। ५ अच्च° अ.। ६ अण्णेसि आ.। ७ ॥४०॥ अ. आ.। ८ जति अ. आ.। ९ मउ अ. आ.। १० अवसेस अ. आ.। ११ ॥४१॥ अ. आ.। १२ निर्जराविशेषणम्।

'संसारे' चतुर्गतिलक्षणे भवोदधावरघट्टघटीन्यायेन 'परिवर्त्तते' भ्रमति 'महद्' अत्यर्थं महान्तं वा कालं, क्वचित् 'चिरम्' इति पाठः, 'अदु'त्ति अथशब्दो निपातः, निपातानामनेकार्थत्वात् अत इत्यस्यार्थे वर्तते, यतः परपरिभवादात्यन्तिकः संसारः अतः 'इंखिणिया' परनिन्दा तुशब्दस्यैवकारार्थत्वात् 'पापिकैव' दोषवत्येव, अथवा स्वस्थानादधमस्थाने पातिका, तत्रेह जन्मनि सुंघरो[1] दृष्टान्तः, परलोकेऽपि[2] पुरोहितस्यापि श्वादिषूत्पत्तिरिति, इत्येवं 'संख्याय' परनिन्दां दोषवतीं ज्ञात्वा मुनिर्जात्यादिभिः यथाऽहं विशिष्टकुलोद्भवः[3] श्रुतवान् तपस्वी भवांस्तु मत्तो हीन इति न माद्यति ॥२॥ मदाभावे च यद्विधेयं तद्दर्शयितुमाह--

जे यावि अणायगे सिया, जेविय पेसगपेसए[4] सिया। जे मोणपयं[5] उवट्ठिए, णो लज्जे समयं सया[6] यरे ॥३॥

सम अन्नयरम्मि[7] संजमे, संसुद्धे समणे परिव्वए[8]। जे आवकहा समाहिए, दविए कालमकासि पंडिए ॥४॥

'जे यावि' इत्यादि, यश्चापि कश्चिदास्तां तावत् अन्यो न विद्यते नायकोऽस्येत्यनायकः[9]-स्वयंप्रभुश्चक्रवर्त्यादिः 'स्यात्' भवेत्, यश्चापि प्रेष्यस्यापि प्रेष्यः-तस्यैव राज्ञः कर्मकरस्यापि कर्मकरः, य एवम्भूतो मौनीन्द्रं पद्यते-गम्यते मोक्षो येन तत्पदं-सयमस्तम् उप-सामीप्येन स्थितः उपस्थितः-समाश्रितः सोऽप्यलज्जमान उत्कर्षमकुर्वन् वा सर्वाः क्रियाः-परस्परतो वन्दनप्रतिवन्दनादिका विधत्ते, इदमुक्तं भवति-चक्रवर्तिनाऽपि मौनीन्द्रपदमुपस्थितेन पूर्वमात्मप्रेष्यप्रेष्यमपि वन्दमानेन लज्जा न विधेया इतरेणं[10] चोत्कर्ष इत्येवं 'समतां' समभावं सदा भिक्षुश्चरेत्-संयमोद्युक्तो भवेदिति ॥३॥ क्व पुनर्व्यवस्थितेन लज्जामदौ न विधेयाविति दर्शयितुमाह-'सम' इत्यादि

१ सुघरा आ. इ.। २ °के च आ. इ.। ३ °द्गतः आ.। ४ पेस×° आ. पेसय° इ.। ५ °पदं आ. इ.। ६ तदाचरे आ. सयावरे इ.। ७ अण्ण° आ.। सा. ८ सिअ वृत्तिः। ९ °ऽन्योस्येत्य° आ. इ.। १० णाप्युत्कर्ष आ. इ.।

'समे'[1]ति समभावोपेतः सामायिकादौ संयमे संयमस्थाने वा षट्स्थानपतितत्वात् संयमस्थानानामन्यतरस्मिन् संयमस्थाने छेदोपस्थापनीयादौ वा, तदेव विशिनष्टि—सम्यक्शुद्धे सम्यक्शुद्धो वा 'श्रमणः' तपस्वी लज्जामदपरित्यागेन समानमना वा 'परिव्रजेत्' संयमोद्युक्तो भवेत्, स्यात्—कियन्तं कालम् ?, यावत् कथा—देवदत्तो यज्ञदत्त इति[2] कथां यावत्, सम्यगाहित आत्मा ज्ञानादौ येन स समाहितः समाधिना वा—शोभनाध्यवसायेन युक्तः, द्रव्यभूतो—रागद्वेषा[3]दिरहितः मुक्तिगमनयोग्यतया वा भव्यः, स एवम्भूतः कालमकार्षीत्
॥८॥ 'पण्डितः' सदसद्विवेककलितः, एतदुक्तं भवति—देवदत्त इति कथा मृतस्यापि भवति अतो यावन्मृत्युकालं तावल्लज्जामदपरित्यागोपेतेन संयमानुष्ठाने प्रवर्तितव्यमिति स्यात् ॥४॥ किमालम्ब्यैतद्विधेयमिति, उच्यते—

दूरं अणुपस्सिया मुणी, तीतं[4] धम्ममणागयं तहा। पुट्ठे[5] परुसेहिं[6] माहणे, अवि हण्णू समयंमि[7] रीयइ ॥५॥

पण्णसमत्ते[8] सया जए[10], समताधम्ममुदाहरे[11][12] मुणी। सुहुमे उ सया अलूसए, णो[13] कुज्झे णो माणि माहणे ॥६॥

'दूरं'इत्यादि दूरवर्त्तित्वात् दूरो—मोक्षस्तमनु—पश्चा[14]त् तं दृष्ट्वा यदिवा—दूरमिति—दीर्घकालम् 'अनुदृश्य' पर्यालोच्य 'मुनिः' कालत्रय-
॥१०॥ वेत्ता दूरमेव दर्शयति—अतीतं 'धर्मं' स्वभावं—जीवानामुच्चावचस्थानगतिलक्षणं तथा अनागतं च धर्मं—स्वभावं पर्यालोच्य लज्जामदौ न विधेयौ, तथा 'स्पृष्टः' छुप्तः 'परुषैः'[15] दण्डकशादिभिर्वाग्भिर्वा 'माहणे'त्ति मुनिः 'अवि हण्णू'त्ति अपि मार्यमाणः स्कन्दकशिष्यगणवत् 'समये' संयमे 'रीयते' तदुक्तमार्गेण गच्छतीत्यर्थः, पाठान्तरं वा 'समयाऽहियासए' त्ति समतया सहत इति ॥५॥ पुनरप्युपदेशान्तर-

१ समत्ति आ. समेत्ति इ.। २ इत्येवं आ. इ.। ३ °द्वेषरहितः आ. इ.। ४ तीयं इ.। ५ पुट्ठो इ.। ६ फरु° आ.। सा ७ समयाहियासए पा.। ८ °यंसि आ. इ.। सा. ९ पण्हसमत्थे पा०। १० जते आ.। ११ समिया आ. इ.। १२ °याहरे आ.। १३ नो आ. इ.। १४ तू × आ. इ.। १५ पुरुषैः आ. इ.।

माह–'प[1]ण्णसमत्ते'इत्यादि, प्रज्ञायां समाप्तः प्रज्ञासमाप्तः–पटुप्रज्ञः, पाठान्तरं वा 'पण्हसमत्थे' प्रश्नविषये प्रत्युत्तरदानसमर्थः 'सदा' सर्वकालं जयेत्, जेयं कषायादिकमिति शेषः। तथा स[2]मया–समता तया धर्मम्–अहिंसादिलक्षणम् 'उदाहरेत्' कथयेत् 'मुनिः' यतिः सूक्ष्मे तु-संयमे यत्कर्तव्यं तस्य 'अलूषकः' अविराधकः, तथा न हन्यमानो वा पूज्यमानो वा क्रुध्येन्नापि 'मानी' गर्वितः स्यात् 'माहणो' यतिरिति ॥६॥ अपिच—

बहुजणणम[3]णंमि सं[4]वुडो,सव्वट्ठेहिं णरे अणिस्सिए। हरए व सया अणा[5]विले, धम्मं [6]पादुरकासि कासवं ॥७॥
बहवे पाणा पुढो सिया, पत्तेयं समयं [7]समीहिया [8]जो [9]मोणपदं उवट्ठिते, विरतिं[10] तत्थ अकासि पंडिए ॥८॥

'बहुजणण'इत्यादि, बहून् जनान् आत्मानं प्रति नामयति–प्रह्वीकरोति तैर्वा नम्यते–स्तूयते बहुजननमनो–धर्मः, स एव बहुभिर्जनैरात्मीयात्मीयाशयेन यथाऽभ्युपगमप्रशंसया स्तूयते–[11]प्रशस्यते, कथम्?, अत्र कथानकं राजगृहे नगरे श्रेणिको महाराजः, कदाचिदसौ चतुर्विधबुद्ध्युपेतेन पुत्रेण अभयकुमारेण सार्धमास्थानस्थितस्ताभिस्ताभिः कथाभिरासाञ्चक्रे, तत्र कदाचिदेवम्भूता कथाऽभूत्, तद्यथा–इह लोके धार्मिकाः बहवः उताधार्मिका इति?, तत्र समस्तपर्षदाऽभिहितम्–यथाऽत्राधार्मिका बहवो लोका धर्मं तु शतानामपि मध्ये कश्चिदेवैको विधत्ते, तदाकर्ण्याभयकुमारेणोक्तं–यथा प्रायशो लोकाः सर्व एव धार्मिकाः, यदि न निश्चयो भवतां परीक्षा क्रियतां, पर्षदाऽप्यभिहितम्–एवमस्तु, ततोऽभयकुमारेण धवलेतरप्रासादद्वयं कारितं, घोषितं च डिण्डिमेन नगरे, यथा–यः कश्चिदिह धार्मिकः

१ पण्ह° आ॰। २ समिया आ. इ.। ३ मणंसि आ.। ४ संवुडे इ.। ५ °इले। ६ पाउ°। ७ उवेहिया आ. इ.। सा॰ उवेहिया प्र॰। ८ जे आ. इ.। ९ पयं आ.। १० विरती आ. इ.। ११ ×××× क°।

स सर्वोऽपि धवलप्रासादं गृहीतबलिः प्रविशतु, इतरस्त्वितरमिति, ततोऽसौ लोकः सर्वोऽपि धवलप्रासादमेव प्रविष्टो निर्गच्छंश्च कथं त्वं धार्मिकः ? इत्येवं पृष्टः कश्चिदाचष्टे–यथाऽहं कर्षकः अनेकशकुनिगणः मद्धान्यकणैरात्मानं प्रीणयति खलकसमागतधान्यकणभिक्षादानेन च मम धर्म इति, अपरस्त्वाह–यथाऽहं ब्राह्मणः षट्कर्माभिरतः तथा बहुशौचस्नानादिभिर्वेदविहितानुष्ठानेन[1] पितृदेवांस्तर्पयामि, अन्यः कथयति–यथाऽहं वणिक्कुलोपजीवी भिक्षादानादिप्रवृत्तः, अपरस्त्विदमाह–यथाऽहं कुलपुत्रकः न्यायागतं निर्गतिकं कुटुम्बकं पालयाम्येव, तावत्[2] श्वपाकोऽपीदमाह–यथाऽहं कुलक्रमागतं धर्ममनुपालयामीति मन्निश्रया च बहवः पिशितभुजः प्राणान् संधारयन्ति, इत्येवं सर्वोऽप्यात्मीयमात्मीयं व्यापारमुद्दिश्य धर्मे नियोजयति, तत्रापरमसितप्रासादं[3] श्रावकद्वयं प्रविष्टं, तच्च किमधर्माचरणं भवद्भ्यामकारीत्येवं पृष्टं सत् सकृन्मद्यनिवृत्तिभङ्गव्यलीकमकथयत्, तथा साधव एवात्र परमार्थतो धार्मिका यथागृहीतप्रतिज्ञानिर्वाहणसमर्थाः, अस्माभिस्तु–"अवाप्य मानुषं जन्म, लब्ध्वा जैनं च शासनम् । कृत्वा निवृत्तिं मद्यस्य[4], सम्यक् साऽपि न पालिता ॥१॥ अनेन व्रतभङ्गेन, मन्यमाना अधार्मिकम् । अधमाधममात्मानं, कृष्णप्रासादमाश्रिताः ॥२॥" तथाहि–"लज्जां गुणौघजननीं जननीमिवार्यामत्यन्तशुद्धहृदयामनुवर्त्तमानाः । तेजस्विनः सुखमसूनपि संत्यजन्ति, सत्यस्थितिव्यसनिनो न पुनः प्रतिज्ञाम् ॥३॥ वरं प्रवेष्टुं ज्वलितं हुताशनं, नचापि भग्नं चिरसंचितव्रतम् । वरं हि मृत्युः सुविशुद्धचेतसो, नचापि शीलस्खलितस्य जीवितम् ॥४॥" इति, तदेवं प्रायशः सर्वोऽप्यात्मानं धार्मिकं मन्यत इतिकृत्वा बहुजननमनो धर्म इति स्थितं, तस्मिंश्च 'संवृतः' समाहितः सन् 'नरः' पुमान् 'सर्वार्थैः' बाह्याभ्यन्तरै-

१ °शोचस्तादिभि आ. °शोचत्रस्नादिभि इ. । २ तावत् यावत् आ. इ. । सा० ३ आधारस्यापि कर्मत्वविवक्षया, गत्यर्थत्वेन विशः कर्त्तरि क्त इति न प्रथमाशङ्का । ४ जातिपक्षीया मविपुलेयम् । ५ कर्मणो प्र० ।

धनधान्यकलत्रममत्वादिभिः 'अनिश्रितः' अप्रतिबद्धः सन् धर्मं प्रकाशितवानित्युत्तरेण सह सम्बन्धः, निदर्शनमाह–ह्रद इव स्वच्छाम्भसा भृतः सदा 'अनाविलः' अनेकमत्स्यादिजलचरसंक्रमेणाप्यनाकुलोऽकलुषो वा क्षान्त्यादिलक्षणं धर्मं 'प्रादुरकार्षीत्' प्रकटं कृतवान्, यदिवा एवंविशिष्ट एव काश्यपं–तीर्थङ्करसंबन्धिनं धर्मं प्रकाशयेत्, छान्दसत्वात् वर्त्तमाने भूतनिर्देश इति ॥७॥ स बहुजननमने धर्मे व्यवस्थितो यादृक्[2] धर्मं प्रकाशयति तद्दर्शयितुमाह–'बहवे'इत्यादि, यदिवोपदेशान्तरमेवाधिकृत्याह–'बहवे' इत्यादि, 'बहवः' अनन्ताः 'प्राणाः' दशविधप्राणभाक्त्वात्तदभेदोपचारात् प्राणिनः 'पृथग्' इति पृथिव्यादिभेदेन सूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तनरकगत्यादिभेदेन वा संसारमाश्रिताः तेषां च पृथगाश्रितानामपि प्रत्येकं समतां–दुःखद्वेषित्वं सुखप्रियत्वं च 'समीक्ष्य' दृष्ट्वा, यदिवा–'समतां' माध्यस्थ्यमुपेक्ष्य(त्य) यो 'मौनीन्द्रपदमुपस्थितः' संयममाश्रितः स साधुः 'तत्र' अनेकभेदभिन्नप्राणिगणे दुःखद्विषि सुखाभिलाषिणि सति तदुपघाते कर्तव्ये विरतिम् अकार्षीत् कुर्याद्वेति, पापाड्डीनः–पापानुष्ठानात् दवीयान् पण्डित इति ॥८॥ अपिच—

धम्मस्स य पारए मुणी, आरंभस्स य अंतए[3] ठिए। सोयंति य णं ममाइणो, णो लब्भंति[4] णियं[5] परिग्गहं ॥९॥

इहलोगदुहावहं विऊ, परलोगे य दुहं दुहावहं। विद्धंसणधम्ममेव [6]तं, इति विज्जं कोऽगारमावसे ? ॥१०॥

'धम्मस्स य'इत्यादि, धर्मस्य–श्रुतचारित्रभेदभिन्नस्य पारं गच्छतीति पारगः–सिद्धान्तपारगामी सम्यक्चारित्रानुष्ठायी वेति, चारित्रमधिकृत्याह–'आरम्भस्य' सावद्यानुष्ठानरूपस्य 'अन्ते' पर्यन्ते तदभावरूपे स्थितो मुनिर्भवति, ये पुनर्नैवं भवन्ति ते अकृतधर्माः मरणे

१ वत् इ । २ यादृशं आ. यादृक्षं इ. । ३ अंतिए आ. इ. । ४ लब्भती आ. । ५ णिययं आ. । ६ या आ. । सा० ७ त्रिपदबहुव्रीहिरत्र, अनसमासान्तश्च द्विपदादेव ।

दुःखे वा समुत्थिते आत्मानं शोचन्ति, णमिति वाक्यालङ्कारे, यदिवेष्टमरणादौ अर्थनाशे वा 'ममाइणो'त्ति ममेदमहमस्य स्वामीत्येवमध्य-
वसायिनः शोचन्ति, शोचमाना अप्येते 'निजम्' आत्मीयं परि-समन्तात् गृह्यते—आत्मसात्क्रियत इति परिग्रहः—हिरण्यादिरिष्टस्वजनादिर्वा
तं नष्टं मृतं वा 'न लभन्ते' न प्राप्नुवन्तीति, यदिवा[1] धर्मस्य पारगं मुनिमारम्भस्यान्ते व्यवस्थितमेनमागत्य 'स्वजनाः' मातापित्रादयः
शोचन्ति 'ममत्वयुक्ताः' स्नेहालवः, न च ते लभन्ते निजमप्यात्मीयपरिग्रहबुद्ध्या गृहीतमिति ॥९॥ अत्रान्तरे 'नागार्जुनीयास्तु' पठन्ति
९ "सोऊणं[2] तयं उवट्ठियं, केइ गिही विग्घेण उट्ठिया[3]। धम्मंमि अणुत्तरे मुणी, तंपि जिणिज्ज इमेण पंडिए ॥१॥" एतदेवाह—'इह लोग'
इत्यादि, 'इह' अस्मिन्नेव लोके हिरण्यस्वजनादिकं दुःखमावहति 'विउ'त्ति विद्याः—जानीहि, तथाहि—"अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानां
च रक्षणे। आये दुःखं व्यये दुःखं, धिगर्थं[4] दुःखभाजनम् ॥१॥" तथाहि—"रेवापयः किसलयानि च सल्लकीनां, विन्ध्योपकण्ठविपिनं
स्वकुलं च हित्वा। किं ताम्यसि द्विप! गतोऽसि वशं करिण्याः, स्नेहो निबन्धनमनर्थपरम्परायाः ॥१॥" परलोके च हिरण्यस्वजनादि-
ममत्वापादितकर्मजं दुःखं भवति, तदप्यपरं दुःखमावहति, तदुपादानकर्मोपादानादिति भावः, तथैतदुपार्जितमपि 'विध्वंसनधर्मं' विश-
१० रारुस्वभावं, गत्वरमित्यर्थः, इत्येवं 'विद्वान्' जानन् कः सकर्णः 'अगारवासं' गृहवासमावसेत्?, गृहपाशं वाऽनुबध्नीयादिति, उक्तं च—
"दाराः परिभवकारा बन्धुजनो बन्धनं विषं विषयाः। कोऽयं जनस्य मोहो? ये रिपवस्तेषु सुहृदाशा ॥१॥" ॥१०॥ पुनरप्युपदेशम-
धिकृत्याह—

---

१ यदा आ. । सा. २ श्रुत्वा तमुपस्थितं केचिद्गृहिणो विघ्नायोत्तिष्ठेयुः । धर्मेऽनुत्तरे मुनिस्तानपि जयेदनेन पण्डितः । ३ उवट्ठिया आ. इ. ।
४ लोके इ ।

महयं पलिगोव जाणिया, जावि य वंदणपूयणा इहं। सुहुमे सल्ले दुरु[1]द्धरे, विउमंता [2]पयहिज्ज [3]संथवं ॥११॥

एगे चरे(र) [4]ठाणमासणे, सयणे [5]एगे(ग)समाहिए सिया। भिक्खू उवहाणवीरिए, वइगुत्ते [6]अज्झत्तसंवुडो ॥१२॥

'[7]महयं' इत्यादि, 'महान्तं' संसारिणां दुस्त्यजत्वान्महता वा संरम्भेण परिगोपणं परिगोपः द्रव्यतः पङ्कादिः, भावतोऽभिष्वङ्गः तं 'ज्ञात्वा' स्वरूपतः तद्विपाकतो वा परिच्छिद्य याऽपि च प्रव्रजितस्य सतो राजादिभिः कायादिभिर्वन्दना वस्त्रपात्रादिभिश्च पूजना तां [8]च 'इह' अस्मिन् लोके मौनीन्द्रे वा शासने व्यवस्थितेन कर्मोपशमजं फलमित्येवं परिज्ञायोत्सेको न विधेयः, किमिति ?, यतो गर्वात्मकमेतत्सूक्ष्मं शल्यं वर्त्तते, सूक्ष्मत्वाच्च 'दुरुद्धरं' दुःखेनोद्धर्तुं शक्यते, अतः 'विद्वान्' सदसद्विवेकज्ञ[9]स्तत्तावत् 'संस्तवं' परिचयमभिष्वङ्गं 'परिजह्यात्' परित्यजेदिति। नागार्जुनीयास्तु पठन्ति–"[10]पलिमंथ महं वियाणिया, जाऽविय वंदणपूयणा इहं। सुहुमं सल्लं दुरुद्धरं, तंपि जिणे एएण पंडिए ॥१॥" अस्य चायमर्थः–साधोः स्वाध्यायध्यानपरस्यैकान्तनिःस्पृहस्य योऽपि चायं परैः वन्दनापूजनादिकः सत्कारः क्रियते असावपि सदनुष्ठानस्य सद्गतेर्वा महान् पलिमन्थो–विघ्नः, आस्तां तावच्छब्दादिष्वभिष्वङ्गः, तमित्येवं परिज्ञाय तथा [11]सूक्ष्मशल्यं दुरुद्धरं च अतस्तमपि 'जयेद्' अपनयेत् पण्डितः 'एतेन' वक्ष्यमाणेनेति ॥११॥ 'एगे चरे' इत्यादि 'एकः' असहायो द्रव्यत [12]ए-

---

१ °त्थरे आ.। २ परिहेज्ज आ. पजहेज्ज इ.। ३ संथवे आ. संद्धवं इ.। ४ ट्ठाण आस० आ.। ५ एगं आ.। ६ अज्झत्थ संवुडे आ. अज्झप्प संवुडे इ। ७ महता इत्या० आ.। ८ च×××अ. आ.। सा. ९ आस्तां तावत् प्र० तं तावत् प्र०। १० पलिमन्थं (विघ्नं) महान्तं विज्ञाय याऽपिच वन्दनापूजनेह। सूक्ष्मं शल्यं दुरुद्धरं, तदपि जयेदेतेन पंडितः ॥१॥ ११ सूक्ष्मं आ. इ.। सा. १२ प्राकृते स्वार्थे ल्लप्रत्ययागमे एकल्ल इति जाते प्रसिद्धत्वादनुकरणमेतत्।

कल्पविहारी भावतो रागद्वेषरहितश्चरेत्, तथा 'स्थानं' कायोत्सर्गादिकम् एक एव कुर्यात्, तथा आसनेऽपि व्यवस्थितो[1]ऽपि रागद्वेषरहित एव तिष्ठेत्, एवं शयनेऽप्येकाक्येव 'समाहितः' धर्मादिध्यानयुक्तः 'स्यात्' भवेत्, एतदुक्तं भवति–सर्वास्वप्यवस्थासु चरणस्थानासन शयनरूपासु रागद्वेषविरहात् समाहित एव स्यादिति, तथा भिक्षणशीलो भिक्षुः उपधानं–तपस्तत्र वीर्यं[2] यस्य स उपधानवीर्यः–तपस्य-निगूहितबलवीर्य इत्यर्थः, तथा 'वाग्गुप्तः' सुपर्यालोचिताभिधायी 'अध्यात्मं' मनः तेन संवृतो भिक्षुर्भवेदिति ॥१२॥ किञ्च—

णो[3] पीहे ण यावपंगुणे, दारं सुन्नघरस्स संजए[4]। पुट्ठे ण उदाहरे वयं[5], ण समुच्छे णो[6] संथरे तणं ॥१३॥

जत्थऽत्थमिए अणाउँले, समविसमाइं मुणीऽहियासए। चरगा अदुवावि भेरवा, अदुवा तत्थ सरीसिवा सिया ॥

'णो पीहे' इत्यादि, केनचिच्छयनादिनिमित्तेन शून्यगृहमाश्रितो भिक्षुः तस्य गृहस्य द्वारं कपाटादिना न स्थगयेन्नापि तच्चालयेत्[9], यावत् 'न यावपंगुणे'त्ति नोद्घाटयेत्, तत्रस्थोऽन्यत्र वा केनचिद्धर्मादिकं[10] मार्गं[8] वा पृष्टः सन् सावद्यां वाचं 'नोदाहरेत्' न ब्रूयात्, आभिग्रहिको जिनकल्पिकादिर्निरवद्यामपि न ब्रूयात्, तथा 'न समुच्छिन्द्यात्' तृणानि कचवरं च[11] प्रमार्जनेन नापनयेत, नापि शयनार्थी कश्चिदाभिग्राहिकः 'तृणादिकं संस्तरेत्' तृणैरपि संस्तारकं न कुर्यात्, किं पुनः कम्बला[12]दिना ?, अन्यो वा शुषिरतृणं न संस्तरेदिति ॥१३॥ तथा 'जत्थत्थमिए' इत्यादि, भिक्षुर्यत्रैवास्तमुपैति सविता तत्रैव कायोत्सर्गादिना तिष्ठतीति यत्रास्तमितः, तथाऽनाकुलः समुद्रव-

सा. १ प्राक्तनोऽपिः शयनादिसमुच्चयाय, अयं तूर्ध्वस्थानादिसमुच्चयाय। २ °तौ××आ.। ३ णो पीहेणाववं॰ आ. नो पीहे नावपं॰ इ.। ४ °ते आ.। ५ वर्ति आ. वयिं इ.। ६ णो य संवरे° आ. नो संथरे° इ.। ७ °इले आ. इ.। ८ °माणि आ. इ.। ९ °येत्××णाववं° आ. येयावत् नावपं° इ.। १० °दिक-मार्गादिकं आ. इ.। ११ वा आ. इ.। १२ °ल्यादि° आ. इ.।

नक्रादिभिः परीषहोपसर्गैरक्षुभ्यन् 'समविषमाणि' शयनासनादीन्यनुकूलप्रतिकूलानि 'मुनिः' यथावस्थितसंसारस्वभाववेत्ता सम्यग्–अरक्तद्विष्टतयाऽधिसहेत,तत्र च शून्यगृहादौ व्यवस्थितस्य तस्य चरन्तीति चरका–दंशमशकादयः अथवापि 'भैरवा' भयानका-रक्षःशिवादयः अथवा तत्र सरीसृपाः 'स्युः' भवेयुः, तत्कृतांश्च परीषहान् सम्यक् अधिषहेतेति ॥१४॥ साम्प्रतं त्रिविधोपसर्गाधिसहनमधिकृत्याह––

तिरिया[1] मणुया य[2] दिव्वगा,उवसग्गा तिविहाऽहियासिया। लोमादीयं[3] ण हारिसे[4],सुन्नागारगओ[5] महामुणी ॥१५॥

[6]णो अभिकंखेज्ज जीवियं, नोऽविय पूयणपत्थए सिया। अब्भत्थमुविंति भेरवा, सुन्नागारगयस्स भिक्खुणो ॥

'तिरिया'इत्यादि, 'तैरश्चाः' सिंहव्याघ्रादिकृताः तथा 'मानुषा' अनुकूलप्रतिकूलाः सत्कारपुरस्कारदण्डकशा[7]ताडनादिजनिताः,तथा 'दिव्वगा'[8] इति व्यन्तरादिना हास्यप्रद्वेषादिजनिताः, एवं त्रिविधानप्युपसर्गान् 'अधिसहेत' नोपसर्गैर्विकारं गच्छेत्, तदेव दर्शयति–'लोमादिकमपि न हर्षेत्' भयेन रोमोद्गममपि न कुर्यात्, यदिवा–एवमुपसर्गास्त्रिविधा अपि 'अहियासिय'त्ति अधिसोढा भवन्ति यदि रोमोद्गमादिकमपि न कुर्यात्, आदिग्रहणात् दृष्टिमुखविकारादिपरिग्रहः, शून्यागारगतः, शून्यगृहव्यवस्थितस्य[9] चोपलक्षणार्थत्वात् पितृवनादिस्थितो वा 'महामुनिः' जिनकल्पिकादिरिति ॥१५॥ किञ्च–'णो[10] अभिकंखेज्ज'इत्यादि,स तैर्भैरवैरुपसर्गैरुदीर्णैस्तोतुद्यमानोऽपि जीवितं न अभिकाङ्क्षेत, जीवितनिरपेक्षेणोपसर्गः[11] सोढव्य इति भावः, न चोपसर्गसहनद्वारेण 'पूजा[12]र्थकः' प्रकर्षाभिलापी 'स्यात्' भवेत्, एवं च जीवितपूजानिरपेक्षेणासकृत् सम्यक् सह्यमाना[13] भैरवा–भयानकाः शिवापिशाचादयोऽभ्यस्तभावंस्वात्मतां उप–सामीप्येन यान्ति–

१ °ता आ.। २ व दिव्वि° आ.। ३ °यियं आ। ४ हरिसे आ. इ.। ५ °गते आ. °गए इ.। ६ नो अवभिकंखे× आ.। ७ °कस° आ. °कश° इ.। ८ दिव्विगत्ति आ. दिव्वमिति इ.। ९ °तोऽस्य आ. इ.। १० आवभिकंखेत्यादि आ. इ.। ११ °सर्गाः सोढव्या आ. इ.। १२ °प्रार्थको×××मि° आ. इ.। १३ °माना आ. इ.।

–गच्छन्ति, तत्सहनाच्च भिक्षोः शून्यागारगतस्य नीराजितवारणस्येव शीतोष्णादिजनिता उपसर्गाः सुसहा एव भवन्तीति भावः ॥१६॥ पुनरप्युपदेशान्तरमाह—

उवणीयतरस्स ताइणो, भयमाणस्स विवि[1]क्कमासणं । सामाइयमाहु तस्स जं, जो [2]अप्पाण भए ण दंसए ॥
उसिणोदगतत्तभोइणो, धम्मट्ठियस्स मुणिस्स हीमतो । संसग्गि असाहु राइहिं, असमाही उ तहागयस्सवि ॥

'उवणीय[4]'इत्यादि, उप–सामीप्येन नीतः–प्रापितो ज्ञानादावात्मा येन स तथा अतिशयेनोपनीत उपनीततरस्तस्य, तथा 'तायिनः' परात्मोपकारिणः त्रायिणो वा–सम्यक्पालकस्य, तथा 'भजमानस्य' सेवमानस्य 'विविक्तं' स्त्रीपशुपण्डकविवर्जितम् आस्यते–स्थीयते यस्मिन्निति तदासनं–वसत्यादि, तस्यैवम्भूतस्य मुनेः 'सामायिकं' समभावरूपं सामायिकादिचारित्रमाहुः सर्वज्ञाः, 'यत्' यस्मात् ततश्चारित्रिणा प्रा[5]ग्व्यवस्थितस्वभावेन भाव्यं, यश्चात्मानं 'भये' परिषहोपसर्गजनिते 'न दर्शयेत्' तद्भीरुर्न भवेत् तस्य सामायिकमाहुरिति सम्बन्धनीयं ॥१७॥ किञ्च–'उसिणोद[6]ग'इत्यादि, मुनेः 'उष्णोदकतप्तभोजिनः' त्रिदण्डोद्वृत्तोष्णोदकभोजिनः, यदिवा–उष्णं सन्न शीतीकुर्यादिति तप्तग्रहणं, तथा श्रुतचारित्राख्ये धर्मे स्थितस्य 'हीमंतो[7]'त्ति ह्रीः–असंयमं प्रति लज्जा तद्वतोऽसंयमजुगुप्सावत इत्यर्थः, तस्यैवभूतस्य मुने राजादिभिः सार्द्धं यः 'संसर्गः' सम्बन्धोऽसावसाधुः अनर्थोदयहेतुत्वात् 'तथागतस्यापि' यथोक्तानुष्ठायिनोऽपि राजादिसंसर्गवशाद् 'असमाधिरेव' अपध्यानमेव स्यात्, न कदाचित् स्वा[8]ध्यायादिकं भवेदिति ॥१८॥ परिहार्यदोषप्रदर्शनेन अधुनोपदेशाभिधित्सयाऽऽह–

---

१ विचित्तमा° आ. । २ यप्पाण आ. अप्पाणं इ । ३ °ओ. आ. । ४ °णीए आ इ. । ५ प्राग्व्यावर्गित° आ. इ. । ६ °यगे इ । ७ हीमउत्तिही आ. ×××× ह्री°. इ. । ८ °ध्यानादिकं आ. ।

अहिगरणकडस्स भिक्खुणो, वयमाणस्स पसज्झ दारुणं। अट्ठे परिहायती बहु, अहिगरणं न करेज पंडिए ॥
सीओदग पडि दुगुंछिणो,अपडिण्णस्स लवावसप्पिणो। सामाइयमाहु तस्स जं, जो गिहिमत्तेऽसणं न भुंजती ॥

'अहिगरण'इत्यादि, अधिकरणं–कलहस्तत्करोनि तच्छीलश्चेत्यधिकरणकरः तस्यैवम्भूतस्य भिक्षोः तथाऽधिकरणकरीं दारुणां वा भयानकां वा 'प्रसह्य' प्रकटमेव वाचं ब्रुवतः सतः 'अर्थो' मोक्षः तत्कारणभूतो वा संयमः स बहु 'परिहीयते' ध्वंसमुपयाति, इदमुक्तं भवति बहुना कालेन यदर्जितं विप्रकृष्टेन तपसा महत्पुण्यं तत्कलहं कुर्वतः परोपघातिनीं च वाचं ब्रुवतः तत्क्षणमेव ध्वंसमुपयाति, तथाहि– "जं अज्जियं समीखल्लएहिं तवनियमबंभमइएहिं। मा हु तयं कलहंता छड्डेअह सागपत्तेहिं ॥१॥" इत्येव मत्वा मनागप्यधिकरणं न कुर्यात् 'पण्डितः' सदसद्विवेकीति ॥१९॥ तथा 'सीओदग'इत्यादि, शीतोदकम्–अप्रासुकोदकं तत्प्रति जुगुप्सकस्याप्रासुकोदकपरिहारिणः साधोः न विद्यते प्रतिज्ञा–निदानरूपा यस्य सोऽप्रतिज्ञोऽनिदान इत्यर्थः, लवं–कर्म तस्मात् अवसप्पिणोत्ति–अवसर्पिणः यदनुष्ठानं कर्मबन्धोपादानभूतं तत्परिहारिण इत्यर्थः, तस्यैवम्भूतस्य साधोर्यस्मात् यत् 'सामायिकं' समभावलक्षणमाहुः सर्वज्ञाः, यश्च साधुः 'गृहमात्रे' गृहस्थभाजने कांस्यपात्रादौ न भुङ्क्ते तस्य च सामायिकमाहुरिति संबन्धनीयमिति ॥२०॥ किञ्च—

१ °करणं आ. इ. । २ सीउ° आ. । सा. ३ नीओदपडि° । ४ °विसक्किणो आ. °वसक्किणो । सा. सुक्कि° । ५ °मत्त° आ. इ. । ६ करीं वा दारुणां भयानिकां × आ. । सा. ७ यदर्जितं कष्टैः (शमीपत्रैः) तपोनियमब्रह्मचर्यमयैः। मा तत् कलहयन्तः त्याक्ष्ट शाकपत्रैः ॥१॥ ८ णियम । ९ °तेहिं आ. । १० छड्डेज्जिह कलहंता आ. छड्डेहह कलहंता इ. । ११ सीउ° आ. इ. । १२ °सक्कि° आ. इ. । १३ तत्तप° आ. । १४ °र्थेयस्मात् ।

ण य संखयमाहु जीवियं, तहविय बालजं[1]णो पगब्भइ[2]। बाले [3]पापेहिं मिज्जती, इति संखाय[4] मुणी ण मज्जती॥
छंदेण [5]पले इमा पया, बहुमाया मोहेण पाउडा। वियडेण [6]पलिंति माहणे, सीउण्हं वयसाऽहियासए ॥२२॥

'[7]णय संखय'इत्यादि, 'न च' नैव 'जीवितम्' आयुष्कं कालपर्यायेण त्रुटितं सत् पुनः 'संखय'मिति संस्कर्त्तुं-तन्तुवत्संधातुं शक्यते
इत्येवमाहुस्तद्विदः, तथाऽपि एवमपि व्यवस्थिते 'बालः' अज्ञो ज[8]नः 'प्रगल्भते' पापं कुर्वन् धृष्टो भवति, असदनुष्ठानरतोऽपि न लज्जत
इति, स चैवम्भूतो बालस्तैरसदनुष्ठानापादितैः 'पापैः' कर्मभिः 'मीयते' तद्युक्त इत्येवं परिच्छिद्यते, भ्रियते वा मेयेन धान्यादिना प्रस्थ-
८ कवदिति, एवं 'संख्याय' ज्ञात्वा 'मुनिः' यथावस्थितपदार्थानां वेत्ता 'न माद्यतीति' तेष्वसदनुष्ठानेष्वहं शोभनः कर्त्तेत्येवं प्रगल्भमानो
मदं न क[10]रोति ॥२१॥ उपदेशान्तरमाह-'छंदेण' इत्यादि, 'छन्दः'-अभिप्रायस्तेन तेन स्वकीयाभिप्रायेण कुगतिगमनैकहेतुना 'इमाः
प्रजाः' अयं लोक[11]स्तासु गतिषु प्र[12]लीयते, तथाहि-[13]छागादिवधमपि स्वाभिप्रायग्रहग्रस्ता धर्मसाधनमित्येवं प्रगल्भमाना विदधति,
अन्ये तु संघादिकमुद्दिश्य दासीदासधनधान्यादिपरिग्रहं कुर्वन्ति, तथाऽन्ये मायाप्रधानैः कु[14]क्कुटैरसकृदुत्प्रोक्षणश्रोत्रस्पर्शनादिभिर्मुग्धजनं
१० प्रतारयन्ति, तथाहि-"कुक्कुटसाध्यो लोको नाकुक्कुटतः प्रवर्तते किञ्चित्। तस्माल्लोकस्यार्थे पितरमपि सकुक्कुटं कुर्यात् ॥१॥"
तथेयं प्रजा 'बहुमाया' कपटप्रधाना, किमिति ?-यतो मोहः-अज्ञानं तेन 'प्रा[15]वृता' आच्छादिता सदसद्विवेकविकलेत्यर्थः, तदेतदव-

१ °जणे आ. । २ °ब्भत आ. ब्भती इ. । ३ पावेहिं आ. इ. । ४ °त आ. । ५ पलेति मायया आ. प्पलेति मायया इ. । ६ पलेति आ. इ. । ७ °सते आ. । ८ न आ इ. । ९ जडः आ । १० करोतीति आ. इ. । ११ °स्तासु तासु आ. । १२ ×लीयते आ. । सा. १३ बस्तादीति प्र° । बस्तादि° आ. इ. । सा. १४ कुरुकुचैः इति प्र° । कुरुकुचै° आ. इ. । १५ प्रावृत्ताच्छा आ. इ. ।

गम्य 'माहणे'त्ति साधुः 'विकटेन' प्रकटेनामायेन कर्मणा मोक्षे संयमे वा प्रकर्षेण लीयते-प्रलीयते, शोभनभावयुक्तो भवतीति भावः, तथा शीतं च[1] उष्णं च शीतोष्णं[2] शीतोष्णा वा-अनुकूलप्रतिकूलपरीषहास्तान् वाचा कायेन मनसा च करणत्रयेणापि सम्यगधिसहेत[3] इति ॥२२॥ अपिच-

कुजए अपराजिए जहा, अक्खेहिं कुसलेहिं दीवयं[4]। कडमेव गहाय णो कलिं[5], नो तीयं नो चेव दावरं[6] ॥२३॥

एवं लोगंमि ताइणा, बुइए[7] जे धम्मे अणुत्तरे। तं गिण्ह हियंति[8] उत्तमं, कडमिव सेसऽवहाय पंडिए ॥२४॥

'कुजए'[9] इत्यादि, कुत्सितो जयोऽस्येति कुजयो-द्यूतकारः, महतोऽपि द्यूत[10]जयस्य सद्भिर्निन्दितत्वादनर्थहेतुत्वाच्च कुत्सितत्वमिति, तमेव विशिनष्टि-अपराजितो दीव्यन् कुशलत्वादन्येन न जीयते अक्षैः[11] वा-पाशकैः दीव्यन्-क्रीडंस्तत्पातज्ञः कुशलो-निपुणः, यथा असौ द्यूतकारो[12]ऽक्षैः-पाशकैः कपर्दकैर्वा रममाणः 'कडमेव'त्ति चतुष्कमेव गृहीत्वा तल्लब्धजयत्वात् तेनैव दीव्यति, ततोऽसौ तल्लब्धजयः सन् 'कलिं' एककं नापि 'त्रैतं' त्रिकं च नापि 'द्वापरं' द्विकं गृह्णातीति ॥२३॥ दार्ष्टान्तिकमाह-'एवं'इत्यादि, यथा द्यूतकारः प्राप्तजयत्वात् सर्वोत्तमं दीव्यंश्चतुष्कमेव गृह्णाति एवमस्मिन् 'लोके' मनुष्यलोके तायिना त्रायिणा वा-सर्वज्ञेनोक्तो योऽयं 'धर्मः' क्षान्त्यादिलक्षणः श्रुतचारित्राख्यो वा नास्योत्तरः अधिकोऽस्तीत्यनुत्तरः तमेकान्तहितमितिकृत्वा सर्वोत्तमं च 'गृहाण' विस्रोतसिकारहितः

१ ×उष्णं च आ. च उष्ण×इ । २ °ष्णं×××वा आ. । ३ °सहत आ. इ. । ४ दिव्ववं आ. । ५ कली णो तेयं आ कल णो तेय इ. । ६ वावरं आ. । ७ पुइए यं आ. । ८ हितंति आ. इ. । ९ कुजये आ. इ. । १० यूते° आ. ।११ अक्षैः कपर्दकै र्वा पाशकैः आ. । १२ °कारोन्मुक्तैः कपर्दकै र्वा पाशकै र्वा आ. °कारो अक्षैःपाशकैःकर्पदकैर्वा इ. ।

स्वीकुरु, पुनरपि निगमनार्थं तमेव दृष्टान्तं दर्शयति–यथा कश्चिद् द्यूतकारः 'कृतं' कृतयुगं चतुष्कमित्यर्थः, 'शेषम्' एककादि 'अपहाय' त्यक्त्वा दीव्यन् गृह्णाति, एवं पण्डितोऽपि–साधुरपि शेषं–गृहस्थकुप्रावचनिकपार्श्वस्थादिभावमपहाय सम्पूर्णं महान्तं सर्वोत्तमं धर्मं गृह्णीयादिति भावः ॥२४॥ पुनरप्युपदेशान्तरमाह—

उत्तर मणुयाण आहिया, गामधम्मा(म्म)इइ[2] मे अणुस्सुयं ।
८ जंसी विरता समुट्ठिया[3], कासवस्स अणुधम्मचारिणो ॥२५॥

जे एय चरंति आहियं, नाएणं[4] महया महेसिणा । ते उट्ठिय ते समुट्ठिया, अन्नोन्नं सारंति धम्मओ ॥२६॥

'उत्तर' इत्यादि, उत्तराः–प्रधानाः दुर्जयत्वात्, केषाम् ?–उपदेशार्हत्वान्मनुष्याणाम् अन्यथा सर्वेषामेवेति, के ते ?–'ग्रामधर्माः' शब्दादिविषया मैथुनरूपा वेति, एवं ग्रामधर्मा उत्तरत्वेन सर्वज्ञैराख्याताः, मयैतदनु–पश्चाच्छ्रुतं, एतच्च सर्वमेव प्रागुक्तं यच्च वक्ष्यमाणं तन्नाभेयेनाऽऽदितीर्थकृता पुत्रानुद्दिश्याभिहितं सत् पाश्चात्यगणधराः सुधर्मस्वामिप्रभृतयः स्वशिष्येभ्यः प्रतिपादयन्ति अतो मयैतदनु-
१० श्रुतमित्यनवद्यं, यस्मिन्निति–कर्मणि ल्यब्लोपे पञ्चमी सप्तमी वेति यान् ग्रामधर्मानाश्रित्य ये विरताः, पंचम्यर्थे वा सप्तमी, येभ्यो वा विरताः सम्यक्संयमरूपेणोत्थिताः[6] समुत्थितास्ते 'काश्यपस्य' ऋषभस्वामिनो वर्धमानस्वामिनो वा सम्बन्धी यो धर्मस्तदनुचारिणः, तीर्थकरप्रणीतधर्मानुष्ठायिनो भवन्तीत्यर्थः ॥२५॥ किञ्च–'जे एंय[7]' इत्यादि, ये मनुष्या 'एनं' प्रागुक्तं धर्मं–ग्रामधर्मविरतिलक्षणं 'चरन्ति' कु-

१ द्यूतकरः आ. । २ इति आ. ति इ. । ३ °ट्ठिता आ. । ४ नातेणं आ. नायएण इ. । ५ वा इत्येवं आ. इ. । ६ त्थिताःxxxxते आ. । ७ जे ते आ. ।

र्वन्ति आख्यातं 'ज्ञातेन' ज्ञातपुत्रेण 'महये'ति महाविषयस्य ज्ञानस्यानन्यभूतत्वात् महान् तेन, तथाऽनुकूलप्रतिकूलोपसर्गसहिष्णुत्वात् 'महर्षिणा' श्रीमद्वर्धमानस्वामिना आख्यातं धर्मं ये चरन्ति ते एव संयमोत्थानेन-कुतीर्थिकपरिहारेणोत्थिताः तथा निह्नवादिपरिहारेण त एव सम्यक्¹-कुमार्गदेशनापरित्यागेन उत्थिताः समुत्थिता इति, नान्ये कुप्रावचनिका जमालिप्रभृतयश्चेति भावः, त एव च यथोक्तधर्मानुष्ठायिनः 'अन्योऽन्यं' परस्परं 'धर्मतो' धर्ममाश्रित्य धर्मतो वा भ्रश्यन्तं 'सारयन्ति' चोदयन्ति-पुनरपि सद्धर्मे प्रवर्तयन्तीति ॥२६॥ किञ्च—

मा पेह पुरा पणामए, अभिकंखे उवहिं² धुणित्तए। जे दूमण तेहिं ³णो णया, ते जाणंति समाहिमाहियं ॥२७॥
⁴णो काहिए होज्ज संजए, पासणिए ण य संपसारए। नच्चा धम्मं अणुत्तरं, कयकिरिए णयावि ⁵मामए ॥२८॥

'मा पेह' इत्यादि, दुर्गतिं संसारं वा प्रणामयन्ति-प्रह्वीकुर्वन्ति प्राणिनां प्रणामकाः-शब्दादयो विषयास्तान् 'पुरा' पूर्वं भुक्तान् 'मा प्रेक्षस्व' मा स्मर, तेषां स्मरणमपि यस्मान्महतेऽनर्थाय, अनागतांश्च नोदीक्षेत-नाऽऽकाङ्क्षेदिति, तथा 'अभिकाङ्क्षेत्' अभिलषेद् अनारतं चिन्तयेदनुरूपमनुष्ठानं कुर्यात्, किमर्थमिति दर्शयति-उपधीयते-ढौक्यते दुर्गतिं प्रत्यात्मा येनासावुपधिः-माया अष्टप्रकारं वा कर्म तद् 'हननाय' अपनयनायाभिकाङ्क्षेदिति सम्बन्धः, ⁶दुष्टधर्मं प्रत्युपनताः⁷ कुमार्गानुष्ठायिनस्तीर्थिकाः, यदिवा-'दूमण'त्ति दुष्टमनःकारिण उपतापकारिणो वा शब्दादयो विषयास्तेषु ये महासत्त्वाः 'न नता' न प्रह्वीभूताः तदाचारानुष्ठायिनो न भवन्ति 'ते' सन्मार्गानुष्ठायिनो

सा० १ सम्यक्त्वमार्गदेशनाऽपरि० प्र०। २ एहिं आ.। ३ नो नया आ.। ४ नो काहिते आ.। ५ मामते आ.। ६ तथा दुष्टं धर्मं आ. इ.। ७ °नताः आ. दुरुपनताः इ.।

'जानन्ति' विदन्ति 'समाधिं' रागद्वेषपरित्यागरूपं धर्मध्यानं च 'आहितम्' आत्मनि व्यवस्थितम्, आ–समन्ताद्धितं वा त एव जानन्ति नान्य इति भावः ॥२७॥ तथा 'णो काहिए' इत्यादि, 'संयतः' प्रव्रजितः कथया चरति काथिकः गोचरादौ न भवेत्, यदिवा–विरुद्धां पैशून्यापादनीं स्त्र्यादिकथां[1] वा न कुर्यात्, तथा 'प्रश्नेन' राजादिकिंवृत्तरूपेण दर्पणादिप्रश्ननिमित्तरूपेण वा चरतीति प्राश्निको न भवेत्, नापिच 'संप्रसारकः' देववृष्ट्यर्थकाण्डादि[2]सूचककथाविस्तारको भवेदिति, किं कृत्वेति दर्शयति–'ज्ञात्वा' अवबुद्ध्य नास्योत्तरो विद्यत इत्यनुत्तरस्तं श्रुतचारित्राख्यं धर्मं सम्यग्[3] अवगम्य, तस्य हि धर्मस्यैतदेव फलं यदुत–विकथानिमित्तपरिहारेण सम्यक्क्रियावान् स्यादिति, तद्दर्शयति–कृता–स्वभ्यस्ता क्रिया–संयमानुष्ठानरूपा येन स कृतक्रियस्तथाभूतश्च नचापि 'मामको' ममेदमहमस्य स्वामीत्येवं परिग्रहाग्रही भवेदिति ॥२८॥ किञ्च—

छन्नं च पसंस णो[4] करे, न य उक्कोस पगास माहणे। तेसिं सुविवेगमाहिए[5], पणया जेहिं सुजोसिअं[6] धुयं ॥२९॥

अणिहे सहिए सुसंवुडे, धम्मट्ठी उवहाणवीरिए। विहरेज्ज समाहिइंदिए[7], अत्तहिअं[8] खु दुहेण लब्भइ ॥३०॥

'छन्नं[9]' इत्यादि, 'छन्नं'ति माया तस्याः स्वाभिप्रायप्रच्छादनरूपत्वात् तां न कुर्यात्, चशब्द उत्तरापेक्षया समुच्चयार्थः, तथा प्रशस्यते–सर्वैरप्यविगानेनाद्रियत इति प्रशस्यो–लोभस्तं च न कुर्यात्, तथा–जात्यादिभिर्मदस्थानैर्लघुप्रकृतिं पुरुषमुत्कर्षयतीत्युकर्षको–मानस्तमपि न कुर्यादिति सम्बन्धः, तथाऽन्तर्व्यवस्थितोऽपि मुखदृष्टिभ्रूभङ्गविकारैः प्रकाशीभवतीति प्रकाशः–क्रोधस्तं च 'माहणे'त्ति

१ °विकथां। २ °ऽर्घकाण्डादि श्रा. °ऽर्घ्यकाण्डादि इ.। ३ सम्यगवगतस्य श्रा.। ४ नो इ.। ५ °हिते इ.। ६ °ज्झोसियं आ. °ज्झोसितं इ.। ७ °हिर्तिदिए इ.। ८ आयहियं श्रा. इ.। ९ छण्ण०।

साधुर्न कुर्यात्, 'तेषां' कषायाणां यैर्महात्मभिः 'विवेकः' परित्यागः 'आहितो' जनितस्त एव धर्मं प्रति प्रणता इति, यदिवा-तेषामेव सत्पुरुषाणां सुष्ठु विवेकः परिज्ञानरूप आहितः-प्रथितः प्रसिद्धिं गतः त एव च धर्मं प्रति प्रणताः 'यैः' महासत्त्वैः सुष्ठु 'जुष्टं' सेवितं धूयतेऽष्टप्रकारं कर्म तद्धूतं-संयमानुष्ठानं, यदिवा-यैः सदनुष्ठायिभिः 'सुजोसिअं'ति सुष्ठु क्षिप्तं धूननार्हत्वात् 'धूतं' कर्मेति ॥२९॥ अपि च-'अणिहे' इत्यादि, स्निह्यत इति स्निहः न स्निहः अस्निहः-सर्वत्र ममत्वरहित इत्यर्थः, यदिवा-परीषहोपसर्गैर्निहन्यते इति निहः न निहोऽनिहः-उपसर्गैरपराजित इत्यर्थः, पाठान्तरं वा 'अणहे'ति नास्याघमस्तीत्यनघो, निरवद्यानुष्ठायीत्यर्थः, सह हितेन वर्तत इति सहितः सहितो-युक्तो वा ज्ञानादिभिः, स्वहितः-आत्महितो वा सदनुष्ठानप्रवृत्तेः, तामेव दर्शयति-सुष्ठु 'संवृत' इन्द्रियनोइन्द्रियैर्विस्रोतसिकारहित इत्यर्थः, तथा धर्मः-श्रुतचारित्राख्यः तेनार्थः-प्रयोजनं स एव वाऽर्थः तस्यैव सद्भिरर्थ्यमाणत्वात् धर्मार्थः स यस्यास्तीति स धर्मार्थी तथा उपधानं-तपस्तत्र वीर्यवान् स एवम्भूतो 'विहरेत्' संयमानुष्ठानं कुर्यात् 'समाहितेन्द्रियः' संयतेन्द्रियः, कुत एवं ?-यत आत्महितं दुःखेनासुमता संसारे पर्यटता अकृतधर्मानुष्ठानेन 'लभ्यते' अवाप्यत इति, तथाहि "न पुनरिदमतिदुर्लभमगाधसंसारजलधिविभ्रष्टम् । मानुष्यं खद्योतकतडिल्लताविलसितप्रतिमम् ॥१॥" तथाहि-युगसमिलादिदृष्टान्तनीत्या मनुष्यभव एव तावत् दुर्लभः, तत्राप्यार्यक्षेत्रादिकं दुरापमिति, अत आत्महितं दुःखेनावाप्यत इति मन्तव्यम्, अपिच-"भूतेषु जङ्गमत्वं तस्मिन् पञ्चेन्द्रियत्वमुत्कृष्टम् । तस्मादपि मानुष्यं मानुष्येऽप्यार्यदेशश्च ॥१॥ देशे कुलं प्रधानं कुले प्रधाने च जातिरुत्कृष्टा । जातौ रूपसमृद्धी रूपे च बलं विशिष्टतमम् ॥२॥ भवति बले चायुष्कं प्रकृष्टमायुष्कतोऽपि विज्ञानम् । विज्ञाने सम्यक्त्वं सम्यक्त्वे शीलसंप्राप्तिः ॥३॥ एतत्पूर्वश्चायं समासतो मोक्षसाधनोपायः ।

१ क्षपितं आ. क्षिपितं इ । २ °श्रोत° आ. इ. । सा० ३ स तदर्थः प्र० । ४ ननुः आ. इ. । ५ तथा आ. । ६ °भाव आ. इ. । ७ °प्राप्तिरिति आ. इ. ।

तंत्र[1] च बहु सम्प्राप्तं भवद्भिरल्पं च संप्राप्यम् ॥४॥ तत्कुरुतोद्यममधुना मदुक्तमार्गे समाधिमाधाय। त्यक्त्वा सङ्गमनार्यं कार्यं सद्भिः सदा श्रेयः ॥५॥" इति ॥३०॥ एतच्च प्राणिभिर्न कदाचिदवाप्तपूर्वमित्येतद्दर्शयितुमाह—

ण[2] हि णूण पुरा अणुस्सुतं, अदुवा[3] तं तह णो समुट्ठियं।
मुणिणा सामाइआहितं[4], णाएणं[5] जगसव्वदंसिणा ॥३१॥

एवं मत्ता महंतरं, धम्ममिणं सहिया बहू जणा[6]।
गुरुणो छंदाणुवत्तगा, विरया तिन्न महोघमाहितं ॥३२॥ तिबेमि॥ (गाथाग्रम् १५२)

'णं[10] हि णूण' इत्यादि, यदेतत् 'मुनिना' जगतः सर्वभावदर्शिना ज्ञातपुत्रीयेण[11] सामायिकादि 'आहितम्' आख्यातं, तत् 'नूनं' 'निश्चितं 'न हि' नैव 'पुरा' पूर्वं जन्तुभिः 'अनुश्रुतं' श्रवणपथमायातं अथवा श्रुतमपि तत्सामायिकादि यथा अवस्थितं तथा नानुष्ठितं, पाठान्तरं वा 'अवितह'त्ति[12] अवितथं यथावन्नानुष्ठितमतः कारणादसुमतामात्महितं सुदुर्लभमिति ॥३१॥ पुनरप्युपदेशान्तरमधिकृत्याह—'एवं[13] मत्ता' इत्यादि, 'एवम्' उक्तरीत्या[14]ऽऽत्महितं सुदुर्लभं 'मत्वा' ज्ञात्वा धर्माणां च महदन्तरं धर्मविशेषं कर्मणो वा विवरं ज्ञात्वा, यदिवा 'महं-

१ अत्र आ. । २ न हि णूण आ. न हि नूण इ । सा. ३ पा° अदुवाऽवितहं णो अणुट्ठिअं । ४ समयाहि याहियं आ. सामाइताहियं इ. । ५ णायएण आ. नायएणं इ. । ६ जणो आ. । ७ छंदो° आ. इ. । ८ तिण्णा आ. तिन्ना इ. । ९ वितिउ उद्देसउ सम्मतो ॥छ॥ आ. द्वितीयस्य द्वितीयोद्देशकः ॥छ॥ इ. १० न हि नू° इ. । ११ °पुत्रेण आ. । १२ त्ति आ. इ. १३ एवमंताइत्या° आ. एवमत्या° इ. ।१४ °नीत्या° ।

तरं'ति मनुष्यार्यक्षेत्रादिकमवसरं सदनुष्ठानस्य ज्ञात्वा 'एनं' जैनं 'धर्मं' श्रुतचारित्रात्मकं, सह हितेन वर्तन्त इति सहिता–ज्ञानादियुक्ता बहवो जना लघुकर्माणः समाश्रिताः सन्तो 'गुरोः' आचार्यादेस्तीर्थङ्करस्य वा 'छन्दानुवर्त्तकाः' तदुक्तमार्गानुष्ठायिनो 'विरताः' पापेभ्यः कर्मभ्यः सन्तस्तीर्णा 'महौघम्' अपारं संसारसागरमेवमाख्यातं मया भवतामपरैश्च तीर्थकृद्भिरन्येषाम्, इतिशब्दः परिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥३२॥ वैतालीयस्य द्वितीयोद्देशकः समाप्तः[1] ॥२॥

卐 卐 卐 卐 卐

अथ वैतालीयाध्ययनस्य तृतीयोद्देशकः प्रारभ्यते ।

उक्तो द्वितीयोद्देशकः, साम्प्रतं तृतीयः समारभ्यते अस्य चायमभिसम्बन्धः–इहानन्तरोद्देशकान्ते विरता इत्युक्तं, तेषां च कदाचित्परीषहाः समुदीर्येरन्नतस्तत्सहनं विधेयमिति, उद्देशार्थाधिकारोऽपि निर्युक्तिकारेणाभिहितः यथाऽज्ञानोपचितस्य कर्मणोऽपचयो भवतीति, स च परीषहसहनादेवेत्यतः परीषहाः सोढव्या इत्यनेन संबन्धेनाऽऽयातस्यास्योद्देशकस्याऽऽदि सूत्रम्—

संवुडकम्मस्स भिक्खुणो, जं दुक्खं पुट्ठं अबोहिए। तं संजमओऽवचिज्जई[2], मरणं हेच्च वयंति पंडिया ॥१॥

जे विन्नवणाहिऽज्झोसिया[3], संतिन्नेहिं समं वियाहिया। तम्हा उड्ढंति पासहा[4], अदक्खु कामाइ रोगवं ॥२॥

१ परिसमाप्तः ॥छा॥ आ. । २ °ज्जती आ. । ३ °हिज्झो° इ. आ. । सा० ४ उड्ढ तिरियं अहे तहा इति पा° ।

'संवुडकम्मस्स' इत्यादि, संवृतानि–निरुद्धानि कर्माणि–अनुष्ठानानि सम्यगुपयोगरूपाणि वा मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगरूपाणि वा यस्य 'भिक्षोः' साधोः स तथा तस्य यत् 'दुःखम्' असद्वेद्यं तदुपादानभूतं वाऽष्टप्रकारं कर्म 'स्पृष्ट' मिति बद्धस्पृष्टनिकाचितमित्यर्थः, तं[1]च्चात्र 'अबोधिना' अज्ञानेनोपचितं सत् 'संयमतो' मौनीन्द्रोक्तात् सप्तदशरूपादनुष्ठानाद् 'अपचीयते' प्रतिक्षणं क्षयमुपयाति, एतदुक्तं भवति–यथा तं[2]टाकोदरसंस्थितमुदकं निरुद्धापरप्रवेशद्वारं सदादित्यकरसम्पर्कात् प्रत्यहमपचीयते, एवं संवृताश्रवद्वारस्य
९ भिक्षोरिन्द्रिययोगकषायं प्रति संलीनतया संवृतात्मनः सं[3]तः संयमानुष्ठानेन चानेकभवाज्ञानोपचितं कर्म क्षीयते, ये च संवृतात्मानः सदनुष्ठायिनश्च ते 'हित्वा' त्यक्त्वा 'मरणं' मरणस्वभावमुपलक्षणत्वात् जातिजरामरणशोकादिकं त्यक्त्वा मोक्षं व्रजन्ति 'पण्डिताः' सदसद्विवेकिनः, यदिवा–'पण्डिताः' सर्वज्ञा एवं वदन्ति यत् प्रागुक्तमिति ॥१॥ येऽपिच तेनैव भवेन न[4] मोक्षमाप्नुवन्ति तानधिकृत्याह–'जेविन्नवणा'इत्यादि, 'ये' महासत्त्वाः कामार्थिभिर्विज्ञाप्यन्ते यास्तदर्थिन्यो वा कामिनं विज्ञापयन्ति ता विज्ञापनाः–स्त्रियस्ताभिः 'अजुष्टा' असेविताः क्षं[5]यं वा–अवसायलक्षणमतीतास्ते 'सन्तीर्णाः' मुक्तैः समं व्याख्याताः, अतीर्णा अपि सन्तो यतस्ते निष्किञ्चनतया शब्दादिषु
१० विषयेष्वप्रतिबद्धाः संसारोदन्वतस्तटो[6]पान्तवर्तिनो भवन्ति, तस्माद् 'ऊर्ध्वमिति' मोक्षं योषित्परित्यागाद्वोर्ध्वं यद्भवति तत्पश्यत यूयं । ये च कामान् 'रोगवं[7]दू' व्याधिकल्पान् 'अद्राक्षुः' दृष्टवन्तस्ते संतीर्णसमा व्याख्याताः, तथा चोक्तम्–"पुं[8]प्फफलाणं च रसं सुरां[9]इ मंसस्स महिलियाणं च । जाणंता जे विरया ते दुक्करकारए वंदे ॥१॥" तृतीयपादस्य पाठान्तरं वा 'उड्ढं तिरियं अहे तहा' ऊर्ध्वमिति–सौध-

१ तच्चाबोधिना आ. इ. । २ तडा° आ. इ. । ३ सतः सत् सं° आ. सत्सं । ४ ×मो° आ. । सा० ५ झोषोऽवसानम् । ६ स्तटान्तर्व° प्र० । ७ °वद् आ. इ. । सा० ८ पुष्पफलानां च रसं सुराया मांसस्य महेलानां च । जानन्तो ये विरतास्तान् दुष्करकारकान् वन्दे ॥१॥ ९ सुराए आ. इ. ।

र्मादिषु, तिरियमिति-तिर्यक्लोके, अध इति-भवनपत्यादौ, ये कामास्तान् रोगवदद्राक्षुर्ये ते तीर्णकल्पा व्याख्याता इति ॥२॥ पुन-रप्युपदेशान्तरमधिकृत्याह—

अग्गं वणिएहिं आहियं, धारंती राईणिया इहं। एवं परमा महव्वया, अक्खाया उ सराइभोयणा ॥३॥

जे इह सायाणुगा नरा, अज्झोववन्ना कामेहिं[1] मुच्छिया।

किवणेण समं पगब्भिया, न वि जाणंति समाहिमाहितं ॥४॥

'अग्गं' इत्यादि, 'अग्रं' वर्यं प्रधानं रत्नवस्त्राभरणादिकं तद्यथा वणिग्भिर्देशान्तराद् 'आहितं' ढौकितं राजानस्तत्कल्पा ईश्वरादयः 'इह' अस्मिन्मनुष्यलोके 'धारयन्ति' बिभ्रति, एवमेतान्यपि महाव्रतानि रत्नकल्पानि आचार्यैः 'आख्यातानि' प्रतिपादितानि नियोजितानि 'सरात्रिभोजनानि' रात्रिभोजनविरमणषष्ठानि साधवो बिभ्रति, तुशब्दः पूर्वरत्नेभ्यो महाव्रतरत्नानां विशेषापादक इति, इदमुक्तं भवति-यथा प्रधानरत्नानां राजान एव भाजनमेवं महाव्रतरत्नानामपि महासत्त्वा एव साधवो भाजनं नान्ये इति ॥३॥ किञ्च-'जे इह' इत्यादि, ये नरा लघुप्रकृतयः 'इह' अस्मिन् मनुष्यलोके सातं-सुखमनुगच्छन्तीति सातानुगाः-सुखशीला ऐहिकामुष्मिकापायभीरवः समृद्धिरससातागौरवेषु 'अध्युपपन्ना' गृद्धाः तथा 'कामेषु' इच्छामदनरूपेषु 'मूर्च्छिता' कामोत्कटतृष्णाः कृपणो-दीनो वराकः[2] इन्द्रियैः पराजितस्तेन समाः तद्वत्कामासेवने 'प्रगल्भिता' धृष्टतां गताः, यदिवा-किमनेन स्तोकेन दोषेणासम्यक्प्रत्युपेक्षणादिरूपेणास्मत्संयमस्य

१ °कामेसु इ. । २ वराकः आ. ।

विराधनं भविष्यत्येवं प्रमादवन्तः कर्तव्येष्ववसीदन्तः समस्तमपि संयमं पटवन्मणिकुट्टिमवद्वा मलिनीकुर्वन्ति, एवम्भूताश्च ते 'समाधिं' धर्मध्यानादिकम् 'आख्यातं' कथितमपि न जानन्तीति ॥४॥ पुनरप्युपदेशान्तरमधिकृत्याह—

[1]वाहेण जहा व [2]विच्छए, अबले होइ गवं [3]पचोइए। से अंतसो अप्पथामए, [4]नाइवहइ अबले विसीयति ॥५॥

एवं कामेसणं [5]विऊ, अज्ज सुए पयहेज्ज संथवं। कामी कामे ण कामए, लद्धे [6]वावि अलद्ध कण्हुई ॥६॥

'वाहेण' इत्यादि, 'व्याधेन' लुब्धकेन 'जहा व'त्ति यथा 'गव'न्ति मृगादिपशुर्विविधम्—अनेकप्रकारेण कूटपाशादिना क्षतः—परवशीकृतः श्रमं वा ग्राहितः [7]प्रणोदितोऽप्यर्बलो भवति, जातश्रमत्वात् गन्तुमसमर्थः, यदिवा—वाहयतीति वाहः—शाकटिकस्तेन यथावद्वहन् गौर्विविधं प्रतोदादिना क्षतः—प्रचोदितोऽप्यबलो—विषमपथादौ गन्तुमसमर्थो भवति, 'स चान्तशः' मरणान्तमपि यावदल्पसामर्थ्यो नातीव वोढुं शक्नोति, एवम्भूतश्च 'अबलो' भारं वोढुमसमर्थः तत्रैव पङ्कादौ विषीद[9]तीति ॥५॥ दार्ष्टान्तिकमाह—'एवं' इत्यादि, 'एवम्' अनन्तरोक्तया नीत्या कामानां—शब्दादीनां विषयाणां या गवे[10]षणा—प्रार्थना तस्यां कर्त्तव्यायां 'विद्वान्' निपुणः कामप्रार्थनासक्तः शब्दादिपङ्के मग्नः स चैवम्भूतोऽद्य श्वो वा 'संस्तवं' परिचयं कामसम्बन्धं प्रजह्यात् किलेति, एवमध्यवसाय्येव सर्वदाऽवतिष्ठते, नच तान् कामान् [11]अबलो बलीवर्दवत् वि[12]षमं मार्गं त्यक्तुमलं, किञ्च—न [13]चैहिकामुष्मिकापायदर्शितया कामी भूत्वोपनतानपि 'कामान्' श-

१ संवाहेण आ.। २ विक्कए इ.। ३ °चोचिते आ.। ४ णाइ वभए इ. नाति वहति आ.। ५ विद्दु आ. इ.। ६ आवि आ.। ७ प्रचो° आ.। सा. ८ °प्यचालो प्र०। ९ °दति× आ.। सा. १० याऽन्वेषणा प्र०। याऽन्वेषणा आ.। सा. ११ बालो °नवल° प्र०। १२ विषम आ.। सा. १३ नैवै° प्र०।

ब्दादिविषयान् वैरस्वामिं[1]जम्बूनामादिवद्वा 'कामयेत' अभिलषे[2]दिति, तथा क्षुल्लककुमारवत् कुतश्चिन्निमित्तात् 'सुट्ठुगाइय'मित्यादिना प्रतिबुद्धो 'लब्धानपि' प्राप्तानपि कामान् अलब्धसमान् मन्यमानो महासत्त्वतया तन्निस्पृहो भवेदिति ॥६॥ किमिति कामपरित्यागो विधेय इत्याशङ्क्याह—

मा पच्छ अ[3]साधुता भ[4]वे, अच्चेही अणुसास अप्पगं। अहियं च असाहु सोयं[5]ती, से थ[6]णती परिदेवती बहुं ॥
इह जीवियमेव पासहा, तरुँ[7]ण एवा(णे वा)स[8]सयस्स तुट्टती। इत्तरवां[9]से य बुज्झह, गिद्धनरा कामेसु मुच्छिया ॥

'मा पच्छ' इत्यादि, मा पश्चात्–मरणकाले भवान्तरे वा कामानुषङ्गाद् 'असाधुता' कुगतिगमनादिरूपा 'भवेत्' प्राप्नुयादिति, अतो विषयासङ्गादात्मानम् 'अत्येहि' त्याजय, तथा आत्मानं च 'अनुशाधि' आत्मनोऽनुशास्तिं कुरु, यथा हे जीव! यो हि 'असाधुः' असाधुकर्मकारी हिंसानृतस्तेयादौ प्रवृत्तः सं[10]न् दुर्गतौ पतितः अधिकम्–अत्यर्थमेवं शो[11]चति, स च परमाधार्मिकैः क[12]दर्थ्यमानास्तिर्यक्षु वा क्षु[13]धादिवेदनाग्रस्तोऽत्यर्थं 'स्तनति' सशब्दं निःश्वसिति, तथा 'परिदेवते' विलपत्याक्रन्दति सुबह्विति–"हा मातर्म्रियत इति त्राता नैवास्ति साम्प्रतं कश्चित्। किं शरणं मे स्यादिह दुष्कृतचरितस्य पापस्य ? ॥१॥" इत्येवमादीनि दुःखान्यसाधुकारिणः प्राप्नुवन्तीत्यतो विषयानुषङ्गो न विधेय इत्येवमात्मनोऽनुशासनं कुर्विति सम्बन्धनीयं ॥७॥ किञ्च–'इह जीवियमेव' इत्यादि, 'इह' अस्मिन् संसारे आस्तां तावदन्यज्जीवितमेव सकलसुखास्पदमनित्यताऽऽघ्रातं आवीचिमरणेन प्रतिक्षणं विशरारुस्वभावं, तथा–सर्वायुःक्षय एव वा 'तरुण एव' युवैव वर्ष-

१ °मिवद्जम्बु° आ.। २ °लषयेदिति आ। ३ असाहुया आ. इ.। ४ हवे आ.। ५ °तनी आ.। ६ पणती इ.। सा. ७ दुब्वल वा० चू०। ८ ससयाउ आ.। ९ °वासव। १० स। ११ शाचते। १२ विक°। १३ क्षुदादि° आ. इ.।

शतायुरप्युपक्रमतोऽध्यवसाननिमित्तादिरूपादायुषः 'त्रुट्यति' प्रच्यवते, यदिवा–साम्प्रतं सुवह्वप्यायुर्वर्षशतं तच्च तस्य तदन्ते त्रुट्यति, तच्च सागरोपमापेक्षया कतिपयनिमेषप्रायत्वात् इत्वरवासकल्पं वर्तते–स्तोकनिवासकल्पमित्येवं बुध्यध्वं यूयं, तथैवम्भूतेऽप्यायुषि 'नराः' पुरुषा लघुप्रकृतयः 'कामेषु' शब्दादिषु विषयेषु 'गृद्धा' अध्युपपन्ना मूर्च्छिताः तत्रैवाऽऽसक्तचेतसो नरकादियातनास्थानमाप्नुवन्तीति शेषः ॥८॥ अपिच—

जे इह आरंभनिस्सिया, आ[1]तदंडा(ड)एगंतलूसगा। गंता ते पावलोग[2]यं, चिररायं आसुरियं दिसं ॥९॥
[3]ण य संखयमाहु जीवितं, तहवि य बाल[4]जणो पगब्भई[5]। पच्चुप्पन्नेण कारियं, [6]को दट्ठुं परलोयमागँते ?॥

'जे इह' इत्यादि, ये केचन महामोहाकुलितचेतसः 'इह' अस्मिन्मनुष्यलोके 'आरम्भे' हिंसादिके सावद्यानुष्ठानरूपे निश्चयेन श्रिताः–संबद्धा अध्युपपन्नास्ते आत्मानं दण्डयन्तीत्यात्मदण्डकाः, तथैकान्तेनैव जन्तूनां लूषकाः–हिंसकाः सदनुष्ठानस्य वा ध्वंसकाः, ते एवम्भूता 'गन्तारो' यास्यन्ति 'पापं लोकं' पापकर्मकारिणां यो लोको नरकादिः 'चिररात्रम्' इति प्रभूतं कालं तन्निवासिनो भवन्ति, तथा बालतपश्चरणादिना यद्यपि तथाविधदेवत्वापत्तिस्तथाऽप्यसुराणामियमासुरी तां दिशं यान्ति, अपरप्रेष्याः किल्बिषिका देवाधमा भव[8]न्तीत्यर्थः ॥९॥ किञ्च–'ण य संखय' इत्यादि, 'न च' नैव त्रुटितं जीवितमायुः 'संस्कर्त्तुं[9]' संधातुं शक्यते, एवमाहुः सर्वज्ञाः, तथाहि–"दंडं[10]कलियं करिन्ता वच्चंति हु राइओ य दिवसा य। आउं संवेल्लंता गया य ण पुणो नि[11]यत्तंति ॥१॥" 'तथाऽपि' एवमपि व्यवस्थिते

१ आयदंड खा. इ.। २ °तं आ.। ३ न त खा. न य इ.। ४ °जणे आ. इ.। ५ °ती आ.। ६ के आ. इ.। ७ °गए इ.। ८ °न्तीति। ९ त्रुटयुज्जी° आ.। सा. १० दण्डकलितं कुर्वत्त्यो व्रजन्ति रात्रयश्च दिवसाश्च। आयुः संवेलयन्त्यः गताश्च पुनर्न निवर्त्तन्ते ॥१॥ ११ णिय°।

जीवानामायुषि 'वालजनः' अज्ञो लोको निर्विवेकतया असदनुष्ठाने प्रवृत्तिं कुर्वन् 'प्रगल्भते' धृष्टतां याति, असदनुष्ठानेनापि न लज्जत इत्यर्थः, स चाज्ञो जनः पापानि कर्माणि कुर्वन् परेण चोदितो धृष्टतया अलीकपाण्डित्याभिमानेनेदमुत्तरमाह–'प्रत्युत्पन्नेन' वर्तमानकालभाविना परमार्थसता अतीतनागतयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेनाविद्यमानत्वात् 'कार्यं' प्रयोजनं, प्रेक्षापूर्वकारिभिस्तदेव प्रयोजनसाधकत्वादादीयते, एवं च सतीहलोक एव विद्यते न परलोक[1] इति दर्शयति–कः[2] परलोकं दृष्ट्वेहायातः, तथा चोचुः–"पिब खाद च साधु शोभने !, यदतीतं वरगात्रि ! तन्न ते । नहि भीरु ! गतं निवर्तते, समुदयमात्रमिदं कलेवरम् ॥१॥" तथा–"एतावानेव पुरुषो, यावानिन्द्रियगोचरः । भद्रे ! वृकपदं[3] पश्य, यद्वदन्त्यबहुश्रुताः[4] ॥२॥" इति ॥१०॥ एवमैहिकसुखाभिलाषिणा परलोकं निह्नुवानेन नास्तिकेन अभिहिते सत्युत्तरप्रदानायाह—

अदक्खुव[5] दक्खुवाहियं,(तं)सद्दहसु अदक्खुदंसणा[6] ! । हंदि हु सुनिरुद्धदंसणे, मोहणिज्जेण[7] कडेण कम्मुणा ॥ ११ ॥

दुक्खी मोहे[8] पुणो पुणो, निव्विंदेज्ज सिलोगपूयणं । एवं सहितेऽहिपासए, आयतुलं पाणेहिं संजए ॥१२॥

'अदक्खुव' इत्यादि, पश्यतीति पश्यो न पश्योऽपश्यः–अन्धस्तेन तुल्यः कार्याकार्याविवेचित्वादन्धवत्तस्याऽऽमन्त्रणं हेऽपश्यवद्[9]–अन्धसदृश ! प्रत्यक्षस्यैवैकस्याभ्युपगमेन कार्याकार्यानभिज्ञ पश्येन–सर्वज्ञेन व्याहृतम्–उक्तं सर्वज्ञागमं 'श्रद्धस्व' प्रमाणीकुरु,प्रत्यक्षस्यैवैकस्याभ्युपगमेन समस्तव्यवहारविलोपेन हन्त हतोऽसि, पितृनिबन्धनस्यापि व्यवहारस्यासिद्धेरिति, तथा अपश्यकस्य–असर्वज्ञस्याभ्युपगतं

१ परालोक आ. । सा. २ कः परलोकं दर्शयति, कः पर° प्र० । ३ वृष° आ. । सा. ४ वदन्ति पा० । ५ दक्खुदव इ. अदक्खुदव आ. । ६ °क्खु य दं° आ. । ७ °एण आ. । ८ मोहं इ. । ९ °दपश्यवत्त° आ. ।

दर्शनं येनासावपश्यकदर्शनस्तस्याऽऽमन्त्रणं हेऽपश्यकदर्शन ! स्वतोऽर्वाग्दर्शी भवांस्तथाविधदर्शनप्रमाणश्च सन् कार्याकार्यविवेचितयाऽन्ध-
वदभविष्यत् यदि सर्वज्ञाभ्युपगमं नाकरिष्यत्, यदिवा अदक्षो वा अनिपुणो वा दक्षो वा-निपुणो वा यादृशस्तादृशो वाऽचक्षुर्दर्शनमस्या-
सावचक्षुर्दर्शनः-केवलदर्शनः-सर्वज्ञस्तस्माद्यदवाप्यते हितं तत् श्रद्धस्व, इदमुक्तं भवति-अनिपुणेन निपुणेन वा सर्वज्ञदर्शनोक्तं हितं श्रद्धा-
तव्यं, यदिवा-हे 'अदृष्ट' हे अर्वाग्दर्शन ! द्रष्ट्रा-अतीतानागतव्यवहितसूक्ष्मपदार्थदर्शिना यद्व्याहृतम्-अभिहितमागमे तत् श्रद्धस्व, हे
॥ ९ ॥ अदृष्टदर्शन अदक्षदर्शन ! इति वा-असर्वज्ञोक्तशासनानुयायिन् ! तमात्मीयमाग्रहं परित्यज्य सर्वज्ञोक्ते मार्गे श्रद्धानं कुर्विति तात्पर्यार्थः,
किमिति सर्वज्ञोक्ते मार्गे श्रद्धानमसुमान्न करोति ? येनैवमुपदिश्यते, तन्निमित्तमाह-'[1]हंदी' त्येवं गृहाण, हुशब्दो वाक्यालङ्कारे सुष्ठु-
अतिशयेन निरुद्धम्-आवृतं दर्शनं-सम्यग् अवबोधरूपं यस्य स तथा, केनेत्याह-मोहयतीति मोहनीयं-मिथ्यादर्शनादि ज्ञानावरणीया-
दिकं वा तेन स्वकृतेन कर्मणा निरुद्धदर्शनः प्राणी सर्वज्ञोक्तं मार्गं न श्रद्धत्ते अतस्तन्मार्गश्रद्धानं प्रति चोद्यते इति ॥११॥ पुनरप्युपदेशान्त-
रमाह-'दुक्खी'इत्यादि, दुःखम्-असातवेदनीयमुदयप्राप्तं तत्कारणं वा दुःखयतीति दुःखं तदस्यास्तीति दुःखी सन् प्राणी पौनः[2]पुंन्येन
॥ १० ॥ [3]मोहं याति-सदसद्विवेकविकलो भवति, इदमुक्त भवति-असातोदयात् दुःखमनुभवन्नार्तो [4]मूढस्तत्तत्करोति येन पुनः पुनः दुःखी संसा-
रसागरमनन्तमभ्येति, तदेवम्भूतं मोहं परित्यज्य सम्यगुत्थानेनोत्थाय '[5]निर्विद्येत' जुगुप्सयेत् परिहरेदात्मश्लाघां स्तुतिरूपां तथा
'पूजनं' वस्त्रादिलाभरूपं परिहरेत्, 'एवम्' अनन्तरोक्तया नीत्या प्रवर्त्तमानः सह हितेन वर्तत इति सहितो ज्ञानादियुक्तो वा संयतः
प्रव्रजितोऽपरप्राणिभिः सुखार्थिभिः 'आत्मतुलां' आत्मतुल्यतां दुःखाप्रियत्वसुखप्रियत्वरूपामधिकं [6]पश्येत्, आत्मतुल्यान् सर्वानपि

१ हंदीत्यादि हंदी आ. । २ °पुण्येन आ. इ. । ३ मोहे आ. इ. । ४ मूढस्तत्क आ. मूढ सन् तत्क° इ. । ५ निर्विद्यात आ. । ६ पश्येदभिपश्येत् आ. ।

प्राणिनः पालयेदिति ॥१२॥ किञ्च—

गारंपिअ आवसे नरे[1], अणुपुव्वं पाणेहिं संजए। समता[2] सव्वत्थ सुव्वते, देवाणं गच्छे सलोगयं[3] ॥१३॥

सोच्चा भगवाणुसासणं, सच्चे तत्थ करे[4]ज्जुवक्कमं। सव्वत्थ विणीयमच्छरे, उञ्छं भिक्खु विसुद्धमाहरे ॥१४॥

'गारंपिअ' इत्यादि, 'अगारमपि' गृहमप्यावसन्–गृहवासमपि कुर्वन् 'नरो' मनुष्यैः 'आनुपूर्व'मिति आनुपूर्व्या–श्रवणधर्मप्रतिपत्त्यादिलक्षणया प्राणिषु यथाशक्त्या सम्यक् यतः संयतः तदुपमर्दान्निवृत्तः, किमिति ? यतः 'समता' समभावः आत्मपरतुल्यता 'सर्वत्र' यतौ गृहस्थे च यदिवैकेन्द्रियादौ 'श्रूयते' अभिधीयते आर्हते प्रवचने, तां च कुर्वन् स गृहस्थोऽपि सुव्रतः सन् 'देवानां' पुरन्दरादीनां 'लोकं' स्थानं गच्छेत्, किं पुनर्यो महासत्त्वतया पञ्चमहाव्रतधारी यतिरिति ॥१३॥ अपिच–'सोच्चा'इत्यादि, ज्ञानैश्वर्यादिगुणसमन्वितस्य भगवतः–सर्वज्ञस्य शासनम्–आज्ञामागमं वा 'श्रुत्वा' अधिगम्य 'तत्र' तस्मिन्नागमे तदुक्ते वा संयमे सद्भ्यो हिते सत्ये लघुकर्मा तदुपक्रमं–तत्प्राप्त्युपायं कुर्यात्, किम्भूतः ?–सर्वत्रापनीतो मत्सरो येन स तथा सोऽरक्तद्विष्टः क्षेत्रर्व(वा)स्तूपधिशरीरनिष्पिपासः, तथा 'उंछं'ति भैक्ष्यं विशुद्धं–द्विचत्वारिंशद्दोषरहितमाहारं गृह्णीयादभ्यवहरेद्वेति ॥१४॥ किञ्च—

सव्वं नच्चा अहिट्ठए, धम्मट्ठी उवहाणवीरिए। गुत्ते जुत्ते सदाजए, आयपरे परमायतट्ठिते ॥१५॥

---

१ णरे आ. । २ समया आ. इ. । ३ °गया इ. °गतं आ. । ४ °हु° आ. इ. । ५ °ष्योनुपूर्वं° आ. °ष्यानुपूर्वं° इ. । सा. ६ श्रमण° प्र० । ७ °त्राप्यनींतो आ. । सा. ८ °वस्त्रोप° प्र० । ९ °माहरेत् आ. इ. ।

[1]वित्तं पसवो य [2]नाइओ, तं बाले सरणं ति [3]मन्नइ। एते मम तेसुवी अहं, नो ताणं सरणं [4]न विज्जई ॥१६॥

'सव्वं नच्चा' इत्यादि, 'सर्वम्' एतद्धेयमुपादेयं च ज्ञात्वा सर्वज्ञोक्तं मार्गं सर्वसंवररूपम् 'अधितिष्ठेत्' आश्रयेत्, धर्मेणार्थो धर्म एव वाऽर्थः परमार्थेनान्यस्यानर्थरूपत्वात् धर्मार्थः स विद्यते यस्यासौ धर्मार्थी–धर्मप्रयोजनवान्, उपधानं–तपस्तत्र वीर्यं यस्य स तथा अनिगूहितबलवीर्य इत्यर्थः, तथा मनोवाक्कायगुप्तः, सुप्रणिहितयोग इत्यर्थः, तथा युक्तो ज्ञानादिभिः 'सदा' सर्वकालं यतेताऽऽत्मनि परस्मिंश्च। किंविशिष्टः सन्? अत आह–परम–उत्कृष्ट आयतो–दीर्घः सर्वकालभवनात् मोक्षस्तेनार्थिकः–तदभिलाषी पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टो भवेदिति ॥१५॥ पुनरप्युपदेशान्तरमाह–'वित्तं' इत्यादि, 'वित्तं' धनधान्यहिरण्यादि 'पशवः' करितुरगगोमहिष्यादयो 'ज्ञातयः' स्वजना मातापितृपुत्रकलत्रादयः तदेतद्वित्तादिकं 'बालः' अज्ञः शरणं मन्यते, तदेव दर्शयति–ममैते वित्तपशुज्ञातयः परिभोगे उपयोक्ष्यन्ते, तेषु चार्जनपालनसंरक्षणादिना शेषोपद्रवनिराकरणद्वारेणाहं भवामीत्येवं बालो मन्यते, न पुनर्जानीते यदर्थं धनमिच्छन्ति तच्छरीरमशाश्वतमिति, अपिच–"रिद्धी[5] सहावतर[6]ला रोगजराभंगुरं हयसरीरं। दोण्हंपि गमणसीलाण किच्चिरं होज्ज संबंधो? ॥१॥" तथा "मातापितृसहस्राणि, पुत्रदारशतानि च। प्रतिजन्मनि वर्तन्ते, कस्य माता पिताऽपि वा? ॥१॥" एतदेवाह–'नो' नैव वित्तादिकं संसारे कथमपि त्राणं भवति नरकादौ पततो, नापि रागादिनोपद्रुतस्य क्वचिच्छरणं विद्यत इति ॥१६॥ एतदेवाह—

अब्भागमितंमि वा दुहे, अहवा[7] उक्कमिते भवंति[8]ए। ए[9]गस्स गती य आगती, विदुमंता सरणं ण मन्नई ॥१७॥

१ चित्तं इ. । २ णायतो आ. णायए इ. । ३ °ण्णती °ण्णई । ४ ति । सा० ५ ऋद्धिः स्वभावतरला रोगजराभङ्गुरं हतकं शरीरम्। द्वयोरपि गमनशीलयोः कियच्चिरं भवेत्संबन्धः? ॥१॥ ६ °चवला आ । ७ °वोवक्कमिए आ. । ८ °तए आ. इ. । ९ °कस्स आ. ।

सव्वे सयकम्मकप्पिया, अवियत्तेण[1] दुहेण पाणिणो। हिंडंति भयाउला सढा जाइ[2]जरामरणेहिऽभिद्दुता[3] ॥१८॥

'अब्भागमि' इत्यादि, पूर्वोपात्ताऽसात[4]वेदनीयोदयेनाभ्यागते दुःखे[5] सत्येकाक्येव दुःखमनुभवति, न ज्ञातिवर्गेण वित्तेन वा किञ्चित्क्रियते, तथाच–"सयणस्सवि[6] मज्झगओ रोगाभिहतो किलिस्सइ इहेगो। सयणोविय से रोगं, न विरिंचइ नेव नासेइ ॥१॥" अथवा उपक्रमकारणैरुपक्रान्ते स्वायुषि स्थितिक्षयेण वा भवान्तरे भवान्तिके[7] वा–मरणे समुपस्थिते सति एकस्यैवासुमतो गतिरागतिश्च भवति, 'विद्वान्' विवेकी यथावस्थितसंसारस्वभावस्य वेत्ता ईषदपि तावत् शरणं न मन्यते, कुतः? सर्वात्मना त्राणमिति, तथाहि–"एकस्य[8] जन्ममरणे गतयश्च शुभाशुभा भवावर्ते। तस्मादाकालिकहितमेकेनैवात्मनः कार्यम् ॥१॥ एको करेइ कम्मं फलमवि तस्सिक्कओ समणुहवइ। एको जायइ मरइ य परलोयं एक्कओ जाइ ॥२॥" ॥१७॥ अन्यच्च–'सव्वे सय'इत्यादि, सर्वेऽपि संसारोदरविवरवर्तिनः प्राणिनः संसारे पर्यटन्तः स्वकृतेन ज्ञानावरणीयादिना कर्मणा कल्पिताः–सूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तकैकेन्द्रियादिभेदेन व्यवस्थिताः[9], तथा तेनैव कर्मणैकेन्द्रियाद्यव[10]स्थायाम् 'अव्यक्तेन' अपरिस्फुटेन शिरःशूलाद्यलक्षितस्वभावेनोपलक्षणार्थत्वात् प्रव्यक्तेन च 'दुःखेन' असातावेदनीयस्वभावेन समन्विताः प्राणिनः पर्यटन्ति–अरघट्टघटीयन्त्रन्यायेन तास्वेव यौनिषु भयाकुलाः शठकर्मकारित्वात् शठा भ्रमन्ति जातिजरामरणैरभिद्रुता–गर्भाधानादिभिर्दुःखैः[11] पीडिता इति ॥१८॥ किञ्च—

---

१ अव्वत्तेण आ. । २ जाति आ. इ. । ३ हियभिदुया इ. × हभिदुता आ. । ४ साता° आ. । ५ तद्दुःख° आ. । सा. ६ स्वजनस्यापि मध्यगतो रोगाभिहतः क्लिश्यति इहैकः। स्वजनोऽपि च तस्य रोगं न विरेचयति (ह्रसयति) नैव नाशयति ॥१॥ ७ °न्तके आ. । सा. ८ एकः करोति कर्म फलमपि तस्यैककः समनुभवति। एको जायते म्रियते च परलोकमेक्को याति ॥१॥ ९ °स्थापिताः आ. इ. । १० °न्द्रियाव° आ. । ११ दुप्पीडिता इ. ।

इणमेव खणं वियाणिया[1], णो सुलभं बोहिं च आहितं। एवं सहिएऽहिपासए[2], आह जिणे इणमेव सेसगा[3] ॥

[4]अभविंसु पुरावि भिक्खुवो, आएसावि भवंति सुव्वता। एयाइं गुणाइं आहु[5] ते, कासवस्स अणुधम्मचारिणो ॥

‘इणमेव[6]’ इत्यादि, इदमः प्रत्यक्षासन्नवाचित्वात् इमं–द्रव्यक्षेत्रकालभावलक्षणं ‘क्षणम्’ अवसरं ज्ञात्वा तदुचितं विधेयं, तथाहि– द्रव्यं जङ्गमत्वपञ्चेन्द्रियत्वसुकुलोत्पत्तिमानुष्यलक्षणं क्षेत्रमप्यार्यदेशार्धषड्विंशतिजनपदलक्षणं कालोऽप्यवसर्पिणीचतुर्थारका[7]दिः धर्मप्रतिपत्तियोग्यलक्षणः भावश्च धर्मश्रवणतच्छ्रद्धानचारित्रावरणकर्मक्षयोपशमाहितविरतिप्रतिपत्त्युत्साहलक्षणः, तदेवंविधं क्षणम्–अवसरं परिज्ञाय तथा ‘बोधिं च’ सम्यग्दर्शनावाप्तिलक्षणां नो सुलभामिति, एवमाख्यात[8]मवगम्य तदवाप्तौ तदनुरूपमेव कुर्यादिति शेषः, अकृतधर्माणां च पुनर्दुर्लभा बोधिः, तथाहि[9]–“लद्धेल्लियं[10] च बोहिं अकरेंतो अणागयं च पत्थेंतो। अन्नं[11] दाइं बोहिं लब्भिसि कयरेण मोल्लेणं ? ॥१॥” तदेवमुत्कृष्टतोऽपार्द्ध[12]पुद्गलपरावर्तप्रमाणकालेन पुनः सुदुर्लभा बोधिरित्येवं सहितो ज्ञानादिभिरधिपश्येत्–बोधिसुदुर्लभत्वं पर्यालोचयेत्, पाठान्तरं वा ‘अहियासए’त्ति परीषहानुदीर्णान् सम्यगधिसहेत। एतच्चाऽऽह ‘जिनो’रागद्वेषजेता नाभेयोऽष्टापदे स्वान्[13] सुतानुद्दिश्य, तथाऽन्येऽपि इदमेव शेषका जिना अभिहितवन्त इति ॥१९॥ एतदाह–‘अभविंसु’ इत्यादि, हे भिक्षवः–साधवः !, सर्वज्ञ स्वशिष्यानेवमामन्त्रयति, येऽभूवन्–अतिक्रान्ता ‘जिनाः’ सर्वज्ञाः ‘आएसावि’त्ति आगमिष्याश्च ये भविष्यन्ति, तान् विशिनष्टि–‘सुव्रताः’ शोभन-

१ °ताणिता आ.। २ °हिंपा° आ. इ.। ३ °ता आ. इ.। ४ भविंसु आ.। ५ आहिए आ.। ६ इमेत्यादि आ.। ७ °कादिधर्म° आ. इ.। सा. ८ °ख्याता° प्र०। ९ तथा च आ.। सा. १० लब्धां च बोधिमकुर्वन् अनागतां च प्रार्थयमानः। अन्यां (तदा) बोधिं लप्स्यसे कतरेण मूल्येन ? ॥१॥ ११ अण्णं आ.। १२ °त उपार्द्ध° आ. इ.। १३ स्वसुता°।

व्रताः, अनेनेदमुक्तं भवति–तेषामपि जिनत्वं सुव्रतत्वादेवायातमिति, ते सर्वेऽप्येतान्–अनन्तरोदितान् गुणान् 'आहुः' अभिहितवन्तः, नात्र सर्वज्ञानां कश्चिन्मतभेद इत्युक्तं भवति, ते च 'काश्यपस्य' ऋषभस्वामिनो वर्द्धमानस्वामिनो वा सर्वेऽप्यनुचीर्णधर्मचारिण इति, अनेन च सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मक एक एव मोक्षमार्ग इत्यावदितं भवतीति ॥२०॥ [1]अभिहितांश्च गुणानुद्देशत आह—

तिविहेणवि [2]पाण मा हणे, आयहिते अणियाण संवुडे। एवं सिद्धा अणंतसो, संपइ जे अ अणागयावरे ॥२१॥

एवं से [3]उदाहु अणुत्तरनाणी अणुत्तरदंसी अणुत्तरनाणदंसणधरे। अरहा नायपुत्ते भगवं वेसालिए वियाहिए ॥ त्तिबेमि[4] ॥ इति श्रीवेयालियं बितीयमज्झयणं समत्तं ॥ (गाथाग्रं १७४)॥

'तिविहेण' इत्यादि, त्रिविधेन' मनसा वाचा कायेन यदिवा–कृतकारितानुमतिभिर्वा 'प्राणिनो' दशविधप्राणभाजो[5] मा हन्यादिति, प्रथममिदं महाव्रतम्, अस्य चोपलक्षणार्थत्वात् एवं शेषाण्यपि द्रष्टव्यानि, तथाऽऽत्मने हित [6]आत्महितः, तथा नास्य स्वर्गावाप्त्यादिलक्षणं निदानमस्तीत्यनिदानः, तथेन्द्रियनोइन्द्रियै[7]र्मनोवाकायैर्वा संवृतस्त्रिगुप्तिगुप्त इत्यर्थः, एवम्भूतश्चावश्यं सिद्धिमवाप्नोतीत्येतद्दर्शयति–'एवम्' अनन्तरोक्तमार्गानुष्ठानेनानन्ताः 'सिद्धा' अशेषकर्मक्षयभाजः संवृत्ता विशिष्टस्थानभाजो वा, तथा 'सम्प्रति[8]' वर्तमाने काले सिद्धिगमनयोग्ये सिध्यन्ति, अपरे वा अनागते काले एतन्मार्गानुष्ठायिन एव सेत्स्यन्ति, नापरः सिद्धिमार्गोऽस्तीति भावार्थः ॥२१॥ एतच्च

१ तदभि° आ. इ.। २ पाणि आ.। ३ उयाहु आ.। ४ त्ति इति कम्मवियालमुत्तमं जिणवरेण सुदेसियं सया। जे आचरंति आहियं खवितरयावइहिंति ते सिवं त्तिवेमि गति त्तिवेमि आ. त्ति वेमि वैतालयं सम्मत्तं ॥छ॥ इ.। ५ ×××भाजो आ.। ६ ××××आ.। ७ °ति च व° आ.। ८ °न्ताऽपरे आ.।

सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिप्रभृतिभ्यः स्वशिष्येभ्यः प्रतिपादयतीत्याह–'एवं से' इत्यादि, 'एवम्' उद्देशकत्रयाभिहितनीत्या 'स' ऋषभस्वामी स्वपुत्रानुद्दिश्य 'उदाहृतवान्' प्रतिपादितवान्, नास्योत्तरं–प्रधानमस्तीत्यनुत्तरं तच्च तज्ज्ञानं च अनुत्तरज्ञानं तदस्यास्तीत्यनुत्तरज्ञानी तथाऽनुत्तरदर्शी[1], सामान्यविशेषपरिच्छेदकावबोधस्वभाव इति[2], बौद्धमतनिरासद्वारेण ज्ञानाधारं जीवं दर्शयितुमाह–'अनुत्तरज्ञानदर्शनधर' इति कथञ्चिद्भिन्नज्ञानदर्शनाऽऽधार इत्यर्थः[3], 'अर्हन्' सुरेन्द्रादिपूजार्हो ज्ञातपुत्रो वर्द्धमानस्वामी ऋषभस्वामी वा 'भगवान्' ऐश्वर्यादि[4]गुणयुक्तो विशाल्यां नगर्यां वर्द्धमानो[5]ऽस्माकमाख्यातवान्, ऋषभस्वामी वा विशालकुलोद्भवत्वाद्वैशालिकः, तथा चोक्तम्–"विशाला जननी यस्य, विशालं कुलमेव वा। विशालं प्रवचनं[6] चास्य, तेन वैशालिको जिनः ॥१॥" एवमसौ जिन आख्यातेति। इतिशब्दः परिसमाप्त्यर्थो, ब्रवीमीति उक्तार्थो, नयाः पूर्ववदिति ॥२२॥ तृतीय[7] उद्देशकः समाप्तः, तत्समाप्तौ च समाप्तं द्वितीयं वैतालीयमध्ययनं ॥

卐 卐 卐 卐

॥ अथ तृतीयस्योपसर्गाध्ययनस्य प्रथमोद्देशकः प्रारभ्यते ॥

उक्तं द्वितीयमध्ययनम्, अधुना तृतीयमारभ्यते–अस्य चायमभिसम्बन्धः–इहानन्तरं स्वसमयपरसमयप्ररूपणाऽभिहिता, तथा प-

१ °दर्शनी आ. इ.। २ इत्यर्थः आ.। ३ इति आ.। ४ गुणसंयुक्तो आ.। ५ वर्त्त° आ.। सा. ६ (वचनं) यस्य प्र०। यस्य आ. इ.। ७ ग्रंथतः ६८५ समाप्तं च द्वितीय वैतालीयमध्ययनं ॥छ॥छ॥ आ. ॥छ॥ समाप्तं च द्वितीयं वैतालीयमध्ययनं ॥छ॥ ग्रंथाग्र ६८५। इ.।

रसमयदोषान् स्वसमयगुणांश्च परिज्ञाय स्वसमये बोधो विज्ञेय इत्येतच्चाभिहितं, तस्य च प्रतिबुद्धस्य[1]सम्यगुत्थानेनोत्थितस्य सतः कदाचिदनुकूलप्रतिकूलोपसर्गाः प्रादुर्भवेयुः, ते चोदीर्णाः सम्यक् सोढव्या इत्येतदनेनाध्ययनेन प्रतिपाद्यते, ततोऽनेन सम्बन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति, तत्रोपक्रमान्तर्गतोऽर्थाधिकारो द्वेधा-अध्ययनार्थाधिकार उद्देशार्थाधिकारश्च, तत्राध्ययनार्थाधिकारः 'संबुद्धस्सुवसग्गा' इत्यादिना प्रथमाध्ययने प्रतिपादितः, उद्देशार्थाधिकारं तूत्तरत्र स्वयमेव निर्युक्तिकारः प्रतिपादयिष्यतीति, नामनिष्पन्नं तु निक्षेपमधिकृत्य निर्युक्तिकृदाह—

उवसग्गंमि य छक्कं दव्वे चेयणमचेयणं दुविहं। आगंतुगो च पीलाकरो य जो सो उवस्सग्गो ॥४५॥

'उवसग्गंमि'इत्यादि, नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात् उपसर्गाः षोढा, तत्र नामस्थापने क्षुण्णत्वादनादृत्य द्रव्योपसर्गं दर्शयति—'द्रव्ये' द्रव्यविषये उपसर्गो द्वेधा यतस्तद्द्रव्यमुपसर्गकर्तृ चेतनाचेतनभेदात् द्विविधं, तत्र तिर्यङ्मनुष्यादयः स्वावयवाभिघातेन यदुपसर्गयन्ति स सचित्तद्रव्योपसर्गः, स एव काष्ठादिनेतरः। 'तत्त्वभेदपर्यायैर्व्याख्ये'ति, तत्रोपसर्ग उपतापः शरीरपीडोत्पादनमित्यादिपर्यायाः, भेदाश्च तिर्यङ्मनुष्योपसर्गादयः नामादयश्च, तत्त्वव्याख्यां तु निर्युक्तिकृदेव गाथापश्चार्द्धेन दर्शयति—अपरस्माद्दिव्यादेः आगच्छतीत्यागन्तुको योऽसावुपसर्गो भवति, स च देहस्य संयमस्य वा पीडाकारीति॥ क्षेत्रोप[2]सर्गानाह—

खेत्तं बहुओघप[3]यं कालो एँगंतदुसमादिओ। पावे कम्मऽ[4]भुँदओ सो दुविहो ओ[5]घुवक्कंमिओ ॥४६॥

१ °तोद्देशा° आ.। २ °पसर्गमाह आ.। ३ °उघपयं अ. आ.। ४ पगंत दुस्समाइउ अ. एगंत दुस्समाईउ आ.। ५ °स्सुदउ अ. आ.। ६ उघुवक्कमिउ अ. आ.।

'खेत्तं' इत्यादि, यस्मिन् क्षेत्रे बहून्योघतः–सामान्येन पदानि–क्रू[1]रचौराद्युपसर्गस्थानानि [2]भवन्ति तत्क्षेत्रं बह्वोघपदं, पाठान्तरं वा 'बह्वोघभयं' बहून्योघतो भयस्थानानि यत्र तत्तथा, तच्च लाढादिविषयादिकं क्षेत्रमिति, कालस्त्वेकान्तदुष्षमादिः, आदिग्रहणात् यो यस्मिन् क्षेत्रे दुःखोत्पादको ग्रीष्मादिः स गृह्यत इति, कर्मणां–ज्ञानावरणीयादीनाम[3]भ्युदयो भावोपसर्ग इति, स च उपसर्गः सर्वोऽपि सामान्येन औघिकौपक्रमिकभेदात् द्वेधा, तत्रौघिकोऽशुभकर्मप्रकृतिजनितो भावोपसर्गो भवति, औपक्रमिकस्तु दण्डक[4]शाशस्त्रादिनाऽसातवेदनीयोदयापादक इति ॥ तत्रौघिकौपक्रमिकयोरुपसर्गयोरौपक्रमिकमधिकृत्याह—

उवक्कमि[5]ओ संयमवि[6]ग्घकरे तत्[7]थुवक्कमे पगयं । दव्वे चउव्विहो देवमणुयतिरियायसंवे[8]त्तो ॥४७॥

'उवक्कमिओ' इत्या[9]दि, उपक्रमणमुपक्रमः, कर्मणामनुदयप्राप्तानामुदयप्रापणमित्यर्थः, एतच्च यद्द्रव्योपयोगात् येन वा द्रव्येणासातावेदनीयाद्यशु[10]भं कर्मोदीर्यते यदुदयाच्चाल्पसत्त्वस्य संयमविघातो भवति अत औपक्रमिक उपसर्गः संयमविघातकारीति, इह च यतीनां मोक्षं प्रति प्रवृत्तानां संयमो मोक्षाङ्गं वर्तते तस्य यो विघ्नहेतुः स एवात्राधिक्रियत इति दर्शयति–तत्र–औघिकौपक्रमिकयोरौपक्रमिकेन 'प्रकृतं' प्रस्तावः तेनात्राधिकार इतियावत् , स च 'द्रव्ये' द्रव्यविषयश्चिन्त्यमानश्चतुर्विधो भवति, तद्यथा–दैविको मानुषस्तैरश्च आत्मसंवेदनश्चेति ॥ साम्प्रतमेतेषामेव भेदमाह—

एक्केक्को य चउविं[11]हो अट्ठविहो वावि सोलसविहो [12]वा । घडण जयणा [13]य तेसिं एत्तो वो[14]च्छं अहि(ही)यारं(रो)[15]४८

१ क्रूर×श्चाद्यु आ. । २ ××× आ. इ. । ३ °मुदयो आ. इ. । ४ कश° आ. इ. । ५ °मिउ अ. आ. । ६ °विघायकारि अ. आ. । ७ तसु° अ. आ. ८ °संवेउ अ. आ. । ९ °त्याह इ. । १० शुभक° आ. । ११ °व्विहा अ. आ. । १२ दिव्वाई होइ सोलस विहोउ अ. आ. । १३ °य अ. आ. । १४ पोच्छं आ. । १५ अहीगारो अ. अहीगारे आ. ।

'एक्केको'इत्यादि, एकैको दिव्यादिः 'चतुर्विधः' चतुर्भेदः, तत्र दिव्यस्तावत् हास्यात् प्रद्वेषात् विमर्शात् पृथग्विमात्रातश्चेति, मानुषा अपि हा[1]स्यतः प्रद्वेषाद्विमर्शात् कुशीलप्रतिसेवनातश्च, तैरश्चा अपि चतुर्विधाः, तद्यथा–भयात् प्रद्वेषात् आहारादपत्यसंरक्षणा[2]त्, आत्मसंवेदनाः चतुर्विधाः, तद्यथा–घट्टनातो लेशनातः–अङ्गुल्याद्यवयवसंश्लेषरूपायाः स्तम्भनातः प्रपाताच्चेति यदिवा–वातपित्तश्लेष्मसंनिपातजनितश्चतुर्धेति, स एव दिव्यादिश्चतुर्विधोऽनुकूलप्रतिकूलभेदात् अष्टधा भवति, स ए[3]व दिव्यादिः प्रत्येकं य[4]श्चतुर्धा प्रा[5]ग्दर्शितः स चतुर्णां चतुष्ककानां मेलापकात् षोडशभेदो भवति, तेषां चोपसर्गाणां यथा घटना–सम्बन्धः प्राप्तिः प्राप्तानां चाधिसहनं प्रति यतना भवति तथाऽत ऊर्द्धमध्ययनेन वक्ष्यते इत्ययमत्रार्थाधिकार इति भावः ॥४॥ उद्देशार्थाधिकारमधिकृत्याह—

पढमंमि य पडिलोमा हुं[6]ती अणुलोमगा य [7]बितियंमि (बिइएणाईकया य अणुलोमा)।
तइए [8]अज्झत्तविसोहणं च परवादिवयणणं च ॥४९॥
हेउसरिसेहिं अहेउएहिं समय[9]पडिएहिं णिउणेहिं। सीलखलिं[10]तपण्णव[11]ण्णा कया चउत्थंमि उद्देसे ॥५०॥

'पढमंमि'इत्यादि, प्रथमे उद्देशके 'प्रतिलोमाः' प्रतिकूला उपसर्गाः प्रतिपाद्यन्त इति, तथा द्वितीये 'ज्ञातिकृताः' स्वजनापादिता अनुलोमा–अनुकूला इति, तथा तृतीये अध्यात्मविपीदनं परवादिवचनं चेत्ययमर्थाधिकार इति, 'हेऊ' इत्यादि, चतुर्थोद्देशके अयमर्थाधिकारः, तद्यथा-'हेतुस[12]द्दशैः' हेत्वाभासैर्येऽन्यतैर्थिकैर्व्युद्ग्राहिताः–प्रतारितास्तेषां शीलस्खलितानां–व्यामोहितानां प्रज्ञापना–यथावस्थितार्थप्ररूपणा

१ ह्रस्यात् आ. इ. । २ °णातश्चा° आ. इ. । ३ एव च. आ.। ४ °श्चतुर्विधः° आ. इ.। ५ प्रदर्शितः आ. इ. । ६ नाइकयणुं° अ. आ. । ७ °पियंमि अ. आ. । ८ अज्झत्थ विसीयणाय परवाइ अ. आ. । ९ °पतिएहिं निउणेहि अ. आ. । १० °लिय अ. आ. । ११ °वण्णा अ. आ. । १२ °द्दशैरहेतुभि र्हेत्वा आ. इ. ।

स्वसमयप्रतीतैर्निपुणभणितैर्हेतुभिः कृतेति ॥ साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

सूरं [1]मण्णइ अप्पाणं, जाव जेयं न पस्सती। [2]जुज्झंतं दढधम्माणं, सिसुपा[3]लो व महारहं ॥१॥

[4]पयाता सूरा रणसीसे, संगामंमि उवट्ठिते। माया पुत्तं न याणाइ, जे[5]एण परिविच्छए ॥२॥

'सूरं मण्णइ'इत्यादि, कश्चिल्लघुप्रकृतिः सङ्ग्रामे समुपस्थिते शूरमात्मानं मन्यते—निस्तोयाम्बुद इवात्मश्लाघाप्रवणो वाग्भिर्विस्फूर्जन् [6]गर्जति, तद्यथा—न मत्कल्पः परानीके कश्चित् सुभटोऽस्तीति, एवं तावद्गर्जति यावत् पुरोऽवस्थितं प्रोद्यतासिं जेतारं न पश्यति, तथा चोक्तम्—"तावद्गजः [7]प्रस्रुतदानगण्डः, करोत्यकालाम्बुदगर्जितानि। यावन्न सिंहस्य गुहास्थलीषु, लाङ्गुलविस्फोटरवं शृणोति ॥१॥" न दृष्टान्तमन्तरेण प्रायो लोकस्यार्थावगमो भवतीत्यतस्तदवगतये दृष्टान्तमाह—यथा माद्रीसुतः शिशुपालो वासुदेवदर्शनात्प्राक् आत्मश्लाघाप्रधानं गर्जितवान्, पश्चाच्च युध्यमानं—शस्त्राणि व्यापारयन्तं दृढः—समर्थो धर्मः—स्वभावः सङ्ग्रामाभङ्गरूपो यस्य स तथा तं, महान् रथोऽस्येति महारथः, स च प्रक्रमादत्र नारायणस्तं युध्यमानं दृष्ट्वा प्राग्गर्जनाप्रधानोऽपि क्षोभं[8] गतः, एवमुत्तरत्र दार्ष्टान्तिकेऽपि योजनीयमिति। भावार्थस्तु कथानकादवसेयः, तच्चेदम्—"[9]वसुदेवसुसाएँ सुओ दमघोसणराहिवेण मद्दीए। जाओ चउ[10]ब्भुओऽब्भुयबलकलिओ कलहपत्तट्ठो ॥१॥ दट्ठूण तओ जणणी चउब्भुयं पुत्तमब्भुयमणग्घं। भयहरिसविम्हि[11]यमुही पुच्छइ णेमित्तियं सहसा ॥२॥ णेमित्ति-

१ °ण्णति इ. न्नति आ.। २ जुज्झंती इ.। ३ °पाले×आ. °पालो व्व इ.। ४ पताया आ. पयाया इ.। ५ जेतेण आ.। ६ °ते आ.। ७ प्रश्रुत° इ.। ८ °मुपगतः आ.। सा. ९ वसुदेवस्वसुः सुतो दमघोषनराधिपेन माद्र्याः। जातश्चतुर्भुजोऽद्भुतबलकलितः प्राप्तकलहार्थः ॥१॥ १० °तुब्भुओ भुय आ.। सा. दृष्ट्वा ततो जननी चतुर्भुजं पुत्रमद्भुतमनर्घम्। भयहर्षघेपिराज्ञी पृच्छति नैमित्तिकं सहसा ॥२॥ ११ विम्हिय आ.। सा. नैमित्तिकेन भुणित्वा साधितं तस्यै हृष्टहृदयायै। यथैष

एण मुणिऊण साहियं तीई हट्ठहियियाए। जह एस तुब्भ पुत्तो महाबलो दुज्जओ समरे ॥३॥ एयस्स य[3] जं दट्ठूण होइ साभावियं भुयाजुयलं। होही तओ चिय भयं सुतस्स ते णं[4]त्थि संदेहो ॥४॥ सावि भयवेविरंगी पुत्तं दंसेइ जाव कण्हस्स। तावच्चिय तस्स ठियं पयइत्थं वरभुयाजुयलं ॥५॥ तो कण्हस्स पिउच्छा पुत्तं पाडेइ पायपीढंमि। अवराहखामणत्थं सोवि सयं से खमिस्सामि ॥६॥ सिसुवालो वि हु जुं[6]व्वणमएण नारायणं असब्भेहिं। वयणेहिं भणइ सोविहु खमइ खमाए समत्थोवि ॥७॥ अवराहसए पुण्णे वारिज्जंतो ण चिट्ठई जाहे। कण्हेण तओ छिन्नं चक्केणं उत्त[7]मंगं से ॥८॥" साम्प्रतं सर्वजनप्रतीतं वार्तमानिकं दृष्टान्तमाह–'पयाया' इत्यादि, यथा वाग्भिर्विस्फूर्जन्तः[8] प्रकर्षेण विकटपादपातं 'रणशिरसि' संग्राममूर्धन्यग्रानीके याता–गताः, के ते?–'शूराः' शूरंमन्याः–सुभटाः, ततः सङ्ग्रामे समुपस्थिते पतत्परानीकसुभटमुक्तहेतिसङ्घाते सति तत्र च सर्वस्याकुलीभूतत्वात् 'माता पुत्रं न जानाति' कटीतो भ्रश्यन्तं स्तनन्धयमपि न सम्यक् प्रतिजागर्त्तीत्येवं [9] मातापुत्रीये सङ्ग्रामे परानीकसुभटेन जेत्रा चक्रकुन्तनाराचशक्त्यादिभिः परिः–समन्तात् विविधम्–अनेकप्रकारं क्षतो–हतश्छीन्नो वा यथा कश्चिदल्पसत्त्वो भङ्गमुपयाति दीनो भवतीतियावदिति ॥२॥ दार्ष्टान्तिकमाह—

तव पुत्रोमहावलो दुर्जयः समरे ॥३॥ एतस्य च यं दृष्ट्वा भवेत् स्वाभाविकं भुजयुगलम्। भविष्यति तत एव भयं सुतस्य ते नास्ति संदेहः ॥४॥ साऽपि भयवेपिराङ्गी पुत्रं दर्शयति यावत्कृष्णाय। तावदेव तस्य स्थितं प्रकृतिस्थं वरभुजयुगलम् ॥५॥ ततः कृष्णस्य पितृष्वसा पुत्रं पातयति पादपीठे। अपराधक्षामणार्थं सोऽपि शतं तस्य क्षमिष्ये ॥६॥ शिशुपालोऽपि यौवनमदेन नारायणमसभ्यैः। वचनैर्भणति सोऽपि च क्षमते क्षमया समर्थोऽपि ॥७॥ अपराधशते पूर्णे वार्यमाणोऽपि न तिष्ठति यदा। कृष्णेन ततश्छिन्नं चक्रेणोत्तमाङ्गं तस्य ॥८॥ १ तीए हि॰त्थ॰ आ. इ.। २ ×इ.। ३ नत्थि आ.। ४ °वीढंमि इ.। ५ °पालो आ.। ६ जो° आ.। ७ उत्ति° आ. इ.। ८ °र्जंत इ. °र्जयन्तः आ.। ९ °वममाता आ. इ.।

एवं सेहेवि अप्पुट्ठे[1], भिक्खायरियाअकोविए[2]। सूरं मण्णति अप्पाणं, जाव लूहं न सेवए[3] ॥३॥

जया[4] हेमंतमासंमि[5], सीतं फुसइ सव्वगं[6]। तत्थ मंदा विसीयंति, रज्जहीणा व खत्तिया ॥४॥

'एवं सेहे' इत्यादि, 'एव'मिति प्रक्रान्तपरामर्शार्थः, यथाऽसौ शूरंमन्य उत्कृष्टि[7]सिंहनादपूर्वकं सङ्ग्रामशिरस्युपस्थितः पश्चाज्जेतारं वासुदेवमन्यं वा युध्यमानं दृष्ट्वा दैन्यमुपयाति, एवं 'शैक्षकः'[8] अभिनवप्रव्रजितः परीषहैः 'अस्पृष्टः' अच्छुप्तः किं प्रव्रज्यायां दुष्करमि-
॥ ८ ॥ त्येवं गर्जन् 'भिक्षाचर्यायां' भिक्षाटने 'अकोविदः' अनिपुणः, उपलक्षणार्थत्वादन्यत्रापि साध्वाचारेऽभिनवप्रव्रजितत्वादप्रवीणः, स एवम्भूत आत्मानं तावच्छिशुपालवत् शूरं मन्यते यावज्जेतारमिव 'रूक्षं' संयमं कर्मसंश्लेषकारणाभावात् 'न सेवते' न भजत इति, तत्प्राप्तौ तु बहवो गुरुकर्माणोऽल्पसत्त्वा भङ्गमुपयान्ति[9] ॥३॥ संयमस्य रूक्षत्वं[10]प्रतिपादनायाह—'जया हेमंत' इत्यादि, 'यदा' कदाचित् 'हेमन्तमासे' पौषादौ 'शीतं' स[11]हिमकणवातं 'स्पृशति' लगति 'तत्र' तस्मिन्नसह्ये शीतस्पर्शे लगति सति एके 'मन्दा' जडा गुरुकर्माणो 'विषीदन्ति' दैन्यभावमुपयान्ति 'राज्यहीना' रा[12]ज्यच्युताः यथा-क्षत्रिया राजान इवेति ॥४॥ उष्णपरीषहमधिकृत्याह—

॥ १० ॥ पुट्ठे गिम्हा[13]हितावेणं, विमणे सुपिवासिए। तत्थ मंदा विसीयंति, मच्छा अप्पोदए जहा ॥५॥

---

१ °ब्भुट्ठे भा. °पुट्ठे इ. । २ °चरिए आ. । ३ सेवई आ. इ. । ४ जदा आ. । ५ °सि भा. । ६ सवातगं आ. सवायगं इ. । ७ °ष्टसिं° आ. । ८ शिक्षकः भा. शिष्यकः इ. । ९ °न्तीति आ. इ. । १० × प्र० भा. । ११ च° आ । १२ राजाभ्युताः ×× आ. राज्यच्युताः ×× इ. । १३ गिन्हावि° आ. गिण्हाहि° इ ।

सदा दत्तेसणा दुक्खा[1], जायणा दुप्पणोल्लिया। कम्मत्ता दुब्भगा चेव, इच्चाहं[2]सु पुढोजणा ॥६॥

'पुट्ठे' इत्यादि, 'ग्रीष्मे' ज्येष्ठाषाढाख्ये अभितापस्तेन 'स्पृष्टः' छुप्तो व्याप्तः सन् 'विमनाः' विमनस्कः, सुष्ठु पातुमिच्छा पिपासा तां प्राप्तोनितरां तृडभिभूतो बाहुल्येन दै[3]न्यमुपयातीति दर्शयति–'तत्र' तस्मिन्नुष्णपरीषहोदये 'मन्दा' जडा अशक्ता 'विषीदन्ति' य[4]था पराभङ्गमुपयान्ति, दृष्टान्तमाह–म[5]त्स्या अल्पोदके विषीदन्ति, गमनाभावान्मरणमुपयान्ति, एवं सत्त्वाभावात्संयमात् भ्रश्[6]यन्त इति, इद-मुक्तं भवति–यथा मत्स्या अल्पत्वादुदकस्य ग्रीष्माभितापेन तप्ता अवसीदन्ति, एवमल्पसत्त्वाश्चारित्रप्रतिपत्तावपि जल्लमलक्लेदक्लिन्नगात्रा बहिरुष्णाभितप्ताः शीतलान् जलाश्रयान् जलधारागृहचन्दनादीनुष्णप्रतिकारहेतूननुस[8]रन्ते–व्याकुलितचेतसः संयमानुष्ठानं प्रति विषी-दन्ति ॥५॥ साम्प्रतं याच्ञापरीषहमधिकृत्याह–'सदा दत्ते' इत्यादि, यती[9]नां 'सदा' सर्वदा दन्तशोधनाद्यपि परेण दत्तम् एषणीयम्–उत्पादाद्येषणादोषरहितमुपभोक्तव्यमित्यतः क्षु[10]धादिवेदनार्त्तानां यावज्जीवं परदत्तैषणा दुःखं भवति, अपिचेयं 'याच्ञा' याच्ञापरीषहो-ऽल्पसत्त्वैर्दुःखेन 'प्रणोद्यते' त्यज्यते, तथा चोक्तम्–"खिं[11]ज्जइ मुहला[12]वण्णं वाया घोलेइ कंठमज्झंमि। कहकहकहेइ हिययं देहित्ति परं भणंतस्स ॥१॥ गतिभ्रंशो मुखे दैन्यं, गात्रस्वेदो विवर्णता। मरणे यानि चिह्नानि, तानि चिह्नानि याचके ॥२॥" इत्यादि, एवं दुस्त्यजं याच्ञापरीषहं परित्यज्य गताभिमाना महासत्त्वा ज्ञानाद्यभिवृद्धये महापुरुषसेवितं पन्थानमनुव्रजन्तीति। श्लोकपश्चार्द्धेनाऽऽक्रो-

१ दुक्खं आ. इ.। २ °इंसु इ। ३ दीन्य° आ.। ४ ×× आ. इ.। ५ यथा मत्स्या° आ. इ.। ६ °न्ति आ.। ७ °न्तो–व्या° आ. इ। ८ °न्तीति आ. इ.। ९ °नां हि आ. इ.। १० क्षुदा° आ. इ.। सा० ११ क्षीयते मुखलावण्यं वाचा गिलति (घूर्गति) कण्ठमध्ये। कहकहकहित हृदयं देहीति परं भणतः ॥१॥ १२ °यन्नं आ. इ.।

शपरीषहं दर्शयति–'पृथग्जनाः' प्राकृतपुरुषा अनार्यकल्पा 'इत्येवमाहुः' इत्येवमुक्तवन्तः, तद्यथा–ये एते यतयः जल्लाविलदेहा[1] लुञ्चितशिरसः क्षुधादिवेदनाग्रस्तास्ते[2] एते पूर्वाचरितैः कर्मभिरार्त्ताः पूर्वस्वकृतकर्मणः फलमनुभवन्ति, यदिवा–कर्मभिः–कृष्यादिभिरार्त्ताः–तत्कर्त्तुमसमर्था उद्विग्नाः सन्तो यतयः संवृत्ता इति, तथैते 'दुर्भगाः' सर्वेणैव पुत्रदारादिना परित्यक्ता निर्गतिकाः सन्तः प्रव्रज्यामभ्युपगता इति ॥६॥

एते सद्दे अचायंता[3], गामेसु णगरेसु वा । तत्थ मंदा विसीयंति, संगामंमिव[4] भीरुया[5] ॥७॥

अप्पेगे[6] खुधियं भिक्खुं, सुणी डंसति[7] लूसए । तत्थ मंदा विसीयंति, तेउपुट्ठा[8] व पाणिणो ॥८॥

'एते सद्दे' इत्यादि, 'एतान्' पूर्वोक्तानाक्रोशरूपान् तथा चौरचारिकादिरूपान् शब्दान् सोढुमशक्नुवन्तो ग्रामनगरादौ तदन्तराले वा व्यवस्थिताः 'तत्र' तस्मिन् आक्रोशे सति 'मन्दा' अज्ञा लघुप्रकृतयो 'विषीदन्ति' विमनस्का भवन्ति संयमाद्वा भ्रश्यन्ति, यथा भीरवः 'संग्रामे' रणशिरसि चक्रकुन्तासिशक्तिनाराचाकुले रटत्पटहशङ्खझल्लरीनादगम्भीरे समाकुलाः सन्तः पौरुषं परित्यज्यायशः पटहमङ्गीकृत्य भज्यन्ते, एवमाक्रोशादिशब्दाकर्णनादल्पसत्त्वाः संयमे विषीदन्ति[9] ॥७॥ वधपरीषहमधिकृत्याह–'अप्पेगे' इत्यादि, अपिः संभावने, एकः कश्चिच्छ्वादिः लूषयतीति लूषकः प्रकृत्यैव क्रूरो भक्षकः, 'खुधियं'[10]ति क्षुधितं–बुभुक्षितं भिक्षामटन्तं भिक्षुं 'दशति' भक्षयति दशनैरङ्गावयवं विलुम्पति, 'तत्र' तस्मिन् श्वादिभक्षणे सति 'मन्दा' अज्ञा अल्पसत्त्वतया 'विषीदन्ति' दैन्यं भजन्ते, यथा[11] 'तेजसा'

१ °विलमलदेहा° आ. । २ क्षुदाधि° इ. । ३ अचाइन्ता इ. अभाएंता आ. । ४ °सित्र आ. इ. । ५ °रुणो आ. । ६ °गजुंज्झियं आ. °गे जुज्झितं इ. । ७ डसइ आ. दसति इ. । ८ °जपुट्टा आ. । ९ °न्तीति आ. । सा० १० जुज्झितं प्र० झज्झियं चू° । जुंज्झियंति आ. जुंज्झियंत्ति इ. । ११ तथा आ. ।

अग्निना 'स्पृष्टा' दह्यमानाः 'प्राणिनो' जन्तवो वेदनार्त्ताः सन्तो विषीदन्ति-गात्रं संकोचयन्त्यार्तध्यानोपहता भवन्ति, एवं साधुरपि क्रूरसत्त्वैरभिद्रुतः संयमाद् भ्रश्यत इति, दुःसहत्वाद्ग्रामकण्टकानाम् ॥८॥ पुनरपि तानधिकृत्याह—

अप्पेगे पडिभासंति, पडिपंथियमागता । पडियारगता एते, जे एते एव जीविणो ॥९॥

अप्पेगे वइं जुंजंति, नगिणा पिंडोलगाहमा । मुंडा कंडूविणट्ठंगा, उज्जल्ला असमाहिता ॥१०॥

'अप्पेगे' इत्यादि, अपिः संभावने, 'एके' केचनापुष्टधर्माणः-अपुण्यकर्माणः 'प्रतिभाषन्ते' ब्रुवते, प्रतिपथः-प्रतिकूलत्वं तेन चरन्ति प्रातिपन्थिकाः-साधुविद्वेषिणस्तद्भावमागताः कथञ्चित्प्रतिपथे वा दृष्ट्वा अनार्या एतद् ब्रुवते, सम्भाव्यत एतदेवंविधानां, तद्यथा-प्रतीकारः-पूर्वाचरितस्य कर्मणोऽनुभवस्तमेके गताः-प्राप्ताः स्वकृतकर्मफलभोगिनो 'य एते' यतयः 'एवंजीविन' इति परगृहाण्यटन्ति अतोऽन्तप्रान्तभोजिनोऽदत्तदाना लुञ्चितशिरसः सर्वभोगवञ्चिता दुःखितं जीवन्तीति ॥९॥ किञ्च-'अप्पेगे'इत्यादि, अप्येके केचन कुसृतिप्रसृता अनार्या वाचं युञ्जन्ति-भाषन्ते, तद्यथा-एते जिनकल्पिकादयो नग्नास्तथा 'पिंडोलग'त्ति परपिण्डप्रार्थका अधमाः-मलाविलत्वात् जुगुप्सिता 'मुण्डा' लुञ्चितशिरसः, तथा-क्वचित्कण्डूकृतक्षतै रेखाभिर्वा विनष्टाङ्गा-विकृतशरीराः, अप्रतिकर्मशरीरतया वा क्वचिद्रोगसम्भवे सनत्कुमारवद्विनष्टाङ्गः, तथोद्गतो जल्लः-शुष्कप्रस्वेदो येषां ते उज्जल्लाः, तथा 'असमाहिता' अशोभना बीभत्सा दुष्टा वा

१ °यन्ते आ० आ. इ. । २ परि° आ इ. । ३ पाडि° आ. । सा० ४ तद्दारवेयणिज्जे ते चू° । ५ वति आ. वयि इ. । ६ निगिणो आ. निगिणा इ. । सा० ७ पिंडेसु दीयमानेसु उल्लेति अधमा अधमजातयः चू० । ८ उज्जाताः नष्टाः चू० । ९ उज्जुला आ. । १० ×××××× प्र० इ. । ११ °पथिकाः आ. इ. । १२ °टन्तः ×× अन्त° आ. टन्तः ×× सन्तः आन्त° इ. १३ °लग्ग° इ. । १४ विकृति° आ. ।

प्राणिनामसमाधिमुत्पादयन्तीति ॥१०॥ साम्प्रतमेतद्बाधकाणां विपाकदर्शनायाह—

एवं विप्पडिवन्नेगे, अप्पणा उं[1] अजाणया[2]। तमाओ ते तमं जंति, मंदा मोहेण पाउडा ॥११॥

पुट्ठो य दंसमसएहिं, तणफासमचाइया। न[3] मे दिट्ठे परे लोए, जइ परं मरणं सिया[4] ॥१२॥

'एवं' इत्यादि, 'एवम्' अनन्तरोक्तनीत्या 'एके' अपुण्यकर्माणो 'विप्रतिपन्नाः' साधुसन्मार्गद्वेषिणः 'आत्मना' स्वयमज्ञाः[5], तुशब्दादन्येषां च विवेकिनां वचनमकुर्वाणाः सन्तस्ते 'तमसः' अज्ञानरूपादुत्कृष्टं तमो 'यान्ति' गच्छन्ति, यदिवा—अधस्तादप्यधस्तनीं गतिं गच्छन्ति, यतो 'मन्दा' ज्ञानावरणीयेनावष्टब्धाः तथा 'मोहेन' मिथ्यादर्शनरूपेण 'प्रावृता' आच्छादिताः सन्तः खिङ्ग[6]प्रायाः साधुविद्वेषितया कुमार्गगा भवन्ति, तथा चोक्तम्—"एकं हि चक्षुरमलं सहजो विवेकस्तद्वद्भिरेव सह संवसतिर्द्वितीयम्। एतद् द्वयं भुवि न यस्य स तत्त्वतोऽन्धस्तस्या[7]पमार्गचलने खलु कोऽपराधः ? ॥१॥" ॥११॥ दंशमशकपरीषहमधिकृत्याह—'पुट्ठो य' इत्यादि, क्वचित्सिन्धुताम्र[8]लिप्तकोङ्कणादिके देशे अधिका दंशमशका भवन्ति, तत्र च कदाचित्साधुः पर्यटंस्तैः 'स्पृष्टश्च' भक्षितः, तथा निष्किञ्चनत्वात् तृणेषु शयानस्तत्स्पर्शं सोढुमशक्नुवन् आर्त्तः सन् एवं कदाचिच्चिन्तयेत्; तद्यथा—परलोकार्थमेतद्दुष्करमनुष्ठानं क्रियमाणं घटते[10], न चासौ मया परलोकः प्रत्यक्षेणोपलब्धः, अप्रत्यक्षत्वात्[11], नाप्यनुमानादिनोपलभ्यत इति[12], अतो यदि परं ममानेन क्लेशाभितापेन[13] मरणं स्यात्, नान्यत्फलं किञ्चनेति ॥१२॥ अपिच—

१ तु आ.। २ °णगा आ.। ३ ण इ.। ४ सिता आ.। ५ °मजानकाः आ. °गन्याः इ.। ६ षि° आ.। ७ °स्यापिमा° आ. इ.। ८ °कादिप° आ. इ.। ९ °मलप्ति° इ. °मलिप्ति° आ.। १० घटेत आ. इ.। ११ °त्वाच्च आ. इ.। १२ इत्यर्थः इ.। १३ °घातेन आ.।

संतत्ता केसलोएणं, बंभचेरपराइया[1]। तत्थ मंदा विसीयंति, मच्छा विट्ठा[2] व केयणे[3][4] ॥१३॥

आयदंडसमायारे[5], मिच्छासंठियभावणा। हरिसप्पओसमावन्ना[6], केई लूसंतिऽणारिया[7] ॥१४॥

'संतत्ता' इत्यादि, समन्तात् तप्ताः[8] सन्तप्ताः केशानां 'लोच' उत्पाटनं तेन, तथाहि—सरुधिरकेशोत्पाटने हि महती पीडोपपद्यते, तया चाल्पसत्त्वाः विस्रोतसिकां[9] भजन्ते, तथा 'ब्रह्मचर्यं' बस्तिनिरोधस्तेन च 'पराजिताः' पराभग्नाः सन्तः 'तत्र' तस्मिन् केशोत्पाटनेऽतिदुर्जयकामोद्रेके वा सति 'मन्दा' जडा—लघुप्रकृतयो विषीदन्ति संयमानुष्ठानं प्रति शीतलीभवन्ति, सर्वथा संयमाद् वा भ्रश्यन्तिं[10], यथा मत्स्याः 'केतने' मत्स्यबन्धने प्रविष्टा निर्गतिकाः सन्तो जीविताद् भ्रश्यन्ति, एवं तेऽपि वराकाः सर्वंकषकामपराजिताः संयमजीवितात् भ्रश्यन्ति ॥१३॥ किञ्च—'आयदंड' इत्यादि, आत्मा दण्ड्यते—खण्ड्यते हितात् भ्रश्यते येन स आत्मदण्डः 'समाचारः' अनुष्ठानं येषामनार्याणां ते तथा[11], तथा मिथ्या—विपरीता संस्थिता—स्वाग्रहारूढा भावना—अन्तःकरणवृत्तिर्येषां ते मिथ्यासंस्थितभावना—मिथ्यात्वोपहतदृष्टय इत्यर्थः, हर्षश्च प्रद्वेषश्च हर्षप्रद्वेषं तदापन्ना रागद्वेषसमाकुला इतियावत्, ते[12] एवम्भूता अनार्याः सदाचारं साधुं क्रीडया प्रद्वेषेण वा क्रूरकर्मकारित्वात् 'लूषयन्ति'[13] कदर्थयन्ति दण्डादिभिर्वाग्भिर्वेति ॥१४॥ एतदेव दर्शयितुमाह—

१ °जिया आ. इ.। २ पविट्ठा य इ। सा. ३ कडवल्लसंठिआ मच्छा पाणीए पडिनियत्ते ओयारिज्जंति खुणी एमादी। ४ °णा इ.। ५ °यारा आ. इ.। ६ हरिसप्पदोस° आ. हरिप्पओस° इ.। ७ °त णारिता आ. °ति णारिया इ.। ८ तप्ताः ××× केन केशा° आ. इ.। ९ विश्रो° आ. इ.। १० °न्ते आ. इ.। ११ ×× आ.। १२ ×एव° आ.। १३ °न्तीति आ.।

अप्पेगे पलि[1]यंते सिं, [2]चा[3]रो [4]चोरोत्ति सुव्व[5]यं । बंधंति भिक्खुयं बाला, कसायवयणेहि य ॥१५॥
तत्थ [6]दंडेण[7] संवीते, मुट्ठिणा अदु फ[8]लेण वा । नातीणं [9]सरती बाले, इत्थी वा कुद्धगामिणी ॥१६॥
एते भो! कसिणा फासा, फरुसा दुरहियासया । हत्थी वा सर[10]संविता, कीवा वस गया गिहं ॥१७॥

[11]तिबेमि ॥ [12]इति तृतीयाध्ययनस्य प्रथमोद्देशकः समाप्तः ॥ (गाथाग्रं० १९१)

'अप्पेगे'इत्यादि, अपिः संभावने, एके अनार्या आत्मदण्डसमाचारा मिथ्यात्वोपहतबुद्धयो रागद्वेषपरिगताः साधुं 'पलियंते'[13]सिं'ति अनार्यदेशपर्यन्ते वर्तमानं '[14]चारो'त्ति चरोऽयं, 'चौरः' अयं स्तेन इत्येवं मत्वा सुव्रतं कदर्थयन्ति, तथाहि–'बध्नन्ति' रज्ज्वादिना संयमयन्ति 'भिक्षुकं' भिक्षणशीलं 'बा[15]ला' अज्ञाः सदसद्विवेकविकलाः तथा 'कषायवचनैश्च' क्रोधप्रधानकटुकवचनैर्निर्भर्त्सयन्तीति ॥१५॥ अपिच–'तत्र' तस्मिन्ननार्यदेशपर्यन्ते वर्त्तमानः साधुरनार्यैः 'दण्डेन' यष्टिना मुष्टिना वा 'संवीतः' प्रहतोऽथवा 'फलेन वा' मातुलिङ्गा[16]दिना खड्गादिना वा स साधुरेवं तैः कदर्थ्यमानः कश्चिदपरिणतः 'बालः' अज्ञो 'ज्ञातीनां' स्वजनानां स्म[17]रति, तद्यथा–यदत्र मम कश्चित् सम्बन्धी स्यात् नाहमेवम्भूतां कदर्थनामवाप्नुयामिति, दृष्टान्तमाह–यथा स्त्री क्रुद्धा सती स्वगृहात् गमनशीला निराश्रया मांसपेशीव

१ °तंतंसि आ. यंतंसि इ । सा. २ येषां परस्परविरोध चू०। ३ चारि आ. इ. । ४ चोरेत्ति आ. । ५ °व्वते आ. °च्चयं इ. । सा. ६ खीलो दंडपहारो वा। ७ दंडेहिं इ. । सा. ८ चवेडा । ९ सरए आ. । १० °संवीता आ. °संवीया इ. । ११ तित्तिबेमि आ. इ. । १२ पढमो आ. तृतीयस्य प्रथमोद्देशकः इ. । १३ °तंसित्ति आ. इ. । १४ चारि चोरित्ति आ. चारियति इ. । १५ बालवद्वाला आ ई. । १६ °ना××××इ. । १७ स्मरेत् आ. ।

सर्वस्पृहणीया तस्करादिभिरभिद्रुता सती जातपश्चात्तापा ज्ञातीनां स्मरति एवमसावपीति ॥१६॥ उपसंहारार्थमाह—'एए भो!' इत्यादि, भो इति शिष्यामन्त्रणं, य एत आदितः प्रभृति दंशमशकादयः पीडोत्पादकत्वेन परीषहा एवोपसर्गा अभिहिताः 'कृत्स्नाः' संपूर्णा बाहुल्येन स्पृश्यन्ते—स्पर्शेन्द्रियेणानुभूयन्त इति स्पर्शाः, कथम्भूताः?—'परुषाः' परुषैरनार्यैः कृतत्वात् पीडाकारिणः, ते चाल्पसत्त्वै-र्दुःखेनाधिसह्यन्ते तांश्चासहमाना लघुप्रकृतयः केचनाश्लाघामङ्गीकृत्य हस्तिन इव रणशिरसि 'शरजालसंवीताः' शरशताकुला भङ्गमुप-यान्ति एवं 'क्लीबा' असमर्था 'अवशाः' परवशाः कर्मायत्ता गुरुकर्माणः पुनरपि गृहमेव गताः, पाठान्तरं वा 'तिव्वसड्ढे'त्ति तीव्रैरुपस-र्गैरभिद्रुताः 'शठाः' शठानुष्ठानाः संयमं परित्यज्य गृहं गताः, इति ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥१७॥ उपसर्गपरिज्ञायाः प्रथमोद्देशक इति ॥

卐 卐 卐 卐 卐

अथ तृतीयाध्ययनस्य द्वितीयोद्देशकः प्रारभ्यते ।

उक्तः प्रथमोद्देशकः, साम्प्रतं द्वितीयः समारभ्यते—अस्य चायमभिसम्बन्धः, इहोपसर्गपरिज्ञाध्ययने उपसर्गाः प्रतिपिपादयि-षिताः, ते चानुकूलाः प्रतिकूलाश्च, तत्र प्रथमोद्देशके प्रतिकूलाः प्रतिपादिताः, इह त्वनुकूलाः प्रतिपाद्यन्त इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्या-स्योद्देशकस्याऽऽदिसूत्रम्—

१ पुरुषाः पुरुषैः आ. । २ °नाति° आ. इ. । सा. ३ °कुलाङ्गाः प्र० °कुलाङ्गा आ. । ४ आरभ्यते । ५ °पाद्या आ. ।

अहिमे सुहुमा संगा, भिक्खुणं जे दुरुत्तरा। जत्थ एगे विसीयंति, ण चयंति जंवित्तए[1] ॥१॥
अप्पेगे नायओ[2] दिस्स, रोयंति परिवारिया। पोस णे ताय! पुट्ठोऽसि, कस्स ताय! जंहासि[3] णे? ॥२॥

'अहिमे'[4]इत्यादि, 'अथ'इति आनन्तर्ये, प्रतिकूलोपसर्गान्तरमनुकूलाः प्रतिपाद्यन्त इत्यानन्तर्यार्थः, ते 'इमे' अनन्तरमेवाभिधीयमानाः प्रत्यक्षासन्नवाचित्वादिदमऽभिधीयन्ते, ते च 'सूक्ष्माः' प्रायश्चेतोविकारकारित्वेनान्तराः, न प्रतिकूलोपसर्गा इव बाहुल्येन शरीरविकारकारित्वेन प्रकटतया बादरा इति, 'सङ्गा' मातापित्रादिसम्बन्धाः यँ[5] एते 'भिक्षूणां' साधूनामपि 'दुरुत्तरा' दुर्लङ्घ्या–दुरतिक्रमणीया इति, प्रायो जीवितविघ्नकरैरपि प्रतिकूलोपसर्गैरुदीर्णैर्माध्यस्थ्यमवलम्बयितुं महापुरुषैः शक्यम्, एते त्वनुकूलोपसर्गास्तानप्युपायेन धर्माच्च्यावयन्ति[6], ततोऽमी दुरुत्तरा इति, 'यत्र' येषूपसर्गेषु सत्सु 'एके' अल्पसत्त्वाः सदनुष्ठानं प्रति 'विषीदन्ति' शीतलविहारित्वं भजन्ते सर्वथा वा–संयमं त्यजन्ति, नैवात्मानं संयमानुष्ठानेन 'यापयितुं'–वर्तयितुं तस्मिन् वा व्यवस्थापयितुं 'शक्नुवन्ति' समर्था भवन्तीति ॥१॥ तानेव सूक्ष्मसङ्गान् दर्शयितुमाह–'अप्पेगे' इत्यादि, 'अपिः' संभावने 'एके' तथाविधा 'ज्ञातयः' स्वजना मातापित्रादयः प्रव्रजन्तं प्रव्रजितं वा 'दृष्ट्वा' उपलभ्य 'परिवार्य' वेष्टयित्वा रुदन्ति रुदन्तो वदन्ति च दीनं, यथा–बाल्यात् प्रभृति त्वमस्माभिः पोषितो वृद्धानां पालको भविष्यँतीति[7]कृत्वा, ततोऽधुना 'नः'[8] अस्मानपि त्वं 'तात!' पुत्र 'पोषय' पालय, कस्य कृते–केन कारणेन कस्य वा बलेन तातास्मान् त्यजसि?, नास्माकं भवन्तमन्तरेण कश्चित्राता विद्यत इति ॥२॥ किञ्च—

१ जहित्तए इ.। २ नायया दिस्स आ. णायओ दिस्सा इ.। ३ चयासि आ. इ.। ४ अहमे° आ. इ.। सा. ५ यतः प्र०। ६ धर्म ध्यावयन्ति आ. धर्मात् धावयंति इ.। ७ °सीति आ.। ८ णे आ. इ.।

पिया ते[1] थेरओ तात !, ससा ते खुड्डिया इमा। भायरो ते सगा[2] तात !, सोयरा किं जहासि[3] णे ? ॥३॥

[4]मायरं पियरं पोस, एवं [5]लोगो भविस्सति[6]। एवं खु लोइयं ताय !, जे पालंति य मायरं ॥४॥

'पिया'इत्यादि, हे 'तात !' पुत्र ! पिता 'ते' तव 'स्थविरो' वृद्धः [8]शतातीकः[9] 'स्वसा' च भगिनी तव 'क्षुल्लिका' लघ्वी अप्राप्तयौवना[10] 'इमा' पुरोवर्त्तिनी प्रत्यक्षेति, तथा भ्रातरः 'ते' तव 'स्वका' निजास्तात ! 'सोदरा' एकोदराः किमित्यस्मान् परित्यजसीति ॥३॥ तथा 'मायरमि'त्यादि, 'मातरं' जननीं तथा 'पितरं' जनयितारं 'पुषाण' बिभृहि, एवं च कृते तवेहलोकः परलोकश्च भविष्यति, तातेदमेव 'लौकिकं' लोकाचीर्णम्, अयमेव लौकिकः पन्था यदुत–वृद्धयोर्मातापित्रोः प्रतिपालनमिति, तथा चोक्तम्–"गुरवो यत्र पूज्यन्ते, यत्र धान्यं सुसंस्कृतम्। अदन्तकलहो यत्र, तत्र शक्र ! वसाम्यहम् ॥१॥" [11]इति ॥४॥ अपिच—

[12]उत्तरा महुरुल्लावा, पुत्ता ते [13]तात ! खुड्डया। भारिया ते णवा तात !, मा सा [14]अन्नं जणं गमे ॥५॥

एहि ताय ! घरं जामो, [15]मा य [16]कम्मे सहा वयं। [17]बितियंपि ताय ! पासामो, [18]जामु ताव सयं गिहं ॥६॥

'उत्तरा'इत्यादि, 'उत्तराः' प्रधानाः उत्तरोत्तरजाता वा मधुरो–मनोज्ञ उल्लापः–आलापो येषां ते तथाविधाः पुत्राः 'ते' तव 'तात'

---

१ त आ. । सा. २ सवा–वयणनिद्दसे चिट्ठंति चू० । ३ चयासि इ. । ४ मातरं पितरं आ. । ५ लाए आ. । ६ °स्सती आ. °स्सइ इ. । ७ पोसति उ मातरं आ. । सा. ८ वर्षशतमानः । ९ शतानीकः आ. इ. । १० °वया आ. इ. । ११ ×× आ. । सा. १२ उत्तमा चू० । १३ ताय आ. इ. । १४ अंनं आ. अण्णं इ. । १५ मा तं क्षा. इ. । १६ कम्म क्षा. इ. । १७ बीयंपि आ. । १८ जासु इ. ।

पुत्र ! 'क्षुल्लका' लघवः तथा 'भार्या' पत्नी ते 'नवा' प्रत्यग्रयौवना अभिनवोढा वा मा असौ त्वया परित्यक्ता सती अन्यं जनं गच्छेत्–उन्मार्गयायिनी स्याद्, अयं च महान् जनापवाद इति ॥५॥ अपिच–'एहि' इत्यादि, जानीमो वयं यथा त्वं कर्मभीरुस्तथापि 'एहि' आगच्छ गृहं 'यामो' गच्छामः। मा त्वं किमपि [1]साम्प्रतं कर्म कृथाः, अपितु तव कर्मण्युपस्थिते वयं सहायका भविष्यामः–साहाय्यं करिष्यामः। एकवारं तावद्गृहकर्मभिर्भग्नस्त्वं तात ! पुनरपि द्वितीयं वारं 'पश्यामो' द्रक्ष्यामो यदस्माभिः सहायैर्भवतो भविष्यतीत्यतो 'यामो' गच्छामः तावत् स्वकं गृहं कुर्वेतदस्मद्वचनमिति ॥६॥ किञ्च—

गंतुं ताय ! पुणो गच्छे, [2]ण तेणासमणो सिया। अकामगं [3]परिक्कम्मं, को ते वारेउमरिहति ? ॥७॥

जं किंचि अणगं तात !, तंपि सव्वं [4]समी[5]कितं। हिरण्णं ववहा[6]राइ, तंपि [7]दाहामु ते वयं ॥८॥

'गन्तुं' इत्यादि, 'तात' पुत्र ! गत्वा गृहं स्वजनवर्गं दृष्ट्वा पुनरागन्ताऽसि, नच 'तेन' एतावता गृहगमनमात्रेण त्वमश्रमणो भविष्यसि, '[8]अकामगं'ति [9]अनिच्छन्तं गृहव्यापारेच्छारहितं 'पराक्रमन्तं' स्वाभिप्रेतानुष्ठानं कुर्वाणं कः 'त्वां' भवन्तं 'वारयितुं' निषेधयितुम् 'अर्हति' योग्यो भवति, यदिवा–'अकामगं'ति [10]वार्द्धकावस्थायां मदनेच्छाकामरहितं पराक्रमन्तं संयमानुष्ठानं प्रति कस्त्वामवसरप्राप्ते कर्मणि प्रवृत्तं धारयितुमर्हतीति ॥७॥ अन्यच्च–'जं किंचि' इत्यादि, 'तात' पुत्र ! यत्किमपि भवदीयमृणजातमासीत्तत्सर्वमस्माभिः सम्यग्विभज्य 'समीकृतं' समभागेन व्यवस्थापितं, यदिवोत्कटं [11]सत् समीकृतं–सुदेयत्वेन व्यवस्थापितं, यच्च 'हिरण्यं' द्रव्यजातं

१ °कर्मसाम्प्रतं° आ. इ.। २ न तेण आ. ण याय तेण° इ.। ३ परक्कम आ. इ.। सा. ४ उत्तारितं चू०। ५ समीगतं आ. समागयं इ.। ६ °हाराती आ. हाराई इ.। ७ दासासु आ. दासासु इ.। ८ आ° आ.। ९ अनिच्छं आ. अनिच्छन् इ.। १० वार्द्धि° आ. इ.। ११ ×× आ. तत् इ.।

व्यवहारादावुपयुज्यते, आदिशब्दात् अन्येन वा प्रकारेण तवोपयोगं[1] यास्यति तदपि वयं दास्यामः, निर्धनोऽयमिति मा कृथा भयमिति ॥८॥ उपसंहारार्थमाह—

इच्चेव णं सुसेहंति, कालुणीयसमुट्ठिया। विबद्धो नाइसंगेहिं[2], ततोऽगारं पहावइ[3] ॥९॥

जहा रुक्खं वणे जायं, मालुया पडिबंधई। एव णं पडिबंधंति णातओ[5] असमाहिणा ॥१०॥

'इच्चेव णं'इत्यादि, णमिति वाक्यालङ्कारे 'इत्येव'[6] पूर्वोक्तया नीत्या मातापित्रादयः कारुणिकैर्वचोभिः करुणामुत्पादयन्तः स्वयं वा दैन्यमुपस्थिताः 'तं'[7] प्रव्रजितं प्रव्रजन्तं वा 'सुसेहंति'त्ति सुष्ठु शिक्षयन्ति व्युद्ग्राहयन्ति, स चापरिणतधर्माऽल्पसत्त्वो गुरुकर्मा ज्ञातिसङ्गैर्विबद्धो—मातापितृपुत्रकलत्रादिमोहितः ततः 'अगारं' गृहं प्रति धावति—प्रव्रज्यां परित्यज्य गृहपाशमनुबध्नातीति ॥९॥ किञ्चान्यत्—'जहा रुक्खं'इत्यादि, यथा वृक्षं 'वने' अटव्यां 'जातम्' उत्पन्नं 'मालुया' वल्ली 'प्रतिबध्नाति' वेष्टयत्येवं 'णं' इति वाक्यालङ्कारे 'ज्ञातयः' स्वजनाः 'तं' यतिं असमाधिना प्रतिबध्नन्ति[8], ते तत्कुर्वन्ते येनास्यासमाधिरुत्पद्यत इति, तथा चोक्तम्—"अमित्तो[9] मित्तवेसेणं, कंठे घेत्तूण रोययई[10]। मा मित्ता! सोग्गइं जाहि, दोवि गच्छामु दुग्गइं[11] ॥१॥" ॥१०॥ अपिच—

१ भवत उप° आ. इ.। २ नाति° आ. नाय° इ.। ३ °धावति आ.। ४ °ता आ.। ५ नायउ आ.। ६ इत्येवं आ. इ.। ७ प्रव्रजन्ति वा आ. तं प्रव्रजितं व्रजन्तं वा इ.। ८ बध्नन्ति तत्तत् आ.। सा. ९ अमित्रं मित्रवेषेण कण्ठे गृहीत्वा रोदिति। मा मित्र! सुगतीर्याः द्वावपि गच्छावो दुर्गतिम् ॥१॥ १० °ती आ. इ.। ११ दोग्गति आ. दोग्गइ इ.।

विबद्धो[1] नातिसंगेहिं, हत्थीवावी नवग्गहे । पिट्ठतो परिसप्पंति, सुयगोव्व[2] अदूरए ॥११॥

एते संगा मणूसाणं, पाताला व अतारिमा । कीवा जत्थ य किस्संति, नाइसंगेहिं मुच्छिया ॥१२॥

'विवद्धो'इत्यादि, विविधं बद्धः–परवशीकृतः विवद्धो ज्ञातिसङ्गैः–मातापित्रादिसम्बन्धैः, ते च तस्य तस्मिन्नवसरे सर्वमनुकूलमनुतिष्ठन्तो धृतिमुत्पादयन्ति, हस्तीवापि 'नवग्रहे' अभिनवग्रहणे, (यथा स) धृत्युत्पादनार्थमिक्षुशकलादिभिरुपचर्यते, एवमसावपि सर्वानु-

८ कूलैरुपायैरुपचर्यते, दृष्टान्तान्तरमाह–यथाऽभिनवप्रसूता गौर्निजस्तनन्धयस्य 'अदूरगा' समीपवर्तिनी सती[3] पृष्ठतः परिसर्पति, एवं तेऽपि निजा उत्प्रव्रजितं पुनर्जातमिव मन्यमानाः पृष्ठतोऽनुसर्पन्ति–तन्मार्गानुयायिनो भवन्तीत्यर्थः ॥११॥ सङ्गदोषदर्शनायाह–'एते संगा' इत्यादि, 'एते' पूर्वोक्ताः सज्यन्त इति सङ्गाः–मातृपित्रादिसम्बन्धाः कर्मोपादानहेतवः, मनुष्याणां 'पाताला इव' समुद्रा इवाप्रतिष्ठितभूमितलत्वात् ते[4] 'अतारिम'त्ति दुस्तराः, एवमेतेऽपि सङ्गा अल्पसत्त्वैर्दुःखेनातिलङ्घ्यन्ते, 'यत्र च' येषु सङ्गेषु 'क्लीबा' असमर्थाः 'क्लिश्यन्ति' क्लेशमनुभवन्ति, संसारान्तर्वर्तिनो भवन्तीत्यर्थः, किंभूताः ?–'ज्ञातिसङ्गैः' पुत्रादिसम्बन्धैः 'मूर्च्छिता' गृद्धा अध्युपपन्नाः सन्तो,

१० न पर्यालोचयन्त्यात्मानं संसारान्तर्वर्तिनमेवं क्लिश्यन्तामिति[5] ॥१२॥ अपिच—

तं च भिक्खू परिन्नाय, सव्वे संगा महासवा । जीवियं नावकंखिज्जा[6], सोच्चा धम्ममणुत्तरं ॥१३॥

अहिमे संति आवट्टा, कासवेणं पवेइया । बुद्धा जत्थावसप्पंति[7], सीयंति अबुहा जहिं ॥१४॥

१ विवद्धा आ. । २ सूतीयव्व आ. सूईगोव्व इ. । ३ ×× पृ० आ. । ४ × अ० आ. । ५ क्लिश्नन्तमिति आ. क्लिश्नन्ति इ. । ६ नाति° आ. । ७ जत्थप० आ. ।

'तं च'इत्यादि, 'तं च' ज्ञातिसङ्गं संसारैकहेतुं भिक्षुर्ज्ञपरिज्ञया (ज्ञात्वा) प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेत्। किमिति ?, यतः 'सर्वेऽपि' ये केचन सङ्गास्ते 'महाश्रवा' महान्ति कर्मण आश्रवद्वाराणि वर्तन्ते। ततोऽनुकूलैरुपसर्गैरुपस्थितैरसंयमजीवितं–गृहावासपाशं 'नाभिकाङ्क्षेत्' नाभिलषेत्, प्रतिकूलैश्चोपसर्गैः सद्भिर्जीविताभिलाषी न भवेद्, असमञ्जसकारित्वेन भवजीवितं नाभिकाङ्क्षेत्। किं कृत्वा ?– 'श्रुत्वा' निशम्यावगम्य, कम् ?–'धर्मं' श्रुतचारित्राख्यं, नास्योत्तरोऽस्तीत्यनुत्तरं–प्रधानं मौनीन्द्रमित्यर्थः ॥१३॥ अन्यच्च–'अहिमे' इत्यादि, 'अथे' त्यधिकारान्तरदर्शनार्थः, पाठान्तरं वा 'अहो'इति, तच्च विस्मये, 'इमे' इति एते प्रत्यक्षासन्नाः सर्वजनविदितत्वात् 'सन्ति' विद्यन्ते वक्ष्यमाणा आवर्तयन्ति–प्राणिनं भ्रामयन्तीत्यावर्ताः, तत्र द्रव्यावर्ता नद्यादेः भावावर्तास्तूत्कटमोहोदयापादितविषयाभिलाषसंपादकसंपत्प्रार्थनाविशेषाः, एते चावर्ताः 'काश्यपेन' श्रीमन्महावीरवर्द्धमानस्वामिना उत्पन्नदिव्यज्ञानेन 'आ(प्र)वेदिताः' कथिताः प्रतिपादिताः, 'यत्र' येषु सत्सु 'बुद्धा' अवगततत्त्वा आवर्तविपाकवेदिनस्तेभ्यः 'अपसर्पन्ति' अप्रमत्ततया तद्दूरगामिनो भवन्ति, अबुद्धास्तु निर्विवेकतया येष्ववसीदन्ति–आसक्तिं कुर्वन्तीति ॥१४॥ तानेवावर्तान् दर्शयितुमाह—

रायाणो रायऽमच्चा य, माहणा अदुव खत्तिया। निमंतयंति भोगेहिं, भिक्खूयं साहुजीविणं ॥१५॥

हत्थऽस्सरहजाणेहिं, विहारगमणेहि य। भुंज भोगे इमे सग्घे, महरिसी! पूजयामुं तं ॥१६॥

'रायाणो'इत्यादि, 'राजानः' चक्रवर्त्यादयो 'राजामात्याश्च' मन्त्रीपुरोहितप्रभृतयः तथा ब्राह्मणा अथवा 'क्षत्रिया' इक्ष्वाकुवंशजप्रभृतयः, एते सर्वेऽपि 'भोगैः' शब्दादिभिर्विषयैः 'निमन्त्रयन्ति' भोगोपभोगं प्रत्यभ्युपगमं कारयन्ति, कम् ?–भिक्षुकं 'साधुजीविणमि'

१ °ज्ञया परिज्ञया आ.। २ किम् आ.। ३ अहमे० इ.। ४ °मु ते आ.।

ति साध्वाचारेण जीवितुं शीलमस्येति (साधुजीवी तं) साधुजीविनमिति, यथा ब्रह्मदत्तचक्रवर्तिना नानाविधैर्भोगैश्चित्रसाधुरुपनिमन्त्रित इति। एवमन्येऽपि केनचित्सम्बन्धेन व्यवस्थिता यौवनरूपादिगुणोपेतं साधुं विषयोद्देशेनोपनिमन्त्रयेयुरिति ॥१५॥ एतदेव दर्शयितुमाह–'हत्थऽस्सरह'इत्यादि, हस्त्यश्वरथयानैः तथा 'विहारगमनैः' विहरणं क्रीडनं विहारस्तेन गमनानि विहारगमनानि–उद्यानादौ क्रीडया गमनानीत्यर्थः, चशब्दादन्यैश्चेन्द्रियानुकूलैर्विषयैरुपनिमन्त्रयेयुः, तद्यथा–भुङ्क्ष्व 'भोगान्' शब्दादिविषयान् 'इमान्' अस्माभिर्ढौकितान् प्रत्यक्षासन्नान् 'श्लाघ्यान्' प्रशस्तान् अनिन्द्यान् 'महर्षे' साधो ! वयं विषयोपकरणढौकनेन 'त्वां' भवन्तं 'पूजयामः' सत्कारयाम इति ॥१६॥ किञ्चान्यत्—

वत्थगंधमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य। भुंजाहिमाइं भोगाइं, आउसो! पूजयामु[1] तं ॥१७॥
जो तुमे नियमो·चिण्णो, भिक्खुभावंमि सुव्वया!। अंगारमावसंतस्स[2], सव्वो संविज्जए तहा ॥१८॥

'वत्थगंध' इत्यादि, 'वस्त्रं' चीनांशुकादि 'गन्धाः' कोष्ठपुटपाकादयः, वस्त्राणि च गन्धाश्च वस्त्रगन्धमिति समाहारद्वन्द्वः, तथा 'अलङ्कारम्' कटककेयूरादिकं तथा 'स्त्रियः' प्रत्यग्रयौवनाः 'शयनानि च' पर्यङ्कतूलीप्रच्छदपटोपधानयुक्तानि, इमान् भोगानिन्द्रियमनोऽनुकूलानस्माभिर्ढौकितान् 'भुङ्क्ष्व' तदुपभोगेन सफलीकुरु[3], हे आयुष्मन् ! भवन्तं 'पूजयामः' सत्कारयाम इति ॥१७॥ अपिच–'जो तुमे' इत्यादि, यस्त्वया पूर्वं 'भिक्षुभावे' प्रव्रज्यावसरे 'नियमो' महाव्रतादिरूपः 'चीर्णः' अनुष्ठितः इन्द्रियनोइन्द्रियोपशमगतेन[4] हे सुव्रत ! स साम्प्रतमपि 'अगारं' गृहम् 'आवसतः' गृहस्थभावं सम्यगनुपालयतो भवतस्तथैव विद्यत इति, न हि सुकृतदुष्कृतस्यानु-

१ °मु ते आ. सु तं इ.। २ आगार° आ. इ.। ३ सफलान् कुरु आ.। ४ °पशमोपगतेन आ. इ.।

चीर्णस्य नाशोऽस्तीति भावः ॥१८॥ किञ्च—

चिरं दूइज्जमाणस्स, दोसो[1] दाणिं कुतो तव?। इच्चेव[2] णं निमंतेंति, नीवारेण व सूयरं ॥१९॥

चोइया भिक्खचरियाए[3], अचयंता जवित्तए[4]। तत्थ मंदा विसीयंति, उज्जाणंसि व दुब्बला ॥२०॥

'चिरं'इत्यादि, 'चिरं' प्रभूतं कालं संयमानुष्ठानेन 'दूइज्जमाणस्स'त्ति विहरतः सतः 'इदानीं' साम्प्रतं दोषः कुतस्तव: ?, नैवास्तीति भावः, इत्येवं हस्त्यश्वरथादिभिर्वस्त्रगन्धालङ्कारादिभिश्च[5] नानाविधैरुपभोगोपकरणैः करणभूतैः 'ण' मिति वाक्यालङ्कारे 'तं' भिक्षुं साधुजीविनं 'निमन्त्रयन्ति' भोगबुद्धिं कारयन्ति, दृष्टान्तं दर्शयति—यथा 'नीवारेण' व्रीहिविशेषकणदानेन 'सूकरं' वराहं कूटके प्रवेशयन्ति एवं तमपि साधुमिति ॥१९॥ अनन्तरोपन्यस्तवार्तोपसंहारार्थमाह—'चोइया'इत्यादि, भिक्षूणां—साधूनामुद्युक्तविहारिणां चर्या—दशविधचक्रवालसामाचारी इच्छामिच्छेत्यादिका[6] तया चोदिताः[7]—प्रेरिता यदिवा भिक्षुचर्यया करणभूतया सीदन्तश्चोदिताः—तत्करणं प्रत्याचार्यादिकैः[8] पौनःपुन्येन प्रेरितास्तच्चोदनामशक्नुवन्तः संयमानुष्ठानेनात्मानं 'यापयितुं' वर्तयितुमसमर्थाः सन्तः 'तत्र' तस्मिन् संयमे मोक्षैकगमनहेतौ भवकोटिशतावाप्ते 'मन्दा' जडा 'विषीदन्ति' शीतलविहारिणो भवन्ति, तमेवाचिन्त्यचिन्तामणिकल्पं महापुरुषानुचीर्णं संयमं परित्यजन्ति, दृष्टान्तमाह—ऊर्ध्वं यानमुद्यानं—मार्गस्योन्नतो भाग उट्टङ्कमित्यर्थः, तस्मिन् उद्यानशिरसि उत्क्षिप्तमहाभरा उक्षाणो[9]ऽतिदुर्बला यथाऽवसीदन्ति—ग्रीवां पातयित्वा तिष्ठन्ति नोत्क्षिप्तभरनिर्वाहका भवन्तीत्येवं तेऽपि भावमन्दा उत्क्षिप्तपञ्चमहाव्रतभारं[10] वोढु-

१ दोसे आ. । २ तं चेव आ. । ३ भिक्खु वज्जाए आ. इ. । ४ जहेत्तए इ. । ५ °भि र्नाना° आ. । ६ °दिका वा आ. इ. । सा. ७ बाधिता इति प्र० । नोदिता—बाधिता आ. इ. । ८ प्रत्याचर्यादिना आ. इ. । ९ उक्षाणो बलिवर्दाः अति० आ. । १० °भरं इ.।

मसमर्थाः पूर्वोक्तभावावर्तैः पराभग्ना विषीदन्ति ॥२०॥ किञ्च—

अचयंता व लूहेणं, उवहाणेण तज्जिया । तत्थ मंदा वि[1]सीयंति, उ[2]ज्जाणंसि जरग्गवा ॥२१॥

एवं निमंत[3]णं लद्धुं, मुच्छिया गिद्ध इत्थीसु । अज्झोववन्ना कामेहिं, चोइज्जंता [4]गया गिहं ॥२२॥

तिबेमि ॥ इति उवसग्गपरिण्णाए बितिओ उद्देसो सम्मत्तो ॥ ३–२ ॥ (गाथाग्रं० २१३)

'अचयंता'इत्यादि, 'रूक्षेण' संयमेनात्मानं यापयितुमशक्नुवन्तः तथा 'उपधानेन' अनशनादिना सबाह्याभ्यन्तरेण तपसा 'तर्जिता' बाधिताः सन्तः, तत्र संयमे मन्दा विषीदन्ति 'उद्यानशिरसि' उट्टङ्कमस्तके '[5]जीर्णो' दुर्बलो गौरिव, यूनोऽपि हि तत्रावसीदनं सम्भाव्यते किं पुनर्जरद्गवस्येति जीर्णग्रहणम्, एवमावर्तमन्तरेणापि धृतिसंहननोपेतस्य विवेकिनोऽप्यवसीदनं सम्भाव्यते, किं पुनरावर्तैरुपसर्गितानां मन्दानामिति ॥२१॥ सर्वोपसंहारमाह–'एवं'इत्यादि, 'एवं' पूर्वोक्तया नीत्या विषयोपभोगोपकरणदानपूर्वकं 'निमन्त्रणं' विषयोपभोगं प्रति प्रार्थनं 'लब्ध्वा' प्राप्य 'तेषु' विषयोपकरणेषु हस्त्यश्वरथादिषु 'मूर्च्छिता' अत्यन्तासक्ताः तथा स्त्रीषु 'गृद्धा' दत्तावधाना रमणीरागमोहिताः तथा 'कामेषु' इच्छामदनरूपेषु 'अध्युपपन्नाः' कामगतचित्ताः संयमेऽवसीदन्तोऽपरेणोद्युक्तविहारिणा [6]नोद्यमानाः–संयमं प्रति प्रोत्साह्यमाना [7]नोदनां सोढुमशक्नुवन्तः सन्तो गुरुकर्माणः प्रव्रज्यां परित्यज्याल्पसत्त्वा गृहं गता–गृहस्थीभूताः । इतिः परिसमाप्तौ[8], ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥२२॥ इति उपसर्गपरिज्ञा[9]ऽध्ययनस्य द्वितीय उद्देशः ॥

१ वियट्टंति आ. । २ सिरंसि वि° आ. । सा. ३ °तण प्र. । ४ गिहं गयत्तिति आ. । ५ जीणदु० आ. इ. । ६ चोद्य० आ. इ. । ७ चोदनां आ. इ. । ८ XX उ० आ. । ९ °ज्ञायां द्वितीयोद्देशकः समाप्तः आ. °ज्ञाया द्वितीयोद्देशकः इ. ।

अथ तृतीयस्योपसर्गाध्ययनस्य तृतीयोद्देशकः प्रारभ्यते।

उपसर्गपरिज्ञायां[1] उक्तो द्वितीयोद्देशकः, साम्प्रतं तृतीयः समारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–इहानन्तरोद्देशकाभ्यामुपसर्गा अनुकूलप्रतिकूलभेदेनाभिहिताः, तैश्चाध्यात्मविषीदनं भवतीति तदनेन प्रतिपाद्यत इत्यनेन संबन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादि सूत्रम्—

जहा संगामकालंमि, पिट्ठतो[2] भीरु वेहइ[3]। वलयं गहणं णूमं, को जाणइ पराजयं? ॥१॥

मुहुत्ताणं मुहुत्तस्स, मुहुत्तो होइ[4] तारिसो। पराजिया[5]ऽवसप्पामो, इति भीरू उवेहई ॥२॥

'जहा'इत्यादि, दृष्टान्तेन हि मन्दमतीनां सुखेनैवार्थावगतिर्भवतीत्यत आदावेव दृष्टान्तमाह—यथा कश्चिद् 'भीरुः' अकृतकरणः 'संग्रामकाले' परानीकयुद्धावसरे समुपस्थिते 'पृष्ठतः प्रेक्षते' आदावेवापत्प्रतीकारहेतुभूतं दुर्गादिकं स्थानमवलोकयति। तदेव दर्शयति–'वलय'मिति यत्रोदकं वलयाकारेण व्यवस्थितम् उदकरहिता वा गर्ता दुःखनिर्गमप्रवेशा, तथा 'गहनं' धवादिवृक्षैः कटि[6]संस्थानीयं 'णूमं'ति प्रच्छन्नं गिरिगुहादिकं, किमित्यसावेवमवलोकयति?, यत एवं मन्यते–तत्रैव[7]म्भूते तुमुले सङ्ग्रामे सुभटसङ्कुले[8] को जानाति कस्यात्र पराजयो भविष्यतीति?, यतो दैवायत्ताः कार्यसिद्धयः, स्तोकैरपि बहवो जीयन्त इति ॥१॥ किञ्च–'मुहुत्ताणं'इत्यादि, मुहूर्त्ता-

१ ××××××× उ० आ. इ.। २ पिट्ठउ आ.। ३ पेहति आ. पेहती इ.। ४ हवइ आ.। ५ इया आ.। सा. ६ कण्टिसं° प्र०। ७ अत्रैव° आ.। ८ सुशल इ.।

नामेकस्य वा मुहूर्तस्यापरो 'मुहूर्तः' कालविशेषलक्षणोऽवसरस्तादृग् भवति, यत्र जयः पराजयो वा सम्भाव्यते, तत्रैवं व्यवस्थिते पराजिता वयम् 'अवसर्पामो' नश्याम इत्येतदपि सम्भाव्यते अस्माद्विधानामिति भीरुः पृष्ठत आपत्प्रतीकारार्थं शरणमुपेक्षते ॥२॥ इति श्लोकद्वयेन दृष्टान्तं प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिकमाह—

एवं[2] तु समणा एगे, अबलं[3] नच्चाण अप्पगं। अणागयं भयं दिस्स, अविकप्पंतिमं[4] सुयं ॥३॥

८ को जाणइ [5]विऊवातं, इत्थीओ उदगाउ वा। चोइज्जंता पवक्खामो, ण णो अत्थि पकप्पियं ॥४॥

'एवं तु' इत्यादि, 'एवम्' इति यथा सङ्ग्रामं प्रवेष्टुमिच्छुः पृष्टतोऽवलोकयति—किमत्र मम पराभग्नस्य वलयादिकं शरणं त्राणाय स्यादिति?, एवमेव 'श्रमणाः' प्रव्रजिता 'एके' केचनादृढ[6]मतयोऽल्पसत्त्वा आत्मानम् 'अबलं' यावज्जीवं संयमभारवहनाक्षमं ज्ञात्वा अनागतमेव भयं 'दृष्ट्वा' उत्प्रेक्ष्य तद्यथा—निष्किञ्चनोऽहं किं मम वृद्धावस्थायां ग्लानाद्यवस्थायां दुर्भिक्षे वा त्राणाय स्यादित्येवमाजीविकाभयमुत्प्रेक्ष्य 'अवकल्पयन्ति' परिकल्पयन्ति मन्यन्ते—इदं व्याकरणं, गणितं, जोतिष्कं[8], वैद्यकं, होराशास्त्रं, मन्त्रादिकं वा श्रुतमधीतं

१० ममावमादौ त्राणाय स्यादिति ॥३॥ एतच्चैतेऽवकल्पयन्तीत्याह—'को जाणइ' इत्यादि, अल्पसत्त्वाः प्राणिनो विचित्रा च कर्मणां गतिः बहूनि प्रमादस्थानानि विद्यन्ते अतः 'को जानाति?' कः परिच्छिनत्ति 'व्यापातं' संयमजीविताद् भ्रंशं, केन पराजितस्य मम संयमाद् भ्रंशः स्यादिति, किम् 'स्त्रीतः' स्त्रीपरिषहात् उत 'उदकात्' स्नानाद्यर्थमुदकासेवनाभिलाषाद्?, इत्येवं ते वराकाः प्रकल्पयन्ति, न 'नः'

१ सा युद्धविषयत्वात् मायोपेक्षेन्द्रजालानि क्षुद्रोपाया इमे त्रय इति श्रीहेमचन्द्रवचनादत्र क्षुद्रोपायपर उपेक्षिः। २ एयं आ.। ३ अकर आ./ सा. ४ अवकप्पंतीति टीका। अव° आ. इ.। सा. ५ वियावातं इति टीकाकृदभिप्रायः। ६ धृतयो° आ. इ.। ७ ×××××× म° आ.। ८ ज्योतिषं आ ज्योतिष्कं इ.।

अस्माकं किञ्चन 'प्रकल्पितं' पूर्वोपार्जितद्रव्यजातमस्ति यत्तस्यामवस्थायामुपयोगं यास्यति, अतः 'चोद्यमानाः' परेण पृच्छ्यमाना हस्तिशिक्षाधनुर्वेदादिकं कुटिलविण्टलादिकं[1] वा 'प्रवक्ष्यामः' कथयिष्यामः[2] प्रयोक्ष्याम इत्येवं [3]ते हीनसत्त्वाः सम्प्रधार्य व्याकरणादौ श्रुते प्रयतन्त इति, न च तथापि मन्दभाग्यानामभिप्रेतार्थावाप्तिर्भवतीति, तथा चोक्तम्–"उपशमफलाद्विद्यावीजात्फलं धनमिच्छतां, भवति विफलो यद्यायासस्तदत्र किमद्भुतम् ?। न नियतफलाः कर्तुर्भावाः[4] फलान्तरमीशते, जनयति खलु व्रीहेर्बीजं न जातु यवाङ्कुरम् ॥१[5]॥" इति ॥४॥ उपसंहारार्थमाह––

[6]इच्चेव पडिलेहंति, [7]वलया पडिलेहिणो। वितिगिच्छसमावन्ना, पंथाणं च अकोविया ॥५॥
जे उ संगामकालंमि, नाया सूरपुरंगमा। [8]णो ते पिट्ठमुवेहिंति, किं परं मरणं सिया ? ॥६॥

'इच्चेव'इत्यादि, 'इत्येवमि'ति पूर्वप्रक्रान्तपरामर्शार्थः, यथा भीरवः सङ्ग्रामे प्रविविक्षवो वलयादिकं प्रति उपेक्षिणो भवन्तीति, एवं प्रव्रजिता मन्दभाग्यतया अल्पसत्त्वा आजीविकाभयाद्व्याकरणादिकं जीवनोपायत्वेन 'प्रत्युपेक्षन्ते' परिकल्पयन्ति, किम्भूताः ? विचिकित्सा–चित्तविप्लुति–किमेनं संयमभारमुत्क्षिप्तमन्तं नेतुं वयं समर्थाः, उत नेतीत्येवम्भूता, तथा चोक्तम्–"[9]लुक्खमणुण्हमणिययं कालाइक्कंतभोयणं विरसं। भूमीसयणं लोओ असिणाणं बंभचेरं च ॥ १ ॥" तां समापन्नाः–समागताः, यथा पन्थानं प्रति 'अकोविदा' अनिपुणाः, किमयं पन्था विवक्षितं भूभागं यास्यत्युत नेतीत्येवं कृतचित्तविप्लुतयो भवन्ति, तथा तेऽपि संयमभारवहनं

सा. १ कुण्टलमण्डलादि° कुण्टलविण्टलादि°। कुण्टलमण्डलादि° आ.। २ ×××××प्र० आ.। ३ च आ.। सा. ४ कर्तुं भा० प्र०। कर्तुं भा० आ. इ.। ५ ××× आ. इ.। ६ इच्चवं आ. इच्चेवणं इ.। ७ वलाइ आ. इ। ८ न ते पुट्ठं उवे आ. ण ते पिट्ठमुवे इ.। सा. ९ रूक्षमनुष्णमनियतं कालातिक्रान्तं भोजनं विरसम्। भूमिशयनं लोचोऽस्नानं ब्रह्मचर्यं च ॥१॥

प्रति विचिकित्सां समापन्ना निमित्तगणितादिकं जीविकार्थं प्रत्युपेक्षन्त इति ॥५॥ साम्प्रतं महापुरुषचेष्टिते दृष्टान्तमाह–'जे उ संगाम' इत्यादि, ये पुनर्महासत्त्वाः, तुशब्दो विशेषणार्थः 'सङ्ग्रामकाले' परानीकयुद्धावसरे 'ज्ञाताः' लोकविदिताः, कथम् ?–'शूरपुरङ्गमाः' शूराणामग्रगामिनो युद्धावसरे सैन्याग्रस्कन्धवर्तिन इति, त एवम्भूताः सङ्ग्रामं प्रविशन्तो 'न पृष्ठमुत्प्रेक्षन्ते' न दुर्गादिकमापत्त्राणाय पर्यालोचयन्ति, ते चाभङ्गकृतबुद्धयः, अपि त्वेवं मन्यन्ते–किमपरमत्रास्माकं भविष्यति ?, यदि परं मरणं स्यात्, तच्च शाश्वतं यशःप्रवाहमि-
८ च्छतामस्माकं स्तोकं वर्तत इति, तथा चोक्तम्–"विशरारुभिरविनश्वरमपि चपलैः स्थास्नु वाञ्छतां विशदम्। प्राणैर्यदि शूराणां भवति यशः किं न पर्याप्तम् ? ॥१॥" ॥६॥ तदेवं सुभटदृष्टान्तं प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिकमाह—

एवं समुट्ठिए भिक्खू, वोसिज्जा[1]ऽगारबंधणं। आरंभं तिरियं कट्टु, अत्तत्ताए परिव्वए ॥७॥

तमेगे परिभासंति, भिक्खूयं साहुजीविणं। जे ए[3]वं परिभासंति, अंतए ते समाहिए ॥८॥

'एवं' इत्यादि, यथा सुभटा ज्ञाता नामतः कुलतः शौर्यतः शिक्षातश्च तथा सन्नद्धबद्धपरिकराः कॅरगृहीतहेतयः प्रतिभटसमितिभेदिनो
१० न पृष्ठतोऽवलोकयन्ति, एवं 'भिक्षुरपि' साधुरपि महासत्त्वः परलोकप्रतिस्पर्द्धिनमिन्द्रियकषायादिकमरिवर्गं जेतुं सम्यक्–संयमोत्थानेनोत्थितः समुत्थितः, तथा चोक्तम्–"[6]कोहं माणं च मायं च, लोहं पंचिंदियाणि य। दुज्जयं चेवमप्पाणं, सव्वमप्पे जिए जियं ॥१॥" किं कृत्वा समुत्थित इति दर्शयति–'व्युँत्सृज्य' त्यक्त्वा 'अगारबन्धनं' गृहपाशं तथा 'आरम्भं' सावद्यानुष्ठानरूपं 'तिर्यक्कृत्वा'

१ वोसिव्वा आ. इ.। २ अध्यात्मविषीदनार्थोऽधिकारो गतः।छा। इ.। ३ तेउ आ. इ.। ४ करा° आ.। ५ °त्रिषयादि° आ.। सा० ६ क्रोधः मानश्च माया च लोभः पञ्चेन्द्रियाणि च। दुर्जयं चैववात्मनां सर्वमात्मनि जिते जितम् ॥१॥ ७ उत्सृज्य आ.।

अप[1]हस्त्य आत्मनो भाव आत्मत्वम्–अशेषकर्मकलङ्करहितत्वं तस्मै आत्मत्वाय, यदिवा–आ[2]त्मा–मोक्षः संयमो वा तद्भावस्तस्मै–तदर्थं परि–समन्ताद्व्रजेत्–संयमानुष्ठानक्रियायां दत्तावधानो भवेदित्यर्थः ॥७॥ निर्युक्तौ यदभिहितमध्यात्मविषीदनं तदुक्तम्, इदानीं प[3]रवादिवचनं द्वितीयमर्थाधिकारमधिकृत्याह–'तमेगे' इत्यादि, 'त' मिति साधुम् 'एके' ये परस्परोपकाररहितं दर्शनमापन्ना अयःशलाकाकल्पाः, ते च गोशालकमतानुसारिण आजीविका दिगम्बरा वा, त एवं वक्ष्यमाणं परि–समन्ताद्भापन्ते । तं भिक्षुकं साध्वाचारं साधु–शोभनं परोपकारपूर्वकं जीवितुं शीलमस्य स साधुजीविर्नेमिति, 'ये' ते अपुष्टधर्माण 'एवं' वक्ष्यमाणं 'परिभाषन्ते' साध्वाचारनिन्दां विदधति त एवंभूता 'अन्तके' पर्यन्ते दूरे 'समाधेः' [5]मोक्षाख्यात्सम्यग्ध्यानात्सदनुष्ठानात् वा वर्तन्त इति ॥८॥ यत्त प्रभापन्ते तद्दर्शयितुमाह–

संबद्धसमकप्पा उं[6], अन्नमन्नेसुँ मुच्छिया । पिंडवायं गिलाणस्स, जं सारेह दलाह य ॥९॥

एवं तुब्भे सरागत्था, अन्नमंन्नमणुव्वसा । नट्ठसप्पहसब्भावा, संसारस्स अपारगा ॥१०॥

'संबद्ध' इत्यादि, सम्–एकीभावेन परस्परोपकार्योपकारितया च 'बद्धाः' पुत्रकलत्रादिस्नेहपाशैः सम्बद्धा–गृहस्थास्तैः समः–तुल्यः कल्पो–व्यवहारोऽनुष्ठानं येषान्ते सम्बद्धसमकल्पा–गृहस्थानुष्ठानतुल्यानुष्ठाना इत्यर्थः, तथाहि–यथा गृ[9]हस्था परस्परोपकारेण माता पुत्रे पुत्रोऽपि मात्रादावित्येवं 'मूर्च्छिता' अध्युपपन्नाः, एवं भवन्तोऽपि 'अन्योऽन्यं' परस्परतः शिष्याचार्याद्युपकारक्रियाकल्पनया मूर्च्छिताः, तथाहि–गृहस्थानामयं न्यायो यदुत–परस्मै दानादिनोपकार इति, न तु यतीनां, कथमन्योऽन्यं मूर्च्छिता इति दर्शयति–'पिण्डपातं'

सा० १ हस्तयित्वा प्र० । २ आप्तो आ. इ. । सा० ३ परिवादि° प्र० । ४ °तमिति आ. इ. । ५ मोक्षात्स° आ. इ. । ६ हु इ. दु आ. । ७ °स मु° इ. । ८ °मम° आ. । ९ गृहस्था परोपकारेण आ. गृहस्थानामयं न्याये यदुत परस्मै परस्परोपकारेण इ. ।

भैक्ष्यं 'ग्लानस्य' अपरस्य रोगिणः साधोः यद्–यस्मात् 'सारेह'त्ति अन्वेषयत[1], तथा 'दलाहय'[2]त्ति ग्लानयोग्यमाहारमन्विष्य तदुपकारार्थं दद्ध्वं, चशब्दादाचार्यादेः वैयावृत्त्यकरणाद्युपकारेण[3] वर्तध्वं, ततो गृहस्थसमकल्पा इति ॥९॥ साम्प्रतमुपसंहारव्याजेन दोषदर्शनायाह–'एवं' इत्यादि,'एवं' परस्परोपकारादिना यूयं गृहस्था इव सरागस्थाः–सह रागेण वर्तत इति सरागः–स्वभावस्तस्मिन् तिष्ठन्तीति ते तथा, 'अन्योऽन्यं' परस्परतो वशमुपागताः[4]–परस्परायत्ताः, यतयो हि निःसङ्गतया न कस्यचिदायत्ता भवन्ति, यतो गृहस्थानामयं न्याय इति, तथा नष्टः–अपगतः सत्पथः–सद्भावः–सन्मार्गः परमार्थो येभ्यस्ते तथा। एवम्भूताश्च यूयं 'संसारस्य' चतुर्गतिभ्रमणलक्षणस्य 'अपारगा' अतीरगामिन इति ॥१०॥ अयं तावत्पूर्वपक्षः, अस्य दूषणायाह—

अह ते परिभासेज्जा[5], भिक्खु मोक्खविसारए। एवं तुब्भे पभासंता, दुपक्खं चेव सेवह ॥११॥

तुब्भे भुंजह पाएसु, गिलाणो अभिहडंमि[6] या। तं च बीओदगं[7] भोच्चा, तमुद्दिस्सादि जं कडं ॥१२॥

'अह ते परिभासेज्ञा' इत्यादि,'अथ' अनन्तरं 'तान्' एवं प्रतिकूलत्वेनोपस्थितान् भिक्षुः 'परिभाषेत' ब्रूयात्, किम्भूतः ?–'मोक्षविशारदो' मोक्षमार्गस्य–सम्यग्ज्ञानदर्शन[8]चारित्ररूपस्य प्ररूपकः, 'एवम्' अनन्तरोक्तं यूयं प्रभाषमाणाः सन्तः दुष्टः पक्षो दुष्पक्षः–असत्प्रतिज्ञाभ्युपगमस्तमेव सेवध्वं यूयं, यदिवा–रागद्वेषात्मकं पक्षद्वयं सेवध्वं यूयं, तथाहि–सदोषस्याप्यात्मीयपक्षस्य समर्थनाद्रागो, निष्कलङ्कस्याप्यसदभ्युपगमस्य दूषणाद्द्वेषः, अथै(थवै)वं पक्षद्वयं सेवध्वं यूयं, तद्यथा–वक्ष्यमाणनीत्या बीजोदकोद्दिष्टकृतभोजित्वाद्गृ-

सा० १ अन्वेषयन्ते प्र० । २ दलादति आ. दलाहति इ. । ३ °कारे आ. । ४ °मनुगताः आ. °मुपगताः इ. । ५ °हासिज्जा आ. । ६ °हडंति आ. इ. । ७ पीउ° आ. वीतो° इ. । ८ °दर्शनज्ञान° आ. ।

हस्थाः यतिलिङ्गाभ्युपगमात्किल प्रव्रजिताश्चेत्येवं पक्षद्वयासेवनं भवतामिति, यदिवा–स्वतोऽसदनुष्ठानमपरश्च सदनुष्ठायिना निन्दनमितिभावः ॥११॥ आजीविकादीनां परतीर्थिकानां दिगम्बराणां चासदाचारनिरूपणायाह–'तुब्भे भुंजह' इत्यादि, किल वयमपरिग्रहतया निष्किञ्चना एवमभ्युपगमं कृत्वा यूयं भुङ्ग्ध्वं 'पात्रेषु'–कांस्यपात्र्यादिषु–गृहस्थभाजनेषु, तत्परिभोगाच्च तत्परिग्रहोऽवश्यंभावी[2], तथाऽऽहारादिषु मूर्च्छां कुरुध्वमित्यतः कथं निष्परिग्रहाभ्युपगमो भवतामकलङ्क इति, अन्यच्च 'ग्लानस्य' भिक्षाटनं कर्तुमसमर्थस्य यदपरैर्गृहस्थैरभ्याहृतं कार्यते भवद्भिः, यतेरानयनाधिकाराभावाद् गृहस्थानयने च यो दोषसद्भावः स भवतामवश्यंभावीति, तमेव दर्शयति–यँच[3] गृहस्थैर्बीजोदकाद्युपमर्दनापादितमाहारं भुक्त्वा तं ग्लानमुद्दिश्योद्देशकादि 'यत्कृतं' यन्निष्पादितं तदवश्यं युष्मत्परिभोगायावतिष्ठते। तदेवं गृहस्थगृहे तद्भाजनादिषु भुञ्जानास्तथा ग्लानस्य च गृहस्थैरेव वैयावृत्त्यं कारयन्तो यूयमवश्यं बीजोदकादिभोजिन उद्देशिकादिकृतभोजिनश्चेति ॥१२॥ किञ्चान्यत्—

लित्ता तिव्वाभितावेणं, उज्झिआ[6] असमाहिया। नातिकंडूइयं सेयं, अरुयस्सावरज्झती ॥१३॥

तत्तेण अणुसिट्ठा ते, अपडिन्नेण जाणया। ण एस णियए मग्गे, असमिक्खा वती किती ॥१४॥

'लित्ता' इत्यादि योऽयं षड्जीवनिकायविराधनयोद्दिष्टभोजित्वेनाभिगृहीतमिथ्यादृष्टितया च साधुपरिभाषणेन च तीव्रोऽभितापः–कर्मबन्धरूपस्तेनोपलिप्ताः–संवेष्टितास्तथा 'उज्झिय'त्ति सद्विवेकशून्या भिक्षापात्रादित्यागात्परगृहभोजितयोद्देशकादिभोजित्वात् तथा

सा० १ प्रसङ्गापादनं, तैःसंबन्धमात्रस्य परिग्रहत्वाभ्युपगमात्, अन्यथा निर्मूर्च्छं धर्मोपकरणधरणापत्तेः। २ °भावीति आ.। ३ तच्च आ.। ४ °श्यौद्देशक° आ.। ५ औद्देशि° आ. इ.। ६ उज्झया आ. उज्झुत्ता इ.। ७ °सट्ठा आ. इ.। ८ नितउ आ.। ९ उज्झय आ. इ.। १० °तयोदकौद्देशिकादि° आ. °जिनतयोदकौद्देशकादि° इ.।

'असमाहिता' शुभाध्यवसायरहिताः सत्साधुप्रद्वेषित्वात्, साम्प्रतं दृष्टान्तद्वारेण पुनरपि तद्दोषाभिधित्सयाऽऽह–यथा 'अरुषः' व्रणस्यातिकण्डूयितं–नखैर्विलेखनं न श्रेयो–न शोभनं [1]भवति, अपि त्वपराध्यति–तत्कण्डूयनं व्रणस्य दोषमावहति, एवं भवन्तोऽपि सद्विवेकरहिताः वयं किल निष्किञ्चना इत्येवं निष्परिग्रहतया षड्जीवनिकायरक्षणभूतं भिक्षापात्रादिकमपि संयमोपकरणं परिहृतवन्तः, तदभावाच्चावश्यंभावी अशुद्धाहारपरिभोग इत्येवं द्रव्यक्षेत्रकालभावानपेक्षणेन नातिकण्डूयितं श्रेयो भवतीति भावः ॥१३॥ अपि च–'तत्तेण' इत्यादि, 'तत्त्वेन' परमार्थेन मौनीन्द्राभिप्रायेण यथावस्थितार्थप्ररूपणया ते गोशालकमतानुसारिण आजीविकादयः बोटिका वा 'अनुशासिताः' तदभ्युपगमदोषदर्शनद्वारेण शिक्षां ग्राहिताः, केन ?–'अप्रतिज्ञेन' नास्य मयेदमसदपि समर्थनीयमित्येवं प्रतिज्ञा विद्यते इत्यप्रतिज्ञो–रागद्वेषरहितः [2]साधुस्तेन 'जानता' हेयोपादेयपदार्थपरिच्छेदकेनेत्यर्थः, कथमनुशासिता इत्याह–योऽयं भवद्भिरभ्युपगतो मार्गो यथा यतीनां निष्किञ्चनतयोपकरणाभावात् परस्परत उपकार्योपकारकभाव इत्येष 'न नियतो' न निश्चितो न युक्तिसङ्गतः, अतो येयं वाग् यथा–ये पिण्डपातं ग्लानस्याऽऽनीय ददति ते गृहस्थकल्पा इत्येषा 'असमीक्ष्याभिहिता' अपर्यालोच्योक्ता, तथा 'कृतिः' करणमपि भवदीयमसमीक्षितमेव, यथा चापर्यालोचितकरणता भवति भवदनुष्ठानस्य [3]तथा नातिकण्डूयितं श्रेय इत्यनेन प्राग्लेशतः प्रतिपादितं, पुनरपि सदृष्टान्तं तदेव प्रतिपादयति ॥१४॥ यथाप्रतिज्ञातमाह—

एरिसा [4]जा वई एसा, [5]अग्गवेणु व्व करिसिता । [6]गिहिणो अभिहडं सेयं, भुंजिउं ण उ भिक्खुणं ॥१५॥

धम्मपन्नवणा जा सा, सारंभा ण विसोहिआ । ण उ एयाहिं दिट्ठीहिं, पुव्वमासिं पग्गप्पिअं ॥१६॥

---

१ ××× अपि आ. । २ °त××स्तेन आ. इ. । ३ यथा आ. । ४ ते° इ. । ५ अग्गे° आ. इ. । ६ गिहिणं आ. ।

'एरिसा' इत्यादि, येयमीदृक्षा वाक् यथा यतिना ग्लानस्यानीय न देयमित्येषा अग्रे वेणुवद्-वंशवत् कर्षिता तन्वी युक्त्यक्षमत्वात् दुर्बलेत्यर्थः, तामेव वाचम् दर्शयति-'गृहिणां' गृहस्थानां यदभ्याहृतं तद्यतेर्भोक्तुं 'श्रेयः' श्रेयस्करं, न तु भिक्षूणां सम्बन्धीति, अग्रे तनुत्वं चास्या वाच एवं द्रष्टव्यं-यथा गृहस्थाभ्याहृतं जीवोपमर्देन भवति, यतीनां तूद्गमादिदोषरहितमिति ॥१५॥ किञ्च-'धम्मपन्नवणा' इत्यादि, धर्मस्य प्रज्ञापना-देशना, यथा-यतीनां दानादिनोपकर्तव्यमित्येवम्भूता या सा 'सारम्भाणां' गृहस्थानां विशोधिका, यतयस्तु स्वानुष्ठानेनैव विशु[१]ध्यन्ति, न तु तेषां दानाधिकारोऽस्तीत्येतत् दूषयितुं प्रक्रमते-'न तु' नैवैताभिर्यथा गृहस्थेनैव पिण्डदानादिना यतेर्ग्लानाद्यावस्थायामुपकर्तव्यं नतु यतिभिरेव परस्परमित्येवम्भूताभिः युष्मदीयाभिः 'दृष्टिभिः' धर्मप्रज्ञापनाभिः 'पूर्वम्' आदौ सर्वज्ञैः 'प्रकल्पितं' प्ररूपितं प्रख्यापितमासीदिति, यतो न हि सर्वज्ञा एवम्भूतं परिफल्गुप्रायमर्थं प्ररूपयन्ति यथा-असंयतैरेषणाद्यनुपयुक्तैर्ग्लानादेर्वैयावृत्त्यं विधेयं न तूपयुक्तेन संयतेनेति, अपिच-भवद्भिरपि ग्लानोपकारोऽभ्युपगत एव, गृहस्थप्रेरणादनुमोदनाच्च, ततो भवन्तस्तत्कारिणस्तत्प्र[२]द्वेषिणश्चेत्यापन्नमिति ॥१६॥ अपिच—

सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं, अचयंता ज[३]वित्तए। ततो वायं णिराकिच्चा, ते भुज्जोवि पगब्भि[४]या ॥१७॥

रागदोसाभिभूयप्पा, मिच्छत्तेण अ[५]भिद्दुता। आउस्से[६] सरणं जंति, टंकणा इव पव्वयं ॥१८॥

'सव्वाहिं' इत्यादि, ते गोशालकमतानुसारिणो दिगम्बरा वा सर्वाभिरर्थानुगताभिर्युक्तिभिः सर्वैरेव हेतुदृष्टान्तैः प्रमाणभूतैरशक्नुवन्तः स्वपक्षे आत्मानं 'यापयितुम्' संस्थापयितुम् 'ततः' तस्माद्युक्तिभिः प्रतिपादयितुम् सामर्थ्याभावाद् 'वादं निराकृत्य' सम्य-

१ °ध्यन्ते आ.। २ प्रतिद्वे° आ.। ३ जहित्तते इ.। ४ °ब्भियं इ.। ५ अ×द्दुता आ.। ६ आत्तो से आ.।

र्हेतुदृष्टान्तैर्यो वादो–जल्पस्तं परित्यज्य ते तीर्थिका 'भूयः' पुनरपि वादपरित्यागे सत्यपि 'प्रगल्भिता' धृष्टतां गता इदमूचुः, तद्यथा–"पुराणं मानवो धर्मः, साङ्गो वेदश्चिकित्सितम् । आज्ञासिद्धानि चत्वारि, न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥१॥" अन्यच्च किमनया बहिरङ्गया युक्त्याऽनुमानादिकयाऽत्र धर्मपरीक्षणे विधेये कर्तव्यमस्ति, यतः प्रत्यक्ष एव बहुजनसंमतत्वेन राजाद्याश्रयणाच्चायमेवास्मदभिप्रेतो धर्मः श्रेयान्नापर इत्येवं विवदन्ते, तेषामिदमुत्तरम्–न ह्यत्र ज्ञानादिसाररहितेन बहुनाऽपि प्रयोजनमस्तीति, उक्तं च–"[1]एरंडकट्ठरासी जहा य गोसीसचंदनपलस्स । मोल्लेे न होज्ज सरिसो कित्तियमेत्तो गणिज्जंतो ॥१॥" [2]तहवि गणणातिरेगो जह रासी सो न चंदनसरिच्छो । तह निव्विण्णाणमहाजणोवि [3]सोज्झे विसंवयति ॥२॥ [4]एक्को सचक्खुगो जह अंधलयाणं सएहिं बहुएहिं । होइ वरं दट्ठवो णहु ते बहुगा अपेच्छंता ॥३॥ [5]एवं बहुगावि मूढा ण पमाणं जे गइं ण याणंति । संसारगमणगुविलं णिउणस्स य बंधमोक्खस्स ॥४॥" इत्यादि ॥१७॥ अपिच–'रागदोसा' इत्यादि, रागश्च–प्रीतिलक्षणो, द्वेषश्च–तद्विपरीतलक्षणस्ताभ्यामभिभूत आत्मा येषां परतीर्थिकानां ते [6]तथा, 'मिथ्यात्वेन' विपर्यस्तावबोधेनातत्त्वाध्यवसायरूपेण 'अभिद्रुता' व्याप्ताः सद्युक्तिभिर्वादं कर्तुमसमर्थाः क्रोधानुगा 'आक्रोशान्' असभ्यवचनरूपांस्तथा दण्डमुष्ट्यादिभिश्च हनन[7]व्यापारं 'यान्ति' आश्रयन्ते । अस्मिन्नेवार्थे प्रतिपाद्ये दृष्टान्तमाह–यथा 'टङ्कणा' म्लेच्छविशेषा

सा. १ एरण्डकाष्ठराशिर्यथा च गोशीर्षचन्दनपलस्य । मूल्येन न भवेत् सदृशः कियन्मात्रो गण्यमानः ॥१॥ २ तथापि गणनातिरेको यथा राशिः स न चन्दनसदृशः । तथा निर्विज्ञानमहाजनोऽपि मूल्ये विसंवदते ॥२॥ ३ मोल्ले आ. सो जे इ. । सा. ४ एकः सचक्षुष्को यथा अन्धानां शतैर्बहुभिर्भवति वरं द्रष्टव्यो नैव बहुका अप्रेक्षमाणाः ॥३॥ ५ एवं बहुका अपि मूढा न प्रमाणं ये गतिं न जानन्ति । संसारगमनवक्रां निपुणयोर्बन्धमोक्षयोश्च ॥४॥ ६ तथा तथा आ. इ. । ७ व्यापारान् शरणं यान्ति आ. व्यापारं शरणं यान्ति इ. ।

दुर्जया यदा परेण बलिना स्वानीकादिनाऽभिद्रूयन्ते तदा ते नानाविधै[1]रप्यायुधैर्योद्धुमसमर्थाः सन्तः पर्वतं शरणमाश्रयन्ति, एवं तेऽपि कुतीर्थिका वादपराजिताः क्रोधाद्युपहतदृष्टय आक्रोशादिकं शरणमाश्रयन्ते, न च ते इदमाकलय्य प्रत्याक्रोष्टव्याः, तद्यथा—"अ[2]क्कोसहणणमारणधम्मब्भंसाण बालसुलभाणं। लाभं मन्नइ धीरो जहुत्तराणं अभावंमि ॥१॥" ॥१८॥ किञ्चान्यत्—

बहुगुणप्पगप्पाइं, कुज्जा अत्तसमाहिए। जेण[3]ऽन्ने णो विरुज्झेज्जा, तेण तं तं समायरे ॥१९॥

इमं च धम्ममादाय, कासवेण पवेईयं[4]। कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स, अ[5]गिलाए समाहिए ॥२०॥

सं[6]खाय पेसलं धम्मं, दिट्ठिमं परिनिव्वुडे। उवसग्गे नियामित्ता[7], आमोक्खाए परिव्वएज्जाऽसि ॥२१॥

[8]त्तिबेमि। इति ततीयअज्झयणस्स तईओ उद्देसो समत्तो॥ (गाथाग्रं २३४)

'बहुगुण' इत्यादि, 'बहवो गुणाः' स्वपक्षसिद्धिपरदोषोद्भावनादयो माध्यस्थ्यादयो वा प्र[9]कल्पन्ते—प्रादुर्भवन्त्यात्मनि येष्वनुष्ठानेषु तानि बहुगुणप्रकल्पानि—प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तोपनयनिगमनादीनि माध्यस्थ्यवचनप्रकाराणि वा अनुष्ठानानि साधुर्वादकाले अन्यदा वा 'कुर्यात्' विदध्यात्, स एव विशिष्यते—आ[10]त्मनः 'समाधिः' चित्तस्वास्थ्यं यस्य स भवत्यात्मसमाधिकः, एतदुक्तं भवति—येन卐

१ °विधैर्योद्धुरप्यायुधैर्योद्धु° आ.। सा. २ आक्रोशहननमारणधर्मभ्रंशानां बालसुलभानां (मध्ये)। लाभं मन्यते धीरो यथोत्तराणामभावे ॥१॥ ३ जेणण्णो न आ. इ.। ४ °इया इ.। ५ × गिलाए आ.। ६ संखाए आ. इ.। ७ °एत्ता आ.। ८ त्ति ×× इ.। ९ प्रकल्प्यन्ते आ. इ.। १० आत्मसमाधिः 卐 स्वस्तिकद्वयान्तरस्थः पाठः आ. ताडपत्रीयेनास्ति।

येनोपन्यस्तेन हेतुदृष्टान्तादिना आत्मसमाधिः–स्वपक्षसिद्धिलक्षणो माध्यस्थ्यवचनादिना वा परानुपघातलक्षणः समुत्पद्यते तत् तत् कुर्यादिति, तथा येनानुष्ठितेन वा भाषितेन वा अन्यतीर्थिको धर्मश्रवणादौ वाऽन्यः प्रवृत्तौ 'न विरुध्येत' न विरोधं गच्छेत् , तेन पराविरोधकारणेन तत्तदविरुद्धमनुष्ठानं वचनं वा 'समाचरेत्' कुर्यादिति ॥१९॥ तदेवं परमतं निराकृत्योपसंहारद्वारेण स्वमतस्थापनायाह–'इमं च' इत्यादि, 'इम' मिति वक्ष्यमाणं दुर्गतिधारणाद्धर्मम् 'आदाय'–उपादाय गृहीत्वा 'काश्यपेन'–श्रीमन्महावीरवर्द्धमानस्वामिनोत्पन्नदि-
॥८॥ व्यज्ञानेन संदेवमनुजायां पर्षदि प्रकर्षेण–यथावस्थितार्थनिरूपणद्वारेण वेदितं–प्रवेदितं, चशब्दात् परमतं च निराकृत्य, भिक्षणशीलो भिक्षुः 'ग्लानस्य' अपटोरपरस्य भिक्षोर्वैयावृत्त्यादिकं कुर्यात् , कथं कुर्याद् ?, एतदेव विशिनष्टि–स्वतोऽप्यग्लानतया यथाशक्ति 'समाहितः' समाधिं प्राप्त इति, इदमुक्तं भवति–यथा यथाऽऽत्मनः समाधिरुत्पद्यते न तत्करणेन अपाटवसंभवात् योगा विषीदन्तीति, तथा यथा तस्य च ग्लानस्य समाधिरुत्पद्यते तथा पिण्डपातादिकं विधेयमिति ॥२०॥ किं कृत्वैतद्विधेयमिति दर्शयितुमाह–'संखाय' इत्यादि, संख्याय–ज्ञात्वा, कं ?–'धर्मं' सर्वज्ञप्रणीतं श्रुतचारित्राख्यभेदभिन्नं 'पेशलम्' इति सुश्लिष्टं प्राणिनामहिंसादिप्रवृत्त्या प्रीतिकारणं, किम्भू-
॥१०॥ तमिति दर्शयति–दर्शनं दृष्टिः सद्भूतपदार्थगता सम्यग्दर्शनमित्यर्थः सा विद्यते यस्यासौ दृष्टिमान् यथावस्थितपदार्थपरिच्छेदवानित्यर्थः, तथा 'परिनिर्वृतो' रागद्वेषविरहाच्छान्तीभूतस्तदेवं धर्मं पेशलं परिसंख्याय दृष्टिमान् परिनिर्वृत उपसर्गाननुकूलप्रतिकूलान्नियम्य–संयम्य सोढा, नोपसर्गैरुपसर्गितोऽसमञ्जसं विदध्यादित्येवम् 'आमोक्षाय' अशेषकर्मक्षयप्राप्तिं यावत् परि–समन्तात् व्रजेत्–संयमानुष्ठानोद्युक्तो भवेत् परिव्रजेद् , इतिः परिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥२१॥ उपसर्गपरिज्ञायास्तृतीयोद्देशकः समाप्तः ॥३॥

१ °पानादिकं आ । २ °च्छीती° आ. इ. । ३ सोढ्वा आ. इ. ।

अथ तृतीयोपसर्गाध्ययने चतुर्थोद्देशकस्य प्रारम्भः ॥

उक्तस्तृतीयोद्देशकः, साम्प्रतं चतुर्थः समारभ्यते–अस्य चायमभिसम्बन्धः, इहानन्तरोद्देशके अनुकूलप्रतिकूलोपसर्गाः प्रतिपादिताः, तैश्च कदाचित्साधुः शीलात् प्रच्याव्येत–तस्य च स्खलितशीलस्य प्रज्ञापनाऽनेन प्रतिपाद्यते इति, अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिमं सूत्रम्—

आहंसु महापुरिसा, पुव्विं तत्ततवोधणा। उदएण सिद्धिमावन्ना, तत्थ मंदो विसीयति ॥१॥

अभुंजिया नमी विदेही, रामगुत्ते य भुंजिआ। बाहुए उदगं भोच्चा, तहा नारायणे[3] रिसी ॥२॥

'आहंसु' इत्यादि, केचन अविदितपरमार्था 'आहुः'–उक्तवंतः, किं तदि[1]त्याह–यथा 'महापुरुषाः'–प्रधानपुरुषा वल्कलचीरितारागणर्षिप्रभृतयः 'पूर्वं'–पूर्वस्मिन् काले, तप्तम्–अनुष्ठितं तप एव धनं येषां[5] ते तप्ततपोधनाः–पञ्चाग्न्यादितपोविशेषेण निष्टप्तदेहाः, त एवम्भूताः शीतोदकपरिभोगेन, उपलक्षणार्थत्वात् कन्दमूलफलाद्युपभोगेन च 'सिद्धिमापन्नाः'–सिद्धिं गताः, 'तत्र' एवम्भूतार्थसमाकर्णने तदर्थसद्भावावेशात् 'मन्दः' अज्ञोऽस्नानादित्याजितः प्रासुकोदकपरिभोगभग्नः संयमानुष्ठाने विषीदति, यदिवा तत्रैव शीतोदकपरिभोगे विषीदति लगति निमज्जतीतियावत्, न त्वसौ वराक एवमवधारयति, यथा–तेषां तापसादिव्रतानुष्ठायिनां कुतश्चिज्जातिस्मरणादिप्रत्यया-

१ °य आ. । २ वे° आ. इ. । ३ तारागणे आ. इ. । ४ °त्यादि आ. । ५ यैस्ते आ. ।

दाविर्भूतसम्यग्दर्शनानां मौनीन्द्रभावसंयमप्रतिपत्त्या अपगतज्ञानावरणीयादिकर्मणां भरतादीनामिव मोक्षावाप्तिः, न तु शीतोदकपरिभोगादिति ॥१॥ किञ्चान्यत्–'अभुंजिया नमी'इत्यादि, केचन कुतीर्थिकाः साधुप्रतारणार्थमेवमूचुः, यदिवा स्ववर्ग्याः शीतलविहारिण एतद् वक्ष्यमाणमुक्तवन्तः, तद्यथा–नमीराजा विदेहो नाम जनपदस्तत्र भवा वैदेहाः–तन्निवासिनो लोकास्तेऽस्य सन्तीति वैदेही, स एवम्भूतो नमी राजा अशनादिकमभुक्त्वा सिद्धिमुपगतः, तथा रामगुप्तश्च राजर्षिराहारादिकं 'भुक्त्वैव' भुञ्जान एव सिद्धिं प्राप्त इति, तथा बाहुकः शीतोदकादिपरिभोगं कृत्वा [2]तथा नारायणो नाम महर्षिः परिणतोदकादिपरिभोगात् सिद्ध इति ॥२॥ अपिच—

आसिले देविले चेव, दीवायण महारिसी। पारासरे दगं भोच्चा, बीयाणि हरियाणि य ॥३॥

एते पुं[3]व्वं महापुरिसा, आहिता इह संमता। भोच्चा बीओदगं सिद्धा, इति मेयमणुस्सुअं ॥४॥

'आसिले' इत्यादि, आसिलो नाम महर्षिस्तथा देविलो द्वैपायनश्च तथा पराशराख्य इत्येवमादयः शीतोदकबीजहरितादिपरिभोगादेव सिद्धा इति श्रूयते ॥३॥ एतदेव दर्शयितुमाह–'एते' इत्यादि, एते पूर्वोक्ता नम्यादयो महर्षयः 'पूर्वमि'ति पूर्वस्मिन्काले त्रेताद्वापरादौ 'महापुरुषा' इति प्रधानपुरुषा आ–समन्तात् ख्याताः आख्याताः–प्रख्याता राजर्जित्वेन प्रसिद्धिमुपगता इहापि आर्हते प्रवचने ऋषिभाषितादौ केचन 'सम्मता'–अभिप्रेता इत्येवं कुतीर्थिकाः स्वयूथ्या वा प्रोचुः, तद्यथा–एते सर्वेऽपि बीजोदकादिकं भुक्त्वा सिद्धा इत्येतन्मया भारतादौ पुराणे श्रुतम् ॥४॥ एतदुपसंहारद्वारेण परिहरन्नाह—

---

१ °य णमी° आ. °ता णमिं° इ. । २ ×× तारागणो आ. । ३ पुव्व इ. । ४ महर्षि° आ. । ५ एवं आ. ।

तत्थ मंदा विसीअंति, वाहच्छिं[1]न्ना व गद्दभा[2] । पिट्ठ[3]तो परिसप्पंति, पिट्ठ[4]सप्पी य[5] संभमे ॥५॥
इहमेगे उ भासंति, सातं सातेण विज्जती । जे तत्थ आ[6]रियं मग्गं, परमं च समाहिए(यं) ॥६॥

'तत्थ' इत्यादि, तस्मिन् कुश्रुत्युपसर्गोदये 'मन्दा' अज्ञा नानाविधोपायसाध्यं सिद्धिगमनमवधार्य विषीदन्ति संयमानुष्ठाने, न पुनरेतद्विदन्त्यज्ञाः, तद्यथा–येषां सिद्धिगमनमभूत् तेषां कुतश्चिन्निमित्तात् जातजातिस्मरणादिप्रत्ययानामवाप्तसम्यग्ज्ञानचारित्राणामेव वल्कलचीरिप्रभृतीनामिव सिद्धिगमनमभूत् , न पुनः कदाचिदपि सर्वविरतिपरिणामभावलिङ्गमन्तरेण शीतोदकबीजाद्युपभोगेन जीवोपमर्दप्रायेण कर्मक्षयोऽवाप्यते, विषीदने दृष्टान्तमाह–वहनं वाहो–भारोद्वहनं तेन छिन्नाः–कर्षितास्त्रुँटिता रासभा इव विषीदन्ति, यथा–रासभा गमनपथ एव प्रोज्झितभारा निपतन्ति, एवं तेऽपि प्रोज्झ्य संयमभारं शीतलविहारिणो भवन्ति, दृष्टान्तान्तरमाह–यथा 'पृष्ठसर्पिणो' भग्नगतयोऽग्न्यादिसम्भ्रमे सत्युद्भ्रान्तनयनाः समाकुलाः प्रनष्टजनस्य 'पृष्ठतः' पश्चात्परिसर्पन्ति नाग्रगामिनो भवन्ति, अपि तु तत्रैवाग्न्यादिसम्भ्रमे विनश्यन्ति, एवं तेऽपि शीतलविहारिणो मोक्षं प्रति प्रवृत्ता अपि तु न मोक्षगतयो भवन्ति अपि तु तस्मिन्नेव संसारे अनन्तमपि कालं यावदासत इति ॥५॥ मतान्तरं निराकर्तुं पूर्वपक्षयितुमाह–'इहमेगे' इत्यादि, 'इहे'ति मोक्षगमनविचारप्रस्तावे 'एके' शाक्यादयः स्वयूथ्या वा लोचादिनोपतप्ताः, तुशब्दः पूर्वस्मात् शीतोदकादिपरिभोगाद्विशेषमाह, 'भाषन्ते' ब्रुवते मन्यन्ते वा क्वचित्पाठः, किं तदित्याह–'सातं'–सुखं,'सातेन'–सुखेनैव 'विद्यते' भवतीति, तथा च वक्तारो भवन्ति–"सर्वाणि सत्त्वानि सुखे रतानि,

१ छिण्णा आ. । २ °हा आ. । ३ पिठ्ठउ आ. । ४ पीढ° इ. । ५ व आ. इ. । ६ आरितं आ. आयरियं इ. । ७ स्त्रुद्दा आ. स्त्रुदिता इ. । ८ अपि× आ. इ. । ९ °त्यादि आ. ।

सर्वाणि दुःखाच्च समुद्विजन्ते। तस्मात् सुखार्थी सुखमेव दद्यात्, सुखप्रदाता लभते सुखानि ॥१॥" युक्तिरप्येवमेव स्थिता[1], यतः कारणानुरूपं कार्यमुत्पद्यते, तद्यथा–शालिबीजाच्छाल्यङ्कुरो जायते न यवाङ्कुर इत्येवमिहत्यात् सुखान्मुक्तिसुखमुपजायते, न तु लोचादिरूपात् दुःखादिति, तथा ह्यागमोऽप्येवमेव व्यवस्थितः–"मणुण्णं भोयणं भोच्चा, मणुण्णं सयणासणं। मणुण्णंसि अगारंसि[3], मणुण्णं झायए मुणी ॥१॥" तथा "मृद्वी शय्या प्रातरुत्थाय पेया, भक्तं मध्ये पानकं चापराह्णे। द्राक्षाखण्डं शर्करा चार्द्धरात्रे, मोक्षश्चान्ते
॥८॥ शाक्यपुत्रेण दृष्टः ॥१॥" इत्यतो मनोज्ञाहारविहारादेश्चित्तस्वास्थ्यं ततः समाधिरुत्पद्यते समाधेश्च मुक्त्यवाप्तिः, अतः स्थितमेतत्–सुखेनैव सुखावाप्तिः न पुनः कदाचनापि लोचादिना कायक्लेशेन सुखावाप्तिरिति स्थितं, इत्येवं व्यामूढतयो ये केचन शाक्यादयः, 'तत्र' तस्मिन्मोक्षविचारप्रस्तावे समुपस्थिते आराद्यातः सर्वहेयधर्मेभ्य ई[4]त्यार्यो मार्गो जैनेन्द्रशासनप्रतिपादितो मोक्षमार्गस्तं ये परिहरन्ति, तथा च–'परमं च समाधिं' ज्ञानदर्शनचारित्रात्मकं ये त्यजन्ति तेऽज्ञाः संसारान्तर्वर्तिनः सदा भ[5]वन्ति, तथाहि–यत्तै[6]रभिहितं–कारणानुरूपं कार्यमिति, तन्नायमेकान्तो, यतः शृङ्गाच्छरो जायते, गोमयाद् वृश्चिको गोलोमाविलोमादिभ्यो दूर्वेति, यदपि मनोज्ञाहारादिकमु-
॥१०॥ पन्यस्तं सुखकारणत्वेन तदपि विशूचिकादिसंभवाद्व्यभिचारीति, अपिच–इदं वैषयिकं सुखं दुःखप्रतीकारहेतुत्वात् सुखाभासतया सुखमेव न भवति, तदुक्तम्–"दुःखात्मकेषु विषयेषु सुखाभिमानः, सौख्यात्मकेषु नियमादिषु दुःखबुद्धिः। उत्कीर्णवर्णपदपङ्क्तिरिवान्यरूपा, सारूप्यमेति विपरीतगतिप्रयोगात् ॥१" इति, कुतस्तत्परमानन्दरूपस्यात्यन्तिकैकान्तिकस्य मोक्षसुखस्य कारणं भवति, यदपि च

१ व्यवस्थिता आ. इ.। सा. २ मनोज्ञं भोजनं भुक्त्वा मनोज्ञे शयनासने। मनोज्ञेऽगारे मनोज्ञं ध्यायेन्मुनिः ॥१॥ ३ °मि आ.। ४ आर्यो आ.। ५ संभवन्ति आ.। ६ °रुक्तं आ. इ.। ७ °मभ्यो आ. इ.।

लोचभू[1]शयनभिक्षाटनपरिभवक्षुत्पिपासादंशमशकादिकं दुःखकारणत्वेन भवतोपन्यस्तं तदत्यन्ताल्पसत्त्वानामपरमार्थदृशां, महापुरुषाणां तु स्वार्थाभ्युपगमप्रवृत्तानां परमार्थचिन्तैकतानानां महासत्त्वतया सर्वमेवैतत्सुखायैवेति, तथा चोक्तम्–"[2]तणसंथारनि[3]विण्णोवि मुनिवरो भट्ठरागमयमोहो। जं पावइ मु[4]त्तिसुहं कत्तो तं चक्कवट्टीवि ? ॥१॥" तथा–"दुःखं दुष्कृतसंक्षयाय महतां क्षान्तेः पदं वैरिणः, कायस्याशुचिता विरागपदवी संवेगहेतुर्जरा। सर्वत्यागमहोत्सवाय मरणं जातिः सुहृत्प्रीतये, संपद्भिः परिपूरितं जगदिदं स्थानं विपत्तेः कुतः ? ॥१॥" इति, अपिच–एकान्तेन सुखेनैव सुखेऽभ्युपगम्यमाने विचि[5]त्रसंसाराभावः स्यात्, तथा स्वर्गस्थानां नित्यसुखिनां पुनरपि सुखानुभूतेस्तत्रैवोत्पत्तिः स्यात्, तथा नारकाणां च पुनर्दुःखानुभवात्तत्रैवोत्पत्तेः, न नानागत्या विचित्रता संसारस्य स्यात्, न चैतत् दृष्टमिष्टं चेति ॥६॥ अतो व्यपदिश्यते—

मा [6]एयं अवम[7]न्नंता, अप्पेणं लुंपहा बहुं। एतस्स (उ)अमोक्खाए, अओहारिव्व जूरह ॥७॥

पाणाइवाते[8] वट्टंता, मुसावादे असंजता। अदिन्नादाणे वट्टंता, मेहुणे य परिग्गहे ॥८॥

'मा एयं' इत्यादि, 'एनम्' आर्यं मार्गं जैनेन्द्रप्रवचनं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमोक्षमार्गप्रतिपादकं 'सुखं सुखेनैव विद्यते' इत्या[9]दिमोहेन मोहिता 'अवमन्यमानाः' परिहरन्तः 'अल्पेन' वैषयिकेण सुखेन मा 'बहु' परमार्थसुखं मोक्षाख्यं 'लुम्पथ' विध्वंसथ, तथाहि–मनोज्ञाऽऽहारादिना कामोद्रेकः, तदुद्रेकाच्च चित्तास्वास्थ्यं न पुनः समाधिरिति, अपि च 'एतस्य' असत्पक्षाभ्युपगमस्य 'अ-

१ °भूमिश° आ. इ.। सा. २ तृणसंस्तारनिषण्णोऽपि मुनिवरो भ्रष्टरागमदमोहः। यत्प्राप्नोति मुक्तिसुखं कुतस्तत् चक्रवर्त्यपि ? ॥१॥ ३ निव° आ. इ.। ४ मोत्ति° आ.। ५ संभारा° आ.। ६ तेतं इ.। ७ °मंतित्ता आ.। ८ वाए आ. वाते इ.। ९ इत्यादिना आ. इ.।

मोक्षे' अपरित्यागे सति 'अयोहारिव्व जूरह'त्ति आत्मानं यूयं कदर्थयथ, केवलं, यथाऽसौ अयसो-लोहस्याऽऽहर्त्ता अंपान्तराले रूप्यादिलाभे सत्यपि दूरमानीतमितिकृत्वा नोज्झितवान्, पश्चात् स्वावस्थानावाप्तावल्पलाभे सति जूरितवान्-पश्चात्तापं कृतवान् एवं भवन्तोऽपि जूरयिष्यन्तीति ॥७॥ पुनरपि 'सातेन सात'मित्येवंवादिनां शाक्यानां दोषोद्भिभावयिषयाह-'पाणाइवाते'इत्यादि, प्राणातिपातमृषावादादत्तादानमैथुनपरिग्रहेषु वर्तमाना असंयता यूयं वर्तमानसुखैषिणोऽल्पेन वैषयिकसुखाभासेन पारमार्थिकमेकान्तात्यन्तिकं बहु मोक्षसुखं विलुम्पथेति, किमिति ?, यतः पचनपाचनादिषु क्रियासु वर्तमानाः सावद्यानुष्ठानारम्भतया प्राणातिपातमाचरथ तथा येषां जीवानां शरीरोपभोगो भवद्भिः क्रियते तानि शरीराणि तत्स्वामिभिरदत्तानीत्यदत्तादानाचरणं तथा गोमहिष्यजोष्ट्रादिपरिग्रहात्तन्मैथुनानुमोदनादब्रह्मेति तथा प्रव्रजिता वयमित्येवमुत्थाय गृहस्थाचरणानुष्ठानान्मृषावादः तथा धनधान्यद्विपदचतुष्पदादिपरिग्रहात् परिग्रह इति ॥८॥ साम्प्रतं मतान्तरदूषणाय पूर्वपक्षयितुमाह—

एवमेगे उ पासत्था, पन्नवंति अणारिया। इत्थीवसं गया बाला, जिणसासणपरम्मुहा ॥९॥
जहा गंडं पिलागं वा, परिपीलेज्ज मुहुत्तगं। एवं विन्नवणित्थीसु, दोसो तत्थ कओ सिआ ? ॥१०॥
जहा मंधादए नाम, थिमिअं भुंजती दगं। एवं विन्नवणित्थीसु, दोसो तत्थ कओ सिआ ? ॥११॥
जहा विहंगमा पिंगा, थिमिअं भुंजती दगं। एवं विन्नवणित्थीसु, दोसो तत्थ कओ सिआ ! ॥१२॥

१ °हारीव आ. इ.। २ °यथैव आ.। ३ अवा° आ.। ४ °ष्यथेति आ.। ५ इह° इ.। ६ °वसगा आ. °संगता इ.। ७ °दती आ. दइ इ.। ८ °त्तं इ.

एवमेगे उ पासत्था, मिच्छदिट्ठी अणारिया। अज्झोववन्ना कामेहिं, पूयणा इव तरुएण ॥१३॥

'एवमेगे'इत्यादि, तुशब्दः पूर्वस्माद्विशेषणार्थः, 'एवमि'ति वक्ष्यमाणया नीत्या, यदिवा प्राक्तन एव श्लोकोऽत्रापि सम्बन्धनीयः, एवमिति प्राणातिपातादिषु वर्तमाना 'एके' इति बौद्धविशेषा नीलपटादयो नाथवादिकमण्डलप्रविष्टा वा शैवविशेषाः, सदनुष्ठानात् पार्श्वे तिष्ठन्तीति पार्श्वस्थाः, स्वयूथ्या वा पार्श्वस्थावसन्नकुशीलादयः स्त्रीपरीषहपराजिताः, त एवं 'प्रज्ञापयन्ति' प्ररूपयन्ति अनार्याः, अनार्यकर्मकारित्वात्, तथाहि ते वदन्ति-"प्रियादर्शनमेवास्तु, किमन्यैर्दर्शनान्तरैः ?। प्राप्यते येन निर्वाणं, सरागेणापि चेतसा ॥१॥" किमित्येवं तेऽभिदधतीत्याह-'स्त्रीवशं गताः' यतो युवतीनामाज्ञायां वर्तन्ते 'बाला' अज्ञा रागद्वेषोपहतचेतस इति, रागद्वेषजितो जिनास्तेषां शासनम्-आज्ञा कषायमोहोपशमहेतुभूता तत्पराङ्मुखाः संसाराभिष्वङ्गिणो जैनमार्गविद्वेषिणः 'एतद्' वक्ष्यमाणमूचुरिति ॥९॥ यदूचुस्तदाह-'जहा गंडं'इत्यादि, यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः, 'यथा' येन प्रकारेण कश्चित् गण्डी पुरुषो गण्डं समुत्थितं पिटकं वा तज्जातीयकमेव तदाकूतोपशमनार्थं 'परिपीड्य' पूयरुधिरादिकं निर्गाल्य मुहूर्तमात्रं सुखितो भवति, न च दोषेणानुषज्यते, एवमत्रापि 'स्त्रीविज्ञापनायां' युवतिप्रार्थनायां रमणीसम्बन्धे गण्डपरिपीडनकल्पे दोषस्तत्र कुतः स्यात् ?, न ह्येतावता क्लेदापगममात्रेण दोषो भवेदिति ॥१०॥ स्याच्चत्र दोषो यदि काचित्पीडा भवेत्, न चासाविहास्तीति दृष्टान्तेन दर्शयति-'जहा'इत्यादि, 'यथे'त्ययमुदाहरणोपन्यासार्थः, 'मन्धादन' इति मेषः नामशब्दः सम्भावनायां यथा मेषः तिमितम् अनालोडयन्नुदकं पिबत्यात्मानं प्रीणयति, न च तथाऽन्येषां किञ्चनोपघातं विधत्ते, एवमत्रापि स्त्रीसम्बन्धे न काचिदन्यस्य पीडा आत्मनश्च प्रीणनम्, अतः कुतस्तत्र दोषः स्यादिति ॥११॥

१ मिच्छा° आ.। सा. २ चक्षुषेति प्र०। सा. ३ आकोपः वि० प० तदाकूतो० प्र०। ४ °नो भवंति आ.। ५ °ज्यते आ.। ६ °द×आ. इ.। ७××द°आ.

अस्मिन्नेवानुपघातार्थे दृष्टान्तबहुत्वख्यापनार्थं दृष्टान्तान्तरमाह-'जहा विहंगम' इत्यादि,'यथा' येन प्रकारेण विहायसा गच्छतीति विहंगमा-पक्षिणी 'पिंगे'ति कपिञ्जला साऽऽकाश एव वर्तमाना: 'तिमितं' निभृतमुदकमापिबति, एवमत्रापि दर्भप्रदानपूर्विकया क्रियया अरक्तद्विष्टस्य पुत्राद्यर्थं स्त्रीसम्बन्धं कुर्वतोऽपि कपिञ्जलाया इव न तस्य दोष इति, साम्प्रतमेतेषां गण्डपीडनतुल्यं स्त्रीपरिभोगं मन्यमानानां तथैडकोदकपानसदृशं परपीडाऽनुत्पादकत्वेन परात्मनोश्च सुखोत्पादकत्वेन किल मैथुनं जायत इत्यध्यवसायिनां तथा कपिञ्जलोदकपानं यथा तडागोदकासंस्पर्शेन किल भवत्येवमरक्तद्विष्टतया दर्भाद्युत्तारणात् स्त्रीगात्रासंस्पर्शेन पुत्रार्थं न कामार्थं ऋतुकालाभिगामितया शास्त्रोक्तविधानेन मैथुनेऽपि न दोषानुषङ्गः, तथा चोचुस्ते-"धर्मार्थं पुत्रकामस्य, स्वदारेष्वधिकारिणः। ऋतुकाले विधानेन, दोषस्तत्र न विद्यते ॥१॥" इति, एवमुदासीनत्वेन व्यवस्थितानां दृष्टान्तैनैव निर्युक्तिकारो गाथात्रयेणोत्तरदानायाह—

जह णाम मंडलग्गेण सिरं छेत्तू ण कस्सइ मणुस्सो। अच्छेज्ज पराहुत्तो किं नाम ततो ण घिप्पेज्जा? ॥५१॥

जह वा विसगंडूसं कोई घेत्तूण नाम तुण्हिक्को। अण्णेण अदीसंतो किं नाम ततो नँ व मरेज्जा! ॥५२॥

जह नाम सिरिघराओ कोइ रयणाणि णाम घेत्तूणं। अच्छेज्ज पराहुत्तो किं णाम ततो नँ घेप्पेज्जा? ॥५३॥

'जह णाम' इत्यादि,'जह वा विसगंडूसं' इत्यादि, 'जह णाम सिरिघराओ' इत्यादि, यथा [ग्रन्थाग्रम् ३०००] नाम कश्चिन्मण्डलाग्रेण कस्यचिच्छिरश्छित्त्वा पराङ्मुखस्तिष्ठेत्, किमेतावतोदासीनभावावलम्बनेन 'न गृह्येत' नापराधी भवेत्?। तथा-यथा कश्चिद्वि-

१ xxxxxxxxxx दृ° आ। २ °यन्तर° अ °द्यतर° इ। ३ रतार्थं आ.। ४ °कामतया। ५ °न्तैरेव आ. इ। ६ मणुस्से अ. आ.। ७ नवि मरेज्जा अ. नवि सरेज्झा आ.। ८ वा वि आ.।

षगण्डूषं 'गृहीत्वा' पीत्वा नाम तूष्णींभावं भजेदन्येन चादृश्यमानोऽसौ किं नाम 'ततः' असावन्यादर्शनात् न म्रियेत ? । तथा–यथा कश्चित् श्रीगृहाद्–भाण्डागाराद्रत्नानि महार्घाणि गृहीत्वा पराङ्मुखस्तिष्ठेत्, किमेतावताऽसौ न गृह्येतेति ? । अत्र च यथा–कश्चित् शठतया अज्ञतया वा शिरश्छेदविषगण्डूषरत्नापहाराख्ये सत्यपि दोषत्रये माध्यस्थ्यमवलम्बेत, न च तस्य तदवलम्बनेऽपि निर्दोषतेति, एवमत्राप्यवश्यंभाविरागकार्ये मैथुने सर्वदोषास्पदे संसारवर्द्धके कुतो निर्दोषतेति तथा चोक्तम् "प्राणिनां बाधकं चैतच्छास्त्रे गीतं महर्षिभिः । नलिकातप्तकणकप्रवेशज्ञाततस्तथा ॥१॥ मूलं चैतदधर्मस्य, भवभावप्रवर्धनम् । तस्माद्विषान्नवत्त्याज्यमिदं पापमनिच्छता ॥२॥" इति निर्युक्तिगाथात्रयतात्पर्यार्थः । साम्प्रतं सूत्रकार उपसंहारव्याजेन गण्डपीडनादिदृष्टान्तवादिनां दोषोद्भिभावयिषयाह–'एवमेगे' इत्यादि, 'एव'मिति गण्डपीडनादिदृष्टान्तबलेन निर्दोषं मैथुनमिति मन्यमाना 'एके' स्त्रीपरीषहपराजिताः सदनुष्ठानात् पार्श्वे तिष्ठन्तीति पार्श्वस्था नाथवादिकमण्डलचारिणः, तुशब्दात् स्वयूथ्या वा, तथा मिथ्या–विपरीता तत्त्वाग्राहिणी दृष्टिः–दर्शनं येषां ते तथा, आरात्–दूरे, याता–गताः सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्याः न आर्या अनार्याः धर्मविरुद्धानुष्ठानात् , त एवंविधा 'अध्युपपन्ना' गृद्धव इच्छामदनरूपेषु कामेषु कामैर्वा करणभूतैः सावद्यानुष्ठानेष्विति, अत्र लौकिकं दृष्टान्तमाह–यथा वा 'पूतना' डाकिनी 'तरुणके' स्तनन्धयेऽध्युपपन्ना, एवं तेऽप्यनार्याः कामेष्विति, यदिवा 'पूयण'त्ति गड्डरिका आत्मीयेऽपत्येऽध्युपपन्ना, एवं तेऽपीति, कथानकं चात्र–यथा किल सर्वपशूनामपत्यानि निरुदके कूपेऽपत्यस्नेहपरीक्षार्थं क्षिप्तानि, तत्र चापरा मातरः स्वकीयस्तनन्धयशब्दाकर्णनेऽपि कूपतटस्था रुदन्त्यस्तिष्ठन्ति, उरभ्री त्वपत्यातिस्नेहेनान्धा अपायमनपेक्ष्य तत्रैवात्मानं क्षिप्तवतीत्यतोऽपरपशुभ्यः स्वापत्येऽध्युपपन्नेति, एवं तेऽपि ॥१३॥

१ पीत्वापि आ. इ. । २ °र्हाणि आ. । ३ °द्विषवत्त्या° आ. । ४ यथा× आ. इ. । ५ °ये ××× अ° आ. ।

कामाभिष्वङ्गिणां दोपमाविष्कुर्वन्नाह—

अणागयमपस्संता, पच्चुप्पन्नगवेसगा । ते पच्छा परितप्पंति, खीणे[1] आउमि[2] जोव्वणे ॥१४॥

जेहिं काले परिक्कंतं, न पच्छा परितप्पए । ते धीरा[3] बंधणुम्मुक्का, नावकंखंति जीविअं ॥१५॥

'अणागय'मित्यादि, 'अनागतम्' एष्यत्कामानिवृत्तानां नरकादियातनास्थानेषु महत् दुःखम् 'अपश्यन्तः' अपर्यालोचयन्तः, तथा 'प्रत्युत्पन्नं' वर्तमानमेव वैषयिकं सुखाभासम् 'अन्वेषयन्तो'[4] मृगयमाणा नानाविधैरुपायैर्भोगान्प्रार्थयन्तः ते पश्चात् क्षीणे स्वायुषि जातसंवेगा यौवने वाऽपगते 'परितप्यन्ते' शोचन्ते पश्चात्तापं विदधति, उक्तं च—"हतं मुष्टिभिराकाशं, तुषाणां कण्डनं कृतम् । यन्मया प्राप्य मानुष्यं, सदर्थे नादरः कृतः ॥१॥" तथा—"विहँवावलेवनडिएहिं जाइं कीरंति जोव्वणमएणं । वयपरिणामे सँरियाइं[5][6] ताइं हिअए खुडुक्कंति ॥१॥" ॥१४॥ ये तूत्तमसत्त्वतया अनागतमेव तपश्चरणादावुद्यमं विदधति न ते पश्चाच्छोचन्तीति दर्शयितुमाह—'जेहिं काले' इत्यादि, 'यैः' आत्महितकर्तृभिः 'काले' धर्मार्जनावसरे 'पराक्रान्तम्' इन्द्रियकषायपराजयायोद्यमो विहितो न ते 'पश्चात्' मरणकाले वृद्धावस्थायां वा 'परितप्यन्ते' न शोकाकुला भवन्ति, एकवचननिर्देशस्तु सौत्रश्छान्दसत्वादिति, धर्मार्जनकालस्तु विवेकिनां प्रायशः सर्व एव, यस्मात् स एव प्रधानपुरुषार्थः, प्रधान एव च प्रायशः क्रियमाणो घटां प्राञ्चति, ततश्च ये बाल्यात्प्रभृत्यकृतविषयासङ्गतया कृततपश्चरणाः ते 'धीराः'[7] कर्मविदारणसहिष्णवो बन्धेन—स्नेहात्मकेन कर्मणा चोत्—प्राबल्येन मुक्ता नावकाङ्क्षन्ति

१ सीण आ. इ. । २ अतितंमि आ. । ३ वीरा आ. । ४ °यन्तो मृगयन्तो मृग° आ. ५ सा. विभावावलेपनठितैर्यानि न क्रियन्ते यौवनमदेन । वयः परिणामे स्मृतानि तानि हृदयं व्यणन्ते ॥१॥ ६ भरि° आ. चरि° इ. । ७ वीराः आ. ।

असंयमजीवितं, यदिवा–जीविते मरणे वा निःस्पृहाः संयमोद्यममतयो भवन्तीति ॥१५॥ अन्यच्च—

जहा नई वेयरणी, दुत्तरा इह संमता। एवं लोगंसि नारीओ, दुरुत्तरा अमईमया ॥१६॥

जेहिं नारीण संजोगा, पूयणा पिट्ठतो कता। सव्वमेयं निराकिच्चा, ते ठिया सुसमाहिए ॥१७॥

'जहा' इत्यादि, यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः, यथा वैतरणी नदीनां मध्येऽत्यन्तवेगवाहित्वात् विषमतटत्वाच्च 'दुस्तरा' दुर्लङ्घ्या 'एवम्' अस्मिन्नपि लोके नार्यः 'अमतिमता' निर्विविवेकेन हीनसत्त्वेन दुःखेनोत्तीर्यन्ते, तथाहि–ता हावभावैः कृतविद्यानपि स्वीकुर्वन्ति, तथा चोक्तम्–"सन्मार्गे तावदास्ते प्रभवति पुरुषस्तावदेवेन्द्रियाणां, लज्जां तावद्विधत्ते विनयमपि समालम्बते तावदेव। भ्रूचापाक्षेपमुक्ताः श्रवणपथजुषो नीलपक्ष्माण एते, यावल्लीलावतीनां न हृदि धृतिमुषो दृष्टिवाणाः पतन्ति ॥१॥" तदेवं वैतरणीनदीवत् दुस्तरा नार्यो भवन्तीति ॥१६॥ अपिच–'जेहिं'इत्यादि,'यैः' उत्तमसत्त्वैः स्त्रीसङ्गविपाकवेदिभिः पर्यन्तकटवो नारीसंयोगाः परित्यक्ताः, तथा तत्सङ्गार्थमेव वस्त्रालङ्कारमाल्यादिभिरात्मनः 'पूजना' कामविभूषा 'पृष्ठतः कृता' परित्यक्तेत्यर्थः, 'सर्वमेतत्' स्त्रीप्रसङ्गादिकं क्षुत्पिपासादि प्रतिकूलोपसर्गकदम्बकं च निराकृत्य ये महापुरुषसेवितपन्थानं प्रति प्रवृत्तास्ते सुसमाधिना–स्वस्थचित्तवृत्तिरूपेण व्यवस्थिताः, नोपसर्गैरनुकूलप्रतिकूलरूपैः प्रक्षोभ्यन्ते, अन्ये तु विषयाभिष्वङ्गिणः स्त्र्यादिपरीषहपराजिता अङ्गारोपरिपतितमीनवद्रागाग्निना दह्यमाना असमाधिना तिष्ठन्तीति ॥१७॥ स्त्र्यादिपरीषहपराजयस्य फलं दर्शयितुमाह—

एते ओघं तरिस्संति, समुद्दं ववहारिणो। जत्थ पाणा विसन्नासि, किच्चंती सयकम्मुणा ॥१८॥

१ दुत्तरा आ. इ.। २ निरे° इ.। ३ °णी नदी नदीनां आ.। ४ ××× आ.। ५ पूजा आ. इ.। ६ °षंगिणः आ.।

तं च भिक्खू परिण्णाय, सुव्वते समिते चरे । मुसावायं[1] च वज्जिज्जा, अदिन्नादाणं[2] च वोसिरे ॥१९॥
उड्ढमहे तिरियं वा, जे केई तसथावरा । सव्वत्थ विरतिं कुज्जा,

'एते'इत्यादि, ये[3] एते अनन्तरोक्ता अनुकूलप्रतिकूलोपसर्गजेतार एते सर्वेऽपि 'ओघं' संसारं दुस्तरमपि तरिष्यन्ति, द्रव्यौघदृष्टा-
न्तमाह–'समुद्रं' लवणसागरमिव यथा 'व्यवहारिणः' सांयात्रिका यानपात्रेण तरन्ति, एवं भावौघमपि संसारं संयमानपात्रेण यत-
९ यस्तरिष्यन्ति, तथा तीर्णास्तरन्ति चेति, भावौघमेव विशिनष्टि–'यत्र' यस्मिन् भावौघे–संसारसागरे 'प्राणाः' प्राणिनः स्त्रीविष-
यसंगाद्विषण्णाः सन्तः 'कृत्यन्ते' पीड्यन्ते 'स्वकृतेन' आत्मनाऽनुष्ठितेन पापेन 'कर्मणा' असद्वेदनीयोदयरूपेणेति ॥ १८ ॥
साम्प्रतमुपसंहारव्याजेनोपदेशान्तरदित्सयाह–तदेतद्यत्प्रागुक्तं यथा–वैतरणीनदीवत् दुस्तरा नार्यो यैः परित्यक्तास्ते समाधिस्थाः
संसारं तरन्ति, स्त्रीसङ्गिनश्च संसारान्तर्गताः स्वकृतकर्मणा कृत्यन्त इति, तदेतत्सर्वं भिक्षणशीलो भिक्षुः 'परिज्ञाय' हेयोपादे-
यतया बुद्ध्वा शोभनानि व्रतान्यस्य सुव्रतः पञ्चभिः समितिभिः समित इत्यनेनोत्तरगुणावेदनं कृतमित्येवंभूतः 'चरेत्' संय-
१० मानुष्ठानं विदध्यात्, तथा 'मृषावादम्' असद्भूतार्थभाषणं विशेषेण वर्जयेत्, तथा 'अदत्तादानं च व्युत्सृजेद्' दन्तशोधनमात्रमप्यदत्तं
न गृह्णीयात्, आदिग्रहणात् मैथुनादेः परिग्रह इति तच्च मैथुनादिकं यावज्जीवमात्महितं मन्यमानः परिहरेत् ॥१९॥ अपरव्रतानामहिं-
साया वृत्तिकल्पत्वात् तत्प्राधान्यख्यापनार्थमाह–ऊर्ध्वमधस्तिर्यक्चित्यनेन क्षेत्रप्राणातिपातो गृहीतः, तत्र[4] ये केचन त्रसन्तीति त्रसा–
द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियाः पर्याप्तापर्याप्तकभेदभिन्नाः[5], तथा तिष्ठन्तीति स्थावराः–पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः सूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तकभे-[6]

१ विवज्जेज्जा आ. । २ °दाणाइ आ. इ. । ३ ये ते आ. यत एते इ. । ४ ×× ये° आ. । ५ पर्याप्तकाऽपर्याप्तक° आ. इ. । ६ °पर्याप्तकभेदभिन्ना आ. ।

दभिन्ना इति, अनेन च[1] द्रव्यप्राणातिपातो गृहीतः, सर्वत्र काले सर्वास्[2]वेवस्थास्वित्यनेनापि कालभावभेदभिन्नः प्राणातिपात उपात्तो द्रष्टव्यः, तदेवं चतुर्दशस्वपि जीवस्थानेषु कृतकारितानुमतिभिर्मनोवाक्कायैः प्राणातिपातविरतिं कुर्यादित्यनेन पादोनेनापि श्लोकद्वयेन प्राणातिपातविरत्यादयो मूलगुणाः ख्यापिताः, साम्प्रतमेतेषां सर्वेषामेव मूलोत्तरगुणानां फ[3]लमुद्देशेनाह—

संति नि[4]व्वाणमाहियं ॥२०॥

इमं च धम्ममादाय, कासवेण पवेदितं । कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स, अगिलाए समाहिए ॥२१॥

संखाय पेसलं धम्मं, दिट्ठिमं परिनिव्वुडे । उवसग्गे नि[5]यामित्ता, आमोक्खाए परिव्वएज्जा[6]सि ॥२२॥

[7]त्तिबेमि । इति उवसग्गपरिन्नाणामं तइयं अज्झयणं सम्मत्तं ॥ [गाथाग्रं २५६]

'इमं च' इत्यादि, 'शान्तिः' इति कर्मदाहोपशमस्तदेव च 'निर्वाणं' मोक्षपदं य[8]द् 'आख्यातं' प्रतिपादितं सर्वद्वन्द्वापगमरूपं तदस्यावश्यं चरणकरणानुष्ठायिनः साधोर्भवतीति ॥२०॥ समस्ताध्ययनार्थोपसंहारार्थमाह—'इमं च[9] धम्ममि'त्यादि, 'इम'मिति पूर्वोक्तं मूलोत्तरगुणरूपं श्रुतचारित्राख्यं वा दुर्गतिधारणात् धर्मम् 'आदाय' आचार्योपदेशेन गृहीत्वा किम्भूतमिति तं[10]देव विशिनष्टि—'काश्यपेन' श्रीमन्महावीरवर्धमानस्वामिना समुत्पन्नदिव्यज्ञानेन भव्यसत्त्वाभ्युद्धरणाभिलाषिणा 'प्रवेदितम्' आख्यातं सं[11]मधिगम्य 'भिक्षुः' साधुः

१ × द्रव्य° आ. । २ °सु वाऽवस्थासु आ. । ३ फलोद्दे° आ. इ. । ४ ने° आ. इ. । ५ नीयाएत्ता आ. हियासित्ता इ. । ६ °ज्जासित्ति आ. इ. । ७ ततिय अज्झयणं सम्मत्तं आ. ××××× उवसग्गपरिण्णाय तइयं अज्झयणं सम्मत्तं इ. । ८ यथाख्यातं इ. । ९ × ध° आ. । १० तमेव आ. इ. । ११ सम्यगमधि° आ. ।

परीषहोपसर्गैरतर्जितो ग्लानस्यापरस्य साधोर्वैयावृत्त्यं कुर्यात्, कथमिति ?, स्वतोऽग्लानतया यथाशक्ति 'समाहित' इति समाधिं प्राप्तः, इदमुक्तं भवति—कृतकृत्योऽहमिति मन्यमानो वैयावृत्त्यादिकं कुर्यादिति ॥२१॥ अन्यच्च—'संखाय' इत्यादि, 'संख्याये'ति सम्यक् ज्ञात्वा स्वसंम्मत्या[1] अन्यतो वा—श्रुत्वा 'पेशलं'ति मोक्षगमनं प्रत्यनुकूलं, किं तद् ?—'धर्मं' श्रुतचारित्राख्यं 'दृष्टिमान्' सम्यग्दर्शनी 'परिनिर्वृत' इति कषायोपशमाच्छीतिभूतः परिनिर्वृतकल्पो वा 'उपसर्गान्' अनुकूलप्रतिकूलान् सम्यग् 'नियम्य'—अतिसह्य 'आमोक्षाय' मोक्षं यावत् परि—समन्तात् 'व्रजेत्' संयमानुष्ठानेन[2] गच्छेदिति, इतिः[3] परिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववत्, नयचर्चाऽपि[4] तथैवेति ॥२२॥ उपसर्गपरिज्ञायाः समाप्तश्चतुर्थोद्देशकः, तत्परिसमाप्तौ च तृतीयमध्ययनमिति । ग्रंथाग्रं ७७५[5]॥

अथ चतुर्थं स्त्रीपरिज्ञाऽध्ययनं प्रारभ्यते ।



उक्तं तृतीयमध्ययनं, साम्प्रतं चतुर्थमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः, इहानन्तराध्ययने उपसर्गाः प्रतिपादिताः, तेषां च प्रायोऽनुकूला दुःसहाः, ततोऽपि स्त्रीकृताः, अतस्तज्जयार्थमिदमध्ययनमुपदिश्यत इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्योपक्रमादीनि चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति, तत्रोपक्रमान्तर्गतोऽर्थाधिकारो द्वेधा—अध्ययनार्थाधिकार उद्देशार्थाधिकारश्च, तत्राध्ययनार्थाधिकारः प्रागवत्[6] निर्युक्तिकृता 'थीदोषविवज्जणा चेवे'त्यनेन स्वयमेव प्रतिपादितः, उद्देशार्थाधिकारं तूत्तरत्र निर्युक्तिकृदेव भणिष्यति, साम्प्रतं

सा. १ सहसन्मत्येति तात्पर्यं प्राकृतानुकरणं चेदम् । २ °नुष्ठाने× आ. इ. । ३ ×× प° आ. इ. । ४ °चर्या° आ. । ५ ग्रन्थतः ९७५ आ. ग्रन्थ ७७५ इ. । ६ प्रागेव आ. इ. ।

निक्षेपः, स चौघनामसूत्रालापकभेदात्रिधा, तत्रौघनिष्पन्ने निक्षेपेऽध्ययनं, नामनिष्पन्ने 'स्त्रीपरिज्ञे'ति नाम, तत्र नामस्थापने क्षुण्णत्वाद-नादृत्य स्त्रीशब्दस्य द्रव्यादिनिक्षेपार्थमाह—

दव्वाभिलावचिंधे वेदे भावे य इत्थिणिक्खेवो । अहिलावे[1] जह सिद्धी भावे वेयंमि[2] उवउत्तो ॥५४॥

'दव्वाभिलाव' इत्यादि, तत्र द्रव्यस्त्री द्वेधा–आगमतो नोआगमतश्च, आगमतः स्त्रीपदार्थज्ञस्तत्र चानुपयुक्तः, अनुपयोगो द्रव्यमिति कृत्वा, नोआगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्ता[3] त्रिधा, एकभविका बद्धायुष्काऽभिमुखनामगोत्रा चेति, चिह्नयते–ज्ञायतेऽनेनेति चिह्नं–स्तननेपथ्यादिकं, चिह्नमात्रेण स्त्री चिह्नस्त्री अपगतस्त्रीवेदश्छद्मस्थः केवली वा अन्यो वा स्त्रीवेषधारी यः कश्चिदिति, वेदस्त्री तु पुरुषाभिलाषरूपः स्त्रीवेदोदयः, अभिलापभावौ तु निर्युक्तिकृदेव गाथापश्चार्द्धेनाह–अभिलप्यते इत्यभिलापः स्त्रीलिङ्गाभिधानः शब्दः, तद्यथा–शाला माला सिद्धिरिति, भावस्त्री तु द्वेधा–आगमतो नोआगमतश्च, आगमतः स्त्रीपदार्थज्ञस्तत्र चोपयुक्तः, 'उपयोगो भाव' इति कृत्वा, नोआगमतस्तु भावविषये निक्षेपे 'वेदे' स्त्रीवेदरूपे वस्तुन्युपयुक्ता तदुपयोगानन्यत्वाद्भावस्त्री भवति, यथाऽग्नावुपयुक्तो माणवकोऽग्निरेव भवति, एवमत्रापि, यदिवा–स्त्रीवेदनिर्वर्तकान्युदयप्राप्तानि यानि कर्माणि तेषु 'उपर्युक्ते'[4]ति तान्यनुभवन्ती भावस्त्रीति, एतावानेव स्त्रियो निक्षेप इति, परिज्ञानिक्षेपस्तु शस्त्रपरिज्ञावद् द्रष्टव्यः । साम्प्रतं स्त्रीविपक्षभूतं पुरुषनिक्षेपार्थमाह—

णामं ठवणादविए खेत्ते काले य पज्जणणकंमे[5] । भोगे गुणे य भावे दस एए पुरिसणिक्खेवा ॥५५॥

'णामं ठवणा'इत्यादि, 'नाम'इति संज्ञा तन्मात्रेण पुरुषो नामपुरुषः–यथा घटः पट इति, यस्य वा पुरुष इति नामेति, 'स्थापना-

१ अभिलावो अ. आ. । २ वेयंसि अ. आ. । सा. ३ व्यतिरिक्तभेदाः । ४ °युक्तेति आ. । ५ °णणे कमे अ. आ. ।

पुरुषः' काष्ठादिनिर्वर्तितो जिनप्रतिमादिकः, द्रव्यपुरुषो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो नोआगमत एकभविको बद्धायुष्कोऽभिमुखनामगोत्रश्चेति, द्रव्यप्रधानो वा मम्मणवणिगादिरिति, यो यस्मिन् सुराष्ट्रादौ क्षेत्रे भवः स क्षेत्रपुरुषो यथा सौराष्ट्रिक इति, यस्य वा यत् क्षेत्रमाश्रित्य पुंस्त्वं भवतीति, यो यावन्तं कालं पुरुषवेदवेद्यानि कर्माणि वेदयते स कालपुरुष इति, यथा–'पुरिसे णं भंते! पुरि[1]सोत्ति कालओ केवच्चिरं होइ ? गो[2]०, जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं जो जम्मि काले पुरिसो भवइ, जहा कोइ एगंमि पक्खे पुरिसो एगंमि नपुंसगो' त्ति । प्रजन्यतेऽपत्यं येन तत्प्रजननं शिश्नम्–लिङ्गम् तत्प्रधानः पुरुषः अपरपुरुषकार्यरहितत्वात् प्रजननपुरुषः, कर्म–अनुष्ठानं तत्प्रधानः पुरुषः कर्मपुरुषः–कर्मकरादिकः, तथा भोगप्रधानः पुरुषो भोगपुरुषः–चक्रवर्त्यादिस्तथा गुणाः–व्यायामविक्रमधैर्यसत्त्वादिकास्तत्प्रधानः पुरुषो गुणपुरुषः, भावपुरुषस्तु पुंवेदोदये वर्तमानस्तद्वेद्यानि कर्माण्यनुभवं[3]न्निति, एते दश पुरुषनिक्षेपा भवन्ति । साम्प्रतं प्रागुद्दिष्टमुद्देशार्थाधिकारमधिकृत्याह—

पढमे संथवसंल[4]वमाइहि खलणा उ होंति[5] सीलस्स । बिं[6]तिए इहेव खलियस्स अं[7]वत्था कम्मबंधो य ॥५६॥

'पढमे' इत्यादि, प्रथमे उद्देशके अयमर्थाधिकारः, तद्यथा–स्त्रीभिः सार्धं 'संस्तवेन' परिचयेन तथा 'संलापेन' भिन्नकथाद्यालापेन, आदिग्रहणादङ्गप्रत्यङ्गनिरीक्षणादिना कामोत्कोचकारिणा भवेदल्पसत्त्वस्य 'शीलस्य' चारित्रस्य स्खलना तुशब्दात्तत्परित्यागो वेति, द्वितीये त्वयमर्थाधिकारः, तद्यथा–शीलस्खलितस्य साधोः 'इ[8]हैव' अस्मिन्नेव जन्मनि स्वपक्षपरपक्षकृता तिरस्कारादिका विडम्बना तत्प्रत्ययश्च कर्मबन्धः, ततश्च संसारसागरपर्यटनमिति, किं स्त्रीभिः कश्चित् शी[9]लात् प्रच्याव्यात्मवशः कृतो येनैवमुच्यते ?, कृत इति दर्शयितुमाह–

१ °सेत्ति श्रा. इ. । २ × ज° श्रा. । ३ °वन्नित्येते आ. । ४ संलावाइएहिं अ. आ. । ५ होज्ज अ. आ. । ६ पीए अ. आ. । ७ अणवत्था अ. श्रा. । ८ इहास्मि° आ. । ९ शीतात् श्रा. ।

सूरा मो मन्नंता कइंतवियाहिं उवहिप्पहाणाहिं[1]। गहिया हु अभयपज्जोयकूलवालादिणो बहवे ॥५७॥

'सूरा मो' इत्यादि, बहवः पुरुषा अभयप्रद्योतकूलवालादयः शूरा वयमित्येवं मन्यमानाः, मो इति निपातो वाक्यालङ्कारार्थः, 'कृत्रिमाभिः' सद्भावरहिताभिः स्त्रीभिस्तथा उपधिः—माया तत्प्रधानाभिः कृतकपटशताभिः 'गृहीता' आत्मवशतां नीताः केचन राज्या-दपरे शीलात् प्रच्याव्यैहैव विडम्बनां प्रापिताः, अभयकुमारादिकथानकानि च मूलादवश्यकादवगन्तव्यानि, कथानकत्रयोपन्यासस्तु यथाक्रमं अत्यन्तबुद्धिविक्रमतपस्वित्वख्यापनार्थं इति ॥ यत एवं ततो यत्कर्तव्यं तदाह—

तम्हा ण[2] उ वीसंभो गंतव्वो णिच्चमेव इत्थीसुं। पढमुद्देसे भणिया जे दोसा ते गणंतेणं ॥५८॥

'तम्हा' इत्यादि, यस्मात् स्त्रियः सुगतिमार्गार्गला मायाप्रधाना वञ्चनानिपुणास्तस्मादेतदवगम्य नैव 'विश्रम्भो' विश्वासस्तासां विवेकिना 'नित्यं' सदा 'गन्तव्यो' यातव्यः, कर्तव्य इत्यर्थः, ये दोषाः प्रथमोद्देशके अस्योपलक्षणार्थत्वात् द्वितीये च तान् 'गणयता' पर्यालोचयता, तासां मूर्तिमत्कपटराशिभूतानामात्महितमिच्छता न विश्वसनीयमिति ॥ अपिच—

सुसमत्थाऽवऽसमत्था[3] कीरंती अप्पसत्तिया पुरिसा। दीसंती सूरवादी णारीवसगा ण ते सूरा ॥५९॥

'सुसमत्था' इत्यादि, पारानीकविजयादौ सुष्ठु समर्था अपि सन्तः पुरुषाः स्त्रीभिरात्मवशीकृता 'असमर्था' भ्रूत्क्षेपमात्रभीरवः क्रियन्ते—अल्पसात्त्विकाः स्त्रीणामपि पादपतनादिचाटुकरणेन निःसाराः क्रियन्ते, तथा 'दृश्यन्ते' प्रत्यक्षेणोपलभ्यन्ते शूरमात्मानं वदितुं शीलं येषां ते शूरवादिनोऽपि नारीवशगाः सन्तो दीनतां गताः, एवम्भूताश्च न ते शूरा इति, तस्मात् स्थितमेतद्—अविश्वास्याः स्त्रिय

१ कइयविहाहिं अ. आ. । २ °णहु अ. आ. । ३ °विस° आ. ।

इति, उक्तं च–"[१]को वीससेज्ज तासिं कतिवयभरियाण दुव्वियड्ढाणं ! । खणरत्तविरत्ताणं धिरत्थु इत्थीण हिययाणं ॥१॥ [२]अण्णं भणंति पुरओ अण्णं पासे णिवज्जमाणीओ । अन्नं च तासिं हियए जं च खमं तं करिंति पुणो ॥२॥ को एया[३]णं णाहिइ वेत्तलयागुम्मगुविलहिययाणं । भावं भग्गासाणं तत्थुप्पन्नं भणंतीणं ॥३॥[४]महिला य रत्तमेत्ता उच्छुखंडं च सक्करा चेव । सा पुण विरत्तमित्ता णिं[५]बंकूरे विसेसेइ ॥४॥ [६]महिला दिज्ज करेज्ज व मारिज्ज व संठ[७]विज्ज व मणुस्सं । तुट्ठा[८] जीवाविज्जा अहव णरं वंचयावेज्जा ॥५॥ [९]णवि रक्खंते सुकयं णवि णेहं णवि य दाणसम्माणं । ण कुलं ण पुव्वयं आयतिं च सीलं महिलियाओ ॥६॥ [१०]मा वीसंभह ताणं महिलाहिययाण कवडभरियाणं । णिण्णेहनिद्दयाणं अलियवयणजंपणरयाणं ॥७॥ [११]मारेइ जियंतंपिहु मयंपि अणुमरइ काइ भत्तारं । विसहर[१२]गइव्व चरियं वंकविवंकं [१३]महेलाणं ॥८॥ गंगा[१४]ए वालुया सागरे जलं हिमवओ य परिमाणं । जाणंति बुद्धिमंता महिलाहिययं ण जाणंति ॥९॥ रोवा[१५]वंति रुवंति य अलियं जंपंति पत्ति-

---

सा. १ को विश्वस्यात्तासु कैतवभृत्सु दुर्विदग्धासु । क्षणरक्तविरक्तासु धियस्तु स्त्रीहृदयानां ॥१॥ २ अन्यद् भणंति पुरतोऽन्यत्पार्श्वे निषीदयन्त्यः । अन्यत्तासां हृदये यच्च क्षमं तत्कुर्वन्ति पुनः ॥२॥ ३ क एतासां ज्ञास्यति वेत्रलतागुल्मगुपिलहृदयानां । भावं भग्नाशानां तत्रोत्पन्नं भणंतीनां ॥३॥ ४ महिला च रक्तमात्रेक्षुखंडेव शर्करेव च । सा पुनर्विरक्तमात्रा निंवांकुरं विशेषयति ॥४॥ ५ निंबं क्खारं इ. । सा. ६ महिला दद्यात्कुर्याद्वा मारयेद्वा संस्थापयेद्वा मानुष्यं । तुष्टा जीवापयेत् अथ च नरं वंचयेत् ॥५॥ ७ संथविज्ज प्र० संथहेज्ज प्र० । ८ तुठा वि जियावि° आ. । सा. ९ नापि रक्षति सुकृतं नापि स्नेहं नापि दानसन्माने च । न कुलं न पूर्वजं नायतिं च शीलं महिलाः ॥६॥ १० मा विश्वस तेषां महिलाहृदयानां कपटभृतां । निःस्नेहनिर्दयानां अलीकवचनजल्पनरतानाम् ॥७॥ ११ मारयति जीवन्तमप्येव मृतमप्यनुम्रियते काचिद्भर्त्तारं । विषधरगतिरिव चरितं वक्रविवक्रं महेलानां ॥८॥ १२ °गयं व आ. । १३ महिलियाणं आ. । सा. १४ गंगायां वालुकाः सागरे जलं हिमवतश्च परिमाणं । जानंति बुद्धिमन्तो महिलाहृदयं न जानन्ति ॥९॥ १५ रोदयन्ति रुदन्ति च अलीकं जल्पन्ति प्रत्याययन्ति । कपटेन खादति विषं म्रियते न च यान्ति सद्भावं ॥१०॥

यावंति कवडेण य खंति विसं मरंति [1]णय जंति सब्भावं ॥१०॥ [2]चिंतिंति कज्जमण्णं अण्णं संठवइ भासई अण्णं। आढवइ कुणइ अण्णं माइवग्गो णियडिसारो ॥११॥ अ[3]संयारंभाण तहा सव्वेसिं लोगगरहणिज्जाणं। परलोगवेरियाणं कारणयं चेव इत्थीओ ॥१२॥ [4]अहवा को जुवईणं जाणइ चरियं सहावकुडिलाणं। दोसाण आगरो च्चिय जाण सरीरे वसइ कामो ॥१३॥ [5]मूलं दुच्चरियाणं हवइ उ णयरस्स वत्तणी विउला। मोक्खस्स महाविग्घं वज्जेयव्वा सया नारी ॥१४॥ [6]धण्णा ते वरपुरिसा जे च्चिय मोत्तूण णिययजुवइओ । पव्वइया कयनियमा सिवमयलमणुत्तरं पत्ता ॥१५॥" अधुना यादृक्षः शूरो भवति तादृक्षं दर्शयितुमाह—

धम्मंमि जो दढ[7]ा मई सो सूरो सत्तिओ य वीरो य। ण[8]हु धम्मणिरुस्साहो पुरिसो सूरो सुबलिओऽवि ॥६०॥

'धम्मंमि'इत्यादि, 'धर्मे' श्रुतचारित्राख्ये दृढा–निश्चला मतिर्यस्य स तथा एवम्भूतः स इं[9]न्द्रियनोइन्द्रियारिजयात् शूरः तथा 'सा-त्त्विको' महासत्त्वोपेतोऽसावेव 'वीरं[10]ः' स्वकर्मदारणसमर्थोऽसावेवेति, किमिति?, यतो नैव 'धर्मनिरुत्साहः' सदनुष्ठाननिरुद्यमः सत्पुरु-षाचीर्णमार्गपरिभ्रष्टः पुरुषः सुष्ठु बलवानपि शूरो भवतीति ॥ एतानेव दोषान् पुरुषसम्बन्धेन स्त्रीणामपि दर्शयितुमाह—

१ नहु इ.। सा. २ चिन्तयति कार्यमन्यदन्यत् संस्थापयति भाषतेऽन्यत्। आरभते करोत्यन्यन्मायिवर्गो निकृतिसारः ॥११॥ ३ असदारम्भाणां तथा सर्वेषां लोकगर्हणीयाणां। परलोकवैरिकाणां कारणं चैव स्त्रियः ॥१२॥ ४ अथवा को युवतीनां जानाति चरितं स्वभावकुटिलानां। दोषाणामाकरश्चैव यासां शरीरे वसति कामः ॥१३॥ ५ मूलं दुश्चरितानां भवति तु नरकस्य वर्तनी विपुला। मोक्षस्य महाविघ्नं वर्जयितव्या सदा नारी ॥१४॥ ६ धन्यास्ते वरपुरुषा ये चैव मुक्त्वा निजकयुवतीः। प्रव्रजिताः कृतनियमाः शिवमचलमनुत्तरं प्राप्ताः ॥१५॥ ७ दढ अ. आ.। ८ नहुधम्म निरुच्छाहो अ. आ.। ९ इन्द्रियारिनो° आ.। १० वीरश्च कर्म° आ. इ.।

एते चेव य दोसा पुरिससमाएवि इत्थीयाणंपि। तम्हा उं[1] अप्पमाओ विरागमग्गंमि तासिं तुं[2] ॥६१॥[3]

'एते चेव' इत्यादि ये प्राक् शीलप्रध्वंसादयः स्त्रीपरिचयादिभ्यः पुरुषाणां दोषा अभिहिता एत एवान्यूनाधिकाः पुरुषेण सह यः समायः—सम्बन्धस्तास्मिन् स्त्रीणामपि, यस्माद्दोषा भवन्ति तस्मात् तासामपि विरागमार्गे प्रवृत्तानां पुरुषपरिचयादिपरिहारलक्षणोऽप्रमाद एव श्रेयानिति। एवं यदुक्तं 'स्त्रीपरिज्ञे'ति तत्पुरुषोत्तमधर्मप्रतिपादनार्थम्, अन्यथा 'पुरुषपरिज्ञे'त्यपि वक्तव्येति, साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

जे मायरं च पियरं च, विप्पजहाय पुव्वसंजोगं। एगे सहिते चरिस्सामि, आरतमेहुणो विवित्तेसुं[4] ॥१॥

सुहुमेणं तं परिक्कम्मं[5], छन्नपएण इत्थिओ मंदा। उव्वायंपि ताउ[6] जाणंसु[7] जहा[8] लिस्संति भिक्खुणो एगे ॥२॥

'जे मायरं च' इत्यादि, अस्य चायमनन्तरसूत्रेण सह सम्बन्धः, तद्यथा—अनन्तरसूत्रेऽभिहितम्, आमोक्षाय परिव्रजेदिति, एतच्चाशेषाभिष्वङ्गवर्जितस्य भवतीत्यतोऽनेन तदभिष्वङ्गवर्जनमभिधीयते, 'यः' कश्चिदुत्तमसत्त्वो 'मातरं पितरं' जननीं जनयितारम्, एतद्ग्रहणादन्यदपि भ्रातृपुत्रादिकं पूर्वसंयोगं तथा श्वश्रूश्वशुरादिकं पश्चात्संयोगं च 'विप्रहाय'—त्यक्त्वा, चकारौ—समुच्चयार्थौ, 'एको' मातापित्राद्यभिष्वङ्गवर्जितः कषायरहितो वा तथा सहितो ज्ञानदर्शनचारित्रैः स्वस्मै वा हितः स्वहितः—परमार्थानुष्ठानविधायी 'चरिष्यामि' संयमं करिष्यामीत्येवं कृतप्रतिज्ञः, तामेव प्रतिज्ञां सर्वप्रधानभूतां लेशतो दर्शयति—'आरतम्' उपरतं, मैथुनं—कामाभिलाषो यस्यासावारत-

---

१ हु अ.। २ °पि अ. आ.। ३ चउमत्थज्झयणं सम्मत्तं अ. चउत्थमज्झयणं सम्मत्तं आ.। ४ विवत्तेसी आ. विचित्तेसी इ.। ५ °कम्मा इ.। ६ तातो आ.। ७ जाणिं आ. इ.। ८ जह आ. इ.।

मैथुनः, तदेवम्भूतो 'विविक्तेषु' स्त्रीपशुपण्डकवर्जितेषु स्थानेषु चरिष्यामीत्येवं सम्यगुत्थानेनोत्थाय विहरतीति, क्वचित्पाठो 'विवित्ते-सित्ति' 'विविक्तं'—स्त्रीपण्डकादिरहितं स्थानं संयमानुपरोध्येषितुं शीलमस्य तथेति ॥१॥ तस्यैवं कृतप्रतिज्ञस्य साधोर्यद्भवत्यविवेकिस्त्री-जनात्तद्दर्शयितुमाह—'सुहुमेणं' इत्यादि, 'तं' महापुरुषं साधुं 'सूक्ष्मेण' अपरकार्यव्यपदेशभूतेन 'छन्नपदेने'ति छद्मना—कपटजालेन 'पराक्रम्य' तत्समीपमागत्य, यदिवा—'पराक्रम्ये'ति शीलस्खलनयोग्यतापत्त्या अभिभूय, काः ?—'स्त्रियः' कूलवालुकादीनामिव मागे-धगणिकाद्या नानाविधकपटशतकरणदक्षा विविधविब्वोकवत्यो भाव—मन्दाः—कामोद्रेकविधायितया सदसद्विवेकविकलाः समीपमागत्य शीलात् ध्वंसयन्ति, एतदुक्तम् भवति—भ्रातृपुत्रव्यपदेशेन साधुसमीपमागत्य संयमाद् भ्रंशयन्ति, तथा चोक्तम्—''पियपुत्त भाइकिडगा णत्तूकिडगा य सयणकिडगा य । एते जोव्वणकिडगा पच्छन्नपई महिलियाणं ॥१॥'' यदिवा—छन्नपदेनेति—गुप्ताभिधानेन, तद्यथा—''काले प्रसुप्तस्य जनार्दनस्य, मेघान्धकारासु च शर्वरीषु । मिथ्या न भाषामि विशालनेत्रे !, ते प्रत्यया ये प्रथमाक्षरेषु ॥१॥'' इत्यादि, ताः स्त्रियो मायाप्रधानाः प्रतारणोपायमपि जानन्ति—उत्पन्नप्रतिभतया विदन्ति, पाठान्तरं वा ज्ञातवत्यः, यथा 'श्लिष्यन्ते' विवेकिनोऽपि साधव एके तथाविधकर्मोदयात् तासु सङ्गमुपयान्ति ॥२॥ तानेव सूक्ष्मप्रतारणोपायान् दर्शयितुमाह—

पासे भिसं णिसीयंति अभिक्खणं पोसवत्थं परिहिंति । कायं अहेवि दंसंति, बाँहू उद्धट्टु कक्खमणुव्वजे ॥३

सयणासणेहिं जोगेहिं इत्थिओ एगता णिमंतंति । एयाणि चेव से जाणे, पासाणि विरूवरूवाणि ॥४॥

१ °वारका° आ. °वालका° इ. । २ मागधिका° आ. । ३ °विल्लो° आ. । ४ ××सद्विवेक° आ. । सा. ५ प्रियपुत्रभ्रातृक्रीडका नप्तृक्रीडकाश्च स्वजनक्रीडकाश्च एते यौवनक्रीडकाः प्राप्ताः प्रच्छन्नपतयो महिलानां ॥१॥ ६ °न्तीति आ. । ७ वाहुमुद्धट्टु आ. वाहुद्धट्टु इ. । ८ ज्झाणो इ. । ९ °दि आ. ।

'पासे भिसं' इत्यादि, 'पार्श्वे' समीपे 'भृशम्' अत्यर्थमूरूपपीडमतिस्नेहमाविष्कुर्वन्त्यो 'निषीदन्ति' विश्रम्भमापादयितुमुपविश-
न्तीति, तथा कामं पुष्णातीति पोषं-कामोत्कोचकारि शोभनमित्यर्थः तच्च तद्वस्त्रं[1] पोषवस्त्रं तद् 'अभीक्ष्णम्' अनवरतं तेन शिथिलादि-
व्यपदेशेन परिदधति, स्वाभिलाषमावेदयन्त्यः साधुप्रतारणार्थं परिधानं शिथिलीकृत्य पुनर्निबध्नन्तीति, तथा 'अधःकायम्' ऊर्वादिक-
मनङ्गोद्दीपनाय 'दर्शयन्ति' प्रकटयन्ति, तथा 'बाहुमुद्धृत्य' कक्षामादर्श्य 'अनुकूलं' साध्वमिमुखं 'व्रजेत्' गच्छेत् । सम्भावनायां लिङ्[2],
सम्भाव्यते एतदङ्गप्रत्यङ्गसन्दर्शकत्वं स्त्रीणामिति ॥३॥ अपिच-'सयणासणे' इत्यादि, शय्यतेऽस्मिन्निति शयनं-पर्यङ्कादि[3] तथाऽऽस्यते-
८ ऽस्मिन्नित्यासनम्-आसंदकादीत्येवमादिना 'योग्येन' उपभोगार्हेण कालोचितेन 'स्त्रियो' योषित 'एकदा'इति विविक्तदेशकालादौ 'निमन्त्र
यन्ति' अभ्युपगमं ग्राहयन्ति, इदमुक्तं भवति-शयनासनाद्युपभोगं प्रति साधुं प्रार्थयन्ति, 'एतानेव' शयनासनं[4]निमन्त्रणरूपान् स साधु-
र्विदितवेद्यः परमार्थदर्शी 'जानीयाद्' अवबुध्येत स्त्रीसम्बन्धकारिणः पाशयन्ति-वध्नन्ती पाशास्तान् 'विरूपरूपान्' नानाप्रकारानिति ।
इदमुक्तं भवति-स्त्रियो ह्यासन्नगामिन्यो भवन्ति, तथा चोक्तम्-"अंबं[5] वा निंबं वा अब्भासगुणेण आरुहइ वल्ली । एवं इत्थीतोवि यं जं
आसन्नं तमिच्छन्ति ॥१॥" तदेवम्भूताः स्त्रियो ज्ञात्वा न ताभिः सार्धं साधुः सङ्गं कुर्यात्, यतस्तदुपचारादिकः सङ्गो दुष्परिहार्यो भ-
१० भवति, तदुक्तम्-"जं[6] इच्छसि घेत्तुं जे पुव्विं तं आमिसेण गिण्हाहि । आमिसपासनिवद्धो काहिइ कज्जं अकज्जं वा ॥१॥" ॥४॥ किञ्च-

नो तासु चक्खु संधेज्जा, नोविय साहसं समभिजाणे । णो सहियंपि[8] विहरेज्जा, एवमप्पा सुरक्खिओ होइ ॥५॥

१ तद्वस्त्रं च आ. इ. । २ लिट् आ. । ३ पर्यङ्काद्यावसथो वा आ. इ. । सा. ४ °सनादिनि° प्र० । सा. ५ आम्रं वा निम्बं वाभ्यासगुणेनारोहति वल्ली । एवं स्त्रियोऽपि य एवासन्नस्तमिच्छंति ॥१॥ ६ हु आ. । सा. ७ यान् गृहीतुमिच्छति तानामिषेण पूर्वं गृहाण । यदामिषपाशनिवद्धः करिष्यति कार्यमकार्यं वा ॥१॥ ८ सद्धियं° आ. इ. ।

आमंतिय उस्सवियां[1] भिक्खुं आयसा निमंतंति। एताणि चेव से जाणे, सद्दाणि विरूवरूवाणि ॥६॥

'नो' नैव 'तासु' शयनासनोपनिमन्त्रणपाशावपाशिकासु स्त्रीषु 'चक्षुः' नेत्रं सन्दध्यात्[2] सन्धयेद्वा, न तद्दृष्टौ स्वदृष्टिं निवेशयेत्, सति च प्रयोजने ईषदवज्ञया निरीक्षेत, तथा चोक्तम्–"कार्येऽपीषन्मतिमान्निरीक्षते योषिदङ्गमस्थिरया। अस्निग्धया दृशाऽवज्ञया ह्यकुपितोऽपि कुपित इव ॥१॥" तथा नापि च साहसम्–अकार्यकरणं तत्प्रार्थनया 'समनुजानीयात्' प्रतिपद्येत[3], तथा ह्यतिसाहसमेतत्सङ्ग्रामावतरणवधन्नरक[4]पातादिविपाकवेदिनोऽपि साधोर्योषिदासञ्जनमिति, तथा नैव स्त्रीभिः सार्धं ग्रामादौ 'विहरेत्' गच्छेत्, अपिशब्दात् न ताभिः सार्धं विविक्तासनो भवेत्, ततो महापापस्थानमेतत् यतीनां यत् स्त्रीभिः सह साङ्गत्यमिति, तथा चोक्तम्–"मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा, न विविक्तासनो भवेत्। बलवानिन्द्रियग्रामः, पण्डितोऽप्यत्र मुह्यति ॥१॥" एवमनेन स्त्रीसङ्गवर्जनेनात्मा समस्तापायस्थानेभ्यो रक्षितो भवति, यतः–सर्वापायानां स्त्रीसम्बन्धः कारणम्, अतः स्वहितार्थी तत्सङ्गं दूरतः परिहरेदिति[5] ॥५॥ कथं चैताः[6] पाशा इव पाशिका इत्याह–'आमंतिय' इत्यादि, स्त्रियो हि स्वभावेनैवाकर्तव्यप्रवणाः साधुमामन्त्र्य यथाऽहममुकस्यां वेलायां भवदन्तिकमागमिष्यातीत्येवं सङ्केतं ग्राहयित्वा तथा 'उस्सविय'[7]त्ति संस्थाप्योच्चावचैर्विश्रम्भजनकैरालापैर्विश्रम्भे पातयित्वा पुनरकार्यकरणायात्मना निमन्त्रयन्ति, आत्मनोपभोगेन[8] साधुमभ्युपगमं कारयन्ति। यदिवा–साधोर्भयापहरणार्थं ता एव योषितः प्रोचुः, तद्यथा–भर्तारमामन्त्र्यापृच्छ्याहमिहाऽऽयाता, तथा संस्थाप्य–भोजनपदधावनशयनादिकया क्रिययोपचर्य ततस्तवान्तिकमागतेत्यतो भवता सर्वां म-

१ °वियं वा आ. इ.। २ सन्ध्यात् आ.। ३ °पद्यते इ.। ४ °न्नरका° इ.। ५ हरेत् आ.। ६ °च ताः पाशा व आ. चैताः पाशा व इ.। ७ ओसवियं ति इ.। ८ आत्मोप° आ. इ.।

द्धर्तृजनितामाशङ्कां परित्यज्य [1]निर्भयेन भाव्यमित्येवमादिकैर्वचोभिर्विश्रम्भमुत्पाद्य भिक्षुमात्मना निमन्त्र्यन्ते[2], युष्मदीयमिदं शरीरकं याद्दक्षस्य क्षोदीयसो गरीयसो वा कार्यस्य क्षमं तत्रैव नियोज्यतामित्येवमुपप्रलोभयन्ति, स च भिक्षुरवगतपरमार्थः एतानेव 'विरूप-रूपान्' नानाप्रकारान् '[3]शब्दादीन्' विषयान् तत्स्वरूपनिरूपणतो ज्ञपरिज्ञया जानीयात्, यथैते स्त्रीसंसर्गापादिताः शब्दादयो विषया दुर्गतिगमनैकहेतवः सन्मार्गार्गलारूपा इत्येवमवबुध्येत, तथा प्रत्याख्यानपरिज्ञया च तद्विपाकावगमेन परिहरेदिति ॥६॥ अन्यच्च—

मणबंधणेहिं णेगेहिं, कलुण विणीयमुवगसित्ताणं। अदु मंजुलाइं भासंति, आ[4]णवयंति भिन्नकहाहिं ॥७॥

सीहं जहा व कुणिमेणं, निब्भयमेगचरंति पासेणं। [5]एवित्थियाउ बंधंति, संवुडं एगतियमणगारं ॥८॥

'मणबंधणेहिं' इत्यादि, मनो बध्यते यैस्तानि मनोबन्धनानि—मञ्जुलाऽऽलापस्निग्धावलोकनाङ्गप्रत्यङ्गप्रकटनादीनि, तथा चोक्तम्—"[6]णाह पिय कंत सामिय दइय[7] जियाओ तुमं[8] मह पिओत्ति। जीए जीयामि अहं[9][10] पहवसि तं मे सरीरस्स ॥१॥" इत्यादिभिरनेकैः प्रपञ्चैः करुणाऽऽलापविनयपूर्वकं 'उवगसित्ताणं'ति उपसंश्लिष्य समीपमागत्य 'अथ' तदनंतरं 'मञ्जुलानि' पेशलानि विश्रम्भजनकानि
१० कामोत्कोचकानि वा भाषन्ते, तदुक्तम्—"[11][12]मितंमहुररिभियजंपुल्लएहि ईसीकडक्खहसिएहिं। सविगारेहि वरागं हिययं पिहियं मयच्छीए ॥१" तथा 'भिन्नकथाभी' रहस्याऽऽलापैर्मैथुनसम्बद्धैर्वचोभिः साधोश्चित्तमादाय तमकार्यकरणं प्रति 'आज्ञापयन्ति' प्रवर्तयन्ति, स्ववशं

१ निर्भीतेन आ. इ. । २ यन्ति आ. इ. । ३ शब्दान् आ. । ४ °मतितेणं आ. । ५ एवं इ. । सा. ६ नाथ कान्त प्रिय स्वामिन्दयित ! जीवितादपि त्वं मम प्रिय इति जीवति जीवामि अहं प्रभुरसि त्वं मे शरीरस्य ॥१॥ ७ दतिअय आ. दविय इ. । सा. ८ इयय आउ तं प्र० । ९ तं आ. । सा. १० तुमं प्र० । ११ तुहं आ. । सा. १२ मितमधुररिभितजल्पाद्यैरीषत्कटाक्षहसितैः । सविकारैर्वराकं हृदयं पिहितं मृगाक्ष्याः ॥१॥

वा ज्ञात्वा कर्मकरवदाज्ञां कारयन्तीति ॥७॥ अपिच–'सीहं जहा' इत्यादि, यथेति दृष्टान्तोपदर्शनार्थे[1] यथा बन्धनविधिज्ञाः सिंहं पिशिता दिनाऽऽमिषेणोपप्रलोभ्य 'निर्भयं' गतभीकं निर्भयत्वादेव एकचरं 'पाशेन' गलयन्त्रादिना बध्नन्ति बद्ध्वा च बहुप्रकारं कदर्थयन्ति, एवं स्त्रियो[2] नानाविधैरुपायैः पेशलभाषणादिभिः 'एगतियन्ति' कञ्चन तथाविधम् 'अनगारं' साधुं 'संवृतमपि' मनोवाक्कायगुप्तमपि 'बध्नन्ति'[3] स्ववशं कुर्वन्तीति, संवृतग्रहणं च स्त्रीणां सामर्थ्योपदर्शनार्थं, तथाहि–संवृतोऽपि ताभिर्बध्यते[4], किं पुनरपरोऽसंवृत इति ॥८॥ किञ्च—

८ अह अत्थ पुणो णमयंती, रहकारो व णेमि आणुपुव्वीए[5]। बद्धे मिए व पासेणं, फंदंते वि ण मुंच्चए[6] ताहे ॥९॥

अह सेऽणुतप्पइ पच्छा, भोच्चा पायसं व विसमिस्सं एवं विवेगमादाय, संवासो नवि[8] कप्पए दविए ॥१०॥

'अह तत्थ' इत्यादि, 'अथ' इति स्ववशीकरणानन्तरं पुनस्तत्र–स्वाभिप्रेते वस्तुनि 'नमयन्ति' प्रह्वं कुर्वन्ति, यथा–'रथकारो' वर्धकिः 'नेमिकाष्ठं' चक्रबाह्यभ्रमिरूपमानुपूर्व्या[9] नमयति, एवं ता अपि साधुं स्वकार्यानुकूल्ये प्रवर्तयन्ति, स च साधुर्मृगवत् पाशेन बद्धो मोक्षार्थं स्पन्दमानोऽपि ततः पाशान्न मुच्यत इति ॥९॥ किञ्च–'अह से' इत्यादि, अथासौ साधुः स्त्रीपाशावबद्धो मृगवत् कूटके

१० पतितः सन् कुटुम्बकृते अहर्निशं क्लिश्यमानः पश्चादनुतप्यते, तथाहि–गृहान्तर्गतानामेतदवश्यं सम्भाव्यते, तद्यथा–"कोद्धायओ[10] को समचित्तु काहोवणाहिं[11] काहो दिज्जउ वित्तं[12] को उग्घाडउ परिहियउ परिणीयउ को व कुमारउ पडियतो जीवं[13] खडप्फडेहि पर बंधइ

१ °नार्थं आ. । २ स्त्रियोऽपि आ. इ. । ३ °न्तीति इ. । ४ बध्यते इ. । ५ अणुपुव्वी आ. । ६ मुच्चती आ. । ७ मायाए आ. माताए इ. । ८ नx आ. इ. । ९ °भूमि° आ. इ. । सा. १० क्रोधिकः कः समचित्तः कथं उपनय कथं ददातु वित्तं कः उद्घाटकः परिहृतः को वा कुमारकः पतितो जीवः खण्ड-स्फेटैः प्रबध्नाति पापभारं ॥१॥ ११ कहो आ. इ. । १२ वित्तु आ. इ. । १३ जीवो आ. ।

पावह भारओ ॥१॥" तथा यत्—"मया परिजनस्यार्थे, कृतं कर्म सुदारुणम् । एकाकी तेन दह्येऽहं, गतास्ते फलभोगिनः ॥१॥" इत्येवं बहुप्रकारं महामोहात्मके कुटुम्बकूटके पतिता[1] अनुतप्यन्ते[2], अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—यथा कश्चिद्विषमिश्रं भोजनं भुक्त्वा पश्चात्तत्र[3] कृतावेगाकुलितोऽनुतप्यते[4], तद्यथा—किमेतन्मया पापेन साम्प्रतेक्षिणा सुखरसिकतया विपाककटुकमेवम्भूतं भोजनमास्वादितमिति, एवमसावपि पुत्रपौत्रदुहितृजामातृस्वसृभ्रातृव्यभागिनेयादीनां भोजनपरिधानपरिणयनालङ्कारजातमृतकर्मतद्व्याधिचिकित्साचिन्ताकुलोऽपगतस्वशरीरकर्तव्यः प्रनष्टैहिकानुष्ठानोऽहर्निशं तद्व्यापारव्याकुलितमतिः परितप्यते[5], तदेवं अनन्तरोक्तया नीत्या विपाकं स्वानुष्ठानस्य 'आदाय' प्राप्य, विवेकमिति वा क्वचित्पाठः, तद्विपाकं विवेकं वा 'आदाय'—गृहीत्वा स्त्रीभिश्चारित्र[6]परिपन्थिनीभिः सार्धं 'संवासो' वसतिरेकत्र 'न कल्पते' न युज्यते, कस्मिन्—'द्रव्यभूते' मुक्तिगमनयोग्ये रागद्वेषरहिते वा साधौ, यतस्ताभिः सार्धं[7] संवासोऽवश्यं विवेकिनामपि सदनुष्ठानविघातकारीति ॥१०॥ स्त्रीसम्बन्धदोषानुपदर्श्योपसंहरन्नाह—

तम्हा उ वज्जए इत्थी, विसलित्तं व कंटगं नच्चा । ओए कुलाणि वसवत्ती आघाते ण सेवि णिग्गंथे ॥११॥

जे एयं उंछं अणुगिद्धा, अन्नयरा हुंति कुसीलाणं । सुतवस्सिए वि से भिक्खू, नो विहरे सह णमित्थीसु ॥१२॥

'तम्हा' इत्यादि, यस्मात् विपाककटुः स्त्रीभिः सह सम्पर्कस्तस्मात् कारणात् स्त्रियो वर्जयेत्[8] तुशब्दात्तदाऽऽलापमपि न[9] कुर्यात्, किंवदित्याह—विषोपलिप्तं कण्टकमिव 'ज्ञात्वा' अवगम्य स्त्रियं वर्जयेदिति, अपिच—विषदिग्धकण्टकः शरीरावयवे भग्नः सन्ननर्थमापादयेत्

---

१ पतितो आ. इ. । २ °प्यते आ. इ. । ३ तत्क° आ. इ. । ४ °प्येत आ. । ५ °प्यत इति तदे° आ. इ. । ६ प्रति° आ. इ. । ७ °थो इ. । ८ °येत् त्यजेत्तुशब्दा° आ. इ. । ९ नो इ. ।

स्त्रियस्तु स्मरणादपि, तदुक्तम्–"विषस्य विषयाणां च, दूरमत्यन्तमन्तरम्। उपभुक्तं[1] विषं हन्ति, विषयाः स्मरणादपि ॥१॥" तथा–"वारि[2] विसु[3] खइयं न विसयसुहु इक्कसि विसिण मरंति। विसयामिस पुण घारिया नर णरएहि पडंति ॥१॥" तथा–'ओजः' एकः अ-सहायः सन् 'कुलानि' गृहस्थानां गृहाणि गत्वा स्त्रीणां वशवर्ती तन्निर्दिष्टवेलागमनेन तदानुकूल्यं भजमानो धर्ममाख्याति योऽसावपि 'न निर्ग्रन्थो' न सम्यक् प्रव्रजितो, निषिद्धाचरणसेवनादवश्यं तत्रापायसम्भवादिति, यदा पुनः काचित्कुतश्चिन्निमित्तादागन्तुमसमर्था वृद्धा वा भवेत्तदाऽपरसहायसाध्वभावे एकाक्यपि गत्वा अपरस्त्रीवृन्दमध्यगतायाः पुरुषसमन्वितायाः वा स्त्रीनिन्दाविषयजुगुप्साप्रधानं वैराग्यजननं विधिना धर्मं कथयेदपीति ॥११॥ अन्वयव्यतिरेकाभ्यामुक्तोऽर्थः सुगमो भवतीत्यभिप्रायवानाह–'जे एयं उंछं' इत्यादि, 'ये' मन्दमतयः पश्चात्कृतसदनुष्ठानाः साम्प्रतेक्षिण एतद्–अनन्तरोक्तम्[4] उंछन्ति जुगुप्सनीयं गर्ह्यं तदत्र स्त्रीसम्बन्धादिकं एकाकिस्त्री-धर्मकथनादिकं वा द्रष्टव्यं, तदनु–तत्प्रति ये 'गृद्धा' अध्युपपन्ना मूर्च्छिताः, ते हि 'कुशीलानां' पार्श्वस्थावसन्नकुशीलसंसक्तयथाच्छन्द रूपाणामन्यतरा भवन्ति, यदिवा–काथिकपश्यकसम्प्रसारकमामक[5]रूपाणां वा कुशीलानामन्यतरा भवन्ति, तन्मध्यवर्तिनस्तेऽपि कुशीला भवन्तीत्यर्थः, यत एवमतः 'सुतपस्व्यपि' विकृष्टतपोनिष्टप्तदेहोऽपि 'भिक्षुः' साधुः आत्महितमिच्छन् 'स्त्रीभिः' समाधिपरिपन्थिनीभिः सह 'न विहरेत्' क्वचिद्[6] च्छेन्नापि सन्तिष्ठेत्, तृतीयार्थे सप्तमी, णमिति वाक्यालङ्कारे, ज्वलिताङ्गारपुञ्जवद् दूरतः स्त्रियो वर्जयेदितिभावः ॥१२॥ कतमाभिः पुनः स्त्रीभिः सार्धं न विहर्तव्यमित्येतदाशङ्क्याह—

१ °युक्तं आ. इ.। सा. २ वरं विषं जग्धं न विषयसुखं एकशो विषेण म्रियते। विषयामिषघातिताः पुनर्नरा नरकेषु पतन्ति ॥१॥ ३ विसु खद्धउं मं आ. विसु खद्धुम° इ.। ४ उछंति आ. इ.। ५ मामाक आ. इ.। ६ न क्वचि° आ. इ.।

अवि धूयराहि सुण्हाहिं, धातीहिं अदुव दासीहिं। महतीहि वा कुमारीहिं, संथवं से नं कुज्जा अणगारे ॥१३॥
अदु णाइणं च सुहीणं वा, अप्पियं दट्ठु एगता होति। गिद्धा सत्ता कामेहिं, रक्खणपोसणे मणुस्सोऽसि ॥१४॥

'अवि धूयराहि' इत्यादि, अपिशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, 'धूयराहिं'त्ति दुहितृभिरपि सार्धं न विहरेत् तथा 'स्नुषाः' सुतभार्यास्ताभिरपि सार्धं न विविक्तासनादौ स्थातव्यं, तथा 'धात्र्यः' पञ्चप्रकाराः स्तन्यदादयो जननीकल्पास्ताभिश्च साकं न स्थेयं, अथवाऽऽसतां तावदपरा योषितो या अप्येता 'दास्यो' घटयोषितः सर्वापसदास्ताभिरपि सह सम्पर्कं परिहरेत्, तथा महतीभिः कुमारीभिर्वाशब्दाल्लघ्वीभिश्च सार्धं 'संस्तवं' परिचयं प्रत्यासत्तिरूपं सोऽनगारो न कुर्यादिति, यद्यपि तस्यानगारस्य तस्यां दुहितरि स्नुषादौ वा न चित्तान्यथात्वमुत्पद्यते तथापि च तत्र विविक्तासनादावपरस्य शङ्कोत्पद्यते अतस्तच्छङ्कानिरासार्थं स्त्रीसम्पर्कः परिहर्तव्य इति ॥१३॥ अपरस्य शङ्का यथोत्पद्यते तथा दर्शयितुमाह–'अदु णाइणम्' इत्यादि, [2]विविक्तयोषिता सार्धमनगारमथैकदा दृष्ट्वा योषिज्ज्ञातीनां सुहृदां वा 'अप्रियं' चित्तदुःखासिका भवति, एवं च ते समाशङ्केरन्, यथा–सत्त्वाः–प्राणिन इच्छामदनकामैः 'गृद्धा' अध्युपपन्नाः, तथाहि–एवम्भूतोऽप्ययं श्रमणः स्त्रीवदनावलोकनासक्तचेताः परित्यक्तनिजव्यापारोऽनया सार्धं नि[3]र्ह्रीकस्तिष्ठति, तदुक्तम्–"मुण्डं शिरो वदनमेतदनिष्टगन्धं, भि[4]क्षाशनेन भरणं च[5] हतोदरस्य। गात्रं मलेन मलिनं गतसर्वशोभं, चित्रं तथापि मनसो मदनेऽस्ति वाञ्छा ॥१॥" तथातिक्रोधाध्मातमानसाश्चैवमूचुर्यथा–र[6]क्षणं पोषणं चेति विगृह्य समाहारद्वन्द्वस्तस्मिन् रक्षणपोषणे सदाऽऽदरं कुरु यतस्त्वमस्याः

१ ने आ. इ.। २ विविक्ते यो° आ. विविक्तो यो° इ.। ३ निर्व्रीक° आ. इ.। सा. ४ भिक्षाटनेन प्र०। भिक्षाटनेन इ.। सा. ५ विहितो० विहतो०।
६ रक्षणं च आ.।

'मनुष्योऽसि' मनुष्यो वर्तसे, यदि वा यदि परं वयमस्या रक्षणपोषणव्यापृतास्त्वमेव मनुष्यो वर्तसे, यतस्त्वयैव सार्धमियमेकाकिन्यहर्निशं परित्यक्तनिजव्यापारा तिष्ठतीति ॥१४॥ किञ्चान्यत्—

समणंपि[2] दट्ठुदासीणं, तत्थवि ताव एगे कुप्पंति। अदुवा[3] भोयणेहिं णत्थेहिं, इत्थीदोसं संकिणो होंति ॥१५॥
८
कुव्वंति संथवं[4] ताहिं, पब्भट्ठा समाहिजोगेहिं। तम्हा समणा ण समेंति, आयहियाए सण्णिसेज्जाओ[5] ॥१६॥

'समणंपि' इत्यादि, श्राम्यतीति श्रमणः—साधुः अपिशब्दो भिन्नक्रमः तम् 'उदासीनमपि' रागद्वेषविरहान्मध्यस्थमपि दृष्ट्वा, श्रमणग्रहणं तपः—खिन्नदेहोपलक्षणार्थं, तत्रैवम्भूतेऽपि विषयद्वेषिण्यपि साधौ तावदेके केचन रहस्यस्त्रीजल्पनकृतदोषत्वात् कुप्यन्ति, यदि वा पाठान्तरं "समणं दट्ठूणुदासीणं[6]" 'श्रमणं'—प्रव्रजितं, 'उदासीनम्'—परित्यक्तनिजव्यापारं स्त्रिया सह जल्पन्तं 'दृष्ट्वा' उपलभ्य तत्राप्येके केचन तावत् कुप्यन्ति, किं पुनः कृतविकारमितिभावः, अथवा स्त्रीदोषाशङ्किनश्च ते भवन्ति, ते चामी स्त्रीदोषाः 'भोजनैः' नानाविधैराहारैः 'न्यस्तै' साध्वर्थमुपकल्पितैरेतदर्थमेव संस्कृतैरियमेनमुपचरति तेनायमहर्निशमिहागच्छतीति, यदि वा—भोजनैः श्वशुरा-
१०
दीनां न्यस्तैः अर्धदत्तैः सद्भिः सा वधूः साध्वागमनेन समाकुलीभूता सत्यन्यस्मिन् दातव्येऽन्यद्दद्यात्, ततस्ते स्त्रीदोषाशङ्किनो भवेयुर्यथेयं दुःशीलाऽनेनैवं सहास्त इति, निदर्शनमत्र यथा—कयाचिद्वध्वा ग्राममध्यप्रारब्धनटप्रेक्षणैकगतचित्तया पतिश्वशुरयोर्भोजनार्थमुपविष्टयोस्तण्डुला इतिकृत्वा राइकाः संस्कृत्य दत्ताः, ततोऽसौ श्वशुरेणोपलक्षिता, निजपतिना क्रुद्धेन ताडिता, अन्यपुरुषगतचित्तेत्या-

१ °वा ×× आ. । २ समणं× आं. । ३ अह° आ. अदु° इ. । ४ संथ×वाहिं इ. । ५ °सेज्जाए आ. इ. । ६ °सीणं तिं श्र° आ. इ. । ७ °नैव वा स° आ. ।

शङ्क्य स्वगृहान्निर्धाटितेति ॥१५॥ किञ्चान्यत्–'कुव्वंती'त्यादि, 'ताभिः' स्त्रीभिः–सन्मार्गार्गलाभिः सह 'संस्तवं' तद्गृहगमनालापदान-सम्प्रेक्षणादिरूपं परिचयं तथाविधमोहोदयात् 'कुर्वन्ति' विदधति, किम्भूताः ?–प्रकर्षेण भ्रष्टाः–स्खलिताः 'समाधियोगेभ्यः' समाधिः–धर्मध्यानं तदर्थं तत्प्रधाना वा योगा–मनोवाक्कायव्यापारास्तेभ्यः प्रच्युताः शीतलविहारिण इति, यस्मात् स्त्रीसंस्तवात् समाधियोगपरिभ्रंशो भवति तस्मात् कारणात् 'श्रमणाः' सत्साधवो 'न समेन्ति' न गच्छन्ति, सत् शोभना सुखोत्पादकतयाऽनुकूलत्वान्निषद्या इव-निषद्या स्त्रीभिः कृता माया, यदि वा स्त्रीवसतीरिति, 'आत्महिताय' स्वहितं मन्यमानाः, एतच्च स्त्रीसम्बधपरिहरणं तासामप्यैहिकामुष्मिकापायपरिहाराद्धितमिति, क्वचित्पश्चार्द्धमेवं पठ्यते–"तम्हा समणा उ जहाहि अहिताओ सन्निसेज्जाओ" अयमस्यार्थः–यस्मात् स्त्रीसम्बन्धोऽनर्थाय भवति, तस्मात् हे श्रमण !–साधो !, तुशब्दो विशेषणार्थः, विशेषेण संनिषद्या–स्त्रीवसतीस्तत्कृतोपचाररूपा वा माया आत्महिताद्धेतोः 'जहाहि' परित्यजेति ॥१६॥ किं केचनाभ्युपगम्यापि प्रव्रज्यां स्त्रीसम्बन्धं कुर्युः ?, येनैवमुच्यते, ओमित्याह—

बहवे गिहाइ अवहट्टु, मिस्सीभावं पत्थुया[5] य[6] एगे। धुवमग्गमेव पवयंति, वायावीरियं कुसीलाणं ॥१७॥

सुद्धं रवति परिसाए, अह रहस्संमि दुक्कडं करेंति। जाणंति य णं तहाविहा, माइल्ले महासढेऽयंति ॥१८॥

'बहवे' इत्यादि, 'बहवः' केचन गृहाणि 'अपहृत्य' परित्यज्य पुनस्तथाविधमोहोदयात् मिश्रीभावं इति द्रव्यलिङ्गमात्रसद्भावाद्भावतस्तु गृहस्थसमकल्पा इत्येवम्भूता मिश्रीभावं 'प्रस्तुताः' समनुप्राप्ता न गृहस्था एकान्ततो नापि प्रव्रजिताः, तदेवम्भूता अपि सन्तो

१ °निद्धारितेति आ. इ. । सा. २ सदिति शोभनः पा० । ३ ××× त° आ. । ४ उहिमित्याह आ. । सा. ५ पण्णता पा० । ६ × एगे आ. इ. । ७ कुणति आ. । ८ °विया इ. °विदा आ. ।

ध्रुवो–मोक्षः संयमो वा तन्मार्गमेव प्रवदन्ति, तथा हि–ते वक्तारो भवन्ति यथाऽयमेवास्मदारब्धो मध्यमः पन्थाः श्रेयान् , तथा हि–अनेन प्रवृत्तानां प्रव्रज्यानिर्वहणं भवतीति, तदेतत्कुशीलानां वाचा कृतं वीर्यं नानुष्ठानकृतं, तथा हि–ते द्रव्यलिङ्गधारिणो वाङ्मात्रेणैव वयं प्रव्रजिता इति ब्रुवते न तु तेषां [1]सातगौरवविषयसुखप्रतिबद्धानां शीतलविहारिणां सदनुष्ठान[2]कृतं वीर्यमस्तीति ॥१७॥ अपिच–'सुद्धं रवति' इत्यादि, स कुशीलो वाङ्मात्रेणाविष्कृतवीर्यः 'पर्षदि' व्यवस्थितो धर्मदेशनावसरे सत्यात्मानं 'शुद्धम्' अपगतदोषमात्मानमात्मीयानुष्ठानं वा '[3]रौति' भाषते अथानन्तरं 'रहस्ये' एकान्ते 'दुष्कृतं' पापं तत्कारणं वाऽसदनुष्ठानं 'करोति' विदधाति, तच्च तस्यासदनुष्ठानं गोपायतोऽपि 'जानन्ति' विदन्ति, के–तथारूपमनुष्ठानं विदन्तीति तथा[4]विदः–इङ्गिताकारकुशला निपुणास्तद्विद इत्यर्थः यदिवा सर्वज्ञाः, एतदुक्तं भवति–[5]यद्यप्यपरः [6]कश्चिदकर्तव्यं तेषां न वेत्ति तथापि सर्वज्ञा विदन्ति, तत्परिज्ञानेनैव किं न पर्याप्तं ?, यदि वा–मायावी महाशठश्चायमित्येवं तथा[7]विदस्तद्विदो जानन्ति, तथाहि–प्रच्छन्नाकार्यकारी न मां कश्चिज्जानात्येवं रागान्धो मन्यते, अथ च तं तद्विदो विदन्ति, तथा चोक्तम्–"[8]न य लोणं लोणिज्जइ ण य तुप्पिज्जइ घयं व तेल्लं वा। किह स[9]क्को वंचेउं अत्ता अणुहूयकल्लाणो ॥१॥" ॥१८॥ किञ्चान्यत्—

सयं दुक्कडं च न[10] वदति, आइट्ठोवि प[11]कत्थति बाले। वेयाणुवीइ मा कासी, चोइज्जंतो गिलाइ से भुज्जो ॥१९॥

---

१ साता° आ. । २ °कृद्वीय° आ. । ३ रवते आ. । सा. ४ °वेदा प्र० । ५ यदाप्य° आ. । ६ कश्चित्तद° आ. इ. । ७ वेदा° आ. इ. । सा. ८ न च लवणं लवणीयते न म्रक्ष्यते घृतं च तैलं च। किं शक्यो वंचयितुं आत्माऽनुभूताकल्याणः ॥१॥ सा. ९ सक्का प्र० । आ. इ. । १० स्त्रियः प्र०, आ. इ. । ११ पत्थंति इ. ।

ओसियावि[1] इत्थिपोसेसु, पुरिसा इत्थिवेयखेदन्ना। पण्णासमन्निता वेगे, नारीणं वसं उवकसंति॥२०॥

'सयं दुक्कडं च' इत्यादि, 'स्वयम्' आत्मना प्रच्छन्नं यद्दुष्कृतं कृतं तदपरेणाचार्यादिना पृष्टो 'न वदति' न कथयति, यथा अहमस्याकार्यस्य कारीति, स च प्रच्छन्नपापो मायावी स्वीयमवदन् यदा परेण 'आदिष्टः' चोदितोऽपि सन् 'बालः' अज्ञो रागद्वेषैकलितो[2] वा 'प्रकत्थते' आत्मानं श्लाघमानोऽकार्यमपलपति, वदति च–यथाऽहमेवम्भूतमकार्यं कथं करिष्ये इत्येवं धार्ष्ट्र्यात् प्रकत्थते[3], तथा–वेदः–पुंवेदोदयस्तस्य 'अनुवीचि' आनुकूल्यं मैथुनाभिलाषं तन्मा कार्षीरित्येवं 'भूयः' पुनः चोद्यमानोऽसौ 'ग्लायति' ग्लानिमुपयाति–अकर्णश्रुतं विधत्ते, मर्मविद्धो वा सखेदमिव भाषते, तथा चोक्तम्–"सम्भाव्यमानपापोऽहमपापेनापि किं मया ? । निर्विषस्यापि सर्पस्य, भृशमुद्विजते जनः ॥१॥" इति ॥१९॥ अपि च–'ओसियावि[4]' इत्यादि, स्त्रियं[5] पोषयन्तीति स्त्रीपोषका–अनुष्ठानविशेषास्तेषु 'उषिता अपि' व्यवस्थिता अपि 'पुरुषा' मनुष्या भुक्तभोगिनोऽपीत्यर्थः[6], तथा–'स्त्रीवेदखेदज्ञाः' स्त्रीवेदो मायाप्रधान इत्येवं निपुणा अपि तथा प्रज्ञया औत्पत्तिक्यादिबुद्ध्या समन्विता–युक्ता अपि 'एके' महामोहान्धचेतसो 'नारीणां' 'स्त्रीणां संसारावतरणवीथीनां 'वशं' तदायत्ततामुप–सामीप्येन 'कषन्ति' व्रजन्ति, यद्यद्यत्ताः स्वभ्रायमाना अपि कार्यमकार्यं वा ब्रुवते तत्तत्कुर्वते, न पुनरेतज्जानन्ति यथैता एवम्भूता भवन्तीति, तद्यथा–"एता हसन्ति च रुदन्ति च कार्यहेतोर्विश्वासयन्ति च नरं न च विश्वसन्ति। तस्मान्नरेण कुलशीलसमन्वितेन, नार्यः श्मशानघटिका इव वर्जनीयाः ॥१॥" तथा–"समुद्रवीचीव चलस्वभावाः, सन्ध्याभ्ररेखेवँ[7] मुहूर्तरागाः। स्त्रियः कृतार्थाः

१ उसियाविइ आ. उसियावेइ इ. । २ °षाकलितो आ. । ३ °कत्थते आ. इ. । ४ उसि° आ. इ. । ५ सा. स्त्रियः प्र० । ६ °त्यर्थः ते तथा आ. ।
७ °रागेव आ. ।

पुरुषं निरर्थकं, निष्पीडितालक्तकवत्त्यजन्ति ॥२॥" अत्र च स्त्रीस्वभावपरिज्ञाने कथानकमिदम्-तद्यथा-एको युवा स्वगृहान्निर्गत्य वैशिकं कामशास्त्रमध्येतुं पाटलिपुत्रं प्रस्थितः, तदन्तराले अन्यतरग्रामवर्तिन्यैकया योषिताऽभिहितः, तद्यथा-सुकुमारपाणिपादः शोभनाकृतिस्त्वं क्क प्रस्थितोऽसि ?, तेनापि यथास्थितमेव तस्याः कथितं, तया चोक्तम्-वैशिकं पठित्वा मम मध्येनागन्तव्यं, तेनापि तथैवाभ्युपगतम्, अधीत्य चासौ मध्येनायातः, तया च स्नानभोजनादिना सम्यगुपचरितो विविधहावभावैश्चापहृतहृदयः संस्तां हस्तेन गृह्णाति, ततस्तया महताशब्देन पूत्कृत्य जनागमनावसरे मस्तके वारिवर्धनिका प्रक्षिप्ता, ततो लोकस्य समाकुले एवमाचष्टे-यथाऽयं गले लग्नेनोदकेन मनाक् न मृतः, ततो मयोदकेन सिक्त इति। गते च लोके सा पृष्टवती-किं त्वया वैशिकशास्त्रोपदेशेन स्त्रीस्वभावानां परिज्ञातमिति ?, एवं स्त्रीचरित्रं दुर्विज्ञेयमिति नात्रास्था कर्तव्येति, तथा चोक्तम्-"हृद्यन्यद्वाच्यन्यत्कर्मण्यन्यत्पुरोऽथ पृष्ठेऽन्यत्। अन्यत्तव मम चान्यत् स्त्रीणां सर्वं किमप्यन्यत् ॥१॥" ॥२०॥ साम्प्रतमिहलोक एव स्त्रीसम्बन्धविपाकं दर्शयितुमाह—

अवि हत्थपादछेदाए, अदुवा वद्धमंसउक्कंते। अवि तेयसाभितावणाणि, तच्छियखारसिंचणाइं च ॥२१॥

अदु कण्णणासच्छेदं, कंठच्छेदणं तितिक्खंती। इति इत्थ पावसंतत्ता, नय बिंति पुणो न काहिंति ॥२२॥

'अविहत्थ' इत्यादि, स्त्रीसम्पर्को हि रागिणां हस्तपादच्छेदाय भवति, 'अपिः' सम्भावने सम्भाव्यत एतन्मोहातुराणां स्त्रीसम्बन्धाद्धस्तपादच्छेदादिकम्, अथवा वर्धमांसोत्कर्तनमपि 'तेजसा' अग्निना 'अभितापनानि' स्त्रीसम्बन्धिभिरुत्तेजितै राजपुरुषैर्भटित्रकाण्यपि

१ यथावस्थि° आ.। २ °पगम्य आ.। ३ हस्ते आ.। ४ °कुलाचष्टे आ. °कुले यमाचष्टे इ.। ५ °चरितं आ. इ.। ६ °हितवणाइं आ. °ति भवणाइ इ.। ७ °नासियाछेज्जं आ. °नासच्छेज्जं इ ।

क्रियन्ते पारदारिकाः, तथा वास्यादिना तक्षयित्वा क्षारोदकसेचनानि च प्रापयन्तीति ॥२१॥ अपि च–'अदु कण्ण' इत्यादि, अथ कर्णनासिकाच्छेदं तथा कण्ठच्छेदनं च 'तितिक्षन्ते' स्वकृतदोषात् सहन्ते इति, एवं बहुविधां विडम्बनाम् 'अस्मिन्नेव' मानुषे च जन्मनि पापेन–पापकर्मणा संतप्ता नरकातिरिक्तां वेदनामनुभवन्तीति न च पुनरेतदेवम्भूतमनुष्ठानं न करिष्याम इति ब्रुवत इत्यवधारयन्तीति-यावत्, तदेवमैहिकामुष्मिका दुःखविडम्बना अप्यङ्गीकुर्वन्ति न पुनस्तदकरणतया निवृत्तिं प्रतिपद्यन्त इति [1]भावः ॥२२॥ किञ्चान्यत्–

सुतमेतमेवमेगेसिं, इत्थीवेदेति[2] हु सुयक्खायं। एवंपि ता वदित्ताणं, अदुवा कम्मुणा अवकरेंति ॥२३॥

अन्नं मणेण चिंतेति, [3]वाया अन्नं च कम्मुणा अन्नं। तम्हा ण सद्दह भिक्खू, बहुमायाओ इत्थिओ णच्चा ॥२४॥

'सुतमेत' इत्यादि, 'श्रुतम्' उपलब्धं गुर्वादेः सकाशाल्लोकतो वा 'एतद्' इति यत्पूर्वमाख्यातं, तद्यथा–दुर्विज्ञेयं स्त्रीणां चित्तं दारुणः स्त्रीसम्बन्धविपाकः तथा चलस्वभावाः स्त्रियो दुष्परि[4]चारा अदीर्घप्रेक्षिण्यः प्रकृत्या लघ्व्यो भवन्त्यात्मगर्विताश्च 'इति' एवमेकेषां स्वाख्यातं भवति लोकश्रुतिपरम्परया चिरन्तनाख्यायिकासु वा परिज्ञातं भवति, तथा स्त्रियं यथावस्थितस्वभावतस्तत्सम्बन्धविपाकतश्च वेदयति–ज्ञापयतीति स्त्रीवेदो–वैशिकादिकं स्त्रीस्वभावाविर्भावकं शास्त्रमिति, तदुक्तम्–"दुर्ग्राह्यं हृदयं यथैव वदनं यद्दर्पणान्तर्गतं, भावः पर्वत[5]मार्गदुर्गविषमः स्त्रीणां न विज्ञायते। चित्तं पुष्करपत्रतोयतरलं नैकत्र सन्तिष्ठते, नार्यो नाम विषाङ्कुरैरिव लता दोषैः समं वर्धिताः ॥१॥" अपि च–"[6]सुट्ठुवि जियासु सुट्ठुवि पियासु सुट्ठुविय लद्धपसरासु। अडईसु महिलियासु य वीसंभो [7]नेव कायव्वो

१ ××आ.। २ °विहु आ. °वेहु इ.। ३ अन्नं वायाइ आ.। ४ °चरा आ. इ.। सा. ५ °सूक्ष्ममार्ग वि°। ६ सुष्ठु विजितासु सुष्ठ्वपि प्रीतासु सुष्ठ्वपि च लब्धप्रसरासु अटवीषु महिलासु च विश्रम्भो नैव कार्यः ॥१॥ ७ मेण आ. तेन इ.।

॥१॥ उब्भेउं अं[2]गुली सो पुरिसो सयलंमि जीवलोयम्मि। कामंतएण [3]नारी जेण न पत्ताइं दुक्खाइं ॥२॥ अ[4]ह एयाणं पगई सव्वस्स करेंति वेमणस्साइं। तस्स ण करेंति णवरं जस्स अलं चेव कामेहिं ॥३॥" किञ्च–अकार्यमहं न करिष्यामीत्येवमुक्त्वापि वाचा 'अदुव' त्ति तथापि कर्मणा–क्रियया 'अपकुर्वन्ति' इति विरूपमाचरन्ति, यदि वा अग्रतः प्रतिपद्यापि शास्तुरेवापकुर्वन्तीति ॥२३॥ सूत्रकार एव तत्स्वभावाविष्करणायाह–'अन्नं मणेण' इत्यादि, पातालोदरगम्भीरेण मनसाऽन्यच्चिन्तयन्ति तथा श्रुतिमात्रपेशलया विपाकदारुणया
॥८॥ वाचा अन्यद्भाषन्ते तथा 'कर्मणा' अनुष्ठानेनान्यन्निष्पादयन्ति, यत एवं बहुमायाः स्त्रिय इति, एवं ज्ञात्वा 'तस्मात्' तासां 'भिक्षुः' साधुः 'न श्रद्धीत' तत्कृतया माययात्मानं न प्रतारयेत्, दत्तावैशिकवत्, अत्र चैतत्कथानकम्–दत्तावैशिक एकया गणिकया तैस्तैः प्रकारैः प्रतार्यमाणोऽपि तां नेष्टवान्, ततस्तयोक्तम्–किं मया दौर्भाग्यकलङ्काङ्कितया जीवन्त्या प्रयोजनम्?, अहं त्वत्परित्यक्ताऽग्निं प्रविशामि, ततोऽसाववोचत्–मायया इदमप्यस्ति वैशिके, त[6]दाऽसौ पू[7]र्वसुरङ्गामुखे काष्ठसमु[8]दयं कृत्वा तं प्रज्वाल्य तत्रानुप्रविश्य सुरङ्गया गृहमागता, दत्तकोऽपि[9] च इदमपि अस्ति वैशिके, इत्येवमसौ विलपन्नपि वैंतिकैश्चितायां प्रक्षिप्तः, तथापि नासौ तासु श्रद्धानं कृतवान्, एवमन्येनापि न श्रद्धातव्यमिति ॥२४॥ किञ्चान्यत्—

॥१०॥ **जुवती समणं बूया, विचि[11]त्तलंकारवत्थगाणि परिहित्ता। विरता चरिस्सहं रु[12]क्खं, धम्ममाइक्ख णे भयंतारो ॥**

सा. १ ऊर्ध्वयतु अंगुलिं स पुरुषः सकले जीवलोके कायमता नारीयेंन न प्राप्तानि दुःखानि ॥१॥ २ अंगुलिं आ.। ३ नारिं आ.। सा. ४ असावेतासां प्रकृतिस्सर्वेषामपि कुर्वन्ति वैमनस्यानि तस्य न कुर्वन्ति नवरं यस्यालं चैव कामैः ॥१॥ ५ ×× एवं इ.। ६ तदसौ आ.। ७ पूर्वं आ. इ.। ८ °समूहं आ.। ९ °पि× इ.। सा. १० धूर्तैः वि० प०। ११ यचित्त आ. ओचित्त इ.। १२ मोणं आ. लूढ इ.।

अदु साविया पवाएणं, अहमंसि साहम्मिणी य समणाणं। जतुकुंभे जहा उवज्जोई, संवासे विदू विसीएज्जा ।२६

'जुवती' इत्यादि, 'युवतिः' अभिनवयौवना स्त्री विचित्रवस्त्रालङ्कारविभूषितशरीरा मायया श्रमणं ब्रूयात्, तद्यथा–विरता अहं गृहपाशात् न ममानुकूलो भर्ता मह्यं वाऽसौ न रोचते परित्यक्ता वाऽहं तेने[1]त्येतत् 'चरिष्यामि' करिष्याम्यहं 'रूक्ष' मिति संयमं, मौनमिति वा क्वचित्पाठः, तत्र मुनेरयं मौनः-संयमस्तमाचरिष्यामि, धर्ममाचक्ष्व 'णे'त्ति अस्माकं हे भयत्रातः!, यथाऽहमेवं दुःखानां भाजनं न भवामि तथा धर्ममावेदयेति ॥२५॥ किञ्चान्यत्–'अदु साविया'इत्यादि, अथवाऽनेन 'प्रवादेन' व्याजेन साध्वन्तिकं योषिदुपसर्पेत्–यथाऽहं श्राविकेतिकृत्वा युष्माकं श्रमणानां साधर्मिणीत्येवं प्रपञ्चेन नेदीयसी भूत्वा कूलवालुकमिव साधुं धर्माद् भ्रंशयति, एतदुक्तं भवति–योषित्सान्निध्यं ब्रह्मचारिणां महतेऽनर्थाय, तथा चोक्तम्–"तज्ज्ञानं तच्च विज्ञानं तत्तपः स च संयमः। सर्वमेकपदे भ्रष्टं, सर्वथा किमपि स्त्रियः ॥१॥" अस्मिन्नेवार्थे दृष्टान्तमाह–यथा जातुषः कुम्भो 'ज्योतिषः' अग्नेः समीपे व्यवस्थित उपज्योतिर्व[2]र्ती 'विलीयते'–द्रवति, एवं योषितां 'संवासे' सान्निध्ये विद्वानपि आस्तां तावदितरो योऽपि विदितवेद्योऽसावपि धर्मानुष्ठानं प्रति 'विषीदेत'–शीतलविहारी भवेदिति ॥२६॥ एवं तावत्स्त्रीसान्निध्ये दोषान् प्रदर्श्य तत्[3]संस्पर्शजं दोषं दर्शयितुमाह—

जतुकुंभे जोइउवगूढे, आसुऽभितत्ते णासमुवयाइ। [4]एवित्थियाहिं अणगारा, संवासेण [5]णासमुवयंति ॥२७॥

कुव्वंति पावगं कम्मं, पुट्ठा वेगेवमाहिंसु। नोऽहं करेमि पावंति, अंकेसाइणी ममेसत्ति ॥२८॥

'जतुकुंभे' इत्यादि, यथा जातुषः कुम्भो 'ज्योतिषा' अग्निनोपगूढः–समालिङ्गितोऽभितप्तोऽग्निनाभिमुख्येन सन्तापितः क्षिप्रं 'नाश-

१ °त्यतः आ. इ. । २ °ति××र्वि° आ. । ३ °स्पर्शजद्दोषं आ. °स्पर्शजं दोषं इ. । ४ एव° आ. । ५ नासणं मुवेंति आ. ।

मुपयाति' द्रवीभूय विनश्यति, एवं स्त्रीभिः सार्धं 'संवसनेन' परिभोगेनानगारा नाशमुपयान्ति, सर्वथा जातुपकुम्भवत् व्रतकाठिन्यं परित्यज्यं संयमशरीराद् भ्रश्यन्ति ॥२७॥ अपि च–'कुव्वंति' इत्यादि, तासु संसाराभिष्वङ्गिणीष्वभिषक्ता अवधीरितैहिकामुष्मिकापायाः 'पापं कर्म' मैथुनासेवनादिकं 'कुर्वन्ति' विदधति, परिभ्रष्टाः सदनुष्ठानाद् 'एके' केचनोत्कटमोहा आचार्यादिना चोद्यमाना 'एवमाहुः' वक्ष्यमाणमुक्तवन्तः, तद्यथा–नाहमेवम्भूतकुलप्रसूतः एतदकार्यं पापोपादानभूतं करिष्यामि, ममैषा दुहितृकल्पा पूर्वम् अङ्कशयिनी आसीत् , तदेषा पूर्वाभ्यासेनैव मय्येवमाचरति, न पुनरहं विदितसंसारस्वभावः प्राणात्ययेऽपि व्रतभङ्गं विधास्य इति ॥२८॥ किञ्च—

बालस्स मंदयं बीयं, जं च कडं अवजाणई भुज्जो। दुगुणं करेइ से पावं, पूयणकामो विसन्नेसी ॥२९॥

संलोकणिज्जमणगारं, आयगयं निमंतणेणाहंसु। वत्थं च ताइ ! पायं वा, अन्नं पाणगं पडिग्गाहे ॥३०॥

णीवारमेवं बुज्झेज्जा, णो इच्छे अगारमागंतुं। बद्धे विसयपासेहिं, मोहमावज्जइ पुणो मंदे ॥३१॥

त्तिबेमि। इति इत्थीपरिन्नाए पढमो उद्देसो समत्तो ॥४–१॥ (गाथाग्र. २८७)

'बालस्स' इत्यादि, 'बालस्य'–अज्ञस्य रागद्वेषाकुलितस्यापरमार्थदृश एतद्द्वितीयं 'मान्द्यं' अज्ञत्वम् , एकं तावदकार्यकरणेन चतुर्थव्रतभङ्गो द्वितीयं तदपलपनेन मृषावादः, तदेव दर्शयति–यत्कृतमसदाचरणं 'भूयः' पुनरपरेण चोद्यमानः 'अपजानीते' अपलपति–नैतन्मया कृतमिति, स एवम्भूतः असदनुष्ठानेन तदपलपनेन च द्विगुणं पापं करोति, किमर्थमपलपतीत्याह–पूजनं–सत्कारपुरस्कारस्तत्–

सा. १ ममैषिका प्र° । २ °कामए आ. इ. । सा ३ °मावट्टंति पाठान्तरसंभवः । ४ गच्छती आ. । ५ ××इ° इ. । ६ अवजानाति आ. ।

कामः–तदभिलाषी मा मे लोके अवर्णवादः स्यादित्यकार्यं प्रच्छादयति विषण्णः-असंयमस्तमेषितुं शीलमस्येति[1] विषण्णैपी ॥२९॥ किञ्चान्यत्–'संलोकणिज्जम'इत्यादि, संलोकनीयं–संदर्शनीयमाकृतिमन्तं कञ्चन 'अनगारं' साधुमात्मनि गतमात्मगतम् आत्मज्ञमित्यर्थः, तदेवम्भूतं काश्चन स्वैरिण्यो 'निमन्त्रणेन' निमन्त्रणपुरःसरम् 'आहुः' ऊक्तवत्यः, तद्यथा–हे त्रायिन्! साधो वस्त्रं पात्रमन्यद्वा पानादिकं येन केनचिद्भवतः प्रयोजनं तदहं भवते सर्वं ददामीति मद्गृहमागत्य प्रतिगृहाण त्वमिति ॥३०॥ उपसंहारार्थमाह–'णीवार' इत्यादि, एतद्योपितां वस्त्रादिकमामन्त्रणं नीवारकल्पं 'बुध्येत' जानीयात्, यथा[2] हि नीवारेण केनचिद्भक्ष्यविशेषेण सूकरादिर्वशमानीयते, एवमसावपि तेनामन्त्रणेन वशमानीयते, अतस्तन्नेच्छेद् 'अगारं' गृहं गन्तुं, यदि वा–गृहमेवावर्तो गृहावर्तो गृहश्रमस्तं[3] 'नेच्छेत्' नाभिलषेत्, किमिति?, यतो 'बद्धो' वशीकृतो विषया एव शब्दादयः 'पाशा' रज्जूबन्धनानि तैर्बद्धः–परवशीकृतः स्नेहपाशानपत्रोटयितुमसमर्थः सन् 'मोहं' चित्तव्याकुलत्वमागच्छति–किंकर्तव्यतामूढो भवति पौनःपुन्येन 'मन्दः'–अज्ञो जड इति। इतिः–परिसमाप्तौ। ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥३१॥ इति स्त्रीपरिज्ञायां प्रथमोद्देशकः समाप्तः ॥४–१॥

——— ० ———

१ °स्य सोयं विषण्णैषीति आ. इ. । २ यथा × आ. । ३ °स्तन्नेच्छे° आ. ।

अथ चतुर्थोपसर्गाध्ययने द्वितीयोद्देशकस्य प्रारम्भः ।

उक्तः प्रथमोद्देशकः, साम्प्रतं द्वितीयः समारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः-इहानन्तरोद्देशके स्त्रीसंस्तवाचारित्रस्खलनमुक्तं, स्खलितशीलस्य[1] या अवस्था इहैव प्रादुर्भवति तत्कृतकर्मबन्धश्च तदिह प्रतिपाद्यते, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रम्—

ओए सया ण रज्जेज्जा, भोगकामी पुणो विरज्जेज्जा। भोगे समणाण सुणेह, जह भुंजंति भिक्खुणो एगे ॥१॥

अह तं तु[2] भेदमावन्नं, मुच्छितं भिक्खुं काममतिवट्टं। पलिभिंदिया णं तो पच्छा, पादुद्धट्टु मुद्धि पहणंति ॥२॥

'ओए'इत्यादि, अस्य चानन्तरपरम्परसूत्रसम्बन्धो वक्तव्यः, स चायं सम्बन्धो-विषयपाशैर्मोहमागच्छति यतोऽत 'ओज' एको रागद्वेषवियुतः स्त्रीषु रागं न कुर्यात्, परम्परसूत्रसम्बन्धस्तु संलोकनीयमनगारं दृष्ट्वा च यदि काचिद्योषित् साधुमशनादिना नीवारकल्पेन प्रतारयेत् तत्रौजः सन्न रज्येतेति, तत्रौजो द्रव्यतः परमाणुः भावतस्तु रागद्वेषवियुतः, स्त्रीषु रागादिहैव वक्ष्यमाणनीत्या नानाविधा विडम्बना भवन्ति, तत्कृतश्च कर्मबन्धः, तद्विपाकाच्चामुत्र नरकादौ तीव्रा वेदना भवन्ति, यतोऽत एतन्मत्वा भावौजः सन् 'सदा' सर्वकालं तास्वनर्थखनिषु स्त्रीषु न रज्येत, तथा यद्यपि मोहोदयात् भोगाभिलाषी भवेत् तथाप्यैहिकामुष्मिकापायान् परिगणय्य[3] पुनस्ताभ्यो विरज्येत; एतदुक्तं भवति-कर्मोदयात् प्रवृत्तमपि चित्तं[4] हेयोपादेयपर्यालोचनया ज्ञानाङ्कुशेन निवर्तयेदिति, तथा श्राम्यन्ति-तपसा खिद्यन्तीति श्रमणास्तेषामपि भोगा इत्येतच्छृणुत यूयं, एतदुक्तं भवति-गृहस्थानामपि भोगा विडम्बनाप्राया यतीनां तु भोगा इत्येतदेव विडम्ब-

१ °स्य च या. आ. इ. । २ दु आ. । ३ °णमय्य आ. । ४ चित्तं किं आ. ।

नाप्रायं, किं पुनस्तत्कृतावस्थाः, तथा चोक्तम्–"मुण्डं शिर" इत्यादि पूर्ववत्, तथा यथा च भोगान् 'एके' अपुष्टधर्माणो 'भिक्षवो' यतयो विडम्बनाप्रायान् भुञ्जते तथोद्देशकसूत्रेणैव वक्ष्यमाणेनोत्तरत्र महता प्रबन्धेन दर्शयिष्यति, अन्यैरप्युक्तम्–"कृशः काणः खञ्जः श्रवणरहितः पुच्छविकलः, क्षुधाक्षामो जीर्णः पिठरककपालार्दितगलः[1]। व्रणैः पूयक्लिन्नैः कृमिकुलशतैराविलतनुः[2], शुनीमन्वेति श्वा हतमपि च हन्त्येव मदनः ॥१॥" इत्यादि, ॥१॥ भोगिनां विडम्बनां दर्शयितुमाह–'अह' इत्यादि, 'अथे'त्यानन्तर्यार्थः तुशब्दो विशेष-

८ णार्थः, स्त्रीसंस्तवादनन्तरं 'भिक्षुं' साधुं 'भेदं' शीलभेदं चारित्रस्खलनम् 'आपन्नं' प्राप्तं सन्तं स्त्रीषु 'मूर्च्छितं' गृद्धमध्युपपन्नं, तमेव विशिनष्टि–कामेषु–इच्छामदनरूपेषु मतेः–बुद्धेर्मनसो वा वर्त्तो–वर्तनं प्रवृत्तिर्यस्यासौ काममतिवर्तः–कामाभिलाषुक इत्यर्थः, तमेवम्भूतं 'परिभिद्य' मदभ्युपगतः श्वेतकृष्णप्रतिपत्ता मद्वशर्क इत्येवं परिज्ञाय यदि वा–परिभिद्य परिसार्यात्मकृतं तत्कृतं चोच्चार्येति, तद्यथा–मया तव लुञ्चितशिरसो जल्लमलाविलतया दुर्गन्धस्य जुगुप्सनीयकक्षावक्षोवस्तिस्थानस्य कुलशीलमर्यादालज्जाधर्मादीन् परित्यज्यात्मा दत्तः त्वं पुनरकिञ्चित्कर इत्यादि भणित्वा, प्रकुपितायाः तस्या असौ विषयमूर्च्छितस्तत्प्रत्यायनार्थं पादयोर्निपतति[3], तदुक्तम्[4]–"व्याभिन्नकेस-

१० रबृहच्छिरसश्च सिंहा, नागाश्च दानमदराजिकृशैः कपोलैः। मेधाविनश्च पुरुषाः समरे च शूराः, स्त्रीसन्निधौ परमकापुरुषा भवन्ति ॥१॥" ततो विषयेष्वेकान्तेन मूर्च्छित इति परिज्ञानात् पश्चात् 'पादं' निजवामचरणम् 'उद्धृत्य' उत्क्षिप्य 'मूर्ध्नि' शिरसि 'प्रघ्नन्ति' ताडयन्ति, एवं विडम्बनां प्रापयन्तीति ॥२॥ अन्यच्च—

जइ केसिआ[5] णं मए भिक्खू, णो विहरे सह णमित्थीए। केसाणवि[6]ह लुचिस्सं, नन्नत्थ मए चरिज्जासि[7] ॥३॥

सा. १ °लार्पितगलः प्र० वि० प० । २ °शत प्र° । ३ निपतितः प्र° । ४ यदुक्तम् आ. । ५ °या×° आ. इ. । ६ केसाणि विहं आ. इ. । ७ °सु आ.इ. ।

अह णं से होई उवलद्धो, तो [1]पेसंति तहाभूएहिं। अलाउच्छेदं पेहेहि, वग्गुफलाइं आहराहित्ति ॥४॥

'जइ' इत्यादि, केशा विद्यन्ते यस्याः सा केशिका णमिति वाक्यालङ्कारे, हे भिक्षो! यदि मया 'स्त्रिया' भार्यया केशवत्या सह नो विहरेस्त्वं, सकेशया स्त्रिया भोगान् भुञ्जानो व्रीडां यदि वहसि ततः केशानप्यहं त्वत्सङ्गमाकाङ्क्षिणी 'लुञ्चिष्यामि' अपनेष्यामि, आस्तां तावदलङ्कारादिकमित्यपिशब्दार्थः, अस्य चोपलक्षणार्थत्वादन्यदपि यद् दुष्करं विदेशगमनादिकं तत्सर्वमहं करिष्ये, त्वं पुनर्मया रहितो नान्यत्र चरेः, इदमुक्तं भवति–मया रहितेन भवता क्षणमपि न स्थातव्यम्, एतावदेवाहं भवन्तं प्रार्थयामि, अहमपि यद्भवानादिशति तत्सर्वं विधास्य इति ॥३॥ इत्येवमतिपेशलैर्विश्रम्भजननैरापातभद्रकैरालापैर्विश्रम्भयित्वा यत्कुर्वन्ति तद्दर्शयितुमाह–'अह णं' इत्यादि, 'अथे'त्यानन्तर्यार्थः णमिति वाक्यालङ्कारे, विश्रम्भालापानन्तरं यदाऽसौ साधुर्मदनुरक्त इत्येवम् 'उपलब्धो' भवति–आकारैरिङ्गितै[3]श्चेष्टया वा मद्वशग इत्येवं परिज्ञातो भवति ताभिः कपटनाटकनायिकाभिः स्त्रीभिः, ततः तदभिप्रायपरिज्ञानादुत्तरकालं 'तथाभूतैः' कर्मकरव्यापारै[4]रपशदैः[5] 'प्रेषयन्ति'–नियोजयन्ति यदि वा–तथाभूतैरिति लिङ्गस्थयोग्यैर्व्यापारैः प्रेषयन्ति, तानेव दर्शयितुमाह–'अलाउ'त्ति अलाबु–तुम्बं छिद्यते येन तदलाबुच्छेदं–पिप्पलकादि शस्त्रं 'पेहाहि'त्ति प्रेक्षस्व निरूपय लभस्वेति, येन पिप्पलकादिना लब्धेन पात्रादेर्मुखादि क्रियत इति, तथा 'वल्गूनि'–शोभनानि, 'फलानि'–नालिकेरादीनि अलाबुकानि वा त्वम् 'आहर' आनयेति, यदि वा–वाक्फलानि च धर्मकथारूपाया व्याकरणादिव्याख्यानरूपाया वा वाचो यानि फलानि–वस्त्रादिलाभरूपाणि तान्याहरेति ॥ ॥४॥ अपि च—

१ पेसेति आ. पंसंति. इ. । २ यद्यद्भवाना° आ. इ. । ३ °तैर्गत्या चेष्टया. आ. । सा. ४ °शब्दैः प्र० खेटं पापमपशदमिति हैमः । ५ °शब्दैः इ. ।

दारूणि सागपागाए, पज्जोओ वा भविस्सती राओ। पाताणि य मे रयावेहि, [1]एहि ता मे पिट्ठओमद्दे ॥५॥
वत्थाणि य मे पडिलेहेहि, अन्नं पाणं च आहाराहित्ति। गंधं[2] च रओहरणं च, कासवगं चे[3] मे समणुजाणाहि॥

'दारूणि' इत्यादि, तथा 'दारूणि' काष्ठानि शाकं टक्कवस्तुलादिकं पत्रशाकं तत्पाकार्थं, क्वचिद् अन्नपाकायेति पाठः, तत्रान्नम्-ओदनादिकमिति, 'रात्रौ' रजन्यां प्रद्योतो वा भविष्यतीतिकृत्वा, अतो अटवीतस्तमाहरेति, तथा-[ग्रन्थाग्रम् ३५००] 'पात्राणि' पतद्ग्रहादीनि 'रञ्जय' लेपय, येन सुखेनैव भिक्षाटनमहं करोमि, यदि वा-पादावलक्तकादिना रञ्जयेति, तथा-परित्यज्यापरं कर्मतावद् 'एहि' आगच्छ 'मे' मम पृष्ठिम् उत्-प्राबल्येन मर्दय बाधते ममाङ्गमुपविष्टाया अतः संबाधय, पुनरपरं कार्यशेषं करिष्यसीति ॥५॥ किञ्च-'वत्थाणि य मे' इत्यादि, 'वस्त्राणि च' अम्बराणि 'मे' मम जीर्णानि वर्तन्तेऽतः 'प्रत्युपेक्षस्व' अन्यानि निरूपय, यदि वा-मलिनानि रजकस्य समर्पय, मदुपधिं वा मूषिकादिभयात् प्रत्युपेक्षस्वेति, तथा अन्नपानादिकम् 'आहर' आनयेति, तथा 'गन्धं' कोष्ठपुटादिकं ग्रन्थं वा हिरण्यं तथा शोभनं रजोहरणं तथा लोचं कारयितुमहमशक्तेत्यतः 'काश्यपं' नापितं मच्छिरोमुण्डनाय श्रमणानुजानीहि येनाहं बृहत्केशानपनयामीति ॥६॥ किञ्चान्यत्—

अदु अंजाणिं अलंकारं, कुंकुययं[4][5] मे पयच्छाहि। लोद्धं च लोद्धकुसुमं च, वेणुपलासियं च गुलियं च ॥७॥
कुट्ठं तगरं च अगरुं[6], संपिट्ठं सम्भं[7] उसिरेणं। तेल्लं [8]मुंहभिंजाएं[9], वेणुफलाइं सन्निधानाए ॥८॥

१ एहि य ता. आ. इ.। सा. २ गंयं इति स्यात्पाठान्तरम्। ३ च×°आ. इ.। सा. ४ घर्घरमिति वि० प०। ५ कुक्कुहयं। ६ अगुरुं च आ. इ.। ७ सह आ.। ८ °भिलिंगाए आ. °सिलिंगाए इ.। सा. ९ भिण्डलिजाए प्र°।

'अदु अंजणिं' इत्यादि, अथशब्दोऽधिकारान्तरप्रदर्शनार्थः पूर्वं लिङ्गस्थोपकरणान्यधिकृत्याभिहितम्, अधुना गृहस्थोपकरणान्यधिकृत्याभिधीयते, तद्यथा—'अंजणिमि'ति अञ्जणिकां कज्जलाधारभूतां नलिकां मम प्रयच्छस्वेत्युत्तरत्र[1] क्रिया, तथा कटककेयूरादिकमलङ्कारं वा[2], तथा 'कुंकययं'[3]ति खुंखुणकं 'मे' मम प्रयच्छ, येनाहं सर्वालङ्कारविभूषिता वीणाविनोदेन भवन्तं विनोदयामि, तथा लोध्रं च लोध्रकुसुमं च, तथा 'वेणुपलासियं'ति वंशात्मिका श्लक्ष्णत्वक् काष्ठिका, सा दन्तैर्वामहस्तेन[4] प्रगृह्य दक्षिणहस्तेन वीणावद्वाद्यते, तथौषधगुटिकां तथाभूतामानय येनाहमविनष्टयौवना भवामीति ॥७॥ तथा कुष्ठम्—'कुट्ठं' इत्यादि, उत्पलकुष्ठं तथाऽगरं तगरं च, एते द्वे अपि गन्धिकद्रव्ये, एतत्कुष्ठादिकम् 'उशीरेण' वीरणीमूलेन सम्पिष्टं सुगन्धि भवति यतस्तत्[6]तथा कुरु, तथा 'तैलं' लोध्रकुङ्कुमादिना संस्कृतं मुखमाश्रित्य 'भिलिंजए'त्ति अभ्यङ्गाय ढौकयस्व, एतदुक्तं भवति—मुखाभ्यङ्गार्थं तथाविधं संस्कृतं तैलमुपाहरेति, येन कान्त्युपेतं मे मुखं जायते, 'वेणुफलाइं'ति वेणुकार्याणि करण्डकपेट्टुकादीनि सन्निधिः सन्निधानं—वस्त्रादेर्व्यवस्थापनं तदर्थमानयेति ॥८॥ किञ्च—

नंदीचुण्णगाइं पाहराहि[11], छत्तोवाणहं च जाणाहि। सत्थं च सूवच्छेज्जाए, आणीलं च वत्थयं रयावेहि ॥९॥
सुफणिं च सागपागाए, आमलगाइं दगाहरणं च। तिलगकरणिमंजणसलागं, घिंसु[12] मे विहूणयं विजाणेहि ॥१०॥

'नंदीचुण्णगाइं'[13]ति द्रव्यसंयोगनिष्पादितोष्ठम्रक्षणचूर्णोऽभिधीयते, तमेवम्भूतं चूर्णं प्रकर्षेण—येन केनचित्प्रकारेण 'आहर' आन-

१ प्रयच्छ ददस्वेत्यु° आ. इ. । २ च आ. इ. । सा ३ कुक्कुइयं प्र° । कुक्कुहयं आ. कुक्कुकयं इ. । ४ हस्तेन च प्र° आ. । ५ °गरुं आ. । ६ स्ततस्तत° आ. । ७ रोध्रं आ. । सा. ८ भिजाए । भिडर्लिजाए° प्र° । °जाए आ. इ. । ९ °पडलाइं आ. । १० °पेडका° आ. । °पेटिका° इ. । ११ पह° इ. पहि° आ. । १२ घिंसि आ. । १३ नंदी चुण्णमित्यादि आ. नंदी चुण्णगाइ त्ति इ. ।

येति, तथाऽऽतपस्य [1]वृष्टेर्वा संरक्षणाय छत्रं तथा उपानहौ च ममानुजानीहि, न मे शरीरमेभिर्विना वर्तते ततो ददस्वेति, तथा 'शस्त्रं' दात्रादिकं 'सूपच्छेदनाय' पत्रशाकच्छेदनार्थं ढौकयस्व, तथा 'वस्त्रम्' अम्बरं परिधानार्थं गुलिकादिना रञ्जय यथा आनीलम्–ईषन्नीलं सामस्त्येन वा नीलं भवति, उपलक्षणार्थत्वाद्रक्तं वा यथा भवतीति ॥९॥ तथा–'सुफणिं च' इत्यादि, सुष्ठु सुखेन वा फण्यते–क्काथ्यते तक्रादिकं यत्र तत्सुफणि–स्थालीपिठरादिकं भाजनमभिधीयते तच्छाकपाकार्थमानय, तथा 'आमलकानि' धात्रीफलानि स्नानार्थं पित्तोपशमनायाभ्यवहारार्थं वा तथोदकमाह्रियते येन तदुदकाहरणं–कुटवर्धनिकादि, अस्य चोपलक्षणार्थत्वाद् घृततैलाद्याहरणं सर्वं वा गृहोपस्करं ढौकयस्वेति, तिलकः क्रियते यया सा तिलककरणी–दन्तमयी सुवर्णात्मिका वा शलाका यया गोरोचनादियुक्तया तिलकः क्रियत इति, यदि वा गोरोचनया तिलकः क्रियते (इति) [2]सैव तिलककरणीत्युच्यते, तिलका वा क्रियन्ते–पिष्यन्ते वा यत्र सा तिलककरणीत्युच्यते, तथा अञ्जनं–सौवीरकादि शलाका–अक्ष्णोरञ्जनार्थं शलाका अञ्जनशलाका तामाहरेति । तथा 'ग्रीष्मे' उष्णाभितापे सति 'मे' मम 'विधूनकं' व्यजनकं विजानीहि[3] ॥१०॥ एवं—

[4]संडासगं च फणिहं च, [5]सीहलिपासगं च आणाहि । आदंसगं च पयच्छाहि, दंतपक्खालणं पवेसाहि ॥११॥
पूयफलं तंबोलयं, सूईसुत्तगं च जाणाहि । कोसं च मोयमेहाए, सुप्पुक्खलगं च [6]खारगालणं च ॥१२॥

'संडासगं च' इत्यादि, 'संडासकं' नासिकाकेशोत्पाटनं 'फणिहं' केशसंयमनार्थं कङ्कतकं, तथा 'सीहलिपासगं'ति वीणासंयमनार्थमूर्णामयं कङ्कणं च 'आनय' ढौकयेति, एवम् आ–समन्ताद् दृश्यते आत्मा यस्मिन् स आदर्शः स एव आदर्शकस्तं 'प्रयच्छ' ददस्वेति,

१ दृष्टे आ. । २ स च इ. । ३ °हि ददस्वेति एवं आ. । ४ संडासं आ. । ५ आणाहि सांहलि पासगं च आ. । ६ गौरगलंणीए आ. । ७×××आद° आ.

तथा दन्ताः प्रक्षाल्यन्ते–अपगतमलाः क्रियन्ते येन तद्दन्तप्रक्षालनं–दन्तकाष्ठं तन्मदन्तिके प्रवेशयेति ॥११॥ 'पूयफलं' इत्यादि, पूगफलं प्रतीतं 'ताम्बूलं' नागवल्लीदलं तथा सूचीं च सूत्रं च सूच्यर्थं वा सूत्रं 'जानीहि' ददस्वेति, तथा 'कोशम्'इति वारकादिभाजनं तत् मोचमेहाय समाहर, तत्र मोचः-प्रस्रवणं कायिकेत्यर्थः तेन मेहः–सेचनं तदर्थं भाजनं ढौकय, एतदुक्तं भवति–बहिर्गमनं कर्तुमहमसमर्था रात्रौ भयाद्, अतो मम यथा रात्रौ बहिर्गमनं न भवति तथा कुरु, एतच्चान्यस्याप्यधमतमकर्तव्यस्योपलक्षणं द्रष्टव्यं, तथा 'शूर्पं' तन्दुलादिशोधनं तथोदूखलं तथा किञ्चन क्षारस्य–सर्जिकादेर्गालनकमित्येवमादिकमुपकरणं सर्वमप्यानयेति ॥१२॥ किञ्चान्यत्—

चंदालगं च करगं च, वच्चघरं च आउसो! खणाहि। सरपाययं च जायाए, गोरहगं च सामणेराए ॥१३॥

घडिगं च सडिंडिमयं च, चेलगोलं कुमारभूयाए। वासं समभिआवण्ण, आवसहं च जाण भत्तं च ॥१४॥

'चन्दालगं च' इत्यादि, 'चन्दालकम्' इति देवतार्चनिकाद्यर्थं ताम्रमयं भाजनं, एतच्च मथुरायां चन्दालकत्वेन प्रतीतमिति, तथा 'करको' जलाधारो मदिराभाजनं वा तदानयेति क्रिया, तथा 'वर्चोगृहं' पुरीषोत्सर्गस्थानं तदायुष्मन्! मदर्थं 'खन' संस्कुरु, तथा शराइषवः पात्यन्ते–क्षिप्यन्ते येन तच्छरपातं–धनुः तत् 'जाताय' मत्पुत्राय कृते ढौकय, तथा 'गोरहगं'ति त्रिहायणं बलीवर्दं च ढौकयेति, 'सामणेराए'त्ति श्रमणस्यापत्यं श्रामणिस्तस्मै श्रमणपुत्राय त्वत्पुत्राय गन्त्र्यादिकृते भविष्यतीति ॥१३॥ तथा 'घडिगं च' इत्यादि, घटिकां मृन्मयकुल्लडिकां 'डिण्डिमेन' पटहकादिवादित्रविशेषेण सह, तथा 'चेलगोलं'ति वस्त्रात्मकं कन्दुकं 'कुमारभूताय' क्षुल्ल-

१ °पत्रं आ. इ. । २ प्रश्र° आ. इ. । ३ सज्जिका° आ. इ । ४ समणाहिआ° आ. । ५ °ति स च साम° आ. इ. । सा. ६ श्रामणिपुत्राय प्र० । ७ स्वपुत्राय प्र० । ८ गन्त्र्याः कृते आ. ।

करूपाय राजकुमारभूताय वा मत्पुत्राय क्रीडनार्थमुपानयेति, तथा वर्षमिति प्रावृट्कालोऽयम् अभ्यापन्नः–अभिमुखं समापन्नोऽत 'आवसथं' गृहं प्रावृट्कालनिवासयोग्यं तथा 'भक्तं च' तन्दुलादिकं तत्कालयोग्यं 'जानीहि' निरूपय निष्पादय, येन सुखेनैवा[1]नागत-परिकल्पितावसथादिना प्रावृट्कालोऽतिवाह्यते इति, तदुक्तम्–"मासैरष्टभिरह्वा[2] च, पूर्वेण वयसाऽऽयुषा। तत्कर्तव्यं मनुष्येण, यस्यान्ते सुखमेधते ॥१॥" इति ॥१४॥ तथा—

आसंदियं च नवसुत्तं, पाउल्लाइं संकमट्ठाए। अदु पुं[3]त्तदोहलट्ठाए, आणप्पा हवंति दासा वा ॥१५॥

जाए फले समुप्पन्ने, गेण्हसु [4]वा णं अहवा जहाहि। [5]अहं पुत्तपोसिणो एगे, भारवहा हवंति उट्टा वा ॥१६॥

'आसंदियं' इत्यादि, आसन्दिकामुपवेशनयोग्यां मञ्चिकां, तामेव विशिनष्टि नवं–प्रत्यग्रं सूत्रं वल्कवलितं यस्यां सा नवसूत्रा ताम् उपलक्षणार्थत्[6]वाद्वध्रचर्मावनद्धां वा निरूपयेति[7] वा एवं च–मौञ्जे काष्ठपादुके वा 'संक्रमणार्थं' पर्यटनार्थं निरूपय, यतो नाहं निरावरणपादा भूमौ पदमपि दातुं समर्थेति, अथवा–पुत्रे गर्भस्थे दौहृदः पुत्रदौहृदः–[8]अन्तर्वर्ती फलादावभिलाषविशेषस्तस्मै–तत्सम्पादनार्थं स्त्रीणां पुरुषाः स्ववशीकृता 'दासा इव' क्रयक्रीता इव 'आज्ञाप्या' आज्ञापनीया भवन्ति, यथा दासा अलज्जितैर्योग्यत्वादाज्ञाप्यन्ते एवं तेऽपि वराकाः स्नेहपाशावपाशिता विषयार्थिनः स्त्रीभिः संसारावतरणवीथीभिरादिश्यन्त इति ॥१५॥ अन्यच्च–'जाए फले' इत्यादि, जातः–

सा. १ अनागते परिकल्पितं यदावसथादि तेन। २ य आ.। ३ पुत्तस्स डोहल° आ.। ४ वाण इ.। ५ अह आ. इ.। ६ °त्वात्यद्दचर्मा° आ. °त्वा-ताद्दचर्मा° इ.। ७ °ति×एवं×पाउल्ला इति मोचकाः काष्ठपादुका वा आ. ति×एवं×पाउल्ला इति मोजका काष्ठपादुके वा इ.। सा. ८ अन्तर्वर्त्ती प्राग्मुद्रिते, फलस्य पुत्रवाचिता उपरिष्टात्स्पष्टा।

पुत्रः स एव फलं गृहस्थानां, तथाहि–पुरुषाणां कामभोगाः फलं तेषामपि फलं–प्रधानकार्य पुत्रजन्मेति, तदुक्तम्–"इदं तत्स्नेहसर्वस्वं, सममाढ्यदरिद्रयोः। अचन्दनमनौशीरं, हृदयस्यानुलेपनम् ॥१॥ यत्तच्छपनिकेत्युक्तं, बालेनाव्यक्तभाषिणा। हित्वा सांख्यं च योगं च, तन्मे मनसि वर्तते ॥२॥" यथा 'लोके पुत्रसु(मु)खं नाम, द्वितीयं सु(मु)खमात्मनः' इत्यादि, तदेवं पुत्रः पुरुषाणां परमाभ्युदयकारणं तस्मिन् 'समुत्पन्ने' जाते तदुद्देशेन या विडम्बनाः पुरुषाणां भवन्ति ता दर्शयति–अमुं दारकं गृहाण त्वम्, अहं तु कर्माक्षणिका न मे ग्रहणावसरोऽस्ति, अथ चैनं 'जहाहि' परित्यज नाहमस्य वार्तामपि पृच्छामि, एवं कुपिता सती ब्रूते, मयाऽयं नव मासानुदरेणोढः त्वं पुनरुत्सङ्गेनाप्युद्वहन् स्तोकमपि कालमुद्विजस इति, दासदृष्टान्तस्त्वादेशदानेनैव साम्यं भजते, नादेशनिष्पादनेन, तथाहि–दासो भया दुद्विजन्नादेशं विधत्ते, स तु स्त्रीवशगोऽनुग्रहं मन्यमानो मुदितश्च तदादेशं विधत्ते, तथा चोक्तम्–"यदेव रोचते मह्यं, तदेव कुरुते प्रिया। इति वेत्ति न जानाति, तत्प्रियं यत्करोत्यसौ ॥१॥ ददाति प्रार्थितः प्राणान्, मातरं हन्ति तत्कृते। किं न दद्यात्[3] न किं कुर्या-त्स्त्रीभिरभ्यर्थितो नरः ॥२॥ ददाति शौचपानीयं, पादौ प्रक्षालयत्यपि। श्लेष्माणमपि गृह्णाति, स्त्रीणां वशगतो नरः ॥३॥" तदेवं पुत्र-निमित्तमन्यद्वा यत्किञ्चिन्निमित्तमुद्दिश्य दासमिवादिशन्ति, अथ तेऽपि पुत्रान् पोषितुं शीलं येषां ते पुत्रपोषिण उपलक्षणार्थत्वाच्चास्य सर्वाऽऽदेशकारिणः 'एके' केचन मोहोदये वर्तमानाः स्त्रीणां निर्देशवर्तिनोऽपहस्तितैहिकामुष्मिकापाया उष्ट्रा इव परवशा भारवाहा भवन्तीति ॥१६॥ किञ्चान्यत्—

राओवि उट्ठिया संता, दारगं च संठवंति धाई वा। सुहिरामणा वि ते संता, वत्थधोवा हवंति हंसा वा ॥

सा. १ एतच्छ्लोकद्वयमपि व्रतभ्रष्टेन धर्मकीर्त्तिना भाषितामिति वि० प०। २ तथा। ३ कुर्यात् किं न दद्यात् आ.। ४ °हिकापाया आ.। ५ सुहिरी° आ. इ.।

एवं बहुहिं कयपुव्वं, भोगत्थाए जेऽभियावन्ना । दासे मिंइव पेसे वा, पसुभूतेव से ण वा केई ॥१८॥

'राओ वि' इत्यादि, रात्रावप्युत्थिताः सन्तो रुदन्तं दारकं धात्रीवत् संस्थापयन्त्यनेकप्रकारैरुल्लापनैः, तद्यथा—"सामिओसि[2] णगरस्स य णक्कउरस्स य हत्थकप्पगिरिपट्टणसीहपुरस्स य उण्णयस्स निन्नस्स[3] य कुच्छिपुरस्स य कण्णकुज्ज आयामुहसोरियपुरस्स य" इत्येवमादिभिरसम्बद्धैः क्रीडनकलापैः स्त्रीचित्तानुवर्तिनः पुरुषास्तत् कुर्वन्ति येनोपहास्यतां सर्वस्य व्रजन्ति, सुष्ठु ह्रीः—लज्जा तस्यां मनः—अन्तःकरणं येषां ते सुह्रीमनसो—लज्जालवोऽपि ते सन्तो विहाय लज्जां स्त्रीवचनात् सर्वजघन्यान्यपि कर्माणि कुर्वते, तान्येव सूत्रावयवेन दर्शयति—'वस्त्रधावका' वस्त्रप्रक्षालका हंसा इव—रजका इव भवन्ति, अस्य चोपलक्षणार्थत्वादन्यदप्युदकवहनादिकं कुर्वन्ति ॥१७॥ किमेतत्केचन कुर्वन्ति येनैवमभिधीयते ?, बाढं कुर्वन्तीत्याह—'एवं बहुहिं' इत्यादि, 'एव'मिति पूर्वोक्तं स्त्रीणामादेशकरणं पुत्रपोषणवस्त्रधावनादिकं तद्बहुभिः संसाराभिष्वङ्गिभिः पूर्वं कृतं कृतपूर्वं तथा परे कुर्वन्ति करिष्यन्ति च ये 'भोगकृते[4]' कामभोगार्थमैहिकामुष्मिकापायभयमपर्यालोच्य आभिमुख्येन—भोगानुकूल्येन आपन्ना—व्यवस्थिताः सावद्यानुष्ठानेषु प्रतिपन्ना इति यावत्, तथा यो रागान्धः स्त्रीभिर्वशीकृतः स दासवदशङ्किताभिस्ताभिः प्रत्यपरेऽपि कर्मणि नियोज्यते, तथा वागुरापतितः परवशो मृग इव धार्यते, नात्मवशो भोजनादिक्रिया अपि कर्तुं लभते, तथा 'प्रेष्य इव' कर्मकर इव क्रयक्रीत इव वर्चःशोधनादावपि नियोज्यते, तथा—कर्तव्याकर्तव्यविवेकरहिततया हिताहितप्राप्तिपरिहारशून्यत्वात् पशुभूत इव, यथा हि पशुराहारभयमैथुनपरिग्रहाभिज्ञ एव केवलम्, एवमसावपि सदनुष्ठानरहितत्वा-

१ °एव आ. इ. । सा. २ स्वाम्यसि नगरस्य च नक्रपुरस्य च हस्तिकल्पगिरिपत्तनसिंहपुरस्य उन्नतस्य निम्नस्य च कुक्षिपुरस्य च कान्यकुब्जपितामहमुखशौर्यपुरस्य च ॥ ३ भिण्णस्स आ. इ. । ४ भोगत्वाय आ. ।

त् पशुकल्पः, यदि वा–स स्त्रीवशगो दासमृगप्रेष्यपशुभ्योऽप्यधमत्वात् न कश्चित्, एतदुक्तं भवति–सर्वाधमत्वात्तस्य तत्तुल्यं नास्त्येव येनासावुपमीयते, अथवा–न स कश्चिदिति, उभयभ्रष्टत्वात्, तथाहि–न तावत्प्रव्रजितोऽसौ सदनुष्ठानरहितत्वात्, नापि गृहस्थः ताम्बूलादिपरिभोगरहितत्वाल्लोचिकामात्रधारित्वाच्च, यदि वा ऐहिकामुष्मिकानुष्ठायिनां मध्ये न कश्चिदिति ॥१८॥ साम्प्रतमुपसंहारद्वारेण स्त्रीसङ्गपरिहारमाह—

एवं[3] खु तासु विन्नप्पं, संथवं संवासं च वज्जेज्जा। तज्जातिआ इमे कामा, वज्जकरा य एवमक्खाए[4] ॥१९॥

एयं भयं ण सेयाय, इइ से अप्पगं निरुंभित्ता। णो इत्थिं णो पसुं भिक्खू, णो सय पाणिणा णिलिज्जेज्जा ॥२०॥

'एवं[5] खु' इत्यादि, 'एतत्' पूर्वोक्तं खुशब्दो वाक्यालङ्कारे, तासु यत् स्थितं तासां वा स्त्रीणां सम्बन्धि यद् विज्ञप्तम्–उक्तं, तद्यथा–यदि सकेशया मया सह न रमसे ततोऽहं केशानप्यपनयामीत्येवमादिकं, तथा स्त्रीभिः सार्धं 'संस्तवं' परिचयं तत्संवासं च स्त्रीभिः सहैकत्र[6] निवासं चात्महितमनुवर्तमानः सर्वापायभीरुः 'त्यजेत्' जह्यात्, यतस्ताभ्यो–रमणीभ्यो जातिः–उत्पत्तिर्येषां तेऽमी कामास्तज्जातिका–रमणीसम्पर्कोत्थास्तथा 'अवद्यं' पापं वज्रं वा गुरुत्वादधःपातकत्वेन पापमेव तत्करणशीला अवद्यकरा वज्रकरा वेत्येवम् 'आख्याताः' तीर्थकरगणधरादिभिः प्रतिपादिता इति ॥१९॥ सर्वोपसंहारार्थमाह–'एयं[7] भयं' इत्यादि, 'एवम्' अनन्तरनीत्या भयहेतुत्वात् स्त्रीभिर्विज्ञप्तं तथा संस्तवस्तत्संवासश्च भयमित्यतः स्त्रीभिः सार्धं सम्पर्को न श्रेयसे असदनुष्ठानहेतुत्वात्तस्येत्येवं परिज्ञाय स

१ °वशको आ इ. । २ न स क° आ. इ. । ३ एयं आ. इ. । ४ °क्खाया आ. इ. । ५ एयं आ. इ. । ६ सहैकत्वं आ. इ । ७ एवं आ इ. ।

भिक्षुरवगतकामभोगविपाक आत्मानं स्त्रीसम्पर्कान्निरुध्य सन्मार्गे व्यवस्थाप्य यत्कुर्यात्तद्दर्शयति–न स्त्रियं नरकवीथीप्रायां नापि पशु 'लीयेत' आश्रयेत स्त्रीपशुभ्यां सह संवासं परित्यजेत्, 'स्त्रीपशुपण्डकविवर्जिता शय्ये'तिवचनात्, तथा स्वकीयेन 'पाणिना' हस्तेनावाच्यस्य 'न णिलिज्जेज्ज'त्ति न सम्बाधनं कुर्यात्, यतस्तदपि हस्तसम्बाधनं चारित्रं शबलीकरोति, यदि वा–स्त्रीपश्वादिकं स्वेन पाणिना न स्पृशेदिति ॥२०॥ अपि च—

सुविसुद्धलेसे मेहावी, परकिरिअं च वज्जए नाणी। मणसा वयसा कायेणं, सव्वफाससहे अणगारे ॥२१॥

इच्चेवमाहु से वीरे, [1]धुअरए धुअमोहे से भिक्खू । तम्हा अज्झत्थविसुद्धे, सुविमुक्के आ[2]मोक्खाए परिव्वएज्जासि ॥२२॥ त्तिबेमि ॥ [3]इति श्रीइत्थीपरिन्ना, [4]चतुर्थाध्ययनं समत्तं ॥ (गाथाग्रं० ३०९)

'सुविसुद्ध' इत्यादि, सुष्ठु–विशेषेण शुद्धा–स्त्रीसम्पर्कपरिहाररूपतया निष्कलङ्का लेश्या–अन्तःकरणवृत्तिर्यस्य स तथा स एवम्भूतो '[5]मेधावी'मर्यादावर्ती परस्मै–स्त्र्यादिपदार्थाय क्रिया परक्रिया–विषयोपभोगद्वारेण परोपकारकरणं परेण वाऽऽत्मनः संबाधनादिका क्रिया परक्रिया तां च 'ज्ञानी' विदितवेद्यो 'वर्जयेत्' परिहरेत्, एतदुक्तं भवति–विषयोपभोगोपाधिना नान्यस्य किमपि कुर्यान्नाप्यात्मनः स्त्रिया पादधावनादिकमपि कारयेत्, एतच्च परक्रियावर्जनं मनसा वचसा कायेन वर्जयेत्, तथाहि–औदारिककामभोगार्थं मनसा न गच्छति नान्यं गमयति गच्छन्तमपरं नानुजानीते एवं वाचा कायेन च, सर्वेऽप्यौदारिके नव भेदाः, एवं दिव्येऽपि नव भेदाः, तत-

१ धूत° आ. । सा. २ पा° विहरे आमुक्खाए । ३ इत्थीपरिण्णा सम्मत्ता आ. इ. । ४ चउत्थमज्झयणं । छ । आ. । चतुर्थमध्ययनं समाप्तमिति । छ. । इ. । ५ ××× मर्या° आ. ।

ऽष्टादशभेदभिन्नमपि ब्रह्म बिभृयात्, यथा च स्त्रीस्पर्शपरीषहः सोढव्य एवं सर्वानपि शीतोष्णदंशमशकतृणादिस्पर्शानधिसहेत, एवं च सर्वस्पर्शसहोऽनगारः साधुर्भवतीति ॥२१॥ क एवमाहेति दर्शयति- 'इच्चेवमाहु' इत्यादि, 'इति' एवं यत्पूर्वमुक्तं तत्सर्वं स वीरो भगवानुत्पन्नदिव्यज्ञानः परहितैकरतः 'आह' उक्तवान्, यत एवमतो धूतम्-अपनीतं रजः-स्त्रीसम्पर्कादिकृतं कर्म येन स धूतरजाः, तथा धूतो मोहो रागद्वेषरूपो येन स तथा। पाठान्तरं वा धूतः-अपनीतो रागमार्गो-रागपन्था यस्मिन् स्त्रीसंस्तवादिपरिहारे तत्तथा तत्सर्वं भगवान् वीर एवाह, यत एवं तस्मात् स भिक्षुः 'अध्यात्मविशुद्धः' सुविशुद्धान्तःकरणः सुष्ठु रागद्वेषात्मकेन स्त्रीसम्पर्केण मुक्तः सन् 'आमोक्षाय' अशेषकर्मक्षयं यावत्परि-समन्तात् संयमानुष्ठानेन 'व्रजेत्' गच्छेत् संयमोद्योगवान् भवेदिति,इतिः परिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥२२॥ इति चतुर्थं स्त्रीपरिज्ञाध्ययनं परिसमाप्तम् [3] ॥४॥

अथ पञ्चमं नरकविभक्त्यध्ययनं प्रारभ्यते।

उक्तं चतुर्थमध्ययनं, साम्प्रतं पञ्चममारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः, इहाद्ये अध्ययने स्वसमयपरसमयप्ररूपणाऽभिहिता, तदनन्तरं स्वसमये बोधो विधेय इत्येतद्द्वितीयेऽध्ययनेऽभिहितं, सम्बुद्धेन चानुकूलप्रतिकूला उपसर्गाः सम्यक् सोढव्या इत्येतत्तृतीयेऽध्ययने प्रतिपादितं, तथा सम्बुद्धेनैव स्त्रीपरीषहश्च सम्यगेव सोढव्य इत्येतच्चतुर्थेऽध्ययने प्रतिपादितं, साम्प्रतमुपसर्गभीरोः स्त्रीवशगस्यावश्यं

१ एवं×आ. । २ ×× च° आ. । ३ ग्रथतः ५९-७ आ. ।

नरकपोतो भवति, तत्र च यादृक्षा वेदनाः प्रादुर्भवन्ति ता अनेनाध्ययनेन प्रतिपाद्यन्ते, तदनेन सम्बन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि उपक्रमादीनि वक्तव्यानि, तत्रोपक्रमान्तर्गतोऽर्थाधिकारो द्वेधा—अध्ययनार्थाधिकार उद्देशार्थाधिकारश्च, तत्राध्ययनार्थाधिकारो निर्युक्तिकारेण[1] प्रागेवाभिहितः, तद्यथा—'उवसग्गभीरुणो थीवसस्स नरएसु होज्ज उववाओ' इत्यनेन, उद्देशार्थाधिकारस्तु निर्युक्तिकृता नाभिहितः, अध्ययनार्थाधिकारान्तर्गतत्वादिति। साम्प्रतं निक्षेपः, स च त्रिविधः, ओघनिष्पन्नो नामनिष्पन्नः सूत्रालापकनिष्पन्नश्चेति, तत्रौघनिष्पन्ने निक्षेपेऽध्ययनं, नामनिष्पन्ने तु नरकविभक्तिरिति द्विपदं नाम, तत्र नरकपदनिक्षेपार्थं निर्युक्तिकृदाह—

णिरए छक्कं दव्वं[2] णिरया उ इहेव[3] जे भवे असुभा। खेत्तं णिरओगासो कालो णिरएसु चेव ठिती ॥६२॥

भावे उ णिरयजीवा[4] कम्मुदओ चेव णिरयपाओग्गो। सोऊण णिरयदुक्खं तवचरणे होइ जइयव्वं ॥६३॥

'णिरए छक्कं' इत्यादि, तत्र[5] नरकशब्दस्य नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात् षोढा निक्षेपः, तत्र नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यनरक आगमतो नोआगमतश्च, आगमतो ज्ञाता तत्र चानुपयुक्तः, नोआगमतस्तु ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तः 'इहैव' मनुष्यभवे तिर्यग्भवे वा ये केचनाशुभकर्मकारित्वादशुभाः सत्त्वाः कालकसौकरिकादय इति, यदि वा यानि कानिचिदशुभानि स्थानानि चारकादीनि याश्च नरकप्रतिरूपा वेदनास्ताः सर्वा द्रव्यनरका इत्यभिधीयन्ते, यदि वा कर्मद्रव्यनोकर्मद्रव्यभेदाद् द्रव्यनरको द्वेधा, तत्र नरक-

---

१ °धिकारं सुखत एवोत्तरत्र निर्युक्तिकृदेव वक्ष्यति आ. °धिकारं सुखत एव निर्युक्तिकृदेव वक्ष्यति इ.। २ दव्व निरउञ. अ. आ.। ३ इहमेव अ. आ. ४ नरयजीवो अ. आ.। ५ गाथाद्वय त° अ.।

वेद्यानि यानि बद्धानि कर्माणि तानि चैकभविकस्य बद्धायुष्कस्याभिमुखनामगोत्रस्य चाश्रित्य द्रव्यनरको भवति, नोकर्मद्रव्यनरकस्त्विहैव येऽशुभा रूपरसगन्धवर्णशब्दस्पर्शा इति, क्षेत्रनरकस्तु 'नरकावकाशः' कालमहाकालरौरवमहारौरवाप्रतिष्ठानाभिधानादिनरकाणां चतुरशीतिलक्षसंख्यानां विशिष्टो भूभागः, कालनरकस्तु यत्र यावती स्थितिरिति, भावनरकस्तु ये जीवा नरकायुष्कमनुभवन्ति तथा नरकप्रायोग्यः कर्मोदय इति, एतदुक्तं भवति–नरकान्तर्वर्तिनो जीवास्तथा नरकायुष्कोदयापादितासातावेदनीयादिकर्मोदयाश्चैतद् द्वितयमपि भावनरक इत्यभिधीयते इति, तदेवं 'श्रुत्वा' अवगम्य तीव्रमसह्यं 'नरकदुःखं' क्रकचपाटनकुम्भीपाकादिकं परमाधार्मिकापादितं परस्परोदीरणाकृतं स्वाभाविकं च 'तपश्चरणे' संयमानुष्ठाने नरकपातपरिपन्थिनि स्वर्गापवर्गागमनैकहेतावात्महितमिच्छता 'प्रयतितव्यं' परित्यक्तान्यकर्तव्येन यत्नो[3] विधेय इति ॥६२॥६३॥ साम्प्रतं विभक्तिपदनिक्षेपार्थमाह—

णामंठवणादविए खेत्ते काले तहेव भावे य। एसो उ विभत्तीए णिक्खेवो छव्विहो होइ ॥६४॥

'णामं ठवणा' इत्यादि, विभक्तेर्नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात् पोढा निक्षेपः, तत्र नामविभक्तिर्यस्य कस्यचित्सचित्तादेर्द्रव्यस्य विभक्तिरिति नाम क्रियते, तद्यथा–स्यादयोऽष्टौ विभक्तयस्तिवादयश्च,स्थापनाविभक्तिस्तु यत्र ता एव प्रातिपदिकाद्धातोर्वा परेण स्थाप्यन्ते पुस्तकपत्रकादिन्यस्ता वा, द्रव्यविभक्तिर्जीवाजीवभेदाद् द्विधा, तत्रापि–जीवविभक्तिः सांसारिकेतरभेदाद्द्विधा, तत्राप्यसांसारिकजीवविभक्तिर्द्रव्यकालभेदात् द्वेधा, तत्र द्रव्यतस्तीर्थातीर्थसिद्धादिभेदात् पञ्चदशधा, कालतस्तु प्रथमसमयसिद्धादिभेदादनेकधा, सांसारिकजीवविभक्तिरिन्द्रियजातिभवभेदात्रिधा, तत्रेन्द्रियविभक्तिः–एकेन्द्रियविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियभेदात् पञ्चधा, जातिविभक्तिः पृथि-

सा. १ नरकास्तु प्र०। २ रूपं मूर्त्तिः (आकारः), लावण्यं वा। ३ प्रयत्नो आ. इ.।

व्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसभेदात् षोढा, भवविभक्तिर्नारकतिर्यङ्मनुष्यामरभेदाच्चतुर्धा, अजीवद्रव्यविभक्तिस्तु रूप्यरूपिद्रव्यभेदाद् द्विधा, तत्र रूपिद्रव्यविभक्तिश्चतुर्धा, तद्यथा–स्कन्धाः स्कन्धदेशाः स्कन्धप्रदेशाः परमाणुपुद्गलाश्च, अरूपिद्रव्यविभक्तिर्दशधा, तद्यथा–धर्मास्तिकायो धर्मास्तिकायस्य देशो धर्मास्तिकायस्य प्रदेशः, एवमधर्माकाशयोरपि प्रत्येकं त्रिभेदता द्रष्टव्या, अद्धासमयश्च दशम इति, क्षेत्रविभक्तिश्चतुर्धा, तद्यथा–स्थानं दिशं द्रव्यं स्वामित्वं चाश्रित्य, तं[1]त्र स्थानाश्रयणादूर्ध्वाधस्तिर्यग्विभागव्यवस्थितो लोको वैशाखस्थानस्थपुरुष इव कटिस्थकरयुग्म ई[2]व द्रष्टव्यः, तत्राप्यधोलोकविभक्ती रत्नप्रभाद्याः सप्त नरकपृथिव्यः, तत्रापि सीमन्तकादिनरकेन्द्रकावलिकप्रविष्टपुष्पावकीर्णकवृत्तत्र्यस्रचतुरस्रादिनरकस्वरूपनिरूपणं, तिर्यग्लोकविभक्तिस्तु जम्बूद्वीपलवणसमुद्रधातकीखण्डकालोदसमुद्रेत्यादिद्विगुणवृद्ध्या द्वीपसागरस्वयम्भूरमणपर्यन्तस्वरूपनिरूपणं, ऊर्ध्वलोकविभक्तिः सौधर्माद्या उपर्युपरिव्यवस्थिता द्वादश देवलोकाः नव ग्रैवेयकानि पञ्च महाविमानानि, तत्रापि विमानेन्द्रकावलिकाप्रविष्टपुष्पावकीर्णकवृत्तत्र्यस्रचतुरस्रादिविमानस्वरूपनिरूपणमिति, दिगाश्रयणेन तु पूर्वस्यां दिशि व्यवस्थितं क्षेत्रमेवमपरास्वपीति, द्रव्याश्रयणाच्छालिक्षेत्रादिकं गृह्यते, स्वाम्याश्रयणाच्च[3] देवदत्तस्य क्षेत्रं यज्ञदत्तस्य वेति, यदि वा–क्षेत्रविभक्तिरार्यानार्यक्षेत्रभेदाद् द्विधा, तत्रा[4]प्यार्यक्षेत्रमर्धषड्विंशतिजनपदोपलक्षितं राजगृहमगधादिकं गृह्यते[5], “[6]रायगिह म[1]गह चंपा अंगा[2] तह तामलित्ति वंगा[3] य। कंचणपुरं कलिंगा[4] वाणारसी[7] चेव कासी[5] य ॥१॥ साकेय कोसला[6] गयपुरं च कुरु[7] सोरियं कुसट्टा[8] य। कंपिल्लं पंचाला[9] अहिछत्ता जंगला[10] चेव ॥२॥ बारवई य सुरट्ठा[11] मिहिल विदेहा[12] य वच्छ[13] कोसंबी। नंदिपुरं संदि-

१ तत्र च आ.। सा. २ इति प्र०, आ. इ.। ३ तु आ.। ४ तत्रार्य आ.। ५ °तेतच्चेदं रा. आ. इ.। सा. ६ राजगृहं मगधे चंपाङ्गे ताम्रलिप्तिर्वङ्गे काञ्चनपुरं कलिंगे वाणारसी काश्यां ॥१॥ साकेतं कौशले गजपुरं च कुरुषु सौरिकं च कुशार्त्ते कांपिल्यं पंचालायां अहिच्छत्रं जंगलायां चैव ॥२॥ ७ वाराणसी प्र०

[१४]भा भद्दिलपुरमेवं [१५]मलया य ॥३॥ वइराड [१६]मच्छ[१] वरणा [१७]अच्छा तह मित्तियावइ दस[१८]ण्णा । सुत्तीमई य [१९]चेदी वीयभयं सिं[२०]धुसोवीरा ॥४॥ महुरा य [२१]सूरसेणा पावा भंगी [२२]य मासपुरि[२३]वट्टा । सावत्थी य [२४]कुणाला, कोडीवरिसं च [२५]लाढा य ॥५॥ सेयवियाविय णयरि केयय-अद्धं च आरियं भणियं । जत्थुप्पत्ति जिणाणं चक्कीणं रामकिण्हाणं ॥६॥" अनार्यक्षेत्रं धर्मसंज्ञारहितमनेकधा, तदुक्तम्—"स[२]ग जवण सबर बब्बर कायमुरुं[३]डो दुगोणपक्कणया । अक्खागहूणरोमस पारसखसखासिया चेव ॥१॥ दु[४]विलयलवो[५]से बोक्कस भि[६]ल्लंद पुलिंद कोंच[७] भमर रूया । कोंबोय चीण चंचुय मालय दमिला कुलक्खा य ॥२॥ के[८]कय किराय हयमुह खरमुह गयतुरगमेंढगमुहा य । हयकण्णा गयकण्णा अण्णे य अणारिया बहवे ॥३॥ पा[१०]वा य चंडदं[११]डा अणारिया णिग्घिणा णि[१२]रणुकंपा । धम्मोत्ति अक्खराइं जेसु ण णज्जंति सुवि-णेऽवि ॥४॥" कालविभक्तिस्तु अतीतानागतवर्तमानकाल भेदात्रिधा, यदिवैकान्तसुषमादिकक्रमेणावसर्पिण्युत्सर्पिण्युपलक्षितं द्वादशारं कालचक्रं, अथवा—"स[१३]मयावलियमुहुत्ता दिवसमहोरत्त पक्ख मासा य । संवच्छरयुगपलिया सागर उस्सप्पि परियट्टे ॥१॥" त्येव-

---

द्वारवती सुराष्ट्रायां मिथिला विदेहेषु वत्से कौशाम्बी नंदीपुरं साण्डिल्ये भद्रिलपुर मलये ॥३॥ वैराटं वच्छे वरणे अच्छा मृत्तिकावती दशार्णे शुक्तिमती चेदिके वीतभयं सिन्धौ सौवीरे ॥४॥ १ वच्छ आ. इ. । सा. मथुरा च शूरसेने पापायां भंगं मासा पुर्यां श्रावस्तिश्च कुणालायां कोटीवर्षं च लाटे च ॥५॥ श्वेताम्बिकापि च नगरी कैकेय्यर्द्धं चार्यं भाणितं यत्रोत्पत्तिर्जिनानां चक्रिणां रामकृष्णानां ॥६॥ सा. २ शकयवनशवरबर्वरकायमुरुढदुड्डगौडपक्कणिकाः आख्याकहुणरोमाः पारसखसखासि-काश्चैव ॥१॥ ३ °डोड्डगोड्डप° आ. इ. । सा. ४ द्विवलक्षलौसवुक्कसाः भिल्लांध्रपुलिंद्रकौंचभ्रमररुकाः कौंचाश्च चीनचंचुकमालवद्रमिलकुलाख्याश्च ॥२॥ ५ उसवो-क्कस आ. इ. । सा. ६ भिल्लंध प्रं° । सा. ७ कोंचा य प्र°, कोंवाय इ. । सा. ८ कैकेयकिरातहयमुखखरमुखाः गजतुरगमेंढमुखाश्च हयकर्णा गजकर्णाः अन्ये च अनार्या बहवः ॥३॥ सा. ९ तह प्र०, आ. इ. । सा. १० पापाश्चंढदंडाः अनार्या निर्घृणा निरनुकंपाः धर्म इति अक्षराणि यैर्न ज्ञायते स्वप्नेऽपि ॥४॥ सा. ११ रुद्दा प्र० । १२ निरणुतावी प्र० । सा. १३ समय आवलिका मुहूर्त्तः दिवसोऽहोरात्रं पक्षो मासश्च संवत्सरं युगं पल्यं सागर उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ पुद्गलपरावर्तः ॥१॥

मादिका[1] कालविभक्तिरिति, भावविभक्तिस्तु जीवाजीवभावभेदाद्द्विधा, तत्र जीवभावविभक्तिः औदयिकौपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिकसान्निपातिकभेदात् षट्प्रकारा, तत्रौदयिको गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदक्रमेणैकविंशतिभेदभिन्नः, तथौपशमिकः सम्यक्त्वचारित्रभेदाद् द्विविधः, क्षायिकः सम्यक्त्वचारित्रज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्यभेदान्नवधा, क्षायोपशमिकस्तु ज्ञानाज्ञानदर्शनदानादिलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः तथा सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमभेदक्रमेणाष्टादशधेति, पारिणामिको जीवभव्याभव्यत्वादिरूपः, सान्निपातिकस्तु द्विकादिभेदात् षड्विंशतिभेदः, संभवी तु षड्विधोऽयमेव गतिभेदात् पञ्चदशधेति। अजीवभावविभक्तिस्तु मूर्तानां वर्णगन्धरसस्पर्शसंस्थानपरिणामः अमूर्तानां गतिस्थित्यवगाहवर्तनादिक इति, साम्प्रतं समस्तपदापेक्षया नरकविभक्तिरिति नरकाणां विभागो विभक्तिस्तामाह—

पुढवीफासं अण्णाणुवक्कम णिरयवालवेहणं[2] च। तिसु वेदेंति अताणा अणुभागं[3] चेव सेसासु ॥६५॥

'पुढवीफासं'इत्यादि, पृथिव्याः—शीतोष्णरूपायास्तीव्रवेदनोत्पादको यः स्पर्शः—सम्पर्कः, पृथिवीसंस्पर्शस्तमनुभवन्ति, तमेव विशिनष्टि—अन्येन—देवादिना उपक्रमितुम्—उपशमयितुं यो न शक्यते सोऽन्यानुपक्रमस्तम्, अपराचिकित्स्यमित्यर्थः, तमेवम्भूतमपरासाध्यं पृथिवीस्पर्शं नारकाः समनुभवन्ति, उपलक्षणार्थत्वाच्चास्य रूपरस[4]गन्धस्पर्शशब्दानप्येकान्तेनाशुभान्निरुपमाननुभवन्ति, तथा नरकपालैः—पञ्चदशप्रकारैः परमाधार्मिकैः कृतं मुद्गरासिकुन्तक्रकचकुम्भीपाकादिकं वधमनुभवन्त्याद्यासु 'तिसृषु' रत्नशर्करावालुकाख्यासु पृथिवीषु स्वकृतकर्मफलभुजो नारका 'अत्राणा' अशरणाः प्रभूतकालं यावदनुभवन्ति, 'शेषासु'—चतसृषु पृथिवीषु पङ्कधूमतमोमहातमः-

१ °का वा काल० आ इ. । २ °सहणं आ.। ३ °भावं अ.। सा. ४ गंध रस इति प्र०, आ. इ.।

प्रभाख्यासु अनुभावमेव परमाधार्मिकनरकपालाभावेऽपि स्वत एव तत्कृतवेदनायाः सकाशाद्यस्तीव्रतरोऽनुभावो विपाको वेदनासमुद्धातस्तमनुभवन्ति परस्परोदीरितदुःखाश्च भवन्तीति। साम्प्रतं परमाधार्मिकानाद्यासु तिसृषु पृथिवीषु वेदनोत्पादकान् स्वनामग्राहं दर्शयितुमाह—

अंबे अंबरिसी चेव, सामे य सबलेवि[1] य। रोद्दोवरुद्द काले[2] य, महाकालेत्तिंआवरे ॥६६॥
असिपत्ते धणुं कुंभे, वालु वेयरणीवि[3] य। खरस्सरे महाघोसे, एवं[4] पण्णरसाहिया ॥६७॥

'अंबे अंबरिसी'इत्यादि, गाथाद्वयं प्रकटार्थम्, एवं[5] ते चाम्ब इत्यादयः परमाधार्मिका यादृक्षां वेदनामुत्पादयन्ति प्रायोऽन्वर्थसंज्ञत्वात्तादृशाभिधाना एव द्रष्टव्या इति, साम्प्रतं स्वाभिधानापेक्षया यो यां वेदनां परस्परोदीरणदुःखं चोत्पादयति तां दर्शयितुमाह—

धाडेंति य[6] हाडेंति य हणंति विंधंति तह[7] णिसुंभंति। मुंचंति अंबरतले अंबा खलु तत्थ णेरइया ॥६८॥
ओहयहये य[8] तहियं णिस्सन्ने कप्पणीहि कप्पंति। विंदुलगचडुलगछिन्ने[9] अंबरिसी तत्थ णेरइए ॥६९॥
साडणपाडणतोडण[10] बंधण[11]रज्जुलयप्पहारेहिं। सामा णेरइयाणं पवत्तयंती अपुण्णाणं ॥७०॥
अंतगयफिप्फिसाणि य हिययं कालेज्ज फुप्फुसे[12] वक्के। सबला णेरतियाणं कड्ढेंति[13] तहिं अपुन्नाणं ॥७१॥
असिसत्तिकोंत[14]तोमरसूलतिसूलेसु सूइचियगासु। [15]पोयंति रुद्दकम्मा उ णरगपाला तहिं रोद्दा ॥७२॥

१ इया अ. आ.। २ काले×अ आ.। ३ इय अ. इया आ.। ४ एए अ. आ.। ५ एते×चा आ. इ.। ६ पहाडिंतिय अ. आ.। ७ यानि° अ. आ.। ८ तइहियं निस्सण्णे अ.। ९ वियलगचडुलच्छिन्ने अ. पियलगचटुलच्छिन्ने आ.। सा. १० वोहण० टीका। ११ विंधणरज्जुलतप्पहारेय अ. विंयणारज्जुलतप्पहारेय आ.। १२ °सं अ. आ.। १३ कड्ढवि कड्ढंत पुन्नाणं अ. आ.। १४ कुंतसूलेसूइसूलेसु य पहुस्स अ. कुंतसूलेसूय पहुस्स आ.। १५ पोएंति रुद्दाय रोद्दकम्मा रुद्दा खलु तत्थ नेरइया अ. पोएंति रुद्दाय रोद्दकम्मा रुद्दा खलु तत्थ नेरइया आ.।

भंजंति अंगमंगाणि ऊरूबाहूसिराणि करचरणे। कप्पेंति कप्पणीहिं उवरुद्दा पावकम्मरया ॥७३॥
मीरासु सुंठएसु य कंडूसु य पयंडएसु य पयंति। कुंभीसु य लोहि[1]एसु य पयंति काला उ णेरतिए ॥७४॥
कप्पंति कागिणीमंसगाणि छिंदंति [2]सीहपुच्छाणि। खावंति य णेरइए महकाला पावकम्मरए ॥७५॥
हत्थे पाए ऊरू बाहुसिरा[3]पायअंगमंगाणि। छिंदंति पगामं तू असि णेर[4]इए निरयपाला ॥७६॥
[5]कण्णोट्ठणासकरचरणदसण[6]ट्ठणफु[7]ंगऊरुबाहूणं। छेयणभेयणसाडण असिपत्तधणूहि पाडंति ॥७७॥
कुम्भीसु य पयणेसु य लोहियसु य कंदुलोहिकुंभीसु। कुंभी य णरयपाला हणंति पाडं(यं)ति णरएसु ॥
तडतडतड[8]स्स भज्जंति [9]भज्जणे कलंवुवालुगापट्ठे। वालूगा णेरइया लोलंती अंबरतलंमि ॥७९॥
पूयरुहिरकेसट्ठिवाहिणी कलकलेंतजलसोया। वेयरणिणिरयपाला णेरइए ऊ पवाहंति ॥८०॥
कप्पेंति करकएहिं तच्छिंति परोप्परं परसुएहिं। [10]सिंबलितरुमारुहंती खरस्सरा तत्थ णेरइए[11] ॥८१॥
भीए य पलायंते [12]समंततो तत्थ ते [13]णिरुंभंति। पसुणो जहा पसुवहे महघोसा तत्थ णेर[14]इए ॥८२॥[15]

'धाडेंति' इत्यादि, तत्राम्बाभिधानाः परमाधार्मिकाः स्वभवनान्नरकावासं गत्वा क्रीडया नारकान् अत्राणान् सारमेयानिव शू-

---

१ °लेहीसु अ. आ.। २ सीस° अ. आ.। ३ °पास° अ. आ.। ४ नेरइयगाउ नेरइए अ. आ.। सा. ५ कंठुट्ठ० प्र०। ६ °थणफिगुरु° अ. आ.। ७ पूओरु० प्र० अ. आ.। ८ °तडत्ति° अ. आ.। ९ भायणे अ. आ.। १० संवलिय आ.। ११ णेरइया आ.। १२ समंतउ आ.। १३ निरंभंति आ.। १४ नेरइया आ.। १५ पंचमध्ययनं समाप्तं आ.।

लादिप्रहारैस्तुदन्तो 'धाडेंति'त्ति प्रेरयन्ति–स्थानात् स्थानान्तरं प्रापयन्तीत्यर्थः, यथा 'पहाडेंति'त्ति स्वेच्छयेतश्चेतश्चानाथं भ्रमयन्ति[1], तथा अम्बरतले प्रक्षिप्य पुनर्निपतन्तं मुद्गरादिना घ्नन्ति, तथा शूलादिना विध्यन्ति, तथा निसुंभंति'त्ति कृकाटिकायां गृहीत्वा भूमौ पातयन्ति अधोमुखान्, तथोत्क्षिप्य अम्बरतले मुञ्चन्तीत्येवमादिकया विडम्बनया 'तत्र' नरकपृथिवीषु नारकान् कदर्थयन्ति[2]। किञ्चान्यत्–'ओहय' इत्यादि, उप–सामीप्येन मुद्गरादिना हता उपहताः पुनरप्युपहता एव खड्गादिना हता उपहतहतास्तान्नारकान् 'तस्यां' नरकपृथिव्यां 'निःसंज्ञकान्' नष्टसंज्ञान् मूर्च्छितान् सतः कर्प्पणीभिः 'कल्पयन्ति[3]' छिन्दन्तीतश्चेतश्च पाटयन्ति, तथा 'द्विदलं[4]चट्टुलकच्छि[5]न्नानि'ति मध्यपाटितान् खण्डशश्छिन्नांश्च नारकांस्तत्र–नरकपृथिव्यामम्बर्षिनामानोऽसुराः कुर्वन्तीति, तथा–'साडण' इत्यादि, तथा 'अपुण्यवतां' तीव्रासातोदये वर्तमानानां नारकाणां श्यामाख्याः परमाधार्मिका एतच्चैतच्च प्रवर्तयन्ति, तद्यथा 'शातनम्' अङ्गोपाङ्गानां छेदनं, तथा 'पात[6]नं' निष्कुटादधो वज्रभूमौ प्रक्षेपः तथा 'प्रतोदनं' शूलादिना तोदनं व्यधनं[7], (ग्रन्थाग्रम् ३७९०) सूच्यादिना नासिकादौ वेधस्तथा रज्ज्वादिना क्रूरकर्मकारिणं बध्नन्ति, तथा तादृग्विधलताप्रहारैस्ताडयन्त्येवं दुःखोत्पादनं[8] दारुणं शातनपातनवेधनबन्धनादिकं बहुविधं 'प्रवर्तयन्ति' व्यापारयन्तीति, अपि च–'अंतगय' इत्यादि, तथा–सबलाख्या नरकपालास्तथाविधकर्मोदयसमुत्पन्नक्रीडापरिणामा अपुण्यभाजां नारकाणां यत्कुर्वन्ति तद्दर्शयति, तद्यथा–अन्त्रगतानि यानि[9] फिप्फिसानि–अन्त्रान्तर्वर्तीनि मांसविशेषरूपाणि तथा हृदयं पाटयन्ति तथा तद्गतं 'कालेज्जं'ति हृदयान्तर्वर्ति[10] मांसखण्डं तथा 'फुप्फुसे' त्ति उदरान्तर्वर्तीन्यन्त्रविशेषरूपाणि तथा 'वल्कलान्' वर्ध्रान् आकर्षय-

१ °भ्राम इ.। २ °न्तीति आ इ.। ३ °यन्तीति इ.। सा. ४ कूष्माण्डवदायतं छित्त्वा यत्तिर्यक् छिद्यते विद्यते वि० प्र०। ५ °च्छिन्नान अ. आ.। ६ °पाटनं आ.। सा. ७ व्यधनं तथा। व्यथनं तथा आ. इ.। ८ °दकं आ.। ९ ××फि° आ.। १० वर्त्तिनं आ.।

न्ति, नानाविधैरुपायैरशरणानां नारकाणां तीव्रां वेदनामुत्पादयन्तीति । अपि[1] च–'असिसत्ति' इत्यादि, तथा अन्वर्थाभिधाना रौद्राख्या नरकपाला रौद्रकर्माणो नानाविधेष्वसिशक्त्यादिषु प्रहरणेषु नारकानशुभकर्मोदयवर्तिनः प्रोतयन्तीति । 'भंजंति'इत्यादि, तथा–उपरुद्राख्याः परमाधार्मिका नारकाणामङ्गप्रत्यङ्गानि शिरोबाहूरुकादीनि तथा करचरणांश्च 'भञ्जन्ति' मोटयन्ति[2] पापकर्माणः[3] कल्पनीभिः 'कल्पयन्ति' पाटयन्ति, तन्नास्त्येव दुःखोत्पादनं[4] यत्ते न कुर्वन्तीति । अपि च–'मीरासु' इत्यादि, तथा कालाख्या नरकपालासुरा 'मीरासु' दीर्घचुल्लीषु तथा शुण्ठकेषु तथा कन्दुकेषु[5] प्रचण्डकेषु तीव्रतापेषु नारकान् पचन्ति, तथा 'कुम्भीषु' उष्ट्रिकाकृतिषु तथा 'लोहिषु' आयसकवल्लिषु नारकान् व्यवस्थाप्य जीवन्मत्स्यानिव पचन्ति । अपि च–'कप्पंति' इत्यादि, महाकालाख्या नरकपालाः पापकर्मनिरता नारकान्नानाविधैरुपायैः कदर्थयन्ति, तद्यथा–'काकिणीमांसकानि' श्लक्ष्णमांसखण्डानि 'कल्पयन्ति' नारकान् कुर्वन्ति, तथा 'सीहपुच्छाणि'त्ति पृष्ठीवर्ध्रास्तांश्छिन्दन्ति, तथा ये प्राक् मांसाशिनो नारका आसन् तान्[6] स्वमांसानि खादयन्तीति । अपि च–'हत्थे' इत्यादि, असिनामानो नरकपाला अशुभकर्मोदयवर्तिनो नारकानेवं कदर्थयन्ति, तद्यथा–हस्तपादोरुबाहुशिरःपार्श्वादीन्यङ्गप्रत्यङ्गानि छिन्दन्ति 'प्रकामम्' अत्यर्थं खण्डयन्ति, तुशब्दोऽपरदुःखोत्पादनविशेषणार्थ इति । तथा–'कण्णोट्ठ'[7] इत्यादि, असिप्रधानाः पत्रधनुर्नामानो नरकपाला असिपत्रवनं बीभत्सं कृत्वा तत्र छायार्थिनः समागतान् नारकान् वराकान् अस्यादिभिः पाटयन्ति, तथा कर्णौष्ठना[8]सिकाकरचरणदशनस्तनस्फिग्गूरुबाहूनां छेदनभेदनशातनादीनि विकुर्विततवाता[9]हतचलिततरुपातितासिपत्रादिना कुर्वन्तीति, तदु–

सा. १ किंच प्र०, आ. । २ °न्ति तथा पाप° आ. । ३ कर्प्पणीभिः कल्पयन्तीति आ. । ४ °दकं आ. इ. । ५ कन्दुषु° आ. इ. । ६ तांश्च मांसान् आ. सा. ७ कण्ठोष्ठ प्र० । ८ पूतौ स्फिजौ कटि प्रोथौ हैमः । ९ °वाताहत° आ. इ. ।

क्तम्–"छिन्नपादभुजस्कन्धाश्छिन्नकर्णौष्ठनासिकाः । भिन्नतालुशिरोमेण्ढ्रा, भिन्नाक्षिहृदयोदराः ॥१॥" किञ्चान्यत्–'कुंभीसु' इत्यादि, कुम्भिनामानो नरकपाला नारकान्नरकेषु व्यवस्थितान् निघ्नन्ति, तथा पाचयन्ति, क्वेति दर्शयति–'कुम्भीषु' उष्ट्रिकाकृतिषु तथा 'पचनेषु' कडिल्लकाकृतिषु तथा 'लौहीषु' आयसभाजनविशेषेषु कन्दुलोहिकुम्भीषु कन्दुकानामिव अयोमयीषु कुम्भीषु–कोष्ठिकाकृतिषु एवमादिभाजनविशेषेषु पाचयन्ति । तथा–'तडतं[1]डतडस्स' इत्यादि, वालुकाख्याः परमाधार्मिका नारकानत्राणांस्तप्तवालुकाभृतभाजने चणकानिव तडतं[2]डित्ति स्फुटतः 'भुं[3]जंति' भृज्जन्ति–पचन्ति, क्व ? इत्याह–कदम्बपुष्पाकृतिवालुका कदम्बवालुका तस्याः पृष्ठम्–उपरितलं तस्मिन् पातयित्वा अम्बरत[4]ले च लोलयन्तीति । किञ्चान्यत्–'पूयरुहिर' इत्यादि, वैतरणीनामानो नरकपाला वैतरणीं नदीं विकुर्वन्ति, सा च पूयरुधिरकेशास्थिवाहिनी महाभयानका कलकलायमानजलश्रोता तस्यां च क्षारोष्णजलायामतीव बीभत्सदर्शनायां नारकान् प्रवाहयन्तीति ॥ तथा–'कप्[5]पेंति' इत्यादि, खरस्वराख्यास्तु परमाधार्मिका नारकानेवं कदर्थयन्ति, तद्यथा–क्रकचपा[6]तैर्मध्यं मध्येन स्तम्भमिव सूत्रपातानुसारेण कल्पयन्ति–पाटयन्ति, तथा परशुभिश्च तानेव नारकान् 'परस्परम्' अन्योऽन्यं तक्षयन्ति सर्वशो देहावयवापनयनेन तनून् कारयन्ति, तथा 'शा[7]मलीं' वज्रमयभीषणकण्टकाकुलां खरस्वरै आरटतो नारकानारोहयन्ति पुनरारूढानाकर्षयन्तीति । अपि-च–'भीए य' इत्यादि, महाघोषाभिधाना भवनपत्यसुराधमविशेषाः परमाधार्मिका व्याधा इव परपीडोत्पादनेनैवातुलं हर्षमुद्वहन्तः क्रीडया नानाविधैरुपायैर्नारकान् कदर्थयन्ति, तांश्च भीतान् प्रपलायमानान् मृगानिव 'समन्ततः' सामस्त्येन 'तत्रैव' पीडोत्पादनस्थाने

१ तडतडस्सइ° आ. तडतडइ° इ. । २ °तडत्ति इ. । ३ भज्जंतित्ति×××पचन्ति आ. । भज्जंतिति भृज्जन्ति–पचन्ति इ. । ४ °तले×आ. । ५ कप्पेयंति आ. कल्पयंति इ. ६ °पाटनै° आ. ७ शाल्मलीं आ. इ. ।

'निरुम्भन्ति' प्रतिबध्नन्ति 'पशून्' बस्तादिकान् यथा पशुवधे समुपस्थिते नश्यतस्तद्वधकाः प्रतिबध्नन्त्येवं तत्र नरकावासे नारकानिति। गतो नामनिष्पन्ननिक्षेपः, अधुना सूत्रानुगमे अस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चार[1]णीयं, तच्चेदम्—

पुच्छिस्सऽहं केवलियं महेसिं, कहं भितावा णरगा पुरत्था ?।
अजाणओ मे मुणि बूहि जाणं, के[2]हिं नु बाला नरय उविंति ? ॥१॥

एवं मए पुट्ठे महाणु[3]भावे, [4]इंणमोऽब्बवी कासवे आसुप[5]न्ने ।
पवेदइस्सं दुहमट्ठदुग्गं, आदीणियं दुक्कडि[6]यं पुरत्था ॥२॥

'पुच्छिस्सहं' इत्यादि, जम्बूस्वामिना सुधर्मस्वामी पृष्टः, तद्यथा—भगवन्! किंभूता नरकाः? कैर्वा कर्मभिरसुमतां तेषूत्पादः? कीदृश्यो वा तत्रत्या वेदना? इत्येवं पृष्टः सुधर्मस्वाम्याह—यदेतद्भवताऽहं पृष्टस्तदेतद् 'केवलिनम्' अतीतानागतवर्तमानसूक्ष्मव्यवहित-पदार्थवेदिनं 'महर्षिम्' उग्रतपश्चरणकारिणमनुकूलप्रतिकूलोपसर्गसहिष्णुं श्रीमन्महावीरवर्धमानस्वामिनं पुरस्तात् पूर्वं पृष्टवानहमस्मि, यथा 'कथं' किम्भूता [7]अभितापान्विता 'नरका' नरकावासा भवन्तीत्येतदजानतो 'मे' मम हे मुने! 'जानन्' सर्वमेव केवलज्ञानेनावगच्छन् 'ब्रूहि' क[8]थय, 'कथं नु' केन प्रकारेण किमनुष्ठायिनो नुरिति वितर्के 'बाला' अज्ञा हिताहितप्राप्तिपरिहारविवेकरहितास्तेषु नरकेषूप-

१ °रयितव्यं। २ कन्नु आ. कहण्णु इ.। ३ °भागे इ.। ४ इणम० आ.। ५ °पन्ने पवेतस्ससं आ.। ६ °डिणं आ: ड्डिणं इ.। ७ अपि भाषान्विता इ।
८ कथय तथा आ. इ.।

सामीप्येन तद्योग्यकर्मोपादानतया 'यान्ति' गच्छन्ति किम्भूताश्च तत्र गतानां वेदनाः प्रादुष्ष्यन्तीत्येतच्चाहं 'पृष्टवानि'ति ॥१॥ तथा 'एवं मए' इत्यादि, 'एवम्' अनन्तरोक्तं मया विनेयेनोपगम्य पृष्टो महांश्चतुस्त्रिंशदतिशयरूपोऽनुभावो-माहात्म्यं यस्य स तथा, प्रश्नोत्तरकालं च 'इदं' वक्ष्यमाणं, मो इति वाक्यालङ्कारे, केवलालोकेन परिज्ञाय मत्प्रश्ननिर्वचनम् 'अब्रवीत्' उक्तवान् कोऽसौ ?-'काश्यपो' [२]वीरो वर्धमानस्वामी आशुप्रज्ञः सर्वत्र सदोपयोगात्, स चैवं मया पृष्टो भगवानिदमाह-यथा यदेतद्भवता पृष्टस्तदहं 'प्रवेदयिष्यामि' कथयिष्याम्यग्रतो दत्तावधानः शृण्विति, तदेवाह-'दुःखम्' इति नरकं दुःखहेतुत्वात् असदनुष्ठानं यदि वा-नरकावास एव दुःखयतीति दुःखं अथवा-असातावेदनीयोदयात् तीव्रपीडात्मकं दुःखमिति, एतच्चार्थतः-परमार्थतो विचार्यमाणं 'दुर्गं' गहनं विषमं दुर्विज्ञेयं असर्वज्ञेन, [४]तत्प्रतिपादकप्रामाणाभावादित्यभिप्रायः, यदि वा-'दुहमट्ठदुग्गं'ति दुःखमेवार्थो यस्मिन् दुःखनिमित्तो वा दुःखप्रयोजनो वा स दुःखार्थो-नरकः, स च दुर्गो-विषमो दुरुत्तरत्वात् तं प्रतिपादयिष्ये, पुनरपि तमेव विशिनष्टि-आ-समन्ताद्दीनमादीनं तद्विद्यते यस्मिन् स आदीनिकः-अत्यन्तदीनसत्त्वाश्रयस्तथा दुष्टं कृतं दुष्कृतम् असदनुष्ठानं पापं वा तत्फलं वा असातावेदनीयोदयरूपं तद्विद्यते यस्मिन् स दुष्कृतिकस्तं, 'पुरस्ताद्' अग्रतः प्रतिपादयिष्ये, पाठान्तरं वा 'दुक्कडिणं'ति दुष्कृतं विद्यते येषां ते दुष्कृतिनो-नारकास्तेषां सम्बन्धि चरितं 'पुरस्तात्[६]' पूर्वस्मिन् जन्मनि नरकगतिगमनयोग्यं यत्कृतं तत्प्रतिपादयिष्य इति ॥२॥ यथा प्रतिज्ञातमाह—

जे केइ बाला इह जीवियट्ठी, पावाइं कम्माइं करंति रुद्दा।
ते घोररूवे तमिसंधयारे, तिव्वाभितावे नरए पडंति ॥३॥

सा. १ °नुभगो° आ इ. । २ वीरवर्ध° आ. । ३ दुःखं××आ. । सा.४ असर्वज्ञस्य नरकज्ञानकारकतादृशज्ञानाभावात्। ५ °स्तं तथा आ. इ.। ६ °त् पूर्वं पूर्वं° आ.।

तिव्वं तसे पाणिणो थावरे य, जे हिंसती आयसुहं पडुच्चा।
जे लूसए होइ अदत्तहारी, ण सिक्खती सेयवियस्स किंचि ॥४॥

'जे केइ' इत्यादि, ये केचन महारम्भपरिग्रहपञ्चेन्द्रियवधपिशितभक्षणादिके सावद्यानुष्ठाने प्रवृत्ताः 'बाला' अज्ञा रागद्वेषोत्कटास्तिर्यग्मनुष्या 'इह' अस्मिन्संसारे असंयमजीवितार्थिनः पापोपादानभूतानि 'कर्माणि' अनुष्ठानानि 'रौद्राः' प्राणिनां भयोत्पादकत्वेन भयानकाः हिंसानृतादीनि कर्माणि कुर्वन्ति, त एवम्भूतास्तीव्रपापोदयवर्तिनो 'घोररूपे' अत्यन्तभयानके 'तमिसंधयारे'[1]त्ति बहलतमोऽन्धकारे यत्रात्मापि नोपलभ्यते चक्षुषा केवलमवधिनापि मन्दंमन्दमुल्लूका इवाह्नि पश्यन्ति, तथा चागमः–'किण्हलेसे[2] णं भंते! णेरइए किण्हलेस्सं णेरइअं पणिहाए ओहिणा सव्वओ समंता समभिलोएमाणे केवइयं खेत्तं जाणई? केवइयं खेत्तं पासइ?, गोयमा! णो बहुययरं खेत्तं जाणइ णो बहुययरं खेत्तं पासइ, इत्तरियमेव खेत्तं जाणइ इत्तरियमेव खेत्तं पासइ' इत्यादि तथा तीव्रो–दुःसहः खदिराङ्गारमहाराशितापादनन्तगुणोऽभितापः–सन्तापो यस्मिन् स तीव्राभितापः तस्मिन् एवम्भूते नरके बहुवेदने अपरित्यक्तविषयाभिष्वङ्गाः स्वकृतकर्मगुरवः पतन्ति, तत्र च नानारूपा वेदनाः समनुभवन्ति, तथा चोक्तम्–"अच्छड्डियविसयसुहो[3] पडइ अविज्झायसिहिसिहाणिवहे।

१ तिमि° आ. इ.। सा. २ कृष्णलेश्यो भदन्त! नैरयिकः कृष्णलेश्यं प्रणिधायावधिना सर्वतः समन्तात् समभिलोकयन् कियत्क्षेत्रं जानाति कियत्क्षेत्रं पश्यति?, गौतम! नो बहुतरं क्षेत्रं जानाति नो बहुतरं क्षेत्रं पश्यति इत्वरमेव क्षेत्रं जानाति इत्वरमेव क्षेत्रं पश्यति। ३ अत्यक्तविषयसुखः पतति अविध्यातशिखिशिखानिवहे। संसारोदधिवलयामुखे दुःखाकरे निरये ॥१॥

संसारोदहिवलयामुहंमि दुक्खा[1]गरे निरए ॥१॥ [2]पायकंतोरत्थलमुहकुहरुच्छलियरुहिरगंडूसे । करवत्तु[3]क्कत्तदुहाविरिकिविवईण्णदेहद्धे ॥२॥ [4]जंतंतरभिज्जंतुच्छलंतसंसद्दभरियदिसिविवरे । डज्झंतुप्फिडियसमुच्छलंतसीसट्ठिसंघाए ॥३॥ [5]मुक्कक्कंदकडाहुक्कढंतदुक्कयकयंतकम्मंते । [6]सूल-विभिन्नुक्खित्तुद्धदेह[7]णिँद्धंतपब्भारे ॥४॥ [8]सद्दंधयारदुग्गंधबंधणायारदुद्धरकिलेसे । [9]भिंन्नकरचरणसंकररुहिरवसादुग्गमप्प[10]वहे ॥५॥ [11]गिद्धमुह-णिद्दउक्खित्तवं[12]धणोमु[13]द्धंकंविरकवंधे[14] । दढगहियतत्तसंडासयग्गाविसमुक्खुडियजीहे ॥६॥ तिक्खं[15]कुसग्गकड्ढियकंटयरुक्खग्गजज्जरसरीरे । निमिसंतरंपि दुल्लहसोक्खेऽवक्खेवदुक्खंमि ॥७॥ [16]इय भीसणंमि णिरए पडंति जे विविहसत्तवहनिरया । सच्चब्भट्ठा य नरा जयंमि कय-पाव[17]संघाया ॥८॥" इत्यादि ॥३॥ किञ्चान्यत्-'तिव्वं तसे' इत्यादि, तथा 'तीव्रम्' [18]अतिनिरनुकम्पं रौद्रपरिणामतया हिंसायां प्रवृत्तः, त्रस्यन्तीति त्रसाः-द्वीन्द्रियादयस्तान्, तथा 'स्थावरांश्च' पृथिवीकायादीन् 'यः' कश्चिन्महामोहोदयवर्ती 'हिनस्ति' व्यापादयति 'आत्म-सुखं प्रतीत्य' स्वशरीरसुखकृते, नानाविधैरुपायैर्यः प्राणिनां 'लूषक' उपमर्दकारी भवति, तथा-अदत्तमपहर्तुं शीलमस्यासावदत्तहारी-पर-

सा. १ °महे प्र०, °वहे आ. । सा. २ पादाक्रान्तोरस्थलमुखकुहरोच्छलितरुधिरगंडूषे । करपत्रोत्कृत्तद्विधीभागविदीर्णदेहार्धे ॥१॥ ३ °न्नु० प्र० । ४ यंत्रान्त-र्भिद्यदुच्छलत्संशब्दभृतदिग्विवरे दह्यमानोत्स्फिटितोच्छलच्छीर्षास्थिसंघाते ॥१॥५ मुक्ताक्रंदकटाहोत्कटयमानदुष्कृतकृतान्तकर्मान्ते शूलविभिन्नोत्क्षिप्तोर्ध्वदेहनिष्ठप्राग्भारे ॥१॥ ६ सूलु° आ. । ७ °णिंतंत आ. °नित्तंत इ. । सा. ८ शब्दान्धकारदुर्गन्धबन्धनागारदुर्धरक्लेशे । भिन्नकरचरणसंकररुधिरवसादुर्गमप्रवाहे ॥१॥ ९ छिण्ण° आ. इ. । १० °वाहे इ. । सा. ११ गृध्रमुखनिर्दयोत्क्षिप्तबन्धनोन्मूर्धक्रन्दत्कबन्धे । दृढगृहीततप्तसंदशकाग्रविषमोत्पाटितजिह्वे ॥१॥ १२ बंधणे प्र० । १३ °कंदिर° प्र०, आ. इ. । सा. १४ अधोमुखक्रन्दन् कबन्धो यत्र वि° प्र० । १५ तीक्ष्णाङ्कुशाग्रकर्षितकंटकवृक्षाग्रजर्जरशरीरे । निमेषान्तरमपि दुर्लभसौख्येऽव्याक्षेपदुःखे॥ १६ इति भीषणे निरये पतन्ति विविधसत्त्ववधनिरताः । सत्यभ्रष्टाश्च नरा जगति कृतपापसंघाताः ॥१॥ १७ संघाया आ. इ. । १८ इति आ. इ. ।

द्रव्यापहारकः तथा 'न शिक्षते' नाभ्यस्यति नादत्ते 'सेयवियस्स'त्ति सेवनीयस्यात्महितैषिणा सदनुष्ठेयस्य संयमस्य किञ्चिदिति, एतदुक्तम् भवति–पापोदयाद्विरतिपरिणामं काकमांसादेरपि मनागपि न विधत्ते इति ॥४॥ तथा—

पागब्भि पाणे बहुणं तिवाति, अतिव्वते[1] घातमुवेति बाले ।
णिहो णिसं गच्छति अंतकाले, अहोसिरं कट्टु उवेइ दुग्गं ॥५॥
हण छिंदह भिंदह णं दहेति, सद्दे सुणिंता परहम्मियाणं।
ते नारगाओ भय[2]भिन्नसन्ना, कंखंति कन्नाम दिसं वयामो ! ॥६॥

'पागब्भि पाणे' इत्यादि, 'प्रागल्भ्यं' धाष्टर्यं तद्विद्यते यस्य स प्रागल्भी, बहूनां प्राणिनां प्राणानतीव पातयितुं शीलमस्य स भवत्यतिपाती, एतदुक्तं भवति–अतिपात्यपि प्राणिनः प्राणानतिधाष्टर्याद्वदति यथा–वेदाभिहिता हिंसा हिंसैव न भवति, तथा राज्ञामयं धर्मो यदुत आखेटकेन विनोदक्रिया, यदि वा–"न मांसभक्षणे दोषो, न मद्ये न च मैथुने। प्रवृत्तिरेषा भूतानां, निवृत्तिस्तु महाफला ॥१॥" इत्यादि, तदेवं क्रूरसिंहकृष्णसर्पवत् प्रकृत्यैव प्राणातिपातानुष्ठायी 'अनिर्वृतः' कदाचिदप्यनुपशान्तः क्रोधाग्निना दह्यमानो यदि वा–लुब्धकमत्स्यादिवधकजीविकाप्रसक्तः सर्वदा वध[3]परिणामपरिणतोऽनुपशान्तो हन्यन्ते प्राणिनः स्वकृतकर्मविपाकेन यस्मिन् स घातो–नरकस्तमुप–सामीप्येनैति–याति, कः ?–'बालः' अज्ञो रागद्वेषोदयवर्ती सः 'अन्तकाले' मरणकाले 'णिहो'[4]त्ति न्यगधस्तात् 'णिसं'ति

१ अणिव्वुते आ. इ.। २ हय° आ.। सा. ३ °परिणामतो प्र०। ४ नेधो त्ति आ. इ.।

अन्धकारम्, अधोऽन्धकारं गच्छतीत्यर्थः, तथा-स्वेन दुश्चरितेनाधःशिरः कृत्वा 'दुर्गं' विषमं यातनास्थानमुपैति, अवाक्[१]शिरा नरके पततीत्यर्थः ॥५॥ साम्प्रतं पुनरपि नरकान्तर्वर्तिनो नारका यदनुभवन्ति तद्दर्शयितुमाह-'हण छिंदह' इत्यादि, तिर्यङ्मनुष्यभवात् सत्त्वा नरकेषूत्पन्ना अन्तर्मुहूर्तेन निर्लू[२]नाण्डजसन्निभानि शरीराण्युत्पादयन्ति, पर्याप्तिभावमागताश्चातिभयानकान् शब्दान् परमाधार्मिकज-नितान् शृण्वन्ति, तद्यथा-'हत' मुद्गरादिना 'छिन्त' खड्गादिना 'भिन्त' शूलादिना 'दहत' मुर्मुरादिना, णमितिवाक्यालङ्कारे, तदेव म्भूतान् क[३]र्णासुखान् शब्दान् भैरवान् श्रुत्वा ते तु नारका भयोद्भ्रान्तलोचना भयेन-भीत्या भिन्ना-नष्टा-संज्ञा-अन्तःकरणवृत्तिर्येषां ते तथा नष्टसंज्ञाश्च 'कां दिशं व्रजामः' कुत्र गतानामस्माकमेवम्भूतस्यास्य महाघो[४]रारवदारुणस्य दुःखस्य त्राणं स्यादित्येतत्काङ्क्षन्तीति ॥६॥ ते च भयोद्भ्रान्ता दिक्षु नष्टा यदनुभवन्ति तद्दर्शयितुमाह—

इंगालरासिं जलियं सजोतिं, तत्तोवमं भूमिमणुक्कमंता ।
ते डज्झमाणा कलुणं थणंति, अरहस्सरा तत्थ चिरट्ठितीया ॥७॥
जइ ते सुया वेयरणी भिदुग्गा, णिसिओ जहा खुर इव तिक्खसोया ।
तरंति ते वेयरणीं भिदुग्गां, उसुचोइया सत्तिसु हम्ममाणा ॥८॥

'इंगालरासिं' इत्यादि, 'अङ्गारराशिं' खदिराङ्गारपुञ्जं 'ज्वलितं' ज्वालाकुलं तथा सह ज्योतिषा-उद्योतेन वर्तत इति सज्योतिर्भूमिः,

सा. १ अवाङ् प्र० आ. इ. । सा. २ निर्लूनरोमाणोऽण्डजा इव । ३ अकर्णसु आ. । ४ °रामिदारु° आ. ।

तेनोपमा यस्याः सा तदुपमा तामङ्गारसन्निभां भूमिमाक्रमन्तस्ते नारका दन्दह्यमानाः 'करुणं' दीनं 'स्तनन्ति' आक्रन्दन्ति, तत्र बादराग्नेरभावात्तदुपमां भूमिमित्युक्तम्, एतदपि दिग्दर्शनार्थमुक्तम्, अन्यथा नारकतापस्येहत्याग्निना नोपमा घटते, ते च नारका महानगरदाहाधिकेन तापेन दह्यमाना 'अरहस्वरा' प्रकटस्वरा महाशब्दाः सन्तः 'तत्र' तस्मिन्नरकावासे चिरं-प्रभूतं कालं स्थितिः-अवस्थानं येषां ते तथा, तथाहि-उत्कृष्टतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि जघन्यतो दशवर्षसहस्राणि तिष्ठन्तीति ॥७॥ अपि च-'जइ ते सुता'इत्यादि, सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनं प्रतीदमाह-यथा भगवतेदमाख्यातं यदि 'ते' त्वया श्रुता-श्रवणपथमुपागता 'वैतरणी' नाम[1] क्षारोष्णरुधिराकारजलवाहिनी नदी आभिमुख्येन दुर्गा अभिदुर्गा-दुःखोत्पादिका, तथा-निशितो यथा क्षुरस्तीक्ष्णो भवत्येवं तीक्ष्णानि-शरीरावयवानां केर्तकानि[2] स्रोतांसि यस्याः सा तथा, ते च नारकास्तप्ताङ्गारसन्निभां भूमिं विहायोदकपिपासवोऽभितप्ताः सन्तस्तापापनोदायाभिषिषिक्षवो वा तां वैतरणीमभिदुर्गां तरन्ति, कथम्भूताः?-इषुणा-शरेण प्रतोदेनेव चोदिताः-प्रेरिताः शक्तिभिश्च हन्यमानास्तामेव भीमां वैतरणीं तरन्ति, तृतीयार्थे सप्तमी[3] ॥८॥ किञ्च—

कीलेहिं विज्झंति असाहुकम्मा, नावं उविंते सइविप्पहूणा।
अन्ने तुं[4] सूलाहिं तिसूलियाहिं, दीहाहिं विध्धूण अहेकरंति ॥९॥
केसिं च बंधित्तु गले सिलाओ, उदगंसि बोलंति महालयंसि।

१ नामा आ. इ. । २ निःकर्त्त° आ. । ३ °मीति आ. । ४ त्थ आ. इ. ।

कलंबुयावालुय मुम्मुरे य, लोलंति पच्चंति अ तत्थ अन्ने ॥१०॥

'कीलेहिं'इत्यादि, तांश्च नारकानत्यन्तक्षारोष्णेन दुर्गन्धेन वैतरणीजलेनाभितप्तानायसकीलाकुलां नावमुपगच्छतः पूर्वारूढा 'असाधुकर्माणः' परमाधार्मिकाः 'कीलेषु' कण्ठेषु विध्यन्ति, ते च विध्यमानाः कलकलायमानेन सर्वस्रोतोऽनुयायिना वैतरणीजलेन नष्टसंज्ञा अपि सुतरां 'स्मृत्या विप्रहीणा' अपगतकर्तव्यविवेका भवन्ति, अन्ये पुनर्नरकपाला नारकैः क्रीडतस्तान्नष्टांस्त्रिशूलिकाभिः शूलाभिः 'दीर्घिकाभिः' आयताभिर्विध्वा अधोभूमौ कुर्वन्तीति ॥९॥ अपि च-'केसिं च' इत्यादि, केषांचिन्नारकाणां परमाधार्मिका महतीं शिलां गले बद्ध्वा महत्युदके 'बोलंति' त्ति निमज्जयन्ति, पुनस्ततः समाकृष्य वैतरणीनद्याः कलम्बुकावालुकायां मुर्म्मुराग्नौ च 'लोलयन्ति' अतितप्तवालुकायां चणकानिव समन्ततो घोलयन्ति, तथा अन्ये 'तत्र' नरकावासे स्वकर्मपाशावपाशितान्नारकान् सुण्ठके प्रोतकर्मांसपेशीवत् 'पचन्ति'-भर्जयन्तीति ॥१०॥ तथा—

आसूरियं नाम महाभितावं, अंधतमं दुप्पतरं महंतं ।
उड्ढं अहेअं तिरियं दिसासु, समाहिओ जत्थऽगणी झियाई ॥११॥
जंसी गुहाए जलणेऽतिउट्टे, अविजाणओ डज्जइ लुत्तपण्णो ।
सया य कलुणं पुण घम्मठाणं, गाढोवणीयं अतिदुक्खधम्मं ॥१२॥

सा. १ कर्त्तव्याकर्त्तव्य° प्र० । २ डयत्त° प्र० । ३ ×××× विं. आ. इ. । सा. ४ प्रोतमां° प्र० । ५ असूरियं प्र० आ. । ६ जंसि अ. । ७ °णाति° आ. इ. ।

'आसूरियं'इत्यादि, न विद्यते सूर्यो यस्मिन् सः असूर्यो–नरको बहलान्धकारः कुम्भिकाकृतिः सर्व एव वा नरकावासोऽसूर्य इति व्यपदिश्यते, तमेवम्भूतं महाभितापम् अन्धतमसं 'दुष्प्रतरं' दुरुत्तरं 'महान्तं' विशालं नरकं महापापोदयाद्व्रजन्ति, तत्र च नरके ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् सर्वतः 'समाहितः' सम्यगाहितो व्यवस्थापितोऽग्निर्ज्वलतीति, पठ्यते च 'समूसिओ जत्थऽगणी झियाई' यत्र नरके सम्यगूर्ध्वं श्रितः–समुच्छ्रितोऽग्निः प्रज्वलति तं तथाभूतं नरकं वराका व्रजन्ति इति ॥११॥ किञ्चान्यत्–'जंसि गुहाए' इत्यादि, 'यस्मिन्' नरकेऽतिगतोऽसुमान् 'गुहाया'मित्युष्ट्रिकाकृतौ नरके प्रवेशितो 'ज्वलने' अग्नौ 'अतिवृतः' अतिगतो वेदनाभिभूतत्वात् स्वकृतं दुश्चरितमजानन् 'लुप्तप्रज्ञः' अपगतावधिविवेको दन्दह्यते, तथा 'सदा' सर्वकालं पुनः करुणप्रायं कृत्स्नं वा 'धर्मस्थानम्' उष्णस्थानं तापस्थानमित्यर्थः, 'गाढं'ति अत्यर्थम् 'उपनीतं' ढौकितं दुष्कृतकर्मकारिणां यत् स्थानं तत्ते व्रजन्ति, पुनरपि तदेव विशिनष्टि–अतिदुःखरूपो धर्मः–स्वभावो यस्मिन्निति, इदमुक्तं भवति–अक्षिनिमेषमात्रमपि कालं न तत्र दुःखस्य विश्राम इति, तदुक्तम्–"अच्छिणिमीलणमेत्तं णत्थि सुहं दुक्खमेव पडिबद्धं । णिरए णेरइयाणं अहोणिसं पच्चमाणाणं ॥१॥" ॥१२॥ अपि च—

चत्तारि अगणीओ समारभित्ता, जहिं कूरकम्माऽभितविंति बालं ।
ते तत्थ चिट्ठंतऽभितप्पमाणा, मच्छा व जीवंतुवजोतिपत्ता ॥१३॥

सा. १ जाज्वल° प्र० । २ पच्यते प्र० । ३ कुच्छ आ. । सा. ४ अक्षिनिमीलनमात्रं नास्ति सुखं दुःखमेव प्रतिबद्धं । निरये नैरयिकाणां अहर्निशं पच्यमानानाम् ॥१॥ ५ णिसिं आ. इ. ।

संतच्छणं नाम महाहितावं, ते नारया जत्थ असाहुकम्मा।
हत्थेहि पाएहि य बंधिऊणं, फलगं व तच्छंति कुहाडहत्था ॥१४॥

'चत्तारि' इत्यादि, चतसृष्वपि दिक्षु चतुरोऽग्नीन् 'समारभ्य' प्रज्वाल्य 'यत्र' यस्मिन्नरकावासे 'क्रूरकर्माणो' नरकपाला आभिमुख्येनात्यर्थं तापयन्ति-भटित्रवत्पचन्ति 'बालम्' अज्ञं नारकं पूर्वकृतदुश्चरितं ते तु नारकजीवा एवम् 'अभितप्यमानाः' कदर्थ्यमानाः स्वकर्मनिगडितास्तत्रैव प्रभूतं कालं महादुःखाकुले नरके तिष्ठन्ति, दृष्टान्तमाह-यथा जीवन्तो 'मत्स्या' मीना 'उपज्योतिः' अग्नेः समीपे प्राप्ताः परवशत्वादन्यत्र गन्तुमसमर्थास्तत्रैव तिष्ठन्ति, एवं नारका अपि, मत्स्यानां तापासहिष्णुत्वादग्नावत्यन्तं दुःखमुत्पद्यत इत्यतस्तद्ग्रहणमिति ॥१३॥ किञ्चान्यत्-'संतच्छणं' इत्यादि, सम्-एकीभावेन तक्षणं सन्तक्षणं, नामशब्दः सम्भावनायां, यदेतत्संतक्षणं तत्सर्वेषां प्राणिनां 'महाभितापं' महादुःखोत्पादकमित्येवं सम्भाव्यते, यद्येवं ततः किमित्याह-ते 'नारका' नरकपाला 'यत्र' नरकावासे स्वभवनादागताः 'असाधुकर्माणः' क्रूरकर्माणो निरनुकम्पाः 'कुठारहस्ताः' परशुपाणयस्तान्नारकानत्राणान् हस्तैः पादैश्च 'बद्ध्वा' संयम्य 'फलकमिव' काष्ठशकलमिव 'तक्ष्णुवन्ति' तनूकुर्वन्ति छिन्दन्तीत्यर्थः ॥१४॥ अपि च—

रुहिरे पुणो वच्चसमुस्सिअंगे, भिन्नुत्तमंगे वरिवत्तयंता।
पयंति णं णेरइए फुरंते, सजीवमच्छे व अयोकवल्ले ॥१५॥

१ महब्भि॰ आ. इ.। २ समीपं आ.। ३ भिन्नुत्ति आ.।

नो चेव ते तत्थ मसीभवंति, ण मिज्जती तिव्वभिवेयणाए।
तमाणुभागं[1] अणुवेदयंता[2], दुक्खंति दुक्खी इह दुक्कडेणं ॥१६॥

'रुहिरे पुणो' इत्यादि, ते परमाधार्मिकास्तान्नारकान् स्वकीये रुधिरे तप्तकवल्यां प्रक्षिप्ते पुनः पचन्ति, वर्चःप्रधानानि समुच्छ्रितान्यन्त्राण्यङ्गानि वा येषां ते तथा तान् भिन्नं-चूर्णितम् उत्तमाङ्गं-शिरो येषां ते तथा तानिति, कथं पचन्तीत्याह-'परिवर्तयन्तः' उत्तानानवाङ्मुखान् वा कुर्वन्तः णमिति वाक्यालङ्कारे तान्-'स्फुरत' इतश्चेतश्च विह्वलमात्मानं निक्षिपतः[3] सजीवमत्स्यानिवायसकवल्यामिति ॥१५॥ तथा 'नो चेव' इत्यादि, ते च नारका एवं बहुशः पच्यमाना अपि 'नो' नैव 'तत्र' नरके पाके वा नरकानुभावे वा सति 'मषीभवन्ति' नैव भस्मसाद्भवन्ति, तथा तत्तीव्राभिवेदनया नापरमग्निप्रक्षिप्तमत्स्यादिकमप्यस्ति यन्मीयते-उपमीयते, अनन्यसदृशीं तीव्रां वेदनां वाचामगोचरामनुभवन्तीत्यर्थः, यदि वा-तीव्राभिवेदनयाऽप्यननुभूतस्वकृतकर्मत्वान्न म्रियन्त इति, प्रभूतमपि कालं यावत्तत्तादृशं शीतोष्णवेदनाजनितं तथा दहनच्छेदनभेदनतक्षणत्रिशूलारोपणकुम्भीपाकशाल्मल्यारोहणादिकं परधार्मिकजनितं परस्परोदीरणनिष्पादितं च 'अनुभागं' कर्मणां विपाकम् 'अनुवेदयन्तः[4]' समनुवेदयन्तः समनुभवन्तस्तिष्ठन्ति, तथा स्वकृतेन 'दुष्कृतेन' हिंसादिनाऽष्टादशपापस्थानरूपेण सततोदीर्णदुःखेन दुःखिनो 'दुःखयन्ति' पीडयन्ते, नाक्षिनिमेषमपि कालं दुःखेन मुच्यन्त इति ॥१६॥ किञ्चान्यत्—

तहिं च ते लोलणसंपगाढे[5], गाढं सुतत्तं अगणिं वयंति।

१ °भावं इ.। २ परिवेतयंता आ। ३ ×क्षिपतः आ.। ४ °यन्तः ××××××× स० आ. इ.। ५ °लोलुत° आ.।

न तत्थ सायं लहती भिदुग्गे, अरहियाभितावा तहवी तविंति ॥१७॥
से सुच्चई नगरवहे व सद्दे, दुहोवणीयाणि पयाणि तत्थ।
उदिण्णकम्माण उदिण्णकम्मा, पुणो पुणो ते सरहं दुहेंति ॥१८॥

'तहिं च' इत्यादि, 'तस्मिंश्च' महायातनास्थाने नरके तमेव विशिनष्टि-नारकाणां लोलनेन सम्यक् प्रगाढो-व्याप्तो भृतः स तथा तस्मिन्नरके अतिशीतार्ताः सन्तो 'गाढम्' अत्यर्थं सुष्ठु तप्तम् अग्निं व्रजन्ति, 'तत्रापि' अग्निस्थानेऽभिदुर्गे दह्यमानाः 'सातं' सुखं मनागपि न लभन्ते, 'अरहितो' निरन्तरोऽभितापो-महादाहो येषां ते अरहिताभितापाः तथापि तान्नारकांस्ते नरकपालास्तापयन्त्यत्यर्थं तप्ततैलाग्निना दहन्तीति ॥१७॥ अपि च-'से सुच्चई' इत्यादि, सेशब्दोऽथशब्दार्थे, 'अथ' अनन्तरं तेषां नारकाणां नरकपालै रौद्रैः कदर्थ्यमानानां भयानको हाहारवप्रचुर आक्रन्दनशब्दो नगरवध इव 'श्रूयते' समाकर्ण्यते, दुःखेन पीडयोपनीतानि-उच्चारितानि करुणाप्रधानानि यानि पदानि हा मातस्तात! कष्टमनाथोऽहं शरणागतस्तव त्रायस्व मामित्येवमादीनां पदानां 'तत्र' नरके शब्दः श्रूयते, उदीर्णम्-उदयप्राप्तं कटुविपाकं कर्म येषां ते तथा तेषां तथा 'उदीर्णकर्माणो' नरकपाला मिथ्यात्वहास्य(स्या)रत्यादीनामुदये वर्तमानाः 'पुनः पुनः' बहुशस्ते 'सरहं (दुहें)ति' सरभसं-सोत्साहं नारकान् 'दुःखयन्ति' अत्यन्तमसह्यं नानाविधैरुपायैर्दुःखमसातवेदनीयमुत्पादयन्तीति ॥१८॥ तथा—

सा. १ अरब्भिया° प्र., आ. इ. । २ सुच्चती गाम° आ. । ३ °ताण आ. इ. । ४ हा मातस्तावत्क° आ., हा मातः! हा तात! क° इ. । ५ भवोदीर्ण° आ. । ६ ××ति आ. । ×× तित्ति इ. । ७ °मसातावे° आ. इ. ।

पाणेहि णं पाव विओजयंति, तं भे पवक्खामि जहातहेणं।
दंडेहिं तत्था सरयंति बाला, सव्वेहिं दंडेहिं पुराकएहिं ॥१९॥
ते हम्ममाणा णरगे पडंति, पुन्ने दुरूवस्स महाभितावे।
ते तत्थ चिट्ठंति दुरूवभक्खी, तुट्टंति कम्मोवगया किमीहिं ॥२०॥

'पाणेहि णं' इत्यादि, 'णमिति' वाक्यालङ्कारे, 'प्राणैः' शरीरेन्द्रियादिभिस्ते 'पापाः' पापकर्माणो नरकपाला 'वियोजयन्ति' शरीरावयवानां पाटनादिभिः प्रकारैर्विकर्तनादवयवान् विश्लेषयन्ति, किमर्थमेवं ते कुर्वन्तीत्याह–'तद्' दुःखकारणं 'भे' युष्माकं 'प्रवक्ष्यामि याथातथ्येन' अवितथं प्रतिपादयामीति, दण्डयन्ति–पीडामुत्पादयन्तीति दण्डा–दुःखविशेषास्तैर्नारकाणामापादितैः 'बाला' निर्विवेका नरकपालाः पूर्वकृतं स्मारयन्ति, तद्यथा–तदा हृष्टस्त्वं खादसि समुत्कृत्योत्कृत्य प्राणिनां मांसं तथा पिबसि तद्रसं मद्यं च गच्छसि परदारान्, साम्प्रतं तद्विपाकापादितेन कर्मणाऽभितप्यमानः किमेवं रारटीपीत्येवं सर्वैः पुराकृतैः 'दण्डैः' दुःखविशेषैः स्मारयन्तस्तादृ[2]शभूतमेव दुःखविशेषमुत्पादयन्तो नरकपालाः पीडयन्तीति ॥१९॥ किञ्च–'ते हम्ममाणा' इत्यादि, 'ते' वराका नारका[3] 'हन्यमानाः' ताड्यमाना नरकपालेभ्यो नष्टा अन्यस्मिन् घोरतरे 'नरके' नरकैकदेशे 'पतन्ति' गच्छन्ति, किम्भूते नरके?–'पूर्णे' भृते दुष्टं रूपं यस्य तद्दूरूपं–विष्ठासृग्मांसादिकल्मलं तस्य भृते तथा 'महाभितापे' [4]अतिसन्तापोपेते 'ते' नारकाः स्वकर्मावबद्धाः 'तत्र'

१ महद्भि° आ. इ. । २ °स्तादृग्भू° आ. इ. । ३ ××× हृ° आ. । ४ ×××××××ते आ., अतिसन्तापे ×× ते इ. ।

एवम्भूते नरके 'दूरूपभक्षिणः' अशुच्यादिभक्षकाः प्रभूतं कालं यावत्तिष्ठन्ति[1], तथा 'कृमिभिः' नरकपालापादितैः परस्परकृतैश्च 'स्वकर्मोपगताः' स्वकर्मढौकिताः 'तुद्यन्ते' व्यथ्यन्ते इति। तथा चागमः-"छट्ठीसत्तमासु णं पुढवीसु नेरइया पहू[3] महंताइं लोहिकुंथुरूवाइं विउवित्ता अन्नमन्नस्स कायं समतुरंगेमाणा[4] समतुरंगेमाणा अणुघायमाणा अणुघायमाणा चिट्ठंति" ॥२०॥ किञ्चान्यत्--

सया कसिणं पुण घम्मठाणं, गाढोवणीयं अतिदुक्खधम्मं।
अंदूसु पक्खिप्प विहत्तु[5] देहं, वेहेण सीसं सेऽभितावयंति ॥२१॥
छिंदंति बालस्स खुरेण नक्कं[6], उट्ठेवि छिंदंति दुवेवि कण्णे।
जिब्भं विणिक्कस्स विहत्थिमित्तं, तिक्खाहिं सूलाहिऽभिँतावयंति[7] ॥२२॥

'सया कसिणं'इत्यादि, 'सदा' सर्वकालं 'कृत्स्नं' संपूर्णं पुनः तत्र नरके 'धर्मप्रधानं' उष्णप्रधानं स्थितिः-स्थानं नारकाणां भवति, तत्र हि प्रलयातिरिक्ताग्निना वातादीनामत्यन्तोष्णरूपत्वात्, तच्च दृढैः-निधत्तनिकाचितावस्थैः कर्मभिर्नारकाणाम् 'उपनीतं' ढौकितं, पुनरपि विशिनष्टि-अतीव दुःखम्-असातावेदनीयं धर्मः-स्वभावो यस्य तत्तथा तस्मिंश्चैवंविधे स्थाने स्थितोऽसुमान् 'अन्दुषु' निगडेषु देहं विहत्य प्रक्षिप्य च तथा शिरश्च 'से' तस्य नारकस्य 'वेधेन' रन्ध्रोत्पादनेनाभितापयन्ति कीलकैश्च सर्वाण्यप्यङ्गानि वितत्य चर्मवत् कीलयन्ति इति ॥२१॥ अपि च-'छिंदंति बालस्स' इत्यादि, ते परमाधार्मिकाः पूर्वदुश्चरितानि स्मारयित्वा 'बालस्य' अज्ञस्य-

१ °न्तीति आ.। सा. २ षष्ठसप्तम्योः पृथ्व्योर्नैरयिका अतिमहान्ति रक्तकुन्थुरूपाणि विकुर्व्य अन्योन्यस्य कायं अनुहन्यमानास्तिष्ठन्ति। ३ बहू प्र. आ.। ४ समचउरंगे० प्र०। ५ विहण्णु आ. विहन्न इ.। ६ नासं आ.। ७ °तिवातयंति आ. निवारयतंति इ.। ८ °म्रिवाता. आ.।

निर्विवेकस्य प्रायशः सर्वदा वेदनासमुद्घातोपगतस्य क्षुरप्रेण नासिकां छिन्दन्ति तथौष्ठावपि द्वावपि कर्णौ छिन्दन्ति, तथा मद्य-मांसरसाभिलिप्सोर्मृषाभाषिणो जिह्वां वितस्तिमात्रामा[1]क्षिप्य तीक्ष्णाभिः 'अभि[2]तापयन्ति' अपनयन्ति इति ॥२२॥ तथा—

ते तिप्पमाणा तलसंपुं[3]डंव, राइंदियं तत्थ थणंति बाला ।
गलंति ते सोणिअ[4]पूयमंसं, पज्जोइ[5]या खारपइ[6]द्धियंगा ॥२३॥
८ जइ ते सुता लोहितपूअपाई, बालागणी तेअगुणा परेणं ।
कुंभी महंताहियपोर[7]सीया, समूसिता लोहियपूयपुण्णा ॥२४॥

'तेतिप्पमाणा' इत्यादि, 'ते' छिन्ननासिकोष्ठजिह्वाः सन्तः शोणितं 'तिप्यमानाः' क्षरन्तो यत्र—यस्मिन् प्रदेशे रात्रिंदिनं गमयन्ति, तत्र 'बाला' अज्ञाः 'तालसम्पुटा इव' पवनेरितशुष्कतालपत्रसंचया इव सदा '[8]स्तनन्ति' दीर्घविस्वरमाक्रन्दन्तस्तिष्ठन्ति तथा 'प्रद्योतिता' वह्निना ज्वलिताः तथा क्षारेण प्रदिग्धाङ्गाः शोणितं पूयं मांसं चाहर्निशं गलन्तीति ॥२३॥ किञ्च—'जइ ते' इत्यादि, पुनरपि सुधर्म-
१० स्वामी जम्बूस्वामिनमुद्दिश्य भगवद्वचनमाविष्करोति—यदि 'ते'—त्वया, 'श्रुता'—आ[9]कर्णिता, लोहितं—रुधिरं पूयं—रुधिरमेव पक्वं ते द्वे अपि पक्तुं शीलं य[10]स्यां सा लोहितपूयपाचिनी—कुम्भी, तामेव विशिनष्टि—'बालः' अभिनवः प्रत्यग्रोऽग्निस्तेन तेजः—अभितापः

---

१ °माक्रृष्य आ. इ. । २ अतिपातयंति आ. इ. । ३ °पुडव्व आ. इ. । ४ °पुइ° आ. इ. । ५ °विया आ. इ. । ६ °पतच्छितं इ. । ७ °पोरिसीणा आ. । °पोरुसीया इ. । सा. ८ स्तनन्तो प्र०, आ. । ९ समाकर्णिता आ. । १० यस्याः आ. ।

स एव गुणो यस्याः सा बालाग्नितेजोगुणा 'परेण' प्रकर्षेण तप्तेत्यर्थः, पुनरपि तस्या एव विशेषणं 'महती' बृहत्तरा 'अहियपोरुसीये'[१]ति पुरुषप्रमाणाधिका 'समुच्छ्रिता' उष्ट्रिकाकृतिरूर्ध्वं व्यवस्थिता लोहितेन पूयेन च पूर्णा, सैवम्भूता कुम्भी समन्ततोऽग्निना प्रज्वलिता[३]ऽतीव बीभत्सदर्शनेति ॥२४॥ तासु च यत्क्रियते तद्दर्शयितुमाह—

पक्खिप्प तासुं पययंति बाले, अट्टस्सरे[४] ते कलुणे रसंते ।
तण्हाइया ते तउतंबतत्तं, पज्जिज्जमाणाऽट्टतरं[५] रसंति ॥२५॥
अप्पेण अप्पं इह वंचइत्ता, भवाहमे पुव्वसते सहस्से ।
चिट्ठंति तत्था बहुकूरकम्मा, जहा कडं[६] कम्म तहासि भारे ॥२६॥
समज्जिणित्ता कलुसं अणज्जा[७], इट्ठेहि कंतेहि य विप्पहूणा ।
ते दुब्भिगंधे कसिणे य फासे, कम्मोवगा कुणिमे आवसंति ॥२७॥
त्तिबेमि ॥ इति निरयविभत्तिए पढमो उद्देसो समत्तो ॥ (गाथाग्रं० ३३६)

१ °पोरिसीण त्ति आ. °पोरुसीयं ति इ. । २ भृता आ. । ३ प्रज्वा० आ. । ४ अट्टस्सलं आ. अट्टस्सरं इ. । ५ °णट्टतरं आ. इ. । ६ कडे कम्म आ. कडे कम्मे इ. । ७ अणुज्झे इ. ।

'पक्खिप्प' इत्यादि, 'तासु' प्रत्यग्राग्निप्रदीप्तासु लोहितपूयशरीरावयवकिल्बिषपूर्णासु दुर्गन्धासु च 'बालान्' नारकांस्त्राणरहितान् आर्तस्वरान् करुणं-दीनं रसतः प्रक्षिप्य प्रपचन्ति, 'ते च' नारकास्तथा कदर्थ्यमाना विरसमाक्रन्दन्तस्तृडार्ताः सलिलं प्रार्थयन्तो मद्यं ते अतीव प्रियमासीदित्येवं स्मारयित्वा तप्तं[1] पाय्यन्ते, ते च तप्तं त्रपु पाय्यमाना आर्ततरं 'रसन्ति' रारटन्तीति ॥२५॥ उद्देशकार्थोपसंहारार्थमाह-'अप्पेण' इत्यादि, 'इह' अस्मिन्मनुष्यभवे 'आत्मना' परवञ्चनप्रवृत्तेन स्वत एव परमार्थत आत्मानं वञ्चयित्वा 'अल्पेन'[2] स्तोकेन परोपघातसुखेनात्मानं वञ्चयित्वा बहुशो भवानां मध्ये अधमा भवाधमाः-मत्स्यबन्धलुब्धकादीनां भवास्तान् पूर्वजन्मसु शतसहस्रशः समनुभूय तेषु[3] भवेषु विषयोन्मुखतया सुकृतपराङ्मुखत्वेन चावाप्य महाघोरातिदारुणं नरकावासं 'तत्र' तस्मिन्मनुष्याः 'क्रूरकर्माणः' परस्परतो दुःखमुदीरयन्तः प्रभूतं कालं यावत्तिष्ठन्ति, अत्र कारणमाह-'यथा' पूर्वजन्मसु यादृग्भूतेनाध्यवसायेन जघन्यजघन्यतरादिना[4] कृतानि कर्माणि 'तथा' तेनैव प्रकारेण 'से' तस्य नारकजन्तोः 'भारा' वेदनाः प्रादुर्भवन्ति स्वतः परत उभयतो वेति, तथाहि-मांसादाः स्वमांसान्येवाग्निना प्रताप्य भक्ष्यन्ते, तथा मांसरसपायिनो निजपूयरुधिराणि तप्तत्रपूणि च पाय्यन्ते, तथा मत्स्यघातकलुब्धकादयस्तथैव छिद्यन्ते भिद्यन्ते यावन्मार्यन्त इति, तथाऽनृतभाषिणां तत्स्मारयित्वा जिह्वाश्चेच्छिद्यन्ते, (ग्रन्थाग्रम् ४०००) तथा पूर्वजन्मनि परकीयद्रव्यापहारिणामङ्गोपाङ्गान्यपह्रियन्ते तथा पारदारिकाणां वृषणच्छेदः शाल्मल्युपगूहनादि च ते कार्यन्ते एवं महापरिग्रहारम्भवतां क्रोधमानमायालोभिनां च जन्मांतरस्वकृतक्रोधादिदुष्कृतस्मारणेन तादृग्विधमेव दुःखमुत्पाद्यते, इति कृत्वा सुष्ठूच्यते यथा[5] वृत्तं कर्म तादृग्भूत एव तेषां तत्कर्मविपाकापादितो भार इति ॥२६॥ किञ्चान्यत्-'समज्जिणित्ता'[6] इत्यादि, अनार्या अनार्यकर्मकारित्वाद्धिंसानृ-

१ तप्तंत्रपु पा° आ. इ.। २ यदिवाल्पेन आ. इ.। ३ तेषु च भ० आ.। ४ °न्य×××तरा० आ.। ५ यथा कृतं आ. तथाकृतं इ.। ६ °णित्तु इ.।

तस्तेयादिभिराश्रवद्वारैः 'कलुषं' पापं 'समर्ज्य' अशुभकर्मोपचयं कृत्वा 'ते' क्रूरकर्माणो 'दुरभिगन्धे' नरके आवसन्तीति संटङ्कः, किम्भूताः ?–'इष्टैः' शब्दादिभिर्विषयैः 'कमनीयैः' कान्तैर्विविधं प्रकर्षेण हीना विप्रमुक्ता नरके वसन्ति, यदि वा–यदर्थं कलुषं समर्जयन्ति तैर्मातापुत्रकलत्रादिभिः कान्तैश्च विषयैर्विप्रमुक्ता एकाकिनस्ते 'दुरभिगन्धे' कुथितकलेवरातिशायिनि नरके 'कृत्स्ने' संपूर्णेऽत्यन्ताशुभस्पर्शे एकान्तोद्वेजनीयेऽशुभकर्मोपगताः 'कुणिमे'त्ति मांसपेशीरुधिरपूयान्त्रफिप्फिसकश्मलाकुले सर्वामेध्याधमे बीभत्सदर्शने हाहारवाक्रन्देन कष्टं मा तावदित्यादिशब्दबधिरितदिगन्तराले परमाधमे नरकावासे आ–समन्तादुत्कृष्टतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि यावद्यस्यां वा नरकपृथिव्यां यावदायुस्तावद् 'वसन्ति[1]' तिष्ठन्ति, इतिः परिसमाप्त्यर्थे[2], ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥२७॥ इति नरकविभक्तेः प्रथमोद्देशकः समाप्तः॥

अथ पञ्चमाध्ययनस्य द्वितीयोद्देशकः प्रारभ्यते ।

उक्तः प्रथमोद्देशकः, साम्प्रतं द्वितीयः समारभ्यते–अस्य चायमभिसम्बन्धः, इहानन्तरोद्देशके यैः कर्मभिर्जन्तवो नरकेषूत्पद्यन्ते यादृगवस्थाश्च भवन्त्येत[3]तत्प्रतिपादितम्, इहापि विशिष्टतरं तदेव प्रतिपाद्यते, इत्यनेन संबन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्य सूत्रानुगमे अस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

१ °न्तीति आ. इ. । २ परिसमाप्त इति आ. । ३ °न्तीत्ये° आ. ।

अहावरं सासयदुक्खधम्मं, तं भे पवक्खामि जहातहेणं।
बाला जहा दुक्कडकम्मकारी, वेदंति कम्माइं[1] पुरेकडाइं ॥१॥
हत्थेहि पाएहि य बंधिऊणं, उदरं विकत्तंति[2] खुरासिएहिं।
गिण्हित्तु बालस्स विहत्तु[3] देहं, वद्धं थिरं पिट्ठतो उद्धरंति ॥२॥

'अहावरं' इत्यादि, 'अथ' इत्यानन्तर्ये 'अपरम्' इत्युक्तादन्यद्वक्ष्यामीत्युत्तरेण सम्बन्धः, शश्वद्भवतीति शाश्वतं-यावदायुस्तच्च तद्दुःखं च शाश्वतदुःखं तद्धर्मः-स्वभावो यस्मिन् यस्य वा नरकस्य स तथा तम्, एवम्भूतं नित्यदुःखस्वभावमक्षिनिमेषमपि कालमविद्यमानसुखलेशं 'याथातथ्येन' यथा व्यवस्थितं तथैव कथयामि, नात्रोपचारोऽर्थवादो वा विद्यत इत्यर्थः, 'बालाः' परमार्थमजानाना विषयसुखलिप्सवः साम्प्रतेक्षिणः कर्मविपाकमनपेक्षमाणा 'यथा' येन प्रकारेण दुष्टं कृतं दुष्कृतं तदेव कर्म-अनुष्ठानं तेन वा दुष्कृतेन कर्म-ज्ञानावरणादिकं तद्दुष्कृतकर्म तत्कर्तुं शीलं येषां ते दुष्कृतकर्मकारिणः त एवम्भूताः 'पुराकृतानि' जन्मान्तरार्जितानि कर्माणि यथा वेदयन्ति तथा कथयिष्यामीति ॥१॥ यथाप्रतिज्ञातमाह-'हत्थेहि' इत्यादि, परमाधार्मिकास्तथाविधकर्मोदयात् क्रीडायमानाः तान्नारकान् हस्तेषु पादेषु बद्ध्वोदरं 'क्षुरप्रासिभिः' नानाविधैरायुधविशेषैः 'विकर्तयन्ति' विदारयन्ति, तथा परस्य 'बालस्येवाकिञ्चित्कर[4]त्वाद्बालस्य लकुटादिभिर्विविधं 'हतं' पीडितं देहं गृहीत्वा 'वर्ध्रं' चर्मशकलं 'स्थिरं' बलवत् 'पृष्ठतः' पृष्ठिदेशे 'उद्धरन्ति' विकर्तयन्त्येवमग्रतः पार्श्वतश्चेति ॥२॥ अपि च-

१ पावाई आ.। २ विग° आ.। ३ विहन्न आ., विभित्तु इ.। ४ वा बाल° आ. इ.।

बाहू[1] पकत्तंति य मूलतो से, थूलं वियासं मुहे आडहंति ।
रहंसि जुत्तं सरयंति बालं, आरुस्स विज्झंति[2] तुदेण पिट्ठे ॥३॥
अयं व तत्तं जलियं सजोइ, तऊवमं भूमिमणुक्कमंता ।
ते डज्झमाणा कलुणं थणंति, उसुचोइया तत्तजुगेसु जुत्ता ॥४॥

'बाहू पकत्तंति' इत्यादि, 'से' तस्य नारकस्य तिसृषु नरकपृथिवीषु परमाधार्मिका अपरनारकाश्च अधस्तनचतसृषु चापरनारका एव मूलत आरभ्य बाहून् 'प्रकर्तयन्ति' छिन्दन्ति तथा 'मुखे' विकाशं कृत्वा 'स्थूलं' बृहत्तप्तायोगोलादिकं प्रक्षिपन्त आ-समन्ताद्दहन्ति। तथा 'रहसि' एकाकिनं 'युक्तम्' उपपन्नं युक्तियुक्तं स्वकृतवेदनानुरूपं तत्कृतजन्मान्तरानुष्ठानं तं 'बालम्' अज्ञं नारकं स्मारयन्ति, तद्यथा-तप्तत्रपुपानावसरे मद्यपस्त्वमासीस्तथा स्वमांसभक्षणावसरे पिशिताशी त्वमासीरित्येवं दुःखानुरूपमनुष्ठानं स्मारयन्तः कदर्थयन्ति, तथा-निष्कारणमेव 'आरूष्य' कोपं कृत्वा प्रतोदादिना पृष्ठदेशे तं नारकं परवशं विध्यन्तीति ॥३॥ तथा-'अयं व' इत्यादि, तप्तायोगोलकसन्निभां ज्वलितज्योतिर्भूतां तदेवंरूपां तदुपमां वा भूमिम् 'अनुक्रामन्तः' तां ज्वलितां भूमिं गच्छन्तस्ते दह्यमानाः 'करुणं' दीनं-विस्वरं 'स्तनंति' रारटन्ति तथा तप्तेषु युगेषु युक्ता गलिबलीवर्दा इव इषुणा प्रतोदादिरूपेण विध्यमानाः स्तनन्तीति ॥४॥ अन्यच्च-

बाला बला भूमिमणुक्कमंता, पविज्जलं लोहपहं च तत्तं ।

१ बाहायकत्तंति आ., बाहू पकप्पंति इ., सा. पकप्पंति समू॰ प्र॰ । २ विंधंति इ. ।

जंसीऽभिदुग्गंसि पवज्जमाणा, पेसेव दंडेहिं पुराकरंति ॥५॥
ते संपगाढंसि पवज्जमाणा, सिलाहि हम्मंति निपातिणीहिं ।
संतावणी नाम चिरट्ठितीया, संतप्पती जत्थ असाहुकम्मा ॥६॥

'बाला बला' इत्यादि, 'बाला' निर्विवेकिनः प्रज्वलितलोहपथमिव तप्तां भुवं 'पविज्जलं'ति रुधिरपूयादिना पिच्छिलां बलादनिच्छन्तः 'अनुक्रम्यमाणाः' प्रेर्यमाणा विरसमारसन्ति, तथा 'यस्मिन्' अभिदुर्गे कुम्भीशाल्मल्यादौ प्रपद्यमाना नरकपालचोदिता न सम्बग्गच्छन्ति, ततस्ते कुपिताः परमाधार्मिकाः 'प्रेष्यानिव' कर्मकरानिव बलीवर्दवद्वा दण्डैर्हत्वा प्रतोदनेन[1] प्रतुद्य 'पुरतः' अग्रतः[2] कुर्वन्ति, न ते स्वेच्छया गन्तुं स्थातुं वा लभन्त इति ॥५॥ किञ्च—'ते संपगाढंसि' इत्यादि, 'ते' नारकाः 'सम्प्रगाढ'मिति बहुवेदनमसह्यं नरकं मार्गं वा प्रपद्यमाना गन्तुं स्थातुं वा तत्राशक्नुवन्तोऽभिमुखपातिनीभिः शिलाभिरसुरैर्हन्यन्ते, तथा सन्तापयतीति सन्तापनी-कुम्भी सा च चिरस्थितिका तद्गतोऽसुमान् प्रभूतं कालं यावदतिवेदनाग्रस्त आस्ते यत्र च 'सन्तप्यते' पीड्यतेऽत्यर्थम् 'असाधुकर्मा' जन्मान्तरकृताशुभानुष्ठान इति ॥६॥ तथा—

कंदूसु पक्खिप्प पयंति बालं, ततोवि दड्ढा पुण उप्पयंति ।
ते उड्ढकाएहिं पखज्जमाणा, अवरेहिं खज्जंति सणप्फएहिं ॥७॥

---

१ प्रतोदेन आ. । २ अग्रतोऽग्रतः आ. ।

समूसियं नाम विधूमठाणं, जं सोयतत्ता कलुणं थणंति ।

'कंदुसु पखिप्प' इत्यादि, तं 'बालं' वराकं नारकं कन्दुषु प्रक्षिप्य नरकपालाः पचन्ति, ततः पाकस्थानात् ते दह्यमानाश्चणका इव भृज्यमाना ऊर्ध्वं पतन्त्युत्पतन्ति, ते च ऊर्ध्वमुत्पतिताः 'उड्डकाएहिं'ति द्रोणैः काकैर्वैक्रियैः 'प्रखाद्यमाना' भक्ष्यमाणा अन्यतो नष्टाः सन्तोऽपरैः 'सणप्फएहिं'ति सिंहव्याघ्रादिभिः 'खाद्यन्ते' भक्ष्यन्ते इति ॥७॥ किञ्च–'समूसियं नाम' इत्यादि, सम्यगुच्छ्रितं-चितिकाकृति, नामशब्दः सम्भावनायां, सम्भाव्यन्ते एवंविधानि नरकेषु यातनास्थानानि, विधूमस्य–अग्नेः स्थानं विधूमस्थानं [1]यत्प्राप्य शोकवितप्ताः 'करुणं' दीनं 'स्तनन्ति' आक्रन्दन्तीति, तथा अधःशिरः कृत्वा देहं च विकर्त्यायोवत् 'शस्त्रैः' तच्छेदनादिभिः 'समोसवेंति'त्ति खण्डशः खण्डयन्ति ॥८॥ अपि च—

अहोसिरं कट्टु विगत्तिऊणं, अयंव सत्थेहिं समोसवेंति ॥८॥

समूसिया तत्थ विसूणियंगा, पक्खीहिं खज्जंति अओमुहेहिं ।

संजीवणी नाम चिरट्ठितीया, जंसी पया हम्मइ पावचेया ॥९॥

तिक्खाहिं सूलाहि [2]निवाययंति, [3]वसोगयं [4]सावययं व [5]लद्धं ।

१ यथा तत्प्राप्य आ. । सा. २ भितावयंति प्र° । ३ वसोवगं आ. इ. । ४ सोअरियं व आ. सोवरयं च इ. । ५ लद्धुं आ., लद्दुठ इ. ।

ते सूलविद्धा कलुणं थणंति, एगंतदुक्खं दुहओ गिलाणा ॥१०॥

'समूसिया' इत्यादि, 'तत्र' नरके स्तम्भादौ ऊर्ध्वबाहवोऽधःशिरसो वा श्वपाकैर्बस्तवल्लम्बिताः सन्तः 'विस्रणियंग'त्ति उत्कृत्ताङ्गा अपगतत्वचः पक्षिभिः 'अयोमुखैः' वज्रचञ्चुभिः काकगृध्रादिभिर्भक्ष्यन्ते, तदेवं ते नारका नरकपालापादितैः परस्परकृतैः स्वाभाविकैर्वा छिन्ना भिन्नाः क्वथिता मूर्च्छिताः सन्तो वेदनासमुद्घातगता अपि सन्तो न म्रियन्ते अतो व्यपदिश्यते सञ्जीवनीवत् सञ्जीवनी-जीवितदात्री नरकभूमिः, न तत्र गतः खण्डशश्छिन्नोऽपि म्रियते स्वायुषि सतीति, सा च चिरस्थितिकोत्कृष्टतस्त्रयस्त्रिंशत् यावत्सागरोपमाणि, यस्यां च प्राप्ताः प्रजायन्त इति प्रजाः-प्राणिनः पापचेतसो हन्यन्ते मुद्गरादिभिः, नरकानुभावाच्च मुमूर्षवोऽप्यत्यन्तपिष्टा अपि न म्रियन्ते, अपि तु पारदवन्मिलन्तीति ॥९॥ अपि च-'तिक्खाहिं' इत्यादि, पूर्वदुष्कृतकारिणं तीक्ष्णाभिरयोमयीभिः शूलाभिः नरकपाला नारकमतिपातयन्ति[1], किमिव?-वशमुपगतं श्वापदमिव कालपृष्ठसूकरादिकं[2] स्वातन्त्र्येण लब्ध्वा कदर्थयन्ति, ते नारकाः शूलादिभिर्विद्धा अपि न म्रियन्ते, केवलं 'करुणं' दीनं स्तनन्ति, न च[3] तेषां कश्चित्त्राणायालं तथैकान्तेन 'उभयतः' अन्तर्बहिश्च 'ग्लाना' अपगतप्रमोदाः सदा दुःखमनुभवन्तीति ॥१०॥ तथा—

सया जलं नाम निहं महंतं, जंसी जलंतो[4] अगणी अकट्ठो[5]।

चिट्ठंति बद्धा[6] बहुकूरकम्मा, अरहस्सरा केइ चिरट्ठितीया ॥११॥

सा. १ °मभितापयन्ति प्र° । २ कालपृष्ठो मृगभेदे (हैमः)। ३ हि आ. । ४ जलंता आ. इ. । ५ अकट्ठा आ. इ. । ६ तत्था आ. ।

चिया महंतीउ समारभित्ता, छुब्भंति ते तं कलुणं रसंतं ।
आवट्टती तत्थ असाहुकम्मा, सप्पी जहा पडियं जोइमज्झे ॥१२॥

'सया जलं' इत्यादि, 'सदा' सर्वकालं 'ज्वलत्' देदीप्यमानमुष्णरूपत्वात् स्थानमस्ति, निहन्यन्ते प्राणिनः कर्मवशगा यस्मिन् तन्निहम्–आघातस्थानं तच्च 'महद्' विस्तीर्णं यत्राकाष्ठोऽग्निर्ज्वलन्नास्ते, तत्रैवम्भूते स्थाने भवान्तरे बहुक्रूरकृतकर्माणस्तद्विपाकापादितेन पापेन बद्धास्तिष्ठन्तीति, किम्भूताः ?–'अरहस्वरा' बृहदाक्रन्दशब्दाः 'चिरस्थितिकाः' प्रभूतकालस्थितय इति ॥११॥ तथा–'चिंया महंतीउ' इत्यादि, महतीश्चिताः समारभ्य नरकपालाः 'तं' नारकं, विरसं 'करुणं' दीनमारसन्तं तत्र क्षिपन्ति, स चाऽसाधुकर्मा 'तत्र' तस्यां चितायां गतः सन् 'आवर्तते' विलीयते, यथा–'सर्पिः' घृतं ज्योतिर्मध्ये पतितं द्रवीभवत्येवमसावपि विलीयते, न च तथापि भवानुभावात् प्राणैर्विमुच्यते ॥१२॥ अयमपरो नरकयातनाप्रकार इत्याह—

सदा कसिणं पुण घम्मठाणं, गाढोवणीयं अइदुक्खधम्मं ।
हत्थेहिं पाएहि य बंधिऊणं, सत्तुव्व डंडेहिं समारभंति ॥१३॥
भंजंति बालस्स वहेण पुट्ठी[2], सीसंपि भिंदंति अओघणेहिं ।
ते भिन्नदेहा फलगंव[3] तच्छा, तत्ताहिं आराहिं णियोजयंति ॥१४॥

१ धिया इ. । २ पट्टी आ. पट्ठि इ. । ३ °हाव आ. °गाव इ. ।

'सया कसिणं' इत्यादि, 'सदा' सर्वकालं 'कृत्स्नं' सम्पूर्णं पुनरपरं 'घर्मस्थानं' उष्णस्थानं दृढैर्निधत्तनिकाचितावस्थैः कर्मभिः 'उपनीतं' ढौकितमतीव दुःखरूपो धर्मः—स्वभावो यस्मिंस्तदतिदुःखधर्मं तदेवम्भूते यातनास्थाने तमत्राणं नारकं हस्तेषु पादेषु च बद्ध्वा तत्र प्रक्षिपन्ति, तथा तदवस्थमेव शत्रुमिव दण्डैः 'समारभन्ते' ताडयन्ति इति ॥१३॥ किञ्च—'भंजंति बालस्स' इत्यादि, 'बालस्य' वराकस्य नारकस्य व्यथयतीति व्यथो—लकुटादिप्रहारस्तेन पृष्ठं 'भञ्जयन्ति'[1] मोटयन्ति, तथा शिरोऽप्ययोमयेन घनेन 'भिन्दन्ति'—चूर्णयन्ति, अपिशब्दादन्यान्यप्यङ्गोपाङ्गानि द्रुघणघातै[2]श्चूर्णयन्ति 'ते' नारका 'भिन्नदेहाः' चूर्णिताङ्गोपाङ्गाः फलकमिवोभाभ्यां पार्श्वाभ्यां क्रकचादिना 'अवतष्टाः' तनूकृताः सन्तस्तप्ताभिराराभिः प्रतुद्यमानास्तप्तत्रपुपानादिके कर्मणि 'विनियोज्यन्ते' व्यापार्यन्त इति ॥१४॥ किञ्च—

अभिजुंजिया रुद्द असाहुकम्मा, उसुचोइया हत्थिवहं वहंति।
एगं दुरूहित्तु दुवे ततो वा, आरुस्स विज्झंति ककाणओ से ॥१५॥
बाला बला भूमिमणुक्कमंता, पविज्जलं कंटइलं[3] महंतं।
विवद्धतप्पेहिं विवण्णचिंत्ते[4], समीरिया कोट्टबलिं करिंति ॥१६॥

'अभिजुंजिया' इत्यादि, रौद्रकर्मण्यपरनारकहननादिके 'अभियुज्य'[5] व्यापार्य यदि वा—जन्मान्तरकृतं 'रौद्रं' सत्त्वोपघातकार्यम्

---

१ भज्जन्ति आ. इ.। सा. २ °पातै° प्र०, आ.। ३ कंठ इ.। ४ °चित्ता आ.। ५ नियुज्य आ.।

'अभियुज्य' स्मारयित्वा असाधूनि–अशोभनानि जन्मान्तरकृतानि कर्माणि–अनुष्ठानानि येषां ते तथा तान् 'इषुचोदितान्' शराभिघातप्रेरितान् हस्तिवाहं[1] वाहयन्ति नरकपालाः, यथा हस्ती वाह्यते समारुह्य एवं तमपि वाहयन्ति, यदि वा–यथा हस्ती महान्तं भारं वहत्येवं तमपि नारकं वाहयन्ति, उपलक्षणार्थत्वादस्योष्ट्रवाहं वाहयन्तीत्याद्यप्यायोज्यं, कथं वाहयन्तीति दर्शयति–तस्य नारकस्योपर्येकं द्वौ त्रीन् वा 'समारुह्य' समारोप्य ततस्तं वाहयन्ति, अतिभारारोपणेनावहन्तम् 'आरुष्य' क्रोधं कृत्वा प्रतोदादिना 'विध्यन्ति' तुदन्ति, 'से' तस्य नारकस्य 'ककाणओ'त्ति मर्माणि[2] विध्यन्तीत्यर्थः ॥१५॥ अपि च–'बाला बला' इत्यादि, बाला इव बालाः परतन्त्राः, पिच्छिलां रुधिरादिना तथा कण्टकाकुलां भूमिमनुक्रामन्तो मन्दगतयो बलात् प्रेर्यन्ते, तथा अन्यान् 'विषण्णचित्तान्' मूर्च्छितांस्तर्पकाकारान्[3] 'विविधम्' अनेकधा बद्ध्वा ते नरकपालाः 'समीरिताः' पापेन कर्मणा चोदितास्तान्नारकान् 'कुट्टयित्वा' खण्डशः कृत्वा 'बलिं[4] करिंति'त्ति नगरबलिवदितश्चेतश्च क्षिपन्तीत्यर्थः, यदि वा कोट्टबलिं कुर्वन्तीति[5] ॥१६॥ किञ्च—

वेतालिए नाम महाभितावे, एगायते पव्वयमंतलिक्खे ।
हम्मंति तत्था[6] बहुकूरकम्मा, परं सहस्साण मुहुत्तगाणं ॥१७॥
संबाहिया दुक्कडिणो थणंति, अहो य राओ परितप्पमाणा ।

१ हस्तिवत् आ. इ. । सा. २ मर्मणि प्र० । ३ तान् सूर्प° आ. । सा. ४ बलिं कुर्वंति इतश्चेतश्च क्षिपंतीत्यर्थः, यदि वा कोट्टबलिं कुर्वंतीति, कुर्वंति नगरबलिं-प्र० । ५ कुर्वन्तीत्यर्थः नगरबलिवत्कुर्वन्ति आ. कुर्वन्ति नगरबलिवत्कुर्वन्तीति इ. । ६ तत्थ आ. ।

एगंतकूडे नरए महंते, कूडेण तत्था विसमे हता उ ॥१८॥ ला,

'वेतालिए' इत्यादि, नामशब्दः सम्भावनायां, सम्भाव्यते एतन्नरकेषु यथाऽन्तरिक्षे 'महाभितापे' महादुःखैककार्ये एकशिलाघटितो दीर्घः 'वेयालिए'त्ति वैक्रियः परमाधार्मिकनिष्पादितः पर्वतः तत्र तमोरूपत्वात् नरकाणामतो हस्तस्पर्शिकया समारुहन्तो नारका 'हन्यन्ते' पीड्यन्ते, वहूनि क्रूराणि जन्मान्तरेऽर्जितानि कर्माणि येषां ते तथा, सहस्रसंख्यानां मुहूर्तानां परं–प्रकृष्टं कालं, सहस्रशब्दस्योपलक्षणार्थत्वात् प्रभूतं कालं हन्यन्त इति यावत् ॥१७॥ तथा 'संबाहिया'इत्यादि, सम्–एकीभावेन बाधिताः पीडिता दुष्कृतं–पापं विद्यते येषां ते दुष्कृतिनो महापापाः 'अहो' अहनि तथा रात्रौ च 'परितप्यमाना' अतिदुःखेन पीड्यमानाः सन्तः करुणं–दीनं 'स्तनन्ति' आक्रन्दन्ति, तथैकान्तेन 'कूटानि' दुःखोत्पत्तिस्थानानि यस्मिन् स तथा तस्मिन् एवम्भूते नरके 'महति' विस्तीर्णे पतिताः प्राणिनः तेन च कूटेन गलयन्त्रपाशादिना पाषाणसमूहसम्पातेन वा 'तत्र' तस्मिन् विषमे हताः तुशब्दस्यावधारणार्थत्वात् स्तनन्त्येव केवलमिति ॥१८॥ अपि च—

भंजंति णं पुव्वमरी सरोसं, समुग्गरे ते मुसले गहेतुं।

ते भिन्नदेहा रुहिरं वमंता, ओमुद्धगा धरणितले पडंति ॥१९॥

अणासिया नाम महासियाला, पागब्भिणो तत्थ सयायकोवा।

१ °कार्ये कायत एक° आ. इ.। २ °रोहन्तो आ.। ३ पगब्भि° आ. इ.। ४ जत्थ आ.।

खज्जंति तत्था बहुकूरकम्मा, अदूरगा[1] संकलियाहि बद्धा ॥२०॥

'भंजंति णं' इत्यादि, 'णम्' इति वाक्यालङ्कारे, पूर्वमरय इवारयो जन्मान्तरवैरिण[2] इव परमाधार्मिका यदि वा—जन्मान्तरापकारिणो नारका अपरेषामङ्गानि 'सरोषं' सकोपं समुद्गराणि मुसलानि गृहीत्वा 'भञ्जन्ति' गाढप्रहारैरामर्दयन्ति, ते च नारकास्त्राणरहिताः शस्त्रप्रहारैर्भिन्नदेहा रुधिरमुद्वमन्तोऽधोमुखा धरणितले पतन्तीति ॥१९॥ किञ्च—'अणासिया' इत्यादि, महादेहप्रमाणा महान्तः शृगाला नरकपालविकुर्विता 'अनशिता' बुभुक्षिताः, नामशब्दः सम्भावनायां, सम्भाव्यत एतन्नरकेषु[3], 'अतिप्रगल्भिता' अतिधृष्टा रौद्ररूपा निर्भयाः 'तत्र' तेषु नरकेषु सम्भवन्ति 'सदावकोपा' नित्यकुपिताः तैरेवम्भूतैः शृगालादिभिस्तत्र व्यवस्थिता जन्मान्तरकृतबहुक्रूरकर्माणः शृङ्खलादिभिर्बद्धा[4] अयोमयनिगडनिगडिता 'अदूरगाः' परस्परसमीपवर्तिनो 'भक्ष्यन्ते' खण्डशः खाद्यन्त[5] इति ॥२०॥ अपि च—

सयाजला नाम नदी भिदुग्गा, पोवज्जलं[6] लोहविलीणतत्ता ।
जंसी भिदुग्गंसि पवज्जमाणा, एगायऽताणुक्कमणं करेंति ॥२१॥
एयाइं फासाइं फुसंति बालं, निरंतरं तत्थ चिरट्ठितीयं ।
ण हम्ममाणस्स उ होइ ताणं, एगो सयं पच्चणुहोइ दुक्खं ॥२२॥

'सयाजला' इत्यादि, सदा—सर्वकालं, जलम्—उदकं यस्यां सा तथा सदाजलाभिधाना वा 'नदी' सरिद् 'अभिदुर्गा' अतिविषमा

१ अदूरए आ. । २ वैरिणस्त इव आ. । ३ °केष्विति प्रग° आ. इ. । ४ शृङ्खलाभि° आ. । सा. ५ त्रोट्यन्ते प्र० आ. । ६ °जल[illegible] इ. ।

प्रकर्षेण विविधमत्युष्णं क्षारपूयरुधिराविलं जलं यस्यां सा प्रविजला यदि वा 'पविज्जले'ति रुधिराविलत्वात् पिच्छिला, विस्तीर्णगम्भी-
रजला वा अथवा प्रदीप्तजला वा, एतदेव दर्शयति–अग्निना तप्तं सत् 'विलीनं' द्रवतां गतं यल्लोहम्–अयस्तद्वत्तप्ता, अतितापविलीनलो-
हसदृशजलेत्यर्थः, यस्यां च सदाजलायां अभिदुर्गायां नद्यां प्रपद्यमाना नारकाः 'एगाय'[1]त्ति एकाकिनोऽत्राणा 'अनुक्रमणं' तस्यां गमनं
प्लवनं कुर्वन्तीति ॥२१॥ साम्प्रतमुद्देशकार्थमुपसंहरन् पुनरपि नारकाणां दुःखविशेषं दर्शयितुमाह–'एयाइं फासाइं' इत्यादि, 'एते' अन-
८ न्तरोद्देशकद्वयाभिहिताः 'स्पर्शाः' दुःखविशेषाः परमाधार्मिकजनिताः परस्परापादिताः स्वाभाविका वेति अतिकटवो रूपरसगंधस्पर्श-
शब्दाः अत्यंतदुःसहा वालमिव 'वालम्' अशरणं स्पृशन्ति' दुःखयन्ति 'निरन्तरम्' अविश्रामं 'अच्छिनिमीलिय'[2]मित्यादिपूर्ववत् 'तत्र'
तेषु नरकेषु चिरं–प्रभूतं कालं स्थितिर्यस्य वालस्यासौ चिरस्थितिकस्तं, तथाहि–रत्नप्रभायामुत्कृष्टा स्थितिः सागरोपमं, तथा द्वितीयायां
शर्करप्रभायां त्रीणि, तथा वालुकायां सप्त, पङ्कायां दश, धूमप्रभायां सप्तदश तमःप्रभायां द्वाविंशतिर्महातमःप्रभायां सप्तमपृथिव्यां त्रय-
स्त्रिंशत्सागरोपमाणि उत्कृष्टा स्थितिरिति, तत्र च गतस्य कर्मवशापादितोत्कृष्टस्थितिकस्य परैर्हन्यमानस्य स्वकृतकर्मफलभुजो न किञ्चि-
१० त्राणं भवति, तथाहि–किल सीतेन्द्रेण लक्ष्मणस्य नरकदुःखमनुभवतस्तत्त्राणोद्यतेनापि न त्राणं कृतमिति श्रुतिः, तदेवमेकः–असहायो
यदर्थं तत्पापं [3]समर्जितं तै रहितस्तत्कर्मविपाकजं [4]दुःखमनुभवति, न कश्चिद्दुःखसंविभागं गृह्णातीत्यर्थः, तथा चोक्तम्–"[5]मया परिजन-
स्यार्थे, कृतं कर्म सुदारुणम्। एकाकी तेन दह्येऽहं, गतास्ते फलभोगिनः ॥१॥" [6]इत्यादि ॥२२॥ किञ्चान्यत्–

जं जारिसं पुव्वमकासि कम्मं, [7]तमेव आगच्छति संपराए।

---

१ एगाययत्ति आ. इ. । २ °लिय° आ. इ. । ३ समा° आ. इ. । ४ दुःखं प्रत्यनु° आ. इ. । ५ यन्मया आ. इ. । ६ इति आ. इ. । ७ तहेव आ. ।

एगंतदुक्खं भवमज्जणित्ता, वेदंति दुक्खी तमणंतदुक्खं ॥२३॥

एताणि सोच्चा णरगाणि [1]धीरे, न हिंसए किंचण[2] सव्वलोए।

एगंतदिट्ठी अपरिग्गहे उ, बुज्झिज्ज लोयस्स वसं न गच्छे ॥२४॥

एवं तिरिक्खे मणुयासु (म)रेसुं। चतुरन्तऽणंतं तयणुव्विवागं।

स सव्वमेयं इति वेदइत्ता, कंखेज्ज कालं धुयमायरे[3]ज्ज ॥२५॥

त्तिबेमि। ईति[4] श्रीनरयविभत्तीनाम पंचमाऽध्ययनं समत्तं॥ [गाथाग्रं० ३६१]

'जं जारिसं' इत्यादि, 'यत्' कर्म 'यादृशं' यदनुभावं यादृक्स्थितिकं वा कर्म 'पूर्वं' जन्मान्तरे 'अकार्षीत्' कृतवांस्तत्तादृगेव जघन्यमध्यमोत्कृष्टस्थित्यनुभावभेदं 'सम्पराये' संसारे तथा–तेनैव प्रकारेणानुगच्छति, एतदुक्तं भवति–तीव्रमन्दमध्यमैर्बन्धाध्यवसायस्थानैर्यादृशैर्यद्बद्धं तत्तादृगेव तीव्रमन्दमध्यमेवं[5] विपाकम्–उदयमागच्छतीति, एकान्तेन–अवश्यं सुखलेशरहितं दुःखमेव यस्मिन्नरकादिके भवे स तथा तमेकान्तदुःखं 'भवमर्जयित्वा' नरकभवोपादानभूतानि कर्माण्युपादायैकान्तदुःखिनस्तत्–पूर्वनिर्दिष्टं दुःखम्–असातवेदनी[6]यरूपमनन्तम्–अनन्योपशमनीयमप्रतिकारं 'वेदयन्ति' अनुभवन्तीति ॥२३॥ पुनरप्युपसंहारव्याजेनोपदेशमाह–'एताणि सोच्चा'इत्यादि,

१ वीरे आ.। २ कंचण आ. इ.। ३ °रंति आ. °रंते इ.। ४ नरयविभत्ती सम्मत्ता आ. इ.। ५ °मविपाकम् आ. इ.। ६ असाता० आ.।

'एतान्' पूर्वोक्तान्नरकान् तास्थ्यात्तद्व्यपदेश इतिकृत्वा नरकदुःखविशेषान् 'श्रुत्वा' निशम्य धीः—बुद्धिस्तया राजत इति धीरो—बुद्धिमान् प्राज्ञः, एतत्कुर्यादिति द[1]र्शयति—सर्वस्मिन्नपि—त्रसस्थावरभेदभिन्ने 'लोके' प्राणिगणे न कमपि प्राणिनं 'हिंस्यात्' न व्यापादयेत्, तथैकान्तेन निश्चला जीवादितत्त्वेषु दृष्टिः—सम्यग्दर्शनं यस्य स एकान्तदृष्टिः निष्प्रकम्पसम्यक्त्व इत्यर्थः, तथा न विद्यते परि—समन्तात् सुखार्थं गृह्यत इति परिग्रहो यस्यासौ अपरिग्रहः, तुशब्दादाद्यन्तोपादानाद्वा मृषावादादत्तादानमैथुनवर्जनमपि द्रष्टव्यं, तथा 'लोकम्' अशुभकर्मकारिणं तद्विपाकफलभुजं वा यदि वा—कषायलोकं तत्स्वरूपतो 'बुध्येत' जानीयात्, न तु तस्य लोकस्य वशं गच्छेदिति ॥२४॥ एतदनन्तरोक्तं दुःखविशेषमन्यत्राप्यतिदिशन्नाह—'एवम्' इत्यादि, एवमशुभकर्मकारिणामसुमतां तिर्यङ्मनुष्यामरेष्वपि 'चतुरन्तं' चतुर्गतिकम्, 'अनन्तम्' अपर्यवसानं तदनुरूपं विपाकं, 'स' बुद्धिमान् सर्वमेतदिति पूर्वोक्तया नीत्या 'विदित्वा' ज्ञात्वा 'ध्रुवं' संयममाचरन् 'कालं' मृत्युकालमाकांक्षेत्, एतदुक्तं भवति—चतुर्गतिकसंसारान्तर्गतानामसुमतां दुःखमेव केवलं यतोऽतो ध्रुवो—मोक्षः संयमो वा तदनुष्ठानरतो यावज्जीवं मृत्युकालं प्रतीक्षेतेति, इतिः परिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥२५॥ नरकविभक्त्यध्ययनं पञ्चमं परिसमाप्त[2]मिति ॥

---

१ तद्दर्शयति आ. । २ °रिति ग्रंथतः ५११ । ग्रंथतः शत. ५७१ ।

अथ श्रीवीरस्तुत्याख्यं षष्ठमध्ययनं प्रारभ्यते।

उक्तं पञ्चममध्ययनं, साम्प्रतं षष्ठमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–अत्रानन्तराध्ययने नरकविभक्तिः प्रतिपादिता, सा च श्रीमन्महावीरवर्धमानस्वामिनाऽभिहितेत्यतस्तस्यैवानेन गुणकीर्तनद्वारेण चरितं प्रतिपाद्यते शास्तुर्गुरुत्वेन शास्त्रस्य गरीयस्त्वमितिकृत्वा, इत्यनेन सम्बन्धेनाऽऽयातस्यास्याध्ययनस्योपक्रमादीनि चत्वार्यनुयोगद्वाराणि, तत्राप्युपक्रमान्तर्गतोऽर्थाधिकारो महावीरगुणगणोत्कीर्तनरूपः। निक्षेपस्तु द्विधा–ओघनिष्पन्नो नामनिष्पन्नश्च, तत्रोघनिष्पन्ने निक्षेपेऽध्ययनं, नामनिष्पन्ने तु महावीरस्तवः, तत्र महच्छब्दस्य वीर इत्येतस्य च स्तवस्य च प्रत्येकं निक्षेपो विधेयः, तत्रापि 'यथोद्देशस्तथा निर्देश' इतिकृत्वा पूर्वं महच्छब्दो निरूप्यते, तत्रास्त्ययं महच्छब्दो बहुत्वे, यथा–महाजन इतिः अस्ति बृहत्त्वे, यथा–महाघोषः; अस्त्यत्यर्थे, यथा–महाभयमिति; अस्ति प्राधान्ये, यथा महापुरुष इतिः तत्रेह प्राधान्ये वर्तमानो गृहीत इत्येतन्निर्युक्तिकारो दर्शयितुमाह—

[1]पाहन्ने महसद्दो दव्वे खेत्ते य कालभावे य। वीरस्स उ णिक्खेवो चउक्कओ होइ णायव्वो ॥८३॥

'पाहन्ने महसद्दो' इत्यादि, तत्र महावीरस्तव इत्यत्र यो महच्छब्दः स प्राधान्ये वर्तमानो गृहीतः, [2]तच्च नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात् षोढा प्राधान्यं, नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यप्राधान्यं ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं सचित्ताचित्तमिश्रभेदात् त्रिधा, सचित्त-

१ पाहत्ते आ.। २ पर्यायत्वात्तत्त्वतस्तस्यैवाभिधानं यथा भाषाभिधानं वाक्यशुद्धौ वाक्यनिक्षेपे।

मपि द्विपदचतुष्पदापदभेदात् त्रिधैव, तत्र द्विपदेषु तीर्थकरचक्रवर्त्यादिकं, चतुष्पदेषु हस्त्यश्वादिकमपदेषु प्रधानं कल्पवृक्षादिकं, यदि वा—इहैव ये प्रत्यक्षा रूपरसगन्धस्पर्शैरुत्कृष्टाः पौण्डरीकादयः पदार्थाः अचित्तेषु वैडूर्यादयो नानाप्रभावा मणयो मिश्रेषु तीर्थकरो विभूषित इति, क्षेत्रतः प्रधाना सिद्धिर्धर्मचरणाश्रयणान्महाविदेहं चोपभोगाङ्गीकरणेन तु देवकुर्वादिकं क्षेत्रं, कालतः प्रधानं त्वेकान्तसुषमादि, यो वा कालविशेषो धर्मचरणप्रतिपत्तियोग्य इति, भावप्रधानं तु क्षायिको भावः तीर्थकरशरीरापेक्षयौदयिको वा, तत्रेह द्वयेनाप्यधिकार इति। वीरस्य द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदाच्चतुर्धा निक्षेपः, तत्र ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो द्रव्यवीरो द्रव्यार्थं सङ्ग्रामादावद्भुतकर्मकारितया शूरो यदि वा—यत्किञ्चित् वीर्यवद् द्रव्यं तद् द्रव्यवीरे अन्तर्भवति, तद्यथा—तीर्थकृदनन्तबलवीर्यो लोकमलोके कन्दुकवत् प्रक्षेप्तुमलं तथा मन्दरं दण्डं कृत्वा रत्नप्रभां पृथिवीं छत्रवद्बिभृयात्, तथा चक्रवर्तिनोऽपि बलं 'दोसोला बत्तीसा' इत्यादि, तथा विषादीनां मोहनादिसामर्थ्यमिति, क्षेत्रवीरस्तु यो यस्मिन् क्षेत्रेऽद्भुतकर्मकारी वीरो वा यत्र व्यावर्ण्यते, एवं कालेऽप्यायोज्यं, भाववीरो यस्य क्रोधमानमायालोभैः परीषहादिभिश्चात्मा न जितः, तथा चोक्तम्—"कोहं[2] माणं च मायं च, लोभं पंचेंदियाणि य। दुज्जयं चेव अप्पाणं, सव्वमप्पे जिए जियं ॥१॥ जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे। एकं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ॥२॥ तथा—एक्को परिभमउ जए वियडं जिणकेसरी सलीलाए। कंदप्पदुट्ठदाढो मयणो विड्डारिओ[3] जेणं ॥३॥"

१ ××× व्या० आ.। सा. २ क्रोधो मानश्च माया च लोभश्च पञ्चेन्द्रियाणि च दुर्जयं चैवात्मनः सर्वमात्मनि जिते जितं ॥१॥ यः सहस्रं सहस्राणां सङ्ग्रामे दुर्जयं जयेत्। एकं जयेदात्मानं एष तस्य परमो जयः ॥२॥ एकः परिभ्राम्यतु जगति विकटं जिनकेसरी। स्वलीलया कन्दर्पदुष्टदंष्ट्रः मदनो विदारितो येन ॥३॥
३ निद्दारिओ आ. इ.।

तदेवं वर्धमानस्वाम्येव परीषहोपसर्गैरनुकूलप्रतिकूलैरपराजितोऽद्भुतकर्मकारित्वेन गुणनिष्पन्नत्वात् भावतो महावीर इति भण्यते, यदि वा द्रव्यवीरो व्यतिरिक्त एकभविकादिः क्षेत्रवीरो यत्र तिष्ठत्यसौ व्यावर्ण्यते वा, कालतोऽप्येवमेव, भाववीरो नोआगमतो वीरनामगोत्राणि कर्माण्यनुभवन्, स च वीरवर्धमानस्वाम्येवेति ॥ स्तवनिक्षेपार्थमाह—

थुइणिक्खेवो चउहा आगंतुअभूसणेहिं दव्वथुती । भावे संताण गुणाण कित्तणा जे जहिं भणिया ॥८४॥

'थुइणिक्खेवो' इत्यादि, 'स्तुतेः' स्तवस्य नामादिश्चतुर्धा निक्षेपः, तत्र नामस्थापने पूर्ववत्, द्रव्यस्तवस्तु ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो यः कटककेयूरस्रक्चन्दनादिभिः सचित्ताऽचित्तद्रव्यैः क्रियत इति, भावस्तवस्तु 'सद्भूतानां' विद्यमानानां गुणानां ये यत्र भवन्ति तत्कीर्तनमिति[1] ॥ साम्प्रतं आद्यसूत्र[2]संस्पर्शद्वारेण सकलाऽध्ययनसम्बन्धप्रतिपादिकां गाथां निर्युक्तिकृदाह—

पुच्छिंसु जंबुणामो अज्ज सुहम्मा तओ कहेसी य । एव महप्पा वीरो जयमाह[3] तहा जएज्जाहि[4] ॥८५॥

'पुच्छिंसु' इत्यादि, जम्बूस्वामी आर्यसुधर्मस्वामिनं श्रीमन्महावीरवर्धमानस्वामिगुणान् पृष्टवान्, अतोऽसावपि भगवान् सुधर्मस्वाम्येवंगुणविशिष्टो महावीर इति कथितवान्, एवं चासौ भगवान् संसारस्य 'जयम्' अभिभवमाह, ततो यूयमपि यथा भगवान् संसारं जितवान् तथैव यत्नं विधत्तेति ॥ साम्प्रतं निक्षेपान्तरं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारयितव्यं, तच्चेदम्—

पुच्छिस्सु णं समणा माहणा य, अगारिणो या परतित्थिआ य ।
से केइ [5]णेगंतहियं धम्ममाहु, अणेलिसं साहु समिक्खयाए ॥१॥

---

१ तदुत्कीर्त्तन आ. । २ आदिसू आ. । ३ °माहु अ. आ. । ४ °ज्जाह अ. आ. ५ मंणिहियं आ. मणितियं इ. ।

कहं च णाणं कह दंसणं से, सीलं कहं नायसुतस्स आसी ? ।
जाणासि णं भिक्खु जहातहेणं, अहासुतं बूहि जहा णिसंतं ॥२॥

'पुच्छिस्सु'[1] इत्यादि, अस्य चानन्तरसूत्रेण सहायं सम्बन्धः, तद्यथा–तीर्थकरोपदिष्टेन मार्गेण ध्रुवमाचरन् मृत्युकालमुपेक्षेतेत्युक्तं,
तत्र किम्भूतोऽसौ तीर्थकृत् येनोपदिष्टो मार्ग इत्येतत् पृष्टवन्तः 'श्रमणा' यतय इत्यादि, परम्परसूत्रसम्बन्धस्तु बुद्ध्येत यदुक्तं[2] प्रा-
८ गिति, एतच्च यदुत्तरत्र प्रश्नप्रतिवचनं वक्ष्यते तच्च बुध्येतेति, अनेन सम्बन्धेनाऽऽयातस्यास्य सूत्रस्य संहितादिक्रमेण व्याख्या प्रतन्यते,
सा चेयम्–अनन्तरोक्तां बहुविधां नरकविभक्तिं श्रुत्वा संसारादुद्विग्नमनसः केनेयं प्रतिपादितेत्येतत् सुधर्मस्वामिनम् 'अप्राक्षुः'
पृष्टवन्तः, 'णम्' इति वाक्यालङ्कारे, यदि वा जम्बूस्वामी सुधर्मस्वामिनमेवाह[3]–यथा केनैवंभूतो धर्मः संसारोत्तारणसमर्थः प्रतिपादित
इत्येतद्बहवो मां पृष्टवन्तः, तद्यथा–'श्रमणा' निर्ग्रन्थादयः[4][5] तथा 'ब्राह्मणा' ब्रह्मचर्याद्यनुष्ठाननिरताः, तथा 'अगारिणः' क्षत्रिया-
दयो ये च शाक्यादयः परतीर्थिकास्ते सर्वेऽपि पृष्टवन्तः, किं तदिति दर्शयति–स को योऽसावेनं[6] धर्मं दुर्गतिप्रसृतजन्तुधारकमेका-
१० न्तहितम् 'आह' उक्तवान् 'अनीदृशम्' अनन्यसदृशम् अतुलमित्यर्थः, तथा–साध्वी चासौ समीक्षा च साधुसमीक्षा–यथावस्थित-
तत्त्वपरिच्छित्तिस्तया, यदिवा–साधुसमीक्षया–समतयोक्तवानिति ॥१॥ तथा तस्यैव ज्ञानादिगुणावगतये प्रश्नमाह–'कहं च णाणं'
इत्यादि, 'कथं' केन प्रकारेण भगवान् ज्ञानमवाप्तवान् ?, किम्भूतं वा तस्य भगवतो ज्ञानं–विशेषावबोधकं ?, किम्भूतं च 'से' तस्य
'दर्शनं' सामान्यार्थपरिच्छेदकं ? 'शीलं च' यमनियमरूपं कीदृक् ? ज्ञाताः–क्षत्रियास्तेषां 'पुत्रो' भगवान् वीरवर्धमानस्वामी

१ पुच्छिसु आ. इ. । २ ××××××××× यदु° इ. । सा. ३ °मेवमाह प्र० इ. । सा. ४ निर्ग्रन्थाः प्र० । ५ निग्रन्था ×× इ. । ६ °विमं आ. ।

तस्य 'आसीद्' अभूदिति, यदेतन्मया पृष्टं तत् 'भिक्षो !' सुधर्मस्वामिन् याथातथ्येन त्वं 'जानीषे' सम्यगवगच्छसि, 'णम्' इति वाक्यालङ्कारे, तदेतत्सर्वं यथाश्रुतं त्वया श्रुत्वा च यथा 'निशान्त'मित्यवधारितं यथा दृष्टं तथा सर्वं 'ब्रूहि' आचक्ष्वेति ॥२॥ स एवं पृष्टः सुधर्मस्वामि श्रीमन्महावीरवर्धमानस्वामिगुणान् कथयितुमाह—

[1]खेयन्नए से कुसलासुपन्ने (०ले महेसी), अणंतनाणी य अणंतदंसी ।
जसंसिणो चक्खुपहे ठियस्स, जाणाहि धम्मं च धिइं च पेहि ॥३॥
उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु, तसा य जे थावर जे य पाणा ।
से णिच्चणिच्चेहि समिक्ख पन्ने, दीवे व धम्मं समियं उदाहु ॥४॥

'खेयन्नए से' इत्यादि, सः—भगवान् चतुस्त्रिंशदतिशयसमेतः खेदं—संसारान्तर्वर्तिनां प्राणिनां कर्मविपाकजं दुःखं जानातीति खेदज्ञो दुःखापनोदनसमर्थोपदेशदानात्, यदि वा 'क्षेत्रज्ञो' यथावस्थितात्मस्वरूपपरिज्ञानादात्मज्ञ इति, अथवा—क्षेत्रम्—आकाशं तज्जानातीति क्षेत्रज्ञो लोकालोकस्वरूपपरिज्ञातेत्यर्थः, तथा भावकुशान्—अष्टविधकर्मरूपान् लुनाति—छिनत्तीति कुशलः प्राणिनां कर्मोच्छित्तये निपुण इत्यर्थः, आशु—शीघ्रं प्रज्ञा यस्यासावाशुप्रज्ञः, सर्वत्र सदोपयोगाद्, न छद्मस्थ इव विचिन्त्य जानातीति भावः, महर्षिरिति क्वचित्पाठः, महांश्चासावृषिश्च महर्षिः अत्यन्तोग्रतपश्चरणानुष्ठायित्वादतुलपरीषहोपसर्गसहनाच्चेति, तथा अनन्तम्—अविनाश्यन- ॥१९३॥

१ खेयन्ने आ. इ. ।

न्तपदार्थपरिच्छेदकं वा ज्ञानं–विशेषग्राहकं यस्यासावनन्तज्ञानी, एवं सामान्यार्थपरिच्छेदकत्वेनानन्तदर्शी, तदेवम्भूतस्य भगवतो यशो नृसुरासुरातिशाय्यतुलं विद्यते यस्य स यशस्वी तस्य, लोकस्य 'चक्षुःपथे' लोचनमार्गे भवस्थकेवल्यवस्थायां स्थितस्य, लोकानां सूक्ष्मव्यवहितपदार्थाविर्भावनेन चक्षुर्भूतस्य वा 'जानीहि' अवगच्छ 'धर्मं' संसारोद्धरणस्वभावं, तत्प्रणीतं[1] वा श्रुतचारित्राख्यं, तथा तस्यैव भगवतस्तथोपसर्गितस्यापि निष्प्रकम्पां चारित्राचलनस्वभावां 'धृतिं' संयमे रतिं तत्प्रणीतां वा 'प्रेक्षस्व' सम्यक्कुशाग्रीयया बुद्ध्या पर्यालोचयेति, यदि वा–तैरेव श्रमणादिभिः सुधर्मस्वाम्यभिहितो यथा त्वं तस्य भगवतो यशस्विनश्चक्षुष्पथे व्यवस्थितस्य धर्मं धृतिं च जानीषे ततोऽस्माकं 'पेहि'त्ति कथयेति ॥३॥ साम्प्रतं सुधर्मस्वामी तद्गुणान् कथयितुमाह–'उड्ढं अहे य' इत्यादि, ऊर्ध्वमधस्तिर्यक्षु सर्वत्रैव चतुर्दशरज्ज्वात्मके लोके ये केचन त्रस्यन्तीति त्रसास्तेजोवायुरूपविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियभेदात् त्रिधा,[2] तथा ये च 'स्थावराः' पृथिव्य[3]म्बुवनस्पतिभेदात् [4]त्रिविधाः, एत उच्छवासादयः प्राणा विद्यन्ते येषां ते प्राणिन इति, अनेन च शाक्यादिमतनिरासेन पृथिव्याद्येकेन्द्रियाणामपि जीवत्वमावेदितं भवति, स भगवांस्तान् प्राणिनः प्रकर्षेण केवलज्ञानित्वात् जानातीति प्रज्ञः [ग्रन्थाग्रम् ४२५०] स एव प्राज्ञो, नित्यानित्याभ्यां द्रव्यार्थपर्यायार्थाश्रयणात् 'समीक्ष्य' केवलज्ञानेनार्थान् परिज्ञाय प्रज्ञापनायोग्यानाहेत्युत्तरेण सम्बन्धः, [5]तथा स प्राणिनां पदार्थाविर्भावनेन दीपवत् दीपः यदि वा–संसारार्णवपतितानां सदुपदेशप्रदानत आश्वासहेतुत्वात् द्वीप इव द्वीपः, स एवम्भूतः संसारोत्तारणसमर्थं 'धर्मं' श्रुतचारित्राख्यं सम्यक् इतं–गतं सदनुष्ठानतया रागद्वेषरहितत्वेन समतया वा, तथा चोक्तम्–"[6]जहा पुण्णस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ" इत्यादि, समं वा–धर्मम्, उत्–प्राबल्येन आह–

१ तत्प्रणीतश्रुत आ. । २ त्रिविधा आ. । ३ °व्यपूवन० आ. । ४ त्रिधा आ. । ५ तथासौ आ. इ. । ६ यथा पूर्णस्य कथ्यते तथा तुच्छस्य कथ्यते ॥

उक्तवान् प्राणिनामनुग्रहार्थं न पूजासत्कारार्थमिति ॥४॥ किञ्चान्यत्—

से सव्वदंसी अभिभूयनाणी, णिरामगंधे धिइमं ठितप्पा ।
अणुत्तरे सव्वजगंसि विज्जं, गंथा अतीते अभए अणाऊ ॥५॥
से भूइपण्णे अणिएअचारी, ओहंतरे धीरे अणंतचक्खू ।
अणुत्तरं तप्पति सूरिए वा, वइरोयणिंदे व तमं पगासे ॥६॥

'से सव्वदंसी' इत्यादि, 'स' भगवान् सर्वं–जगत् चराचरं सामान्येन द्रष्टुं शीलमस्य स सर्वदर्शी, तथा 'अभिभूय' पराजित्य मत्यादीनि चत्वार्यपि ज्ञानानि यद्वर्तते ज्ञानं केवलाख्यं तेन ज्ञानेन ज्ञानी, अनेन चापरतीर्थाधिपाधिकत्वमावेदितं भवति, 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्ष' इति कृत्वा तस्य भगवतो ज्ञानं प्रदर्श्य क्रियां दर्शयितुमाह–निर्गतः–अपगत आमः–अविशोधिकोट्याख्यः तथा गन्धो–विशोधिकोटिरूपो यस्मात् स भवति निरामगन्धः, मूलोत्तरगुणभेदभिन्नां चारित्रक्रियां कृतवानित्यर्थः, तथाऽसह्यपरीषहोपसर्गाभिद्रुतोऽपि निष्प्रकम्पतया चारित्रे धृतिमान् तथा–स्थितो व्यवस्थितोऽशेषकर्मविगमादात्मस्वरूपे आत्मा यस्य स भवति स्थितात्मा, एतच्च ज्ञानक्रिययोः फलद्वारेण विशेषणं, तथा–नास्योत्तरं–प्रधानं सर्वस्मिन्नपि जगति विद्यते (यः) स तथा, विद्वानिति सकल पदार्थानां करतलाऽऽमलकन्यायेन वेत्ता, तथा बाह्यग्रन्थात् सचित्तादिभेदादान्तराच्च कर्मरूपाद् 'अतीतो' अतिक्रान्तो ग्रन्थातीतो

१ °मनुपहारार्थं आ. । २ दीए अभए आ. अदीते अरुते इ. । ३ पभासे आ. । सा. ४ तस्य परमाम्रेडितमित्यादिवदवयववाचित्वेन षष्ठी ।

निर्ग्रन्थ इत्यर्थः, तथा न विद्यते सप्तप्रकारमपि भयं यस्यासावभयः समस्तरहित इत्यर्थः, तथा न विद्यते चतुर्विधमप्यायुर्यस्य स भवत्यनायुः, दग्धकर्मबीजत्वेन पुनरुत्पत्तेरसंभवादिति ॥५॥ अपि च–'से भूइपण्णे' इत्यादि, भूतिशब्दो वृद्धौ मङ्गले रक्षायां च वर्तते, तत्र 'भूतिप्रज्ञः' प्रवृद्धप्रज्ञः अनन्तज्ञानवानित्यर्थः, तथा–भूतिप्रज्ञो जगद्रक्षाभूतप्रज्ञः एवं सर्वमङ्गलभूतप्रज्ञ इति, तथा 'अनियतम्' अप्रतिबद्धं परिग्रहायोगाच्चरितुं शीलमस्यासावनियतचारी तथौघं–संसारसमुद्रं तरितुं शीलमस्य स तथा, तथा धीः–बुद्धिस्तया राजत इति धीरः परीषहोपसर्गाक्षोभ्यो वा धीरः, तथा अनन्तं–ज्ञेयानन्ततया नित्यतया वा चक्षुरिव चक्षुः–केवलज्ञानं यस्यानन्तस्य वा लोकस्य पदार्थप्रकाशकतया चक्षुर्भूतो यः स भवत्यनन्तचक्षुः, तथा यथा–सूर्यः 'अनुत्तरं' सर्वाधिकं तपति न तस्मादधिकस्तापेन कश्चिदस्ति, एवमसावपि भगवान् ज्ञानेन सर्वोत्तम इति, तथा 'वैरोचनः' अग्निः स एव प्रज्वलितत्वात् इन्द्रो यथाऽसौ तमोऽपनीय प्रकाशयति, एवमसावपि भगवानज्ञानतमोऽपनीय यथावस्थितपदार्थप्रकाशनं करोति[2] ॥६॥ किञ्च–

अणुत्तरं धम्ममिणं जिणाणं, णेया मुणी कासव[3] आसुपन्ने ।
इंदेव देवाण महाणुभावे, सहस्सणेता दिवि णं विसिट्ठे ॥७॥
से पन्नया[4] अक्खयसागरे वा, महोदही वावि अणंतपारे ।
अणाइले वा[5] अकसाइ मुक्के[6], सक्केव देवाहिवई जुईमं ॥८॥

सा १ °भूति° प्र०, इ. । २ करोतीति आ. । ३ कासवे आ. इ. । ४ पण्णसा आ. पन्नेसा इ. । सा. ५ या प्र०, आ. इ. । सा. ६ भिक्खू, इ. ।

'अणुत्तरं' इत्यादि, नास्योत्तरोऽस्तीत्यनुत्तरस्तमिममनुत्तरं धर्मं 'जिनानाम्' ऋषभादितीर्थकृतां सम्बन्धिनमयं 'मुनिः' श्रीमान् वर्धमानाख्यः 'काश्यपः' गोत्रेण 'आशुप्रज्ञः' केवलज्ञानी उत्पन्नदिव्यज्ञानो 'नेता' [1]प्रणेतेति ताच्छीलिकस्तृन्, तद्योगे 'न लोकाऽव्ययनिष्ठ' (पा० २-३-६९) त्यादिना षष्ठीप्रतिषेधाद्धर्ममित्यत्र कर्मणि द्वितीयैव, यथा चेन्द्रो 'दिवि' स्वर्गे देवसहस्राणां 'महानुभावो' महाप्रभाववान्, 'णम्' इति वाक्यालङ्कारे, तथा 'नेता' प्रणायको 'विशिष्टो' रूपबलवर्णादिभिः प्रधानः एवं भगवानपि सर्वेभ्यो विशिष्टः प्रणायको महानु[2]भावश्चेति ॥७॥ अपि च-'से प[3]ण्णया' इत्यादि, असौ भगवान् प्रज्ञायतेऽनयेति प्रज्ञा तया 'अक्षयः' न तस्य ज्ञातव्येऽर्थे बुद्धिः प्रतिक्षीयते प्रतिहन्यते वा, तस्य हि बुद्धिः केवलज्ञानाख्या, सा च [4]साद्यपर्यवसाना कालतो द्रव्यक्षेत्रभावैरप्यनन्ता, सर्वसाम्येन दृष्टान्ताभावाद्, एकदेशेन त्वाह-यथा 'सागर' इति, अस्य चाऽविशिष्टत्वात् विशेषणमाह-'महोदधिरिव' स्वयम्भूरमण इवानन्तपारः यथाऽसौ विस्तीर्णो गम्भीरजलोऽक्षोभ्यश्च, एवं तस्यापि भगवतो विस्तीर्णा प्रज्ञा स्वयम्भूरमणानन्तगुणा गम्भीराऽक्षोभ्या च, यथा च असौ सागरः 'अनाविलः' अकलुषजलः, एवं भगवानपि तथाविधकर्मलेशाभावादकलुषज्ञान इति, तथा-कषाया विद्यन्ते यस्यासौ कषायी न कषायी अकषायी, तथा ज्ञानावरणीयादिकर्मबन्धनाद्वियुक्तो मुक्तः, भिक्षुरिति क्वचित्पाठः, तस्यायमर्थः-सत्यपि निःशेषान्तरायक्षये सर्वलोकपूज्यत्वे च तथापि भिक्षामात्रजीवित्वात् भिक्षुरेवासौ, नाऽक्षीणमहान[5]सादिलब्धिमुपजीवतीति, तथा शक्र इव देवाधिपतिः 'द्युतिमान्' दीप्तिमानिति ॥८॥ किञ्च—

१ प्रणेतानेतेति आ. इ. । २ °भागश्चेति आ. । ३ पण्णसा आ इ. । सा ४ स्थित्यपेक्षया ज्ञेयापेक्षया तु द्रव्यादिवदनाद्यनन्तकालगोचरैव । ५ °दिकां ल° आ. इ. ।

से वीरिएणं पडिपुन्नवीरिए, सुदंसणे वा णगसव्वसेट्ठे ।
सुरालए वासि[1]मुदा[2]गरे से, विरायए णेगगुणोववेए ॥९॥
सयं सहस्साण उ जोयणाणं, [3]तिकंडगे पंडगवेजयंते ।
से [4]जोयणे णवणवते सहस्से, उद्धुस्सितो हेट्ठ सहस्समेगं ॥१०॥

'से वीरिएणं' इत्यादि, 'स' भगवान् 'वीर्येण' औरसेन बलेन धृतिसंहननादिभिश्च वीर्यान्तरायस्य निःशेषतः क्षयात् प्रतिपूर्णवीर्यः, तथा 'सुदर्शनो' मेरुर्जम्बूद्वीपनाभिभूतः स यथा नगानां–पर्वतानां सर्वेषां श्रेष्ठः–प्रधानः तथा भगवानपि वीर्येणान्यैश्च गुणैः सर्वश्रेष्ठ इति, तथा यथा 'सुरालयः' स्वर्गस्तन्निवासिनां 'मुदाकरो' हर्षजनकः प्रशस्तवर्णरसगन्धस्पर्शप्रभावादिभिर्गुणैरुपेतो 'विराजते' शोभते, एवं भगवानप्यनेकैर्गुणैरुपेतो विराजत इति, यदि वा–यथा त्रिदशालयो मुदाकरोऽनेकैर्गुणैरुपेतो विराजत इति एवमसावपि मेरुरिति ॥९॥ पुनरपि दृष्टान्तभूतमेरुवर्णनायाऽऽह–'सयं सहस्साण' इत्यादि, स मेरुर्योजनसहस्राणां शतमुच्चैस्त्वेन, तथा त्रीणि कण्डान्यस्येति त्रिकण्डः, तद्यथा–भौमं जाम्बूनदं वैडूर्यमिति, पुनरप्यसावेव विशेष्यते–'पण्डकवैजयन्त' इति, पण्डकवनं शिरसि व्यवस्थितं वैजयन्तीकल्पं–पताकाभूतं यस्य स तथा, तथाऽसावूर्ध्वमुच्छ्रितो नवनवतिर्योजनसहस्राण्यधोऽपि सहस्रमेकमवगाढ इति ॥१०॥ तथा—

सा० १ वादि° प्र° । २ वाविमुडागरे आ. वाविमुहागरे इ. । ३ तिगंडेसे आ. तिकडिसे इ. । ४ जोयणाणं आ. ।

पुट्ठे णभे चिट्ठइ भूमिवट्ठिए,[1] जं सूरिया अणुपरिवट्टयंति ।
से हेमवन्ने बहुनंदणे य, जंसी रतिं वेदयती महिंदा ॥११॥
से पव्वए सद्दमहप्पगासे, विरायती कंचणमट्ठवन्ने ।
अणुत्तरे गिरिसु य पव्वदुग्गे, गिरीवरे से जलिएव भोमे ॥१२॥

'पुट्ठे' णभे' इत्यादि, 'नभसि' 'स्पृष्टो' लग्नो नभो व्याप्य तिष्ठति तथा भूमिं चाऽवगाह्य स्थित इति ऊर्ध्वाऽधस्तिर्यक्लोकसंस्पर्शी,[2] यथा 'यं' मेरुं 'सूर्या' आदित्या ज्योतिष्का 'अनुपरिवर्त्तयन्ति' यस्य पार्श्वतो भ्रमन्तीत्यर्थः, तथाऽसौ 'हेमवर्णो' निष्टप्तजाम्बूनदाभः, तथा बहूनि चत्वारि नन्दनवनानि यस्य स बहुनन्दनवनः, तथाहि–भूमौ भद्रशालवनं ततः पञ्च योजनशतान्यारुह्य मेखलायां नन्दनं ततो द्विषष्टियोजनसहस्राणि पंचशताधिकान्यतिक्रम्य सौमनसं ततः षट्त्रिंशत्सहस्राण्यारुह्य शिखरे पण्डकवनमिति, तदेवमसौ चतुर्नन्दनवनाद्युपेतो विचित्रक्रीडास्थानसमन्वितः, यस्मिन् महेन्द्रा अप्यागत्य त्रिदशालयाद्रमणीयतरगुणेन 'रतिं' रमणक्रीडां 'वेदयन्ति' अनुभवन्तीति ॥११॥ अपि च–'से पव्वए' इत्यादि, सः–मेर्वाख्योऽयं पर्वतो मन्दरो मेरुः सुदर्शनः सुरगिरिरित्येवमादिभिः शब्दैर्महान् प्रकाशः–प्रसिद्धिर्यस्य स शब्दमहाप्रकाशो 'विराजते' शोभते, काञ्चनस्येव 'मृष्टः'[3] श्लक्ष्णः शुद्धो वा वर्णो यस्य स तथा, एवं न विद्यते उत्तरः–प्रधानो यस्यासावनुत्तरः, तथा गिरिषु च मध्ये पर्वभिः–मेखलादिभिर्[4]दंष्ट्रापर्वतैर्वा

१ °एठिए आ. °तेविते इ. । २ °स्पर्शीत्यर्थः आ. स्पर्श इत्यर्थः इ. । ३ म्रष्टः आ. इ. । ४ °लाभि° आ. इ. ।

'दुर्गो' विषमः सामान्यजन्तूनां दुरारोहो 'गिरिवरः' पर्वतप्रधानः, तथाऽसौ मणिभिरौषधीभिश्च[1] देदीप्यमानतया 'भौम इव' भूदेश इव ज्वलित इति ॥१२॥ किञ्च—

महीइ मज्झंमि ठिते णगिंदे, पन्नायते सूरियसुद्धलेसे ।
एवं सिरीए उ स भूरिवन्ने, मणोरमे जोयइ अच्चिमाली ॥१३॥
सुदंसणस्सेव जसो गिरिस्स, पवुच्चई महतो पव्वयस्स ।
एतोवमे समणे नायपुत्ते, जातीजसोदंसणनाणसीले ॥१४॥

'महीइ' इत्यादि, 'मह्यां' रत्नप्रभापृथिव्यां मध्यदेशे जम्बूद्वीपस्तस्यापि बहुमध्यदेशे सौमनसविद्युत्प्रभगन्धमादनमाल्यवन्तदंष्ट्रा-पर्वतचतुष्टयोपशोभितः समभूभागे दशसहस्रविस्तीर्णः शिरसि सहस्रमेकमधस्तादपि दश सहस्राणि नवति[2]योजनानि योजनैकादशभागै-र्दशभिरधिकानि विस्तीर्णः चत्वारिंशद्योजनोच्छ्रितचूडोपशोभितो 'नगेन्द्रः' पर्वतप्रधानो मेरुः प्रकर्षेण लोके ज्ञायते सूर्यवत्शुद्धलेश्यः—आदित्यसमानतेजाः, 'एवम्' अनन्तरोक्तप्रकारया श्रिया तुशब्दाद्विशिष्टतरया सः—मेरुः, 'भूरिवर्णः' अनेकवर्णो अनेकवर्णरत्नोपशोभि-तत्वात मनः—अन्तःकरणं रमयतीति मनोरमा[3] 'अर्चिमालीव' आदित्य इव स्वतेजसा द्योतयति दशापि दिशः प्रकाशयतीति ॥१३॥ साम्प्रतं मेरुदृष्टान्तोपक्षेपेण दार्ष्टान्तिकं दर्शयति—'सुदंसण' इत्यादि, एतदनन्तरोक्तं 'यशः' कीर्तनं सुदर्शनस्य मेरुगिरेः महापर्वतस्य

१ °षधिभिश्च आ. इ. । २ नवनवति आ. । ३ मनोरमो आ. इ. ।

प्रोच्यते, साम्प्रतमेतदेव भगवति दार्ष्टान्तिके योज्यते–एषा–अनन्तरोक्तोपमा यस्य स एतदुपमः, कोऽसौ?–श्राम्यतीति श्रमणस्तपोनिष्टप्तदेहो ज्ञाताः–क्षत्रियास्तेषां पुत्रः श्रीमन्महावीरवर्द्धमानस्वामीत्यर्थः, स च जात्या सर्वजातिमद्भ्यो यशसा अशेषयशस्विभ्यो दर्शनज्ञानाभ्यां सकलदर्शनज्ञानिभ्यः शीलेन समस्तशीलवद्भ्यः श्रेष्ठः–प्रधानः, अक्षरघटना तु जात्यादीनां कृतद्वन्द्वानामतिं[1]शायने [2]अर्शआदित्वादच्प्रत्ययविधानेन विधेयेति ॥१४॥ पुनरपि दृष्टान्तद्वारेणैव भगवतो वर्णनमाह—

गिरीवरे वा निसहाऽऽययाणं, रुयए व सेट्ठे वलयायताणं।
तओवमे से जगभूइपन्ने, मुणीण मज्झे तमुदाहु पन्ने ॥१५॥
अणुत्तरं धम्ममुईरइत्ता, अणुत्तरं झाणवरं झि[3]याइं।
सुसुक्कसुक्कं अपगंडसुक्कं, संखिंदु[4]एँगंतवदातसुक्कं ॥१६॥

'गिरिवरे' इत्यादि, यथा 'निषधो' गिरिवरो गिरीणामायतानां मध्ये जम्बूद्वीपे अन्येषु वा द्वीपेषु दैर्घ्येण 'श्रेष्ठः' प्रधानः तथा–वलयायतानां मध्ये रुचकः पर्वतोऽन्येभ्यो वलयायतत्वेन यथा प्रधानः, स हि रुचकद्वीपान्तर्वर्ती मानुषोत्तरपर्वत इव [5]वृत्तायतः सङ्ख्येययोजनानि परीक्षेपेणेति, तथा स भगवानपि तदुपमः यथा तावायतवृ[6]त्तताभ्यां श्रेष्ठौ एवं भगवानपि जगति–संसारे, भूतिप्रज्ञः–

१ शायने मत्वर्थीयो दर्शा° आ. । सा. २ मत्वर्थीयात् अच्प्र° प्र० । ३ भितादी आ. । ४ °वेगं आ. इ. । सा. ५ वृत्तायतोऽसं° प्र० नचैतद्युक्तं । ६ वृत्तत्वाभ्यां आ. ।

प्रभूतज्ञानः प्रज्ञया श्रेष्ठ इत्यर्थः, तथा अपरमुनीनां मध्ये प्रकर्षेण जानातीति प्रज्ञः एवं तत्स्वरूपविदः 'उदाहुः' उदाहृतवन्त उक्तवन्त इत्यर्थः ॥१५॥ किञ्चान्यत्–'अणुत्तर' इत्यादि, नास्योत्तरः–प्रधानोऽन्यो धर्मो विद्यते इत्यनुत्तरः तमेवम्भूतं धर्मं 'उत्' प्राबल्येन 'ईरयित्वा' कथयित्वा प्रकाश्य 'अनुत्तरं' प्रधानं 'ध्यानवरं' ध्यानश्रेष्ठं ध्यायति, तथाहि–उत्पन्नज्ञानो भगवान् योगनिरोधकाले सूक्ष्मं काययोगं निरुन्धन् शुक्लध्यानस्य तृतीयं भेदं सूक्ष्मक्रियमप्रतिपाताख्यं तथा निरुद्धयोगश्चतुर्थं शुक्लध्यानभेदं व्युपरतक्रियम-निवृ[1]त्ताख्यं ध्यायति, एतदेव दर्शयति–सुष्ठु शुक्लवत्शुक्लं ध्यानं तथा अपगतं गण्डम्–अपद्रव्यं यस्य तद[2]पगण्डं निर्दोषार्ज्जुनसुवर्ण-वत् शुक्लं यदि वा–अपगण्डम्–उदकफेनं तत्तुल्यमिति भावः । तथा शङ्खेन्दुवदेकान्तावदातं–शुभ्रं शुक्लं–शुक्लध्यानोत्तरं भेदद्वयं ध्याय-तीति ॥१६॥ अपि च—

अणुत्तरग्गं परमं महेसी, असेसकम्मं स विसोहइत्ता ।
सिद्धिं ग[3]ते साइमणंतपत्ते, नाणेण सीलेण य दंसणेण ॥१७॥
रुक्खेसु णाते जह [4]सामली वा, ज[5]स्सिं रतिं वेयय[6]ंती सुवन्ना ।
वणेसु वा णंदणमाहु सेट्ठं, नाणेण सीलेण य भूतिपन्ने ॥१८॥

'अणुत्तरग्गं' इत्यादि, तथाऽसौ भगवान् शैलेश्यवस्थापादितशुक्लध्यानचतुर्थभेदानन्तरं साद्यपर्यवसानां सिद्धिगतिं पञ्चमीं प्राप्तः,

१ °त्ताख्यं आ. । २ °पगतगण्डं आ. इ. । ३ गतिं आ. इ. । ४ कूडसामली आ. । ५ जंसी आ. इ. । ६ °यंती आ. ।

सिद्धिगतिमेव विशिनष्टि–अनुत्तरा चासौ सर्वोत्तमत्वादग्र्या च लोकाग्रव्यवस्थितत्वादनुत्तराग्र्या तां 'परमां' प्रधानां 'महर्षिः' असावत्यन्तोग्रतपोविशेषनिष्टप्तदेहत्वाद् अशेषं कर्म–ज्ञानावरणादिकं 'विशोध्य' अपनीय च विशिष्टेन ज्ञानेन दर्शनेन शीलेन च क्षायिकेण सिद्धिगतिं प्राप्त इति मीलनीयम् ॥१७॥ पुनरपि दृष्टान्तद्वारेण भगवतः स्तुतिमाह–'रुक्खेसु णाते' इत्यादि, वृक्षेषु मध्ये यथा 'ज्ञातः' प्रसिद्धो देवकुरुव्यवस्थितः शाल्मलीवृक्षः, स च भवनपतिक्रीडास्थानं, 'यत्र' व्यवस्थिता अन्यतश्चा[1]ऽऽगत्य 'सुपर्णा' भवनपतिविशेषा 'रतिं' रमणक्रीडां, 'वेदयन्ति' अनुभवन्ति, वनेषु च मध्ये यथा नन्दनं वनं देवानां क्रीडास्थानं प्रधानं एवं भगवानपि 'ज्ञानेन' केवलाऽऽख्येन समस्तपदार्थाऽऽविर्भावकेन 'शीलेन' च चारित्रेण–यथाख्यातेन 'श्रेष्ठः' प्रधानः 'भूतिप्रज्ञः' प्रवृद्धज्ञानो भगवानिति॥१८॥ अपि च—

थणियं व सद्दाण अणुत्तरे उ, चंदो व ताराण महाणुभावे ।
गंधेसु वा चंदणमाहु [2]सेट्ठं, एवं मुणीणं अपडिन्नमाहु ॥१९॥
जहा सयंभू उदहीण सेट्ठे, नागेसु वा धरणिंदमाहु सेट्ठे ।
खोओदए वा रस वेजयंते, तवोवहाणे मुणिवेजयंते ॥२०॥

'थणियं' इत्यादि, यथा शब्दानां मध्ये 'स्तनितं' मेघगर्जितं तद् 'अनुत्तरं' प्रधानं, तुशब्दो विशेषणार्थः समुच्चयार्थो वा, 'तारकाणां

१ °आगत्य आ । २ सेट्ठे आ. इ. ।

च' नक्षत्राणां मध्ये यथा चन्द्रो महानुभाव[2]: सकलजननिर्वृत्तिकारिण्या कान्त्या मनोरमः श्रेष्ठः[3], 'गन्धेषु' इति गुणगुणिनोरभेदात् मतुब्लोपाद्वा गन्धवत्सु[4] मध्ये यथा 'चन्दनं' गोशीर्षकाख्यं मलयजं वा तज्ज्ञाः श्रेष्ठमाहुः, एवं 'मुनीनां' महर्षीणां मध्ये भगवन्तं नाऽस्य प्रतिज्ञा इहलोकपरलोकाऽऽशंसिनी विद्यते इत्यप्रतिज्ञस्तमेवम्भूतं श्रेष्ठमाहुरिति ॥१९॥ अपि च–'जहा सयंभू' इत्यादि, स्वयं भवन्तीति स्वयम्भुवो–देवाः ते तत्राऽऽगत्य रमन्तीति स्वयम्भूरमणः तदेवम् 'उदधीनां' समुद्राणां मध्ये यथा स्वयम्भूरमणः समुद्रः समस्तद्वीपसागरपर्यन्तवर्ती 'श्रेष्ठः' प्रधानः 'नागेषु च' भवनपतिविशेषेषु मध्ये 'धरणेन्द्रं'[5] धरणं यथा श्रेष्ठमाहुः, तथा 'खोओदए' इति इक्षुरस इवोदकं यस्य स इक्षुरसोदकः स यथा रसमाश्रित्य 'वैजयन्तः' प्रधानः स्वगुणैरपरसमुद्राणां पताकेवोपरि व्यवस्थितः एवं 'तपउपधानेन' विशिष्टतपोविशेषेण मनुते जगतस्त्रिकालावस्थामिति 'मुनिः' भगवान् 'वैजयन्तः' प्रधानः, समस्तलोकस्य महातपसा वैजयन्तीवोपरि व्यवस्थित इति ॥२०॥

हत्थीसु एरावणमाहु णाए, सीहो[6] मिगाणं सलिलाण गंगा ।
पक्खीसु वा गरुले वेणुदेवो, निव्वाणवादीणिह णायपुत्ते ॥२१॥
जोहेसु णाए जह वीससेणे, पुप्फेसु वा जह अरविंदमाहु ।
खत्तीण सेट्ठे जह दंतवक्के, इसीण सेट्ठे तह वद्धमाणे ॥२२॥

---

१ ××××× मध्ये आ. । २ °भागः आ । ३ ×× ग° आ । ४ °वतां आ । ५ धरणं धरणेन्द्रं आ. धरणं धरणोरगेन्द्रं इ. । ६ सीहे आ. ।

'हत्थीसु' इत्यादि, 'हस्तिषु' करिवरेषु मध्ये यथा 'ऐरावणं' शक्रवाहनं 'ज्ञातं' प्रसिद्धं दृष्टान्तभूतं वा प्रधानमाहुस्तज्ज्ञाः, 'मृगाणां' च श्वापदानां मध्ये यथा 'सिंहः' केसरी प्रधानः तथा भरतक्षेत्राऽपेक्षया 'सलिलानां' मध्ये यथा गङ्गासलिलं प्रधानभावमनुभवति, 'पक्षिषु' मध्ये यथा गरुत्मान् वेणुदेवाऽपरनामा प्राधान्येन व्यवस्थितः, एवं निर्वाणं-सिद्धिक्षेत्राख्यं कर्मच्युतिलक्षणं वा स्वरूपतस्तदुपायप्राप्तिहेतुतो वा वदितुं शीलं येषां ते तथा तेषां मध्ये ज्ञाताः-क्षत्रियास्तेषां पुत्रः-अपत्यं ज्ञातपुत्रः-श्रीमन्महावीरवर्धमानस्वामी स प्रधान इति, यथाऽवस्थितनिर्वाणार्थवादित्वादित्यर्थः[१][२] ॥२१॥ अपि च-'जोहेसु' इत्यादि, योधेषु मध्ये 'ज्ञातो' विदितो दृष्टान्तभूतो वा विश्वा-हस्त्यश्वरथपदातिचतुरङ्गबलसमेता सेना यस्य स विश्वसेनः-चक्रवर्ती[३] यथाऽसौ प्रधानः, पुष्पेषु च मध्ये यथा अरविन्दं प्रधानमाहुः, तथा क्षतात् त्रायन्त इति क्षत्रियाः तेषां मध्ये दान्ता-उपशान्ता यस्य वाक्येनैव शत्रवः स दान्तवाक्यः-चक्रवर्ती यथाऽसौ श्रेष्ठः। तदेवं बहून् दृष्टान्तान् प्रशस्तान् प्रदर्श्याऽधुना भगवन्तं दार्ष्टान्तिकं स्वनामग्राहमाह-तथा ऋषीणां मध्ये श्रीमान् वर्धमानस्वामी श्रेष्ठ इति ॥२२॥ तथा—

दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं, सच्चेसु वा[४] अणवज्जं वयंति ।
तवेसु वा उत्तम बंभचेरं, लोगुत्तमे समणे नायपुत्ते ॥२३॥
ठिईण सेट्ठा लवसत्तमा वा, सभा सुहम्मा व सभाण सेट्ठा ।

१ °णत्वादित्कादित्यभिप्रायः आ. । सा. २ °त्यभिप्रायः प्र० । ३ चक्रवर्त्ती यदि वा विश्वसेनाख्योऽर्द्धचक्रवर्त्ती यथा° आ. । ४ या आ. इ. ।

निव्वाणसेट्ठा जह सव्वधम्मा, ण णायपुत्ता परमत्थि नाणी ॥२४॥

'दाणाण' इत्यादि, तथा स्वपराऽनुग्रहार्थमर्थिने दीयत इति दानमनेकधा, तेषां मध्ये जीवानां जीविताथिनां त्राणकारित्वादभयप्रदानं श्रेष्ठं, तदुक्तम्—"दीयते म्रियमाणस्य, कोटिं जीवितमेव वा। धनकोटिं न गृह्णीयात् , सर्वो जीवितुमिच्छति ॥१॥" इति,[1] गोपालाऽङ्गनादीनां दृष्टान्तद्वारेणार्थो बुद्धौ सुखेनाऽऽरोहतीत्यतः अभयप्रदानप्राधान्यख्यापनार्थं कथानकमिदं—वसन्तपुरे नगरे अरिदमनो नाम राजा, स च कदाचिच्चतुर्वधूसमेतो वातायनस्थः क्रीडायमानस्तिष्ठति, तेन कदाचिच्चौरो रक्तकणवीरकृतमुण्डमालो रक्तपरिधानो रक्तचन्दनोपलिप्तश्च प्रहतवध्यडिण्डिमो राजमार्गेण नीयमानः सपत्नीकेन दृष्टः, दृष्ट्वा च ताभिः पृष्टं—किमनेनाकारीति ?, तासामेकेन राजपुरुषेणाऽऽवेदितं यथा—परद्रव्यापहारेण राजविरुद्धमिति, [2]तत एकया राजा विज्ञप्तो यथा—यो भवता मम प्राग् वरः प्रतिपन्नः सोऽधुना दीयतां येनाहमस्योपकरोमि किञ्चित् , राज्ञाऽपि प्रतिपन्नं, ततस्तया स्नानादिपुरःसरमलङ्कारेणाऽलङ्कृतो दीनारसहस्रव्ययेन पञ्चविधान् शब्दादीन् विषयानेकमहः प्रापितः, पुनर्द्वितीययाऽपि तथैव द्वितीयमहो दीनारशतसहस्रव्ययेन लालितः, ततस्तृतीयया तृतीयमहो दीनारकोटिव्ययेन सत्कारितः, चतुर्थ्या तु राजानुमत्या मरणाद् रक्षितः अभयप्रदानेन, ततोऽसावन्याभिर्हसिता नास्य त्वया किञ्चिद्दत्तमिति, तदेवं तासां परस्परबहूपकारविषये विवादे राज्ञाऽसावेव चौरः समाहूय पृष्टो यथा केन तव बहूपकृतमिति, तेनाप्यभाणि यथा—न मया मरणमहाभयभीतेन किञ्चित् स्नानादिकं सुखं व्यज्ञायीति, अभयप्रदानाऽऽकर्णनेन पुनर्जन्मानमिवात्मानमवैमीति, अतः सर्वदानानामभयप्रदानं श्रेष्ठमिति स्थितम् । तथा सत्येषु च वाक्येषु यद् 'अनवद्यम्' अपापं परपीडानुत्पादकं तत् श्रेष्ठं वदन्ति, न

१ ×× गो° आ. इ. । २ तत्रैकया आ. तथा एकया इ ।

पुनः परपीडोत्पादकं सत्यं, सद्भ्यो हितं सत्यमितिकृत्वा, तथा चोक्तम्—"लोकेऽपि श्रूयते वादो, यथा सत्येन कौशिकः। पतितो वधयुक्तेन, नरके तीव्रवेदने ॥१॥" अन्यच्च—"तहेव काणं काणत्ति, पंडगं पंडगत्ति वा। वाहियं वावि रोगित्ति, तेणं चोरोत्ति नो वदे ॥१॥" तपस्सु[1] मध्ये यथैवोत्तमं नवविधब्रह्मगुप्त्युपेतं ब्रह्मचर्यं प्रधानं भवति तथा सर्वलोकोत्तमरूपसम्पदा—सर्वाऽतिशायिन्या शक्त्या क्षायिकज्ञानदर्शनाभ्यां शीलेन च 'ज्ञातपुत्रो' भगवान् श्रमणः प्रधान इति ॥२३॥ किञ्च—'ठिईण' इत्यादि, स्थितिमतां मध्ये यथा 'लवसत्तमाः' पञ्चानुत्तरविमानवासिनो देवाः सर्वोत्कृष्टस्थितिवर्तिनः प्रधानाः, यदि किल तेषां सप्त लवा आयुष्कमभविष्यत्, ततः सिद्धिगमनमभविष्यदित्यतो लवसत्तमास्तेऽभिधीयन्ते, 'सभानां च' पर्षदां च मध्ये यथा सौधर्माधिपपर्षच्छ्रेष्ठा बहुभिः क्रीडास्थानै-रुपेतत्वात् तथा यथा सर्वेऽपि धर्मा 'निर्वाणश्रेष्ठाः' मोक्षप्रधाना भवन्ति, कुप्रावचनिका अपि निर्वाणफलमेव स्वदर्शनं ब्रुवते यतः, एवं 'ज्ञातपुत्रात्' वीरवर्धमानस्वामिनः सर्वज्ञात् सकाशात् 'परं' प्रधानं अन्यद्विज्ञानं नास्ति, सर्वथैवं भगवानपरज्ञानिभ्योऽधिकज्ञानो भवतीति भावः ॥२४॥ किञ्चान्यत्—

पुढोवमे धुणइ विगयगेही, न सण्णिहिं कुव्वति आसुपन्ने।
तरिउं समुद्दं व महाभवोघं, अभयंकरे वीरे[3] अणंतचक्खू ॥२५॥
कोहं च माणं च तहेव मायं, लोभं चउत्थं अज्झत्थदोसा।

१ °स्सु च आ.। २ °वहि आ. इ.। ३ वीरे आ. इ.।

एआणि वंता अरहा महेसी, ण कुव्वई पाव[4] ण कारवेइ ॥२६॥

'पुढोवमे' इत्यादि, स हि भगवान् यथा पृथिवी सकलाऽऽधारा वर्तते तथा सर्वसत्त्वानामभयप्रदानतः सदुपदेशदानाद्वा सत्त्वाऽऽधार इति, यदि वा–यथा पृथ्वी सर्वसहा एवं भगवान्[3] परीषहोपसर्गान् सम्यक् सहत इति, तथा 'धुनाति' अपनयत्यष्टप्रकारं कर्मेति शेषः, तथा–'विगता' प्रलीना सबाह्याऽभ्यन्तरेषु वस्तुषु 'गृद्धिः' गार्द्ध्यमभिलाषो यस्य स विगतगृद्धिः, तथा सन्निधानं सन्निधिः, स[3] च द्रव्यसन्निधिः धनधान्यहिरण्यद्विपदचतुष्पदरूपः भावसन्निधिस्तु माया क्रोधादयो वा सामान्येन कषायास्तमुभयरूपमपि संनिधिं न करोति भगवान् , तथा 'आशुप्रज्ञः' सर्वत्र सदोपयोगात् न छद्मस्थवत् मनसा पर्यालोच्य पदार्थपरिच्छित्तिं विधत्ते; स एवम्भूतः तरित्वा समुद्रमिवापारं 'महाभवौघं' चतुर्गतिकं संसारसागरं बहुव्यसनाऽऽकुलं सर्वोत्तमं निर्वाणमासादितवान् , पुनरपि तमेव विशिनष्टि–'अभयं' प्राणिनां प्राणरक्षारूपं स्वतः परतश्च सदुपदेशदानात् करोतीत्यभयंकरः, तथाऽष्टप्रकारं कर्म विशेषेणेरयति–प्रेरयतीति वीरः, तथा 'अनन्तम्' अपर्यवसानं नित्यं ज्ञेयानन्तत्वात् वाऽनन्तं चक्षुरिव चक्षुः–केवलज्ञानं यस्य स तथेति ॥२५॥ किञ्चान्यत्–'कोहं च' इत्यादि, 'निदानोच्छेदेन हि निदानिन उच्छेदो भवती'ति न्यायात् संसारस्थितेश्च क्रोधादयः कषायाः कारणमत एतान् अध्यात्मदोषांश्चतुरोऽपि क्रोधादीन् कषायान् 'वान्त्वा' परित्यज्य असौ भगवान् 'अर्हन्' तीर्थकृत् जातः, तथा महर्षिः[3]; एवं परमार्थतो महर्षित्वं भवति यद्यध्यात्मदोषा न भवन्ति, नान्यथेति, तथा न स्वतः 'पापं' सावद्यमनुष्ठानं करोति नाप्यन्यैः कारयतीति ॥२६॥ किञ्चान्यत्—

किरियाकिरियं वेणइयाणुवायं, अण्णाणियाणं पडियच्च ठाणं ।

---

४ पावं आ. इ. ३ ×××××× धन° आ. इ. । २ °नपि आ. इ. । ३ °पिश्चैवं च पर° आ. इ. ।

से सव्ववायं इति वेयइत्ता, उवट्ठिए संजमदीहरायं ॥२७॥
से वारिया इत्थी सराइभत्तं, उवहाणवं दुक्खखयट्ठयाए ।
लोगं विदित्ता आरं परं च, सव्वं पभू वारिय सव्ववारं ॥२८॥
सोच्चा य धम्मं अरहंतभासियं, समाहितं अट्ठपदोवसुद्धं ।
तं सद्दहाणा[1] य जणा अणाऊ, इंदा व देवाहिव आगमिस्संति[2] ॥२९॥
त्तिबेमि (गाथाग्रं० ३९०) इति श्री वीरत्थुतीनाम छट्ठमज्झयणं समत्तं ॥

'किरिया'इत्यादि, तथा स भगवान् क्रियावादिनामक्रियावादिनां वैनयिकानामज्ञानिकानां च 'स्थानं' पक्षमभ्युपगतमित्यर्थः, यदि वा-स्थीयतेऽस्मिन्निति स्थानं-दुर्गतिगमनादिकं 'प्रतीत्य' परिच्छिद्य सम्यगवबुध्येत्यर्थः, एतेषां च स्वरूपमुत्तरत्र न्यक्षेण व्याख्यास्यामः, लेशतस्त्विदं-क्रियैव परलोकसाधनायाऽलमित्येवं वदितुं शीलं येषां ते क्रियावादिनः, तेषां हि दीक्षात एव क्रियारूपायाँ[3] मोक्ष इत्येवमभ्युपगमः, अक्रियावादिनस्तु ज्ञानवादिनः, तेषां हि यथावस्थितवस्तुपरिज्ञानादेव मोक्षः, तथा चोक्तम्-"पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो, यत्र तत्राऽऽश्रमे रतः। शिखी मुण्डी जटी वापि, सिद्ध्यते नाऽत्र संशयः[4] ॥२॥" तथा विनयादेव मोक्ष इत्येवं गोशालकमतानुसारिणो विनयेन

१ °हंता आ. इ. । २ °मिस्संत्ति बेमि महावीरत्थतो सम्मत्तो ।छ। षष्टमध्ययनं समाप्तं । आगमेसत्ति बेमि ।६। छ । ३ °यापि आ. । ४ °य इति आ. ।

चरन्तीति वैनयिका व्यवस्थिताः, तथाऽज्ञानमेवैहिकामुष्मिकायालमित्येवमज्ञानिका व्यवस्थिताः, इत्येवंरूपं तेषामभ्युपगमं परिच्छिद्य-स्वतः [1]सम्यगवगम्य सम्यगवबोधेन, तथा स एव वीरवर्धमानस्वामी सर्वमन्यमपि बौद्धादिकं यं कञ्चन वादमपरान् सत्त्वान् यथावस्थिततत्त्वोपदेशेन 'वेदयित्वा' परिज्ञाप्योपस्थितः सम्यगुत्थानेन संयमे व्यवस्थितो न तु यथा अन्ये, तदुक्तम्-"यथा परेषां [2]कथका विदग्धाः, शास्त्राणि कृत्वा लघुतामुपेताः। शिष्यैरनुज्ञामलिनोपचारैर्वक्तृत्वदोषास्त्वयि ते न सन्ति ॥१॥" [3]इति, 'दीर्घरात्रम्' इति यावज्जीवं संयमोत्थानेनोत्थित इति ॥२७॥ अपि च-'से वारिया' इत्यादि, स भगवान् वारयित्वा-प्रतिषिध्य किं तदित्याह-'स्त्रियम्' इति स्त्रीपरिभोगं मैथुनमित्यर्थः, सह रात्रिभक्तेन वर्तत इति सरात्रिभक्तं, उपलक्षणार्थत्वादस्यान्यदपि प्राणातिपातनिषेधादिकं द्रष्टव्यं, तथा उपधानं तपस्तद्विद्यते यस्यासौ उपधानवान्-तपोनिष्टप्तदेहः, किमर्थमिति दर्शयति-दुःखयतीति दुःखम्- अष्टप्रकारं कर्म तस्य क्षयः-अपगमस्तदर्थं, किञ्च-लोकं विदित्वा 'आरम्' इहलोकाख्यं '[4]परं' परलोकाख्यं यदि वा-आरं-मनुष्यलोकं पारमिति-नारकादिकं स्वरूपतस्तत्प्राप्तिहेतुतश्च विदित्वा सर्वमेतत् 'प्रभुः' भगवान् 'सर्ववारं' बहुशो निवारितवान्, एतदुक्तं भवति प्राणातिपातनिषेधादिकं स्वतोऽनुष्ठाय परांश्च स्थापितवान्, न हि स्वतोऽस्थितः परांश्च स्थापयितुमलमित्यर्थः, तदुक्तम्-"ब्रुवाणोऽपि न्याय्यं स्ववचनविरुद्धं व्यवहरन्, परान्नालं कश्चिद्दमयितुमदान्तः स्वयमिति। भवान्निश्चित्यैवं मनसि जगदाधाय सकलं, स्वमात्मानं तावद्दमयितुमदान्तं व्यवसितः ॥१॥" इति, तथा-"[5]तित्थयरो चउनाणी सुरमहिओ सिज्झियव्वयधूयंमि। अणिगूहियबलवि[6]रिओ सव्वत्थामेसु उज्जमइ ॥१॥ इत्यादि"

---

१ ×××××× स° आ. । २ कथिका आ. इ. । ३ ×× दी° आ. इ. । ४ पारं आ. इ. । सा० ५ तीर्थङ्करश्चतुर्थज्ञानी सुरमहीतः सेधयितव्ये ध्रुवे, अनिगूहितबलवीर्यः सर्वस्थाम्नोद्यच्छति ॥१॥ ६ विउ आ. । विरिआ इ. ।

॥२८॥ साम्प्रतं सुधर्मस्वामी तीर्थकरगुणानाख्याय स्वशिष्यानाह–'सोच्चा य' इत्यादि, श्रुत्वा च दुर्गतिधारणात् धर्मं–श्रुतचारित्राख्य-मर्हद्भिर्भाषितं–सम्यगाख्यातमर्थपदानि–युक्तयो हेतवो वा तैरुपशुद्धम्–अवदातं सद्युक्तिकं सद्धेतुकं वा यदि वा अर्थैः–अभिधेयैः पदैश्च–वाचकैः शब्दैः उप–सामीप्येन शुद्धं–निर्दोषं, तमेवम्भूतमर्हद्भिर्भाषितं धर्मं श्रद्दधानाः, तथाऽनुतिष्ठन्तो 'जना' लोका 'अनायुषः' अप-गतायुःकर्माणः सन्तः सिद्धाः, सायुषश्चेन्द्राद्या देवाधिपा आगमिष्यन्तीति[1]। इतिशब्दः परिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥२९॥ इति वीरस्तवाख्यं षष्ठमध्ययनं परिसमाप्तमिति ॥[2]

अथ सप्तममध्ययनं प्रारभ्यते ।

उक्तं षष्ठमध्ययनं, साम्प्रतं सप्तममारभ्यते, अस्य चाऽयमभिसम्बन्धः, इहाऽनन्तराध्ययने महावीरस्य गुणोत्कीर्त्तनतः सुशील-परिभाषा कृता, तदनन्तरं तद्विपर्यस्ताः कुशीलाः परिभाष्यन्ते, तदनेन सम्बन्धेनाऽऽयातस्यास्याऽध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि व्यावर्णनीयानि, तत्राप्युपक्रमाऽन्तर्गतोऽर्थाधिकारोऽयं, तद्यथा–कुशीलाः–परतीर्थिकाः पार्श्वस्थादयो वा स्वयूथ्या अशीलाश्च गृहस्थाः

१ °ति भविष्यन्ति आ. । २ ग्रंथशत ३५० ग्रंथाग्रं ३०० ।

परि–समन्तात् भाष्यन्ते–प्रतिपाद्यन्ते तदनुष्ठानतस्तद्विपाकदुर्गतिगमनतश्च निरूप्यन्त इति तथा तद्विपर्ययेण क्वचित्सुशीलाश्चेति, निक्षेपस्त्रिधा–ओघनामसूत्रालापकभेदात्, तत्रौघनिष्पन्ननिक्षेपेऽध्ययनं, नामनिष्पन्ने कुशीलपरिभाषेति, एतदधिकृत्य निर्युक्तिकृदाह—

सीले[1] चउक्क दव्वे[2] पाउरणाभरणभोयणादीसु । भावे उ ओहसीलं अभिक्खमासेवणा चेव ॥८६॥

'सीले चउक्क[3]' इत्यादि, 'शीले' शीलविषये निक्षेपे क्रियमाणे 'चतुष्क'मिति नामादिश्चतुर्धा निक्षेपः, तत्राऽपि नामस्थापने क्षुण्णत्वादनादृत्य 'द्रव्यम्' इति द्रव्यशीलं प्रावरणाऽऽभरणभोजनादिषु द्रष्टव्यं, अस्यायमर्थः–यो हि फलनिरपेक्षस्तत्स्वभावादेव क्रियासु प्रवर्तते स तच्छीलः, तत्रेह प्रावरणशील इति प्रावरणप्रयोजनाभावेऽपि ताच्छील्यात् नित्यं प्रावरणस्वभावः प्रावरणे वा दत्तावधानः, एवमाभरणभोजनादिष्वपि द्रष्टव्यमिति, यो वा यस्य द्रव्यस्य चेतनाऽचेतनादेः स्वभावस्तद् द्रव्यशीलमित्युच्यते, भावशीलं तु द्विधा–ओघशीलमाभीक्ष्ण्यसेवनाशीलं चेति । तत्रौघशीलं व्याचिख्यासुराह—

ओहे सीलं विरती विरयाविरई य अविरती असीलं । धम्मे णाणतवादी अपसत्थ अहम्मकोवादी[4] ॥८७॥

'ओहे' इत्यादि, तत्रौघः–सामान्यं सामान्येन सावद्ययोगविरतो विरताऽविरतो वा शीलवान् भण्यते, तद्विपर्यस्तोऽशीलवानिति, आभीक्ष्ण्यसेवायां[5] तु–अनवरतसेवनायां तु[6] शीलमिदं, तद्यथा–'धर्मे' धर्मविषये प्रशस्तं शीलं यदुतानवरतापूर्वज्ञानार्जनं विशिष्टतपःकरणं वा, आदिग्रहणादनवरताभिग्रहग्रहणादिकं परिगृह्यते, अप्रशस्तभावशीलं त्वधर्मप्रवृत्तिर्बाह्या आन्तरा तु क्रोधादिषु प्रवृत्तिः, आदिग्रहणात् शेषकषायाश्चौर्याभ्याख्यानकलहादयः परिगृह्यन्त इति[7] । साम्प्रतं कुशीलपरिभाषाख्यस्याध्ययनस्यान्वर्थतां दर्शयितुमाह—

१ सील अ. आ. । २ दव्वं अ. । ३ चउक्कं आ.इ. । ४ धम्मकोहाई अ.आ. । ५ °सेवनायां आ. । ६ पुनः शीलमिदं आ. तु शीलमिति इ. । ७ इति स्थितं आ. ।

परिभासिया कुसीला य एत्थ जावंति अविरता केई। सुत्ति पसंसा सुद्धो[1] कुत्ति दुगुंछा अपरिसुद्धो ॥८८॥

'परिभासिया' इत्यादि, परि–समन्तात् भाषिताः–प्रतिपादिताः 'कुशीलाः' कुत्सितशीलाः परतीर्थिकाः पार्श्वस्थादयश्च चशब्दात् यावन्तः केचनाविरता अस्मिन्नित्यत इदमध्ययनं कुशीलपरिभाषेत्युच्यते, किमिति कुशीला[3] अशुद्धा गृह्यन्ते इत्याह–सुरित्ययं निपातः प्रशंसायां शुद्धविषये वर्तते, तद्यथा–सौराज्यमित्यादि, तथा कुरित्ययमपि निपातो जुगुप्सायामशुद्धविषये वर्तते, कुतीर्थं कुग्राम इत्यादि। यदि कुत्सितशीलाः कुशीलाः, कथं तर्हि ? परतीर्थिकाः पार्श्वस्थादयश्च तथाविधा भवन्तीत्याह—

अफासुयपडिसेविय णामं भुज्जो य सीलवादी य। फासुं वयंति सीलं अफासुया[4] मो अभुंजंता ॥८९॥

'अफासुय' इत्यादि, अस्त्ययं शीलशब्दस्तत्स्वाभाव्ये, तथाहि–यः फलनिरपेक्षः क्रियास्वाभरणादिकासु प्रवर्तते स चेह द्रव्यशीलत्वेन प्रदर्शितः, अस्त्युपशमप्रधाने चारित्रे, तथाहि–तत्प्रधानः शीलवानयं तपस्वीति, तद्विपर्ययेण दुःशील इति, स चेह भावशीलग्रहणेनोपात्त इति, इह च यतीनां ध्यानाध्ययनादिकं मुक्त्वा धर्माधारशरीरतत्पालनाहारव्यापारं च मुक्त्वा नापरः कश्चिद्व्यापारोऽस्तीत्यतस्तदाश्रयणेनैव सुशीलत्वं दुःशीलत्वं च चिन्त्यते, तत्र कुतीर्थिकः पार्श्वस्थादिर्वा अप्रासुकं–सचित्तं प्रतिसेवितुं शीलमस्य स भवत्यप्रासुकप्रतिसेवी नामशब्दः सम्भावनायां 'भूयः' पुनर्धार्ष्ट्याच्छीलवन्तमात्मानं वदितुं शीलं यस्य स शीलवादी, किमित्येवं ?–यतः 'प्रासुकम्' अचेतनं शीलं वदन्ति, इदमुक्तं भवति–यः प्रासुकमुद्गमादिदोषरहितमाहारं भुङ्क्ते तं शीलवन्तं वदन्ति तज्ज्ञाः, तथाहि–यतयो प्रासुकमुद्गमादिदोषदुष्टमेवाहारमभुञ्जानाः शीलवन्तो भण्यन्ते, नेतर इति स्थितं, मोशब्दस्य निपातत्वेनावधारणार्थत्वादिति।

१ सुद्धे अ. आ.। २ सुद्धे अ. आ.। ३ °ला कुत्सिता शीला अशुद्धा° आ. इ.। ४ °सुग भा. इ.।

अप्रासुकभोजित्वेन कुशीलत्वं प्रतिपादयितुं दृष्टान्तमाह—

जह णाम गोयमा चंडीदेवगा वारिभद्दगा चेव । जे अग्गिहोत्तवादी जलसोयं जे य इच्छंति ॥९०॥[1]

'जह णाम' इत्यादि, यथेति दृष्टान्तोपक्षेपार्थं, नामशब्दो वाक्यालङ्कारे, '[2]गौतमा' इति गोव्रतिका गृहीतशिक्षं लघुकायं वृषभमुपादाय धान्याद्यर्थं प्रतिगृहमटन्ति, तथा 'चंडीदे[3]वगा' इति चक्र[4]धरप्रायाः एवं 'वारिभद्रका' अब्भक्षाः शैवलाशिनो नित्यं स्नानपादादिधावनाभिरता वा तथा ये चान्ये 'अग्निहोत्रवादिनः' अग्निहोत्रादेव स्वर्गगमनमिच्छन्ति ये चान्ये जलशौचमिच्छन्ति भागवतादयस्ते सर्वेऽप्यप्रासुकाहारभोजित्वात् कुशीला इति, चशब्दात् ये च स्वयूथ्याः पार्श्वस्थादय उद्गमाद्यशुद्धमाहारं भुञ्जते तेऽपि कुशीला इति। गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, साम्प्रतं सूत्रालापकनिष्पन्ने निक्षेपे अस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदं—

पुढवी य आऊ अगणी य वाऊ, तण रुक्ख बीया य तसा य पाणा ।
जे अंडया जे य जराउ पाणा, संसेयया जे रसयाभिहाणा ॥१॥
एयाइं कायाइं पवेदिताइं, एतेसु जाणे पडिलेह सायं ।
[5]एतेण काएण य आयदंडे, [6]एतेसु या विप्परियासुविंति ॥२॥

'पुढवी य' इत्यादि, 'पृथिवी' पृथिवीकायिकाः सत्त्वाः चकारः स्वगतभेदसंसूचनार्थः, स चायं भेदः—पृथिवीकायिकाः सूक्ष्मा बाद-

१ कुसील परिभासा अ. आ. । २ गोतमा आ. इ. । ३ °वयंति आ. इ. । ४ °वर° आ. इ. । ५ एतेहिं कायेहि य° आ. एतेहिं य काएहि य° इ. । ६ आसु इ. ।

राश्च, ते च प्रत्येकं पर्याप्तकापर्याप्तकभेदेन द्विधा, एवमप्कायिका अपि तथाऽग्निकायिका वायुकायिकाश्च द्रष्टव्याः, वनस्पतिकायिकान्[1] भेदेन दर्शयति–'तृणानि' कुशादीनि 'वृक्षाश्च' अश्वत्थादयो 'बीजानि' शाल्यादीनि एवं वल्लीगुल्मादयोऽपि वनस्पतिभेदा द्रष्टव्याः, त्रस्यन्तीति 'त्रसा' द्वीन्द्रियादयः 'प्राणाः' प्राणिनः ये चाण्डाज्जाता अण्डज्जाः–शकुनिसरीसृपादयः 'ये च जरायुजा' जम्बालवेष्टिताः समुत्पद्यन्ते, ते च गोमहिष्यजाविकमनुष्यादयः, तथा संस्वेदाज्जाताः संस्वेदजा यूकामत्कुणकृम्यादयः 'ये च रसजाभिधाना' दधिसौवीरकादिषु रूतपक्ष्मसन्निभा इति ॥१॥ नानाभेदभिन्नं जीवसंघातं प्रदर्श्याधुना तदुपघाते दोषं प्रदर्शयितुमाह–'एयाइं' इत्यादि, 'एते' पृथिव्यादयः 'काया' जीवनिकाया भगवद्भिः 'प्रवेदिताः' कथिताः, छान्दसत्वात् नपुंसकलिङ्गता, 'एतेषु' च पूर्वं प्रतिपादितेषु पृथिवीकायादिषु प्राणिषु 'सातं' सुखं जानीहि, एतदुक्तं भवति–सर्वेऽपि सत्त्वाः सातैषिणो दुःखद्विषश्चेति ज्ञात्वा 'प्रत्युपेक्षस्व' कुशाग्रीयया बुद्ध्या पर्यालोचयेति, यथैभिः कायैः समारभ्यमाणैः पीड्यमानैरात्मा दण्ड्यते, एतत्समारम्भादात्मदण्डो भवतीत्यर्थः, अथवैभिरेव कायैर्ये 'आयतदण्डा' दीर्घदण्डाः, एतदुक्तं भवति–एतान् कायान् ये दीर्घकालं दण्डयन्ति–पीडयन्तीति, तेषां यद्भवति तद्दर्शयति–ते एतेष्वेव–पृथिव्यादिकायेषु विविधम्–अनेकप्रकारं परि–समन्ताद् आशु–क्षिप्रमुपसामीप्येन यान्ति–व्रजन्ति, तेष्वेव पृथिव्यादिकायेषु [2]विविधमनेकप्रकारं भूयो भूयः समुत्पद्यन्त इत्यर्थः, यदि वा–विपर्यासो–व्यत्ययः, सुखार्थिभिः कायसमारम्भः क्रियते तत्समारम्भेण च दुःखमेवावाप्यते न सुखमिति, यदि वा कुतीर्थिका मोक्षार्थमेतैः कायैर्या क्रियां कुर्वन्ति तया संसार एव भवतीति ॥२॥ यथा चाऽऽसावायतदण्डो मोक्षार्थी तान् कायान् समारभ्य तद्विपर्ययात् संसारमाप्नोति तथा दर्शयति—

१ °कांस्तु मे° आ. कांश्च मे° इ.। २ ×××××××××भूयो आ. इ.।

जाईपहं अणुपरिवट्टमाणे, तसथावरेहिं विणिघायमेति ।
से जाति जातिं बहुकूरकम्मे, जं कुव्वती मिज्जति तेण बाले ॥३॥
अस्सिं च लोए अदुवा परत्था, सयग्गसो वा तह अन्नहा वा ।
संसारमावन्न परं परं ते, बंधंति वेदंति य दुन्नियाणि ॥४॥

'जाईपहं' इत्यादि, जातीनाम्–एकेन्द्रियादीनां पन्था जातिपथः, यदि वा–जातिः–उत्पत्तिर्वधो–मरणं जातिश्च वधश्च जातिवधं तद् 'अनुपरिवर्तमानः' एकेन्द्रियादिषु पर्यटन् जन्मजरामरणानि वा बहुशोऽनुभवन् 'त्रसेषु' तेजोवायुद्वीन्द्रियादिषु 'स्थावरेषु' च पृथिव्यम्बुवनस्पतिषु समुत्पन्नः सन् कायदण्डविपाकजेन कर्मणा बहुशो 'विनिघातं' विनाशमेति–अवाप्नोति 'स' आयतदण्डोऽसुमान् 'जातिं जातिम्' उत्पत्तिमुत्पत्तिमवाप्य बहूनि क्रूराणि–दारुणान्यनुष्ठानानि यस्य स भवति बहुक्रूरकर्मा, स एवम्भूतो निर्विवेकः सदसद्विवेकशून्यत्वात् बाल इव बालो यस्यामेकेन्द्रियादिकायां जातौ यत्प्राण्युपमर्दकारि कर्म कुरुते स तेनैव कर्मणा 'मीयते' भ्रियते पूर्यते, यदि वा 'मीङ्'–हिंसायां, मीयते–हिंस्यते; अथवा–बहुक्रूरकर्मेति चौरोऽयं पारदारिक इति वा इत्येवं तेनैव कर्मणा मीयते–परिच्छिद्यत इति ॥ ॥३॥ क्व पुनरसौ तैः कर्मभिर्मीयते इति दर्शयति–'अस्सिं च' इत्यादि, यान्याशुकारीणि कर्माणि तान्यस्मिन्नेव जन्मनि विपाकं ददति, अथवा परस्मिन् जन्मनि नरकादौ तस्य कर्म विपाकं ददाति, एकस्मिन्नेव जन्मनि विपाकं तीव्रं ददति 'शताग्रशो वे'ति बहुषु जन्मसु,

१ °वहं आ. वधं इ. । २ददेक° आ. ।

येनैव प्रकारेण तदशुभमाचरन्ति[1] तथैवोदीर्यते तथा–अन्यथा वेति, इदमुक्तं भवति–किञ्चित्कर्म तद्भव एव विपाकं ददाति किञ्चिच्च जन्मान्तरे, यथा–मृगापुत्रस्य दुःखविपाकाख्ये विपाकश्रुताङ्गश्रुतस्कन्धे कथितमिति, दीर्घकालस्थितिकं त्वपर[2]जन्मान्तरितं वेद्यते, येन प्रकारेण सकृत्तथैवानेकशो वा, यदि वाऽन्येन प्रकारेण सकृत्सहस्रशो वा शिरश्छेदादिकं हस्तपादच्छेदादिकं[3] चानुभूयत इति, तदेवं ते कुशीला आयतदण्डाश्चतुर्गतिकसंसारमापन्ना अरहट्टघटीयन्त्रन्यायेन संसारं पर्यटन्तः 'परं परं' प्रकृष्टं प्रकृष्टं दुःखमनुभवन्ति, जन्मान्तरकृतं कर्मानुभवन्तश्चैकमार्तध्यानोपहता अपरं बध्नन्ति वेदयन्ति च, दुष्टं नीतानि दुर्नीतानि–दुष्कृतानि, न हि स्वकृतस्य कर्मणो विनाशोऽस्तीतिभावः, तदुक्तम्–"मा[4] होहि रे विसन्नो जीव! तुमं विमणदुम्मणो दीणो। णहु चिंतिएण फिट्टइ तं दुक्खं जं पुरा रइयं ॥१॥ जइ पविससि पायालं अडविं व दरिं गुहं समुद्दं वा। पुव्वकयाउ न चुक्कसि अप्पाणं घायसे जइवि ॥२॥" ॥४॥ एवं तावदोघतः कुशीलाः प्रतिपादिताः, तदधुना पाषण्डिकानधिकृत्याह—

जे मायरं वा[5] पियरं च हिच्चा, समणव्वए अगणिं समारभिज्जा।
अहाहु से लोए कुसीलधम्मे, भूताइं जे हिंसति आयसाते ॥५॥
उज्जालओ पाण[6] निवातएज्जा, निव्वावओ अगणि निवायवेज्जा।

१ °चरितं आ.। २ चापर° आ.। ३ °दिनानु° आ.। सा. ४ मा भव रे विषण्णो जीव! त्वं विमना दुर्मना दीनः। नैव चिन्तितेन स्फेटते तद्दुःखं यत्पुरा रचितं ॥१॥ यदि प्रविशसि पातालं अटवीं वा दरीं गुहां समुद्रं वा। पूर्वकृतान्नैव भ्रश्यसि आत्मानं घातयसि यद्यपि ॥१॥ ५ च. आ.। ६ पाणेति इ.।

तम्हा उ[1] मेहावि समिक्ख धम्मं, ण पंडिए अगणि समारभिज्जा ॥६॥

'जे मायरं वा' इत्यादि, 'ये' केचनाविदितपरमार्था धर्मार्थमुत्थिता मातरं पितरं च त्यक्त्वा, मातापित्रोर्दुस्त्यजत्वात् तदुपादानमन्यथा भ्रातृपुत्रादिकमपि त्यक्त्वेति द्रष्टव्यं, श्रमणव्रते किल वयं समुपस्थिता इत्येवमभ्युपगम्याग्निकायं समारभन्ते, पचनपाचनादिप्रकारेण कृतकारितानुमत्यौद्देशिकादिपरिभोगाच्चाग्निकायसमारम्भं कुर्युरित्यर्थः, अथेति वाक्योपन्यासार्थः, 'आहु'रिति तीर्थकृद्गणधरादय एवमुक्तवन्तः यथा सोऽयं पाषण्डिको लोको गृहस्थलोको वाऽग्निकायसमारम्भात् कुशीलः—कुत्सितशीलो धर्मो यस्य स कुशीलधर्मा, अयं किम्भूत इति दर्शयति—अभूवन् भवन्ति भविष्यन्तीति[3] भूतानि—प्राणिनस्तान्यात्मसुखार्थं[4] 'हिनस्ति' व्यापादयति, तथाहि—पञ्चाग्नितपसा निष्टप्तदेहास्तथाऽग्निहोत्रादिक्रिया च क्रियया पापण्डिकाः स्वर्गावाप्तिमिच्छन्तीति, तथा लौकिकाः पचनपाचनादिप्रकारेणाग्निकायं समारभमाणाः सुखमभिलषन्तीति ॥५॥ अग्निकायसमारम्भे[4] च यथा प्राणातिपातो भवति तथा दर्शयितुमाह—'उज्जालओ' इत्यादि, तपनतापनप्रकाशादिहेतुं काष्ठादिसमारम्भेण योऽग्निकायं समारभते सोऽग्निकायमपरांश्च पृथिव्याद्याश्रितान् स्थावरांस्त्रसांश्च प्राणिनो[5] निपातयेत्, त्रिभ्यो वा मनोवाक्कायेभ्य आयुर्वलेन्द्रियेभ्यो वा पातयेन्निपातयेत् (त्रिपातयेत्), तथाऽग्निकायमुदकादिना 'निर्वापयन्' विध्यापयंस्तदाश्रितानन्यांश्च प्राणिनो[6] निपातयेत्रिपातयेद्वा तत्रोज्ज्वालकनिर्वापकयोर्योऽग्निकायमुज्ज्वलयति स बहूनामन्यकायानां समारम्भकः, तथा चाऽऽगमः—"दो भंते ! पुरिसा अन्नमन्नेण सद्धिं अगणिकायं समारभंति, तत्थ णं एगे पुरिसे अगणिकायं उज्जालेइ एगे णं पुरिसे अगणिकायं निव्ववेइ, तेसिं भंते ! पुरिसाणं कयरे पुरिसे महाकम्मतराए कयरे वा पुरिसे अप्पकम्मतराए ?,

१ °दुवे वावि° आ. । २ यः आ. . । ३ न्ति च. आ. । ४ च XX आ. । ५ °नोऽतिपा° आ. । ६ °नोऽपात° आ. ।

गोयमा ! तत्थ णं जे पुरिसे अगणिकायं उज्जालेइ से णं पुरिसे बहुतरागं पुढविकायं समारंभति, एवं आउकायं वाउकायं वणस्सइकायं तसकायं अप्पतरागं अगणिकायं समारभइ, तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं निव्वावेइ से णं पुरिसे अप्पतरागं पुढविकायं समारभइ जाव अप्पतरागं तसकायं समारभइ बहुतरागं अगणिकायं समारभइ, से एतेणं अट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ"। अपि चोक्तम्—"भूयाणं एसमाघाओ, हव्ववाहो ण संसओ" इत्यादि। यस्मादेवं तस्मात् 'मेधावी' सदसद्विवेकः सश्रुतिकः समीक्ष्य धर्मं पापाड्डीनः पण्डितो नाऽग्निकायं समारंभते, स एव च परमार्थतः पण्डितो योऽग्निकायसमारम्भकृतात् पापात् निवर्तत इति ॥६॥ कथमग्निकायसमारम्भेणाऽपरप्राणिवधो भवतीत्याशङ्क्याह—

पुढवीवि जीवा आऊवि जीवा, पाणा यँ संपाइम संपयंति ।
संसेयया कट्ठसमस्सिया य, एते दहे अगणि समारभंते ॥७॥
हरियाणि भूताणि विलंबगाणि, आहार देहा यँ पुढो सियाई
जे छिंदती आयसुहं पडुच्च, पागब्भि पाणे बहुणं तिवाती ॥८॥

१ °रंभइ आ.। २ °निव्व° आ. इ.। सा. ३ भूतानामेष आघातो हव्यवाहो न संशयः। ४ °रमेत आ.। ५ °णाति इ.। ६ °हाई इ.।

जातिं च वुड्ढिं च विणासयंते, बीयाइ अस्संजय आयदंडे ।
अहाहु से लोएँ अणज्जधम्मे, बीयाइ जे हिंसति आयसाते ॥९॥
गब्भाइ मिज्जंति बुयाबुयाणा, णरा परे पंचसिहा कुमारा ।
जुवाणगा मज्झिम थेरगा[2] य, (पाठांतरे पोरुसा य) चयंति ते आउखए पलीणा ॥१०॥

'पुढवी' इत्यादि, न केवलं पृथिव्याश्रिता द्वीन्द्रियादयो जीवा यापि च पृथ्वी–मृल्लक्षणा असावपि जीवाः, तथा आपश्च–द्रवल-
॥८॥ क्षणा जीवास्तदाश्रिताश्च प्राणाः 'सम्पातिमाः' शलभादयस्तत्र सम्पतन्ति, तथा 'संस्वेदजाः, करीषादिष्विन्धनेषु घुणपिपीलिकाकृम्या-
दयः काष्ठाद्याश्रिताश्च ये केचन 'एतान्' स्थावरजङ्गमान् प्राणिनः स दहेद् योऽग्निकायं समारभेत, ततो[3]ऽग्निकायसमारम्भो महादोषा-
येति ॥७॥ एवं तावदग्निकायसमारम्भकास्तापसाः तथा पाकादनिवृत्ताः शाक्यादयश्चापदिष्टाः, साम्प्रतं ते चान्ये वनस्पतिसमारम्भाद-
निवृत्ताः परामृश्यन्ते इत्याह–'हरियाणि' इत्यादि, 'हरितानि' दूर्वाङ्कुरादीन्येतान्यप्याहारादेर्वृद्धिदर्शनात् 'भूतानि' जीवाः तथा
१० 'विलम्बकानीति' जीवाकारं यान्ति[4] विलम्बन्ति–धारयन्ति, तथाहि[5]–कललार्बुदमांसपेशीगर्भप्रसवबालकुमारयुवमध्यमस्थविरावस्थातो
मनुष्यो भवति, एवं हरितान्यपि शाल्यादीनि जातान्यभिनवानि संजातरसानि यौवनवन्ति परिपक्कानि जीर्णानि परिशुष्काणि मृतानि
तथा वृक्षा अप्यङ्कुरावस्थायां जाता इत्युपदिश्यन्ते मूलस्कन्धशाखाप्रशाखादिभिर्विशेषैः परिवर्धमाना युवानः पोता इत्युपदिश्यन्त

१ हरियादि इ. । २ पोरिसा य आ. । ३ इत्यतोऽग्नि° आ. इ. । ४ यानि आ. इ. । ५ यथाहि आ. इ. ।

इत्यादि शेषास्वप्यवस्थास्वायोज्यं, तदेवं हरितादीन्यपि जीवाकारं विलम्बयन्ति, तत एतानि मूलस्कन्धशाखापत्रपुष्पादिषु स्थानेषु 'पृथक्' प्रत्येकं 'श्रितानि' व्यवस्थितानि, न तु मूलादिषु सर्वेष्वपि समुदितेषु एक एव जीवः, एतानि च भूतानि सङ्ख्येयासङ्ख्येयानन्तभेदभिन्नानि वनस्पतिकायाश्रितान्याहारार्थं देहोपचयार्थं[1] देहक्षतसंरोहणार्थं वाऽऽत्मसुखं 'प्रतीत्य' आश्रित्य यच्छिनत्ति स 'प्रागल्भ्यात्' धौष्ट्र्यावष्टम्भाद्बहूनां[2] प्राणिनामतिपाती भवति, तदतिपाताच्च निरनुक्रोशतया न धर्मो नाप्यात्मसुखमित्युक्तं भवति[3]
८ ॥८॥ किञ्च–'जातिं च' इत्यादि, 'जातिम्' उत्पत्तिं तथा अङ्कुरपत्रमूलस्कन्धशाखाप्रशाखाभेदेन वृद्धिं च विनाशयन् बीजानि च तत्फलानि विनाशयन् हरितानि छिनत्तीति, 'असंयतः' गृहस्थः प्रव्रजितो वा तत्कर्मकारी गृहस्थ एव, स च हरितच्छेद[4]विधाय्यात्मानं दण्डयतीत्यात्मदण्डः, स हि परमार्थतः परोपघातेनात्मानमेवोपहन्ति, अथशब्दो वाक्यालङ्कारे 'आहुः' एवमुक्तवन्तः, किम्[5]उक्तवन्त इति दर्शयति–यो हरितादिच्छेदको निरनुक्रोशः 'सः' अस्मिन् लोके 'अनार्यधर्मा' क्रूरकर्मकारी भवतीत्यर्थः, स च क एवम्भूतो यो धर्मोपदेशेनात्मसुखार्थं वा बीजानि अस्य चोपलक्षणार्थत्वात् वनस्पतिकायं हिनस्ति स पाषण्डिकलोकोऽन्यो वाऽनार्यधर्मा भवतीति
१० सम्बन्धः ॥९॥ साम्प्रतं हरितच्छेदकर्मविपाकमाह–'गब्भाइ मिज्जंति' इत्यादि, इह वनस्पतिकायोपमर्दकाः बहुषु जन्मसु गर्भादिकास्ववस्थासु कललार्बुदमांसपेशीरूपासु म्रियन्ते, तथा 'ब्रुवन्तोऽब्रुवन्तश्च' व्यक्तवाचोऽव्यक्तवाचश्च तथा परे नराः पञ्चशिखाः कुमाराः सन्तो म्रियन्ते, तथा युवानो मध्यमवयसः स्थविराश्च क्वचित्पाठो 'मज्झिमपोरुसा य'त्ति तत्र 'मध्यमा' मध्यमवयसः 'पोरुसा य'त्ति पुरुषाणां चरमावस्थां प्राप्ता अत्यन्तवृद्धा एवेतियावत्, तदेवं सर्वास्वप्यवस्थासु बीजादीनामुपमर्दकाः स्वायुषः क्षये प्रलीनाः सन्तो देहं

१ °यार्थ वा आ. इ. । २ °धर्मविष्टंभा° आ. । ३ °तीति आ. । ४ °विच्छेद° आ. । ५ ××××× इति आ. इ. ।

त्यजन्तीति, एवमपरस्थावरजङ्गमोपमर्दकारिणामप्यनियतायुष्कत्वमायोजनीयम् ॥१०॥ किञ्चान्यत्--

संबुज्झहा जंतवो ! माणुसत्तं, दट्ठुं भयं बालिसेणं अलंभो ।
एगंतदुक्खे जरिए[2] व लोए, सकम्मुणा विप्परियासुवेइ ॥११॥
इहेग[3] मूढा पवयंति मोक्खं, आहारसंपज्जणवज्जणेणं ।
एगे य सीओदगसेवणेणं, हुएण एगे पवयंति मोक्खं ॥१२॥
पाओसिणाणादिसु णत्थि मोक्खो, खारस्स लोणस्स अणासएणं ।
ते मज्जमंसं लसणं[4] च भोच्चा, अन्नत्थ वासं परिकप्पयंति ॥१३॥
उदगेण जे सिद्धिमुदाहरंति, सायं च पायं उदगं फुसंता ।
उदगस्स फासेण सिया य सिद्धी[5], सिज्झिसु पाणा बहवे दगंसि ॥१४॥

'संबुज्झहा' इत्यादि. हे ! 'जन्तवः' प्राणिनः ! सम्बुध्यध्वं यूयं, न हि कुशीलपाषण्डिकलोकस्त्राणाय भवति, धर्मं च सुदुर्लभत्वेन सम्बुध्यध्वं, तथा चोक्तम्-"माणुस्सखेत्तजाई[6] कुलरूवारोग्गमाउयं बुद्धी । सवणोग्गहसद्धा संजमो य लोगंमि दुलहाइं ॥१॥" तदेवम-

१ °यमिति आ. इ. । २ हु इ. । ३ इहेगे आ. । ४ लसुणं आ. । ५ सिद्धि आ. । सा० ६ "मानुष्यं क्षेत्रं जातिः कुलं रूपं आरोग्यं आयुः बुद्धिः श्रवणमवग्रहः श्रद्धा संयमश्च लोके दुर्लभानि ॥१॥"

कृतधर्माणां मनुष्यत्वमतिदुर्लभमित्यवगम्य तथा जातिजरामरणरोगशोकादीनि नरकतिर्यक्षु च तीव्रदुःखतया भयं दृष्ट्वा तथा–'बालिशेन' अज्ञेन सदसद्विवेकस्यालम्भ इत्येतच्चावगम्य तथा निश्चयनय[1]मवगम्य एकान्तदुःखोऽयं ज्वरित इव 'लोकः' संसारिप्राणिगणः, तथा चोक्तम्–"जम्मं[2] दुक्खं जरा दुक्खं, रोगा य मरणाणि य। अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसंति पाणिणो ॥१॥" तथा–"तण्हाइयस्स[3] पाणं कूरो छुंहियस्स भुञ्जए तित्ती। दुक्खसयसंपउत्तं जरियमिव जगं कलयलेइ ॥१॥" इति,अत्र चैवम्भूते लोके अनार्यकर्मकारी स्वकर्मणा 'विपर्यासमुपैति' सुखार्थी प्राण्युपमर्दं कुर्वन् दुःखं प्राप्नोति, यदि वा मोक्षार्थी संसारं पर्यटतीति ॥११॥ उक्तः कुशीलविपाकोऽधुना तद्दर्शनान्यभिधीयन्ते–'इहेग' इत्यादि, 'इहे'ति मनुष्यलोके मोक्षगमनाधिकारे वा, एके केचन 'मूढा' अज्ञानाऽऽच्छादितमतयः परैश्च मोहिताः प्रकर्षेण वदन्ति प्रवदन्ति–प्रतिपादयन्ति, किं तत् ?–'मोक्षं' मोक्षावाप्तिं, केनेति दर्शयति–आह्रियत इत्याहार–ओदनादिस्तस्य सम्पद्–रसपुष्टिस्तां जनयतीत्याहारसम्पज्जननं–लवणं, तेन ह्याहारस्य रसपुष्टिः क्रियते, तस्य वर्जनं तेनाऽऽहारसम्पज्जननवर्जनेन–लवणवर्जनेन मोक्षं वदन्ति, पाठान्तरं वा 'आहारसपंचयवज्जणेण' आहारेण सह लवण[6]पञ्चकमाहारसपञ्चकं, लवणपञ्चकं चेदं, तद्यथा–सैंधवं सौवर्चलं बिडं रौमं सामुद्रं चेति, लवणेन हि सर्वरसानामभिव्यक्तिर्भवति, तथा चोक्तम्–"लवणविहूणा[7] य रसा चक्खुविहूणा य इंदियग्गामा। धम्मो दयाय रहिओ सोक्खं संतोसरहियं नो ॥१॥" तथा 'लवणं रसानां तैलं स्नेहानां घृतं

सा० १ कर्मोदयसंपादितसुखादिपरिणामानां तन्मते दुःखरूपत्वात्। २ "जन्म दुःखं जरा दुःखं रोगाश्च मरणं च अहो दुःखः एव संसारः यत्र क्लिश्यन्ति जन्तवः" ॥१॥ ३ "तृष्णार्दितस्य पानं कूरः क्षुधितस्य भुक्तौ तृप्तिः दुःखशतसम्प्रयुक्तं ज्वरितमिव जगत्कलकलति ॥१॥" ४ °रोच्छ यस्स आ. इ.। ५ XXXX प्रति° आ. इ.। ६ XXXXXXXXXXXX लव° आ.। सा. ७ "लवणविहीनाश्च रसाश्चक्षुर्विहीनाश्चेन्द्रियग्रामाः। धर्मो दयया रहितः सौख्यं सन्तोषरहितं न ॥१॥"

मेध्याना'मि[1]ति, तदेवम्भूतलवणपरिवर्जनेन रसपरित्याग एव कृतो भवति, तत्त्यागाच्च मोक्षावाप्तिरित्येवं केचन मूढाः प्रतिपादयन्ति, पाठान्तरं वा 'आहारओ पंचकवज्जणेणं' आहारत इति ल्यब्लोपे कर्मणि पञ्चमी आहारमाश्रित्य पञ्चकं वर्जयन्ति, तद्यथा–लसुणं पलाण्डुः करभीक्षीरं गोमांसं मद्यं चेत्येतत्पञ्चकवर्जनेन मोक्षं प्रवदन्ति, तथैके 'वारिभद्रकादयो' भागवतविशेषाः 'शीतोदकसेवनेन' सचित्ताप्कायपरिभोगेन मोक्षं प्रवदन्ति, उपपत्तिं च ते अभिदधति–यथोदकं बाह्यमलमपनयति एवमान्तरमपि, वस्त्रादेश्च यथोदकाच्छुद्धिरुपजायते एवं बाह्यशुद्धिसामर्थ्यदर्शनादान्तरापि शुद्धिरुदका[2]देवेति मन्यन्ते, तथैके तापसब्राह्मणादयो हुतेन मोक्षं प्रतिपादयन्ति, ये किल स्वर्गादिफलमनाशंस्य समिधाघृतादिभिर्हव्यविशेषैर्हुताशनं तर्पयन्ति ते मोक्षायाग्निहोत्रं जुह्वति शेषास्त्वभ्युदयायेति, युक्तिं चात्र ते आहुः–यथा ह्यग्निः सुवर्णादीनां मलं दहत्येवं दहनसामर्थ्यदर्शनादात्मनोऽप्यान्तरं पापमिति ॥१२॥ तेषा[3]मसम्बद्धप्रलापिनामुत्तरदानायाह–'पाओसिणाणा'इत्यादि, 'प्रातः स्नानादिषु नास्ति मोक्ष' इति प्रत्यूषजलावगाहनेन निःशीलानां मोक्षो न भवति, आदिग्रहणात् हस्त[4]पादादिप्रक्षालनं गृह्यते, तथाहि–उदकपरिभोगेन तदाश्रितजीवानामुपमर्दः समुपजायते, न च जीवोपमर्दात् मोक्षावाप्तिरिति, न चैकान्तेनोदकं बाह्यमलस्याप्यपनयने समर्थम्, अथापि स्यात्तथाप्यन्तरं मलं न शोधयति, भावशुद्ध्या तच्छुद्धेः, अथ भावरहितस्यापि तच्छुद्धिः स्यात् ततो मत्स्यबन्धादीनामपि जलाभिषेकेण मुक्त्यवाप्तिः स्यात्, तथा–'क्षार[5]स्य' पञ्चप्रकारस्यापि [6]लवणस्य 'अनशनेन' अपरिभोगेन मोक्षो नास्ति, तथाहि–[6]लवणपरिभोगरहितानां मोक्षो भवतीत्ययुक्तिकमेतत् न चायमेकान्तो लवणमेव रसपुष्टिजनकमिति,

१ °मित्यादि आ. । सा. २ °कादेरेवेति प्र० इ. । ३ एषाम° आ. । ४ °पादा×आ. । सा. ५ पारिभाषिकलवणमात्रप्रतिपत्तिनिरासाय क्षारेति, अत एव पञ्चप्रकारस्यापीति वृत्तिः । ६ चणकादेरपि क्षारादिमत्त्वाल्लवणेति ।

क्षीरशर्करादिभिर्व्यभिचारात्, अपि चासौ प्रष्टव्यः–किं द्रव्यतो लवणवर्जनेन मोक्षावाप्तिः उत भावतः ?, यदि द्रव्यतस्ततो लवणरहितदेशे सर्वेषां मोक्षः स्यात्, न चैवं दृष्टमिष्टं वा, अथ भावतस्ततो भाव एव प्रधानं किं[1] लवणवर्जनेनेति, तथा 'ते' मूढा मद्यमांसं लशुनादिकं च भुक्त्वा 'अन्यत्र' मोक्षादन्यत्र' संसारे वासम्–अवस्थानं तथाविधानुष्ठानसद्भावात् सम्यग्दर्शनज्ञान[2]चारित्ररूपमोक्षमार्गस्याननुष्ठानाच्च 'परिकल्पयन्ति' समन्तान्निष्पादयन्तीति ॥१३॥ साम्प्रतं विशेषेण परिजिहीर्षुराह–'उदगेण' इत्यादि, तथा ये केचन मूढा 'उदकेन' शीतवारिणा 'सिद्धिं' परलोकम् 'उदाहरन्ति' प्रतिपादयन्ति–'सायम्' अपराह्णे विकाले वा 'प्रातश्च' प्रत्युषसि च आद्यन्तग्रहणात् मध्याह्ने च तदेवं सन्ध्यात्रयेऽप्युदकं स्पृशन्तः स्नानादिकां क्रियां जलेन [3]कुर्वन्तः प्राणिनो विशिष्टां गतिमाप्नुवन्तीति केचनोदाहरन्ति, एतच्चासम्यक्, यतो यद्युदकस्पर्शमात्रेण सिद्धिः स्यात् तत उदकसमाश्रिता मत्स्यबन्धादयः क्रूरकर्माणो निरनुक्रोशा बहवः प्राणिनः सिद्ध्येयुरिति, यदपि तैरुच्यते–बाह्यमलापनयनसामर्थ्यमुदकस्य दृष्टमिति तदपि विचार्यमाणं न घटते, यतो यथोदकमनिष्टमलमपनयत्येवमभिमतमप्यङ्गरागं कुङ्कुमादिकमपनयति, ततश्च पुण्यस्यापनयनादिष्टविघातकृद्विरुद्धः स्यात्, किञ्च–यतीनां ब्रह्मचारिणामुदकस्नानं दोषायैव, तथा चोक्तम्–"स्नानं मददर्पकरं, कामाङ्गं प्रथमं स्मृतम्। तस्मात् कामं परित्यज्य, न[4] ते स्नान्ति दमे रताः ॥१॥" अपि च–"नोदकक्लिन्नगात्रो हि, स्नात इत्यभिधीयते। स स्नातो यो व्रतस्नातः, स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः ॥१॥" ॥१४॥ किञ्च—

मच्छा य कुम्मा य सिरीसिवा य, मग्गू य उट्टा(ट्टा)दगरक्खसा य।

सा० १ अन्येषामपि भावाशुद्ध्यापादकानां वर्जनीयत्वात्, मद्यमांसादिभोजित्वं वक्ष्यत्यग्रे। २ °चारित्र×× मोक्ष° आ. °चारित्राणि×× मोक्ष° इ.। ३ प्रकु° आ.। ४ नैव आ.। ५ ×× आ।

अट्ठाणमेयं कुसला वयंति, उदगेण जे सिद्धिमुदाहरंति ॥१५॥
उदयं जइ कम्ममलं हरेज्जा, एवं सुहं इच्छामि[1]त्तमेव।
अंधं व णेयारमणुस्सरित्ता, पाणाणि चेवं विणिहंति मंदा ॥१६॥

पावाइं कम्माइं पकुव्वतो हि, सिओदगं तू जइ तं हरिज्जा।
सिज्झिंसु एगे दगसत्तघाती, मुसं वयंते जलसिद्धिमाहु ॥१७॥
हुतेण जे सिद्धिमुदाहरंति, सायं च पायं अगणिं फुसंता।
एवं सिया सिद्धि हवेज्ज तम्हा, अगणिं फुसंताण कुकम्मिणंपि ॥१८॥

'मच्छा य'इत्यादि, यदि जलसम्पर्कात् सिद्धिः स्यात् ततो ये सततमुं[2]दकावगाहिनो मत्स्याश्च कूर्माश्च सरीसृपाश्च तथा मद्गु[3]वः त-थोष्ट्रा–जलचरविशेषाः तथोदकराक्षसा–जलमानुषाकृतयो जलचरविशेषा ए[4]ते प्रथमं सिद्ध्येयुः, न चैतद्दृष्टमिष्टं वा, ततश्च ये उदकेन सिद्धिमुदाहरन्त्येतद् 'अस्थानम्' अयुक्तम्–असाम्प्रतं 'कुशला' निपुणा मोक्षमार्गाभिज्ञा वदन्ति ॥१५॥ किञ्चान्यत् 'उदयं' इत्यादि, यद्युदकं कर्ममलमपहरेदेवं शुभमपि पुं[5]ण्यमपहरेत्, अथ पुण्यं नाप[6]हरेदेवं कर्ममलमपि नापहरेत्, अत इच्छामात्रमेवैतद्यदुच्यते–जलं

१ °त्ततावा आ.। २ °मुदकत्राहिनो आ.। ३ मुद्गवः आ.। ४ एव ते प्र० आ. इ.। ५ ××××हरेत् इ.। ६ °हरत्येवं आ. इ.।

कर्मापहारीति, एवमपि व्यवस्थिते ये स्नानादिकाः क्रियाः स्मार्तमार्गमनुसरन्तः कुर्वन्ति ते यथा जात्यन्धा अपरं जात्यन्धमेव नेतारमनुसृत्य गच्छन्तः कुपथाश्रितयो भवन्ति नाभिप्रेतं स्थानमवाप्नुवन्ति एवं स्मार्तमार्गानुसारिणो जलशौचपरायणा 'मन्दा' अज्ञाः कर्तव्याकर्तव्यविवेकविकलाः प्राणिन एव तन्मयान् तदाश्रितांश्च पूतरकादीन् 'विनिघ्नन्ति' व्यापादयन्ति, अवश्यं जलक्रियया प्राणव्यपरोपणस्य सम्भवादिति ॥१६॥ अपि च–'पावाइं' इत्यादि, 'पापानि' पापोपादानभूतानि 'कर्माणि' प्राण्युपमर्दकारीणि कुर्वतोऽसुमतो यत्कर्मोपचीयते तत्कर्म यद्युकमपहरेत् यद्येवं स्यात् तर्हि हिः यस्मादर्थे यस्मात् प्राण्युपमर्देन कर्मोपादीयते जलावगाहनाच्चापगच्छति तस्मादुदकसत्त्वघातिनः पापभूयिष्ठा अप्येवं सिद्ध्येयुः, न चैतद्दृष्टमिष्टं वा, तस्माद्ये जलावगाहनात् सिद्धिमाहुः ते मृषा वदन्ति ॥१७॥ किञ्चान्यत्–'हुतेण' इत्यादि, 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम' इत्यस्माद्वाक्यात्[1] 'ये' केचन मूढा 'हुतेन' अग्नौ हव्यप्रक्षेपेण 'सिद्धिं' सुगतिगमनादिकां स्वर्गावाप्तिलक्षणाम् 'उदाहरन्ति' प्रतिपादयन्ति, कथम्भूताः ?–'सायम्' अपराह्ने विकाले वा 'प्रातश्च' प्रत्युषसि अग्निं 'स्पृशन्तः' यथेष्टैर्हव्यैरग्निं तर्प्पयन्तस्तत एव यथेष्टगतिमभिलषन्ति[2], आहुश्चैवं ते यथा–अग्निकार्यात् स्यादेव सिद्धिरिति, तत्र च यद्येवमग्निस्पर्शेन सिद्धिर्भवेत् ततस्तस्मादग्निं संस्पृशतां 'कुकर्मिणाम्' अङ्गारदाहककुम्भकारायस्करादीनां सिद्धिः स्यात्, यदपि च मन्त्रपूतादिकं तैरुदाह्रियते तदपि च निरन्तराः सुहृदः प्रत्येष्यन्ति, यतः कुकर्मिणामप्यग्निकार्ये भस्मापादनमग्निहोत्रिकादीनामपि भस्मसात्करणमिति नातिरिच्यते कुकर्मिभ्योऽग्निहोत्रादिकं कर्मेति, यदप्युच्यते–अग्निमुखा वै देवाः, एतदपि युक्तिविकलत्वात् वाङ्मात्रमेव, विष्ठादिभक्षणेन[3] चाग्नेस्तेषां बहुतरदोषोत्पत्तेरिति ॥१८॥ उक्तानि पृथक् कुशीलदर्शनानि, अयमपरस्तेषां सामान्योपालम्भ इत्याह—

१ इत्येतस्मा° आ.। २ °न्तीति आ.। ३ °भक्षणे× आ.।

अपरिक्ख दिट्ठं ण हु एव सिद्धी, एहिंति ते घायमबुज्झमाणा ।
भूएहिं जाणं पडिलेह सातं, विज्जं गहायं तसथावरेहिं ॥१९॥
थणंति लुप्पंति तसंति कम्मी, पुढो जगा परिसंखाय भिक्खू ।
तम्हा विऊ विरतो आयगुत्ते, दट्ठुं तसे या पडिसंहरेज्जा ॥२०॥
जे धम्मलद्धं विणिहाय भुंजे, वियडेण साहट्टु य जे सिणाइं ।
जे धोवती लूसयतीव वत्थं, अहाहु से णागणियस्स दूरे ॥२१॥
कम्मं परिन्नाय दगंसि धीरे, वियडेण जीविज्ज य आदिमोक्खं ।
से बीयकंदाइ अभुंजमाणे, विरते सिणाणाइसु इत्थियासु ॥२२॥

'अपरिक्ख दिट्ठं' इत्यादि, यैर्मुमुक्षुभिरुदकसम्पर्केणाग्निहोत्रेण वा सिद्धिरभिहिता तैः 'अपरीक्ष्य दृष्टमेतत्' युक्तिविकलमभिहितमेतत्, किमिति?, यतो 'नहु' नैव 'एवम्' अनेन प्रकारेण जलावगाहनेन अग्निहोत्रेण वा प्राण्युपमर्दकारिणा सिद्धिरिति, ते च परमार्थमबुद्ध्यमानाः प्राण्युपघातेन पापमेव धर्मबुद्ध्या कुर्वन्तो घात्यन्ते–व्यापाद्यन्ते नानाविधैः प्रकारैर्यस्मिन् प्राणिनः स घातः–संसारस्तमे-

१ °साह° आ. इ. । २ जो आ. इ. ।

ष्यन्ति, अप्कायतेजःकायसमारम्भेण हि त्रसस्थावराणां प्राणिनामवश्यं भावी विनाशस्तद्विनाशे च संसार एव न सिद्धिरित्यभिप्रायः, यत एवं ततो 'विद्वान्' सदसद्विवेकी यथावस्थिततत्त्वं गृहीत्वा त्रसस्थावरैर्भूतैः–जन्तुभिः कथं साम्प्रतं–सुखमवाप्यत इत्येतत् प्रत्युपेक्ष्य जानीहि–अवबुद्ध्यस्व, एतदुक्तं भवति–सर्वेऽप्यसुमन्तः सुखैषिणो दुःखद्विषो, न च तेषां सुखैषिणां दुःखोत्पादकत्वेन सुखावाप्तिर्भवतीति, यदि वा–'विज्जं गहाय'त्ति विद्यां ज्ञानं गृहीत्वा विवेकमुपादाय त्रसस्थावरैर्भूतैर्जन्तुभिः करणभूतैः 'सातं' सुखं 'प्रत्युपेक्ष्य' पर्यालोच्य 'जानीहि' अवगच्छेति, यत उक्तम्–"पढमं नाणं तयो दया, एवं चिट्ठइ सव्व संजए। अन्नाणी किं काही, किं वा णाही छेयपावगं ॥१॥" इत्यादि ॥१९॥ ये पुनः प्राण्युपमर्देन सातमभिलषन्तीत्यशीलाः कुशीलाश्च ते संसारे एवंविधा अवस्था अनुभवन्तीत्याह–'थणंति लुप्पंति' इत्यादि, तेजःकायसमारम्भिणो भूतसमारम्भेण सुखमभिलषन्तो नरकादिगतिं गतास्तीव्रदुःखैः पीड्यमाना असह्यवेदनाघ्रातमानसा अशरणाः 'स्तनन्ति' रुदन्ति केवलं करुणमाक्रन्दन्तीतियावत् तथा 'लुप्पंती'ति छिद्यन्ते खड्गादिभिरेवं च कदर्थ्यमानाः 'त्रस्यन्ति' प्रपलायन्ते, कर्माण्येषां सन्तीति कर्मिणः–सपापा इत्यर्थः, तथा पृथक् 'जगा' इति जन्तव इति, एवं 'परिसङ्ख्याय' ज्ञात्वा भिक्षणशीलो 'भिक्षुः' साधुरित्यर्थः, यस्मात् प्राण्युपमर्दकारिणः संसारान्तर्गता विलुप्यन्ते तस्मात् 'विद्वान्' पण्डितो विरतः पापानुष्ठानादात्मा गुप्तो यस्य सोऽयमात्मगुप्तो मनोवाक्कायगुप्त इत्यर्थः, दृष्ट्वा च त्रसान् चशब्दात् स्थावरांश्च 'दृष्ट्वा' परिज्ञाय तदुपघातकारिणीं क्रियां 'प्रतिसंहरेत्' निवर्तयेदिति ॥२०॥ साम्प्रतं स्वयूथ्याः कुशीला अभिधीयन्त इत्याह–'जे धम्मलद्धं' इत्यादि, 'ये' केचन शीतल-

१ सातं आ. इ.। सा० २ प्रथमं ज्ञानं ततो दया एवं तिष्ठति सर्वसंयतेषु अज्ञानी किं करिष्यति किं वा ज्ञास्यति छेकपापकं ॥ ३ °षन्त्यशीलाः आ. इ.। ४ ××× के° आ. इ.। ५ पृथक् पृथक्° आ. इ.।

विहारिणो धर्मेण–मुधिकया लब्धं धर्मलब्धं उद्देशकक्रीतकृतादिदोषरहितमित्यर्थः, तदेवम्भूतमप्याहारजातं 'विनिधाय' व्यवस्थाप्य सन्निधिं कृत्वा भुञ्जन्ते तथा ये 'विकटेन' प्रासुकोदकेनापि सङ्कोच्याङ्गानि प्रासुक एव प्रदेशे देशसर्वस्नानं कुर्वन्ति तथा यो वस्त्रं 'धावति' प्रक्षालयति तथा 'लूषयति' शोभार्थं दीर्घमुत्पाटयित्वा ह्रस्वं करोति ह्रस्वं वा सन्धाय दीर्घं करोति एवं लूषयति, तदेवं स्वार्थं परार्थं वा यो वस्त्रं लूषयति, अथासौ 'णागणियस्स'त्ति निर्ग्रन्थभावस्य संयमानुष्ठानस्य दूरे वर्तते, न तस्य संयमो भवतीत्येवं तीर्थकरगणधरादय आहुरिति ॥२१॥ उक्ताः कुशीलाः, तत्प्रतिपक्षभूताः शीलवन्तः प्रतिपाद्यन्त इत्येतदाह–'कम्मं परिन्नाय' इत्यादि, धिया राजते इति धीरो–बुद्धिमान् 'उदंगंसि'त्ति उदकसमारम्भे सति कर्मबन्धो भवति, एवं परिज्ञाय किं कुर्यादित्याह–'विकटेन' प्रासुकोदकेन सौवीरादिना 'जीव्यात्' प्राणसंधारणं कुर्यात्, चशब्दात् अन्येनाप्याहारेण प्रासुकेनैव प्राणवृत्तिं कुर्यात्, आदिः–संसारस्तस्मात् मोक्ष आदिमोक्षः (तं) संसारविमुक्तिं यावदिति, धर्मकारणानां वाऽऽदिभूतं शरीरं तद्विमुक्तिं यावत् यावज्जीवमित्यर्थः, किं चासौ साधुर्बीजकन्दादीन् अभुञ्जानः, आदिग्रहणात् मूलपत्रफलानि गृह्यन्ते, एतान्यप्यपरिणतानि परिहरन् विरतो भवति, कुत इति दर्शयति–स्नानाभ्यङ्गोद्वर्तनादिषु क्रियासु निष्प्रतिकर्मशरीरतयाऽन्यासु च चिकित्सादिक्रियासु न वर्तते, तथा स्त्रीषु च विरतः, बस्तिनिरोधग्रहणात् अन्येऽप्याश्रवा गृह्यन्ते, यश्चैवम्भूतः सर्वेभ्योऽप्याश्रवद्वारेभ्यो विरतो नासौ कुशीलदोषैर्युज्यते तदयोगाच्च न संसारे बम्भ्रमीति, ततश्च न दुःखितः स्तनति नापि नानाविधैरुपायैर्विलुप्यत इति ॥२२॥ पुनरपि कुशीलानेवाधिकृत्याह—

जे मायरं च पियरं च हिच्चा, गारं तहा पुत्तपसुं धणं च ।

१ ×निधाय आ. इ. । २ तथा×° आ. । ३ ×दगंसि आ. । ४ घस्त° आ. ।

कुलाइं जे धावइ साउगाइं, अहाहु से सामणियस्स दूरे ॥२३॥
कुलाइं जे धावइ साउगाइं, आघाति धम्मं उदराणुगिद्धे ।
अहाहु से आयरियाण सयंसे, जे लावएज्जा असणस्स हेऊ ॥२४॥
णिक्खम्म दीणे परभोयणंमि, मुहमंगलीए उदराणुगिद्धे[1] ।
नीवारगिद्धेव महावराहे, अदूरए एहिइ[2] घातमेव ॥२५॥
अन्नस्स पाणस्सिहलोइयस्स, अणुप्पियं भासति सेवमाणे ।
पासत्थयं चेव कुसीलयं च, निस्सारए होइ जहा पुलाए ॥२६॥

'जे मायरं च' इत्यादि, ये केचनापरिणतसम्यग्धर्माणस्त्यक्त्वा मातरं च पितरं च, मातापित्रोर्दुस्त्यजत्वादुपादानं, अतो भ्रातृदुहित्रादिकमपि त्यक्त्वेत्येतदपि द्रष्टव्यं, तथा 'अगारं' गृहं, 'पुत्रम्' अपत्यं, 'पशुं' हस्त्यश्वरथगोमहिष्यादिकं धनं च त्यक्त्वा सम्यक् प्रव्रज्योत्थानेनोत्थाय–पञ्चमहाव्रतभारस्य स्कन्धं दत्त्वा पुनर्हीनसत्त्वतया रससातादिगौरवगृद्धो यः कुलानि' गृहाणि 'स्वादुकानि' स्वादुभोजनवन्ति 'धावति' गच्छति, अथासौ 'श्रामण्यस्य' श्रमणभावस्य दूरे वर्त्तते एवमाहुस्तीर्थकरगणधरादय इति ॥२३॥ एतदेव विशे-

१ ओदरिया° आ. इ. । २ वेहति आ. इ. ।

षेण दर्शयितुमाह–[ग्रन्थाग्रम् ४७५०] 'कुलाइं जे धावइ' इत्यादि, यः कुलानि स्वादुभोजनवन्ति 'धावति' इयर्त्ति तथा ग[१]त्वा धर्ममाख्याति भिक्षार्थं वा प्रविष्टो यद्यस्मै रोचते कथानकसम्बन्धं तत्तस्याख्याति, किम्भूत इति दर्शयति–उदरेऽनुगृद्ध उदरानुगृद्धः–उदरभरणव्यग्रस्तुन्दपरिमृज इत्यर्थः, इदमुक्तं भवति–यो ह्युदरगृद्ध आहारादिनिमित्तं दानश्र[२]द्धकाख्यानि कुलानि गत्वाऽऽख्यायिकाः कथयति स कुशील इति, अथासावाचार्यगुणानामार्यगुणानां वा शतांशे वर्तते शतग्रहणमुपलक्षणं सहस्रांशादेरप्यधो वर्त्तते इ[३]ति यो ह्यन्नस्य हेतुं–भोजननिमित्तमपरवस्त्रादिनिमित्तं वा आत्मगुणानपरेण '[४]आलापयेत्' भाणयेत्, असावप्यार्यगुणानां सहस्रांशे वर्तते किमङ्ग पुनर्यः स्वत एवाऽऽत्मप्रशंसां विदधातीति ॥२४॥ किञ्च–'णिक्खम्म' इत्यादि, यो ह्यात्मीयं धनधान्यहिरण्यादिकं त्यक्त्वा निष्क्रान्तो निष्क्रम्य च 'परभोजने' पराहारविषये 'दीनो' दैन्यमुपगतो जिह्वेन्द्रियव[५]शार्त्तो बन्दिवत् 'मुखमाङ्गलिको' भवति मुखेन मङ्गलानि–प्रशंसावाक्यानि ईदृशस्तादृशस्त्वमित्येवं दैन्यभावमुपगतो वक्ति, उक्तं च–"सो ए[६]सो जस्स गुणा वियरंतनिवारिया दसदिसासु । इहरा कहासु सुं[७]बसि पच्चक्खं अज्ज दिट्ठोऽसि ॥१॥" इत्येवमौदर्यं प्रति गृद्धः अध्युपपन्नः, किमिव ?, 'नीवारः' सूकरादिमृगभक्ष्यविशेषस्तस्मिन् गृद्ध–आसक्तमना गृहीत्वा च स्वयूथं 'महावराहो' महाकायः सूकरः स चाहारमात्रगृद्धोऽतिसंकटे प्रविष्टः सन् 'अदूर एव' शीघ्रमेव, '[८]घातं' विनाशम् 'एष्यति' प्राप्स्यति, एवकारोऽवधारणे, अवश्यं तस्य विनाश एव नापरा गतिरस्तीति, एवमसावपि कुशील आहारमात्रगृद्धः संसारोदरे पौनःपुन्येन विनाशमेवैति ॥२५॥ किंचान्यत्–'अन्नस्स' इत्यादि, स कुशीलोऽन्नस्य पानस्य वा कृतेऽन्यस्य वैहि-

१ गत्वा गत्वा° आ. । २ °श्राद्धा° आ. । ३ इति जे लावइज्जा इत्यादि येष्व° आ. । ४ ×लापयेत् आ. इ. । ५ °वशादार्तो आ. इ. । सा० ६ स एष यस्य गुणाः विचरन्त्यनिवारिता दशदिशासु इतरथा कथासु श्रूयते प्रत्यक्षं अद्य दृष्टोऽसि ॥१॥ ७ सुव्वसि आ. इ. । ८ घंतंति आ. इ. ।

कार्थस्य वस्त्रादेः कृते 'अनुप्रियं भाषते' यद्यस्य प्रियं तत्तस्य वदतोऽनु-पश्चाद्भाषते अनुभाषते, प्रतिशब्दकवत् सेवकवद्वा राजाद्युक्तमनुवदतीत्यर्थः, तमेव दातारमनुसेवमान आहारमात्रगृद्धः सर्वमेतत्करोतीत्यर्थः, स चैवम्भूतः सदाचारभ्रष्टः पार्श्वस्थभावमेव व्रजति कुशीलतां च गच्छति, तथा निर्गतः अपगतः सारः-चारित्राख्यो यस्य स निःसारः, यदि वा निर्गतः सारो निःसारः स विद्यते यस्यासौ निःसारवान् , पुलाक इव निष्कणो भवति यथा-एवमसौ संयमानुष्ठानं निःसारीकरोति, एवंभूतश्चासौ लिङ्गमात्रावशेषो बहूनां स्वयूथ्यानां तिरस्कारपदवीमवाप्नोति, परलोके च निकृष्टानि यातनास्थानान्यवाप्नोति ॥२६॥ उक्ताः कुशीलाः, तत्प्रतिपक्षभूतान् सुशीलान् प्रतिपादयितुमाह—

अण्णातपिंडेणऽहियासएज्जा, णो पूयणं तवसा आवहेज्जा ।
सद्देहिं रूवेहिं असज्जमाणं[2], सव्वेहि कामेहि विणीय गेहिं ॥२७॥
सव्वाइं संगाइं अइच्च [3]धीरे, सव्वाइं दुक्खाइं तितिक्खमाणे ।
अखिले अगिद्धे अणिएयचारी, अभयंकरे भिक्खु अणाविलप्पा ॥२८॥
भारस्स जाता मुणि भुंजएज्जा, कंखेज्ज पावस्स विवेग भिक्खू ।
दुक्खेण पुट्ठे धुयमाइएज्जा, संगामसीसे व परं दमेज्जा ॥२९॥

१ यस्य यत् आ. । २ °माणे आ. इ. । ३ वीरे इ. ।

अवि हम्माणे फलगावतट्ठी, समागमं कंखति अंतकस्स।
णिधूय कम्मं ण पवंचुवेइ, अक्खक्खए वा सगडं तिबेमि ॥३०॥

इति[2] श्रीकुसीलपरिभासियं सत्तममज्झयणं समत्तं ॥ (गाथाग्रं० ४०२)

'अण्णातपिंडेण' इत्यादि, अज्ञातश्चासौ पिण्डश्चाज्ञातपिण्डः अन्तप्रान्त इत्यर्थः, अज्ञातेभ्यो वा–पूर्वापरासंस्तुतेभ्यो वा पिण्डोऽज्ञातपिण्डोऽज्ञातोञ्छवृत्त्या लब्धस्तेनात्मानम् 'अधिसहेत्' वर्तयेत्–पालयेत्, एतदुक्तं भवति–अन्त[3]प्रान्तेन लब्धेनालब्धेन वा न दैन्यं कुर्यात्, नाप्युत्कृष्टेन लब्धेन मदं विदध्यात्, नापि तपसा [4]पूजनसत्कारमावहेत्, न पूजनसत्कारनिमित्तं तपः कुर्यादित्यर्थः, यदि वा पूजासत्कारनिमित्तत्वेन तथाविधार्थित्वेन वा महतापि केनचित्तपो मुक्तिहेतुकं न निःसारं कुर्यात्, तदुक्तम्–"परं लोकाधिकं धाम, तपः श्रुतमिति द्वयम्। तदेवार्थित्वनिर्लुप्तसारं तृणलवायते ॥१॥" ॥ यथा च रसेषु गृद्धिं न कुर्यात्, एवं शब्दादिष्वपीति दर्शयति–'शब्दैः'[5] वेणुवीणादिभिराक्षिप्तः संस्तेषु 'असजन्' आसक्तिमकुर्वन् कर्कशेषु च द्वेषमगच्छन् तथा रूपैरपि मनोज्ञेतरै रागद्वेषमकुर्वन् एवं सर्वैरपि 'कामैः' इच्छामदनरूपैः सर्वेभ्यो वा कामेभ्यो गृद्धिं 'विनीय' अपनीय संयममनुपालयेदिति, सर्वथा मनोज्ञेतरेषु विषयेषु रागद्वेषं न कुर्यात्, तथा चोक्तम्–"सद्देसु य भद्दयपावएसु, सोय[6]विसयमुवगएसु। तुट्ठेण व रुट्ठेण व, समणेण सया ण होयव्वं ॥१॥ [8]रूवेसु

१ °गाय° आ. इ.। २ कुसील परिभासियं सम्मत्तं। छ। अ. सप्तमध्ययनं समाप्तं। छ। आ. ३ आन्त° आ. इ.। ४ पूजा° आ.। सा० ५ शब्देषु च भद्रकपापकेषु श्रोत्रविषयमुपगतेषु तुष्टेन वा रुष्टेन वा श्रमणेन सदा न भवितव्यं। ६ सवण° आ.। ७ ××× मु° आ.। सा० ८ रूपेषु° चक्षुः।

य भद्दयपावएसु; चक्खुविसयमुवगएसु । तुट्ठेण व रुट्ठेण व समणेण सया ण होयव्वं ॥२॥ [1]गंधेसु य भद्दयपावएसु, घाणविसयमुवगएसु । तुट्ठेण० ॥३॥ [2]भक्खेसु य भद्दयपावएसु, रसणविसयमुवगएसु । तुट्ठेण व रुट्ठेण व, समणेण सया ण होयव्वं ॥४॥ [3]फासेसु य भद्दयपावएसु, फासविसयमुवगएसु । तुट्ठेण व रुट्ठेण व, समणेण सया ण होयव्वं ॥५॥" ॥२७॥ यथा चेन्द्रियनिरोधो [4]विधेय एवमपरसङ्गनिरोधोऽपि कार्य इति दर्शयति–'सव्वाइं' इत्यादि, सर्वान् 'सङ्गान्' संबन्धान् आन्तरान् स्नेहलक्षणान् बाह्यांश्च द्रव्यपरिग्रहलक्षणान् 'अतीत्य' त्यक्त्वा 'धीरो' विवेकी सर्वाणि 'दुःखानि' शारीरमानसानि त्यक्त्वा परीषहोपसर्गजनितानि 'तितिक्षमाणः' अधिसहन् 'अखिलो' ज्ञानदर्शनचारित्रैः सम्पूर्णः तथा कामेष्वगृद्धस्तथा 'अनियतचारी' अप्रतिबद्धविहारी तथा जीवानाम[5]भयंकरो भिक्षणशीलो भिक्षुः–साधुः एवम् 'अनाविलो' विषयकषायैरनाकुल आत्मा यस्यासावनाविलात्मा संयममनुवर्त्तत इति ॥२८॥ किञ्चान्यत्–'भारस्स जाता' इत्यादि, संयमभारस्य यात्रार्थं–पञ्चमहाव्रतभारनिर्वाहणार्थं 'मुनिः' कालत्रयवेत्ता 'भुञ्जीत' आहारग्रहणं कुर्वीत, तथा 'पापस्य' कर्मणः पूर्वाचरितस्य 'विवेकं' पृथग्भावं विनाशमाकाङ्क्षेत् 'भिक्षुः' साधुरिति, तथा–दुःखयतीति दुःखं–परीषहोपसर्गजनिता पीडा तेन 'स्पृष्टो' व्याप्तः सन् 'धूतं' संयमं मोक्षं वा 'आददीत' गृह्णीयात्, यथा सुभटः कश्चित् सङ्ग्रामशिरसि शत्रुभिरभिद्रुतः 'परं' शत्रुं दमयति एवं परं–[6]कर्मशत्रुं परीषहोपसर्गाभिद्रुतोऽपि दमयेदिति ॥२९॥ अपि च–'अवि हम्ममाणे'इत्यादि, परीषहोपसर्गैर्हन्यमानोऽपि–पीड्यमानोऽपि सम्यक् सहते, किमिव ?, फलकवदपकृष्टः यथा फलकमुभाभ्यामपि पार्श्वाभ्यां तष्टं–घट्टितं सत्तनु भवति अरक्तद्विष्टं वा संभवत्येवमसावपि साधुः सबाह्याभ्यन्तरेण तपसा निष्टप्तदेहतनुः–दुर्बलशरीरोऽरक्तद्विष्टश्च, अन्तकस्य–मृत्योः 'समागमं' प्राप्तिम् 'आका-

सा० १ गंधेषु° घ्राण° । २ भक्ष्येषु रसना° । ३ स्पर्शेषु स्पर्शन° । ४ विधेयस्तथाऽपरसंगत्यागः आ. । ५ °मभयकरो आ. । ६ कर्म××परी° आ. ।

क्ष्नति' अभिलपति, एवं चाऽष्टप्रकारं कर्म 'निर्धूय' अपनीय न पुनः 'प्रपञ्चं' जातिजरामरणरोगशोकादिकं प्रपञ्च्यते बहुधा नटवद्यस्मिन् स प्रपञ्चः—संसारस्तं 'नोपैति' न याति, दृष्टान्तमाह—यथा अक्षस्य 'क्षये' विनाशे सति 'शकटं' गन्त्र्यादिकं समविषमपथरूपं प्रपञ्चमुपष्टम्भकारणाभावात् नोपयाति, एवमसावपि साधुरष्टप्रकारस्य कर्मणः क्षये संसारप्रपञ्चं नोपयातीति, गतोऽनुगमो, नयाः पूर्ववद्, इतिशब्दः परिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥३०॥ समाप्तं च कुशीलपरिभाषाख्यं सप्तममध्ययनम् ॥

अथ अष्टमं श्रीवीर्याऽध्ययनं प्रारभ्यते ॥

उक्तं सप्तममध्ययनं, साम्प्रतमष्टममारभ्यते—अस्य चायमभिसम्बन्धः, इहानन्तराध्ययने कुशीलास्तत्प्रतिपक्षभूताश्च सुशीलाः प्रतिपादिताः, तेषां च कुशीलत्वं सुशीलत्वं च संयमवीर्यान्तरायोदयात्तत्क्षयोपशमाच्च भवतीत्यतो वीर्यप्रतिपादनायेदमध्ययनमुपदिश्यते, तदनेन संबंधेनायातस्यास्याध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि उपक्रमादीनि वक्तव्यानि, तत्राप्युपक्रमान्तर्गतोऽर्थाधिकारोऽयं, तद्यथा—बालबालपण्डितपण्डितवीर्यभेदात्त्रिविधमपि वीर्यं परिज्ञाय पण्डितवीर्ये यतितव्यमिति, नामनिष्पन्ने तु निक्षेपे वीर्याऽध्ययनं, वीर्यनिक्षेपाय निर्युक्तिकृदाह—

१ ××शकटं आ. । २ ग्रंथाग्र ३९९ आ. इ । ३ कुशीलाः प्रतिपादितास्तत्प्रतिपक्ष° आ. ।

विरिए छक्कं दव्वे सचित्ताऽचित्तमीसगं चेव। दुपयचउप्पयअपयं एयं तिविहं तु सचित्तं ॥९१॥

'विरिए छक्कं' इत्यादि, वीर्ये नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात् षोढा निक्षेपः, तत्रापि नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यवीर्यं द्विधा-आगमतो नोआगमतश्च, आगमतो ज्ञाता तत्र चानुपयुक्तः, नोआगमतस्तु ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं सचित्ताऽचित्तमिश्रभेदात्रिधा वीर्यं, सचित्तमपि द्विपदचतुष्पदापदभेदात् त्रिविधमेव, तत्र द्विपदानां अर्हच्चक्रवर्त्तिबलदेवादीनां यद्वीर्यं स्त्रीरत्नस्य वा यस्य वा यद्वीर्यं तदिह द्रव्यवीर्यत्वेन ग्राह्यं, तथा चतुष्पदानामश्वहस्तिरत्नादीनां सिंहव्याघ्रशरभादीनां वा परस्य वा यद्वोढव्ये धावने वा वीर्यं तदिति, तथाऽपदानां गोशीर्षचन्दनप्रभृतीनां शीतोष्णकालयोरुष्णशीतवीर्यपरिणाम इति। अचित्तवीर्यप्रतिपादनायाऽऽह-

अचित्तं पुण विरियं आहारावरणपहरणादीसु। जह ओसहीण भणियं विरियं रसवीरियविवागो ॥९२॥

आवरणे कवयादी चक्कादीयं च पहरणे होंति। खित्तंमि जंमि खेत्ते काले जं जंमि कालंमि ॥९३॥

'अचित्तं पुण' इत्यादि, अचित्तद्रव्यवीर्यं त्वाहारावरणप्रहरणेषु यद्वीर्यं तदुच्यते, तत्राऽऽहारवीर्यं तदुच्यते, तत्राऽऽहारवीर्यं 'सद्यः प्राणकरा हृद्या, घृतपूर्णाः कफापहाः' इत्यादि, ओषधीनां च शल्योद्धरणसंरोहणविषापहारमेधाकरणादिकं रसवीर्यं, विपाकवीर्यं च यदुक्तं चिकित्साशास्त्रादौ तदिह ग्राह्यमिति, तथा योनिप्राभृतकान्नानाविधं द्रव्यवीर्यं द्रष्टव्यमिति, तथा-'आवरणे' इत्यादि, आवरणे कवचादीनां प्रहरणे चक्रादीनां यद्भवति वीर्यं तदुच्यत इति। अधुना क्षेत्रकालवीर्यं गाथापश्चार्धेन दर्शयति-क्षेत्रवीर्यं तु देवकुर्वादिकं क्षेत्रमाश्रित्य सर्वाण्यपि द्रव्याणि तदन्तर्गतान्युत्कृष्टवीर्यवन्ति भवन्ति, यद्वा दुर्गादिकं क्षेत्रमाश्रित्य कस्यचिद्वीर्योल्लासो भवति, यस्मिन् वा क्षेत्रे

१ ×××यद्वी° आ.। २ °विवागं आ.। ३ होइ अ. आ.। ४ औष° आ. इ.। ५ °××××विषा° आ.। ६ °दीनां च य° अ. आ.।

वीर्यं व्याख्यायते तत्क्षेत्रवीर्यमिति, एवं कालवीर्यमप्येकान्तसुषमादावायोज्यमिति, तथा चोक्तम्–"वर्षासु लवणममृतं शरदि जलं गोपयश्च हेमन्ते। शिशिरे चामलकरसो, घृतं वसन्ते गुडश्चान्ते" ॥१॥ तथा–"ग्रीष्मे तुल्यगुडां सुसैन्धवयुतां मेघावनद्धेऽम्बरे, तुल्यां शर्करया शरद्यमलया शुण्ठ्या तुषारागमे। पिप्पल्या शिशिरे वसन्तसमये क्षौद्रेण संयोजितां, पुंसां प्राप्य हरीतकीमिव गदा नश्यन्तु ते शत्रवः" ॥१॥ भाववीर्यप्रतिपादनायाऽऽह––

भावो जीवस्स सवीरियस्स विरियंमि लद्धिऽणेगविहा। ओरसिंसदिय अज्झप्पिएसु बहुसो बहुविहीयं॥९४॥

मणवइकाया[1] आणापाणू संभव तहा[2] य संभव्वे। सोत्तादीणं सद्दादिएसु विसएसु गहणं च ॥९५॥

'भावो जीवस्स' इत्यादि, 'सवीर्यस्य' वीर्यशक्त्युपेतस्य जीवस्य 'वीर्ये' वीर्यविषये अनेकविधा लब्धिः, तामेव गाथापश्चार्द्धेन दर्शयति, तद्यथा–उरसि भवमौरस्यं शारीरबलमित्यर्थः[3], तथेन्द्रियबलमाध्यात्मिकं बलं बहुशो बहुविधं द्रष्टव्यमिति। एतदेव दर्शयितुमाह–'मणवइ' इत्यादि, आन्तरेण व्यापारेण गृहीत्वा पुद्गलान् मनोयोग्यान् मनस्त्वेन परिणमयति[4] भाषायोग्यान् भाषात्वेन परिणमयति काययोग्यान् कायत्वेन आनापानयोग्यान् तद्भावेनेति, तथा मनोवाक्कायादीनां तद्भावपरिणतानां यद्वीर्य–सामर्थ्यं तद्द्विविधं–सम्भवे सम्भाव्ये च, सम्भवे तावत्तीर्थकृतामनुत्तरोपपातिकानां च सुराणामतीव पटूनि मनोद्रव्याणि भवन्ति, तथाहि–तीर्थकृतामनुत्तरोपपातिकसुरमनःपर्यायज्ञानिप्रश्नव्याकरणस्य द्रव्यमनसैव करणात् अनुत्तरोपपातिकसुराणां च सर्वव्यापारस्यैव मनसा निष्पादनादिति, सम्भाव्ये तु यो हि यमर्थं पटुमतिना प्रोच्यमानं न शक्नोति साम्प्रतं परिणमयितुं सम्भाव्यते त्वेष परिकर्म्यमाणः शक्ष्यत्यमुमर्थं परि-

१ °काए अ. आ.। २ तहेव संभव्वे अ. तहेव संभवो आ.। ३ बलं शारीरमित्यर्थः आ. ××शारीरमित्यर्थः इ.। ४ °म×ति आ.।

णमयितुमिति, वाग्वीर्यमपि द्विविधं—सम्भवे सम्भाव्ये च, तत्र सम्भवे तीर्थकृतां योजननिर्हारिणी वाक् सर्वस्वस्वभाषानुगता च तथा-ऽन्येषामपि क्षीरमध्वास्रवादिलब्धिमतां वाचः सौभाग्यमिति, तथा हंसकोकिलादीनां सम्भवति स्वरमाधुर्यं, सम्भाव्ये तु सम्भाव्यते श्यामायाः स्त्रिया गानमाधुर्यं, तथा चोक्तम्—"सामा गायति महुरं काली गायति खरं च रुक्खं च" इत्यादि, तथा—सम्भावयामः—एनं श्रावकदारकम् अकृतमुखसंस्कारमप्यक्षरेषु यथावदभिलप्स्यत्येष्विति, तथा सम्भावयामः शुकसारिकादीनां वाचो मानुषभाषापरिणामः, कायवीर्यमप्यौरस्यं यद्यस्य बलं, तदपि द्विविधं—सम्भवे सम्भाव्ये च, संभवे यथा चक्रवर्तिबलदेववासुदेवादीनां यद्बाहुबलादि काय-बलं, तद्यथा—कोटिशिला त्रिपृष्ठेन वामकरतलेनोद्धृता, यदि वा—'सोलस रायसहस्सा' इत्यादि, यावदपरिमितबला जिनवरेन्द्रा इति, सम्भाव्ये तु सम्भाव्यते तीर्थकरो लोकमलोके कण्दुकवत् प्रक्षेप्तुं तथा मेरुं दण्डवद्गृहीत्वा वसुधां छत्रकवद्धर्त्तुमिति, तथा सम्भाव्यते अन्यतरसुराधिपो जम्बूद्वीपं वामहस्तेन छत्रकवद्धर्त्तुमयत्नेनैव च मन्दरमिति, तथा सम्भाव्यते अयं दारकः परिवर्धमानः शिलामेनामु-द्धर्त्तुं हस्तिनं दमयितुमश्वं वाहयितुमित्यादि, इन्द्रियबलमपि श्रोत्रेन्द्रियादि स्वविषयग्रहणसमर्थं पञ्चधा एकैकं, द्विविधं—सम्भवे सम्भा-व्ये च, सम्भवे यथा श्रोत्रस्य द्वादश योजनानि विषयः, एवं शेषाणामपि यो यस्य विषय इति, सम्भाव्ये तु यस्य कस्यचिदनुपहतेन्द्रि-यस्य श्रान्तस्य क्षुद्रस्य पिपासितस्य परिग्लानस्य वा अर्थग्रहणाऽसमर्थमपि इन्द्रियं सद्यथोक्तदोषोपशमे तु सति सम्भाव्यते विषयग्रह-णायेति। साम्प्रतमाध्यात्मिकं वीर्यं दर्शयितुमाह—

उज्जमधितिधीरत्तं सोंडीरत्तं खमा य गंभीरं। उवओगजोगतवसंजमादियं होइ अज्झप्पो ॥९६॥

१ °लिप्स° आ.। २ श्रोत्रेन्द्रियस्य आ.। ३ सो° अ. आ.। ४ अज्झप्प अ. आ.।

'उज्ञमधिति' इत्यादि, आत्मन्यधीत्यध्यात्मं तत्र भवमाध्यात्मिकम्–आन्तरशक्तिजनितं सात्त्विकमित्यर्थः, तच्चानेकधा–तत्रोद्यमो
ज्ञानतपोऽनुष्ठानादिषूत्साहः, एतदपि यथायोगं सम्भवे सम्भाव्ये च योजनीयमिति, धृतिः संयमे स्थैर्यं चित्तसमाधानमिति(यावत्),
धीरत्वं परीषहोपसर्गाक्षोभ्यता, शौण्डीर्यं त्यागसम्पन्नता, षट्खण्डमपि भरतं त्यजतश्चक्रवर्तिनो न मनः कम्पते, यदि वाऽऽपद्यविषण्णता,
यदि वा–विषमेऽपि कर्तव्ये समुपस्थिते पराभियोगमकुर्वन् मयैवैतत्कर्तव्यमित्येवं हर्षायमाणोऽविषण्णो विधत्त इति, क्षमावीर्यं तु परैरा-
८ क्रुश्यमानोऽपि मनागपि मनसा न क्षोभमुपयाति, भावयति (च तत्त्वं,) तच्चेदम्[2]–"आक्रुष्टेन मतिमता तत्त्वार्थगवेषणे मतिः कार्या।
यदि सत्यं कः कोपः ?, स्यादनृतं किं नु कोपेन ?; ॥१॥" तथा "अक्कोस[3]हण[4]णमारणधम्मब्भंसाण बालसुलभाणं। लाभं मन्नइ धीरो जहु-
त्तराणं अभावं (लाभं) मि" ॥१॥ गाम्भीर्यवीर्यं नाम परीषहोपसर्गैरधृष्यत्वं, यदि वा यत् मनश्चमत्कारकारिण्यपि स्वानुष्ठाने अनौद्धत्यं,
उक्तम् च–"[6]चुल्लुच्छलेइँ जं होइ ऊणयं रित्तयं कणकणेइ। भरियाइं ण खुब्भंती सुपुरिसविन्नाणभंडाइं" ॥१॥ उपयोगवीर्यं साकारानाकारभेदात् द्विविधं, तत्र साकारोपयोगोऽष्टधाऽनाकारश्चतुर्धा तेन चोपयुक्तः स्वविषयस्य द्रव्यक्षेत्रकालभावरूपस्य परिच्छेदं विधत्त इति,
तथा योगवीर्यं त्रिविधं मनोवाक्कायभेदात्, तत्र मनोवीर्यमकुशलमनोनिरोधः कुशलमनसश्च प्रवर्तनं, मनसो वा एकत्वीभावकरणं,
१० मनोवीर्येण हि निर्ग्रन्थसंयताः प्रवृद्धपरिणामा अवस्थितपरिणामाश्च भवन्तीति, वाग्वीर्येण तु भाषमाणोऽपुनरुक्तं निरवद्यं च भाषते,

---

१ ××× न° इ. । २ चेदं आ. । सा. ३ आक्रोशहननमारणधर्मभ्रंशानां बालसुलभानां लाभं मन्यते धीरो यथोत्तराणामभावे ॥१॥ ४ °वहण° आ. । ५ जनम° आ. । सा० ६ छुल्लुच्छुलेइ प्र०, छुलुच्छलेइ आ., कुलुच्छलेइ इ. । सा. ७ उद्गीरति यद्भवत्यूनकं रिक्तकं कणकगति भृतानि क्षुभ्यन्ते सुपुरुषविज्ञानभाण्डानि ॥१॥ ८ चतुर्द्धेति आ. इ. ।

कायवीर्यं तु यस्तु समाहितपाणिपादः कूर्मवदतिष्ठत इति, तपोवीर्यं द्वादशप्रकारं तपो यद्बलादग्लायन् विधत्त इति, एवं सप्तदशविधे संयमे एकत्वाद्यध्यवसितस्य यद्बलात् प्रवृत्तिस्तत्संयमवीर्यं, कथमहमतिचारं संयमे न प्राप्नुयामित्यध्यवसायिनः प्रवृत्तिरित्येवमाद्यध्यात्मवीर्यमित्यादि च भाववीर्यमिति वीर्यप्रवादपूर्वे चाऽनन्तं वीर्यं प्रतिपादितं, किमिति ?, यतोऽनन्तार्थं पूर्वं भवति[1], तत्र च वीर्यमेव प्रतिपाद्यते, अनन्तार्थता चातोऽवगन्तव्या, तद्यथा—"[2]सव्वणईणं जा होज्ज वालुया गणणमागया सन्ती । तत्तो बहुयतरागो अत्थो एगस्स पुव्वस्स" ॥१॥ "[3]सव्वसमुद्दाण जलं जइपत्थमियं हविज्ज संकलियं । एत्तो बहुयतरागो अत्थो एगस्स पुव्वस्स" ॥२॥ तदेवं पूर्वार्थस्यानन्त्याद्वीर्यस्य च तदर्थत्वादनन्तता वीर्यस्येति । सर्वमप्येतद्वीर्यं त्रिधेति प्रतिपादयितुमाह—

सव्वंपि[4]य तं तिविहं पंडिय बालविरियं च मीसं च । अहवावि होति दुविहं अगारअणगारियं चेव ॥९७॥

'सव्वपिय' इत्यादि, सर्वमप्येतद्भाववीर्यं पण्डितबालमिश्रभेदात् त्रिविधं, तत्राऽनगाराणां पण्डितवीर्यं बालपण्डित[5]वीर्यं त्वगाराणां गृहस्थानामिति, तत्र यतीनां पण्डितवीर्यं सादिसपर्यवसितं, सर्वविरतिप्रतिपत्तिकाले सादिता सिद्धावस्थायां तदभावात् [6]सान्तं, बालपण्डितवीर्यं तु देशविरतिसद्भावकाले सादि सर्वविरतिसद्भावे तद्भ्रंशे वा सपर्यव[7]सानं, बालवीर्यं त्वविरतिलक्षणमेवाभव्यानामनाद्यपर्यवसितं भव्यानां त्वनादिसपर्यवसितं, सादिसपर्यवसितं तु विरतिभ्रंशात् सादिता पुनर्जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तादुत्कृष्ट[8]तोऽपार्द्धपुद्गलपरावर्तात् विरतिसद्भावात् सान्ततेति, साद्यपर्यवसितस्य तृतीयभङ्गकस्य त्वसम्भव एव, यदि वा–पण्डितवीर्यं सर्वविरतिलक्षणं विरतिरपि चारित्रमोहनीय-

१ वदंति आ. । सा० २ सर्वासां नदीनां यावन्त्यो भवेयुर्वालुका गणनमागताः सत्यः ततो बहुतरोऽर्थ एकस्य पूर्वस्य ॥१॥ ३ सर्वसमुद्राणां जलं यतिप्रमितं तत् भवेत्संकलितं ततो° ॥ ४ °पिए त° अ. आ. । ५ °वीर्यं आ. इ. । ६ °सान्तता आ. । ७ °सानता आ. । ८ °तः उपार्द्ध° आ. ।

क्षयक्षयोपशमोपशमलक्षणात्रिविधैव, अतो वीर्यमपि त्रिधैव भवति[1] । गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, तदनु सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारयितव्यं, तच्चेदम्—

दुहा वेयं सुयक्खायं, वीरियंति पवुच्चई । किं नु वीरस्स वीरत्तं, कहं चेयं[2] पवुच्चई ? ॥१॥

कम्ममेगे पवेदेंति, अकम्मं वावि सुव्वया । एतेहिं दोहि ठाणेहिं जेहिं दीसंति मच्चिया ॥२॥

'दुहा वेयं' इत्यादि, द्वे विधे—प्रकारावस्येति द्विविधं—द्विप्रकारं, प्रत्यक्षाऽऽसन्नवाचित्वात् इदमो यदनन्तरं प्रकर्षेणोच्यते प्रोच्यते वीर्यं तद्विभेदं सुष्ठ्वाख्यातं स्वाख्यातं[3] तीर्थकरादिभिः, वा[4] वाक्यालङ्कारे, तत्र 'ईर' गतिप्रेरणयोः, विशेषेण ईरयति—प्रेरयति अहितं येन तद्वीर्यं जीवस्य शक्तिविशेष इत्यर्थः, तत्र, किं नु 'वीरस्य' सुभटस्य वीरत्वं ?, केन वा कारणेनासौ वीर इत्यभिधीयते, नुशब्दो वितर्कवाची, एतद्वितर्कयति—किं तद्वीर्यं ?, वीरस्य वा किं तद्वीरत्वमिति ॥१॥ तत्र भेदद्वारेण वीर्यस्वरूपमाचिख्यासुराह—'कम्ममेगे' इत्यादि, कर्म्म—क्रियानुष्ठानमित्येतदेके वीर्यमिति प्रवेदयन्ति, यदि वा—कर्माष्टप्रकारं कारणे कार्योपचारात् तदेव वीर्यमिति प्रवेदयन्ति, तथाहि—औदयिकभावनिष्पन्नं कर्मेत्युपदिश्यते, औदयिकोऽपि च भावः कर्मोदयनिष्पन्न एव बालवीर्यं[5], द्वितीयभेदस्त्वयं—न विद्यते कर्मास्येत्यकर्मा—वीर्यान्तरायक्षयजनितं जीवस्य सहजं वीर्यमित्यर्थः, चशब्दात् चारित्रमोहनीयोपशमक्षयोपशमजनितं च, हे सुव्रता ! एवम्भूतं पण्डितवीर्यं जानीत यूयं, आभ्यामेव द्वाभ्यां स्थानाभ्यां सकर्मकाकर्मकापादितबालपण्डितवीर्याभ्यां व्यवस्थितं वीर्यमित्युच्यते, यकाभ्यां च ययोर्वा व्यवस्थिता मर्त्येषु भवा मर्त्याः 'दिस्संत'[6] इति दृश्यन्तेऽपदिश्यन्ते वा, तथाहि—नानाविधासु क्रियासु

१ °तीति आ. । २ चेव आ. । ३ ×××ती° इ. । ४ °श्चो° आ. इ. । सा० ५ वीर्यत्रयेऽस्यैवोदयनिष्पन्नत्वात्, शेषं त्वन्यथेत्युत्तरभेदे । ६ ××××× दृश्य° आ. इ. ।

प्रवर्तमानमुत्साहबलसंपन्नं मर्त्यं दृष्ट्वा वीर्यवानयं मर्त्य इत्येवमपदिश्यते, तथा तदावारककर्मणः क्षयादनन्तबलयुक्तोऽयं मर्त्य इत्येवमपदिश्यते दृश्यते चेति ॥२॥ इह बालवीर्यं कारणे कार्योपचारात् कर्मैव वीर्यत्वेनाऽभिहितं, साम्प्रतं कारणे कार्योपचारादेव प्रमादं कर्मत्वेनाऽपदिशन्नाह—

पमायं कम्ममाहंसु, अप्पमायं तहाऽवरं। तब्भावादेसओ वावि, बालं पंडियमेव वा ॥३॥

सत्थमेगे तुं[1] सिक्खंता, अतिवायाय पाणिणं। एगे मंते अहिज्जंति, पाणभूयविहेडिणो[2] ॥४॥

'पमायं' इत्यादि, प्रमाद्यन्ति-सदनुष्ठानरहिता भवन्ति प्राणिनो येन स प्रमादो—मद्यादिः, तथा चोक्तम्—"मज्जं[3] विसयकसाया णिद्दा विगहा य पंचमी भणिया। एस पमायपमाओ णिद्दिट्ठो वीयरागेहिं" ॥१॥ तमेवम्भूतं प्रमादं कर्मोपादानभूतं कर्म 'आहुः' उक्तवन्तस्तीर्थंकरादयः, अप्रमादं च तथाऽपरमकर्मकमाहुरिति, एतदुक्तं भवति—प्रमादोपहतस्य कर्म बध्यते, सकर्मणश्च यत्क्रियानुष्ठानं तद्बालवीर्यं, तथाऽप्रमत्तस्य कर्माऽभावो भवति, एवंविधस्य च पण्डितवीर्यं भवति, एतच्च बालवीर्यं पण्डितवीर्यमिति वा प्रमादवतः सकर्मणो बालवीर्यमप्रमत्तस्याकर्मणः पण्डितवीर्यमित्येवमायोज्यं, 'तब्भावादेसओ[4] वावी'ति तस्य—बालवीर्यस्य कर्मणश्च[5] पण्डितवीर्यस्य वा भावः-सत्ता स तद्भावस्तेनाऽऽदेशो—व्यपदेशः ततः, तद्यथा—बालवीर्यमभव्यानामनादिअपर्यवसितं भव्यानामनादिसपर्यवसितं वा सादिसपर्यवसितं वेति, पण्डितवीर्यं तु सादिसपर्यवसितमेवेति ॥३॥ तत्र प्रमादोपहतस्य सकर्मणो यद्बालवीर्यं तद्दर्शयितुमाह—'सत्थमेगे' इत्यादि,

१ सुसिक्खंति आ. उ सिक्खंति इ। २ °डणे आ.। सा. ३ मद्यं विषयाः कषाया निद्रा विकथा च पंचमी भणिता (एते पंच प्रमादा निर्दिष्टा) एष प्रमादप्रमादो निर्दिष्टो वीतरागैः ॥१॥ ४ तद्भावादेशतो वापीति आ. इ.। ५ ××××प° आ. इ.।

शस्त्रं--खड्गादिप्रहरणं शास्त्रं वा धनुर्वेदायुर्वेदादिकं प्राण्युपमर्दकारि तत् सुष्ठु सातगौरवगृद्धा 'एके' केचन 'शिक्षन्ते' उद्यमेन गृह्णन्ति, तच्च शिक्षितं सत् 'प्राणिनां' जन्तूनां विनाशाय भवति, तथाहि–तत्रोपदिश्यते एवंविधमालीढप्रत्यालीढादिर्भि[1]र्जीवे व्यापादयितव्ये स्थानं विधेयं, तदुक्तम्–"मुष्टिनाऽऽच्छादयेल्लक्ष्यं, मुष्टौ दृष्टिं निवेशयेत्। हतं लक्ष्यं विजानीयाद्यदि मूर्धा न कम्पते" ॥१॥ तथा एवं लावकरसः क्षयिणे देयोऽभयारिष्टाख्यो मद्यविशेषश्चेति, [2]तथा एवं चौरादेः शूलारोपणादिको दण्डो विधेयः तथा चाणक्याभि[3]प्रायेण परो वञ्चयितव्योऽर्थोपादानार्थं तथा कामशास्त्रादिकं चोद्यमेनाशुभाध्यवसायिनोऽधीयते, तदेवं शस्त्रस्य धनुर्वेदादेः शास्त्रस्य वा यदभ्यसनं तत्सर्वं बालवीर्यं, किञ्च एके केचन पापोदयात् मन्त्रानभिचारकाना(ते[4])थर्वणानश्वमेधपुरुषमेधसर्वमेधादियागार्थमधीयन्ते, किम्भूतानिति दर्शयति–'प्राणा' द्वीन्द्रियादयः 'भूतानि' पृथिव्यादीनि तेषां 'विविधम्' अनेकप्रकारं 'हेठ[5]कान्' बाधकान् ऋक्संस्थानीयान् मन्त्रान् पठन्तीति, तथा चोक्तम्–"षट् शतानि नियुज्यन्ते, पशूनां मध्यमेऽहनि। अश्वमेधस्य वचनान्न्यूनानि पशुभिस्त्रिभिः ॥ ॥१॥" इत्यादि ॥४॥ अधुना 'सत्थ'मित्येतत्सूत्रपदं सूत्रस्पर्शिकया निर्युक्तिकारः स्पष्टयितुमाह—

सत्थं असिमादीयं विज्जामंते य देवकम्मकयं। पत्थिववारुणअग्गेय वाऊ तह मीसगं चेव ॥९८॥[6]

'सत्थं' इत्यादि, शस्त्रं–प्रहरणं तच्च असिः–खड्गस्तदादिकं, तथा विद्याधिष्ठितं, मन्त्राधिष्ठितं देवकर्मकृतं–दिव्यक्रियानिष्पादितं, तच्च पञ्चविधं, तद्यथा–पार्थिवं वारुणमाग्नेयं वायव्यं तथैव द्व्यादिमिश्रं चेति। किञ्चान्यत्—

---

१ °दि×जीवे आ. इ.। २ ×××× चौरा° आ.। ३ °प्रायेणैवं आ. इ.। ४ × थ° आ. इ.। ५ हेठनात् बाधनात् आ.। ६ विरिय सम्मत्तं अ. आ.।

माइणो कट्टु माया य, कामभोगे समारभे । हंता छेत्ता पगब्भित्ता, आयसायाणुगामिणो ॥५॥
मणसा वयसा चेव, कायसा चेव अंतसो । आरओ परओ वावि, दुहावि य असंजया ॥६॥

'माइणो' इत्यादि, सूत्रं 'माया' परवञ्चनादि(त्मि)का बुद्धिः सा विद्यते येषां ते मायाविनस्त एवम्भूता मायाः–परवञ्चनानि कृत्वा एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणादेव क्रोधिनो मानिनो लोभिनः सन्तः 'कामान्' इच्छारूपान् तथा भोगांश्च शब्दादिविषयरूपान् 'समारभन्ते' सेवन्ते पाठान्तरं वा 'आरंभाय तिवट्टइ' त्रिभिः मनोवाक्कायैरारम्भार्थं वर्त्तते, बहून् जीवान् व्यापादयन् बध्नन् अपध्वंसयन् आज्ञापयन् भोगार्थी वित्तोपार्जनार्थं प्रवर्त्तत इत्यर्थः, तदेवम् 'आत्मसातानुगामिनः' स्वसुखलिप्सवो दुःखद्विषो विषयेषु गृद्धाः कषायकलुषितान्तरात्मानः सन्त एवम्भूता भवन्ति, तद्यथा–'हन्तारः' प्राणिव्यापादयितारस्तथा छेत्तारः कर्णनासिकादेस्तथा प्रकर्तयितारः पृष्ठोदरादेरिति ॥५॥ तदेतत्कथमित्याह–'मणसा' इत्यादि, तदेतत्प्राण्युपमर्दनं मनसा वाचा कायेन कृतकारितानुमतिभिश्च 'अन्तशः' कायेनाशक्तोऽपि तन्दुलमत्स्यवन्मनसैव पापानुष्ठानानुमत्या कर्म बध्नातीति, तथा आरतः परतश्चेति लौकिकी वाचो युक्तिरित्येवं पर्यालोच्यमाना ऐहिकामुष्मिकयोः द्विधापि' स्वयंकरणेन परकरणेन चासंयता–जीवोपघातकारिण इत्यर्थः ॥६॥ साम्प्रतं जीवोपघातविपाकदर्शनार्थमाह–

वेराइं कुव्वई वेरी, तओ वेरेहिं रज्जती । पावोवगा य आरंभा, दुक्खफासा य अंतसो ॥७॥

१ मायाओ आ. इ. । २ समाहरे आ. इ. । ३ पकत्तिता आ. । ४ °नात्मिका बुद्धिः आ. °नात्मिकबुद्धिः इ. । ५ मायया आ. । ६ तिऊट्टई आ. । ७ उप° आ. । ८ °नार्थ×××× मित्यर्थः आ. ।

संपरायं णियच्छंति, अत्तदुक्कडकारिणो[1] । रागदोसस्सिया बाला, पावं कुव्वंति ते बहुं ॥८॥

'वेराइं' इत्यादि, वैरमस्यास्तीति वैरी, स जीवोपमर्दकारी जन्मशतानुबन्धीनि वैराणि करोति, ततोऽपि च वैरादपरैर्वैरैरनुरज्यते-संबध्यते, वैरपरम्परानुषङ्गी भवतीत्यर्थः, किमिति ?, यतः पापं उप-सामीप्येन गच्छन्तीति पापोपगाः, क एते ?–'आरम्भाः' सावद्यानुष्ठानरूपाः 'अन्तशो' विपाककाले दुःखं स्पृशन्तीति दुःखस्पर्शा–असातोदयविपाकिनो भवन्तीति ॥७॥ किञ्चान्यत्–'सम्परायं
८ णियच्छंती'त्यादि, द्विविधं कर्म–ईर्यापथं साम्परायिकं च, तत्र सम्पराया–बादरकषायास्तेभ्य आगतं साम्परायिकं तत् जीवोपमर्दकत्वेन वैरानुषङ्गितया 'आत्मदुष्कृतकारिणः' स्वपापविधायिनः सन्तो 'नियच्छन्ति' बध्नन्ति, तानेव विशिनष्टि–'रागद्वेषाश्रिताः' कषायकलुषितान्तरात्मानः सदसद्विवेकविकलत्वात् बाला इव बालाः, ते चैवम्भूताः 'पापम्' असद्वेद्यं 'बहु' अनन्तं 'कुर्वन्ति' विदधति ॥८॥

एवं बालवीर्यं प्रदर्श्योपसंजिघृक्षुराह[2]—

एयं सकम्मवीरियं, बालाणं तु पवेदितं । इत्तो[3] अकम्मविरियं, पंडियाणं सुणेह मे ॥९॥

१० दव्विए बंधणुम्मुक्के[4], सव्वओ छिन्नबंधणे । पणोल्ल[5] पावकं कम्मं, सल्लं कंतति अंतसो ॥१०॥

'एयं सकम्म' इत्यादि, 'एतत्' यत् प्राक् प्रदर्शितं, तद्यथा–प्राणिनामतिपातार्थं शस्त्रं शास्त्रं वा केचन शिक्षन्ते तथा परे विद्यामन्त्रान् प्राणिबाधकानधीयन्ते तथाऽन्ये मायाविनो नानाप्रकारां मायां कृत्वा कामभोगार्थमारम्भान् कुर्वते केचन पुनरपरे वैरिणस्तत्कु-

१ अत्ता° आ. । २ °जिहीर्षु° आ.। ३ एत्तो आ. । ४ वंधणं मुक्के इ. । ५ पणोल्के इ. ।

र्वन्ति येन वैरैरनुबध्यन्ते[1](ते) तथाहि–जमदग्निना स्वभार्याऽकार्यव्यतिकरे कृतवीर्यो विनाशतः, तत्पुत्रेण तु कार्तवीर्येण पुनर्जमदग्निः[2], जमदग्निसुतेन परशुरामेण सप्त वारान् निःक्षत्रा पृथिवी कृता, पुनः कार्तवीर्यसुतेन तु सुभूमेन त्रिःसप्तकृत्वो ब्राह्मणा व्यापादिताः, तथा चोक्तम्–"अपकारसमेन कर्मणा न नरस्तुष्टिमुपैति शक्तिमान् । अधिकां कुरु वै[3] (तेऽ)रियातनां द्विषतां जातमशेषमुद्धरेत्" ॥१॥ तदेवं कषायवशगाः प्राणिनस्तत्कुर्वन्ति येन पुत्रपौत्रादिष्वपि वैरानुबन्धो भवति, तदेतत्सकर्मणां बालानां वीर्यं तुशब्दात् प्रमादवतां च
९ प्रकर्षेण वेदितं प्रवेदितं[4] प्रतिपादितमितियावत्, अत ऊर्ध्वमकर्मणां–पण्डितानां यद्वीर्यं तन्मे–मम कथयतः शृणुत यूयमिति ॥९॥ यथा-प्रतिज्ञातमेवाह–'द्रव्यो' भव्यो मुक्तिगमनयोग्यः 'द्रव्यं च भव्य' इति वचनात् रागद्वेषविरहाद्वा द्रव्यभूतोऽकषायीत्यर्थः, यदि वा वीतराग इव वीतरागोऽल्पकषाय इत्यर्थः[5], तथा चोक्तम्–"किं[6] सक्का वोत्तुं जे सरागधम्मंमि कोइ अकसायी । संतेवि जो कसाए निगिण्हइ सोऽवि तत्तुल्लो" ॥१॥ स च किम्भूतो भवतीति दर्शयति–बन्धनात्–कषायात्मकान्मुक्तो बन्धनोन्मुक्तः, बन्धनत्वं[7] तु कषायाणां कर्मस्थितिहेतुत्वात्, तथा चोक्तम्–'बंधट्ठिई[8] कसायवसा' कषायवशात्[9] इति, यदि वा–बन्धनोन्मुक्त इव बन्धनोन्मुक्तः, तथाऽपरः 'सर्वतः' सर्वप्रकारेण सूक्ष्मबादररूपं 'छिन्नम्' अपनीतं 'बन्धनं' कषायात्मकं येन स छिन्नबन्धनः, तथा 'प्रणुद्य' प्रेर्य 'पापं' कर्म
१० कारणभूतान्वाऽऽश्रवानपनीय शल्यवच्छल्यं–शेषकं कर्म तत् कृन्तति–अपनयति अन्तशो–निरवशेषतो विघटयति, पाठान्तरं वा 'सल्लं कंतइ अप्पणो'त्ति शल्यभूतं यदष्टप्रकारं कर्म तदात्मनः सम्बन्धि कृन्तति–छिनत्तीत्यर्थः ॥१०॥ यदुपादाय शल्यमपनयति

---

१ × तथाहि आ. इ. । २ °जन्मदग्निः पुनर्जम° आ. इ. । ३ वैश्या° आ. इ. । ४ ×××× प्रति° आ. । ५ इतिस्तथा आ. । सा० ६ किं शक्या वक्तुं यत्सरागधर्म्में कोऽप्यकषायः । सतोऽपि यः कषायान्निगृण्हाति सोऽपि तत्तुल्यः ॥१॥ ७ बन्धनं तु°इ. । सा. ८ बन्धस्थिती कषायवशात् । ९ ××××××इति आ. इ. ।

तद्दर्शयितुमाह—

नेयाउयं सुयक्खायं, उवादाय समीहए। भुज्जो भुज्जो दुहावासं, असुहत्तं तहा तहा ॥११॥

ठाणी विविहठाणाणि, चइस्संति ण संसओ। [1]अणियते [2]अयं वासे, णायएहि सुहीहि य ॥१२॥

'नेयाउयं' इत्यादि, नयनशीलो नेता, नयतेस्ताच्छीलिकस्तृन्, स चात्र सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मको मोक्षमार्गः श्रुतचारित्ररूपो वा धर्मो मोक्षनयनशीलत्वात् गृह्यते, तं मार्गं धर्मं वा मोक्षं प्रति नेतारं सुष्ठु तीर्थकरादिभिराख्यातं स्वाख्यातं तम् 'उपादाय' गृहीत्वा 'सम्यक्' मोक्षाय ईहते–चेष्टते ध्यानाध्ययनादावुद्यमं विधत्ते, धर्मध्यानारोहणालम्बनायाह–'भूयो भूयः' पौनःपुन्येन यद्बालवीर्यं तदतीतानागतानन्तभवग्रहणेषु–(ग्रं० ५०००) दुःखमावासयतीति दुःखावासं वर्तते, यथा यथा च बालवीर्यवान् नरकादिषु दुःखावासेषु पर्यटति तथा तथा चास्याशुभाध्यवसायित्वादशुभमेव [3]प्रवर्धते इत्येवं संसारस्वरूपमनुप्रेक्षमाणस्य धर्मध्यानं प्रवर्तत इति ॥११॥ साम्प्रतमनित्यभावनामधिकृत्याह–'ठाणी विविह' इत्यादि, स्थानानि विद्यन्ते येषां ते स्थानिनः, तद्यथा–देवलोके इन्द्रस्तत्सामानिकत्रायस्त्रिंशत्पार्षद्यादीनि मनुष्येष्वपि चक्रवर्तिबलदेववासुदेवमहामण्डलिकादीनि तिर्यक्ष्वपि यानि कानिचिदिष्टानि भोगभूम्यादौ स्थानानि तानि सर्वाण्यपि विविधानि–नानाप्रकाराण्युत्तमाधममध्यमानि ते स्थानिनस्त्यक्ष्यन्ति, नात्र संशयो विधेय इति, तथा चोक्तम्–"अशाश्वतानि स्थानानि, सर्वाणि दिवि चेह च। देवासुरमनुष्याणामृद्धयश्च सुखानि च" ॥१॥ तथाऽयं "ज्ञातिभिः' [4]बन्धुभिः

सा० १ अनिइए य संवासे इति पाठो व्याख्याक्रुन्मतः, एवं च चकारावित्यादेर्नासंगतिर्व्याख्यापाठस्य । २ अणीतिते अयं वासे आ. अणीयए य संवासे इ. । ३ प्रवर्त्तते आ. । ४ सद्बन्धुभिः इ. ।

सार्धं सहायैश्च मित्रैः सुहृद्भिर्यः संवासः सोऽनित्योऽशाश्वत इति, तथा चोक्तम्–"सुचिरतरमुषित्वा बान्धवैर्विप्रयोगः, सुचिरमपि हि रन्त्वा नास्ति भोगेषु तृप्तिः । सुचिरमपि सुपुष्टं[7] याति नाशं शरीरं, सुचिरमपि विचिन्त्यो धर्म एकः सहायः" ॥१॥ इति, चकारौ धनधान्यद्विपदचतुष्पदशरीराद्यनित्यत्वभावनार्थौ (र्थं) अशरणाद्यशेषभावनार्थं चानुक्तसमुच्चयार्थमुपात्ताविति ॥१२॥ अपि च—

एवमादाय मेहावी, अप्पणो गिद्धिमुद्धरे । आरियं[2] उवसंपज्जे, सव्वधम्ममकोवि[3] (५००)यं ॥१३॥

सह संमइए[4] णच्चा, धम्मसारं सुणेत्तु वा । समुवट्ठिए[5] उ अणगारे, पच्चक्खायपावए ॥१४॥

'एवमादाय' इत्यादि, अनित्यानि सर्वाण्यपि स्थानानीत्येवम् 'आदाय' अवधार्य 'मेधावी' मर्यादाव्यवस्थितः सदसद्विवेकी वा[6] आत्मनः सम्बन्धिनीं 'गृद्धिं' गार्द्ध्यं ममत्वम् 'उद्धरेद्' अपनयेत् , ममेदमहमस्य स्वामीत्येवं ममत्वं क्वचिदपि न कुर्यात् , तथा आराद्यातः सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्यो–मोक्षमार्गः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकः, आर्याणां वा–तीर्थकृदादीनामयमार्यो–मार्गस्तम् 'उपसम्पद्येत' अधितिष्ठेत् समाश्रयेदिति, किम्भूतं मार्गमित्याह–सर्वैः कुतीर्थिकधर्मैः 'अकोपितो' अदूषितः स्वमहिम्नैव दूषयितुमशक्यत्वात् प्रतिष्ठां गतः (तं), यदि वा- सर्वैर्धर्मैः–स्वभावैरनुष्ठानरूपैरगोपितं–कुत्सितकर्त्तव्याभावात् प्रकटमित्यर्थः ॥१३॥ सुधर्मपरिज्ञानं[8] च यथा भवति तद्दर्शयितुमाह--'सह संमइए'[9] इत्यादि, धर्मस्य सारः--परमार्थो धर्मसारस्तं 'ज्ञात्वा' अवबुद्ध्य, कथमिति दर्शयति-सह सन् मत्या स्वमत्या वा--विशिष्टाभिनिबोधिकज्ञानेन श्रुतज्ञानेनावधिज्ञानेन वा, स्वपरावबोधकत्वात् ज्ञानस्य, तेन सह, धर्मस्य सारं

सा० १ सुगुप्तं । २ आयरियं इ. । ३ °मगोवियं आ. । ४ संमुइए आ. इ. । ५ उवट्ठिए उ. आ. समुवठिते× इ. । ६ सा. नेदं प्र०, आ. हि पुष्टं इ. ७ गतो यस्तं° आ. गतो× इ. । सा० ८ सद्धर्म° प्र०, आ. । ९ संमुइए आ. इ. ।

ज्ञात्वेत्यर्थः अन्येभ्यो वा–तीर्थंकरगणधराचार्यादिभ्यः इलापुत्रवत् श्रुत्वा चिलातपुत्रवद्वा धर्मसारमुपगच्छति, धर्मस्य वा सारं–चारित्रं तत्प्रतिपद्यते, तत्पतिपत्तौ च पूर्वोपात्तकर्मक्षयार्थं पण्डितवीर्यसम्पन्नो रागादिबन्धनविमुक्तो बालवीर्यरहित उत्तरोत्तरगुणसम्पत्तये समुपस्थितोऽनगारः प्रवर्धमानपरिणामः प्रत्याख्यातं–निराकृतं पापकं–सावद्यानुष्ठानरूपं येनासौ प्रत्याख्यातपापको भवतीति ॥ १४ ॥

किञ्चान्यत्—

९ **जं किंचुवक्कमं जाणे, आउक्खेमस्स अप्पणो। तस्सेव अंतरा खिप्पं, सिक्खं सिक्खेज्ज पंडिए ॥१५॥**

जहा कुम्मे सअंगाइं, सए देहे समाहरे। एवं पावाइं मेधावी, अज्झप्पेण समाहरे ॥१६॥

'जं किंचुवक्कमं' इत्यादि, उपक्रम्यते–संवर्त्यते क्षयमुपनीयते आयुर्येन स उपक्रमस्तं यं कञ्चन जानीयात्, कस्य ?–'आयुःक्षेमस्य' स्वायुष इति, इदमुक्तं भवति–स्वायुष्कस्य येन केनचित्प्रकारेणोपक्रमो भावी यस्मिन् वा काले तत्परिज्ञाय तस्योपक्रमस्य कालस्य वा अन्तराले क्षिप्रमेवानाकुलो जीवितानाशंसी 'पण्डितो' विवेकी संलेखनारूपां शिक्षां भक्तपरिज्ञेङ्गितमरणादिकां वा शिक्षेत्, तत्र ग्रहण-
१० शिक्षया यथावन्मरणविधिं विज्ञायाऽऽसेवनाशिक्षया त्वासेवेतेति ॥१५॥ किञ्चान्यत्–'जहा कुम्मे' इत्यादि, 'यथे'त्युदाहरणप्रदर्शनार्थः यथा 'कूर्मः' कच्छपः स्वान्यङ्गानि–शिरोधरादीनि स्वके देहे 'समाहरेद्' गोपयेद्–अव्यापाराणि कुर्याद् 'एवम्' अनयैव प्रक्रियया 'मेधावी' मर्यादावान् सदसद्विवेकी वा 'पापानि' पापरूपाण्यनुष्ठानानि 'अध्यात्मना' सम्यग्धर्मध्यानादिभावनया 'समाहरेत्' उपसंहरेत्, मरणकाले चोपस्थिते सम्यक् संलेखनया संलिखितकायः पण्डितमरणेनात्मानं समाहरेदिति ॥१६॥ संहरणप्रकारमाह—

सा० १ स्वमत्यपेक्षया। २ ×पापानि आ.।

साहरे हत्थपाए य, मणं [1]पंचेंदियाणि य। पावकं च परीणामं, भासादोसं च तारिसं ॥१७॥

[2]अणु माणं च मायं च, तं पडिन्नाय पंडिए। सातागारवणिहुए, उवसंते णिहे चरे ॥१८॥

'साहरे' इत्यादि, पादपोपगमने [3]इङ्गिनीमरणे भक्तपरिज्ञायां शेषकाले वा कूर्मवद्धस्तौ पादौ च 'संहरेद्' व्यापारान्निवर्त्तयेत्, तथा 'मनः' अन्तःकरणं तच्चाकुशलव्यापारेभ्यो निवर्तयेत्, तथा–शब्दादिविषयेभ्योऽनुकूलप्रतिकूलेभ्योऽरक्तद्विष्टतया श्रोत्रेन्द्रियादीनि पञ्चापीन्द्रियाणि चशब्दः समुच्चये तथा पापकं परिणाममैहिकामुष्मिकाशंसारूपं संहरेदित्येवं भाषादोषं च 'तादृशं' पापरूपं [4]संहरेत्, मनोवाक्कायगुप्तः सन् दुर्लभं सत्संयममवाप्य पण्डितमरणं वाऽशेषकर्मक्षयार्थं सम्यगनुपालयेदिति ॥१७॥ तं च संयमे पराक्रममाणं कश्चित् पूजासत्कारादिना निमन्त्रयेत्, तत्रात्मोत्कर्षो न कार्य इति दर्शयितुमाह–'अणु माणं च' इत्यादि, चक्रवर्त्यादिना सत्कारादिना पूज्यमानेन 'अणुरपि' स्तोकोऽपि 'मानः' अहङ्कारो न विधेयः, किमुत महान्?, यदिवोत्तममरणोपस्थितेनोग्रतपोनिष्टप्तदेहेन वा अहोऽहमित्येवंरूपः स्तोकोऽपि गर्वो न विधेयः, तथा पण्डुरार्ययेव स्तोकाऽपि माया न विधेया, किमुत महती?, इत्येवं क्रोधलोभावपि न विधेयाविति, एवं द्विविधयापि परिज्ञया कषायांस्तद्विपाकांश्च परिज्ञाय तेभ्यो निवृत्तिं कुर्यादिति, पाठान्तरं वा 'अइमाणं च मायं च, तं परिण्णाय पंडिए' अतीव मानोऽतिमानः सुभूमादीनामिव तं दुःखावहमित्येवं ज्ञात्वा परिहरेत्, इदमुक्तं भवति–यद्यपि सरागस्य कदाचिन्मानोदयः स्यात्तथाप्युदयप्राप्तस्य विफलीकरणं कुर्यादित्येवं मायायामप्यायोज्यं, पाठान्तरं वा 'सुयं मे इहमेगेसिं, एयं वीरस्स वीरियं'

१ सव्विंदियाणि य आ. इ.। २ आयतट्ठं सुयादायं एयं वीरस्स वीरियं। सातागारवणिहुते उवसंते अ णिहे चरे ॥ आ. अणुमाणं च मायं च, तं परिण्णाय पंडिए आयतट्ठमुयादाया। एवं वीरस्स वीरियं सायागारव णिहुते उवसंते णिहे चरे ॥ इ.। ३ इङ्गितमरणे आ. इ.। सा. ४ उपसंहरेत् प्र०, आ. इ.।

येन बलेन सङ्ग्रामशिरसि महति सुभटसंकटे परानीकं विजयते तत्परमार्थतो वीर्यं न भवति, अपि तु येन कामक्रोधादीन् विजयते तद्वीरस्य–महापुरुषस्य वीर्यम् 'ईहैव' अस्मिन्नेव संसारे मनुष्यजन्मनि वैकेषां तीर्थकरादीनां सम्बन्धि वाक्यं मया श्रुतं, पाठान्तरं वा 'आयतट्ठं सुआदाय, एवं वीरस्स वीरियं' आयतो–मोक्षोऽपर्यवसितावस्थानत्वात् स चासावर्थश्च तदर्थो वा–तत्प्रयोजनो वा सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमार्गः स आयतार्थस्तं सुष्ठ्वादाय–गृहीत्वा यो धृतिबलेन कामक्रोधादिजयाय च पराक्रमते एतद्वीरस्य वीर्यमिति, यदुक्तमासीत् 'किं तु वीरस्य वीरत्व'मिति तद्यथा भवति तथा व्याख्यातं, किञ्चान्यत्–सातागौरवं नाम सुखशीलता तत्र निभृतः–तदर्थमनुद्युक्त इत्यर्थः, तथा क्रोधाग्निजयादुपशान्तः–शीतीभूतः[2] शब्दादिविषयेभ्योऽप्यनुकूलप्रतिकूलेभ्योऽरक्तद्विष्टतयोपशान्तो जितेन्द्रियत्वात्तेभ्यो निवृत्त इति, तथा निहन्यन्ते प्राणिनः संसारे यया सा निहा–माया न विद्यते सा यस्यासावनिहो मायाप्रपञ्चरहित इत्यर्थः, तथा मानरहितो लोभवर्जित इत्यपि द्रष्टव्यं, स चैवम्भूतः संयमानुष्ठानं 'चरेत्' कुर्यादिति, तदेवं मरणकालेऽन्यदा वा पण्डितवीर्यवान् महाव्रतेषूद्यतः स्यात् । तत्रापि प्राणातिपातविरतिरेव गरीयसीतिकृत्वा तत्प्रतिपादनार्थमाह–"उड्ढमहे तिरियं वा जे पाणा तसथावरा । सव्वत्थ विरतिं कुज्जा, संति निव्वाणमाहियं ॥१[3]॥" अयं च श्लोको न सूत्रादर्शेषु दृष्टः, टीकायां तु दृष्ट इतिकृत्वा लिखितः, उत्तानार्थश्चेति ॥१८॥ किञ्च—

पाणे य णाइवाएज्जा, अदिन्नंपिय णादए । सादियं ण मुसं बूया, एस धम्मे वुसीमओ ॥१९॥

अतिक्कम्मंति वायाए, मणसा वि न पत्थए । सव्वओ संवुडे दंते, आयाणं सुसमाहरे ॥२०॥

---

१ एय आ. । २ शान्तीभूतः आ. । सा० ३ अ० ३ उ० ४ गाथा० २० नवरं जे केईत्ति ।

'पाणे' इत्यादि, प्राणप्रियाणां प्राणिनां प्राणान्नातिपातयेत्, तथा परेणादत्तं दन्तशोधनमात्रमपि 'नाददीत' न गृह्णीयात्, तथा–सहादिना–मायया वर्त्तत इति सादिकं–समायं मृषावादं न ब्रूयात्, तथाहि–परवञ्चनार्थं मृषावादोऽधिक्रियते, स च न मायामन्तरेण भवतीत्यतो मृषावादस्य माया आदिभूता वर्तते, इदमुक्तं भवति–यो हि परवञ्चनार्थं समायो मृषावादः स परिह्रियते, यस्तु संयम-गुप्त्यर्थं न मया मृगा उपलब्धा इत्यादिकः स न दोषायेति, एष यः प्राक् निर्दिष्टो धर्मः–श्रुतचारित्राख्यः स्वभावो वा 'वुसीमउ'त्ति छान्दसत्वात्, निर्देशार्थस्त्वयं–वस्तूनि ज्ञानादीनि तद्वतो ज्ञानादिमत इत्यर्थः, यदि वा–वुसीमउत्ति वश्यस्य–आत्मवशगस्य–वश्येन्द्रि-यस्येत्यर्थः ॥१९॥ अपि च–'अतिकम्मंति' इत्यादि, प्राणिनामतिक्रमं–पीडात्मकं महाव्रतातिक्रमं वा मनोऽवष्टब्धतया परतिरस्कारं वा इत्येवम्भूतमतिक्रमं वाचा मनसाऽपि च न प्रार्थयेत्, एतद्द्वयनिषेधे च कायातिक्रमो दूरत एव निषिद्धो भवति, तदेवं मनोवाक्कायैः कृतकारितानुमतिभिश्च नवकेन भेदेनातिक्रमं न कुर्यात्, तथा सर्वतः–सबाह्याभ्यन्तरतः संवृत्तो–गुप्तः तथा इन्द्रियदमेन तपसा वा दान्तः सन् मोक्षस्य 'आदानम्' उपादानं सम्यग्दर्शनादिकं सुष्ठ्वद्युक्तः सम्यग्विस्रोतसिकारहितः 'आहरेत्' आददीत–गृह्णीयादित्यर्थः ॥२०॥ किञ्चान्यत्—

कडं च कज्जमाणं च, आगमिस्सं च पावगं। सव्वं तं णाणुजाणंति, आयगुत्ता जिइंदिया ॥२१॥

जे याबुद्धा [1]महाभागा, [3]वीरा असमत्तदंसिणो। असुद्धं तेसि परक्कंतं, सफलं होइ सव्वसो ॥२२॥

'कडं च' इत्यादि, साधूद्देशेन यदपरैरनार्यकल्पैः कृतमनुष्ठितं पापकं कर्म तथा वर्त्तमाने च काले क्रियमाणं तथाऽऽगामिनि च

१ ×××××××यो आ.। २ महानागा आ. इ.। ३ धीरा इ.।

काले यत्करिष्यते तत्सर्वं मनोवाक्कायकर्मभिः 'नानुजानन्ति' नानुमोदन्ते, तदुपभोगपरिहारेणेति भावः, यदप्यात्मार्थं पापकं कर्म परैः कृतं क्रियते करिष्यते वा, तद्यथा-शत्रोः शिरश्छिन्नं छिद्यते छेत्स्यते वा तथा चौरो हतो हन्यते हनिष्यते वा इत्यादिकं परानुष्ठानं 'नानुजानन्ति' न च बहु मन्यन्ते, तथा यदि परः कश्चिदशुद्धेनाहारेणोपनिमन्त्रयेत्तमपि नानुमन्यन्त इति, क एवम्भूता भवन्तीति दर्शयति-आत्माऽकुशलमनोवाक्कायनिरोधेन गुप्ता येषां ते तथा, जितानि-वशीकृतानि इन्द्रियाणि-श्रोत्रादीनि यैस्ते तथा, एवम्भूताः पापकर्म[1] नानुजानन्तीति स्थितम् ॥२१॥ अन्यच्च-'जे[2] याबुद्धा' इत्यादि, ये केचन 'अबुद्धा' धर्मं प्रत्यविज्ञातपरमार्था व्याकरणशुष्कतर्कादिपरिज्ञानेन जातावलेपाः पण्डितमानिनोऽपि परमार्थवस्तुतत्त्वानवबोधादबुद्धा इत्युक्तं, न च व्याकरणपरिज्ञानमात्रेण सम्यक्त्वव्यतिरेकेण तत्त्वावबोधो भवतीति, तथा चोक्तम्-"शास्त्रावगाहपरिघट्टनतत्परोऽपि, नैवाबुधः समभिगच्छति वस्तुतत्त्वम् । नानाप्रकाररसभावगताऽपि दर्वी, स्वादं रसस्य सुचिरादपि नैव वेत्ति ॥१॥" यदि वाऽबुद्धा इव बालवीर्यवन्तः, तथा महान्तश्चते[3] भागाश्च महाभागाः[4], भागशब्दः पूजावचनः, ततश्च महापूज्या इत्यर्थः, लोकविश्रुता इति, तथा 'वीराः' परानीकभेदिनः सुभटा इति, इदमुक्तं[5] भवति-पण्डिता अपि त्यागादिभिर्गुणैर्लोकपूज्या अपि तथा सुभटवादं वहन्तोऽपि सम्यक्तत्त्वपरिज्ञानविकलाः केचन भवन्तीति दर्शयति-न सम्यगसम्यक् तद्भावोऽसम्यक्त्वं तद्द्रष्टुं शीलं येषां ते तथा, मिथ्यादृष्टय इत्यर्थः, तेषां च बालानां यत्किमपि तपोदानाध्ययनयमनियमादिषु पराक्रान्तमुद्यमकृतं[6] तदशुद्धं अविशुद्धिकारि प्रत्युत कर्मबन्धाय, भावोपहतत्वात् सनिदानत्वाद्वेति कुवैद्यचिकित्साव-

---

१ पापकं कर्म आ. इ. । २ जे अबुद्धा आ. । सा. ३ महान्तश्चेति नागाश्च । महान्तश्च ते नागाश्च प्र०, आ. इ. । ४ महानागा नागशब्दः आ. इ । ५ वेति आ. ×× इ. । सा. ६ °मुद्यमः कृतस्त० आ. इ. ।

द्विपरीतानुबन्धीति, तच्च तेषां पराक्रान्तं सह फलेन–कर्मबन्धेन वर्तत इति सफलं 'सर्वश' इति सर्वाऽपि तत्क्रिया तपोऽनुष्ठानादिका कर्मबन्धायैवेति ॥२२॥ साम्प्रतं पण्डितवीर्यिणोऽधिकृत्याह—

जे य बुद्धा महाभागा, वीरा सम्मत्तदंसिणो। सुद्धं तेसिं परक्कंतं, अफलं होइ सव्वसो ॥२३॥

तेसिंपि तवो [1]ण सुद्धो, निक्खंता जे महाकुला। जन्ने [2]वन्ने वियाणंति, न सिलोगं [3]पवेज्जए ॥२४॥

अप्पपिंडासि पाणासि, अप्पं भासेज्ज सुव्वए। खंतेऽभिनिव्वुडे दंते, वीतगि[4]द्धी सदा जए ॥२५॥

झाणजोगं समाहट्टु, कायं विउसेज्ज सव्वसो। तितिक्खं परमं णच्चा, आमोक्खाए परिव्वएज्जासि ॥२६॥

(गाथाग्रं० ४४६) त्तिबेमि इति श्रीवीरियनामसट्ठमसज्झयणं समत्तं ॥

'जे य बुद्धा' इत्यादि, ये केचन स्वयम्बुद्धास्तीर्थकराद्यास्तच्छिष्या वा बुद्धबोधिता गणधरादयो 'महाभागा' महापूजाभाजो 'वीराः' कर्मविदारणसहिष्णवो ज्ञानादिभिर्वा गुणैर्विराजन्त इति वीराः, तथा 'सम्यक्त्वदर्शिनः' परमार्थतत्त्ववेदिनस्तेषां भगवतां यत्पराक्रान्तं–तपोऽध्ययनयमनियमादावनुष्ठितं तच्छुद्धम्–अवदातं निरुपरोधं सातगौरवशल्यकषायादिदोषाकलङ्कितं कर्मबन्धं प्रति अफलं भवति–तन्निरनुबन्धनिर्जरार्थमेव भवतीत्यर्थः, तथाहि–सम्यग्दृष्टीनां सर्वमपि संयमतपःप्रधानमनुष्ठानं भवति, संयमस्य चानाश्रवरूपत्वात्

१ ऽसुद्धो आ. इ. । २ वण्णं आ. । ३ पवेदए आ. इ । ४ °गेद्धी आ. इ. । ५ त्तिबेमि ।छ। वीरियं सम्मतं आ. त्तिबेमि ।छ। वीरियं सम्मत्तं ।छ। अष्टममध्ययनं समाप्तं ।छ। इ. ।सा. ६ महानागाः प्र०, आ. इ. ।

तपसश्च निर्जराफलत्वादिति, तथा च पठ्यते–"संयमे अणण्हयफले तवे वोदाणफले" इति ॥२३॥ किञ्चान्यत्–'तेसिं पि' इत्यादि, महत्कुलम्–इक्ष्वाकादिकं येषां ते महाकुला लोकविश्रुताः शौर्यादिभिर्गुणैर्विस्तीर्णयशसस्तेषामपि पूजासत्काराद्यर्थमुत्कीर्त्तनेन वा यत्तपस्तदशुद्धं भवति, यच्च क्रियमाणमपि तपो नैवान्ये दानश्राद्धादयो जानन्ति तत्तथाभूतमात्मार्थिना विधेयम्, अतो नैवात्मश्लाघां 'प्रवेदयेत्' प्रकाशयेत्, तद्यथा–अहमुत्तमकुलीन इभ्यो वाऽऽसं साम्प्रतं पुनस्तपोनिष्टप्तदेह इति, एवं स्वयमाविष्करणेन न स्वकीयमनुष्ठानं फल्गुतामापादयेदिति ॥२४॥ अपि च–'अप्पपिंडासि'इत्यादि,अल्पं–स्तोकं पिण्डमशितुं शीलमस्यासावल्पपिण्डाशी यत्किञ्चनाशीति भावः,
८ एवं पानेऽप्यायोज्यं, तथा चागमः–"हे[2] जं व तं व आसीय जत्थ व तत्थ व सुहोवगयनिद्दो। जेण व तेण (व) संतुट्ठ वीर! मुणिओऽसि ते अप्पा ॥१॥" तथा 'अट्ठ[3]कुक्कुडिअंडगमेत्तप्पमाणे कवले आहारेमाणे अप्पाहारे दुवालसकवलेहिं अवड्ढोमोयरिया सोलसहिं दुभागे पत्ते चउवीसं ओमोदरिया तीसं पमाणपत्ते बत्तीसं कवला संपुण्णाहारे' इति, अत एकैककवलहान्यादिनोनोदरता विधेया, एवं पाने उपकरणे चोनोदरतां विदध्यादिति, तथा चोक्तम्–"थोवाहारो थोवभणिओ अ जो होइ थोवनिद्दो अ। थोवोवहिउवकरणो तस्स
१० हु देवावि पणमंति ॥१॥" तथा 'सुव्रतः' साधुः 'अल्पं' परिमितं हितं च भाषेत, सर्वदा विकथारहितो भवेदित्यर्थः, भावावमौदर्यम-

सा. १ संयमोऽनाश्रवफलः तपो व्यवदानफलमिति । २ यद्वा तद्वा अशित्वा यत्र तत्र वा सुखोपगतनिद्रः येन तेन वा सन्तुष्टः (असि) हे वीर! त्वयात्मा ज्ञातोऽस्ति ॥१॥ सा. ३ अष्टकुक्कुट्यण्डकप्रमाणान्कवलानाहारयन्नल्पाहारो द्वादशकवलैरपार्धावमोदरिका षोडशभिर्द्विभागा प्राप्ता चतुर्विंशत्या अवमोदरिका त्रिंशता कवलैः प्रमाणप्राप्तः द्वात्रिंशत्कवलाः सम्पूर्णाहार इति । ४ अवड्ढो आ. । सा. ५ स्तोकाहारः स्तोकभणितः स्तोकनिद्रश्च यो भवति। स्तोकोपधिकोपकरणस्तस्मै च देवा अपि प्रणमन्ति ॥१॥ ६ सर्वथा आ. ।

धिकृत्याह–भावतः क्रोधाद्युपशमात् 'क्षान्तः' क्षान्तिप्रधानः तथा 'अभिनिर्वृतो' लोभादिजयान्निरातुरः, तथा इन्द्रियनोइन्द्रियदमनात् 'दान्तो' जितेन्द्रियः, तथा चोक्तम्–"कषाया यस्य नोच्छिन्ना[1], यस्य नात्मवशं मनः। इन्द्रियाणि[2] न गुप्तानि, प्रव्रज्या तस्य जीवनम्॥ ॥१॥" एवं विगता गृत्तिर्विषयेषु यस्य स विगतगृद्धिः–आशंसादोषरहितः 'सदा' सर्वकालं संयमानुष्ठाने 'यतेत' यत्नं कुर्यादिति॥ २५॥ अपि च–'झाणजोगम्' इत्यादि, ध्यानं–चित्तनिरोधलक्षणं धर्मध्यानादिकं तत्र योगो विशिष्टमनोवाक्कायव्यापारस्तं ध्यानयोगं 'समाहृत्य' सम्यगुपादाय 'कायं' देहमकुशलयोगप्रवृत्तं 'व्युत्सृजेत्' परित्यजेत्[3] 'सर्वतः' सर्वेणापि प्रकारेण, हस्तपादादिकमपि परपीडाकारि न व्यापारयेत्, तथा 'तितिक्षां' क्षान्तिं परीषहोपसर्गसहनरूपां 'परमां' प्रधानां ज्ञात्वा 'आमोक्षाय' अशेषकर्मक्षयं यावत् 'परिव्रजेरि'ति संयमानुष्ठानं कुर्यास्त्वमिति। इतिः परिसमाप्त्यर्थे। ब्रवीमीति पूर्ववत्॥२६॥ समाप्तं[4] चाष्टमं वीर्याख्यमध्ययनमिति॥

―――•―――

१ नोत्सन्ना आ. नोच्छन्ना इ.। २ °णि च न आ.। ३ ××××× सर्वशः आ.। ४ ग्रंथतः ३३३। छ। आ. ग्रंथतः ३३२। छ। इ.।

अथ नवमं अध्ययनं प्रारभ्यते ॥

अष्टमानन्तरं नवमं समारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः-इहानन्तराध्ययने बालपण्डितभेदेन द्विरूपं वीर्यं प्रतिपादितं, अत्रापि तदेव पण्डितवीर्यं धर्मं प्रति यदुद्यमं विधत्ते अतो धर्मः प्रतिपाद्यत इत्यनेन सम्बन्धेन धर्माध्ययनमायातं, अस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि उपक्रमादीनि प्राग्वत् व्यावर्णनीयानि, तत्राप्युपक्रमान्तर्गतोऽर्थाधिकारोऽयं, तद्यथा-धर्मोऽत्र प्रतिपाद्यत इति तमधिकृत्य निर्युक्तिकृदाह—

धम्मो पुव्वुद्दिट्ठो भावधम्मेण एत्थ अहिगारो । एसेव होइ धम्मे[3] एसेव समाहिमग्गोत्ति ॥९९॥

'धम्मो पुव्वुद्दिट्ठो' इत्यादि, दुर्गतिगमनधरणलक्षणो धर्मः प्राक् दशवैकालिकश्रुतस्कन्धषष्ठाध्ययने धर्मार्थकामाख्ये उद्दिष्टः-प्रतिपादितः, इह तु भावधर्मेणाधिकारः, एष एव च भावधर्मः परमार्थतो धर्मो भवति, अमुमेवार्थमुत्तरयोरप्यध्ययनयोरतिदिशन्नाह-एष एव च भावसमाधिर्भावमार्गश्च भवतीत्यवगन्तव्यमिति, यदि वैष एव च भावधर्मः एष एव च भावसमाधिरेष एव च तथा भावमार्गो भवति, न तेषां परमार्थतः कश्चिद्भेदः, तथाहि-धर्मः श्रुतचारित्राख्यः क्षान्त्यादिलक्षणो वा दशप्रकारो भवेत्, भावसमाधिरप्येवं-भूत[3] एव, तथाहि-सम्यगाधानम्-आरोपणं गुणानां क्षान्त्यादीनामिति समाधिः, तदेवं मुक्तिमार्गोऽपि ज्ञानदर्शनचारित्राख्यो भावध-

१ °पाद्य × आ. । २ धम्मो अ. आ. । ३ °प्रकार एव, इ. ।

र्मतया व्याख्यानयितव्य इति। साम्प्रतमतिदिष्टस्यापि स्थानाशून्यार्थं धर्मस्य नामादिनिक्षेपं दर्शयितुमाह—

णामंठवणाधम्मो दव्वधम्मो य भावधम्मो य। सच्चित्ताचित्तमीसगगिहत्थदाणे दवियधम्मे ॥१००॥

नामस्थापनाद्रव्यभावभेदाच्चतुर्धा धर्मस्य निक्षेपः, तत्रापि नामस्थापने अनादृत्य ज्ञशरीरव्यतिरिक्तो द्रव्यधर्मः सचित्ताचित्तमिश्रभेदात् त्रिधा, तत्रापि सचित्तस्य जीवच्छरीरस्योपयोगलक्षणो 'धर्मः' स्वभावः, एवमचित्तानामपि धर्मास्तिकायादीनां यो यस्य स्वभावः स तस्य धर्म इति, तथाहि—"गइलक्खणओ धम्मो, अहम्मो ठाणलक्खणो। भायणं सव्वदव्वाणं, नहं अवगाहलक्खणं ॥१॥" पुद्गलास्तिकायोऽपि ग्रहणलक्षण इति, मिश्रद्रव्याणां च क्षीरोदकादीनां यो यस्य स्वभावः स तद्धर्मतयाऽवगन्तव्य इति, गृहस्थानां च यः कुलनगरग्रामादिधर्मो गृहस्थेभ्यो गृहस्थानां वा यो दानधर्मोऽवगन्तव्य इति, तथा चोक्तम्—"अन्नं पानं च वस्त्रं च, आलयः शयनासनम्। शुश्रूषा वन्दनं तुष्टिः, पुण्यं नवविधं स्मृतम् ॥१॥" भावधर्मस्वरूपनिरूपणायाह—

लोइयलोउत्तरिओ दुविहो पुण होति भावधम्मो उ। दुविहोवि दुविहतिविहो पंचविहो होति णायव्वो ॥१०१॥

'लोइय' इत्यादि, भावधर्मो नोआगमतो द्विविधः, तद्यथा—लौकिको लोकोत्तरश्च, तत्र लौकिको द्विविधः—गृहस्थानां पाखण्डिकानां च, लोकोत्तरस्त्रिविधः—ज्ञानदर्शनचारित्रभेदात्, तत्राप्याभिनिबोधादिकं ज्ञानं पञ्चधा, दर्शनमप्यौपशमिकसास्वादनक्षायोपशमिकवेदकक्षायिकभेदात् पञ्चविधं, चारित्रमपि सामायिकादिभेदात् पञ्चधैव। गाथाऽक्षराणि त्वेवं नेयानि, तद्यथा—भावधर्मो लौकिकलोकोत्तरभेदाद्द्विधा, द्विविधोऽपि चायं यथासङ्ख्येन द्विविधस्त्रिविधः, तत्रैव लौकिको गृहस्थपाखण्डिकभेदात् द्विविधः, लोकोत्तरोऽपि

१ सच्चित्तगचित्तेमीसेगि अ.। २ अ. धम्मो। ३ जीवशरीर° आ.। ४ ४ तस्य आ.। ५ होउ क्ष. आ.। ६ पञ्चधा आ. इ.। ७ °द्विविधः आ. इ.।

ज्ञानदर्शनचारित्रभेदात् त्रिविधः, ज्ञानादीनि प्रत्येकं त्रीण्यपि पंचधैवेति। तत्र ज्ञानदर्शनचारित्रवतां साधूनां यो धर्मस्तं दर्शयितुमाह–

पासत्थोसण्णकुसील संथवो ण किर वट्टती काउं। सूयगडे अज्झयणे धम्मंमि निकाइतं एयं ॥१०२॥[1]

'पासत्थो सण्ण' इत्यादि, साधुगुणानां पार्श्वे तिष्ठन्तीति पार्श्वस्थाः तथा संयमानुष्ठानेऽवसीदन्तीत्यवसन्नाः तथा कुत्सितं शीलं येषां ते कुशीलाः एतैः पार्श्वस्थादिभिः सह संस्तवः–परिचयः सहसंवासरूपो न किल यतीनां वर्त्तते कर्तुम्, अतः सूत्रकृतेऽङ्गे धर्माख्येऽध्ययने एतत् 'निकाचितं' नियमितमिति। गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, अधुना सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारयितव्यं, तच्चेदम्—

कयरे धम्मे अक्खाए[2], माहणेण मतीमता?। अंजु धम्मं जहातच्चं, जिणाणं तं सुणेह मे ॥१॥

माहणा खत्तिया वेस्सा, चंडाला अदु[3] बोक्कसा। एसिया वेसिया सुद्दा, जे य आरंभणिस्सिया ॥२॥

परिग्गह[4]निविट्ठाणं, वेरं तेसिं पवड्ढई। आरंभसंभिया[5] कामा, न ते दुक्खविमोयगा ॥३॥

आघाय[6]किच्चमाहेउं, नाइओ विसएसिणो। अन्ने हरंति तं वित्तं, कम्मी कम्मेहिं किच्चती[7] ॥४॥

'कयरे' इत्यादि, जम्बूस्वामी सुधर्मस्वामिनमुद्दिश्येदमाह–तद्यथा–'कतरः' किम्भूतो दुर्गतिगमनधरणलक्षणो धर्मः 'आख्यातः' प्रतिपादितो 'माहणेणं'ति मा जन्तून् व्यापादयेत्येवं विनेयेषु वाक्प्रवृत्तिर्यस्यासौ 'माहनो' भगवान् वीरवर्धमानस्वामी तेन?, तमेव

१ धम्मणिज्झुत्ती संमत्ता अ. आ.। २ अहक्खा° आ. इ.। ३ अदुवं° आ.। ४ परिग्गहे आ. इ.। ५ °संकिया इ.। ६ आघातिं इ.। ७ कच्चति आ. इ.।

विशिनष्टि–मनुते–अवगच्छति जगत्रयं कालत्रयोपेतं यया सा केवलज्ञानाख्या मतिः सा अस्यास्तीति मतिमान् तेन–उत्पन्नकेवलज्ञानेन भगवता, इति पृष्टे सुधर्मस्वाम्याह–रागद्वेषजितो जिनास्तेषां सम्बन्धिनं धर्मं 'अंजुम्' इति 'ऋजुं' मायाप्रपञ्चरहितत्वादवक्रं तथा–'जहातचं मे' इति यथावस्थितं मम कथयतः शृणुत यूयं, न तु यथाऽन्यैस्तीर्थिकैर्दम्भप्रधानो धर्मोऽभिहितस्तथा भगवताऽपीति, पाठान्तरं वा 'जणगा तं सुणेह मे' जायन्त इति जना–लोकास्त एव जनकास्तेषामामन्त्रणं हे जनकाः! तं धर्मं शृणुत यूयमिति ॥१॥ अन्वयव्यतिरेकाभ्यामुक्तोऽर्थः सूक्तो भवतीत्यतो यथोद्दिष्टधर्मप्रतिपक्षभूतोऽधर्मस्तदाश्रितांस्तावद्दर्शयितुमाह–'माहणा' इत्यादि, ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्यास्तथा चाण्डालाः अथ बोकसा–अवान्तरजातीयाः, तद्यथा–ब्राह्मणेन शूद्र्यां जातो निषादो ब्राह्मणेनैव वैश्यायां[1] जातोऽम्बष्ठः तथा निषादेनाम्बष्ठ्यां जातो बोकसः, तथा एषितुं शीलमेषामिति एषिका–मृगलुब्धका हस्तितापसाश्च मांसहेतोर्मृगान् हस्तिनश्च एषन्ति, तथा कन्दमूलफलादिकं च, तथा ये चान्ये पाखण्डिका नानाविधैरुपायैर्भैक्ष्यमेषन्त्यन्यानि वा विषयसाधनानि ते सर्वेऽप्येषिका इत्युच्यन्ते, तथा 'वैशिका' वणिजो मायाप्रधानाः कलोपजीविनः, तथा 'शूद्राः' कृषीवलादयः आभीरजातीयाः, कियन्तो वा वक्ष्यन्त इति दर्शयति-ये चान्ये वर्णापसदा नानारूपसावद्य 'आरम्भ(म्भे)निश्रिता' यन्त्रपीडननिर्लाञ्छनकर्माङ्गारदाहादिभिः क्रियाविशेषैर्जीवोपमर्दकारिणः तेषां सर्वेषामेव जीवापकारिणां वैरमेव प्रवर्धत इत्युत्तरश्लोके क्रियेति ॥२॥ किञ्च–'परिग्गह'[2] इत्यादि, परि–समन्तात् गृह्यत इति परिग्रहो–द्विपदचतुष्पदधनधान्यहिरण्यसुवर्णादिषु ममीकारस्तत्र 'निविष्टानाम्' अध्युपपन्नानां गार्द्ध्यं गतानां 'पापम्' असातवेदनीयादिकं[3] 'तेषां प्रागुक्तानामारम्भनिश्रितानां परिग्रहे निविष्टानां प्रकर्षेण 'वर्द्धते' वृद्धिमुपयाति जन्मान्तरशतेष्वपि

१ वैश्याजातो आ. वैशाज्जातो इ.। २ परिग्गहे आ. इ.। ३ असाता आ. इ.।

दुर्मोचं भवति, क्वचित्पाठः 'वेरं तेसिं पवड्ढइ'त्ति तत्र येन यस्य यथा प्राणिन उपमर्दः क्रियते स तथैव संसारान्तर्वर्ती शतशो दुःखभाक् भवतीति, जमदग्निकृतवीर्यादीनामिव पुत्रपौत्रानुगं वैरं प्रवर्द्धत इति भावः, किमित्येवं ?, यतस्ते कामेषु प्रवृत्ताः, कामाश्चारम्भैः सम्यग् भृताः संभृता—आरम्भपुष्टा आरम्भाश्च जीवोपमर्दकारिणः अतो न ते कामसम्भृता आरम्भनिश्रिताः परिग्रहे निविष्टाः दुःखयतीति दुःखम् अष्टप्रकारं कर्म तद्विमोचका भवन्ति—तस्यापनेतारो न भवन्तीत्यर्थः ॥३॥ किञ्चान्यत्—'आघाय' इत्यादि, आहन्यन्ते अपनीयन्ते-विनाश्यन्ते प्राणिनां दश प्रकारा अपि प्राणा यस्मिन् स आघातो-मरणं तस्मै तत्र वा कृतम्—अग्निसंस्कारजलाञ्जलिप्रदानपितृपिण्डादिकमाघातकृत्यं तदाधातुम्—आधाय कृत्वा पश्चात् 'ज्ञातयः' स्वजनाः पुत्रकलत्रभ्रातृव्यादयः, किम्भूताः ?—विषयानन्वेष्टुं शीलं येषां तेऽन्येऽपि विषयैषिणः सन्तस्तस्य दुःखार्जितं 'वित्तं' द्रव्यजातम् 'अपहरन्ति' स्वीकुर्वन्ति, तथा चोक्तम्—"ततस्तेनार्जितैर्द्रव्यैर्दारैश्च परिरक्षितैः । क्रीडन्त्यन्ये नरा राजन् !, हृष्टास्तुष्टा ह्यलङ्कृताः ॥१॥" स तु द्रव्यार्जनपरायणः सावद्यानुष्ठानवान् कर्मवान् पापी स्वकृतैः कर्मभिः संसारे 'कृत्यते'—छिद्यते—पीड्यत इतियावत् ॥४॥ स्वजनाश्च तद्द्रव्योपजीविनस्तत्त्राणाय न भवन्तीति दर्शयितुमाह—

माया पिया ण्हुसा भाया, भज्जा पुत्ता य ओरसा । नालं ते तव ताणाय, लुप्पंतस्स सकम्मुणा ॥५॥

एयमट्ठं सपेहाए, परमट्ठाणुगामियं । निम्ममो निरहंकारो, चरे भिक्खू जिणाहियं ॥६॥

चिच्चा वित्तं च पुत्ते य, णाइओ य परिग्गहं । चिच्चा ण अंतगं सोयं, निरवेक्खो परिव्वए ॥७॥

१ कृत्यम् आ. इ. । २ हृष्टतुष्टा आ. इ. । ३ पापैः आ. । ४ णायओ आ. इ. ।

पुढवी उ अगणी वाऊ, तणरुक्ख सबीयगा । अंडया पायजरोऊ, रससंसेयउब्भिया ॥८॥

'माया पिया'इत्यादि, 'माता'–जननी, 'पिता'–जनकः, 'स्नुषा'–पुत्रवधूः, 'भ्राता'–सहोदरः तथा 'भार्या'-कलत्रं पुत्राश्चौरसाः–स्वनिष्पादिता एते सर्वेऽपि मात्रादयो ये चान्ये श्वशुरादयस्ते तत्र संसारचक्रवाले स्वकर्मभिर्विलुप्यमानस्य त्राणाय 'नालं' न समर्था भवन्तीति, इहापि तावन्नैते त्राणाय किमुतामुत्रेति, दृष्टान्तश्चात्र कालसौकरिकसुतः सुलसनामा अभयकुमारस्य सखा, तेन महासत्त्वेन स्वजनाभ्यर्थितेनापि न प्राणिष्वपकृतम्, अपि त्वात्मन्येवेति ॥५॥ किञ्चान्यत्–'एयमट्ठं' इत्यादि, धर्मरहितानां स्वकृतकर्मविलुप्यमानानामैहिकामुष्मिकयोर्न कश्चित्त्राणायेति एनं पूर्वोक्तमर्थं स प्रेक्षापूर्वकारी 'प्रत्युपेक्ष्य' विचार्यावगम्य च परमः–प्रधानभूतो(ऽर्थो) मोक्षः संयमो वा तमनुगेच्छतीति तच्छीलश्च परमार्थानुगामुकः-सम्यग्दर्शनादिस्तं च प्रत्युपेक्ष्य, क्त्वाप्रत्ययान्तस्य पूर्वकालवाचितया क्रियान्तरसव्यपेक्षत्वात् तदाह–निर्गतं ममत्वं बाह्याभ्यन्तरेषु वस्तुषु यस्मादसौ निर्ममः तथा निर्गतोऽहङ्कारः अभिमानः पूर्वैश्वर्यजात्यादिमदजनितस्तथा तपःस्वाध्यायलाभादिजनितो वा यस्मादसौ निरहङ्कारो-रागद्वेषरहित इत्यर्थः, स एवम्भूतो भिक्षुर्जिनैराहितः–प्रतिपादितोऽनुष्ठितो वा यो मार्गो जिनानां वा सम्बन्धी योऽभिहितो मार्गस्तं 'चरेत्' अनुतिष्ठेदिति ॥६॥ अपि च– 'चिच्चा' इत्यादि, संसारस्वभावपरिज्ञानपरिकर्मितमतिर्विदितवेद्यः सम्यक् 'त्यक्त्वा' परित्यज्य किं तद् ?,–'वित्तं' द्रव्यजातं पुत्रांश्च त्यक्त्वा, पुत्रेष्वधिकः स्नेहो भवतीति पुत्रग्रहणं, तथा 'ज्ञातीन्' स्वजनांश्च त्यक्त्वा तथा 'परिग्रहं' चान्तरममत्वरूपं णकारो वाक्यालङ्कारे अन्तं गच्छतीत्यन्तगो दुष्परित्यज इत्यर्थः अन्तको वा विनाशकारीत्यर्थः आत्मनि वा गच्छतीत्यात्मग आन्तर इत्यर्थः तं तथाभूतं 'शोकं'

१ °गच्छतिः आ. । २ °त्वादाह आ. ।

संतापं 'त्यक्त्वा' परित्यज्य श्रोतो वा–मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषायात्मकं कर्माश्रवद्वारभूतं परित्यज्य, पाठान्तरं वा–'चिच्चा णऽणंतगं सोयं' अन्तं गच्छतीत्यन्तगं न अन्तगमनन्तगं श्रोतः शोकं वा परित्यज्य 'निरपेक्षः' पुत्रदारधनधान्यहिरण्यादिकमनपेक्षमाणः सन् आमोक्षाय परि–समन्तात् संयमानुष्ठाने 'व्रजेत्' परिव्रजेदिति, तथा चोक्तम्–"छलिया[1] अवयक्खंता निरावयक्खा गया अविग्घेणं। तम्हा पवयणसारे निरावयक्खेण होयव्वं ॥१॥ भोगे[2] अवयक्खंता पडंति संसारसागरे घोरे। भोगेहि निरवयक्खा तरंति संसारकंतारं ॥२॥" इति ॥७॥ स एवं प्रव्रजितः सुव्रतावस्थितात्माऽहिंसादिषु व्रतेषु प्रयतेत, तत्राहिंसाप्रसिद्ध्यर्थमाह–'पुढवी उ' इत्यादि. श्लोकद्वयं, तत्र पृथिवीकायिकाः सूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तकभेदभिन्नाः तथाऽप्कायिका अग्निकायिका वायुकायिकाश्चैवम्भूता एव, वनस्पतिकायिकान् लेशतः सभेदानाह–'तृणानि' कुश[3]वच्चकादीनि 'वृक्षाः' चूताशोकादिकाः सह बीजैर्वर्तन्त इति सबीजाः, बीजानि तु शालिगोधूमयवादीनि, एते एकेन्द्रियाः पञ्चापि कायाः षष्ठत्रसकायनिरूपणायाह–अण्डाज्जाता अण्डजाः–शकुनिगृहकोकिलकसरीसृपादयः तथा पोता एव जाताः पोतजा–हस्तिशरभादयः तथा जरायुजा ये जम्बालवेष्टिताः समुत्पद्यन्ते गोमनुष्यादयः तथा रसात्–दधिसौवीरकादेर्जाता रसजास्तथा संस्वेदाज्जाताः संस्वेदजा–यूकामत्कुणादयः 'उद्भिज्जाः' खञ्जरीटकदर्दुरादय इति, अज्ञातभेदा हि दुःखेन रक्ष्यन्त इत्यतो भेदेनोपन्यास इति । ८॥

एतेहिं छहिं काएहिं, तं विज्जं परिजाणिया । मणसा कायवक्केणं, णारंभी ण परिग्गही ॥९॥

सा० १ छलिता अपेक्षमाणा निरपेक्षमाणा गता अविघ्नेन तस्मात्प्रवचनसारे (ज्ञाते) निरपेक्षेण भवितव्यम् ॥१॥ २ भोगानपेक्षमाणाः पतन्ति संसारसागरे घोरे। भोगेषु निरपेक्षास्तरन्ति संसारकान्तारं ॥१॥ ३ बन्धका० प्र० ।

मुसावायं बहिद्धं च, उग्गहं च अजाइ[1]या । सत्थादाणाइं लोगंसि, तं विज्जं परिजाणिया ॥१०॥

पलिउंचणं च भयणं च, थंडिल्लुस्सयणाणि या । [2]धूणादाणाइं लोगंसि, तं विज्जं परिजाणिया ॥११॥

धोयणं रयणं चेव, बत्थीकम्मं विरेयणं । वमणंजण पलीमंथं, तं विज्जं परिजाणिया ॥१२॥

'एतेहिं' इत्यादि, 'एभिः' पूर्वोक्तैः षड्भिरपि 'कायैः' त्रसस्थावररूपैः सूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तकभेदभिन्नैर्नारम्भी नापि परिग्रही स्यादिति सम्बन्धः, तदेतद् 'विद्वान्' सश्रुतिको ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया मनोवाक्कायकर्मभिर्जीवोपमर्दकारिणमारम्भं परिग्रहं च परिहरेदिति ॥९॥ शेषव्रतान्यधिकृत्याह–'मुसावायं' इत्यादि, मृषा–असद्भूतो वादो मृषावादस्तं विद्वान् प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेत् तथा 'बहिद्धं'ति मैथुनं 'अवग्रहं' परिग्रहमयाचितम्–अदत्तादानं, [ग्रं० ५२५०] यदि वा बहिद्धमिति–मैथुनपरिग्रहौ अवग्रह-मयाचितमित्यनेनादत्तादानं गृहीतं, एतानि च मृषावादादीनि प्राण्युपतापकारित्वात् शस्त्राणीव शस्त्राणि वर्तन्ते । तथाऽऽदीयते–गृह्यतेऽष्टप्रकारं कर्मैभिरिति ([3]आदानानि) कर्मोपादानकारणान्यस्मिन् लोके, तदेतत्सर्वं विद्वान् ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेदिति ॥१०॥ किञ्चान्यत्–'पलिउंचणं' इत्यादि, पञ्चमहाव्रतधारणमपि कषायिणो निष्फलं स्यादतस्तत्साफल्यापादनार्थं कषाय-निरोधो विधेय इति दर्शयति-परि–समन्तात् कुञ्च्यन्ते–वक्रतामापाद्यन्ते क्रिया येन मायानुष्ठानेन तत्पलिकुञ्चनं मायेति भण्यते, तथा भज्यते सर्वत्रात्मा प्रह्वीक्रियते येन स भजनो–लोभस्तं, तथा यदुदयेन [4]ह्यात्मा सदसद्विवेकविकलत्वात् स्थण्डिलवद्भवति स स्थण्डिलः–

१ °तितं आ. । २ धूत्ता° आ. । ३ ×××× कर्मो° आ. इ. । ४ ×× स° आ. ।

क्रोधः, यस्मिंश्च सत्यूर्ध्वं श्रयति जात्यादिना दर्पाध्मातः पुरुष उत्तानीभवति स उच्छ्रायो–मानः, छान्दसत्वान्नपुंसकलिङ्गता, जात्यादिमदस्थानानां बहुत्वात् तत्कार्यस्यापि मानस्य बहुत्वमतो बहुवचनं, चकाराः स्वगतभेदसंसूचनार्थाः समुच्चयार्था वा, धूनयेति प्रत्येकं क्रिया योजनीया, तद्यथा पलिकुञ्चनं–मायां धूनय धूनीहि वा, तथा भजनं–लोभं, तथा स्थण्डिलं–क्रोधं, तथा उच्छ्रायं–मानं, विचित्रत्वात् सूत्रस्य क्रमोल्लङ्घनेन निर्देशो न दोषायेति, यदि वा-रागस्य दुस्त्यजत्वात् लोभस्य च मायापूर्वकत्वादित्यादावेव मायालोभयोरुपन्यास इति, कषायपरित्यागे विधेये पुनरपरं कारणमाह–एतानि पलिकुञ्चनादीनि अस्मिन् लोके आदानानि वर्त्तन्ते, तदेतद्विद्वान् ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया प्रत्याचक्षीत ॥११॥ पुनरप्युत्तरगुणानधिकृत्याह–'धोयणं' इत्यादि, धावनं -प्रक्षालनं हस्तपादवस्त्रादे रञ्जनमपि तस्यैव, चकारः समुच्चयार्थः, एवकारोऽवधारणे, तथा बस्तिकर्म–अनुवासनारूपं तथा 'विरेचनं' निरूहात्मकमधोविरेको वा वमनम्–ऊर्ध्वविरेकस्तथाऽञ्जनं नयनयोः, इत्येवमादिकमन्यदपि शरीरसंस्कारादिकं यत् 'संयमपलिमन्थकारि' संयमोपघातरूपं तदेतद्विद्वान् स्वरूपतस्तद्विपाकतश्च परिज्ञाय प्रत्याचक्षीत ॥१२॥ अपि च—

गंधमल्लसिणाणं च, दंतपक्खालणं तहा। परिग्गहित्थिकम्मं च, तं विज्जं परिजाणिया ॥१३॥

उद्देसियं कीयगडं, पामिच्चं चेव आहडं। पूयं अणेसणिज्जं च, तं विज्जं परिजाणिया ॥१४॥

आसूणिमक्खिरागं च, गिद्धुवघायकम्मगं। उच्छोलणं च कक्कं च, तं विज्जं परिजाणिया ॥१५॥

---

१ °ल्लनिर्दे° आ. इ. । सा. २ निरूहो निश्चिते तर्के बस्तिभेदे इति हैमः । ३ °मल्लं° आ. । ४ पुर्ति आ. पूइयं इ. । ५ गेद्धु आ. ।

संपसारी कयकिरिए, पसिणायतणाणि य । सागारियं च पिंडं च, तं विज्जं परिजाणिया ॥१६॥

'गंधमल्ल' इत्यादि, 'गन्धाः' कोष्ठपुटादयः 'माल्यं' जात्यादिकं 'स्नानं च' शरीरप्रक्षालनं देशतः सर्वतश्च, तथा 'दन्तप्रक्षालनं' कदम्बकाष्ठादिना तथा 'परिग्रहः' सचित्तादेः स्वीकरणं तथा स्त्रियो दिव्यमानुषतैरश्च्यः तथा 'कर्म' हस्तकर्म सावद्यानुष्ठानं वा तदे तत्सर्वं कर्मोपादानतया संसारकारणत्वेन परिज्ञाय विद्वान् परित्यजेदिति । १३॥ किञ्चान्यत्–'उद्देसियं' इत्यादि, साध्वाद्युद्देशेन यद्दानाय व्यवस्थाप्यते तदुद्देशिकं, तथा 'क्रीतं' क्रयस्तेन क्रीतं–गृहीतं क्रीतक्रीतं 'पामिच्चं'ति साध्वर्थमन्यत उद्यतकं यद्गृह्यते तत्तदुच्यते चकारः–समुच्चयार्थः, एवकारोऽवधारणार्थः, साध्वर्थं यद्गृहस्थेनानीयते तदाहृतं, तथा 'पूय'मिति आधाकर्मावयवसम्पृक्तं शुद्धमप्याहारजातं पूति भवति, किं बहुनोक्तेन ?, यत् केनचिद्दोषेणानेषणीयम्- अशुद्धं तत्सर्वं विद्वान् परिज्ञाय संसारकारणतया निस्पृहः सन् प्रत्याचक्षीतेति ॥१४॥ किञ्च–'आसूणिम' इत्यादि, येन घृतपानादिना आहारविशेषेण रसायनक्रियया वा अशूनः सन् आ-समन्तात् शूनीभवति–बलवानुपजायते तदाशूनीत्युच्यते, यदि वा आसूणित्ति–श्लाघा यतः श्लाघया क्रियमाणया आ-समन्तात् शूनवच्छूनो लघुप्रकृतिः कश्चिद्दर्पाध्मातत्वात् स्तब्धो भवति, तथा अक्ष्णां 'रागो' रञ्जनं सौवीरादिकमञ्जनमितियावत्, एवं रसेषु शब्दादिषु विषयेषु वा 'गृद्धिं' गार्ध्यं तात्पर्यमासेवा, तथोपघातकर्म [3]अपरापकारक्रिया येन केनचित्कर्मणा परेषां जन्तूनामुपघातो भवति तदुपघातकर्मेत्युच्यते, तदेव लेशतो दर्शयति–'उच्छोलनं'ति अयतनया शीतोदकपानादिना [4]हस्तपादादिप्रक्षालनं तथा 'कल्कं' लोध्रादिद्रव्यसमुदायेन शरीरोद्वर्तनकं तदेतत्सर्वं कर्मबन्धनात्येवं 'विद्वान्' पण्डितो ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेदिति ॥१५॥

१ सागारिय × आ. इ. । २ °त्यजति आ. । ३ × पराप° आ. इ. । ४ हस्तपादादिना हस्तपादादिप्रक्षालनं आ. ।

अपि च--असंयतैः सार्धं सम्प्रसारणं-पर्यालोचनं परिहरेदिति वाक्यशेषः, एवमसंयमानुष्ठानं, प्रत्युपदेशदानं तथा 'कय-किरिओ' नाम कृता शोभना गृहकरणादिका क्रिया येन स कृतक्रिय इत्येवमसंयमानुष्ठानप्रशंसनं, तथा प्रश्नस्य-आदर्शप्रश्नादेः 'आयतनम्'-आविष्करणं कथनं यथाविवक्षितप्रश्ननिर्णयनानि, यदि वा-प्रश्नायतनानि लौकिकानां परस्परव्यवहारे मिथ्याशास्त्रगतसंशये वा प्रश्ने सति यथावस्थितार्थकथनद्वारेणायतनानि-निर्णयनानीति, तथा 'सागारिकः'-शय्यातरस्तस्य पिण्डम्-आहारं, यदि वा-सागारिकपिण्डमिति सूतकगृहपिण्डं जुगुप्सितं वर्णापसदपिण्डं वा, चशब्दः-समुच्चये, तदेतत्सर्वं विद्वान् ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेदिति ॥ १६ ॥ किञ्चान्यत्—

अट्ठावयं न सिक्खिज्जा, वेहाईयं च णो वए । हत्थकम्मं विवायं च, तं विज्जं परिजाणिया ॥१७॥

पाणहाओ य छत्तं च, णालीयं वालवीयणं । परकिरियं अन्नमन्नं च, तं विज्जं परिजाणिया ॥१८॥

उच्चारं पासवणं, हरिएसु ण करे मुणी । वियडेण वावि साहट्टु[2], णावमज्जे(यमेज्जा) कयाइवि ॥१९॥

परमत्ते अन्नपाणं[3], ण भुंजेज्ज कयाइवि । परवत्थं अचेलोऽवि, तं विज्जं परिजाणिया ॥ २० ॥

'अट्ठावयं' इत्यादि, अर्यते इत्यर्थो-धनधान्यहिरण्यादिकः पद्यते-गम्यते येनार्थस्तत्पदं-शास्त्रं अर्थार्थं पदमर्थपदं चाणाक्यादिकमर्थशास्त्रं तन्न 'शिक्षेत'-नाभ्यस्येत् नाप्यपरं प्राण्युपमर्दकारि शास्त्रं शिक्षयेत्, यदि वा-'अष्टापदं'-द्यूतक्रीडाविशेष-

१ ०नि××वा. आ. इ. । २ संहट्टुं. इ. । ३ ०पाणं च आ. ।

स्तं न शिक्षेत, नापि पूर्व[1]शिक्षितमनुशीलयेदिति, तथा 'वेधो' धर्मानुवेधस्तस्मादतीतं सद्धर्मानुवेधातीतम्—अधर्मप्रधानं वचो नो वदेत् यदि वा—वेध इति वस्त्रवेधो द्यूतविशेषस्तद्गतं वचनमपि नो वदेद् आस्तां तावत्क्रीडनमिति, हस्तकर्म प्रतीतं, यदि वा 'हस्त कर्म' हस्तक्रिया परस्परं हस्तव्यापारप्रधानः कलहस्तं, तथा विरुद्धवादं विवादं शुष्कवादमित्यर्थः, चः—समुच्चये, तदेतत्सर्वं संसार-भ्रमणकारणं ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया प्रत्याचक्षीत[2] ॥१७॥ किञ्च—'पाणहाओ' इत्यादि, उपानहौ—काष्ठपादुके च तथा आतपादिनिवारणाय छत्रं तथा 'नालिका'—द्यूतक्रीडाविशेषस्तथा वालैः मयूरपिच्छैर्वा व्यजनकं, तथा परेषां सम्बन्धिनीं क्रियामन्योऽन्यं—परस्परतोऽन्यनिष्पाद्यामन्यः करोत्यपरनिष्पाद्यां चापर इति, चः—समुच्चये, तदेतत्सर्वं 'विद्वान्'—पण्डितः कर्मोपादानकारणत्वेन ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यान—परिज्ञया परिहरेदिति ॥ १८ ॥ तथा—'उच्चारं' इत्यादि, उच्चारप्रस्रवणा-दिकां क्रियां हरितेषूपरि वीजेषु वा अस्थण्डिले वा 'मुनिः'साधुर्न कुर्यात्, तथा 'विकटेन'—विगतजीवेनाप्युदकेन 'संहृत्य'—अपनीय बीजानि हरितानि वा 'नाचमेत'—न निर्लेपनं कुर्यात्, किमुताविकटेनेतिभावः ॥ १९ ॥ किञ्च—'परमत्ते' इत्यादि, परस्य—गृहस्थस्यामत्रं—भाजनं परामत्रं तत्र पुरःकर्मपश्चात्मकर्मभयात् हृतनष्टादिदोषसम्भवाच्च अन्नं पानं च मुनिर्न कदाचि-दपि भुञ्जीत, यदि वा—पतद्ग्रहधारिणश्छिद्रपाणेः पाणिपात्रं परपात्रं, यदि वा—पाणिपात्रस्याच्छिद्रपाणेर्जिनकल्पिकादेः पत-द्ग्रहः परपात्रं तत्र संयमविराधनाभयान्न भुञ्जीत तथा परस्य—गृहस्थस्य वस्त्रं [3]परवस्त्रं तत्साधुरचेलोऽपि सन् पश्चात्कर्मादि-दोषभयात् हृतनष्टादिदोषसम्भवाच्च न बिभृयात्, यदि वा—जिनक[4]ल्पिकादिकोऽचेलो भूत्वा सर्वमपि वस्त्रं परवस्त्रमितिकृत्वा

१ वर्ध्र. आ वध्र. इ. । २ ०त च. आ. । ३ परवस्त्रं प्रतिहारकं तत्सा० आ. । ४ ०कल्पा×दिको आ. ।

न बिभृयाद्, तदेतत्सर्वं परपात्रभोजनादिकं संयमविराधकत्वेन ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेदिति ॥ तथा–

आसंदी पलियंके य, णिसिज्जं च गिहंतरे । संपुच्छ[1]णं सरणं वा, तं विज्जं परिजाणिया ॥ २१ ॥
जसं किर्त्ति सलोयं च, जा य वंदणपूयणा । सव्वलोयंसि जे कामा, तं विज्जं परिजाणिया ॥ २२ ॥
जेणेहं णिव्वहे भिक्खू, अन्नपाणं तहाविहं । अणुप्पयाणमन्नेसिं, तं विज्जं परिजाणिया ॥ २३ ॥
एवं उदाहु निग्गंथे, महावीरे महामुणी । अणंतनाणदंसी से, धम्मं [2]देसितवं सुतं ॥ २४ ॥

'आसंदी' इत्यादि, 'आसन्दी'त्यासनविशेषः, अस्य चोपलक्षणार्थत्वात् सर्वोऽप्यासनविधिर्गृहीतः, तथा 'पर्यंकः'–शयनविशेषः, तथा गृहस्यान्तर्मध्ये गृहयोर्वा मध्ये निषद्यां वाऽऽसनं वा संयमविरा[3]धनाभयात् परिहरेत्, तथा चोक्तम्—"गं[4]भीरझुं[5]सि[6]रा एते, पाणा दुप्पडिलेहगा । अगुत्ती बंभचेरस्स, इत्थीओ वावि संकणा ॥ १ ॥" इत्यादि, तथा तत्र गृहस्थगृहे कुशलादिप्रच्छनं आत्मीयशरीरावयवप्रँ[7]च्छ(पुञ्छ)नं वा तथा पूर्वक्रीडितस्मरणं चेत्येतत्सर्वं 'विद्वान्'–विदितवेद्यः सन्नर्थायेति ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेत् ॥२१॥ अपि च 'जसं किर्त्ति' इत्यादि, बहुसमरसङ्घट्टनिर्वहणशौर्यलक्षणं–यशः, दानसाध्या–कीर्तिः, जातितपोबहुश्रुतत्वादिजनिता–श्ला[8]घा, तथा या च सुरासुराधिपतिचक्रवर्तिबलदेववासु-

१ ०णं सरणं च-आ.। २ देसियं सया-आ.। ३ ०धनभया० आ-इ । सा० ४ गंभीरविजया इति द० अ० गा० ५६ अप्रकाशाश्रया इति वृत्तिः ५ एतानि गम्भीरच्छिद्राणि प्राणा दुष्प्रतिलेख्याः । अगुप्तिब्रह्मचर्यस्य स्त्रियो वापि शंकनं ॥ १ ॥ ६ ०सुसिरा-आ.। ७ पुञ्छनं आ.। ८ श्लाघा–श्लोकः-आ.।

देवादिभिर्वन्दना तथा तैरेव सत्कारपूर्विका वस्त्रादिना पूजना, तथा सर्वस्मिन्नपि लोके इच्छामदनरूपा ये केचन कामास्तदेतत्सर्वं यशः[1]कीर्ति(श्लोकादिक)मपकारितया परिज्ञाय परिहरेदिति ॥ २२ ॥ किञ्चान्यत्—'जेणेहं' इत्यादि, 'येन' अन्नेन पानेन वा तथाविधेनेति सुपरिशुद्धेन कारणापेक्षया त्वशुद्धेन वा 'इह'—अस्मिन् लोके इदं संयमयात्रादिकं दुर्भिक्षरोगातङ्कादिकं वा भिक्षुः निर्वहेत् निर्वाहयेद्वा तदन्नं पानं वा 'तथाविधं' द्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया 'शुद्धं'—कल्पं गृह्णीयात्तथैतेषाम्—अन्नादीनामनुप्रदानमन्यस्मै साधवे संयमयात्रानिर्वहणसमर्थमनुतिष्ठेत् यदि वा—येन केनचिदनुष्ठितेन 'इमं' संयमं 'निर्वहेत्'—निर्वाहयेद् असारतामापादयेत्तथाविधमशनं पानं वाऽन्यद्वा तथाविधमनुष्ठानं न कुर्यात्, तथैतेषामशनादीनाम् 'अनुप्रदानं' गृहस्थानां परतीर्थिकानां स्वयूथ्यानां वा संयमोपघातकं नानुशीलयेदिति, तदेतत्सर्वं ज्ञपरिज्ञया ज्ञात्वा सम्यक् परिहरेदिति ॥ २३ ॥ यदुपदेशेनैतत्सर्वं कुर्यात्तं दर्शयितुमाह—'एवं उदाहु' इत्यादि, 'एवं'—अनन्तरोक्तया नीत्या उद्देशकादेरारभ्य 'उदाहु'त्ति—उदाहृतवानुक्तवान् निर्गतः सबाह्याभ्यन्तरो ग्रन्थो यस्मात् स निर्ग्रन्थो 'महावीर' इति श्रीमद्वर्धमानस्वामी महांश्चासौ मुनिश्च महामुनिः, अनन्तं ज्ञानं दर्शनं च यस्यासावनन्तज्ञानदर्शनी स भगवान 'धर्मं'—चारित्रलक्षणं संसारोत्तारणसमर्थं तथा 'श्रुतं च' जीवादिपदार्थसंसूचकं 'देशितवान्'—प्रकाशितवा[2]न् ॥ २४ ॥ किञ्चान्यत्—

भासमाणो न भासेज्जा, णेव वंफेज्ज मम्मयं । मातिट्ठाणं विवज्जेज्जा, अणु[3]चिंतिय वियागरे ॥ २५ ॥
तत्थिमा तइया भासा, जं वदित्ताऽणुतप्पती । जं छन्नं तं न वत्तव्वं, एसा आणा णियंठिया ॥ २६ ॥

---

१ ०कीर्त्यादिकम० आ-इ. । २ ०वानिति-आ. । ३ अणुवितिं-आ. अणुदीयं इ. ।

होलावायं सहीवायं, गोयावायं च नो वदे। तुमं तुमंति अमणुन्नं, सव्वसो तं ण वत्तए ॥ २७ ॥
अकुसीले सया भिक्खू, [1]णेव संसग्गियं भए। सुहरूवा तत्थुवस्सग्गा, पडिबुज्झेज्ज ते विऊ ॥२८॥

'भासमाणो' इत्यादि, यो हि भाषासमितः स भाषमाणोऽपि धर्मकथासम्बन्धमभाषक एव स्यात्, उक्तं च--"[2]वयणविहत्तीकुसलो वओगयं बहुविहं वियाणंतो। दिवसंपि भासमाणो [3]साहू वयगुत्तयं पत्तो ॥ १ ॥" यदि वा—यत्रान्यः कश्चिद्रत्नाधिको भाषमाणस्तत्रान्तर एव सश्रुतिकोऽहमित्येवमभिमानवान्न भाषेत, तथा मर्म गच्छतीति मर्मगं वचो न 'वंफेज्ज'त्ति नाभिलषेत्, यद्वचनमुच्यमानं तथ्यमतथ्यं वा सद्यस्य कस्यचिन्मनःपीडामाधत्ते तद्विवेकी न भाषेतेति भावः, यदि वा 'मामकं'–ममीकारः पक्षपातस्तं भाषमाणोऽन्यदा वा 'न वंफेज्जति' नाभिलषेत्, तथा 'मातृस्थानं'–मायाप्रधानं वचो विवर्जयेत्, इदमुक्तं भवति–परवञ्चनबुद्ध्या गूढाचारप्रधानो [4]भाषमाणोऽभाषमाणो वाऽ[5]न्यदा वा मातृस्थानं न कुर्यादिति, यदा तु वक्तुकामो भवति तदा नैतद्वचः परात्मनोरुभयोर्वा बाधकमित्येवं प्राग्विचिन्त्य वचनमुदाहरेत्,, तदुक्तम्—"[6]पुव्विं बुद्धीएँ पेहित्ता, पच्छा वक्कमुदाहरे" इत्यादि ॥ २६ ॥ अपि च—'तत्थिमा' इत्यादि, सत्या असत्या सत्यामृषा असत्यामृषेत्येवंरूपासु चतसृषु भाषासु मध्ये तत्रेयं सत्यामृषेत्येतदभिधाना तृतीया भाषा, सा च [7]किंञ्चिन्मृषा किञ्चित्सत्या इत्येवंरूपा, तद्यथा—दश दारका अस्मिन्नगरे जाता मृता वा, तदत्र न्यूनाधिकसम्भवे सति सङ्ख्याया व्यभिचारात् सत्यामृषात्व-

१ णो य आ। सा. २ वचनविभक्तिकुशलो वचोगतं बहुविधं विजानन्। दिवसमपि भाषमाणः साधुर्वचनगुप्तिसम्प्राप्तः ॥ १ ॥ ३ तहावि द०अ० नि० । ४ अभाषमाणो वा भाषमाणो. आ.। सा. ५ ०न्यदा वा प्र०। ६ पूर्वं बुद्ध्या प्रेक्षयित्वा पश्चाद् वाक्यमुदाहरेत्। ७ किञ्चित्सयं किञ्चिन्मृषा. आ. इ.

मिति, यां चैवंरूपा भाषामुदित्वा अनु--पश्चाद्भाषणाज्जन्मान्तरे वा तज्जनितेन दोषेण 'तप्यते'-पीड्यते क्लेशभाग्भवति, यदि वा-अनुतप्यते किं ममैवम्भूतेन भाषितेनेत्येवं पश्चात्तापं विधत्ते, ततश्चेदमुक्तं भवति—मिश्रापि भाषा दोषाय किं पुनरसत्या द्वितीया भाषा समस्तार्थविसंवादिनी ?, तथा प्रथमापि भाषा सत्या या प्राण्युपतापेन दोषानुषङ्गिणी सा न वाच्या, चतुर्थ्यप्यसत्यामृषा भाषा या बुधैरनाचीर्णा सा न वक्तव्येति, सत्याया अपि दोषानुषङ्गित्वमधिकृत्याह—सद्भूतः 'छन्नं'ति 'क्षणु हिंसायां' हिंसाप्रधानं, तद्यथा—वध्यतां चौरोऽयं, लूयन्तां केदाराः, दम्यन्तां गोरथका इत्यादि; यदि वा-'छन्न'न्ति प्रच्छन्नं पह्लोकैरपि यत्नतः प्रच्छाद्यते तत्सत्यमपि न वक्तव्यमिति, 'एषाऽऽज्ञा' अयमुपदेशो निर्ग्रंथो-भगवांस्तस्येति ॥ २६ ॥ किञ्च—'होलावायं' इत्यादि, होलेत्येवं वादो होलावादः, तथा सखेत्येवं वादः सखिवादः, तथा गोत्रोद्घाटनेन वादो गोत्रवादो यथा काश्यपसगोत्रे वशिष्ठसगोत्रे वेति, इत्येवंरूपं वादं साधुर्नो वदेत्, तथा 'तुमं तुमं'ति तिरस्कारप्रधानमेकवचनान्तं बहुवचनोच्चारणयोग्ये 'अमनोज्ञं' मनःप्रतिकूलरूपमन्यदप्येवम्भूतमपमानापादकं 'सर्वशः'-सर्वथा तत्साधूनां वक्तुं न वर्तत इति ॥ २७ ॥ यदाश्रित्योक्तं निर्युक्तिकारेण तद्यथा—"पासत्थोसण्णकुसील संथवो ण किल दट्ठुए काउं" तदिदमित्याह—कुत्सितं शीलमस्येति कुशीलः स च पार्श्वस्थादीनामन्यतमः न कुशीलोऽकुशीलः 'सदा'-सर्वकालं भिक्षणशीलो भिक्षुः कुशीलो न भवेत्, न चापि कुशीलैः सार्धं 'संसर्गं'-साङ्गत्यं 'भजेत'-सेवेद, तत्संसर्गदोषोद्विभावयिषया-ऽऽह—'सुखरूपाः'-सातगौरवस्वभावाः, 'तत्र'-तस्मिन् कुशीलसंसर्गे संयमोपघातकारिण उपसर्गाः प्रादुष्ष्यन्ति, तथाहि—ते

१ दोषभाग. आ. । २ वचनेन वेदितेनेत्येवं. आ. । ३ ०घट्टनेन. आ. इ. । ४ ०र्नै. आ.

कुशीला वक्तारो भवन्ति-कः किल प्रासुकोदकेन हस्तपाददन्तादिके प्रक्षाल्यमाने दोषः स्यात् ?, तथा नाशरीरो धर्मो भवति इत्यतो येन केनचित्प्रकारेणाधाकर्मसन्निध्यादिना तथा उपानच्छत्रादिना च शरीरं धर्माधारं वर्तयेत्, उक्तं च-"[1]अप्पेण बहुमेसेज्जा, एयं पंडियलक्खणं" इति तथा-"शरीरं धर्मसंयुक्तं, रक्षणीयं प्रयत्नतः । शरी[2]रात् स्रवते [3]धर्मः, पर्वतात् सलिलं यथा ॥१॥" तथा साम्प्रतमल्पानि संहननानि अल्पधृतयश्च संयमे जन्तव इत्येवमादि कुशीलोक्तं श्रुत्वा अल्पसत्त्वास्तत्रानुव-जन्तीति 'विद्वान्'-विवेकी 'प्रतिबुध्येत'-जानीयात् बुद्ध्वा चापायरूपं कुशीलसंसर्गं परिहरेदिति ॥ २८ ॥ किञ्चान्यत्—

नन्नत्थ अंतराएणं, परगेहे ण णिसीयए । गामकुमारियं किड्डं, नातिवेलं हसे मुणी ॥ २९ ॥
अणुस्सुओ उरालेसु, जयमाणो परिव्वए । चरियाए अप्पमत्तो, पुट्ठो तत्थऽहियासए ॥ ३० ॥
हम्ममाणो ण कुप्पेज्जा, वुच्चमाणो न संजले । [4]सुमणे अहियासिज्जा, ण य कोलाहलं करे ॥ ३१ ॥
लद्धे कामे ण पत्थेज्जा, [5]विवेगे [6]एवमाहिए । [7]आयरियाइं सिक्खेज्जा, बुद्धाणं अंतिए सया ॥ ३२ ॥

'नन्नत्थ' इत्यादि, स साधुर्भिक्षादिनिमित्तं ग्रामादौ प्रविष्टः सन् परो-गृहस्थस्तस्य गृहं परगृहं तत्र 'न निषीदेत्'-नोपविशेत् [8]उत्सर्गतः, अस्यापवादं दर्शयति-नान्यत्र 'अन्तरायेणे'ति अन्तरायः शक्त्यभावः, स च सहसा रोगातङ्काभ्यां

सा. १ अल्पेन बहु एषयेत् एतत् पण्डितलक्षणं । २ ०राच्छ्रवते आ. इ. । सा. ३ पापं प्र० । ४ सुमणो आ. इ. । ५ विवेगे एसमाहिए आ. विवेगे ते समाहिते इ. । सा. ६ एवमाहिए प्र० । ७ आरियाइं आ. । ८ उत्सर्गतोऽपवादं आ. ।

स्यात्, तस्मिंश्चान्तराये सत्युपविशेत् यदि वा–उपशमलब्धिमान् कश्चित्सुसहायो गुर्वनुज्ञातः कस्यचित्तथाविधस्य धर्मदेशनानिमित्तमुपविशेदपि, तथा ग्रामे कुमारका ग्रामकुमारकास्तेषामियं ग्रामकुमारिका काऽसौ ?–'क्रीडा'–हास्यकन्दर्पहस्तसंस्पर्शनालिङ्गनादिका यदि वा वेट्टकन्दुकादिका[1] तां मुनिर्न कुर्यात्, तथा वेला–मर्यादा तामतिक्रान्तमतिवेलं न हसेत्, मर्यादामतिक्रम्य 'मुनिः'–साधुः ज्ञानावरणीयाद्यष्टविधकर्मबन्धनभयान्न हसेत्, तथा चागमः–"जीवे[2] णं भंते ! हसमाणे(वा[3]) उस्सुयमाणे वा कइ कम्मपगडीओ बंधइ ?, गोयमा !, सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा" इत्यादि ॥२९॥ किञ्च—'अणुस्सुओ' इत्यादि, 'उराला' उदाराः शोभना मनोज्ञा ये चक्रवर्त्यादीनां शब्दादिषु विषयेषु कामभोगा वस्त्राभरणगीतगन्धर्वयानवाहनादयस्तथा आज्ञैश्वर्यादयश्च एतेषूदारेषु दृष्टेषु श्रुतेषु वा नोत्सुकः स्यात्, पाठान्तरं वा नें[4] निश्रितोऽनिश्रितः–अप्रतिबद्धः स्यात्, यतमानश्च–संयमानुष्ठाने परि–समन्तान्मूलोत्तरगुणेषु उद्यमं कुर्वन् 'व्रजेत्'–संयमं गच्छेत् तथा 'चर्यायां' भिक्षादिकायाम् 'अप्रमत्तः स्यात्' नाहारादिषु रसगार्ध्यं विदध्यादिति, तथा 'स्पृष्टश्च'–अभिद्रुतश्च[5] परीषहोपसर्गैस्तत्रादीनमनस्कः कर्मनिर्जरां मन्यमानो 'विषहेत्'–सम्यक् सह्यादिति ॥ ३० ॥ परीषहोपसर्गाधिसँहन[6]मेवाधिकृत्याह–'हम्ममाणो' इत्यादि, 'हन्यमानो' यष्टिमुष्टिलकुटादिभिरपि हतश्च 'न कुप्येत्'–न कोपवशगो भवेत्, तथा दुर्वचनानि 'उच्यमानः' आक्रुश्यमानो निर्भर्त्स्यमानो 'न संज्वलेत्'–न प्रतीपं वदेत्, न मनागपि मनोऽन्यथात्वं विदध्यात्, किं तु सुमनाः सर्वं कोलाहलमकुर्वन्नधिसहेतेति ॥३१॥ किञ्चान्यत्–'लद्धे कामे' इत्यादि, 'लब्धान्'–प्राप्तानपि 'कामान्'–इच्छामदनरूपान् गन्धालङ्कार-

---

१ वधूकन्दु० आ. । सा० २ जीवो भदन्त ! हसन् उत्सुकायमानो वा कतीः कर्मप्रकृतीर्बध्नाति, गौतम ! सप्तविधबन्धको वाऽष्टविधबंधको वा । ३ × उ० आ. इ. । ४ × निस्तोऽनिस्तो, इ. । ५ ०हतश्च. आ. । ६ ०सहनमप्यधि० आ. ।

वस्त्रादिरूपान्वा वैरस्वामिवत् 'न प्रार्थयेत्'–नानुमन्येत–न गृह्णीयादित्यर्थः, यदि वा–यन्त्रकामावसायितया गमनादिर्लब्धि-रूपान् कामांस्तपोविशेषलब्धानपि नोपजीव्यात्, नाप्यनागतान् ब्रह्मदत्तवत्प्रार्थयेद्, एवं च कुर्वतो भावविवेकः 'आख्यात' आविर्भावितो भवति, तथा 'आर्याणि'–आर्याणां कर्तव्यानि अनार्यकर्तव्यपरिहारेण यदि वा–आचर्याणि–मुमुक्षुणा यान्याचरणीयानि ज्ञानदर्शनचारित्राणि तानि 'बुद्धानाम्'–आचार्याणाम् 'अन्तिके'–समीपे 'सदा'–सर्वकालं 'शिक्षेत'–अभ्यस्येदिति, अनेन हि शीलवता नित्यं गुरुकुलवास आसेवनीय इत्यावेदितं भवतीति ॥ ३२ ॥ यदुक्तं बुद्धानामन्तिके शिक्षेत्तत्स्वरूपनिरूपणायाह—

सुस्सूसमाणो उवासेज्जा, सुप्पन्नं सुतवस्सियं । वीरा जे अत्तपन्नेसी, धितिमन्ता जिइंदिया ॥३३॥
गिहे दीवमपासंता, पुरिसादाणिया नरा । ते वीरा बंधणुम्मुक्का, नावकंखंति जीवियं ॥ ३४ ॥
अगिद्धे सद्दफासेसु, आरंभेसु अणिस्सिए । सव्वं तं समयातीतं, जमेतं लवियं बहु ॥ ३५ ॥
अइमाणं च मायं च, तं परिण्णाय पंडिए । गारवाणि य सव्वाणि, णिव्वाणं संधए मुणि[3] ॥ ३६ ॥
(गाथाग्रं ४८२) त्तिबेमि ॥ इति श्रीधम्मनामं नवममज्झयणं समत्तं ॥

१ ०लब्धरूपान्. आ. । २ दीह० इ. । ३ मुणि त्ति बेमि । छ । धम्मो सम्मत्तो । नवमध्ययनं समाप्तं । छ । आ. । मुणि त्ति । छ । णवमं अज्झयणं सम्मतं । छ । इ. ।

'सुस्सूसमाणो' इत्यादि, गुरोरादेशं प्रति श्रोतुमिच्छा शुश्रूषा गुर्वादेर्वैयावृत्त्यमित्यर्थः तां कुर्वाणो गुरुम् 'उपासीत'–सेवेत, तस्यैव प्रधानगुणद्वयद्वारेण विशेषणमाह–सुष्ठु शोभना वा प्रज्ञाऽस्येति सुप्रज्ञः–स्वसमयपरसमयवेदी गीतार्थ इत्यर्थः, तथा सुष्ठु शोभनं वा सबाह्याभ्यन्तरं तपोऽस्यास्तीति सुतपस्वी, तदेवम्भूतं ज्ञानिनं सम्यक्चारित्रवन्तं गुरुं परलोकार्थी सेवेत, तथा चोक्तम्—"[1]नाणस्स होइ भागी, थिरयरओ दंसणे चरित्ते य। धन्ना आवकहाए गुरुकुलवासं न मुंचंति ॥ १ ॥" य एवं कुर्वन्ति तान् दर्शयति–यदि वा के ज्ञानिनस्तपस्विनो वेत्याह–'वीराः'–कर्मविदारणसहिष्णवो धीरा वा परिषहोपसर्गाक्षोभ्याः, धिया–बुद्ध्या राजन्तीति वा धीरा ये केचनासन्नसिद्धिगमनाः, 'आप्तो'–रागादिविप्रमुक्तस्तस्य प्रज्ञा–केवलज्ञानाख्या तामन्वेष्टुं शीलं येषां ते आप्तप्रज्ञान्वेषिणः सर्वज्ञोक्तान्वेषिण इति यावत्, यदि वा–आत्मप्रज्ञान्वेषिण आत्मनः प्रज्ञा–ज्ञानमात्मप्रज्ञा तदन्वेषिणः [2]आत्मज्ञत्वा(प्रज्ञा)न्वेषिण आत्महितान्वेषिण इत्यर्थः, तथा धृतिः–संयमे रतिः सा विद्यते येषां ते धृतिमन्तः, संयमधृत्या हि पञ्चमहाव्रतभारोद्वहनं सुसाध्यं भवतीति, तपःसाध्या च सुगतिर्हस्तप्राप्तेति, तदुक्तम्–"[3]जस्स धिई तस्स तवो जस्स [4]सुग्गई सुलहा। जे अधिइमंत पुरिसा तवोऽवि खलु दुल्लहो तेसिं ॥ १ ॥" तथा जितानि–वशीकृतानि स्वविषयरागद्वेषविजयेनेन्द्रियाणि––स्पर्शनादीनि यैस्ते जितेन्द्रियाः, शुश्रूषमाणाः शिष्या गुरवो वा शुश्रूष्यमाणा यथोक्तविशेषण विशिष्टा भवन्तीत्यर्थः ॥ ३३ ॥ यदभिसंधायिनः पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टा भवन्ति तद्दर्शयितुमाह–'गिहे दीव' इत्यादि,

सा. १ ज्ञानस्य भवति भागी स्थिरतरो दर्शने चारित्रे च। धन्या यावत्कथं गुरुकुलवासं न मुञ्चन्ति ॥ १ ॥ २ आत्मज्ञानान्वे० आ.। सा. ३ यस्य धृतिस्तस्य तपो यस्य तपस्तस्य सुगतिस्सुलभा। येऽधृतिमन्तः पुरुषास्तपोऽपि खलु दुर्लभं तेषां ॥ १ ॥ ४ सोग्गई॰ आ. इ.।

'गृहे'–गृहवासे गृहपाशे वा गृहस्थभाव इति यावत् 'दीवं'ति 'दीपी दीप्तौ' दीपयति––प्रकाशयतीति दीपः स च भावदीपः श्रुतज्ञानलाभः यदि वा––द्वीपः समुद्रादौ प्राणिनामाश्वासभूतः स च भावद्वीपः संसारसमुद्रे सर्वज्ञोक्तचारित्रलाभस्तदेवम्भूतं दीपं द्वीपं वा गृहस्थभावे 'अपश्यन्तः'–अप्राप्नुवन्तः सन्तः सम्यक् प्रव्रज्योत्थानेनोत्थिता उत्तरोत्तरगुणलाभेनैवम्भूता भवन्तीति दर्शयति–'नराः'–पुरुषाः पुरुषोत्तमत्वाद्धर्मस्य नरोपादानम् , अन्यथा स्त्रीणामप्येतद्गुणभाक्त्वं भवति,अथवा देवादि-
९ व्युदासार्थमिति, मुमुक्षूणां पुरुषाणामादानीया––आश्रयणीयाः पुरुषादानीया महतोऽपि महीयांसो भवन्ति, यदि वा—आदानीयो–हितैषिणां मोक्षस्तन्मार्गो वा सम्यग्दर्शनादिकः पुरुषाणां–मनुष्याणामादानीयः पुरुषादानीयः स विद्यते येषामिति विगृह्य मत्वर्थीयोऽर्शआदिभ्योऽजिति, तथा च एवंभूतास्ते विशेषेणेरयन्ति अष्टप्रकारं कर्मेति वीराः, तथा बन्धनेन सबाह्याभ्यन्तरेण पुत्रकलत्रादिस्नेहरूपेणोत्–प्राबल्येन मुक्ता बन्धनोन्मुक्ताः सन्तो 'जीवितम्'–असंयमजीवितं प्राणधारणं वा 'नाभिकाङ्क्षंति'–नाभिलषन्तीति ॥३४॥ किञ्चान्यत् 'अगिद्धे' इत्यादि,––'अगृद्धः'–अनध्युपपन्नोऽमूर्च्छितः, क ?––शब्द-
१० स्पर्शेषु मनोज्ञेषु आद्यन्तग्रहणान्मध्यग्रहणमतो मनोज्ञेषु रूपेषु गन्धेषु वा अगृद्धः इति द्रष्टव्यं, तथेतरेषु वाऽद्विष्ट इत्यपि वाच्यं, तथा 'आरम्भेषु' सावद्यानुष्ठानरूपेषु 'अनिश्रितः'–असम्बद्धोऽप्रवृत्त इत्यर्थः, उपसंहर्तुकाम आह—'सर्वं तं जमेतत्' अध्ययनादेरारभ्य प्रतिषेध्यत्वेन यत् लपितम्–उक्तं मया बहु तत् 'समयाद्'–आर्हतादागमादतीतमतिक्रान्तमिति कृत्वा प्रतिषिद्धं, यदपि च विधिद्वारेणोक्तं तदेतत्सर्वं कुत्सितसमयातीतं लोकोत्तरं प्रधानं वर्तते, यदपि च तैः कुतीर्थिकैर्बहु लपितं तदेतत्सर्वं

१ यथा इ. ।

समयातीतमितिकृत्वा नानुष्ठेयमिति ॥३५॥ प्रतिषेध्यप्रधाननिषेधद्वारेण मोक्षाभिसन्धानेनाह—'अइमाणं च' इत्यादि, अतिमानो महामानस्तं, चशब्दात्तत्सहचरितं क्रोधं च, तथा मायां चशब्दात्तत्कार्यभूतं लोभं च, तदेतत्सर्वं 'पण्डितो' विवेकी ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेत्, तथा सर्वाणि 'गारवाणि'-ऋद्धिरससातरूपाणि सम्यग् ज्ञात्वा संसारकारणत्वेन परिहरेत्, परिहृत्य च 'मुनिः'-साधुः 'निर्वाणम्'-अशेषकर्मक्षयरूपं विशिष्टाकाशदेशं वा 'सन्धयेत्'-अभिसन्दध्यात् प्रार्थयेदिति यावत् । इतिः-परिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥ ३६ ॥ समाप्तं धर्माख्यं नवममध्ययनमिति ॥

॥ अथ दशमं श्रीसमाध्यध्ययनं प्रारभ्यते ॥

नवमानन्तरं दशममारभ्यते–– अस्य चायमभिसम्बन्धः, इहान्तराध्ययने धर्मोऽभिहितः, स चाविकलः समाधौ सति भवतीत्यतोऽधुना समाधिः प्रतिपाद्यते, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्य चत्वार्युपक्रमादीन्यनुयोगद्वाराणि वाच्यानि, तत्रोपक्रमद्वारान्तर्गतोऽर्थाधिकारोऽयं, तद्यथा-धर्मे समाधिः कर्तव्यः[2], सम्यगाधियते-व्यवस्थाप्यते मोक्षं तन्मार्गं वा प्रति येनात्मा धर्मध्यानादिना स समाधिः-धर्मध्यानादिकः, स च सम्यग् ज्ञात्वा स्पर्शनीयः, नामनिष्पन्नं तु निक्षेपमधिकृत्य निर्युक्तिकृदाह–

१ ××× नवममध्ययनं । छ छ ग्रंथतः ३५४ । छ । धर्माख्यं नवममध्ययनं । छ ग्रंथतः ३१४ छ। अ. । २ कर्त्तव्या आ. ।

आयाणपदणोऽऽघं गोणं णामं पुणो समाहित्ति। णिक्खिविऊण समाहिं भावसमाहीइ पगयं तु ॥१०३॥
णामंठवणादविए खेत्ते काले तहेव भावे य[2]। एसो उ समाहीए णिक्खेवो छव्विहो होइ ॥१०४॥
पंचसु विसएसु सुभेसु [3]दव्वंमि त्ता भवे समाहित्ति। खेत्तं तु जम्मि खेते काले [4]कालो जहिं जो ऊ ॥१०५॥
भावसमाहि [5]चउव्विह दंसणणाणे तवे चरित्ते य। [6]चउसुवि [7]समाहियप्पा संमं चरणट्ठिओ साहू ॥१०६॥

'आयाणपदणोऽऽघं' इत्यादि, आदीयते–गृह्यते प्रथममादौ यत्तदादानम् आदानं च तत्पदं च–सुबन्तं तिङन्तं वा तदादानपदं तेन 'आघं'ति नामास्याध्ययनस्य, यस्मादध्ययनादाविदं सूत्रम्–'आघं मईमं [8]मणुवीइ धम्म'मित्यादि, यथोत्तराध्ययनेषु चतुर्थमध्ययनं प्रमादाप्रमादाभिधायकमप्यादानपदेन 'असंखय'मित्युच्यते, गुणनिष्पन्नं पुनरस्याध्ययनस्य नाम समाधिरिति, यस्मात् स एवात्र प्रतिपाद्यते, तं च समाधिं नामादिना निक्षिप्य भावसमाधिनेह 'प्रकृतम्' अधिकार इति। समाधिनिक्षेपार्थमाह–नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात् एष तु समाधिनिक्षेपः षड्विधो भवति, तुशब्दो गुणानिपन्नस्यैव नाम्नो निक्षेपो भवतीत्यस्यार्थस्याविर्भावनार्थं इति, नामस्थापने सुगमत्वादनादृत्य द्रव्यादिकमधिकृत्याह—'पंचसु' इत्यादि, पञ्चस्वपि शब्दादिषु मनोज्ञेषु विषयेषु श्रोत्रादीन्द्रियाणां यथास्वं प्राप्तौ सत्यां यस्तुष्टिविशेषः स द्रव्यसमाधिः, तदन्यथा त्वस-

१ गोत्तं अ. आ.। २ उ. अ. आ.। ३ दव्वंमी सा. अ. आ.। ४ जो जमि कालंमि. अ. आ.। ५ चउहा अ. आ.। ६ चउहिं. अ. आ.। ७ समाहीए निज्जुत्ती सम्मत्ता। अ. आ.। ८ अणुवीति. आ. इ.।

माधिरिति, यदि वा द्रव्ययोर्द्रव्याणां वा सम्मिश्राणामविरोधिनां सतां न रसोपघातो भवति अपि तु रसपुष्टिः स द्रव्यसमाधिः, तद्यथा–क्षीरशर्करयोर्दधिगुडचातुर्जातकादीनां चेति, येन वा द्रव्येणोपभुक्तेन समाधिपानकादिना समाधिर्भवति तद्द्रव्यं द्रव्यसमाधिः, तुलादावारोपितं वा यत् द्रव्यं समतामुपैतीत्यादिको द्रव्यसमाधिरिति, क्षेत्रसमाधिस्तु यस्य यस्मिन् क्षेत्रे व्यवस्थितस्य समाधिरुत्पद्यते स क्षेत्रप्राधान्यात् क्षेत्रसमाधिः यस्मिन्वा क्षेत्रे समाधिर्व्यावर्ण्यत इति, कालसमाधिरपि यस्य यं कालमवाप्य समाधिरुत्पद्यते, तद्यथा–शरदि गवां नक्तमुलूकानामहनि बलिभुजां यस्य वा यावन्तं कालं समाधिर्भवति यस्मिन्वा काले समाधिर्व्याख्यायते स कालप्राधान्यात् कालसमाधिरिति। भावसमाधिं त्वधिकृत्याह—'भावसमाहि' इत्यादि, भावसमाधिस्तु दर्शनज्ञानतपश्चारित्रभेदाच्चतुर्द्धा, तत्र चतुर्विधमपि भावसमाधिं समासतो गाथापश्चार्धेनाह—मुमुक्षुणा चर्यत इति चरणं तत्र सम्यक्चरणे–चारित्रे व्यवस्थितः–समुद्युक्तः 'साधुः'मुनिश्चतुर्ष्वपि भावसमाधिभेदेषु दर्शनज्ञानतपश्चारित्ररूपेषु सम्यगाहितो–व्यवस्थापित आत्मा येन स समाहितात्मा भवति, इदमुक्तं भवति–यः सम्यक्चरणे व्यवस्थितः स चतुर्विधभावसमाधिसमाहितात्मा भवति, यो वा भावसमाधिसमाहितात्मा भवति, स सम्यक्चरणे व्यवस्थितो द्रष्टव्य इति, तथाहि—दर्शनसमाधौ व्यवस्थितो जिनवचनभावितान्तःकरणो निवातशरणप्रदीपवन्न कुमतिवायुभिर्भ्राम्यते, ज्ञानसमाधिना तु यथा यथाऽपूर्वं श्रुतमधीते तथा तथाऽतीव भावसमाधावुद्युक्तो भवति, तथा चोक्तम्—"जह जह सुयमवगाहइ अइसयरसपसरसंजुयमउव्वं। तह तह पल्हाइ मुणी णवणवसंवेगसद्धाए ॥१॥" चारित्रसमाधावपि विषयसुखनिः-

१ ०युक्तेन. आ. इ। सा. २ यथा यथा श्रुतमवगाहतेऽतिशयरसप्रसरसंयुतमपूर्वं । तथा तथा प्रह्लादते मुनिर्नवनवसंवेगश्रद्धया ॥ १ ॥

स्पृहतया निष्किञ्चनोऽपि परं समाधिमाप्नोति, तथा चोक्तम्—"तणसंथारणिसन्नोऽवि मुणिवरो भट्ठरागमयमोहो । जं पावइ मुत्तिसुहं कत्तो तं चक्कवट्टीवि ? ॥ १ ॥ नैवास्ति राजराजस्य तत्सुखं [2]नैव देवराजस्य । यत्सुखमिहैव साधोर्लोकव्यापाररहितस्य ॥ २ ॥" इत्यादि, तपःसमाधिनापि विकृष्टतपसोऽपि न ग्लानिर्भवति तथा क्षुत्तृष्णादिपरीषहेभ्यो नोद्विजते, तथा अभ्यस्ताभ्यन्तरतपोध्यानाश्रितमनाः स[3] निर्वाणस्थ इव न सुखदुःखाभ्यां बाध्यत इत्येवं चतुर्विधभावसमाधिस्थः सम्यक्चरणव्यवस्थितो भवति साधुरिति ॥ गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदं—

आघं मईमं [4]मणुवीय धम्मं, अंजू समाहिं तमिणं सुणेह । [5]अपडिन्न भिक्खू [6]उ समाहिपत्ते, अणियाण भूतेसु परिव्वएज्जा ॥ १ ॥ उड्ढं अहे यं तिरियं दिसासु, तसा य जे थावर जे य पाणा । हत्थेहिं पाएहिं य संजमित्ता, अदिन्नमन्नेसु य णो [7]गहेज्जा ॥ २ ॥ सुयक्खायधम्मे वितिगिच्छतिण्णे, लाढे चरे आयतुले पयासु । आयं न कुज्जा इह जीवियट्ठी, चयं न कुज्जा सुतवस्सि

सा० १ तृणसंस्तारनिविष्टोऽपि मुनिवरो भ्रष्टरागमदमोहः यत्प्राप्नोति मुक्तिसुखं कुतस्तत् चक्रवर्त्यपि ॥ १ ॥ २ अतस्त्रीणि पदानि न सन्ति. आ. इ. । ३ सन्निर्वाण० आ. इ. । ४ मणुवीयि आ. अणुवीति इ. । ५ अपडिन्नि आ. अपडिण्णे इ. । ६ तु० आ. ×इ. । ७ गहात आ. ।

भिक्खू ॥ ३ ॥ सव्विंदि[१]याभिनिव्वुडे पयासु, चरे मुणी सव्वतो विप्पमुक्के। पासाहि पाणे य पुढोवि सत्ते, दुक्खेण अट्टे प[२]रितप्पमाणे ॥ ४ ॥

'आघं मइमं' इत्यादि, अस्य चायमानन्तरसूत्रेण सह सम्बन्धः, तद्यथा--अशेषगारवपरिहारेण (ग्र० ५५००) मुनिर्निर्वाणमनुसन्धयेदित्येतद्भगवानुत्पन्नदिव्यज्ञानः समाख्यातवान् एतच्च वक्ष्यमाणमाख्यातवानिति, 'आघं'ति आख्यातवान् कोऽसौ ?-'मतिमान्' मननं मतिः-समस्तपदार्थपरिज्ञानं तद्विद्यते यस्यासौ मतिमान् केवलज्ञानीत्यर्थः, तत्रासाधारणविशेषणोपादानात्तीर्थकृद् गृह्यते, असावपि प्रत्यासत्तेर्वीरवर्धमानस्वामी गृ[३]ह्यते, किमाख्यातवान् ?-'धर्म'-श्रुतचारित्राख्यं, कथम् ?--'अनुविचिन्त्य'-केवलज्ञानेन ज्ञात्वा प्रज्ञापनायोग्यान् पदार्थानाश्रित्य धर्मं भाषते, यदि वा-ग्राहकमनुविचिन्त्य कस्यार्थस्यायं ग्रहणसमर्थः ?, तथा कोऽयं पुरुषः ?, कञ्च नतः ?, किं वा दर्शनमापन्न ?; इत्येवं पर्यालोच्य, धर्मशुश्रूषवो वा मन्यन्ते-यथा प्रत्येकमस्मदभिप्रायमनुविचिन्त्य भगवान् धर्मं भाषते, युगपत्सर्वेषां स्वभाषापरिणत्या संशयापगमादिति, किं भूतं धर्मं भाषते ?,—'ऋजुम्'-अवक्रं यथावस्थितवस्तुस्वरूपनिरूपणतो, न यथा शाक्याः सर्वं क्षणिकमभ्युपगम्य कृतनाशाकृताभ्यागमदोषभयात् सन्तानाभ्युपगमं कृतवन्तः तथा वनस्पतिर[४]चेतनत्वेनाभ्युपगम्य स्वयं न छिन्दन्ति तच्छेदनादावुपदेशं तु ददति तथा कार्षापणादिकं हिरण्यं स्वतो न स्पृशन्ति अपरेण तु तत्परिग्रहतः क्रयविक्रयं कारयन्ति, तथा

१ ०य×निव्वु० आ. ०यभिनिव्वु० इ. । २ परिपच्च० आ. इ. । ३ परिगृह्यते. आ. इ. । ४ ०सचेतन० इ. ।

साङ्ख्याः सर्वमप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावं नित्यमभ्युपगम्य कर्मबन्धमोक्षाभावप्रसङ्गदोषभयादाविर्भावतिरोभावावाश्रितवन्त इत्यादिकौटिल्यभावपरिहारेणावक्रं तथ्यं धर्ममाख्यातवान्, तथा सम्यगाधीयते-मोक्षं तन्मार्गं वा प्रत्यात्मा योग्यः क्रियते व्यवस्थाप्यते येन धर्मेणासौ धर्मः समाधिस्तं समाख्यातवान्, यदि वा-धर्ममाख्यातवांस्तत्समाधिं च धर्मध्यानादिकमिति। सुधर्मस्वाम्याह—'तमिमं'-धर्मं समाधिं वा भगवदुपदिष्टं शृणुत यूयं, तद्यथा-न विद्यते ऐहिकामुष्मिकरूपा प्रतिज्ञा-
९ आकाङ्क्षा तपोऽनुष्ठानं कुर्वतो यस्यासावप्रतिज्ञो, भिक्षणशीलो भिक्षुः तुर्विशेषणे भावभिक्षुः, असावेव परमार्थतः साधुः, धर्मं धर्मसमाधिं च प्राप्तोऽसावेवेति, तथा न विद्यते निदानमारम्भरूपं 'भूतेषु'-जन्तुषु यस्यासावनिदानः स एवम्भूतः सावद्यानुष्ठानरहितः परि-समन्तात् संयमानुष्ठाने 'व्रजेद्'-गच्छेदिति, यदि वा-अनिदानभूतः-अनाश्रवभूतः कर्मोपादानरहितः सुष्ठु परिव्रजेत् सुपरिव्रजेत्, यदि वा-अनिदानभूतानि-अनिदानकल्पानि ज्ञानादीनि तेषु परिव्रजेत्, अथवा निदानं हेतुः कारणं दुःखस्यातोऽनिदानभूतः कस्यचिद्दुःखमनुपपादयन् संयमे पराक्रमेतेति ॥ १ ॥ प्राणातिपातादीनि तु कर्मणो निदा-
१० नानि वर्तन्ते, प्राणातिपातोऽपि द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदाच्चतुर्धा, तत्र क्षेत्रप्राणातिपातमधिकृत्याह—'उड्ढं अहे' इत्यादि, सर्वोऽपि प्राणातिपातः क्रियमाणः प्रज्ञापकापेक्षयोर्ध्वमधस्तिर्यक् क्रियते, यदि वा—ऊर्ध्वाधस्तिर्यक्रूपेषु [2]त्रिषु लोकेषु तथा प्राच्यादिषु दिक्षु विदिक्षु चेति, द्रव्यप्राणातिपातस्त्वयं-त्रस्यन्तीति त्रसा-द्वीन्द्रियादयो ये च 'स्थावराः'-पृथिव्यादयः, चकारः-स्वगतभेदसंसूचनार्थः, कालप्राणातिपातसंसूचनार्थो वा दिवा रात्रौ वा, 'प्राणाः'-प्राणिनः, भावप्राणातिपातं त्वाह—एतान्

१ xxxxxx यदिवा इ. । २ त्रिष्वपि आ. ।

प्रागुक्तान् प्राणिनो हस्तपादाभ्यां 'संयम्य' बद्ध्वा उपलक्षणार्थत्वादस्यान्यथा वा कदर्थयित्वा यत्तेशं दुःखोत्पादनं तन्न कुर्यात्, यदिवैतान् प्राणिनो हस्तौ पादौ च संयम्य संयतकायः सन्न हिंस्यात्, चशब्दादुच्छ्वासनिश्वासकासितक्षुतवातनिसर्गादिषु सर्वत्र मनोवाक्कायकर्मसु संयतो भवन् भावसमाधिमनुपालयेत्, तथा परैरदत्तं न गृह्णीयादिति तृतीयव्रतोपन्यासः, अदत्तादाननिषेधाच्चार्थतः परिग्रहो निषिद्धो भवति, नापरिगृहीतमासेव्यत इति मैथुननिषेधोऽप्युक्तः, समस्तव्रतसम्यक्पालनोपदेशाच्च मृषावादोऽप्यर्थतो निरस्त इति ॥ २ ॥ ज्ञानदर्शनसमाधिमधिकृत्याह—'सुयक्खायधम्मे' इत्यादि, सुष्ठ्वाख्यातः श्रुतचारित्राख्यो धर्मो येन साधुनाऽसौ स्वाख्यातधर्मा, अनेन ज्ञानसमाधिरुक्तो भवति, न हि विशिष्टपरिज्ञानमन्तरेण स्वाख्यातधर्मत्वमुपपद्यत इति भावः, तथा विचिकित्सा—चित्तविप्लुतिर्विद्वज्जुगुप्सा वा तां '[वि]तीर्णः'—अतिक्रान्तः 'तदेव च निःशङ्कं यज्जिनैः प्रवेदित'मित्येवं निःशङ्कतया न क्वचिच्चित्तविप्लुतिं विधत्त इत्यनेन दर्शनसमाधिः प्रतिपादितो भवति, येन केनचित्प्रासुकाहारोपकरणादिगतेन विधिनाऽऽत्मानं यापयति—पालयतीति लाढः, स एवम्भूतः संयमानुष्ठानं 'चरेद्'—अनुतिष्ठेत्, तथा प्रजायन्त इति प्रजाः—पृथिव्यादयो जन्तवस्तास्वात्मतुल्यः आत्मवत्सर्वप्राणिनः पश्यतीत्यर्थः, एवम्भूतः एव भावसाधुर्भवतीति, तथा चोक्तम्—"जह[1] मम ण पियं दुक्खं, जाणिय एमेव सव्वजीवाणं। ण हणइ ण हणावेइ य सममणई तेण सो समणो ॥ १ ॥" यथा च[3] ममाऽऽक्रुश्य-

१ तमेव आ. इ. । सा. २ यथा मम न प्रियं दुःखं ज्ञात्वा एवमेव सर्वसत्त्वानां । न हन्ति न घातयति च सममणति तेन स श्रमणः ॥ १ ॥
३ × ममा० आ. ।

मानस्याभ्याख्यायमानस्य वा दुःखमुत्पद्यते एवमन्येषामपीत्येवं मत्वा प्रजास्वात्मसमो भवति, तथा इहासंयमजीवितार्थी प्रभूतं कालं सुखेन जीविष्यामीत्यितदध्यवसायी वा 'आयं'–कर्माश्रवलक्षणं न कुर्यात्, तथा 'चयम्'–उपचयमाहारोपकरणादेर्धनधान्यद्विपदचतुष्पदादेर्वा परिग्रहलक्षणं संचयमायत्यर्थं सुष्ठु तपस्वी 'सुतपस्वी'–विकृष्टतपोनिष्टप्तदेहो भिक्षुर्न कुर्यादिति ॥ ३ ॥ किञ्चान्यत्—'सर्विंदिय०' इत्यादि, सर्वाणि च तानि इन्द्रियाणि च स्पर्शनादीनि तैरभिनिर्वृतः–संवृतेन्द्रियो जितेन्द्रिय इत्यर्थः, क्व ?,–'प्रजासु'–स्त्रीषु, तासु हि पञ्चप्रकारा अपि शब्दादयो विषया विद्यन्ते, तथा चोक्तम्–"कलानि वाक्यानि विलासिनीनां, गतानि रम्याण्यवलोकितानि। रतानि चित्राणि च सुन्दरीणां, रसोऽपि गन्धोऽपि च चुम्बनानि ॥१॥" तदेवं स्त्रीषु पञ्चेन्द्रियविषयसम्भवात्तद्विषये संवृतः सर्वेन्द्रियेण भाव्यम्, एतदेव दर्शयति–'चरेत्'–संयमानुष्ठानमनुतिष्ठेत् 'मुनिः'–साधुः, 'सर्वतः'–सबाह्याभ्यन्तरात् सङ्गाद्विशेषेण प्रमुक्तो विप्रमुक्तो निःसङ्गो मुनिः निष्किञ्चनश्चेत्यर्थः, स एवम्भूतः सर्वबन्धनविप्रमुक्तः सन् 'पश्य'–अवलोकय पृथक् पृथक् पृथिव्यादिषु कायेषु सूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तकभेदभिन्नान् 'सत्त्वान्'–प्राणिनः अपिशब्दाद्वनस्पतिकाये साधारणशरीरिणोऽनन्तानप्येकत्वमागतान् पश्य, किंभूतान् ?,–दुःखेन–असातवेदनीयोदयरूपेण दुःखयतीति वा दुःखम्–अष्टप्रकारं कर्म तेनार्त्तान्–पीडितान् परि–समन्तात् संसारकटाहोदरे स्वकृतेनेन्धनेन 'परिपच्यमानान्' क्वाथ्यमानान् यदि वा–दुष्प्रणिहितेन्द्रियानार्तध्यानोपगतान्मनोवाक्कायैः परितप्यमानान् पश्येति सम्बन्धो लगनीय इति ॥ ४ ॥ अपि च—

१ ०नादिः आ. इ. ।

एतेसु बाले य पकुव्वमाणे, आवट्टती कम्मसु पावएसु । अतिवायतो कीरति पावकम्मं, निउंजमाणे उं[1] करेइ कम्मं ॥ ५ ॥ आदीणवित्तीव[2] करेति पावं, मंता[3] उ एगंतसमाहिमाहु । बुद्धे समाहीय[4] रते विवेगे, पाणातिवाता विरते ठियप्पा ॥ ६ ॥ सव्वं जगं तू समयाणुपेही, प्रियमप्पियं कस्सइ णो करेज्जा । उट्ठाय दीणो यं[5] पुणो विसन्नो, संपूयणं चेव सिलोयकामी ॥ ७ ॥ आहाकडं[6] चेव निकाममीणे, णियामचारी[7] य विसण्णमेसी । इत्थीसु सत्ते य पुढो य बाले, परिग्गहं चेव पकुव्वमाणे ॥ ८ ॥

'एएसु' इत्यादि, 'एतेषु'[8]–प्राङ्निर्दिष्टेषु प्रत्येकसाधारणप्रकारेषूपतापक्रियया बालवत् 'बालः'–अज्ञश्चशब्दादितरोऽपि सङ्घट्टनपरितापनापद्रावणादिकेनानुष्ठानेन 'पापानि'–कर्माणि प्रकर्षेण कुर्वाणस्तेषु च पापेषु कर्मसु सत्सु एतेषु वा पृथिव्यादिजन्तुषु गतः संस्तेनैव संघट्टनादिना प्रकारेणानन्तशः 'आवर्त्यते'–पीडयते दुःखभाग्भवतीति, पाठान्तरं वा 'एवं तु बाले' एवमित्युपप्रदर्शने यथा चौरः पारदारिको वा असदनुष्ठानेन हस्तपादच्छेदान् बन्धवधादींश्चेहावाप्नोत्येवं[9] सामान्य-

१ वि. आ. इ. । २ भोतीवि कं० आ, ०भोइवि क इ. । ३ तंता इ । ४ ०हीति आ. । ५ तु. आ. । ६ अहा० आ. । ७ निकामसारी आ. । ८ ×तेषु आ. । ९ ०हैवाप्नो० आ. ।

दृष्टेनानुमानेनान्योऽपि पापकर्मकारी इहामुत्र च दुःखभाग्भवति, 'आउट्टति'त्ति क्वचित्पाठः, तत्राशुभान् कर्मविपाकान् दृष्ट्वा श्रुत्वा ज्ञात्वा वा तेभ्योऽसदनुष्ठानेभ्य 'आउट्टति'त्ति निवर्तते, कानि पुनः पापस्थानानि येभ्यः पुनः प्रवर्तते निवर्तते वा इत्याशङ्क्य तानि दर्शयति—'अतिपाततः' प्राणातिपाततः प्राणव्यपरोपणाद्धेतोस्तच्चाशुभं ज्ञानावरणादिकं कर्म 'क्रियते'—समादीयते, तथा परांश्च भृत्यादीन् प्राणातिपातादौ 'नियोजयन्'—व्यापारयन् पापं कर्म करोति, तुशब्दान्मृषावादादिकं च कुर्वन् कारयंश्च पापकं कर्म समुच्चिनोतीति ॥५॥ किञ्चान्यत्——'आदीणवित्ती' इत्यादि, आ——समन्ताद्दीना—करुणास्पदा वृत्तिः——अनुष्ठानं यस्य कृपणवनीपकादेः स भवत्यादीनवृत्तिः, एवम्भूतोऽपि पापं कर्म करोति, पाठान्तरं वा आदीनभोज्यपि [1]पापं करोति, उक्तं च——"[2]पिंडोलगे[3]व्व दुस्सीले, णरगाओ ण मुच्चइ" स कदाचिच्छोभनमाहारमलभमानोऽज्ञत्वादार्तरौद्रध्यानोपगतोऽधः सप्तम्यामप्युत्पद्येत, तद्यथा——असावेव राजगृहनगरोत्सवनिर्गतजनसमूहवैभारगिरिशिलापातनोद्यतः स दैवात् स्वयं पतितः पिण्डोपजीवीति, तदेवमादीनभोज्यपि पिण्डोलकादिवज्जनः पापं कर्म करोतीत्येवं 'मत्वा'—अवधार्य एकान्तेनात्यन्तेन च यो [4]भावरूपो ज्ञानादिसमाधिस्तमाहुः संसारोत्तरणाय तीर्थकरगणधरादयः, द्रव्यसमाधयो हि स्पर्शादिसुखोत्पादका अनेकान्तिका अनात्यन्तिकाश्च भवन्ति अन्ते चावश्यमसमाधिमुत्पादयन्ति, तथा चोक्तम्——"यद्यपि निषेव्यमाणा मनसः परितुष्टिकारका विषयाः । किम्पाकफलादनवद्भवन्ति पश्चादतिदुरन्ताः ॥ १ ॥" इत्यादि,

१ पापकं कर्म क० आ. । सा. २ पिण्डावलगकोऽपि दुःशीलो नरकान्न मुच्यते । ३ °गेवि° आ. । ४ भावकरुणा इ. ।

तदेवं 'बुद्धः'-अवगततत्त्वः स चतुर्विधेऽपि [1]ज्ञानादिके रतो-व्यवस्थितो 'विवेके वा'-आहारोपकरणकषायपरित्यागरूपे द्रव्यभावात्मके रतः सन्नेवंभूतश्च स्यादित्याह--प्राणानां दशप्रकाराणामप्यतिपातो--विनाशस्तस्माद्विरतः स्थितः सम्यग्-मार्गेषु आत्मा यस्य स[2]: पाठान्तरं वा 'ठियच्चि'त्ति स्थिता शुद्धस्वभावात्मना अर्चिः-लेश्या यस्य स भवति स्थितार्चिः,-सुविशुद्धस्थिरलेश्य इत्यर्थः ॥ ६ ॥ किञ्च--'सव्वं जगं तू' इत्यादि, 'सर्वं'-चराचरं 'जगत्'-प्राणिसमूहं समतया प्रेक्षितुं शीलमस्य स समतानुप्रेक्षी समतापश्यको वा, न कश्चित्प्रियो नापि द्वेष्य इत्यर्थः, तथा चोक्तम्--"[3]नत्थि य सि कोइ विस्सो पिओ व सव्वेसु चेव जीवेसु" तथा-'जह मम ण पियं दुःक्खमि'त्यादि, समतोपेतश्च न कस्यचित्प्रियमप्रियं वा कुर्यान्निःसङ्गतया विहरेद्, एवं हि सम्पूर्णभावसमाधियुक्तो भवति, कश्चित्तु भावसमाधिना सम्यगुत्थानेनोत्थाय परीसहोपसर्गैस्तर्जितो दीन-भावमुपगम्य पुनर्विषण्णो भवति विषयार्थी वा कश्चिद्गार्हस्थ्यमप्यवलम्बते रससातागौरवगृद्धो वा पूजासत्काराभिलाषी स्यात् तदभावे दीनः सन् पार्श्वस्थादिभावेन वा विषण्णो भवति, कश्चित्तथा सम्पूजनं वस्त्रपात्रादिना प्रार्थयेत् 'श्लोककामी च'-श्लाघाभिलाषी च व्याकरणगणितज्योतिषनिमित्तशास्त्राण्यधीते कश्चिदिति ॥ ७ ॥ किञ्चान्यत्--' आहाकडं चेव' इत्यादि, साधूनाधाय-उद्दिश्य कृतं निष्पादितमाधाकर्मेत्यर्थः, तदेवम्भूतमाहारोपकरणादिकं निकामम्--अत्यर्थं यः प्रार्थयते स निकाममीणेत्युच्यते । तथा 'निकामम्'-अत्यर्थं आधाकर्मादीनि तन्निमित्तं निमन्त्रणादीनि वा सरति--[4]चरति तच्छीलश्च स

१ ज्ञानादिके समाधावैकान्तिकात्यन्तिकसुखोत्पादके रतो आ. इ. । २ स तथा पाठा० आ. इ. । सा. ३ नास्ति तस्य कोऽपि द्वेष्यः प्रियश्च सर्वेषु चैव जीवेषु । ४ चरति वा आ. इ. ।

तथा, एवम्भूतः पार्श्वस्थावसन्नकुशीलानां संयमोद्योगे विषण्णानां विषण्णभावमेषते, सदनुष्ठानविषण्णतया संसारपङ्कावसन्नो भवतीति यावत्, अपि च 'स्त्रीषु':-रमणीषु 'आसक्तः'-अध्युपपन्नः पृथक् पृथक् तद्भाषितहसितविब्बोकशरीरावयवेष्विति, बालवद् 'बाल':-अज्ञः सदसद्विवेकविकलः, तदत्रसक्ततया च नान्यथा--द्रव्यमन्तरेण तत्सम्प्राप्तिर्भवतीत्यतो येन केनचिदुपायेन तदुपायभूतं परिग्रहमेव प्रकर्षेण कुर्वाणः पापं कर्म समुच्चिनोतीति ॥ ८ ॥ तथा—

[1]वेराणुगिद्धे णिचयं करेति, इओ [2]चुते [3]से इहमट्ठदुग्गं । तम्हा उ मेधावि समिक्ख धम्मं, चरे मुणी [4]सँव्वउ विप्पमुक्के ॥ ९ ॥ आयं ण कुज्जा इह जीवियट्ठी, असज्जमाणो य परिव्वएज्जा । णिसम्मभासी य विणीय [5]गिद्धिं, हिंसन्नियं [6]वा ण कहं करेज्जा ॥ १० ॥ आहाकडं वा ण णिकामएज्जा, णिकामयंते य ण संथवेज्जा ॥ धुणे उरालं [7]अणुवेहमाणे, चिच्चा ण सोयं [8]अणवेक्खमाणो ॥ ११ ॥ [9]एगत्तमेयं अभिपत्थएज्जा, एवं पमोक्खो न मुसंति पासं । एसप्पमोक्खो अमुसे वरेवि, अकोहणे सच्चरते तवस्सी ॥ १२ ॥

'वेराणुगिद्धे' इत्यादि, येन केन कर्मणा—परोपतापरूपेण वैरमनुबध्यते जन्मान्तरशतानुयायि भवति तत्र गृद्धो वैरानु-

१ आरंभसत्तो णि० आ. । २ चुतो इ. । ३ × दुह आ. से दुह इ. । ४ सव्वतो आ. इ. । ५ गेही आ. । ६ च आ. । ७ अणविक्खमाणे इ. । ८ ०पेक्खमाणे आ. । ९ एगत्तमेव आ. एगंतमेव इ. ।

गृद्धः, पाठान्तरं वा 'आरंभसत्तो'त्ति आरम्भे सावद्यानुष्ठानरूपे सक्तो—लग्नो निरनुकम्पो 'निचयं'-द्रव्योपचयं तन्निमित्तापादितकर्मनिचयं वा 'करोति'-उपादत्ते, 'स' एवम्भूत उपात्तवैरः कृतकर्मोपचय 'इतः'-अस्मात् स्थानात् 'च्युतो' जन्मान्तरं गतः सन् दुःखयतीति दुःखं-नरकादियातनास्थानमर्थतः-परमार्थतो 'दुर्गं'-विषमं दुरुत्तरमुपैति, यत एवं तत्तस्मात् 'मेधावी'-विवेकी मर्यादावान् वा सम्पूर्णसमाधिगुणं जानानो 'धर्मं'-श्रुतचारित्राख्यं 'समीक्ष्य'-आलोच्याङ्गीकृत्य 'मुनिः'-साधुः, 'सर्वतः'-सबाह्याभ्यन्तरात् सङ्गात् 'विप्रमुक्तः'-अपगतः संयमानुष्ठानं मुक्तिगमनैकहेतुभूतं 'चरेद्'-अनुतिष्ठेत्, कृष्यारम्भादिसङ्गाद्विप्रमुक्तोऽनिश्रितभावेन विहरेदिति यावत् ॥ ९ ॥ किञ्चान्यत्-'आयं ण कुज्जा' इत्यादि, आगच्छतीत्यायो-द्रव्यादेर्लाभस्तन्निमित्तापादितोऽष्टप्रकारकर्मलाभो वा तम् 'इह'-अस्मिन् संसारे 'असंयमजीवितार्थी'-भोगप्रधानजीवितार्थीत्यर्थः, यदि वा-आजीविकाभयात् द्रव्यसञ्चयं न कुर्यात्, पाठान्तरं वा छान्दणं कुज्जा इत्यादि, छन्दः-प्रार्थनाऽभिलाष इन्द्रियाणां स्वविषयाभिलाषो वा तत् न कुर्यात्-तथा 'असजमानः' सङ्गमकुर्वन् गृहपुत्रकलत्रादिषु 'परिव्रजेत्'-उद्युक्तविहारी भवेत् तथा 'गृद्धिं'-गार्ध्यं विषयेषु शब्दादिषु 'विनीय'-अपनीय, 'निशम्य'-अवगम्य पूर्वोत्तरेण पर्यालोच्य भाषको भवेत्, तदेव दर्शयति-हिंसया-प्राण्युपमर्दरूपया अन्वितां-युक्तां कथां न कुर्यात्, न तत् ब्रूयात् यत्परात्मनो उभयोर्वा बाधकं वच इति भावः, तद्यथा-अश्नीत पिबत खादत मोदत हत छिन्त प्रहरत पचतेत्यादिकथां पापोपादानभूतां न कुर्यादिति ॥१०॥ अपि च-'आहाकडं च' इत्यादि, साधुनाधाय कृतमाधाकृतमौद्देशिकमाधाकर्मेत्यर्थः, तदे-

१ ०ष्ठानXXसक्तो आ। २ दुरुतार० आ. । ३ ०गमनXहेतु० इ. । ४ अनिसृत० आ. इ. । ५ छन्दं न आ. ।

वम्भूतमाहारजातं निश्चयेनैव 'न कामयेत्'–नाभिलषेत् तथाविधाहारादिकं च 'निकामयतः'–निश्चयेनाभिलषतः पार्श्वस्था-
दींस्तत्सम्पर्कदानप्रतिग्रहसंवाससम्भाषणादिभिः न संस्थापयेत्—नोपबृंहयेत् तैर्वा सार्धं संस्तवं न कुर्यादिति, किञ्च–'उरा-
लं'ति औदारिकं शरीरं विकृष्टतपसा कर्मनिर्जरामनुप्रेक्षमाणो 'धुनीयात्'–कृशं कुयात्, यदि वा 'उरालं'ति बहुजन्मान्तरस-
ञ्चितं कर्म तदुदारं–मोक्षमनुप्रेक्षमाणो 'धूनीयाद्'–अपनयेत्, तस्मिंश्च तपसा धूयमाने कृशीभवति शरीरके कदाचित् शोकः
९ स्यात् तं त्यक्त्वा याचितोपकरणवदनुप्रेक्षमाणः[1] शरीरकं धुनीयादिति सम्बन्धः ॥ ११ ॥ किञ्चापेक्षेतेत्याह–'एगत्तमेयं'
इत्यादि, एकत्वम्–असहायत्वमभिप्रार्थयेद्–एकत्वाध्यवसायी स्यात्, तथाहि–जन्मजरामरणरोगशोकाकुले संसारे स्वकृत-
कर्मणा विलुप्यमानानामसुमतां न कश्चित्राणसमर्थः–सहायः स्यात्, चोक्तम्—"एगो[2] मे सासओ अप्पा, णाणदंसणसंजुओ।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संयोगलक्खणा ॥ १ ॥" इत्यादिकामेकत्वभावनां भावयेद्, एवमनयैकत्वभावनया प्रकर्षेण
मोक्षः–प्रमोक्षो–विप्रमुक्तसङ्गता[3], न 'मृषा' अलीकमेतद्भवतीत्येवं पश्य, एष एवैकत्वभावनाभिप्रायः प्रमोक्षो वर्तते, अमृ-
१० षारूपः–सत्यश्चायमेव । तथा 'वरोऽपि'[4] प्रधानोऽप्ययमेव भावसमाधिर्वा, यदि वा यः 'तपस्वी'–तपोनिष्टप्तदेहोऽक्रोधनः,
उपलक्षणार्थत्वादस्यामानो निर्मायो निर्लोभः सत्यरतश्च एष एव प्रमोक्ष 'अमृषा' सत्यो 'वरः'–प्रधानश्च वर्तत इति ॥१२॥
किञ्चान्यत्—

१ ०वदनपेक्ष० आ। सा० २ एको मे शाश्वत आत्मा ज्ञानदर्शनसंयुतः, शेषा मे बाह्या भावाः सर्वे संयोगलक्षणाः ॥ १ ॥ ३ विप्रमुक्त. आ. ।
४ परोऽपि आ. ऽवरोऽपि इ. ।

इत्थीसु या आरय मेहुणाओ, परिग्गहं चेव अकुव्वमाणे। उच्चावएसु विसएसु ताई, निस्संसयं भिक्खु समाहिपत्ते ॥१३॥ अरइं रइं च अभिभूय भिक्खू, तणाइफासं तह सीयफासं। [1]उण्हं च दंसं चऽहियासएज्जा, [2]सुब्भिं व दुब्भिं व तितिक्खएज्जा ॥१४॥ गुत्तो वईए य समाहिपत्तो, लेसं समाहट्टु परिवएज्जा। गिहं न छाए णवि [3]छायएज्जा, [4]संमिस्सभावं [5]पयहे पयासु ॥ १५ ॥ जे केइ लोगंमि [6]उ अकिरियआया, अन्नेण पुट्ठा धुयमादिसंति। आरंभसत्ता गँढिता य लोए, धम्मं ण जाणंति विमुक्खहेउं ॥ १६ ॥

'इत्थीसु' इत्यादि, दिव्यमानुषतिर्यग्रूपासु त्रिविधास्वपि स्त्रीषु विषयभूतासु यत् 'मैथुनम्'–अब्रह्म तस्माद् आ–समन्तान्न रतः–अरतो निवृत्त इत्यर्थः, तुशब्दात् प्राणातिपातादिनिवृत्तश्च, तथा परि–समन्ताद्गृह्यते इति परिग्रहो धनधान्य-द्विपदचतुष्पदादिसंग्रहः तथा आत्माऽऽत्मीयग्रहस्तं चैवाकुर्वाणः सन्नुच्चावचेषु-नानारूपेषु विषयेषु यदि वोच्चा–उत्कृष्टा अवचा-जघन्यास्तेर्ष्वरक्तद्विष्टः 'त्रायी' अपरेषां च त्राणभूतो विशिष्टोपदेशदानतो 'निःसंशयं'–निश्चयेन परमार्थतो 'भिक्षुः'–साधुरेवम्भूतो मूलोत्तरगुणसमन्वितो भावसमाधिं प्राप्तो भवति, नापरः कश्चिदिति, उच्चावचेषु वा विषयेषु भावसमाधिं प्राप्तो

१ तेउं आ.। २ सुहिं आ.। ३ छावणिजा आ. छावएज्जा इ.। ४ संमिस्सि० आ.। ५ पहुहे इ.। ६ × अकिरियाया आ. उ अकिरियाया इ.। ७ गहिया इ.। ८ °स्तेषु रक्तद्विष्टः इ.। ९ × × × × × × × × उच्चा० आ.।

भिक्षुर्न संश्रयं याति नानारूपान् विषयान् न संश्रयतीत्यर्थः ॥ १३ ॥ विषयाननाश्रयन् कथं भावसमाधिमाप्नुयादित्याह– ‘अरइं रइं च’ इत्यादि, स भावभिक्षुः परमार्थदर्शी शरीरादौ निःस्पृहो मोक्षगमनैकप्रवणश्च या संयमेऽरतिरसंयमे च रतिर्वा तामभिभूय एतदधिसहेत, तद्यथा–निष्किञ्चनतया तृणादिकान् स्पर्शनादिग्रहणान्निम्नोन्नतभूप्रदेशस्पर्शांश्च सम्यगधिसहेत, तथा शीतोष्णदंशमशकक्षुत्पिपासादिकान् परीषहानक्षोभ्यतया निर्जरार्थम् ‘अध्यासयेद्’–अधिसहेत तथा गन्धं सुरभिमितरं च सम्यक् ‘तितिक्षयेत्’–सह्यात्, चशब्दादाक्रोशवधादिकांश्च परिषहान्मुमुक्षुस्तितिक्षयेदिति ॥ १४ ॥ किंश्चान्यत्– ‘गुत्तो वईए’ इत्यादि, वाचि वाचा वा वाग्गुप्तो–मौनव्रती सुपर्यालोचितधर्म[2]सम्बन्धभाषी वेत्येवं भावसमाधिं प्राप्तो भवति, तथा शुद्धां ‘लेश्यां’–तैजस्यादिकां ‘समाहृत्य’–उपादाय अशुद्धां च कृष्णादिकामपहृत्य परि–समन्तात् संयमानुष्ठाने ‘व्रजेत्’–गच्छेदिति, किञ्चान्यत्–गृहम्–आवसथं स्वतोऽन्येन वा न छादयेदुपलक्षणार्थत्वादस्यापरमपि गृहादेरुरगवत्परकृतबिलनिवासित्वात् संस्कारं न कुर्यात्, अन्यदपि गृहस्थकर्तव्यं परिजिहीर्षुराह—प्रजायन्त इति प्रजास्तासु–तद्विषये येन कृतेन सम्मिश्रभावो भवति तत्प्रजह्यात्, एतदुक्तं भवति–प्रव्रजितोऽपि सन् पचनपाचनादिकां क्रियां कुर्वन् कारयंश्च गृहस्थैः सम्मिश्रभावं भजते, यदि वा–प्रजाः—स्त्रियस्तासु ताभिर्वा यः सम्मिश्रीभावस्तमविकलसंयमार्थी ‘प्रजह्यात्’–परित्यजेदिति ॥ १५ ॥ अपि च—‘जे केइ’ इत्यादि, ये केचन अस्मिन् लोके अक्रिय आत्मा येषामभ्युपगमे तेऽक्रियात्मानः–साङ्ख्याः, तेषां हि सर्वव्यापित्वादात्मा निष्क्रियः पठ्यते, तथा चोक्तम्—“अकर्ता निर्गुणो भोक्ता, आत्मा कपिलदर्शने” इति, तु-

१ किञ्च××× आ.। २ ०सम्वद्ध० इ.।

शब्दो विशेषणे, स चैतद्विशिनष्टि—अमूर्त्तत्वव्यापित्वाभ्यामात्मनोऽक्रियत्वमेव बुध्यते, ते चाक्रियात्मवादिनोऽन्येनाक्रियत्वे सति बन्धमोक्षौ न घटेते इत्यभिप्रायवता मोक्षसद्भावं पृष्टाः सन्तोऽक्रियावाददर्शनेऽपि 'धूर्त' मोक्षं तदभावम् (च) 'आदि-शन्ति'–प्रतिपादयन्ति, ते तु पचनपाचनादिके स्नानार्थं जलावगाहनरूपे वा 'आरम्भे'–सावद्ये 'सक्ताः'–अध्युपपन्ना गृद्धास्तु लोके मोक्षैकहेतुभूतं 'धर्म'–श्रुतचारित्राख्यं 'न जानन्ति'–कुमार्गग्राहिणो न सम्यगवगच्छन्तीति ॥ १६ ॥ किञ्चान्यत्—

पुढो य छंदा इह माणवा[2] उ, किरियाकिरीयं[3] च पुढो य वायं। जायस्स बालस्स पकुव्व देहं, पवड्ढती वेरमसंजतस्स ॥ १७ ॥ आउक्खयं चेव अबुज्झमाणे, ममाति से साहसकारि मंदे। अहो य राओ परितप्पमाणे, अट्टेसु मूढे अजरामरेव्व ॥ १८ ॥ जहाहि वित्तं पसवो य सव्वं, जे बंधवा जे य पिया[4] य मित्ता। लालप्पती सेऽवि य एइ मोहं, अन्ने जणा तंसि हरंति[5] वित्तं ॥ १९ ॥ सीहं जहा खुड्डमिगा[6] चरंता, दूरे चरंती परिसंकमाणा। एवं तु मेहावि समिक्ख धम्मं, दूरेण पावं परिवज्जएज्जा ॥ २० ॥

१ मोक्षसद्भावमादि आ. मोक्षं तद्भावम् ×आदि इ. । २ तो इ. । ३ ०किरीणं आ. इ. । ४ सि मित्ता° आ.। ५ रित्थं. आ। ६ खुद० आ. इ।

'पुढो य छंदा' इत्यादि, पृथक् नाना छन्दः–अभिप्रायो येषां ते पृथक्छन्दा 'इह'–अस्मिन्मनुष्यलोके 'मानवा':–मनुष्याः, तुरवधारणे, तमेव नानाभिप्रायमाह–क्रियाऽक्रिययोः पृथक्त्वेन क्रियावादमक्रियावादं च समाश्रिताः, तद्यथा–" क्रियैव फलदा पुंसां, न ज्ञानं फलदं मतम् । यतः स्त्रीभक्ष्यभोगज्ञो, न ज्ञानात्सुखितो भवेत् ॥१॥" इत्येवं क्रियैव फलदायित्वेनाभ्युपगता, क्रियावादमाश्रिताः, एवमेतद्विपर्ययेणाक्रियावादमाश्रिताः, एतयोश्चोत्तरत्र स्वरूपं न्यक्षेण वक्ष्यते, ते च नानाभिप्राया मानवाः क्रियाक्रियादिकं पृथग्वादमाश्रिता मोक्षहेतुं धर्ममजानाना आरम्भेषु सक्ता इन्द्रियवशगा रससातागौरवा[1]भिलाषिण एतत्कुर्वन्ति, तद्यथा–'जातस्य'–उत्पन्नस्य, 'बालस्य'–अज्ञस्य, सदसद्विवेकविकलस्य सुखैषिणो 'देहं'–शरीरं 'पकुव्व'त्ति खण्डशः कृत्वाऽऽत्मनः सुखमुत्पादयन्ति, तदेवं परोपघातक्रियां कुर्वतोऽसंयतस्य कुतोऽप्यनिवृत्तस्य जन्मान्तरशतानुबन्धि वैरं परस्परोपमर्दकारि प्रकर्षेण वर्धते, पाठान्तरं वा–जोयाए[2] बालस्स पगब्भणाए–'बालस्य'–अज्ञस्य हिंसादिषु कर्मसु प्रवृत्तस्य निरनुकम्पस्य या जाता 'प्रगल्भता'–धार्ष्ट्यं तया[3] वैरमेव प्रवर्धत इति सम्बन्धः ॥ १७ ॥ अपि च–'आउक्खयं' इत्यादि, आयुषो–जीवनलक्षणस्य क्षय आयुष्कक्षयस्तमारम्भ[4]प्रवृत्तः छिन्नह्रदमत्स्यवदुदकक्षये सति अबुध्यमानोऽतीव 'ममाइ'त्ति ममत्ववान् इदं मे अहमस्य स्वामीत्येवं स 'मन्दः'–अज्ञः साहसं कर्तुं शीलमस्येति साहसकारीति, तद्यथा–कश्चिद्वणिग् महता क्लेशेन महार्घाणि रत्नानि समासाद्योज्जयिन्या बहिरावासितः, स च राजचौरदायादभयाद्रात्रौ रत्नान्येवमेवं च प्रवेशयिष्यामीत्येवं पर्यालोचनाकुलो रजनीक्षयं न ज्ञातवान्, अह्नयेव रत्नानि प्रवेशयन् राजपुरुषै रत्नेभ्यश्च्यावित

१ ०गारवा० आ. इ. । २ जाया× आ. इ. । ३ तया प्रगल्भतया वैर० आ. । ४ ×मारम्भ० आ. ।

इति, एवमन्योऽपि किंकर्तव्यताकुलः स्वायुषः क्षयमबुध्यमानः परिग्रहेष्वारम्भेषु च प्रवर्तमानः साहसकारी स्यादिति, तथा कामभोगतृषितोऽह्नि रात्रो च परि–समन्तात् द्रव्यार्थी परितप्यमानो मम्मणवणिग्वदार्तध्यायी कायेनापि क्लिश्यते, तथा चोक्तम्–"अजरामरवद्बालः, क्लिश्यते धनकाम्यया। शाश्वतं जीवितं चैव, मन्यमानो धनानि च ॥ १ ॥" तदेवमार्तध्यानोपहतः 'कइया[1] वच्चइ सत्थो ? किं भंडं कत्थ कित्तिया भूमी 'त्यादि, तथा 'उक्खणइ[2] खणइ णिहणइ रत्तिं न सुयइ दियावि य ससंको'इत्यादि चित्तसंक्लेशात् सुष्ठु मूढोऽ[3]जरामरवणिग्वदजरामरवदात्मानं मन्यमानोऽपगतशुभाध्यवसायोऽहर्निशमारम्भे प्रवर्तत इति ॥ १८ ॥ किञ्चान्यत्–'जहाहि वित्तं' इत्यादि, 'वित्तं'–द्रव्यजातं तथा '[4]पशवो' गोमहिष्यादयस्तान् सर्वान् 'जहाहि' परित्यज–तेषु ममत्वं मा कृथाः, ये 'बान्धवा':–मातापित्रादयः श्वशुरादयश्च पूर्वापरसंस्तुता ये च प्रिया 'मित्राणि'–सहपांसुक्रीडितादयस्ते एते मातापित्रादयो न किञ्चित्तस्य परमार्थतः कुर्वन्ति, सोऽपि च वित्तपशु[5]बान्धवमित्रार्थी अत्यर्थं पुनः पुनर्वा लपति लालप्यते तद्यथा–हे मातः ! हे पितरित्येवं तदर्थं शोकाकुलः प्रलपति, तदर्जनपरश्च मोहमुपैति, रूपवानपि कण्डरीकवत्, धनवानपि मम्मणवणिग्वत्; धान्यवानपि तिलकश्रेष्ठिवद् इत्येवमसावप्यसमाधिमान् मुह्यते (ति), यच्च तेन महता क्लेशेनापरप्राण्युपमर्देनोपार्जितं वित्तं तदन्ये जनाः 'से' तस्यापहरन्ति जीवत एव [6]मृतस्य वा, तस्य च क्लेश एव केवलं पापबन्धश्चेत्येवं मत्वा पापानि कर्माणि परित्यजेत्तपश्चरेदिति ॥ १९ ॥ तपश्चरणोपायमधिकृत्याह–'सीहं

सा. १ कदा व्रजति सार्थः ?, किं भाण्डं ?, क्व च कियती भूमिः ? । २ उत्खनति खनति निहन्ति रात्रौ न स्वपिति दिवापि च सशंकः ॥ १ ॥ ३ संमूढोऽ० आ. । ४ पशवो ये गो० आ. । ५ ०बान्धवार्थीभि० आ. । ६ मृतस्य वा×××° आ. मृतस्य×××° च इ. ।

जहा' इत्यादि, यथा 'क्षुद्रमृगाः'-क्षुद्राटव्यपशवो हरिणजात्याद्याः 'चरन्त':-अटव्यामटन्तः सर्वतो बिभ्यतः परिशङ्कमानाः सिंहं व्याघ्रं वा आत्मोपद्रवकारिणं दूरेण परिहृत्य 'चरन्ति'-विहरन्ति, एवं 'मेधावी' मर्यादावान्, तुर्विशेषणे, सुतरां धर्मं 'समीक्ष्य'-पर्यालोच्य 'पापं'-कर्म असदनुष्ठानं दूरेण मनोवाक्कायकर्मभिः परिहृत्य परि-समन्ताद्व्रजेत् संयमानुष्ठायी तपश्चारी च भवेदिति, दूरेण वा पापं-पापहेतुत्वात् सावद्यानुष्ठानं सिंहमिव मृगः स्वहितमिच्छन् परिवर्जयेत्-परित्यजेदिति ॥२०॥ अपि च-

९ संबुज्झमाणे उ णरे मतीमं, पावाउ[1] अप्पाण निवट्टएज्जा । हिंसप्पसूयाइं दुहाइं मेत्ता[2] वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ॥ २१ ॥ मुसं न बूया मुणि अत्तगामी[5], णिव्वाणमेयं कसिणं समाहिं । सयं न कुज्जा न य[3] कारवेज्जा, करंतमन्नंपि य णाणुजाणे[4] ॥ २२ ॥ सुद्धे सिया जाए न दूसएज्जा, असुच्छिए ण य अज्झोववन्ने । धितिमं विमुक्के ण य पूयणट्ठी, न सिलोयगामी य परिव्वएज्जा ॥ २३ ॥ निक्खम्म गेहाउ निरावकंखी, कायं विउसेज्ज नियाणछिन्ने । णो जीवियं णो

१० मरणाभिकंखी, चरेज्ज भिक्खू वलया विमुक्के ॥ २४ ॥ त्तिबेमि[6] ॥ (गाथाग्रम्-५८०)॥ इति समाहिनाम दसममज्झयणं समत्तं ॥

---

१ पावा× आ. पावातो इ. । २ मंता आ. इ. । ३ वि. आ. । ४ माणु° आ. ५ ०कामी आ. । ६ त्तिबेमि । छ । समाही समत्तो । छ । आ. त्तिबेमि ! छ । समाही सम्मत्तो । छ । दशममध्ययनं समाप्तं । छ. । छ । इ. ।

'संवुज्झमाणे' इत्यादि मननं मतिः सा शोभना यस्यास्त्यसौ मतिमान्, प्रशंसायां मतुप्, तदेवं शोभनमतियुक्तो मुमुक्षुर्नरः सम्यक्श्रुतचारित्राख्यं धर्मं भावसमाधिं वा 'वुध्यमानस्तु' विहितानुष्ठाने प्रवृत्तिं कुर्वाणस्तु पूर्वं तावन्निषिद्धाचरणान्निवर्तेत अतस्तत् दर्शयति-'पापात्'-हिंसानृतादिरूपात् कर्मण आत्मानं निवर्तयेत्, निदानोच्छेदेन हि निदानिन उच्छेदो भवतीत्यतोऽशेषकर्मक्षयमिच्छन्नादावेव आश्रवद्वाराणि निरुन्ध्यादित्यभिप्रायः, किं चान्यत्-हिंसा-प्राणिव्यपरोपणं तया ततो वा प्रसूतानि-जातानि यान्यशुभानि कर्माणि तान्यत्यन्तं नरकादिषु यातनास्थानेषु दुःखानि-दुःखोत्पादकानि[1] वर्तन्ते, तथा वैरमनुबध्नन्ति तच्छीलानि च वैरानुबन्धीनि-जन्मशतसहस्रदुर्मोचानि, अत एव महद्भयं येभ्यः सकाशात्तानि महाभयानीति, एवं च मत्वा मतिमानात्मानं पापान्निवर्तयेदिति, पाठान्तरं वा 'निव्वाणभूए व[2] परिव्वएज्जा' अस्यायमर्थः-यथा हि निर्वृतो निर्व्यापारत्वात् कस्यचिदुपघाते न वर्तते एवं साधुरपि सावद्यानुष्ठानरहितः परि-समन्ताद् व्रजेदिति[3] ॥ २१ ॥ तथा 'मूसं न बूया' इत्यादि, आप्तो-मोक्षमार्गस्तद्गामी-तद्गमनशील आत्महितगामी वा आप्तो वा प्रक्षीणदोषः सर्वज्ञस्तदुपदिष्टमार्गगामी 'मुनिः'-साधुः 'मृषावादम्'-अनृतमयथार्थं न ब्रूयात् सत्यमपि प्राण्युपघातकमिति, 'एतदेव' मृषावादवर्जनं 'कृत्स्नं'-संपूर्णं भावसमाधिं निर्वाणं चाहुः, सांसारिका हि समाधयः स्नानभोजनादिजनिताः शब्दादिविषयसंपादिता वा अनैकान्तिकानात्यन्तिकत्वेन दुःखप्रतीकाररूपत्वेन वा असंपूर्णा वर्तन्ते । तदेवं मृषावादमन्येषां वा व्रतानामतिचारं स्वयमात्मना न कुर्यान्नाप्यपरेण कारयेत्तथा कुर्वन्तमप्यपरं मनोवाक्कायकर्मभिर्नानुमन्येत इति ॥ २२ ॥

१ ०दनानि. आ. इ. । २ यपरि० आ. इ. । ३ व्रजेत्परित्यजेदिति आ. ।

उत्तरगुणानधिकृत्याह—‘ सुद्धे सिया ’ इत्यादि, उद्गमोत्पादनैषणाभिः ‘ शुद्धे ’–निर्दोषे ‘ स्यात् ’–कदाचित् ‘ जाते ’–प्राप्ते पिण्डे सति साधू रागद्वेषाभ्यां न दूषयेत्, उक्तं च—“ [1]बायालीसेसणसंकडंमि गहणंमि जीव ! नहु छलिओ । [2]ईण्हिं जह न छलिज्जसि भुंजंतो रागदोसेहिं ॥ १ ॥ तत्रापि रागस्य प्राधान्यख्यापनायाह—न मूर्छितोऽमूर्छितः–सकृदपि शोभनाहारलाभे सति गृद्धिमकुर्वन्नाहारयति, तथा अनध्युपपन्नस्तमेवाहारं पौनःपुन्येनानभिलषमाणः केवलं संयमयात्रापालनार्थमाहारमाहारयेत्, प्रायो विदितवेद्यस्यापि विशिष्टाहारसन्निधावभिलाषातिरेको जायत इत्यतोऽमूर्छितोऽनध्युपपन्न इति च प्रतिषेधद्वयमुक्तम्, उक्तं च—“ [3]भुत्तभोगो पुरा जोऽवि, गीयत्थोऽवि य भाविओ । संतेसाहारमाईसु, सोऽवि खिप्पं तु खुब्भइ ॥ १ ॥ ” तथा संयमे धृतिर्यस्यासौ धृतिमान्, तथा सबाह्याभ्यन्तरेण ग्रन्थेन वि[4]मुक्तः, तथा पूजनं वस्त्रपात्रादिना तेनार्थः पूजनार्थः स विद्यते यस्यासौ [5]पूजनार्थी तदेवंभूतो न भवेत्, तथा श्लोकः—श्लाघा [6]कीर्तिस्तद्गामी न तदभिलाषुकः परिव्रजेदिति, कीर्त्यर्थी न काञ्चन क्रियां कुर्यादित्यर्थः ॥ २३ ॥ अध्ययनार्थमुपसंजि[7]घृक्षुराह—‘ निक्खम्म ’ इत्यादि, गेहान्निःसृत्य ‘ निष्क्रम्य च ’–प्रव्रजितोऽपि भूत्वा जीवितेऽपि निराकाङ्क्षी ‘ कायं ’–शरीरं व्युत्सृज्य निष्प्रतिकर्मतया चिकित्सादिकमकुर्वन् छिन्ननिदानो भवेत्, तथा न जीवितं नापि मरणमभिकाङ्क्षेत् ‘ भिक्षुः ’–साधुः ‘ वलयात् ’–संसार-

सा. १ द्विचत्वारिंशदेषणादोषसंकटे गहने जीव ! नैव छलितः । इदानीं यदि न छल्यसे भुञ्जन् रागद्वेषाभ्यां (तदा सफलं तत्) ॥ १ ॥ २ एण्हिं आ. इ. । सा. ३ भुक्तभोगः पुरा योऽपि गीतार्थोऽपि च भावितः । सत्स्वाहारादिषु सोऽपि क्षिप्रमेव क्षुभ्यति ॥ १ ॥ ४ विमुक्तवद्विमुक्तः तथा° आ. । ५ संपूजनार्थी. आ । ६ कीर्त्तिर्न तद्गामीत° आ. । ७ °जिहीषुराह आ. ।

वलयात् कर्मबन्धनाद्वा विप्रमुक्तः संयमानुष्ठानं चरेत्, इतिः-परिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥ २४ ॥

[1]इति समाध्याख्यं दशममध्ययनं समाप्तं ॥



अथ एकादशं श्रीमार्गाध्ययनं प्रारभ्यते ।

उक्तं दशममध्ययनं, तदनन्तरमेकादशमारभ्यते, अस्य चायमभिसंबन्धः, इहानन्तराध्ययने समाधिः प्रतिपादितः, स च ज्ञानदर्शनतपश्चारित्ररूपो वर्तते, भावमार्गोऽप्येवमात्मक एवेत्यतो मार्गोऽनेनाध्ययनेन प्रतिपाद्यते इत्यनेन संबन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्य चत्वार्युपक्रमादीन्यनुयोगद्वाराणि वाच्यानि, तत्राप्युपक्रमान्तर्गतोऽर्थाधिकारोऽयं, तद्यथा-प्रशस्तो ज्ञानादिको भावमार्गस्तदाचरणं चात्राभिधेयमिति, नामनिष्पन्ने तु निक्षेपे मार्ग इत्यस्याध्ययनस्य नाम तन्निक्षेपार्थं निर्युक्तिकृदाह--

णामं ठवणा दविए खेत्ते काले तहेव भावे य । एसो [2]खलु [3]मग्गस्स य णिक्खेवो छव्विहो होइ ॥१०७॥ फलगलयंदो[4]लँणवित्तरज्जुदवणाबि[5]लँपा[6]सँमग्गे य । खीलगअयपक्खिपहे छत्तजलाकासदव्वंमि ॥ १०८ ॥ खेत्तंमि जंमि खेत्ते काले कालो जहिं हवइ जो उ । भावंमि होति दुविहो पस-

१ दशममध्ययनं समाध्याख्यं परिसमाप्तमिति । छ । छ । ग्रंथतः २९२ । छ । छ । आ. दशममध्ययनं समाप्तमिति । छ । ग्रंथतः २९२ । इ. २ उ अ. आ. । ३ मग्गसा° अ. आ. । ४ °दोलयेत्त. अ. आ. । ५ °पिलपासमग्गणया अ. आ. । ६ °भवे मग्गो अ. °भवो मग्गो. आ. ।

त्थ तह अप्पसत्थो य ॥ १०९ ॥ दुविहंमिवि तिगभेदो णेओ तस्स(उ) विणिच्छओ दुविहो । सुगतिफलदुग्गतिफलो पगयं सुगतीफलेणित्थं ॥ ११० ॥ दुग्गइफलवादीणं तिन्नि तिसट्ठा सताइ वादीणं । खेमे य खेमरूवे चउक्कगं मग्गमादीसु ॥ १११ ॥

'णामं ठवणा' इत्यादि, नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदान्मार्गस्य षोढा निक्षेपः, तत्र नामस्थापने सुगमत्वादनादृत्य ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं द्रव्यमार्गमधिकृत्याह–'फलग' इत्यादि, फलकैर्मार्गः–फलकमार्गः यत्र कर्दमादिभयात् फलकैर्गम्यते, [2]लतामार्गस्तु यत्र लतावलम्बेन गम्यते, अन्दोलनमार्गोऽपि यत्रान्दोलनेन दुर्गमतिलङ्घ्यते, वेत्रमार्गो यत्र वेत्रलतोपष्टम्भेन जलादौ गम्यते इति, तद्यथा—चारुदत्तो वेत्रलतोपष्टम्भेन वेत्रवतीं नदीमुत्तीर्य [3]परकूलं गतः, रज्जुमार्गस्तु यत्र रज्ज्वा किञ्चिदतिदुर्गमतिलङ्घ्यते, 'दवनं'ति यानं तन्मार्गो दवनमार्गः, बिलमार्गो यत्र तु गुहाद्याकारेण बिलेन गम्यते, पाशप्रधानो मार्गः–पाशमार्गः पाशकूटवागुरान्वितो मार्ग इत्यर्थः, कीलकमार्गो यत्र वालुकोत्कटे मरुकादिविषये कीलकाभिज्ञानेन गम्यते, अजमार्गो [4]यत्र अजेन–बस्त्येन गम्यते, तत्–यथा सुवर्ण[5]भूम्यां चारुदत्तो गत इति, पक्षिमार्गो भारुण्डादिपक्षिभिर्देशान्तरमवाप्यते, छत्रमार्गो यत्र छत्रमन्तरेण गन्तुं न शक्यते, जलमार्गो यत्र नावादिना गम्यते, आकाशमार्गो विद्याधरादी-

१ सया पवाइणं. अ. आ. । २ लताबलेन आ. । ३ परं कूलं आ. इ. । ४ यत्राजेन बस्तेन आ., यत्राघस्त्येनाजन. इ. । ५ °भूमीं आ. । ०भूमिं इ. ।

नाम्, अयं सर्वोऽपि फलकादिको ‘द्रव्ये’ द्रव्यविषयेऽवगन्तव्य इति। क्षेत्रादिमार्गप्रतिपादनायाह–‘खेत्तमि’ इत्यादि,क्षेत्रमार्गे पर्यालोच्यमाने यस्मिन् ‘क्षेत्रे’–ग्रामनगरादौ प्रदेशे वा शालिक्षेत्रादिके वा क्षेत्रे यो याति मार्गो यस्मिन्वा क्षेत्रे व्याख्यायते स क्षेत्रमार्गः, एवं कालेऽप्यायोज्यम्। भावे त्वालोच्यमाने द्विविधो भवति मार्गः, तद्यथा–प्रशस्तोऽप्रशस्तश्चेति। प्रशस्ताप्रशस्त–भेदप्रतिपादनायाह–‘दुविहंमि’ इत्यादि, ‘द्विविधेऽपि’ प्रशस्ताप्रशस्तरूपे भावमार्गे प्रत्येकं त्रिविधो भेदो भवति, तत्राप्रशस्तो मिथ्यात्वमविरतिरज्ञानं चेति, प्रशस्तस्तु सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप इति, ‘तस्य’ प्रशस्ताप्रशस्तरूपस्य भावमार्गस्य ‘विनिश्चयो’ निर्णयः फलं कार्यं निष्ठा द्वेधा, तद्यथा–प्रशस्तः सुगतिफलोऽप्रशस्तश्च दुर्गतिफल इति। इह तु पुनः ‘[1]प्रस्तावः’ अधिकारः ‘सुगतिफलेन’ प्रशस्तमार्गेणेति। तत्राप्रशस्तं दुर्गतिफलं मार्गं [2]प्रतिपिपादयिषुस्तत्कर्तॄन्निर्दिदिक्षुराह–‘दुग्गइफल’ इत्यादि, दुर्गतिः फलं यस्य स दुर्गतिफलस्तद्वदनशीला दुर्गतिफलवादिनस्तेषां प्रावादुकानां त्रीणि त्रिषष्ट्यधिकानि शतानि भवन्ति, दुर्गतिफलमार्गोपदेष्टृत्वं च तेषां मिथ्यात्वोपहतदृष्टितया विपरीतजीवादितत्त्वाभ्युपगमात्, तत्संख्या चैवमवगन्तव्या, तद्यथा–“[3]असियसयं किरियाणं अकिरियवाईण होइ चुलसीई। अण्णाणिय सत्तट्ठी वेणइयाणं च बत्तीसं” ॥१॥ तेषां च स्वरूपं समवसरणाध्ययने वक्ष्यत इति। साम्प्रतं मार्गं भङ्गद्वारेण निरूपयितुमाह, तद्यथा–एकः क्षेमो मार्गस्तस्करसिंहव्याघ्राद्युपद्रवरहितत्वात् तथा क्षेमरूपश्च समत्वात्तथा छायापुष्पफलवद्वृक्षोपेतजलाश्रयाकुलत्वाच्च १, तथा परः क्षेमो निश्चौरः किंत्वक्षेम-

१ प्रशस्ताधिकार आ.। २ प्रतिपाद० आ. सा. ३ अशीतिशतं क्रियावादीनामक्रियावादिनां भवति चतुरशीतिः अज्ञानिकानां सप्तषष्टिर्वैनयिकानां च द्वात्रिंशत् ॥ १ ॥

रूप उपलशकलाकुलगिरिनदीकण्टकगर्ताशताकुलत्वेन विषमत्वात्, तथाऽपरोऽक्षेमस्तस्करादिभयोपेतत्वात् क्षेमरूपश्चोपलशकलाद्यभावतया समत्वात्, तथाऽन्यो न क्षेमो नापि क्षेमरूपः सिंहव्याघ्रतस्करादिदोषदुष्टत्वात्तथा गर्तापाषाणनिम्नोन्नतादिदोषदुष्टत्वाच्चेति, एवं भावमार्गोऽप्यायोज्यः, तद्यथा—ज्ञानादिसमन्वितो द्रव्यलिङ्गोपेतश्च साधुः क्षेमः क्षेमरूपश्च, तथा क्षेमोऽक्षेमरूपस्तु स एव भावसाधुः काराणिकद्रव्यलिङ्गरहितः तृतीयभङ्गकगता निह्नवाः, परतीर्थिका गृहस्थाश्चरमभङ्गाकवर्त्तिनो द्रष्टव्याः। एवमनन्तरोक्तया प्रक्रियया 'चतुष्ककं'–भङ्गचतुष्टयं मार्गादिष्वायोज्यं, आदिग्रहणादन्यत्रापि समाध्यादावायोज्यमिति। सम्यग्मिथ्यात्वमार्गयोः स्वरूपनिरूपणायाह—

सम्मप्पणिओ[2] मग्गो णाणे तह दंसणे चरित्ते य। चरगपरिव्वायादीचिण्णो मिच्छत्तमग्गो उ
॥ ११२ ॥ इड्ढिरससायगुरुया छज्जीवनिकायघायनिरया[3] (य)। जे उवदिसंति मग्गं कुमग्गमग्गस्सिता ते उ ॥ ११३ ॥ तवसंजमप्पहाणा गुणधारी जे वयंति सब्भावं। सव्वजगज्जीवहियं तमाहु
[4]संमप्पणीयमिणं ॥ ११४ ॥ पंथो मग्गो णाओ विहीँ धितीँ [5]सुगती हियं (तह) सुहं च। पत्थं
सेयं णिव्वुइ णिव्वाणं सिवकरं चेव ॥ ११५ ॥[6]

१ ०व्या इति आ. इ.। २ ०प्पणीय अ. आ.। ३ ०णरयाय अ. आ.। ४ ०समप्प अ. आ.। ५ सोग्गई अ. आ.। ६ ०मग्गनिज्जुत्ति सम्मत्ता अ. आ.।

'सम्मप्पणीओ' इत्यादि, सम्यग्ज्ञानं दर्शनं [1]चारित्रं चेत्ययं त्रिविधोऽपि भावमार्गः 'सम्यग्दृष्टिभिः'–तीर्थकरगणधरादिभिः सम्यग्वा–यथावस्थितवस्तुतत्त्वनिरूपणया प्रणीतस्तैरेव(च) सम्यगाचीर्ण इति, चरकपरिव्राजकादिभिस्तु 'आचीर्णः'–आसेवितो मार्गो मिथ्यात्वमार्गोऽप्रशस्तमार्गो भवतीति। तुशब्दोऽस्य दुर्गतिफलनिबन्धत्वेन विशेषणार्थ इति। स्वयूथ्यानामपि पार्श्वस्थादीनां षड्जीवनिकायोपमर्दकारिणां कुमार्गाश्रितत्वं दर्शयितुमाह—'इड्ढिरसं' इत्यादि, ये केचन अपुष्टधर्माणः शीतलविहारिणः ऋद्धिरससातगौरवेण 'गुरुकाः'–गुरुकर्माण आधाकर्माद्युपभोगाभ्युपगमेन षड्जीवनिकाय[2]व्यापादानरताश्च अपरेभ्यो 'मार्गं'–मोक्षमार्गमात्मानुचीर्णमुपदिशन्ति, तथाहि—शरीरमिदमाद्यं धर्मसाधनमिति मत्या कालसंहननादिहानेश्चाधाकर्माद्युपभोगोऽपि न दोषायेत्येवं प्रतिपादयन्ति, ते [3]चैवं प्रतिपादयन्तः कुत्सितमार्गास्तीर्थिकास्तन्मार्गाश्रिता भवन्ति। तुशब्दादेतेऽपि स्वयूथ्या एतदुपदिशन्तः कुमार्गाश्रिता भवन्तीति किं पुनस्तीर्थिका इति। प्रशस्त[4]शास्त्रप्रणयनेन सन्मार्गाविष्करणायाह–'तवसंजमं' इत्यादि, तपः–सबाह्याभ्यन्तरं द्वादशप्रकारं तथा संयमः–सप्तदशभेदः पञ्चाश्रवविरमणादिलक्षणस्ताभ्यां प्रधानास्तपःसंयमप्रधानाः, तथाऽष्टादशशीलाङ्गसहस्राणि गुणास्तद्धारिणो गुणधारिणो ये सत्साधवस्त एवं–भूता यं 'सद्भावं'–परमार्थं जीवाजीवादिलक्षणं 'वदन्ति'–प्रतिपादयन्ति, किं भूतं!, सर्वस्मिन् जगति ये जीवास्तेभ्यो हितं–पथ्यं तद्रक्षणतस्तेषां सदुपदेशदानतो वा तं सन्मार्गं सम्यङ्मार्गज्ञाः 'सम्यग्'–अविपरीतत्वेन प्रणीतम् 'आहुः'–उक्तवन्त इति। साम्प्रतं सन्मार्गस्यैकार्थिकान् दर्शयितुमाह—'पंथो मग्गो णाओ' इत्यादि, देशाद्विवक्षितदेशा-

सा. १ चारित्रा० प्र०। २ ०घातनरताश्च आ.। ३ त्वेवं आ.। ४ ०शास्तृप्र० आ. इ.। ५ ×××××× ये. आ.।

न्तरप्राप्तिलक्षणः पन्थाः, स चेह भावमार्गाधिकारे सम्यक्त्वावाप्तिरूपोऽवगन्तव्यः १, तथा 'मार्ग' इति पूर्वस्माद्विशुद्ध्या विशिष्टतरो मार्गः, स चेह सम्यग्ज्ञानावाप्तिरूपोऽवगन्तव्यः २, तथा 'न्याय' इति निश्चयेनायनं–विशिष्टस्थानप्राप्तिलक्षणं यस्मिन् सति स न्यायः, स चेह सम्यक्चारित्रावाप्तिरूपोऽवगन्तव्यः, सत्पुरुषाणामयं न्याय एव यदुत अवाप्तयोः सम्यग्दर्शनज्ञानयोस्तत्फलभूतेन सम्यक्चारित्रेण योगो भवतीत्यतो न्यायशब्देनात्र चारित्रयोगोऽभिधीयत इति ३, तथा 'विधि'–रिति विधानं–विधिः [1]सम्यग्ज्ञानदर्शनयोर्यौगपद्येनावाप्तिः ४, तथा 'धृति'रिति धरणं–धृतिः सम्यग्दर्शने सति चारित्रावस्थानं माषतुषादाविव विशिष्टज्ञानाभावाद्विवक्षयैवमुच्यते ५, तथा 'सुगति'रिति शोभना गतिरस्मात् ज्ञानाच्चारित्राच्चेति–सुगतिः, 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्ष' इति न्यायात् सुगतिशब्देन ज्ञानक्रिये अभिधीयेते, दर्शनस्य तु ज्ञानविशेषत्वादत्रैवान्तर्भावोऽवगन्तव्यः ६, तथा 'हित'मिति परमार्थतो मुक्त्यवाप्तिस्तत्कारणं वा हितं, तच्च सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राख्यमवगन्तव्यमिति ७, अत्र च संपूर्णानां सम्यग्दर्शनादीनां मोक्षमार्गत्वे सति यद्व्यस्तसमस्तानां मोक्षमार्गत्वेनोपन्यासः स प्रधानोपसर्जनविवक्षया न दोषायेति, तथा 'सुख'मिति सुखहेतुत्वात् सुखम्–उपशमश्रेण्यामुपशामकं प्रत्यपूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायरूपा गुणत्रयावस्था ८, तथा 'पथ्य'मिति पथि–मोक्षमार्गे हितं–पथ्यं, तच्च क्षपकश्रेण्यां पूर्वोक्तं गुणत्रयं ९, तथा 'श्रेय' इत्युपशमश्रेणिमस्तकावस्था,–उपशान्तसर्वमोहावस्थेत्यर्थः १०, तथा निर्वृतिहेतुत्वान्निर्वृतिः–क्षीणमोहावस्थेत्यर्थः,–मोहनीयविनाशेऽवश्यं निर्वृतिसद्भावादितिभावः ११, तथा 'निर्वाण'मिति घनघातिकर्मचतुष्टयक्षयेण केवलज्ञानावाप्तिः १२, तथा

१ सम्यग्दर्शनज्ञानयो० आ.।

'शिवं'-मोक्षपदं तत्करणशीलं शैलेश्यवस्थागमनमिति १३, एवमेतानि मोक्षमार्गत्वेन किञ्चिद्भेदाद् भेदेन व्याख्यातान्यभिधानानि, यदि वैते पर्यायशब्दा एकार्थिका मोक्षमार्गस्येति । गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, तदनन्तरं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारयितव्यं, तच्चेदम्—

कयरे मग्गे अक्खाए, माहणेणं मईमता ? । जं मग्गं उज्जु पावित्ता, ओहं तरति दुत्तरं ॥ १ ॥
तं मग्गं णुत्तरं सुद्धं, सव्वदुक्खविमोक्खणं[1] । जाणासि णं[2] जहा भिक्खु !, तं णो[3] बूहि महामुणी ॥२॥
जइ णो केइ पुच्छिज्जा, देवा अदुव माणुसा । तेसिं तु कयरं मग्गं ?, आइक्खेज्ज कहाहिं[5] णो ॥ ३ ॥
जइ वो केइ पुच्छिज्जा, देवा अदुव माणुसा । तेसिमं पडिसाहिज्जा, मग्गसारं सुणेह मे ॥ ४ ॥

'कयरे मग्गे' इत्यादि, विचित्रत्वात्त्रिकालविषयत्वाच्च सूत्रस्यागामुकं प्रच्छकमाश्रित्य[6] सूत्रमिदं प्रवृत्तम्, अतो जम्बूस्वामी सुधर्मस्वामिनमिदमाह, तद्यथा—'कतरः' किंभूतो 'मार्गः'—अपवर्गावाप्तिसमर्थोऽस्यां त्रिलोक्याम्, 'आख्यातः'—प्रतिपादितो भगवता त्रैलोक्योद्धरणसमर्थेनैकान्तहितैषिणा मा हनेत्येवमुपदेशप्रवृत्तिर्यस्यासौ माहनः—तीर्थकृत्तेन, तमेव विशिनष्टि—मतिः—लोकालोकान्तर्गतसूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टातीतानागतवर्तमानपदार्थाविर्भाविका केवलज्ञानाख्या यस्यास्त्यसौ मतिमांस्तेन, यं प्रशस्तं भावमार्गं मोक्षगमनं प्रति 'ऋजुं'—प्रगुणं यथावस्थितपदार्थस्वरूपनिरूपणद्वारेणावक्रं सामान्यविशेषनित्यानित्यादिस्या-

१ °क्खगं. इ. । २ तं. आ. इ. । ३ ने आ. । ४ णे. आ. इ. । ५ °ह णे. आ. । ६ पृच्छकं० आ. ।

द्वादसमाश्रयणात्, तदेवंभूतं मार्गं–ज्ञानदर्शनतपश्चारित्रात्मकं, 'प्राप्य'–लब्ध्वा संसारोदरविवरवर्ती प्राणी समग्रसामग्रीकः 'ओघ'मिति भवौघं–संसारसमुद्रं तरत्यत्यन्तदुस्तरं, तदुत्तरणसामग्र्या एव दुष्प्रापत्वात्, तदुक्तम्–"माणुस्सखेत्तजाईकुलरूवारोगमाउयं बुद्धी। सवणोग्गहसद्धासञ्जमो य लोयंमि दुलहाइं ॥ १ ॥"इत्यादि ॥ स एव प्रच्छकः पुनरप्याह–'तं मग्गं' इत्यादि, योऽसौ मार्गः सत्त्वहिताय सर्वज्ञेनोपदिष्टोऽशेषैकान्तकौटिल्यवक्र(ता)रहितस्तं मार्गं, नास्योत्तरः–प्रधानोऽस्तीत्यनुत्तरस्तं, शुद्धः–अवदातो निर्दोषः पूर्वापरव्याहतिदोषापगमात् सावद्यानुष्ठानोपदेशाभावाद्वा तमिति, तथा सर्वाणि–अशेषाणि बहुभिर्भवैरुपचितानि दुःखकारणत्वाद्दुःखानि–कर्माणि तेभ्यो 'विमोक्षणं'–विमोचकं तमेवंभूतं मार्गमनुत्तरं निर्दोषं–सर्वदुःखक्षयकारणं हे भिक्षो! यथा त्वं जानीषे, 'ण'मिति वाक्यालङ्कारे, तथा तं मार्गं सर्वज्ञप्रणीतं 'नः'–अस्माकं,हे महामुने! 'ब्रूहि'–कथयेति ॥२॥ यद्यप्यस्माकमसाधारणगुणोपलब्धेर्युष्मत्प्रत्ययेनैव प्रवृत्तिः स्यात् तथाप्यन्येषां मार्गः किं भूतो मयाऽऽख्येय इत्यभिप्रायवानाह—यदा कदाचित् 'नः'–अस्मान् 'केचन'–सुलभबोधयः संसारोद्विग्नाः सम्यग्मार्गं पृच्छेयुः, के ते ?,–'देवाः'–चतुर्निकायाः तथा मनुष्याः—प्रतीताः, बाहुल्येन तयोरेव प्रश्नसद्भावात्तदुपादानं, तेषां पृच्छतां कतरं मार्गमहम् 'आख्यास्ये'–कथयिष्ये, तदेतदस्माकं त्वं जानानः कथयेति ॥ ३ ॥ एवं पृष्टं सुधर्मस्वाम्याह—'जइ णो' इत्यादि, यदि कदाचित् 'वः'–युष्मान् केचन देवा मनुष्या वा संसारभ्रान्तिपराभग्नाः सम्यग्मार्गं पृच्छेयुस्तेषां पृच्छताम् 'इम'मिति वक्ष्यमाणलक्षणं षड्जीवनिकायप्रतिपादनगर्भं तद्रक्षाप्रवणं मार्गं 'पडिसाहिज्जे'ति–प्रतिकथयेत्, 'मार्गसारम्'–मार्गपरमार्थं यं भवन्तोऽन्येषां

सा. १ मानुष्यं क्षेत्रं जातिः कुलं रूपमारोग्यमायुः बुद्धिः श्रवणमवग्रहः श्रद्धा संयमश्च लोके दुर्लभानि ॥१॥ २ समणो० आ. इ.। ३ वो. आ. इ.।

प्रतिपादयिष्यन्ति तत् 'मे'-मम कथयतः-शृणुत यूयमिति, पाठान्तरं वा 'तेसिं तु इमं मग्गं आइक्खेज्ज सुणेह मे'त्ति उत्तानार्थम् ॥ ४ ॥ पुनरपि मार्गाभिष्टवं कुर्वन्सुधर्मस्वाम्याह—

अणुपुव्वेण महाघोरं, कासवेण पवेइयं । जमादाय इओ पुव्वं, [1]समुद्दं ववहारिणो ॥ ५ ॥
अतरिंसु तरंतेगे, तरिस्संति अणागया । तं सोच्चा पडिवक्खामि, जंतवो तं सुणेह मे ॥ ६ ॥
पुढवीजीवा पुढो सत्ता, आउजीवा तहाऽगणी । वाउजीवा पुढो सत्ता, तणरुक्खा सबीयगा ॥७॥
अहावरा तसा पाणा, एवं छक्काय आहिया । एता[2]वए [3]जीवकाए, [4]णावरे कोइ विज्जई ॥ ८ ॥

'अणुपुव्वेण' इत्यादि, यथाऽहम् 'अनुपूर्वेण'-अनुपरिपाट्या कथयामि तथा शृणुत, यदि वा यथा चानुपूर्व्या सामग्र्या वा मार्गोऽवाप्यते तच्छृणुत, तद्यथा—'[5]पढमिल्लुगाण उदए' इत्यादि, तात्रद्यात्रत् "[6]बारसविहे कसाए खविए उवसामिए वँ जोगेहिं । लब्भइ चरितलंभो" इत्यादि, तथा '[8]चत्तारि परमंगाणी'त्यादि । किं भूतं मार्ग ?,-तमेव विशिनष्टि—कापुरुषैः संग्राम-

१ समुद्दंव्व वव° आ । सा. २ इत्ताव एव प्र० । इत्ताव ताव. आ. । ३ जीवछकाए. आ. । सा. ४ दृश्यमानेषु वहुष्वादर्शेषु नावरे विज्जती काए इत्येव पाठ उपलभ्यते, प्राङ् मुद्रिते त्वेष ईदृशः, क्वचित् नावरे विज्जती कएत्ति पाठः छन्दोऽनुलोम्येन कायस्य स्याद्ध्रस्वता चेन्नासुन्दरः सः । ४ विज्जती कती आ. इ । ५ प्राथमिकानामुदये । सा. ६ द्वादशविधेषु कषायेषु क्षपितेषूपशमितेषु वा योगैः । लभते चारित्रलाभं ॥ ७ य. आ. इ. । सा. ८ चत्वारि परमाङ्गानि ।

प्रवेशवत् दुरध्यवसेयत्वात् 'महाघोरं'–महाभयानकं, 'काश्यपो'–महावीरवर्धमानस्वामी तेन 'प्रवेदितं'–प्रणीतं मार्गं कथयिष्यामीति, अनेन स्वमनीषिकापरिहारमाह–यं शुद्धं मार्गम् 'उपादाय'–गृहीत्वा 'इत्त' इति सन्मार्गोपादानात् 'पूर्वम्'–आदावेवानुष्ठितत्वाद्दुस्तरं संसारं महापुरुषास्तरन्ति, अस्मिन्नेवार्थे दृष्टान्तमाह–व्यवहारः–पण्यक्रयविक्रयलक्षणो विद्यते येषां ते व्यवहारिणः–सांयात्रिकाः, यथा ते विशिष्टलाभार्थिनः किञ्चिन्नगरं यियासवो यानपात्रेण दुस्तरमपि समुद्रं तरन्ति एवं साधवोऽप्यात्यन्तिकैकान्तिकाबाधसुखैषिणः सम्यग्दर्शनादिना मार्गेण मोक्षं जिगमिषवो दुस्तरं भवौघं तरन्तीति ॥५॥ मार्गविशेषणायाह—'अतरिंसु' इत्यादि, यं मार्गं पूर्वं महापुरुषाचीर्णमव्यभिचारिणमाश्रित्य पूर्वस्मिन्ननादिके काले बहवोऽनन्ताः सत्त्वा अशेषकर्मकं[2]चवरविप्रमुक्ता 'भवौघं'–संसारम् 'अतार्षुः'[3]–तीर्णवन्तः, साम्प्रतमप्येके समग्रसामग्रीकाः संख्येयाः सत्त्वास्तरन्ति, महाविदेहादौ[1] सर्वदा सिद्धिसद्भावाद्वर्तमानत्वं न विरुध्यते, तथाऽनागते च काले अपर्यवसानात्मकेऽनन्ता एव जीवास्तरिष्यन्ति । तदेवं कालत्रयेऽपि संसारसमुद्रोत्तारकं मोक्षगमनैककारणं प्रशस्तं भावमार्गमुत्पन्नदिव्यज्ञानैस्तीर्थकृद्भिरुपदिष्टं, तं चाहं सम्यक् श्रुत्वाऽवधार्य च शुश्रूषूणां 'प्रतिवक्ष्यामि'–प्रतिपादयिष्यामि[4], सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनं निश्रीकृत्यान्येषामपि जन्तूनां कथयतीत्येद्दर्शयितुमाह–हे जन्तवोऽभिमुखीभूय तं चारित्रमार्गं मम कथयतः शृणुत यूयं, परमार्थकथनेऽत्यन्तमादरोत्पादनार्थमेवमुपन्यास इति ॥ ६ ॥ चारित्रमार्गस्य प्राणातिपातविरमणमूलत्वाच्चस्य च तत्परिज्ञानपूर्वकत्वादतो जीवस्वरूपनिरूपणार्थमाह–'पुढवीजीवा' इत्यादि, पृथिव्येव पृथिव्याश्रिता वा जीवाः[5] पृथ्वीजीवाः, ते च प्रत्येकशरीरत्वात्

सा. १ भवत इति गम्यं । २ °कवचवि. आ. । सा. ३ समासान्तागमेत्यादिनेटोऽनित्यत्वं । अतीर्षुः आ. । ४ °पादयामि आ.इ । ५ जीवा xxxx स्ते आ.इ. ।

'पृथंक्'-प्रत्येकं, 'सत्त्वा':-जन्तवोऽवगन्तव्याः, तथा आपश्च जीवाः, एवमग्निकायाश्च, तथाऽपरे वायुजीवाः, तदेवं चतुर्महाभूतसमाश्रिताः पृथक् सत्त्वाः प्रत्येकशरीरिणोऽवगन्तव्याः, एत एव पृथिव्यप्तेजोवायुसमाश्रिताः सत्त्वाः प्रत्येकशरीरिणः, वक्ष्यमाणवनस्पतेस्तु साधारणशरीरत्वेनापृथक्त्वमप्यस्तीत्यस्यार्थस्य दर्शनाय पुनः पृथक्सत्त्वग्रहणमिति। वनस्पतिकायस्तु यः सूक्ष्मः स सर्वोऽपि निगोदरूपः साधारणो बादरस्तु साधारणोऽसाधारणश्चेति, तत्र प्रत्येकशरीरिणोऽसाधारणस्य कतिचिद्भेदान्निर्दिदिक्षुराह—तत्र तृणानि-दर्भवीरणादीनि, वृक्षाः-चूताशोकादयः सह बीजैः-शालिगोधूमादिभिर्वर्तन्त इति सबीजकाः, एते सर्वेऽपि वनस्पतिकायाः सत्त्वा अवगन्तव्याः, अनेन च बौद्धादिमतनिरासः कृतोऽवगन्तव्य इति। एतेषां च पृथिव्यादीनां जीवानां जीवत्वेन प्रसिद्धिस्वरूपनिरूपणमाचारे प्रथमाध्ययने शस्त्रपरिज्ञाख्ये न्यक्षेण प्रतिपादितमिति नेह प्रतन्यते ॥ ७॥ षष्ठजीवनिकायप्रतिपादनायाह—'अहावरा' इत्यादि, तत्र पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतय एकेन्द्रियाः सूक्ष्मबादरपर्याप्तापर्याप्तकभेदेन प्रत्येकं चतुर्विधाः, 'अथ'-अनन्तरम्, 'अपरे'-अन्ये त्रसन्तीति त्रसाः—द्वित्रिचतुष्पञ्चेन्द्रियाः कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादयः, तत्र द्वित्रिचतुरिन्द्रियाः प्रत्येकं पर्याप्तकापर्याप्तकभेदात् षड्विधाः, पञ्चेन्द्रियास्तु [2]संज्ञ्यसंज्ञिपर्याप्तकापर्याप्तकभेदाच्चतुर्विधाः। तदेवमनन्तरोक्तया नीत्या चतुर्दशभूतग्रामात्मकतया षड्-जीवनिकाया व्याख्यातास्तीर्थकरगणधरादिभिः, 'एतावान्'-एतद्भेदात्मक एव संक्षेपतो 'जीवनिकायो' जीवराशिर्भवति, अण्डजोद्भिज्जसंस्वेदजादेरत्रैवान्तर्भावान्नापरो जीवराशिर्विद्यते कश्चिदिति ॥ ८॥ तदेवं षड्जीवनिकायं प्रदर्श्य यत्तत्र विधेयं तद्दर्शयितुमाह—

१ पृथक् पृथक् आ.। २ °संज्ञाऽसंज्ञि०।

सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं, मतिमं पडिलेहिया । सव्वे अक्कंतदुक्खा य, अतो सव्वे न[1] हिंसया ॥ ९ ॥
एयं खु णाणिणो सारं, जं न हिंसति कंचण । अहिंसा समयं चेव, एतावंतं विजाणिया॥ १० ॥
उड्ढं अहे य तिरियं[2], जे केइ तसथावरा । सव्वत्थ [3]विरतिं विज्जा, संति निव्वाणमाहियं ॥ ११ ॥
पभू दोसे निरा[4]किच्चा, ण विरुज्झेज्ज केणई । मणसा वयसा चेव, कायसा चेव अंतसो ॥ १२ ॥

'सव्वाहिं' इत्यादि, सर्वा याः काश्चनानुरूपाः-पृथिव्यादिजीवनिकायसाधनत्वेनानुकूला युक्तयः-साधनानि, यदि वा असिद्धविरुद्धानैकान्तिकपरिहारेण पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वविपक्षव्यावृत्तिरूपतया युक्तिसंगता युक्तयः अनुयुक्तयस्ताभिरनु युक्तिभिः 'मतिमान्'-सद्विवेकी पृथिव्यादिजीवनिकायान् 'प्रत्युपेक्ष्य'-पर्यालोच्य जीवत्वेन प्रसाध्य तथा सर्वेऽपि प्राणिनः 'अकान्तदुःखा' दुःखद्विषः-सुखलिप्सवश्च म[5]न्वानो मतिमान् सर्वानपि प्राणिनो न हिंस्यादिति । युक्तयश्च तत्प्रसाधिकाः संक्षेपेणेमा इति-सात्मिका पृथिवी, तदात्मनां विद्रुमलवणोपलादीनां समानजातीयाङ्कुरसद्भावाद् अर्शोविकाराङ्कुरवत् । तथा सचेतनमम्भः, भूमिखनना[6]दविकृतस्वभावसंभवाद्, दर्दुरवत् । तथा सात्मकं तेजः, तद्योग्याहारवृद्ध्या वृद्ध्युपलब्धेः, बालकवत् । तथा सात्मको वायुः, अपरां[7]प्रेरितनियततिरश्चीनगतिमत्त्वात्, गोवत् । तथा सचेतना वनस्पतयः, जन्मजरामरणरोगादीनां

१ अहिंसगा. आ. । २ °यं च. आ. इ. । ३ विरइयं. इ. । ४ णिरिक्खत्ता. इ. । ५ मत्वा. आ. । सा. ६ °ननाधिकृत० °ननाविष्कृत०प्र० । °ननादिः कृति० इ. । ७ ०प्रेरितानि° आ. इ. ।

समुदितानां सद्भावात्, स्त्रीवत्, तथा क्षतसंरोहणाहारोपादानदौहृदसद्भावस्पर्शसंकोचसायाह्नस्वापप्रबोधाश्रयोपसर्पणादिभ्यो हेतुभ्यो वनस्पतेश्चैतन्यसिद्धिः । द्वीन्द्रियादीनां तु पुनः कृम्यादीनां स्पष्टमेव चैतन्यं, तद्वेदनाश्चौपक्रमिकाः स्वाभाविकाश्च समुपलभ्य मनोवाक्कायैः कृतकारितानुमतिभिश्च नवकेन भेदेन तत्पीडाकारिणि उपमर्दान्निवर्तितव्यमिति ॥ ९ ॥ एतदेव समर्थयन्नाह—'एयं खु' इत्यादि, खुशब्दो वाक्यालङ्कारेऽवधारणे वा, 'एतदेव'–अनन्तरोक्तं प्राणातिपातनिवर्तनं 'ज्ञानिनो'–जीवस्वरूपतद्वधकर्मबन्धवेदिनः 'सारं'–परमार्थतः प्रधानं, पुनरप्यादरख्यापनार्थमेतदेवाह—यत्कञ्चन प्राणिनमनिष्टदुःखं सुखैषिणं न हिनस्ति, प्रभूतवेदिनोऽपि ज्ञानिन एतदेव सारतरं ज्ञानं यत्प्राणातिपातनिवर्तनमिति, ज्ञानमपि तदेव परमार्थतो यत्परपीडातो निवर्तनं, तथा चोक्तम्—"किं[2] ताए पढियाए ?, पयकोडीए पलालभूयाए । जत्थित्तियं ण णायं परस्स पीडा न कायव्वा ॥ १ ॥" तदेवमहिंसाप्रधानः 'समय'–आगमः संकेतो वोपदेशरूपस्तमेवंभूतमहिंसासमयमेतावन्तमेव विज्ञाय किमन्येन बहुना परिज्ञानेन ?, एतावतैव परिज्ञानेन मुमुक्षोर्विवक्षितकार्यपरिसमाप्तेरतो न हिंस्यात् कञ्चनेति ॥ १० ॥ साम्प्रतं क्षेत्रप्राणातिपातमधिकृत्याह—'ऊड्ढं अहे' इत्यादि, ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च ये केचन त्रसाः–तेजोवायुद्वीन्द्रियादयः तथा स्थावराः–पृथिव्यादयः, किं बहुनोक्तेन ?, 'सर्वत्र'–प्राणिनि त्रसस्थावरसूक्ष्मबादरभेदभिन्ने 'विरतिं'–प्राणातिपातनिवृत्तिं 'विजानीयात्'–कुर्यात्, परमार्थत एवमेवासौ ज्ञाता भवति यदि सम्यक् क्रियत इति, एषैव च प्राणातिपातनिवृत्तिः परेषामात्मनश्च शान्तिहेतुत्वाच्छान्तिर्वर्तते, यतो विरतिमतो नान्ये केचन बिभ्यति, नाप्यसौ भवान्तरेऽपि

१ ०पातान्निव० आ. इ. । सा.   २ किन्तया पठितया पदकोट्यापि पलालभूतया यत्रैतावन्न ज्ञातं परस्य पीडा न कर्त्तव्या ॥ १ ॥

कुतश्चिद्बिभेति, अपि च–निर्वाणप्रधानैककारणत्वान्निर्वाणमपि प्राणातिपातनिवृत्तिरेव, यदि वा शान्तिः[1]–उपशान्तता, निर्वृतिः–निर्वाणं विरतिमांश्चार्तरौद्रध्यानाभावादुपशान्तिरूपो[2] निर्वृतिभूतश्च भवति ॥ ११ ॥ किञ्चान्यत्—'पभू दोसे' इत्यादि, इन्द्रियाणां प्रभवतीति प्रभुर्वश्येन्द्रिय इत्यर्थः, यदि वा संयमावारकाणि कर्माण्यभिभूय[3] मोक्षमार्गे पालयितव्ये प्रभुः—समर्थः, स एवंभूतः प्रभुः दूषयन्तीति दोषा–मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगास्तान् 'निराकृत्य'–अपनीय केनापि प्राणिना सार्धं 'न विरुध्येत'–न केनचित्सह विरोधं कुर्यात्[4], त्रिविधेनापि योगेनेति[5] मनसा वाचा कायेन चैवान्तशो–यावज्जीवं परापकारक्रियया न विरोधं कुर्यादिति ॥ १२ ॥ उत्तरगुणानधिकृत्याह—

संवुडे से महापन्ने, धीरे[6] दत्तेसणं चरे । एसणासमिए णिच्चं, वज्जयंते अणेसणं ॥ १३ ॥

भूयाइं[7] च[8] समारंभ, तमुद्दिस्सा[9] य जं कडं । तारिसं तु ण गिण्हेज्जा, अन्नपाणं[10] सुसंजए ॥ १४ ॥

पूईकम्मं न सेविज्जा, एस धम्मे वुसीमओ । जं किंचि अभिकंखेज्जा, सव्वसो तं न कप्पए ॥१५॥

हणंतं णाणुजाणेज्जा, आयगुत्ते जिइंदिए । ठाणाइं संति सड्ढीणं, गामेसु नगरेसु वा[11] ॥ १६ ॥

---

१ शान्तिरूपशमः शान्तता° आ. इ.। २ °शान्तरूपो आ. इ.। ३ °ण्यनुभूय इ.। ४ कुर्यात् न कस्यचिदप्यपकुर्यात्त्रिवि० आ.। ५ °नेति दर्शयति मनसा°.आ.। ६ वीरे आ. इ.। सा. ७ भूयाइं समारंभ समुद्दिस्सा य जं कडं समप्रेष्वादर्शेषु दृश्यमानेषु पाठः, टीकायां तु न तथा। ८ × स० आ. इ.। ९ समु° आ. इ। १० अन्नं. आ. इ.। ११ य. आ.।

'संवुडे' इत्यादि, आश्रवद्वाराणां रोधेनेन्द्रियनिरोधेन च संवृतः स भिक्षुर्महती प्रज्ञा यस्यासौ महाप्रज्ञो–विपुलबुद्धिरित्यर्थः, तदनेन जीवाजीवादिपदार्थाभिज्ञतावेदिता भवति, 'धीरः'–अक्षोभ्यः क्षुत्पिपासादिपरीषहैर्न क्षोभ्यते, तदेव दर्शयति—आहारोपधिशय्यादिके स्वस्वामिना तत्संदिष्टेन वा दत्ते सत्येषणां चरति एषणीयं गृह्णातीत्यर्थः, एषणाया एषणायां वा गवेषणग्रहणग्रासरूपायां त्रिविधायामपि सम्यगितः–समितः, स साधुर्नित्यमेषणासमितः सन्ननेषणां 'वर्जयन्'–परित्यजन्संयममनुपालयेत्, उपलक्षणार्थत्वादस्य शेषाभिरपीर्यासमित्यादिभिः समितो द्रष्टव्य इति ॥ १३ ॥ अनेषणीयपरि[2]हारमधिकृत्याह–'भूयाइं' इत्यादि, अभूवन् भवन्ति भविष्यन्ति [3]च [4]प्राणिनस्तानि भूतानि–प्राणिनः, 'समारभ्य'–संरम्भसमारम्भारम्भैरुपतापयित्वा तं साधुम् 'उद्दिश्य'–साध्वर्थं यत्कृतं त[5]दुपकल्पितमाहारोपकरणादिकं 'तादृशम्'–आधाकर्मदोषदुष्टं 'सुसंयतः'–सुतपस्वी तदन्नं पानकं वा न भुञ्जीत, तुशब्दस्यैवकारार्थत्वान्नैवाभ्यवहरेद्, एवं तेन मार्गोऽनुपालितो भवति ॥१४॥ किञ्च—'पूईकम्मं' इत्यादि, आधाकर्माद्यविशुद्धकोट्यवयवेनापि संपृक्तं पूतिकर्म, तदेवंभूतमाहारादिकं 'न सेवेत'–नोपभुञ्जीत, एषः–अनन्तरोक्तो धर्मः [6]कल्पः स्वभावः 'वुसीमओ'त्ति सम्यक्संयमवतोऽयमेवानुष्ठानकल्पो यदुताशुद्धमाहारादिकं परिहरतीति, किञ्च—यदप्यशुद्धत्वेनाभिकाङ्क्षेत्–शुद्धमप्यशुद्धत्वेनाभिशङ्केत किञ्चिदप्याहारादिकं तत् 'सर्वशः'–सर्वप्रकारमप्याहारोपकरणपूतिकर्म भोक्तुं न कल्पत इति ॥१५॥ किञ्चान्यत्—'हणंतं' इत्यादि, धर्मश्रद्धावतां ग्रामेषु नगरेषु वा खेटक[7]र्ब-

१ द्वार××××××निरोधेन च आ. । २ ०हारेणैदमधि० आ. । ३ च ×××××भूतानि प्रा० आ. । ४ ×××समा० आ. । ५ यदुप० आ. । सा.
६ कल्पस्वभावः प्र० ब्रूमः । कल्पस्वभावः इ. । ७ °कर्प्पटा० आ. ।

टादिषु वा 'स्थानानि'–आश्रयाः 'सन्ति'–विद्यन्ते, तत्र तत्स्थानाश्रितः कश्चिद्[1]धर्मोपदेशेन किल धर्मश्रद्धालुतया प्राण्युपमर्दकारिणीं धर्मबुद्ध्या कूपतडागखननप्रपासत्रादिकां क्रियां कुर्यात् तेन च तथाभूतक्रियायाः [2]कर्त्रा किमत्र धर्मोऽस्ति नास्तीत्येवं पृष्टोऽपृष्टो वा तदुपरोधाद्भयाद्वा तं प्राणिनो घ्नन्तं नानुजानीयात्, किंभूतः सन् ?—'आत्मना'–मनोवाक्कायरूपेण गुप्त आत्मगुप्तः तथा 'जितेन्द्रियो' वश्येन्द्रियः सावद्या[3]नुष्ठानं नानुमन्येत[4] ॥ १६ ॥ सावद्यानुष्ठानानुमतिं परिहर्तुकाम आह–

तहा गिरं समार[5]ब्भ, अत्थि पुण्णंति णो वए । अहवा णत्थि पुण्णंति, एवमेयं महब्भयं ॥ १७ ॥
दाणट्ठया य जे पाणा, हम्मंति तसथावरा। तेसिं सारक्खणट्ठाए, तम्हा अत्थित्ति णो वए ॥ १८ ॥
जेसिं तं उवकप्पंति, अन्नपाणं तहाविहं । तेसिं लाभंतरायंति, तम्हा णत्थित्ति णो वए ॥ १९ ॥
जे य दाणं पसंसंति, वहमिच्छंति पाणिणं । जे य[6] णं पडिसेहंति, वित्तिच्छेयं करंति ते ॥ २० ॥

'तहा गिरं' इत्यादि, केनचिद्राजादिना कूपखननसत्रदानादिप्रवृत्तेन पृष्टः साधुः—किमस्मदनुष्ठाने अ[7]स्ति पुण्यमाहोस्विन्नास्तीति ?, एवंभूतां गिरं 'समारभ्य'–निशम्याश्रित्य अस्ति पुण्यं नास्ति वेत्येवमुभयथापि महाभयमिति मत्वा दोषहेतुत्वेन नानुमन्येत ॥१७॥ किमर्थं नानुमन्येत इत्याह—'दाणट्ठया य' इत्यादि, अन्नपानदानार्थमाहारमुदकं च पचनपाचनादिकया क्रियया कूपखननादिकया चोपकल्पयेत्, तत्र यस्माद् 'हन्यन्ते'–व्यापाद्यन्ते त्रसाः स्थावराश्च जन्तवः तस्मात्तेषां

१ ०द्धर्मोद्दिशेन आ. इ. । २ कर्त्रा. आ. इ. । ३ ०द्यमनु० आ. । ४ ०तेति. आ. । ५ ०रंभ. आ. । ६ उ. इ. । ७ वास्ति. आ. इ. ।

'रक्षणार्थं'-रक्षानिमित्तं साधुरात्मगुप्तो जितेन्द्रियोऽ[1]त्र भवदी[2]यानुष्ठाने पुण्यमित्येवं नो वदेदिति ॥१८॥ यद्येवं नास्ति पुण्यमि[3]ति ब्रूयात्, तँ[4]देतदपि न ब्रूयादित्याह—'जेसिं' इत्यादि, 'येषां'-जन्तूनां कृते 'तद्'-अन्नपानादिकं किल धर्मबुद्ध्या 'उपकल्पयन्ति' तथाविधं प्राण्युपमर्ददोषदुष्टं निष्पादयन्ति, तन्निषेधे च यस्मात् 'तेषाम्'-आहारपानार्थिनां तत् 'लाभान्तरायो' विघ्नो भवेत्, तदभावेन तु ते पीड्येरन्, तस्मात्कूपखननसत्रादिके कर्मणि नास्ति पुण्यमित्येतदपि नो वदेदिति ॥१९॥ एनमेवार्थं पुनरपि समासतः स्पष्टतरं विभणिषुराह—'जे य दाणं' इत्यादि, ये केचन प्रपासत्रादिकं दानं बहूनां जन्तूनामुपकारीतिकृत्वा 'प्रशंसन्ति'-श्लाघन्ते 'ते'-परमार्थानभिज्ञाः प्रभूततरप्राणिनां तत्प्रशंसाद्वारेण 'वधं'-प्राणातिपातमिच्छन्ति, तद्दानस्य प्राणातिपातमन्तरेणानुपपत्तेः, येऽपि च किल सूक्ष्मधियो वयमित्येवं मन्यमाना आगमसद्भावानभिज्ञाः 'प्रतिषेधन्ति'-निषेधयन्ति तेऽप्यगीतार्थाः प्राणिनां 'वृत्तिच्छेदं'-वर्तनोपायविघ्नं कुर्वन्तीति ॥ २० ॥ तदेवं राज्ञा अन्येन वेश्वरेण कूपतडागयागसत्रदानाद्युद्यतेन पुण्यसद्भावं पृष्टैर्मुमुक्षुभिर्यद्विधेयं तद्दर्शयितुमाह—

दुहओवि ते ण भासंति, अत्थि वा नत्थि वा पुणो। आयं रयस्स हेच्चा [6]णं, निव्वाणं पाउणांति ते॥२१॥
निव्वाणं परमं बुद्धा, णक्खत्ताण व चंदिमा। तम्हा सदा जए दंते, निव्वाणं संधए मुणी ॥ २२ ॥
वुज्झमाणाण पाणाणं, किच्चंताण सकम्मुणा। आघाति साहु [7]तं दीवं, पतिट्ठेसा पवुच्चई ॥ २३ ॥

१ °योस्त्यत्र. आ. इ. । २ येऽनुष्ठाने आ. इ । ३ °मित्येवं आ. इ. । ४ एतदपि. आ. इ. । ५ ××××× ते० आ. । सा. १ वप्रप्रकाररोधसोः । ६ × आ. । ७ यं आ. ।

आयगुत्ते सया दंते, छिन्नसोए अणासवे । जे धम्मं सुद्धमक्खाति, पडिपुन्नमणेलिसं ॥ २४ ॥

'दुहओ वि' इत्यादि, यद्यस्ति पुण्यमित्येवमूचुस्ततोऽनन्तानां सत्त्वानां सूक्ष्मबादराणां सर्वदा प्राणत्याग एव स्यात् प्रीणनमात्रं तु पुनः स्वल्पानां स्वल्पकालीयमतोऽस्तीति न वक्तव्यं नास्ति पुण्यमित्येवं प्रतिषेधेऽपि तदर्थिनामन्तरायः स्यादित्यतो 'द्विधापि'-अस्ति नास्ति वा पुण्यमित्येवं 'ते'-मुमुक्षवः साधवः पुनर्न भाषन्ते, किंतु पृष्टैः सद्भिर्मौनं समाश्रयणीयं, निर्बन्धे त्वस्माकं द्विचत्वारिंशद्दोषवर्जित आहारः कल्पते, एवंविधविषये[1] मुमुक्षूणामधिकार एव नास्तीति, उक्तं च--"सत्यं वप्रेषु[2] शीतं शशिकरधवलं वारि पीत्वा प्रकामं, व्युच्छिन्नाशेषतृष्णाः प्रमुदितमनसः प्राणिसार्था भवन्ति । शोषं नीते जलौघे दिनकरकिरणैर्यान्त्यनन्ता विनाशं, तेनोदासीनभावं व्रजति मुनिगणः कूपवप्रादिकार्ये ॥ १ ॥" तदेवमुभयथापि भाषिते 'रजसः'-कर्मणः,'आयो' लाभो भवतीत्यतस्तमायं रजसो मौनेनानवद्यभाषणेन वा 'हित्वा'-त्यक्त्वा 'ते'-अनवद्यभाषिणो निर्वाणं'-मोक्षं प्राप्नुवन्तीति ॥२१॥ अपि च—'निव्वाणं' इत्यादि, निर्वृतिर्निर्वाणं तत्परमं-प्रधानं येषां परलोकार्थिनां बुद्धानां ते तथा तानेव बुद्धान् निर्वाणवादित्वेन प्रधानानित्येतद्दृष्टान्तेन दर्शयति—यथा 'नक्खत्ताणाम्'-अश्विन्यादीनां सौम्यत्वप्रमाणप्रकाशकत्वैरधिकश्चन्द्रमाः, एवं परलोकार्थिनां बुद्धानां मध्ये ये स्वर्गचक्रवर्तिसंपन्निदानपरित्यागेनाशेषेकर्मक्षयरूपं निर्वाणमेवाभिसंधाय प्रवृत्तास्त एव प्रधाना नापर इति, यदि वा यथा नक्षत्राणां चन्द्रमाः प्रधानभावमनुभवति एवं लोकस्य निर्वाणं परमं प्रधानमित्येवं 'बुद्धा':-अवगततत्त्वाः प्रतिपादयन्तीति, यस्माच्च निर्वाणं प्रधानं तस्मात् कारणात् 'सदा'-सर्व-

१ ०विधे. आ. । सा. २ वप्रप्राकाररोधसोः ।

कालं 'यतः'-प्रयतः प्रयत्नवान्(ग्र० ६०००) इन्द्रियनोइन्द्रियदमनेन[1] दान्तो 'मुनिः'-साधुः 'निर्वाणमभिसंधयेत्' निर्वाणार्थं सर्वाः क्रियाः कुर्यादित्यर्थः[2] ॥२२॥ किञ्चान्यत्—'बुज्झमाणाण' इत्यादि, संसारसागरस्रोतोभिर्मिथ्यात्वकषायप्रमादादिकैः 'उह्यमानानां' तदभिमुखं नीयमानानां तथा स्वकर्मोदयेन निकृत्यमानानामशरणानामसुमतां परहितैकरतोऽकारणवत्सलस्तीर्थकृदन्यो वा गणधराचार्यादिकस्तेषामाश्वासभूतं 'साधुं'[3]-शोभनं द्वीपमाख्याति, यथा समुद्रान्तःपतितस्य जन्तोर्जलकल्लोलाकुलितस्य मुमूर्षोरतिश्रान्तस्य विश्रामहेतुं द्वीपं कश्चित्साधुर्वत्सलतया समाख्याति, एवं तं तथाभूतं 'द्वीपं'-सम्यग्दर्शनादिकं संसारभ्रमणविश्रामहेतुं परतीर्थिकैरनाख्यातपूर्वमाख्याति, एवं च कृत्वा प्रतिष्ठानं प्रतिष्ठा—संसारभ्रमणविरतिलक्षणैषा सम्यग्दर्शनाद्यवाप्तिसाध्या मोक्षप्राप्तिः प्रकर्षेण तत्त्वज्ञैः 'उच्यते'-प्रोच्यत इति ॥२३॥ किंभूतोऽसावाश्वासद्वीपो भवति ?, कीदृग्विधेन वाऽसावाख्यायत इत्येतदाह—'आयगुत्ते' इत्यादि, मनोवाक्कायैरात्मा गुप्तो यस्य स आत्मगुप्तः, तथा 'सदा'—सर्वकालमिन्द्रियनोइन्द्रियदमनेन[4] दान्तो—वश्येन्द्रियो धर्मध्यानध्यायी वेत्यर्थः, तथा छिन्नानि-त्रोटितानि संसारस्रोतांसि येन स तथा, एतदेव स्पष्टतरमाह—निर्गत आश्रवः-प्राणातिपातादिकः कर्मप्रवेशद्वाररूपो यस्मात् स निराश्रवो य एवंभूतः स 'शुद्धं'-समस्तदोषापेतं धर्ममाख्याति, किंभूतं धर्मं ?—'प्रतिपूर्णं'-निरवयवतया सर्वविरत्याख्यं मोक्षगमनैकहेतुम् 'अनीदृशम्'-अनन्यदृशमद्वितीयमितियावत् ॥ २४ ॥ एवंभूतधर्मव्यतिरेकिणां दोषाभिधित्सयाऽऽह—

तमेव अविजाणंता, अबुद्धा बुद्धमाणिणो । बुद्धा मोत्ति य मन्नंता, अंत एते समाहिए ॥ २५ ॥

१ इन्द्रियदमेन आ. ०××× दमेन. इ. । २ ०दिति भावः आ. इ. । ३ साधु आ. इ. । ४ ०दमने आ. इ. ।

ते य बीओदगं चेव, तमुद्दिस्सा य जं कडं। भोच्चा झाणं झियायंति, अखेयन्नाऽ[अ]समाहिया ॥२६॥
जहा ढंका य कंका य, कुलला मग्गुका[1] सिही। मच्छेसणं झियायंति, झाणं ते कलुसाधमं ॥२७॥
एवं तु समणा एगे, मिच्छद्दिट्ठी अणारिया। विसएसणं झियायंति, कंका वा कलुसाहमा[2] ॥ २८॥

'तमेव' इत्यादि, तमेवंभूतं[3] शुद्धं [4]परिपूर्णमनीदृशं धर्ममजानाना 'अप्रबुद्धाः'-अविवेकिनः 'पण्डितमानिनो' वयमेव प्रतिबुद्धा धर्मतत्त्वमित्येवं मन्यमाना भावसमाधेः—सम्यग्दर्शनाख्यादन्ते-[5]पर्यन्तेऽतिदूरे वर्तन्त इति, ते च सर्वेऽपि परतीर्थिका द्रष्टव्या इति ॥२५॥ किमिति ते तीर्थिका भावमार्गरूपात् समाधेर्दूरे वर्तन्त इत्याशङ्क्याह—'ते य बीओ०' इत्यादि, 'ते च' शाक्यादयो जीवाजीवानभिज्ञतया 'बीजानि'-शालिगोधूमादीनि, तथा 'शीतोदकम्'-अप्रासुकोदकं, तांश्चोद्दिश्य तद्भक्तैर्यदाहारादिकं 'कृतं'-निष्पादितं तत्सर्वमविवेकितया ते शाक्यादयो 'भुक्त्वा'-अभ्यवहृत्य पुनः सातर्द्धिरसगौरवासक्तमनसः संघभक्तादिक्रियया तदवाप्तिकृते [6]आर्तं ध्यानं ध्यायन्ति, न ह्यैहिकसुखैषिणां दासीदासधनधान्यादिपरिग्रहवतां धर्मध्यानं भवतीति, तथा चोक्तम्—"ग्रामक्षेत्रगृहादीनां, गवां प्रेष्यजनस्य च। यस्मिन्परिग्रहो दृष्टो, ध्यानं तत्र कुतः शुभम्? ॥ १ ॥" इति। तथा—मोहस्यायतनं धृतेरपचयः शान्तेः प्रतीपो विधिर्व्याक्षेपस्य सुहृन्मदस्य भवनं पापस्य वासो निजः।

१ मंडका आ. महुका इ। २ ०साहतं इ.। ३ ××शुद्धं आ. इ.। ४ प्रतिपू० आ.। ५ ×××ऽति० आ.। ६ आर्त्तध्यानं ध्यायन्ति आ.। आर्त्त ध्याययन्ति इ.।

दुःखस्य प्रभवः सुखस्य निधनं ध्यानस्य कष्टो रिपुः, प्राज्ञस्यापि परिग्रहो ग्रहो इव क्लेशाय नाशाय च ॥ १ ॥" तदेवं पचनपाचनादिक्रियाप्रवृत्तानां तदेव चानुप्रेक्षमाणानां कुतः शुभध्यानस्य संभवः?, इति। अपि च—ते तीर्थिका धर्माधर्मविवेके कर्तव्ये 'अखेदज्ञाः'–अनिपुणाः, तथाहि—शाक्या मनोज्ञाहारवसतिशय्यासनादिकं रागकारणमपि शुभध्याननिमित्तत्वेनाध्यवस्यन्ति, तथा चोक्तम्––'मणुण्णं भोयणं भुच्चे'त्यादि, तथा मांसं कल्किकमित्युपदिश्य संज्ञान्तरसमाश्रयणान्निर्दोषं मन्यन्ते, बुद्धसङ्घादिनिमित्तं चारम्भं निर्दोषमिति, तदुक्तम्––"[2]मंसनिवत्तिं काउं सेवइ दंतिक्कगंति घणिभेया। इय चइऊणारंभं परववएसा कुणइ बालो ॥ १ ॥" न चैतावता तन्निर्दोषता, न हि लूतादिकं शीतलिकाद्यभिधानान्तरमात्रेणान्यथात्वं भजते, विषं वा [3]मधुरकाभिधानेनेति, एवमन्येषामपि कापिलादीनामाविर्भावतिरोभावाभिधानाभ्यां विनाशोत्पादावभिदधतामनैपुण्यमाविष्करणीयम्। तदेवं ते वराकाः शाक्यादयो मनोज्ञोद्दिष्टभोजिनः सपरिग्रहतयाऽऽर्तध्यायिनोऽसमाहिता मोक्षमार्गाख्याद्भावसमाधेरसंवृततया दूरेण वर्तन्त इत्यर्थः ॥ २६ ॥ यथा [4]चैते रससातागौरवतयाऽऽर्तध्यायिनो भवन्ति, तथा दृष्टान्तद्वारेण दर्शयितुमाह––'जहा ढंका य' इत्यादि, यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः 'यथा'–येन प्रकारेण 'ढङ्कादयः'–पक्षिविशेषा [5]जलाशयाश्रया आमिषजीविनो मत्स्यप्राप्तिं ध्यायन्ति, एवंभूतं च ध्यानमार्तरौद्रध्यानरूपतयाऽत्यन्तकलुषमधमं च भवतीति ॥ २७ ॥ दार्ष्टान्तिकं दर्शयितुमाह––'एवं तु' इत्यादि, 'एव'मिति यथा

१ मप० आ.। भित्यपं. इ.। सा. २ मांसनिवृत्तिं कृत्वा सेवते इद कल्किकमिति ध्वनिभेदादेवं त्यक्त्वारम्भं परव्यपदेशात्करोति बालः ॥१॥ ३ मधुरं विषे इत्युक्तेः। ४ च ते आ.। ५ जला××श्रया आ.।

ढङ्कादयो मत्स्यान्वेषणपरं ध्यानं ध्यायन्ति तद्ध्यायिनश्च कलुषाधमा भवन्ति एवमेव मिथ्यादृष्टयः श्रमणा 'एके' शाक्यादयोऽनार्यकर्मकारित्वात् [1]सारम्भपरिग्रहतया अनार्याः सन्तो विषयाणां–शब्दादीनां प्राप्तिं ध्यायन्ति, तद्ध्यायिनश्च कङ्का इव कलुषाधमा भवन्तीति ॥ २८ ॥ किञ्च––

सुद्धं मग्गं विराहित्ता, इहमेगे उ दुम्मती । उम्मग्गगता दुक्खं, [2]घायमेसंति [3]तं तहा ॥ २९ ॥
जहा आसाविणिं नावं, जाइअंधो दुरूहिया । इच्छई पारमागंतुं, अंतरा य विसीयति ॥ ३० ॥
एवं तु समणा एगे, मिच्छद्दिट्ठी अणारिया । सोयं कसिणमावन्ना, आगंतारो महब्भयं ॥ ३१ ॥
इमं च धम्ममादाय, कासवेण पवेदितं । तरे सोयं महाघोरं, अत्तत्ताए परिव्वए ॥ ३२ ॥

'सुद्धं' इत्यादि, 'शुद्धम्'–अवदातं निर्दोषं 'मार्गं'–सम्यग्दर्शनादिकं–मोक्षमार्गं कुमार्गप्ररूपणया 'विराध्य'–दूषयित्वा 'इह'–अस्मिन्संसारे मोक्षमार्गप्ररूपणप्रस्तावे वा 'एके'–शाक्यादयः स्वदर्शनानुरागेण महामोहाकुलितान्तरात्मानो दुष्टा पापोपादानतया मतिर्येषां ते दुष्टमतयः सन्त उन्मार्गेण–संसारावतरणरूपेण गताः–प्रवृत्ता उन्मार्गगता दुःखयतीति दुःखम्–अष्टप्रकारं कर्मासातोदयरूपं वा तद्दुःख घातं चान्तशस्ते तथा–सन्मार्गविराधनया उन्मार्गगमनं च '[4]एषन्ते'–अन्वेषयन्ति, दुःखमरणे शतशः प्रार्थयन्तीत्यर्थः ॥२९॥ शाक्यादीनां चापायं दिदर्शयिषुस्तावद्दृष्टान्तमाह–'जहा आसाविणिं' इत्यादि, यथा

१ ०संरम्भ० इ. । २ घंतमे० आ. इ. । ३ ते आ. । ४ एष्यन्त्यन्वे० आ. इ ।

जात्यन्ध 'आस्राविणीं'–शतच्छिद्रां नावमारुह्य पारमागन्तुमिच्छन्ति, न चासौ सच्छिद्रतया पारगामी भवति, किं तर्हि ?, अन्तराल एव–जलमध्य एव विषीदति–निमज्जतीत्यर्थः ॥ ३० ॥ दार्ष्टान्तिकमाह–'एवं तु' इत्यादि, एवमेव श्रमणा 'एके' शाक्यादयो मिथ्यादृष्टयोऽनार्या भावस्रोतः–कर्माश्रवरूपं 'कृत्स्नं'–संपूर्णमापन्नाः सन्तस्ते 'महाभयं' पौनःपुन्येन संसारपर्यटनया नारकादिस्वभावं दुःखम् 'आगन्तारः'–आगमनशीला भवन्ति, न तेषां संसारोदधेरास्राविणीं नावं व्यवस्थितानामिवोत्तरणं भवतीति भावः ॥ ३१ ॥ यतः शाक्यादयः श्रमणा मिथ्यादृष्टयोऽनार्याः कृत्स्नं स्रोतः समापन्नाः महाभयमागन्तारो भवन्ति तत इदमुपदिश्यते–'इमं च' इत्यादि, 'इम'मिति प्रत्यक्षासन्नवाचित्वादिदमोऽनन्तरं वक्ष्यमाणलक्षणं सर्वलोकप्रकटं च दुर्गतिनिषेधेन शोभनगतिधारणात् 'धर्मं'–श्रुतचारित्राख्यं, चशब्दः पुनःशब्दार्थे, स च पूर्वस्माद्व्यतिरेकं दर्शयति, यस्माच्छौद्धोदनिप्रणीतधर्मस्यादातारो महाभयं गन्तारो भवन्ति, इमं पुनर्धर्मम् 'आदाय'–गृहीत्वा 'काश्यपेन'–श्रीवर्धमानस्वामिना 'प्रवेदितं'–प्रणीतं 'तरेत्'–लङ्घयेद्भावस्रोतः संसारपर्यटनस्वभावं, तदेव विशिनष्टि–'महाघोरं'–दुरुत्तरत्वान्महाभयानकं, तथाहि–तदन्तर्वर्तिनो जन्तवो गर्भाद्गर्भं जन्मतो जन्म मरणान्मरणं दुःखाद्दुःखमित्येवमरघट्टघटीन्यायेनानुभवन्तोऽनन्तमपि कालमासते । तदेवं काश्यपप्रणीतधर्मादानेन सता आत्मनस्त्राणं—नरकादिरक्षा तस्मै आत्मत्राणाय परिः–समन्ता(द्व्रजे)त्परिव्रजेत्संयमानुष्ठायी भवेदित्यर्थः, क्वचित्पश्चार्धस्यान्यथा पाठः–'कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स, अगिलाए समाहिए' 'भिक्षुः'–साधुः ग्लानस्य वैयावृत्यम् 'अग्लानः'–अपरिश्रान्तः कुर्यात्सम्यक्समाधिना

१ शतच्छिद्र० आ. । २ जन्मनो आ. इ. । ३ ०हट्ट० आ. । ४ धर्म्मोद्यमेन आ. ।

ग्लानस्य वा समाधिमुत्पादयन्निति ॥ ३२ ॥ कथं संयमानुष्ठाने परिव्रजेदित्याह—

विरए गामधम्मेहिं, जे केई जगई जगा । तेसिं अत्तुवमायाए, थामं कुवं परिवए ॥ ३३ ॥
अइमाणं च मायं च, तं परिन्नाय पंडिए । सवमेयं णिराकिच्चा, णिवाणं संधए मुणी ॥ ३४ ॥
संधए साहुधम्मं च, पावधम्मं णिराकरे । उवहाणवीरिए भिक्खू, कोहं माणं ण पत्थए ॥ ३५ ॥
जे य बुद्धा अतिक्कंता, जे य बुद्धा अणागया । संति तेसिं पइट्ठाणं, भूयाणं जगती जहा ॥ ३६ ॥

'विरए' इत्यादि, ग्रामधर्माः–शब्दादयो विषयास्तेभ्यो विरता मनोज्ञेतरेष्वरक्तद्विष्टाः[2] सन्त्येके केचन 'जगति'–पृथिव्यां संसारोदरे 'जगा' इति जन्तवो जीवितार्थिनस्तेषां दुःखद्विषामात्मोपमया दुःखमनुत्पादयन् तद्रक्षणे सामर्थ्यं कुर्यात् तत् कुर्वंश्च संयमानुष्ठाने परिव्रजेदिति ॥ ३३ ॥ संयमविघ्नकारिणामपनयनार्थमाह–'अइमाणं च' इत्यादि, अतीव मानोऽतिमानश्चारित्रमतिक्रम्य यो वर्तते चकारादेतद्देश्यः क्रोधोऽपि परिगृह्यते, एवमतिमायां, चशब्दादतिलोभं च, तमेवंभूतं कषायव्रातं संयमपरिपन्थिनं 'पण्डितो' विवेकी परिज्ञाय सर्वमेनं संसारकारणभूतं कषायसमूहं निराकृत्य निर्वाणमनुसंधयेत्, सति च कषायकदम्बके न सम्यक् संयमः सफलतां प्रतिपद्यते, तदुक्तम्–"[3]सामण्णमणुचरंतस्स, [4]कसाया जस्स उक्कडा होंति ।

१ च वज्जते इ. । २ द्विष्टः सन्ये केचन आ.। सा. ३ श्रामण्यमनुचरतः कषाया यस्योत्कटा भवन्ति । मन्ये इक्षुपुष्पमिव निष्फलं तस्य श्रामण्यं ॥ १ ॥ ४ उक्कडा होंति जस्स उ कसाया आ. ।

मण्णामि उच्छुपुप्फं व, निप्फलं तस्स सामण्णं ॥ १ ॥" तन्निष्फलत्वे च न मोक्षसंभवः, तथा चोक्तम्–" संसरादपलायन-
प्रतिभुवो रागादयो मे स्थितास्तृष्णाबन्धनबध्यमानमखिलं किं वेत्सि नेदं जगत् ?। मृत्यो ! मुञ्च जराकरेण परुषं केशेषु
मा मा ग्रहीरेहीत्यादरमन्तरेण भवतः किं नागमिष्याम्यहम् ? ॥ १ ॥" इत्यादि । तदेवमेवंभूतकषायपरित्यागादच्छिन्न-
प्रशस्तभावानुसंधनया निर्वाणानु[1]संधानमेव श्रेय इति ॥ ३४ ॥ किञ्च–'संधए' इत्यादि, साधूनां धर्मः क्षान्त्यादिको
९ दशविधः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राख्यो वा तम् 'अनुसंधयेत्'–वृद्धिमापादयेत्, तद्यथा—प्रतिक्षणमपूर्वज्ञानग्रहणेन ज्ञानं
तथा शङ्कादिदोषपरिहारेण सम्यग्जीवादिपदार्थाधिगमेन च सम्यग्दर्शनम् अस्खलितमूलोत्तरगुणसंपूर्णपालनेन प्रत्यहमपूर्वा-
भिग्रहग्रहणेन (च)चारित्रं (च[2]) वृद्धिमापादयेदिति, पाठान्तरं वा 'सद्दहे साधुधम्मं च' पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टं साधुधर्मं
मोक्षमार्गत्वेन श्रद्दधीत–निःशङ्कतया गृह्णीयात्, चशब्दात् सम्यगनुपालयेच्च, तथा पापं—पापोपादानकारणं धर्मं प्राण्युपमर्देन
प्रवृत्तं निराकुर्यात्, तथोपधानं—तपस्तत्र यथाशक्त्या वीर्यं यस्य स भवत्युपधानवीर्यः, तदेवंभूतो भिक्षुः क्रोधं मानं च न
१० प्रार्थयेत् न वर्धयेद्वेति ॥३५॥ अथैवंभूतं भावमार्गं किं वर्धमानस्वाम्येवोपदिष्टवान् उतान्येऽपीत्येतदाशङ्क्याह–' जे य बुद्धा '
इत्यादि, ये बुद्धाः–तीर्थकृतोऽतीतेऽनादिके कालेऽनन्ताः समतिक्रान्ताः ते सर्वेऽप्येवंभूतं भावमार्गमुपन्यस्तवन्तः, तथा ये
चानागता भविष्यदनन्तकालभाविनोऽनन्ता एव तेऽप्येवमेवोपन्यसिष्यन्ति, चशब्दाद्वर्तमानकालभाविनश्च संख्येया इति ।
न केवलमुपन्यस्तवन्तोऽनुष्ठितवंतश्चेत्येतद्दर्शयति—शमनं शान्तिः—[3]भावमार्गस्तेषामतीतानागतवर्तमानकालभाविनां बुद्धानां

१ ०संधनमेव आ. इ. । २ × वृद्धि° आ. इ. । ३ भाव×× इ. ।

प्रतिष्ठानम्–आधारो बुद्धत्वस्यान्यथानुपपत्तेः, यदि वा शान्तिः–मोक्षः स तेषां प्रतिष्ठानम्—आधारः ततस्तदवाप्तिश्च भावमार्गमन्तरेण न भवतीत्यतस्ते सर्वेऽप्येनं भावमार्गमुक्तवन्तोनुष्ठितवन्तश्च (इति) गम्यते। शान्ति प्रतिष्ठानत्वे दृष्टान्तमाह—'भूतानां'–स्थावरजङ्गमानां यथा 'जगती'–त्रिलोकी प्रतिष्ठानं एवं ते सर्वेऽपि बुद्धाः शान्तिप्रतिष्ठाना इति ॥ ३६ ॥

प्रतिपन्नभावमार्गेण च यद्विधेयं तद्दर्शयितुमाह—

अह णं वयमावन्नं, फासा उच्चावया फुसे। ण तेसु विणिहण्णेज्जा, वाएण व महागिरी ॥ ३७ ॥

संवुडे से महापन्ने, धीरे दत्तेसणं चरे। निव्वुडे कालमाकंखी, एवं (यं) केवलिणो मयं ॥ ३८ ॥

[२]तिबेमि। इति मोक्षमार्गनामकं एकादशमध्ययनं समाप्तम् ॥ (गाथाग्रम्–५४६)

'अह णं' इत्यादि, 'अथ'–भावमार्गप्रतिपत्त्यनन्तरं साधुं प्रतिपन्नव्रतं सन्तं स्पर्शाः–परीषहोपसर्गरूपाः 'उच्चावचाः'–गुरुलघवो नानारूपा वा 'स्पृशेयुः'–अभिद्रवेयुः, स च साधुस्तैरभिद्रुतः संसारस्वभावमपेक्षमाणः कर्मनिर्जरां च न तैरनुकूलप्रतिकूलैर्विहन्यात्[३], नैव संयमानुष्ठानान्मनागपि विचलेत्, किमिव ?, महावातेनेव महागिरिः–मेरुरिति। परीषहोपसर्गजयश्चाभ्यासक्रमेण विधेयः अभ्यासवशेन हि दुष्करमपि सुकरं भवति, अत्र च दृष्टान्तः, तद्यथा–कश्चिद्गोपस्तदहर्जातं तर्णकमुत्क्षिप्य गवान्तिकं नयत्यानयति च, ततोऽसाववनेनैव च क्रमेण प्रत्यहं [४]प्रवर्द्धमानमपि वत्समुत्क्षिपन्नभ्यासवशाद्विहायनं

१ × आ. इ.। २ ति वेमि। मग्गो सम्मत्तो. आ.। ति बेमि। छ। मग्गो सम्मत्तो। २ एकादशमध्ययनं। छ। आ.। ३ °विंनिह० आ.। ४. ×वर्द्ध० आ.।

त्रिहायणमप्युत्क्षिपति, एवं साधुरप्यभ्यासात् शनैः शनैः परिषहोपसर्गजयं विधत्त इति ॥ ३७ ॥ साम्प्रतमध्ययनार्थमुपसंजिहीर्षुरुक्तशेषमधिकृत्याह–' संवुडे ' इत्यादि, स साधुः एवं संवृताश्रवद्वारतया संवरसंवृतो महती प्रज्ञा यस्यासौ महाप्रज्ञः–सम्यग्दर्शनज्ञानवान्, तथा धीः–बुद्धिस्तया राजत इति धीरः, परीषहोपसर्गाक्षोभ्यो वा स एवंभूतः सन् परेण दत्ते सत्याहारादिके एषणां चरेत्रिविधयाप्येषणया युक्तः सन् संयममनुपालयेत्, तथा निर्वृत इव निर्वृतः कषायोपशमाच्छीतीभूतः ' कालं '–मृत्युकालं यावदभिकाङ्क्षेत् ' एतत् ' यत् मया प्राक् प्रतिपादितं तत् ' केवलिनः '–सर्वज्ञस्य तीर्थकृतो मतम् । एतच्च जम्बूस्वामिनमुद्दिश्य सुधर्मस्वाम्याह–तदेतद्यत्त्वया मार्गस्वरूपं प्रश्नितं तन्मया न स्वमनीषिकया कथितं, किं तर्हि ?, केवलिनो मतमेतदित्येवं भवता ग्राह्यम् । इतिः–परिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥ ३८ ॥

इति मार्गाख्यमेकादशमध्ययनं समाप्तम् ॥

॥ अथ द्वादशं श्रीसमवसरणाध्ययनं प्रारभ्यते ॥

उक्तमेकादशमध्ययनं, साम्प्रतं द्वादशमारभ्यते, अस्य चायमभिसंबन्धः—इहानन्तराध्ययने मार्गोऽभिहितः, स च कुमार्गव्युदासेन सम्यग्मार्गतां प्रतिपद्यते, अतः कुमार्गव्युदासं चिकीर्षुणा तत्स्वरूपमवगन्तव्यमित्यतस्तत्स्वरूपनिरूपणार्थ-

१ ०र्दशन××वान् आ. । २ ××प्र० आ. । समाप्तं मार्गाख्यमेकादशमध्ययनमिति । छ । ग्रंथतः ३७७ । आ. इ. ।

मिदमध्ययनमायातम्[1], अस्य चोपक्रमादीनि चत्वार्यनुयोगद्वाराणि, तत्रोपक्रमान्तर्गतोऽर्थाधिकारोऽयं, तद्यथा—कुमार्गाभिधायिनां क्रियाऽक्रियाऽज्ञानिकवैनयिकानां चत्वारि समवसरणानीह प्रतिपाद्यन्ते, नामनिष्पन्ने तु निक्षेपे समवसरणमित्येतन्नाम, तन्निक्षेपार्थं निर्युक्तिकृदाह—

समवसरणेऽवि छक्कं सच्चित्ताचित्तमीसगं दव्वे । खेत्तंमि जंमि खेत्ते काले जं जंमि कालंमि[2] ॥११६॥
भावसमोसरणं पुण णायव्वं छव्विहंमि भावंमि। अहवा किरिय अकिरिया अन्नाणी चेव वेणइया ॥११७॥
अत्थित्ति किरियवादी वयंति णत्थि[3] अकिरियवादी य। अण्णाणी अण्णाणं विणइत्ता वेणइयवादी ॥११८॥

'समवसरणेऽवि[4]' इत्यादि, समवसरणमिति 'सृ' गतावित्येतस्य धातोः समवोपसर्गपूर्वस्य ल्युडन्तस्य रूपं, सम्यग्—एकीभावेनावसरणम्–एकत्र गमनं मेलापकः–समवसरणं तस्मिन्नपि, न केवलं समाधौ, षड्विधो नामादिको निक्षेपः, तत्रापि नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यविषयं पुनः समवसरणं नोआगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं सचित्ताचित्तमिश्रभेदात्त्रिविधं, सचित्तमपि द्विपदचतुष्पदापदभेदात्त्रिविधमेव, तत्र द्विपदानां साधुप्रभृतीनां तीर्थकृज्जन्मनिष्क्रमणप्रदेशादौ मेलापकः, चतुष्पदानां गवादीनां निपानप्रदेशादौ, अपदानां तु वृक्षादीनां स्वतो नास्ति समवसरणं, विवक्षया तु काननादौ भवत्यपि, अचित्तानां तु

१ मध्ययनम्××× अस. आ. । २ जावइयं अ. आ. । ३ नत्थित्ति अ. आ. । ४ समोसरणमित्यादि आ. इ. ।

द्व्यणुकाद्यभ्रादीनां तथा मिश्राणां सेनादीनां समवसरणसद्भावोऽवगन्तव्य इति। क्षेत्रसमवसरणं तु परमार्थतो नास्ति, विवक्षया तु यत्र द्विपदादयः समवसरन्ति व्याख्यायते वा समवसरणं यत्र तत्क्षेत्रप्राधान्यादेवमुच्यते। एवं कालसमवसरणमपि द्रष्टव्यमिति। इदानीं भावसमवसरणमधिकृत्याह–'भावसमोसरणं' इत्यादि, भावानाम्–औदयिकादीनां समवसरणं–एकत्र मेलापको भावसमवसरणं, तत्रौदयिको भाव एकविंशतिभेदः, तद्यथा–गतिश्चतुर्धा, कषायाश्चतुर्विधाः, एवं लिङ्गं त्रिविधं, मिथ्यात्वाज्ञानासंयतत्वासिद्धत्वानि प्रत्येकमेकैकविधानि; लेश्या कृष्णादिभेदेन षड्विधा भवन्ति। औपशमिको द्विविधः–सम्यक्त्वचारित्रोपशमभेदात्। क्षायोपशमिकोऽप्यष्टादशभेदभिन्नः, तद्यथा–ज्ञानं मतिश्रुतावधिमनःपर्यायभेदाच्चतुर्धा, अज्ञानं–मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गभेदात्त्रिविधं, दर्शनं–चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनभेदात्त्रिविधमेव, लब्धिर्दानलाभभोगोपभोगवीर्यभेदात् पञ्चधा, सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाः प्रत्येकमेकप्रकारा इति। क्षायिको नवप्रकारः, तद्यथा–केवलज्ञानं, केवलदर्शनं, दानादिलब्धयः पञ्च; सम्यक्त्वं चारित्रं चेति। जीवत्वभव्यत्वाभव्यत्वादिभेदात् पारिणामिकस्त्रिविधः। सान्निपातिकस्तु द्वित्रिचतुष्पञ्चकसंयोगैर्भवति, तत्र–द्विकसंयोगः सिद्धस्य क्षायिकपारिणामिकभावद्वयसद्भावादवगन्तव्यः, त्रिकसंयोगस्तु मिथ्यादृष्टिसम्यग्दृष्ट्यविरतविरतानामौदयिकक्षायोपशमिकपारिणामिकभावसद्भावादवगन्तव्यः, तथा भवस्थकेवलिनोऽप्यौदयिकक्षायिकपारिणामिकभावसद्भावाद्विज्ञेय इति, चतुष्कसंयोगोऽपि क्षायिकसम्यग्दृष्टीनामौदयिकक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिकभावसद्भावात्, तथौपशमिकसम्यग्दृष्टीनामौदयिकौपशमिकक्षायोपशमिकपारिणामिकभावसद्भावाच्चेति, पञ्चकसंयोगस्तु क्षायिकसम्यग्दृष्टीनामुपश-

१ °भेदेन इ.।

मश्रेण्यां समस्तोपशान्तचारित्रमोहानां भावपञ्चकसद्भावाद्विज्ञेय इति, तदेवं भावानां द्वि[1]कत्रिकचतुष्कपञ्चकसंयोगात् संभविनः सान्निपातिकभेदाः षड् भवन्ति, एत [2]एव त्रिकसंयोगचतुष्कसंयोगगतिभेदात् पञ्चदशधा प्रदेशान्तरेऽभिहिता इति । तदेवं षड्विधे भावे भावसमवसरणं–भावमीलनमभिहितम् , अथवा अन्यथा भावसमवसरणं निर्युक्तिकृदेव दर्शयति–क्रियां–जीवादिपदार्थोऽस्तीत्यादिकां वदितुं शीलं येषां ते क्रियावादिनः, एतद्विपर्यस्ता अक्रियावादिनः, तथा अज्ञानिनो–ज्ञाननिह्नववादिनः तथा ' वैनयिकाः '–विनयेन चरन्ति तत्प्रयोजना वा वैनयिकाः, एषां चतुर्णामपि सप्रभेदानामाक्षेपं कृत्वा यत्र विक्षेपः क्रियते तद्भावसमवसरणमिति, एतच्च स्वयमेव निर्युक्तिकारोऽन्त्यगाथया कथयिष्यति । साम्प्रतमेतेषामेवाभिधानान्वर्थतादर्शनद्वारेण स्वरूपमाविष्कुर्वन्नाह–'अत्थित्ति' इत्यादि, जीवादिपदार्थसद्भावोऽस्त्येवेत्येवं सावधारणक्रि[3]याभ्युपगमो येषां ते अस्तीति क्रियावादिनः, ते चैवंवादित्वान्मिथ्यादृष्टयः, तथाहि–यदि जीवोऽस्त्येवे[वेऽस्तित्वमेवे]त्येवमभ्युपगम्यते, ततः सावधारणत्वान्न कथञ्चिन्नास्तीत्यतः स्वरूपसत्तावत्पररूपापत्तिरपि स्याद् , एवं च नानेकं जगत् स्यात् , न चैतद्दृष्टमिष्टं वा । तथा नास्त्येव जीवादिकः पदार्थ इत्येवंवादिनोऽक्रियावादिनः, तेऽप्यसद्भूतार्थप्रतिपादनान्मिथ्यादृष्टय एव, तथाहि–एकान्तेन जीवास्तित्वप्रतिषेधे कर्तुरभावान्नास्तीत्येतस्यापि प्रतिषेधस्याभावः, तदभावाच्च सर्वास्तित्वमनिवारितमिति । तथा न ज्ञानमज्ञानं तद्विद्यते येषां तेऽज्ञानिनः, ते ह्यज्ञानमेव श्रेय इत्येवं वदन्ति, एतेऽपि मिथ्यादृष्टय एव, तथाहि–अज्ञानमेव श्रेय इत्येतदपि न ज्ञानमृते भणितुं पार्यते, तदभिधानाच्चावश्यं ज्ञानमभ्युपगतं तैरिति । तथा वैनयिका

१ द्विक१, त्रिक२, चतुष्क२, पञ्चक१; सं० आ. इ. । २ एव च आ. इ. । ३ °क्रिययाभ्यु० आ. ।

विनयादेव केवलात् स्वर्गमोक्षावाप्तिमभिलषन्तो[1] मिथ्यादृष्टयो, यतो न ज्ञानक्रियाभ्यामन्तरेण मोक्षावाप्तिरिति ।

एषां च क्रियावाद्यादीनां स्वरूपं तन्निराकरणं चाचारटीकायां विस्तरेण प्रतिपादितमिति नेह प्रतन्यते ।

साम्प्रतमेतेषां भेदसंख्यानिरूपणार्थमाह—

असियसयं किरियाणं अक्किरियाणं[2] च होइ चुलसीती । अन्नाणिय सत्तट्ठी वेणइयाणं च बत्तीसा[3] ॥११९॥
तेसि मताणुमएणं पन्नवणा वण्णिया इहऽज्झयणे । सब्भावणिच्छयत्थं समोसरणमाहु तेणं तु ॥ १२० ॥
सम्मद्दीट्ठी किरियावादी मिच्छा य सेसगा वाई । जहिऊण मिच्छवायं सेवह वायं इमं सच्चं ॥ १२१ ॥

'असिय'इत्यादि, क्रियावादिनामशीत्यधिकं शतं भवति, तच्चानया प्रक्रियया, तद्यथा—जीवादयो नव पदार्थाः परिपाट्या स्थाप्यन्ते, तदधः स्वतः परत इति भेदद्वयं, ततोऽप्यधो नित्यानित्यभेदद्वयं, ततोऽप्यधस्तात् परिपाट्या कालस्वभावनियतीश्वरात्मपदानि पञ्च व्यवस्थाप्यन्ते, ततश्चैवं चारणिकाप्रक्रमः, तद्यथा—अस्ति जीवः स्वतो नित्यः कालतः, तथाऽस्ति जीवः स्वतोऽनित्यः कालत एव, एवं परतोऽपि भङ्गकद्वयं, सर्वेऽपि च चत्वारः कालेन लब्धाः, एवं स्वभावनियतीश्वरात्मपदान्यपि प्रत्येकं चतुर एव लभन्ते, ततश्च पञ्चापि चतुष्कका विंशतिर्भवन्ति, साऽपि जीवपदार्थेन लब्धा, एवमजीवादयोऽप्यष्टौ प्रत्येकं विंशतिं लभन्ते, ततश्च नव

जीवः				
स्वतः	परतः			
नित्यः	अनित्यः			
कालः	स्वभावः	नियतिः	ईश्वरः	आत्मा

१ ०लषन्तोपि इ. । २ अकिरियवाईण× होइ अ. आ. । ३ बत्तीसं अ. । ४ सिद्धाय अ. आ. । ५ चइ० अ. आ. ।

विंशतयो मीलिताः क्रियावादिनामशीत्युत्तरं शतं भवतीति। इदानीमक्रियावादिनां न सन्त्येव जीवादयः पदार्था इत्येवमभ्युपगमवतामनेनोपायेन चतुरशीतिरवगन्तव्या, तद्यथा—जीवादीन् पदार्थान् सप्ताभिलिख्य तदधः स्वपरभेदद्वयं व्यवस्थाप्यं, तत्रोप्यधः कालयदृच्छानियतिस्वभावेश्वरात्मपदानि षड् व्यवस्थाप्यानि, भङ्गकानयनोपायस्त्वयं—नास्ति जीवः स्वतः कालतः, तथा नास्ति जीवः परतः कालतः, एवं यदृच्छानियतिस्वभावेश्वरात्मभिः प्रत्येकं द्वौ द्वौ भङ्गकौ लभ्यते, सर्वेऽपि द्वादश, तेऽपि च जीवादिपदार्थसप्तकेन गुणिताश्चतुरशीतिरिति, तथाचोक्तम्—"कालयदृच्छानियतिस्वभावेश्वरात्मतश्चतुरशीतिः। नास्तिकवादिगणमते न सन्ति भावाः स्वपरसंस्थाः॥ १॥" साम्प्रतमज्ञानिकानामज्ञानादेव विवक्षितकार्यसिद्धिमिच्छतां ज्ञानं तु सदपि निष्फलं बहुदोषवच्चेत्येवमभ्युपगमवतां सप्तषष्टिरनेनोपायेनावगन्तव्या--जीवाजीवादीन् नव पदार्थान् परिपाट्या व्यवस्थाप्य तदधोऽमी सप्त भङ्गकाः संस्थाप्याः-सत् असत् सदसत् अवक्तव्यं सदवक्तव्यं असदवक्तव्यं सदसदवक्तव्यमिति। अभिलापस्त्वयं-सन् जीवः को वेत्ति?, किं वा तेन ज्ञातेन?, १। [1]असन् जीवः को वेत्ति?, किं वा तेन ज्ञातेन?; २। सदसन् जीवः को वेत्ति?, किं वा तेन ज्ञातेन?; ३। अवक्तव्यो जीवः को वेत्ति?, किं वा तेन ज्ञातेन?; ४। सदवक्तव्यो जीवः को वेत्ति?, किं वा तेन ज्ञातेन?; ५। असदवक्तव्यो जीवः को वेत्ति?, किं वा तेन ज्ञातेन?; ६। सदसदवक्तव्यो जीवः को वेत्ति?, किं वा तेन ज्ञातेन?; ७। एवमजीवादिष्वपि सप्त भङ्गकाः, सर्वेऽपि मिलितास्त्रिषष्टिः, तथाऽपरेऽमी चत्वारो भङ्गकाः, तद्यथा—सती भावोत्पत्तिः को वेत्ति?, किं वाऽनया ज्ञातया?; १। असती भावोत्पत्तिः को

१ तथा असन् आ. इ.।

वेत्ति ?, किं वाऽनया ज्ञातया ?; २ । सदसती भावोत्पत्तिः को वेत्ति ?, किं वाऽनया ज्ञातया ?; ३ । अवक्तव्या भावोत्पत्तिः को वेत्ति ?, किं वाऽनया ज्ञातया ?; ४ । सर्वेऽपि सप्तषष्टिरिति, [1]उत्तरं भङ्गकत्रयमुत्पन्नभावावयवापेक्षमिह भावोत्पत्तौ न संभवतीति नोपन्यस्तम्, उक्तं च—"अज्ञानिकवादिमतं नव जीवादीन् सदादिसप्तविधान् । [2]भावोत्पत्तिः सदस[3]द्द्वेधाऽवाच्या च को वेत्ति ? ॥ १ ॥" इदानीं वैनयिकानां विनयादेव केवलात् परलोकमपीच्छतां द्वात्रिंशदनेन प्रक्रमेण योज्याः, तद्यथा—सुरनृपतियतिज्ञातिस्थविराधममातृपितृषु मनसा वाचा कायेन दानेन ([4]च) चतुर्विधो विनयो विधेयः, सर्वेऽप्यष्टौ चतुष्कका मिलिता द्वात्रिंशदिति, उक्तं च—" वैनयिकमतं विनयश्चेतोवाक्कायदानतः कार्यः । सुरनृपतियतिज्ञातिस्थविराधममातृपितृषु सदा ॥ १ ॥" सर्वेऽप्येते क्रियाऽक्रियाऽज्ञानिवैनयिकवादिभेदा एकीकृतास्त्रीणि त्रिषष्ट्यधिकानि प्रावादुकमतशतानि भवन्ति । तदेवं वादिनां मतभेदसंख्यां प्रदर्श्याधुना तेषामध्ययनोपयोगित्वं दर्शयितुमाह—' तेसि मताणुमएणं ' इत्यादि, 'तेषां' पूर्वोक्तवादिनां मतम्—अभिप्रायस्तेन यदनुमतं—पक्षीकृतं तेन [5]पक्षीकृतेन पक्षीकृताश्रयणेन 'प्रज्ञापना'—प्ररूपणा, 'वर्णिता'—प्रतिपादिता 'इह'—अस्मिन्नध्ययने गणधरैः, किमर्थमिति दर्शयति—तेषां यः सद्भावः—परमार्थस्तस्य,—निश्चयो—निर्णयस्तदर्थं, [6]तेनैव कारणेनेदमध्ययनं समवसरणाख्यमाहुर्गणधराः, तथाहि—वादिनां सम्यगवसरणं—मेलापकस्तन्मतनिश्चयार्थमस्मिन्नध्ययने क्रियत इत्यतः समवसरणाख्यमिदमध्ययनं कृतमिति । इदानीमेतेषां सम्यग्मिथ्यात्ववादित्वं विभागेन यथा भवति तथा दर्शयितुमाह—' सम्मदिट्ठी ' इत्यादि, सम्यग्—अविपरीता दृष्टिः—दर्शनं पदार्थपरिच्छित्तिर्यस्यासौ

१ उत्तरं तु आ. इ. । २ भावोत्पत्ति आ. । ३ द्वैताऽवाच्यां आ. इ. । ४ × आ. इ. । ५ ××××× पक्षी० आ. इ. । ६ तेनैव तु आ. ।

सम्यग्दृष्टिः, कोऽसावित्याह–क्रियाम्–अस्तीत्येवंभूतां वदितुं शीलमस्येति क्रियावादी, अत्र च क्रियावादीत्येतद् ' अत्थित्ति किरियवादी ' त्यनेन प्राक् प्रसाधितं सदनूद्य [[1]निरवधारणतया] सम्यग्दृष्टित्वं विधीयते, तस्यासिद्धत्वादिति, तथाहि–अस्ति लोकालोकविभागः, अस्त्यात्मा, अस्ति पुण्यपापविभागः, अस्ति तत्फलं स्वर्गनरकावाप्तिलक्षणं; अस्ति कालः कारणत्वेनाशेषस्य जगतः प्रभववृद्धिस्थितिविनाशेषु साध्येषु तथा शीतोष्णवर्षवनस्पतिपुष्पफलादिषु चेति, तथा चोक्तम्—" कालः पचति भूतानीत्यादि[2] ", तथाऽस्ति स्वभावोऽपि कारणत्वेनाशेषस्य जगतः, स्वो भावः स्वभाव इतिकृत्वा, तेन हि जीवाजीवभव्यत्वाभव्यत्वमूर्तत्वामूर्त्तत्वानां स्वस्वरूपानुविधानात् तथा धर्माधर्माकाशकालादीनां च गतिस्थित्यवगाहपरत्वापरत्वादिस्वरूपापादनादिति, तथा चोक्तम्–"कः कण्टकानामित्यादि[3] "। तथा नियतिरपि कारणत्वेनाश्रीयते, तथा तथा पदार्थानां नियतेरेव नियतत्वात्, तथा चोक्तम्–" प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयणेत्यादि[4] "। तथा पुराकृतं, तच्च शुभाशुभमिष्टानिष्टफलं कारणं, तथा चोक्तम्––" यथा यथा पूर्वकृतस्य कर्मणः, फलं निधानस्थमिहोपतिष्ठते। तथा तथा पूर्वकृतानुसारिणी, प्रदीपहस्ते मतिः प्रवर्तते ॥ १[5] ॥ " तथा " स्वकर्मणा युक्त एव, सर्वो ह्युत्पद्यते जनः। स तथाऽऽकृष्यते तेन, न यथा स्वयमिच्छति ॥ १ ॥ " इत्यादि[6]। तथा पुरुषकारोऽपि कारणं, यस्मान्न पुरुषकारमन्तरेण किञ्चित्सिध्यति, तथा चोक्तम्–" न दैवमिति संचिन्त्य, त्यजेदुद्यममात्मनः। अनुद्यमेन कस्तैलं, तिलेभ्यः प्राप्तुमर्हति ! ॥ १[7] ॥ " तथा––"उद्यमाच्चारु

१ ×××××××× स° आ इ.। २ ०दि । १ ।, ३ ०दि । २ ।, ४ °दि । ३ ।; आ.। ५ ॥ १ ॥ । ४ । आ.। ६ ०दि । ५ । आ.। ७ ॥ १ ॥ । ६ । आ.।

चित्राङ्गि !, नरो भद्राणि पश्यति । उद्यमात्कृमिकीटोऽपि, भिनत्ति महतो द्रुमान् ॥ २[1] ॥ " तदेवं सर्वानपि कालादीन् कारणत्वेनाभ्युपगच्छन् तथाऽऽत्मपुण्यपापपरलोकादिकं चेच्छन् क्रियावादी सम्यग्दृष्टित्वेनाभ्युपगन्तव्यः । शेषकास्तु वादा अक्रियावादाज्ञानवादवैनयिकवादा मिथ्यावादा इत्येवं द्रष्टव्याः, तथाहि––अक्रियावाद्यत्यन्तनास्तिकोऽध्यक्षसिद्धं जीवाजीवादिपदार्थजातमपह्नुवन् मिथ्यादृष्टिरेव भवति, अज्ञानवादी तु सति मत्यादिके हेयोपादेयप्रदर्शके ज्ञानपञ्चकेऽज्ञानमेव श्रेय इत्येवं वदन् कथं नोन्मत्तः स्यात् ?, तथा विनयवाद्यपि विनयादेव केवलात् ज्ञानक्रियासाध्यां सिद्धिमिच्छन्नपकर्णयितव्यः, तदेवं विपरीतार्थाभिधायितयैते मिथ्यादृष्टयोऽवगन्तव्याः । ननु च क्रियावाद्यप्यशीत्युत्तरशतभेदोऽपि तत्र[2] तत्र प्रदेशे कालादीनभ्युपगच्छन्नेव मिथ्यावादित्वेनोपन्यस्तः तत्कथमिह सम्यग्दृष्टित्वेनोच्यत इति ?, उच्यते–स तत्रास्त्येव जीव इत्येवं सावधारणतयाऽभ्युपगमं कुर्वन् काल एवैकः सर्वस्यास्य जगतः कारणं तथा स्वभाव एव नियतिरेव पूर्वकृतमेव पुरुषकार एवेत्येवमपरनिरपेक्षतयैकान्तेन कालादीनां कारणत्वेनाश्रयणान्मिथ्यात्वं, तथाहि––अस्त्येव जीव इत्येवमस्तिना सह जीवस्य सामानाधिकरण्यात् यद्यदस्ति तत्तज्जीव इति प्राप्तम्, अतो निरवधारणपक्षसमाश्रयणादिह सम्यक्त्वमभिहितं, तथा कालादीनामपि समुदितानां परस्परसव्यपेक्षाणां कारणत्वेनेहाश्रयणात् सम्यक्त्वमिति । ननु च कथं कालादीनां प्रत्येकं निरपेक्षाणां मिथ्यात्वस्वभावत्वे सति समुदितानां सम्यक्त्वसद्भावः ?, न हि यत्प्रत्येकं नास्ति तत्समुदायेऽपि भवितुमर्हति, सिकतातैलवत्; नैतदस्ति । प्रत्येकं पद्मरागादिमणिष्वविद्यमानापि रत्नावली समुदाये भवन्ती दृष्टा, न च दृष्टेऽनुपपन्नं नामेति

१ ॥ २ ॥ । ७ । २ तत्रXX आ. ।

यत्किञ्चिदेतत्, तथा चोक्तम्–"[1]कालो सहाव णियई पुव्वकयं पुरिस कारणेगंता । मिच्छत्तं ते चेव उ समासओ होंति संमत्तं ॥ १ ॥ [2]सव्वेवि य कालाई [3]इह समुदायेण साहगा भणिया । जुज्जंति य एमेव य सम्मं सव्वस्स कज्जस्स ॥ २ ॥ [4]न हि कालादीहिंतो केवलएहिं तु जायए किंचि । इह मुग्गरंधणादिवि ता सव्वे समुदिता हेऊ ॥ ३ ॥ [5]जह णेगलक्खणगुणा वेरुलियादी मणी विसंजुत्ता । रयणावलिववएसं ण लहंति महग्घमुल्लावि ॥ ४ ॥ [6]तह णिययवादसुविणिच्छियावि अण्णोऽण्णपक्खनिरवेक्खा । सम्मदंसणसद्दं सव्वेऽवि णया ण पाविंति ॥५॥ [7]जह पुण ते चेव मणी जहा गुणविसेसभागपडिबद्धा । रयणावलित्ति भण्णइ चयंति पडिक्कसण्णाओ ॥ ६ ॥ [8]तह सव्वे णयवाया जहाणुरूवविणिउत्तवत्तव्वा । सम्मदंसणसद्दं लभंति ण विसेससण्णाओ ॥ ७ ॥ [9]तम्हा मिच्छद्दिट्ठी सव्वेवि णया सपक्खपडिबद्धा । अण्णोण्णनिस्सिया पुण हवंति सम्मत्त सब्भावा ॥८॥" यत एवं तस्मात्त्यक्त्वा मिथ्यात्ववादं–कालादिप्रत्येकैकान्तकारणरूपं 'सेवध्वम्'–अङ्गीकुरुध्वं 'सम्यग्वादं'–परस्परसव्यपेक्षकालादिकारणरूपं '[10]इमं'मिति मयोक्तं प्रत्यक्षासन्नं 'सत्यम्'–अवितथमिति ॥

सा. १ कालः स्वभावो नियतिः पूर्वकृतं पुरुषकारः कारणं एकान्तात् मिथ्यात्वं समासतो भवंति सम्यक्त्वं ॥१॥ २ सर्वेऽपि च कालादय इह समुदायेन साधका भणिताः । युज्यते च एवमेव सम्यक् सर्वस्य कार्यस्य ॥२॥ ३ इय आ. इ. ॥ सा. ४ नैव कालादिभिः केवलैस्तु जायते किंचित् । इह मुद्गरंधनाद्यपि तत्सर्वेऽपि समुदिता हेतवः ॥ ३ ॥ ५ यथानेकलक्षणगुणा वैडूर्यादयो मणयो विसंयुताः । रत्नावलीव्यपदेशं न लभन्ते महार्घमूल्या अपि ॥ ४ ॥ ६ तथा निजकवादसुविनिश्चिता अपि अन्योऽन्यपक्षनिरपेक्षाः सम्यग्दर्शनशब्दं सर्वेऽपि नया न प्राप्नुवन्ति ॥५॥ ७ यथा पुनस्ते चैव मणयो यथा गुणविशेषभागप्रतिबद्धाः। रत्नावलीति भण्यते त्यजन्ति प्रत्येकसंज्ञाः ॥६॥ ८ तथा सर्वेऽपि नयवादा यथानुरूपविनियुक्तवक्तव्याः । सम्यग्दर्शनशब्दं लभन्ते न विशेषसंज्ञाः ॥ ७ ॥ ९ तस्मान्मिथ्यादृष्टयः सर्वेऽपि नयाः स्वपक्षप्रतिबद्धाः । अन्योऽन्यनिश्रिताः पुनर्भवन्ति सम्यक्त्वं सद्भावात् ॥ ८ ॥ १० इदमिति यथोक्तं आ. इ. ।

गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारयितव्यं, तच्चेदम्—

चत्तारि समोसरणाणिमाणि, पावादुया जाइं पुढो वयंति । किरियं अकिरियं विणियंति[1] तइयं, अन्नाणमाहंसु चउत्थमेव ॥ १ ॥ अण्णाणिया ता कुसलावि संता, असंथुया णो वितिगिच्छतिन्ना । अकोविया आहु अकोवियेहिं[2], अणाणुवीइत्तु मुसं वयंति ॥ २ ॥ सच्चं असच्चं इति चिंतयंता, असाहु साहुत्ति उदाहंरंता[3] । जेमे जणा वेणइया अणेगे, पुट्ठावि भावं विणइंसु णाम ॥ ३ ॥ अणोवसंखा इति ते उदाहू, अट्ठे स ओभासइ अम्ह एवं । लवावसंकी य अणागएहिं, णो किरियमाहंसु अकिरियवादी[4] ॥ ४ ॥

'चत्तारि' इत्यादि, अस्य च प्राक्तनाध्ययनेन सहायं संबन्धः, तद्यथा–साधुना[5] प्रतिपन्नभावमार्गेण कुमार्गाश्रिताः परवादिनः सम्यक् परिज्ञाय परिहर्तव्याः, तत्स्वरूपाविष्करणं चानेनाध्ययनेनोपदिश्यते इति, अनन्तरसूत्रस्यानेन सूत्रेण सह संबन्धोऽयं, तद्यथा––संवृतो महाप्रज्ञो वीरो[6] दत्तैषणां चरन्नभिनिर्वृतः सन् मृत्युकालमभिकाङ्क्षेद् एतत्केवलिनो भाषितं, तथा परतीर्थिकपरिहारं च कुर्यात् एतच्च केवलिनो मतम्, अतस्तत्परिहारार्थं तत्स्वरूपनिरूपणमनेन क्रियते । 'चत्वारी'ति संख्यापदमपरसंख्यानिवृत्त्यर्थं 'समवसरणानि'–परतीर्थिकाभ्युपगमसमूहरूपाणि यानि प्रावादुकाः पृथक् पृथग्वदन्ति, तानि चामूनि अन्वर्थाभिधायिभिः संज्ञापदैर्निर्दिश्यन्ते, तद्यथा–क्रियाम्–अस्तीत्यादिकां वदितुं शीलं येषां ते क्रियावादिनः,

१ °इति इ. । २ °वियाएआ. । ३ °हरंति इ. । ४ °आया आ. । ५ साधु×प्रति इ. । ६ सा. धीरो प्र० ।

तथाऽक्रियां-नास्तीत्यादिकां वदितुं शीलं येषां तेऽक्रियावादिनः, तथा तृतीया वैनयिकाश्चतुर्थास्त्वज्ञानिका इति ॥ १ ॥ तदेवं क्रियाऽक्रियावैनयिकाज्ञानवादिनः सामान्येन प्रदर्श्याधुना तद्दूषणार्थं[1] तन्मतोपन्यासं पश्चानुपूर्व्यप्यस्तीत्यतः[2] पश्चानुपूर्व्या कर्तुमाह, यदिवैतेषामज्ञानिका एव सर्वापलापितयाऽत्यन्तमसंबद्धा[3] अतस्तानेवादावाह—'अण्णाणिया' इत्यादि, अज्ञानं विद्यते येषामज्ञानेन वा चरन्तीत्यज्ञानिकाः आज्ञानिका वा तावत्प्रदर्श्यन्ते, ते चाज्ञानिकाः किल वयं कुशला इत्येवंवादिनोऽपि सन्तः 'असंस्तुता' अज्ञानमेव श्रेय इत्येवंवादितया असंबद्धाः, असंस्तुतत्वादेव विचिकित्सा–चित्तविप्लुतिश्चित्तभ्रान्तिः संशीतिस्तां न तीर्णा–नातिक्रान्ताः, तथाहि ते ऊचुः––य एते ज्ञानिनस्ते परस्परविरुद्धवादितया न यथार्थवादिनो भवन्ति, तथाहि–एके सर्वगतमात्मानं वदन्ति, तथाऽन्ये असर्वगतं, अपरे अंगुष्ठपर्वमात्रं, केचन श्यामाकतन्दुलमात्रं; अन्ये मूर्तममूर्तं हृदयमध्यवर्तिनं ललाटव्यवस्थितमित्याद्यात्मपदार्थ एव सर्वपदार्थपुरःसरे तेषां नैकवाक्यता, न चातिशयज्ञानी कश्चिदस्ति यद्वाक्यं प्रमाणीक्रियेत, न चासौ विद्यमानोऽप्युपलक्ष्यतेऽर्वाग्दर्शिना, 'नासर्वज्ञः सर्वं[4] जानाती'ति वचनात्, तथा चोक्तम्––"सर्वज्ञोऽसाविति ह्येतत्तत्कालेऽपि बुभुत्सुभिः। तज्ज्ञानज्ञेयविज्ञानशून्यैर्विज्ञायते कथम्? ॥ १ ॥" न च तस्य सम्यक् तदुपायपरिज्ञानाभावात् संभवः, संभवाभावश्चेतरेतराश्रयत्वात्, तथाहि–न विशिष्टपरिज्ञानमृते तदवाप्त्युपायपरिज्ञानमुपायमन्तरेण च नोपेयस्य विशिष्टपरिज्ञानस्यावाप्तिरिति, न च ज्ञानं ज्ञेयस्य स्वरूपं परिच्छेत्तुमलं, तथाहि–यत्किं[5]मप्युपलभ्यते तस्यार्वाग्मध्यपरभागैर्भाव्यं, तत्रार्वाग्भागस्यैवोपलब्धिर्नेतरयोः, तेनैव व्यवहितत्वात्, अर्वाग्भागस्यापि भाग-

सा. १ ×दूषणार्थं प्र० आ. । २ व्याख्याङ्गमिति शेषः । ३ असंबद्धभाषिणः । ४ सर्वज्ञं आ. इ. । ५ यदि किम० इ. ।

त्रयकल्पनात्तत्सर्वाशातीयभागपरिकल्पनया परमाणुपर्यवसानता, परमाणोश्च स्वभावविप्रकृष्टत्वादर्वाग्दर्शनिनां नोपलब्धिरिति, तदेवं सर्वज्ञस्याभावादसर्वज्ञस्य च यथावस्थितवस्तुस्वरूपापरिच्छेदात् सर्ववादिनां च परस्परविरोधेन पदार्थस्वरूपाभ्युपगमात् यथोत्तरपरिज्ञानिनां प्रमादवतां बहुत्तरदोषसंभवादज्ञानमेव श्रेयः, तथाहि–यद्यज्ञानवान् कथञ्चित्पादेन शिरसि हन्यात् तथापि चित्तशुद्धेर्न तथाविधदोषानुषङ्गी स्यादित्येवज्ञानिन एवंवादिनः सन्तोऽसंबद्धाः, न चैवंविधां चित्तविप्लुतिं वितीर्णा इति । तत्रैवंवादिनस्ते अज्ञानिका 'अकोविदा':–अनिपुणाः–सम्यक्परिज्ञानविकला इत्यवगन्तव्याः, तथाहि–यत्तैरभिहितं 'ज्ञानवादिनः परस्परविरुद्धार्थवादितया न यथार्थवादिन' इति, तद्भवत्वसर्वज्ञप्रणीतागमाभ्युपगमवादिनामयथार्थवादित्वं, न चाभ्युपगमवादा एव [2]बाधायै प्रकल्प्यन्ते, सर्वज्ञप्रणीतागमाभ्युपगमवादिनां तु न क्वचित्परस्परतो विरोधः सर्वज्ञत्वान्यथानुपपत्तेरिति, तथाहि––प्रक्षीणाशेषावरणतया रागद्वेषमोहानामनृतकारणानामभावान्न तद्वाक्यमयथार्थमि[3]त्येवं तत्प्रणीतागमावतां न विरोधवादित्वमिति । ननु च स्यादेतद् यदि सर्वज्ञः कश्चित्स्यात्, न चासौ संभवतीत्युक्तं प्राक्, सत्यमुक्तमयुक्तं तूक्तं, तथाहि–यत्तावदुक्तं 'न चासौ विद्यमानोऽप्युपलक्ष्यतेऽर्वाग्दर्शिनेति' तदयुक्तं, यतो यद्यपि परचेतोवृत्तीनां दुरन्वयत्वात् सरागा वीतरागा इव चेष्टन्ते वीतरागाः सरागा इ[4]वेत्यतः प्रत्यक्षेणानुपलब्धिः, तथापि संभवानुमानस्य सद्भावात्तद्बाधकप्रमाणाभावाच्च तदस्तित्वमनिवार्यं, संभवानुमानं त्विदं–व्याकरणादिना[5] शास्त्राभ्यासेन संस्क्रियमाणायाः प्रज्ञाया ज्ञानातिशयो ज्ञेयावगमं प्रत्युपलब्धः,

१ ××××××××सर्व० आ. । २ बाधायैव आ. । ३ ०मित्यतस्त० आ. इ. । ४ एवे० इ. । सा. ५ शास्त्राभ्यासे करणत्वात्तृतीयां यद्वाऽभ्यासाभ्यस्ययोरैक्यं ।

तदत्र कश्चित्तथाभूता[1]भ्यासवशात् सर्वज्ञोऽपि स्यादिति, न च तदभावसाधकं प्रमाणमस्ति, तथाहि—न तावदर्वाग्दर्शिप्रत्यक्षेण
सर्वज्ञाभावः साधयितुं शक्यः, तस्य हि तज्ज्ञानज्ञेय[2]विज्ञानशून्यत्वाद्, अशून्यत्वाभ्युपगमे च सर्वज्ञत्वापत्तिरिति । नाप्य-
नुमानेन, तदव्यभिचारिलिङ्गाभावादिति । नाप्युपमानेन सर्वज्ञाभावः साध्यते, तस्य सादृश्यबलेन प्रवृत्तेः, न च सर्वज्ञाभावे
साध्ये तादृग्विधं सादृश्यमस्ति येनासौ सिध्यतीति । नाप्यर्थापत्त्या, तस्याः प्रत्यक्षादिप्रमाणपूर्वकत्वेन प्रवृत्तेः, प्रत्यक्षादीनां
९ च तत्साधकत्वेनाप्रवर्तनात् तस्या अप्यप्रवृत्तिः । नाप्यागमेन, तस्य सर्वज्ञसाधकत्वेनापि दर्शनात्, नापि प्रमाणपञ्चका-
भावरूपेणाभावेन सर्वज्ञाभावः सिध्यति, तथाहि—सर्वत्र सर्वदा न संभवति तद्ग्राहकं प्रमाणमित्येतदर्वाग्दर्शिनो वक्तुं न
युज्यते, तेन हि देशकालविप्रकृष्टानां पुरुषाणां यद्विज्ञानं तस्य ग्रहीतुमशक्यत्वात्, तद्ग्रहणे वा तस्यैव सर्वज्ञत्वापत्तेः,
न चार्वाग्दर्शिनां ज्ञानं निवर्तमानं सर्वज्ञाभावं सा[3]धयति, तस्याव्यापकत्वात्, न चा[4]व्यापकव्यावृत्त्या पदार्थव्यावृत्तिर्युक्तेति,
न च वस्त्वन्तरविज्ञानै[5]रूपोऽभावः सर्वज्ञाभावसाधनायालं, वस्त्वन्तरसर्वज्ञयोरेकज्ञान[6]संस[7]र्गप्रतिबन्धाभावात् । तदेवं बाधकप्र-
१० माणाभावात् संभवानुमानस्य च प्रतिपादितत्वादस्ति सर्वज्ञः, तत्प्रणीतागमाभ्युपगमाच्च मतभेददोषो दूरापास्त इति,
तथाहि—तत्प्रणीतागमाभ्युपगमवादिनामेकवाक्यतया शरीरमात्रव्यापी संसार्यात्माऽस्ति तत्रैव तद्गुणोपलब्धेरिति, इतरे-
तराश्रयदोषश्चात्र नावतरत्येव, यतोऽभ्यस्यमानायाः प्रज्ञाया ज्ञानातिशयः स्वात्मन्यपि दृष्टो, न च दृष्टेऽनुपपन्नं नामेति ।

सा. १ °बुद्धितारतम्योपलब्धेर्विश्रान्तिसिद्धिः । २ ०विज्ञानशून्यत्वाभ्यु० आ. । सा. ३ मावयति प्र० । ४ चा×××व्यावृत्त्या आ. । सा. ५ घटज्ञाने हि पटाभावप्रतीतिर्यथा । ६ विषयितानियमाभावात् । ७ ०संसर्गि० इ. ।

यदप्यभिहितं तद्यथा 'न च ज्ञानं ज्ञेयस्य स्वरूपं परिच्छेत्तुमलं, सर्वत्रार्वाग्भागेन व्यवधानात्, सर्वारातीयभागस्य च परमाणुरूपतयाऽतीन्द्रियत्वादिति', एतदपि वाङ्मात्रमेव, यतः सर्वज्ञ[1]ज्ञानस्य देशकालस्वभावव्यवहितानामपि ग्रहणान्नास्ति व्यवधानसंभवः, अर्वाग्दर्शिज्ञानस्याप्यवयवद्वारेणावयविनि प्रवृत्तेर्नास्ति व्यवधानं, न ह्यवयवी स्वावयवैर्व्यवधीयत इति युक्तिसंगतम्, अपि च–अज्ञानमेव श्रेय इत्यत्राज्ञानमिति किमयं पर्युदास आहोस्वित्प्रसज्यप्रतिषेधः ?, तत्र यदि [2]ज्ञानादन्यदज्ञानमिति ततः पर्युदासवृत्त्या ज्ञानान्तरमेव समाश्रितं स्यात् नाज्ञानवाद इति । अथ ज्ञानं न भवतीत्यज्ञानं तुच्छो नीरूपो ज्ञानाभावः स च सर्वसामर्थ्यरहित इति कथं श्रेयानिति ?, अपि च–अज्ञानं श्रेय इति प्रसज्यप्रतिषेधेन ज्ञानं श्रेयो न भवतीति क्रियाप्रतिषेध एव कृतः स्याद्, एतच्चाध्यक्षबाधितं यतः सम्यग्ज्ञानादर्थं परिच्छिद्य प्रवर्तमानोऽर्थक्रियार्थी न विसंवाद्यत इति । किंच–अज्ञानप्रमादवद्भिः पादेन शिरःस्पर्शनेऽपि स्वल्पदोषतां परिज्ञायैवाज्ञानं श्रेय इत्यभ्युपगम्यते, एवं च सति प्रत्यक्ष एव स्यादभ्युपगमविरोधो, नानुमानं प्रमाणमिति । तथा तदेवं सर्वथा ते अज्ञानवादिनः–'अकोविदा':–धर्मोपदेशं प्रत्यनिपुणाः स्वतोऽकोविदेभ्य एव स्वशिष्येभ्य 'आहुः'–कथितवन्तः, छान्दसत्वाच्चैकवचनं सूत्रे [3]कृतमिति । शाक्या अपि प्रायशोऽज्ञानिकाः अविज्ञोपचितं कर्म बन्धं न यातीत्येवं यतस्तेऽभ्युपगमयन्ति, तथा ये च बालमत्तसुप्तादयोऽस्पष्टविज्ञाना अबन्धका इत्येवमभ्युपगमं कुर्वन्ति, ते सर्वेऽप्यकोविदा द्रष्टव्या इति । तथाऽज्ञानपक्षसमाश्रयणाच्चानुविचिन्त्य

---

१ ०ज्ञानेन आ. । सा. २ विवक्षितं निषेध्यं ज्ञानमत्र, तथा चान्यस्यापि ज्ञानत्वे न क्षतिः । ३ किरियं अकिरियमित्याद्यगाथायामेकवचनस्य समाधानमिदमाभाति ।

भाषणान्मृषा ते सदा वदन्ति । अनुविचिन्त्य भाषणं यतो ज्ञाने सति भवति, तत्पूर्वकत्वाच्च[1] सत्यवादस्य, अतो ज्ञानानभ्युपगमादननुविचिन्त्य भाषणाभावः, तदभावाच्च तेषां मृषावादित्वमिति ॥ २ ॥ साम्प्रतं वैनयिकवादं निराचिकीर्षुः प्रक्रमते–'सच्चं असच्चं' इत्यादि, सद्भ्यो हितं 'सत्यं'-परमार्थो यथावस्थितपदार्थनिरूपणं वा मोक्षो वा तदुपायभूतो वा संयमः सत्यं तदसत्यम् 'इति' एवं 'विचिन्तयन्तो' मन्यमानाः, एवमसत्यमपि सत्यमिति मन्यमानाः, तथाहि–सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राख्यो मोक्षमार्गः सत्यस्तमसत्यत्वेन चिन्तयन्तो विनयादेव मोक्ष इत्येतदसत्यमपि सत्यत्वेन मन्यमानाः, तथा असाधुमप्यविशिष्टकर्मकारिणं वन्दनादिक्रिया विनयप्रतिपत्त्या साधुम् 'इति' एवम् 'उदाहरन्तः'-प्रतिपादयन्तो न सम्यग्यथावस्थितधर्मस्य परीक्षकाः, युक्तिविकलं विनयादेव धर्म इत्येवमभ्युपगमात्, क एते इत्येतदाह—ये 'इमे' बुद्ध्या प्रत्यक्षासन्नीकृता 'जना इव'-प्राकृतपुरुषा इव जना विनयेन चरन्ति वैनयिका--विनयादेव केवलात्स्वर्गमोक्षावाप्तिरित्येवंवादिनः 'अनेके'-बहवो द्वात्रिंशद्भेदभिन्नत्वात्तेषां, ते च विनय[2]चारिणः केनचिद्धर्मार्थिना पृष्टाः सन्तोऽपिशब्दादपृष्टा वा 'भावं' परमार्थं यथार्थोपल[3]ब्धं स्वाभिप्रायं वा विनयादेव स्वर्गमोक्षावाप्तिरित्येवं '[4]व्यनैषुः' वि[5]नीतवन्तः–सर्वदा सर्वस्य सर्वसिद्धये विनयं ग्राहितवन्तः, नामशब्दः संभावनायां, संभाव्यत एव विनयात्स्वकार्यसिद्धिरिति, तदुक्तम्—"तस्मात्कल्याणानां सर्वेषां भाजनं विनय" इति ॥ ३ ॥ किंचान्यत्–'अणोवसंखा' इत्यादि, संख्यानं संख्या--परिच्छेदः उप–सामीप्येन संख्या उपसंख्या--सम्यग्यथावस्थितार्थपरिज्ञानं नोपसंख्याऽनुपसंख्या तयाऽनुपसंख्यया--अप-

सा. १ समुच्चयार्थत्वात्तच्छब्देनानुविचिन्त्य भाषणपरामर्शः । २ ०कारिणः । सा ३ ०लम्भं प्र०, आ. । ४ व्यनयिषु आ. । ५ विनयितवंत आ. इ. ।

रिज्ञानेन व्यामूढमतयस्ते वैनयिकाः स्वाग्रहग्रस्ता इति एतद्–यथा विनयादेव केवलात् स्वर्गमोक्षावाप्तिरित्युदाहृतवन्तः, एतच्च ते महामोहाच्छादिता 'उदाहुः'–उदाहृतवन्तः–यथैवं सर्वस्य विनयप्रतिपत्त्या स्वोऽर्थः––स्वर्गमोक्षादिकः अस्माकम् 'अवभासते'–आविर्भवति प्राप्यते इतियावत्, अनुपसंख्योदाहृतिश्च तेषामेवमवगन्तव्या, तद्यथा–ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्ष-सद्भावे सति तदपास्य विनयादेवैकस्मात्तदवाप्त्यभ्युपगमादिति, यदप्युक्तं 'सर्वकल्याणभाजनं' तदपि सम्यग्दर्शनादिसंभवे सति विनयस्य कल्याणभाक्त्वं भवति नैकैकस्येति[2], तद्रहितो हि विनयोपेतः सर्वस्य प्रह्वतया न्यत्कारमेवापादयति, ततश्च विवक्षितार्थावभासनाभावात्तेषामेवंवादिनामज्ञानावृतत्वमेवावशिष्यते, नाभिप्रेतार्थावाप्तिरित्युक्ता वैनयिकाः ॥ साम्प्रतमक्रियावादिदर्शनं निराचिकीर्षुः पश्चार्धमाह–लवं–कर्म तस्मादपशङ्कितुम्––अपसर्तुं शीलं येषां ते लवापशङ्किनो[3]–'लोकायतिकाः शाक्यादयश्च, तेषामात्मैव नास्ति कुतस्तत्क्रिया तज्जनितो वा कर्मबन्ध इति, उपचारमात्रेण त्वस्ति बन्धः, तद्यथा–'बद्धा मुक्ताश्च कथ्यन्ते, मुष्टिग्रन्थिकपोतकाः । न चान्ये द्रव्यतः सन्ति, मुष्टिग्रन्थिकपोतकाः ॥ १ ॥' तथाहि––बौद्धानामयमभ्युपगमो, यथा––'क्षणिकाः सर्वसंस्कारा' इति, 'अस्थितानां [च] कुतः क्रिया' इत्यक्रियावादित्वं, योऽपि स्कन्धपञ्चकाभ्युपगमस्तेषां सोऽपि संवृतिमात्रेण न परमार्थेन यतस्तेषामयमभ्युपगमः, तद्यथा––विचार्यमाणाः पदार्था न कथञ्चिदप्यात्मानं विज्ञानेन समर्पयितुमलं, तथाहि––अवयवी तत्त्वान्यत्वाभ्यां[4] विचार्यमाणो न घटां प्राञ्चति, नाप्यवयवाः

१ °भाजनं विनय इति तदपि आ. इ. । २ नैकस्येति इ. । सा. ३ लवावशङ्किनः । अग्रेऽपि अत्र गाथायां । ४ तत्त्वाऽतत्त्वाभ्यां प्र० । ५ अवयवेभ्योऽभिन्नत्वेतराभ्यां ।

परमाणुपर्यवसानतयाऽतिसूक्ष्मत्वाज्ज्ञानगोचरतां प्रतिपद्यन्ते, विज्ञानमपि ज्ञेयाभावेनामूर्तस्य निराकारतया न स्वरूपं बिभर्त्ति, तथा चोक्तम्–" यथा यथाऽर्थाश्चिन्त्यन्ते, विविच्यन्ते तथा तथा। यद्येतत्स्वयमर्थेभ्यो, रोचते तत्र के वयम् ? ॥ १ ॥ " [1]इति, प्रच्छन्नलोकायतिका हि बौद्धाः, तत्रानागतैः क्षणैः चशब्दादतीतैश्च वर्तमानक्षणस्यासंगतेर्न क्रिया, नापि च तज्जनितः कर्मबन्ध इति। तदेवमक्रियावादिनो नास्तिकवादिनः सर्वापलापितया [2]लवावशङ्किनः सन्तो न क्रियामाहुः, तथा अक्रिय आत्मा येषां सर्वव्यापितया तेऽप्यक्रियावादिनः सांख्याः, [3]तदेवं ते [4]लोकायतिकबौद्धसांख्या अनुपसंख्यया– अपरिज्ञानेनेति–एतत् पूर्वोक्तमुदाहृतवन्तः, [5]तथैतत्त्वज्ञानेनैवोदाहृतवन्तः, तद्यथा–अस्माकमेवमभ्युपगमेऽर्थोऽवभासते–युज्यमानको भवतीति, तदेवं श्लोकपूर्वार्द्धं काकाक्षिगोलकन्यायेनाक्रियावादिमतेऽप्यायोज्यमिति ॥ ४ ॥

साम्प्रतमक्रियावादिनामज्ञानविजृम्भितं दर्शयितुमाह––

सम्मिस्सभावं [6]च गिरा गहीए, से मुम्मुई होइ अणाणुवाई। इमं दुपक्खं इममेगपक्खं, आहंसु छलायतणं च कम्मं ॥ ५ ॥ ते एवमक्खंति अवुज्झमाणा, विरूवरूवाणि [7]अकिरियवाई। [8]जे मायइत्ता बहवे मणूसा, भमंति संसारमणोवदग्गं ॥ ६ ॥ णाइच्चो उएइ ण अत्थमेति, ण चंदिमा वड्ढति हायती वा। सलिला ण संदंति ण वंति वाया, [9]वंझो णियतो कसिणे हु लोए ॥ ७ ॥ [10]जहाहि अंधे सह जोतिणावि,

---

१ इत्येवं आ. इ.। २ ०लवाप० आ. इ.। ३ तदेते आ.। सा. ४ लोकायकिता बौद्धाः सांख्याः प्र०। ५ तथैतच्चा० आ.। ६ वरगिरगिहीए आ., स गिरा गिहिते इ.। ७ अकिरिताया आ.। ८ जमादिदित्तां आ.। ९ वंझो णितिए आ., वझे हुएते इ.। १० जहा य आ. इ.।

रूवाइ णो [1]पस्सति हीणणेत्ते । संतंपि ते एवमकिरियवाई, किरियं ण पस्संति निरुद्धपन्ना ॥ ८ ॥

'सम्मिस्सभावं' इत्यादि, स्वकीयया गिरा–वाचा स्वाभ्युपगमेनैव 'गृहीते'–तस्मिन्नर्थे नान्तरीयकतया वा समागते सति तस्याऽऽयातस्यार्थस्य गिरा प्रतिषेधं कुर्वाणाः 'सम्मिश्रीभावम्'–अस्तित्वनास्तित्वाभ्युपगमं ते लोकायतिकादयः कुर्वन्ति, वा शब्दात्प्रतिषेधे प्रतिपाद्येऽस्तित्वमेव प्रतिपादयन्ति, तथाहि––लोकायतिकास्तावत्स्वशिष्येभ्यो जीवाद्यभावप्रतिपादकं शास्त्रं प्रतिपादयन्तो नान्तरीयकतयाऽऽत्मानं कर्तारं करणं च शास्त्रं कर्मतापन्नांश्च शिष्यानवश्यमभ्युपगच्छेयुः, सर्वशून्यत्वे त्वस्य त्रितयस्याभावान्मिश्रीभावो व्यत्ययो वा । बौद्धा अपि मिश्रीभावमेवमुपगताः, तद्यथा–"गन्ता च नास्ति कश्चिद्गतयः षड् [3]बौद्धशासने प्रोक्ताः । गम्यत इति च गतिः स्याच्छ्रुतिः कथं शोभना बौद्धी ? ॥ १ ॥" तथा–'कर्म [च] नास्ति फलं चास्ति' इत्यसति चात्मनि कारके कथं षड्गतयः ?, ज्ञानसन्तानस्यापि संतानिव्यतिरेकेण संवृतिमत्त्वात् क्षणस्य चास्थितत्वेन क्रियाऽभावान्न नानागतिसंभवः, सर्वाण्यपि कर्माण्यबन्धनानि प्ररूपयन्ति स्वागमे, तथा पञ्च जातकशतानि च बुद्धस्योपदिशन्ति, तथा–'मातापितरौ हत्वा बुद्धशरीरे च रुधिरमुत्पाद्य । अर्हद्वधं च कृत्वा स्तूपं भित्त्वा च पञ्चैते ॥ १ ॥ [4]आवीचिनरकं [5]यान्ति ।' एवमादिकस्यागमस्य सर्वशून्यत्वे प्रणयनमयुक्तिसंगतं स्यात्, तथा जातिजरामरणरोगशोकोत्तममध्यमाधमत्वानि च न स्युः, एष एव च नानाविधकर्मविपाको जीवास्तित्वं कर्तृत्वं [6]कर्मवत्त्वं चावेदयति, तथा 'गान्धर्वनगरतुल्या मायास्वप्नोपपातघनसदृशाः । मृगतृष्णानीहाराम्बुचन्द्रिकालातचक्रसमाः ॥ १ ॥' इति भाषणाच्च स्पष्टमेव मिश्रीभावोपगमनं

१ पासइ आ. । २ °यआतो आ. । ३ बुद्ध० आ. इ. । ४ आवीचीं० आ. इ. । ५ यान्तीत्येव आ. इ. । ६ कर्मबन्धं आ. ।

बौद्धानामिति । यदि वा--नानाविधकर्मविपाकाभ्युपगमात्तेषां व्यत्यय एवेति, तथा चोक्तम्–"यदि शून्यस्तव पक्षो मत्पक्षनिवारकः कथं भवति ? । अथ मन्यसे न शून्यस्तथापि मत्पक्ष एवासौ ॥ १ ॥" इत्यादि, तदेवं बौद्धाः पूर्वोक्तया नीत्या मिश्रीभावमुपगता नास्तित्वं प्रतिपादयन्तोऽस्तित्वमेव प्रतिपादयन्ति । तथा सांख्या अपि सर्वव्यापितया अक्रियमात्मानमभ्युपगम्य प्रकृतिवियोगान्मोक्षसद्भावं प्रतिपादयन्तस्तेऽप्यात्मनो बन्धं मोक्षं च स्ववाचा प्रतिपादयन्ति, ततश्च बन्धमोक्षसद्भावे सति स्वकीयया गिरा सक्रियत्वे गृहीते सत्यात्मनः सम्मिश्रीभावं व्रजन्ति, यतो न क्रियामन्तरेण बन्धमोक्षौ घटेते, वाशब्दादक्रियत्वे प्रतिपाद्ये व्यत्यय एव–सक्रियत्वं तेषां स्ववाचा प्रतिपद्यते । तदेवं लोकायतिकाः सर्वाभावाभ्युपगमेन क्रियाऽभावं प्रतिपादयन्ति[3], बौद्धाश्च क्षणिकत्वात्सर्वशून्यत्वाच्चाक्रियामेवाभ्युपगमयन्तः स्वकीयागमप्रणयनेन चोदिताः सन्तः सम्मिश्रीभावं स्ववाचैव प्रतिपद्यन्ते, तथा सांख्याश्चाक्रियमात्मानमभ्युपगच्छन्तो बन्धमोक्षसद्भावं च स्वाभ्युपगमेनैव सम्मिश्रीभावं व्रजन्ति व्यत्ययं च[4] एतत्प्रतिपादितम् । यदि वा बौद्धादिः कश्चित्स्याद्वादिना सम्यग्घेतुदृष्टान्तैर्व्याकुलीक्रियमाणः सन् सम्यगुत्तरं दातुमसमर्थो यत्किञ्चनभाषितया 'मुम्मुई होइ'त्ति गद्गदभाषित्वेनाव्यक्तभाषी भवति, यदि वा प्राकृतशैल्या छान्दसत्वाच्चायमर्थो द्रष्टव्यः, तद्यथा—मूकादपि मूको मूकमूको भवति, एतदेव दर्शयति–स्याद्वादिनोक्तं साधनमनुवदितुं शीलमस्येत्यनुवादी तत्प्रतिषेधादननुवादी, सद्धेतुभिर्व्याकुलितमना मौनमेव प्रतिपद्यत इति भावः, अननुभाष्य च प्रतिपक्षसाधनं तथाऽदूषयित्वा च स्वपक्षं प्रतिपादयन्ति, तद्यथा—'इदम्'–अस्मदभ्युपगतं दर्शनमेकः पक्षोऽस्येति एकपक्षमप्रतिपक्षतयै-

१ ०यन्तः ×× आत्मनो आ. इ. । २ ०चोपपद्यते आ., ०चा पद्यते इ. । ३ ०यन्तः आ. इ. । ४ चेत्येतत्प्र० आ. इ. ।

कान्तिकमविरुद्धार्थाभिधायितया निष्प्रतिबाधं पूर्वापराविरुद्धमित्यर्थः, इदं चैवंभूतमपि सदि(त्कमि)त्याह–द्वौ पक्षावस्येति द्विपक्षं—सप्रतिपक्षमनैकान्तिकं पूर्वापरविरुद्धार्थाभिधायितया विरोधिवचनमित्यर्थः, यथा च विरोधिवचनत्वं तेषां तथा प्राग्दर्शितमेव, यदिवेदमस्मदीयं दर्शनं द्वौ पक्षावस्येति द्विपक्षं—कर्मबन्धनिर्जरणं प्रति पक्षद्वयसमाश्रयणात्, तत्समाश्रयणं चेहामुत्र च वेदनां चौरपारदारिकादीनामिव, ते हि करचरणनासिकादिच्छेदादिकामिहैव पुष्पकल्पां स्वकर्मणो विडम्बनामनुभवन्ति अमुत्र च नरकादौ तत्फलभूतां वेदनां समनुभवन्तीति, एवमन्यदपि कर्मोभयवेद्यमभ्युपगम्यते, तच्चेदं ‘प्राणी प्राणिज्ञान’मित्यादि पूर्ववत्, तथेदमेकः पक्षोऽस्येत्येकपक्षं इहैव जन्मनि तस्य वेद्यत्वात्, तच्चेदम्–अविज्ञोपचितं परिज्ञोपचितमीर्यापथं स्वप्नान्तिकं चेति। तदेवं स्याद्वादिनाऽऽभियुक्ताः स्वदर्शनमेवमनन्तरोक्तया नीत्या प्रतिपादयन्ति, तथा स्याद्वादिसाधनोक्तौ छलायतनं–छलं नवकम्बलो देवदत्त इत्यादिकं ‘आहुः’–उक्तवन्तः, चशब्दादन्यच्च दूषणाभासादिकं, तथा कर्म च एकपक्षद्विपक्षादिकं प्रतिपादितवन्त इति, यदि वा षडायतनानि–उपादानकारणानि आश्रवद्वाराणि श्रोत्रेन्द्रियादीनि यस्य कर्मणस्तत्षडायतनं कर्मेत्येवमाहुरिति ॥ ५ ॥ साम्प्रतमेतद्दूषणायाह–‘ते एवमक्खंति’ इत्यादि, ‘ते’ चार्वाकबौद्धादयोऽक्रियावादिन एवमाचक्षते, सद्भावमबुध्यमाना मिथ्यामलपटलावृतात्मानः परमात्मानं च व्युद्ग्राहयन्तो ‘विरूपरूपाणि’–नानाप्रकाराणि शास्त्राणि प्ररूपयन्ति, तद्यथा–“दानेन महाभोगाश्च देहिनां सुरगतिश्च शीलेन। भावनया च विमुक्तिस्तपसा सर्वाणि सिध्यन्ति ॥१॥” तथा पृथिव्यापस्तेजोवायुरित्येतान्येव चत्वारि भूतानि विद्यन्ते, नापरः कश्चित्सुख-

दुःखभागात्मा विद्यते, यदिवैतान्यप्यविचारितरमणीयानि न परमार्थतः सन्तीति, स्वप्नेन्द्रजालमरुमरीचिकानिचयद्विचन्द्रादिप्रतिभासरूपत्वात्सर्वस्येति । तथा 'सर्वं क्षणिकं निरात्मकं', मुक्तिस्तु शून्यतादृष्टेस्तदर्थाः शेषभावना' इत्यादीनि नानाविधानि शास्त्राणि व्युद्ग्राहयन्त्यक्रियात्मानोऽक्रियावादिन इति । ते च परमार्थमबुध्यमाना यद्दर्शनम् 'आदाय'–गृहीत्वा बहवो मनुष्याः संसारम् ' अनवदग्रम्'–अपर्यवसानमरहट्टघटीन्यायेन 'भ्रमन्ति'–पर्यटन्ति, तथाहि–लोकायतिकानां सर्वशून्यत्वे प्रतिपाद्ये न प्रमाणमस्ति, तथा चोक्तम्–"तत्त्वान्युपप्लुतानीति, युक्त्यभावे न सिध्यति । सोऽ[2]स्ति चेत्सैव नस्तत्त्वं, तत्सिद्धौ सर्वमस्तु सत् ॥१॥" न च प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणम् , अतीतानागतभावतया पितृनिबन्धनस्यापि व्यवहारस्यासिद्धेः, ततः सर्वसंव्यवहारोच्छेदः स्यादिति । बौद्धानामप्यत्यन्तक्षणिकै[3]त्वेन वस्तुत्वाभावः प्रसजति, तथाहि—यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थतः सत् , न च क्षणः क्रमेणार्थक्रियां करोति, क्षणिकत्वहानेः, नापि यौगपद्येन, [तत्कार्याणां] एकस्मिन्नेव क्षणे सर्वकार्यापत्तेः, न चैतदृष्टमिष्टं वा, न च ज्ञानाधारमात्मानं गुणिनमन्तरेण गुणभूतस्य संकलनाप्रत्ययस्य सद्भाव इत्येतच्च प्रागुक्तप्रायं, यच्चोक्तं—' दानेन महाभोगा ' इत्यादि, तदार्हतैरपि कथञ्चिदिष्यत एवेति, न चाभ्युपगमा एव बाधायै प्रकल्प्यन्त इति ॥ ६ ॥ पुनरपि शून्यमताविर्भावनायाह—सर्वशून्यवादिनो ह्यक्रियावादिनः सर्वाध्यक्षामादित्योद्गमनादिकामेव क्रियां तावन्निरुन्धन्तीति दर्शयति–'णाइच्चो उएइ' इत्यादि, आदित्यो हि सर्वजनप्रतीतो जगत्प्रदीपकल्पो दिवसादिकालविभागकारी स एव तावन्न विद्यते, कुतस्तस्योद्गमनमस्तमै[4]यनं वा ?, यच्च जाज्वल्यमानं तेजोमण्डलं दृश्यते तद् भ्रान्तमतीनां द्विचन्द्रा-

१ ०तान्य×वि. आ. इ. । सा. २ नास्ति प्र० । ३. त्वे× आ, त्वेव इ. । ४. ०म×नं वा आ. ।

दिप्रतिभा[1]समृगतृष्णिकाकल्पं वर्तते । तथा न चन्द्रमा वर्धते शुक्लपक्षे, नाप्यपरपक्षे प्रतिदिनमपहीयते तथा 'न सलिलानि'–उदकानि 'स्यन्दन्ते'–पर्वतनिर्झरेभ्यो न स्रवन्ति । तथा वाताः सततगतयो न वान्ति । किं बहुनोक्तेन ?, कृत्स्नोऽप्ययं लोको 'वन्ध्यः'–अर्थशून्यो 'नियतो' निश्चितः अभावरूप इतियावत्, सर्वमिदं यदुपलभ्यन्ते तन्मायास्वप्नेन्द्रजालकल्पमिति ॥ ७ ॥ एतत्परिहर्तुकाम आह—'[2]जेहाहि अंधे' इत्यादि, यथा ह्यन्धो–जात्यन्धः पश्चाद्वा 'हीननेत्रः'–अपगतचक्षुः 'रूपाणि'–घटपटादीनि, 'ज्योतिषापि'–प्रदीपादिनापि सह वर्तमानो 'न पश्यति'–नोपलभते, एवं तेऽप्यक्रिया वादिनः सदपि घटपटादिकं वस्तु तत्क्रियां चास्तित्वादिकां परिस्पन्दादिकां वा [क्रियां] न पश्यन्ति । किमिति ?, यतो निरुद्धा[3]—आच्छादिता ज्ञानावरणादिना कर्मणा प्रज्ञा–ज्ञानं येषां ते तथा, तथाहि—आगोपालाङ्गनादिप्रतीतः समस्तान्धकारक्षयकारी कमलाकरोद्घाटनपटीयानादित्योद्गमः प्रत्यहं भवन्नुपल[4]क्ष्यते, तत्क्रिया च देशाद्देशान्तरावाप्त्याऽन्यत्र देवदत्तादौ प्रतीताऽनुमीयते । चन्द्रमाश्च प्रत्यहं क्षीयमाणः समस्तक्षयं यावत्पुनः कलाभिवृद्ध्या प्रवर्धमानः संपूर्णा[5]वस्था(स्थां)यां यावदध्यक्षेणैवोपल[6]क्ष्यते । तथा सरितश्च प्रावृषि जलकल्लोलाविलाः स्य[7]न्दमाना दृश्यन्ते । वायवश्च वान्तो वृक्षभङ्गकम्पादिभिरनुमीयन्ते । यच्चोक्तं भवता—सर्वमिदं मायास्वप्नेन्द्रजालकल्पमिति, तदसत्, यतः सर्वाभावे कस्यचिदमायारूपस्य सत्यस्याभावान्मायाया एवाभावः स्यात्, यश्च मायां प्रतिपादयेत् यस्य च प्रतिपाद्यते सर्वशून्यत्वे तयोरेवाभावात् कुतस्तद्व्यवस्थितिरिति ?, तथा

१. ०भासं०आ. इ. । २. जहाय आ. इ. । ३ ०द्धं आच्छादितं आ. । ४ ०लभ्यते-आ. । ५ ०वस्थां×° आ. इ. । ६ ०लभ्यते-आ. इ. । ७ स्यन्दन्त्यो आ. ।

स्वप्नोऽपि जाग्रदवस्थायां सत्यां व्यवस्थाप्यते तस्या अभावे तस्याप्यभावः स्यात्ततः स्वप्नमभ्युपगच्छता भवता तन्नान्तरीयकतया जाग्रदवस्थाऽवश्यमभ्युपगता भवति, तदभ्युपगमे च सर्वशून्यत्वहानिः, न च स्वप्नोऽप्यभावरूप एव, स्वप्नेऽप्यनुभूतादेः सद्भावात् तथा चोक्तम्–"[1]अणुहूयदिट्ठचिंतियसुयपयइवियारदेवयाऽणूया । सुमिणस्स निमित्ताइं पुण्णं पावं च णाभावो ॥ १ ॥" इन्द्रजालव्यवस्थाऽप्यपरसत्यत्वे सति भवति, तदभावे तु केन कस्य चे[2]न्द्रजालं व्यवस्थाप्येत ?, द्विचन्द्रप्रतिभासोऽपि रात्रौ सत्यामेकस्मिंश्च चन्द्रमस्युपलंभकसद्भावे च घटते न सर्वशून्यत्वे, न चाभावः कस्यचिदप्यत्यन्ततुच्छरूपोऽस्ति, शशविषाणकूर्मरोमगगनारविन्दादीनामत्यन्ताभावप्रसिद्धानां समासप्रतिपाद्यस्यैवार्थस्याभावो न प्रत्येकपदवाच्यार्थस्येति, तथाहि—शशोऽप्यस्ति विषाणमप्यस्ति किं त्वत्र शशमस्तकसमवायि विषाणं नास्तीत्येतत्प्रतिपाद्यते, तदेवं संबन्धमात्रमत्र निषिध्यते नात्यन्तिको वस्तस्वभावः इति, एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यमिति । तदेवं विद्यमानायामप्यस्तीत्यादिकायां क्रियायां निरुद्धप्रज्ञास्तीर्थिका अक्रियावादमाश्रिता इति ।। ८ ।। अनिरुद्धप्रज्ञास्तु यथावस्थितार्थवेदिनो भवन्ति, तथाहि––अवधिमनःपर्यायकेवलज्ञानिनस्त्रैलोक्योदरविवरवर्तिनः पदार्थान् करतलामलकन्यायेन पश्यन्ति, समस्तश्रुतज्ञानिनोऽपि आगमबलेनातीतानागतानर्थान् विदन्ति, येऽप्यन्येऽष्टाङ्गनिमित्तपारगास्तेऽपि निमित्तबलेन जीवादिपदार्थपरिच्छेदं विदधति, तदाह––

संवच्छरं सुविणं लक्खणं च, निमित्तदेहं च उप्पाइयं च । अट्ठंगमेयं बहवे अहित्ता, [3]लोगंसि

१ सा. अनुभूतदृष्टचिन्तितश्रुतप्रकृतिविकारदेवतानूपाः । स्वप्नस्य निमित्तानि पुण्यं पापं च नाभावः ॥१॥ २ वेन्द्रजालं प्र०, आ. इ. । ३ लोगस्स आ. ।

जाणंति अणागताइं ॥ ९ ॥ केई निमित्ता तहिया भवंति, केसिंचि तं विप्पडिएति णाणं । ते
विज्जभावं अणहिज्जमाणा, आहंसु विज्जापरि[1]मोक्खमेव ॥ १० ॥ ते एवमक्खंति समिच्च लोगं,
तहा तहा ([2]गेया)समणा माहणा य । सयं कडं णन्नकडं च दुक्खं, आहंसु विज्जाचरणं पमोक्खं
॥ ११ ॥ ते चक्खु लोगंसिह णायगा उ, मग्गाणुसासंति हितं पयाणं । तहा तहा सासयमाहु
९ लोए, जंसी पया माणव ! संपगाढा ॥ १२ ॥

'संवच्छरं' इत्यादि, 'सांवत्सर'मिति ज्योतिषं स्वप्नप्रतिपादको ग्रन्थः, स्वप्नस्तमधीत्य 'लक्षणं'–श्रीवत्सादिकं,
चशब्दादान्तरबाह्यभेदभिन्नं, 'निमित्तं'–वाक्प्रशस्तशकुनादिकं, देहे भवं दैहं–मषकतिलकादि, उत्पाते भवमौत्पातिकम्—
उल्कापातदिग्दाहनिर्घातभूमिकम्पादिकं, तथा अष्टाङ्गं च निमित्तमधीत्य, तद्यथा—भौममुत्पातं स्वप्नमान्तरिक्षमाङ्गं स्वरं लक्षणं
व्यञ्जनमित्येवंरूपं नवमपूर्वतृतीयाचारवस्तुविनिर्गतं सुखदुःखजीवितमरणलाभालाभादिसंसूचकं निमित्तमधीत्य लोकेऽस्मिन्न-
१० तीता[3]नि वस्तूनि अनागतानि च 'जानन्ति'–परिच्छिन्दन्ति, न च शून्यादिवादेष्वेतद् घटते, तस्मादप्रमाणकमेव तैरभिधीयत
इति ॥ ९ ॥ एवं व्याख्याते सति आह परः–ननु व्यभिचार्यपि श्रुतमुपलभ्यते, तथाहि–चतुर्दशपूर्वविदामपि षट्स्थानपति-
त्वमागम उद्घुष्यते किं पुनरष्टाङ्गनिमित्तशास्त्रविदाम् ?, अत्र चाङ्गवर्जितानां निमित्तशास्त्राणामानु[4]ष्टुभेन छन्दसाऽर्धत्रयोदश-

१ °रिमोक्खमेव । जाणामो लोगंसि वयंति मंदा आ. इ. । २ × × आ. इ. । ३ ०तीतान्यगतानि वं° आ. । ४ ०ष्टुप्भेद आ. ।

शतानि सूत्रं तावन्त्येव सहस्राणि वृत्तिस्तावत्प्रमाणलक्षा परिभाषेति, अङ्गस्य त्वर्धत्रयोदशसहस्राणि सूत्रं, तत्परिमाणलक्षा वृत्तिरपरिमितं वार्तिकमिति, तदेवमष्टाङ्गनिमित्तवेदिनामपि परस्परतः षट्स्थानपतितत्वेन व्यभिचारित्वमत इदमाह–'केई' इत्यादि, छान्दसत्वात् प्राकृतशैल्या वा लिङ्गव्यत्ययः, कानिचिन्निमित्तानि 'तथ्यानि'–सत्यानि भवन्ति, केषाञ्चित्तु निमित्तानां निमित्तवेदिनां वा बुद्धि[1]वैकल्यात्तथाविधक्षयोपशमाभावेन तत् निमित्तज्ञानं 'विपर्यासं'–व्यत्ययमेति, आर्हतानामपि निमित्तव्यभिचारः समुपलभ्यते, किं पुनस्तीर्थिकानां ?, तदेवं निमित्तशास्त्रस्य व्यभिचारमुपलभ्य 'ते'–अक्रियावादिनो 'विद्यासद्भावं' विद्यामनधीयानाः सन्तो निमित्तं तथा चान्यथा च भवतीति मत्वा ते 'आहंसु विज्जापलिमोक्खमेव' विद्यायाः—श्रुतस्य व्यभिचारेण तस्य परिमोक्षं–परित्यागमाहुः–उक्तवन्तः, यदि वा–क्रियाया अभावाद्विद्यया–ज्ञानेनैव मोक्षं–सर्वकर्मच्युतिलक्षणमाहुरिति । क्वचिच्चरमपादस्यैवं पाठः, 'जाणासु लोगंसि वयंति मंद'त्ति, विद्यामनधीत्यैव स्वयमेव लोकमस्मिन् वा लोके भावान् [2]स्वयं जानीमः, एवं 'मंदाः'–जडा वदन्ति, न च निमित्तस्य तथ्यता, तथाहि–कस्यचित्क्वचित्क्षुतेऽपि गच्छतः कार्यसिद्धिदर्शनात्, सच्छकुनसद्भावेऽपि कार्यविघातदर्शनाद्, अतो निमित्तबलेनादेशविधायिनां मृषावाद एव केवलमिति, नैतदस्ति, न हि सम्यगधीतस्य श्रुतस्यार्थे विसंवादोऽस्ति, यदपि षट्स्थानपतितत्वमुद्[3]घोष्यते तदपि पुरुषाश्रितक्षयोपशमवशेन, न च प्रमाणाभासव्यभिचारे सम्यक्प्रमाणव्यभिचाराशङ्का कर्तुं युज्यते, तथाहि–मरुमरीचिकानिचये जलग्राहि प्रत्यक्षं व्यभिचरतीतिकृत्वा किं सत्यजलग्राहिणोऽपि प्रत्यक्षस्य व्यभिचारो युक्तिसंगतो भवति ?,

सा. १ बोधवैकल्यात् यद्वा निमित्तशब्देन निमित्तशास्त्राणि तेन तद्विषयकबुद्धिवैकल्यात् । २ वयं आ., वयं वा इ.। ३ घुष्यते आ. इ. ।

न हि मशकवर्तिरग्निसिद्धावुपदिश्यमाना व्यभिचारिणीति सत्यधूमस्यापि व्यभिचारो, न हि सुविवेचितं कार्यं कारणं व्यभिचरतीति, ततश्च प्रमातुरयमपराधो न प्रमाणस्य, एवं सुविवेचितं निमित्तश्रुतमपि न व्यभिचरतीति, यश्च क्षुतेऽपि कार्यसिद्धिदर्शनेन व्यभिचारः शङ्क्यते सोऽनुपपन्नः, तथाहि—कार्याकूतात् क्षुतेऽपि गच्छतो या कार्यसिद्धिः साऽपान्तराले इतरशोभननिमित्तबलात् संजातेत्येवमवगन्तव्यं, शोभननिमित्तप्रस्थितस्यापीतरनिमित्तबलात् कार्यव्याघात इति, तथा च श्रुतिः—किल बुद्धः स्वशिष्यानाहूयोक्तवान्, यथा—'द्वादशवार्षिकमत्र दुर्भिक्षं भविष्यतीत्यतो देशान्तराणि गच्छत यूयं' ते तद्वचनाद्गच्छन्तस्तेनैव प्रतिषिद्धाः, यथा 'मा गच्छत यूयम्, इहाद्यैव पुण्यवान् महासत्त्वः संजातस्तत्प्रभावात्सुभिक्षं भविष्यति' तदेवमन्तराऽपरनिमित्तसद्भावा[1]त्तद्व्यभिचारशङ्केति स्थितम् ॥ १० ॥ साम्प्रतं क्रियावादिमतं दुदूषयिषुस्तन्मतमाविष्कुर्वन्नाह—'ते एवमक्खंति' इत्यादि, ये क्रियात एव ज्ञाननिरपेक्षायाः दीक्षादिलक्षणाया मोक्षमिच्छन्ति ते एवमाख्यान्ति, तद्यथा—'अस्ति माता पिता अस्ति सुचीर्णस्य कर्मणः फल'मिति, किं कृत्वा त एवं कथयन्ति?, क्रियात एव सर्वं सिध्यतीति स्वाभिप्रायेण 'लोकं'—स्थावरजङ्गमात्मकं 'समेत्य'—ज्ञात्वा, किल वयं यथावस्थितवस्तुनो ज्ञातार इत्येवमभ्युपगम्य सर्वमस्त्येवेत्येवं सावधारणं प्रतिपादयन्ति, न कथञ्चिन्नास्तीति, कथमाख्यान्ति? 'तथा तथा'—तेन (तेन) प्रकारेण, यथा यथा क्रिया तथा तथा स्वर्गनरकादिकं फलमिति, ते च श्रमणास्तीर्थिका ब्राह्मणा वा क्रियात एव सिद्धिमिच्छन्ति । किञ्च—यत् किमपि संसारे दुःखं तथा सुखं च तत्सर्वं स्वयमेवात्मना कृतं, नान्येन कालेश्वरादिना, न चैतदक्रियावादे घटते,

१ °त्र तद्व्यभिचार° आ ।

तत्र ह्यक्रियत्वादात्मनोऽकृतयोरेव सुखदुःखयोः संभवः स्यात्, एवं च कृतनाशाकृताभ्यागमौ स्याताम्, अत्रोच्यते–सत्यमस्त्यात्मसुखदुःखादिकं, न त्वस्त्येव; तथाहि–यद्यस्त्येव इत्येवं सावधारणमुच्यते ततश्च न कथञ्चिन्नास्तीत्यापन्नम्, एवं च सति सर्वं सर्वात्मकमापद्येत, तथा च सर्वलोकस्य व्यवहारोच्छेदः स्यात्, न च ज्ञानरहितायाः क्रियायाः सिद्धिः, तदुपायपरिज्ञानाभावात्, न चोपायमन्तरेणोपेयमवाप्यत इति प्रतीतं, सर्वा हि क्रिया ज्ञानवत्येव फलवत्युपलक्ष्यते, उक्तश्च—"पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठति सव्वसंजए। अन्नाणी किं काही, किं वा नाही छेयपावयं ॥ १ ॥[1]" इत्यतो ज्ञानस्यापि प्राधान्यं, नापि ज्ञानादेव सिद्धिः, क्रियारहितस्य ज्ञानस्य पङ्गोरिव कार्यसिद्धेरनुपपत्तेरित्यालोच्याह[2]—'आहंसु विज्जाचरणं पमोक्खं'ति, न ज्ञाननिरपेक्षायाः क्रियायाः सिद्धिः, अन्धस्येव; नापि क्रियाविकलस्य ज्ञानस्य पङ्गोरिव, इत्येवमवगम्य 'आहुः'–ऊक्तवन्तः, तीर्थकरगणधरादयः, कमाहुः ?, मोक्षं कथं ?;–विद्या च–ज्ञानं, चरणं च–क्रिया; ते द्वे अपि विद्येते कारणत्वेन यस्येति विगृह्यार्शआदित्वान्मत्वर्थीयोऽच्, असौ विद्याचरणो मोक्षः–ज्ञानक्रियासाध्य इत्यर्थः, तमेवंसाध्यं–मोक्षं प्रतिपादयन्ति। यदि वाऽन्यथा पातनिका, केनैतानि समवसरणानि प्रतिपादितानि[3] ?, यच्चोक्तं यच्च वक्ष्यते इत्येतदाशङ्क्याह–'ते एवमक्खंती'त्यादि, अनिरुद्धा–क्वचिदप्यस्खलिता प्रज्ञायतेऽनयेति प्रज्ञा–ज्ञानं येषां तीर्थकृतां तेऽनिरुद्धप्रज्ञाः, त 'एवम्'–अनन्तरोक्तया प्रक्रियया सम्यगाख्यान्ति–प्रतिपादयन्ति 'लोकं'–चतुर्दशरज्ज्वात्मकं स्थावरजङ्गमाख्यं वा

सा. १ प्रथमं ज्ञानं ततो दया एवं तिष्ठति सर्वसंयतः। अज्ञानी किं करिष्यति किंवा ज्ञास्यति छेकपापकं ॥ १ ॥ ज्ञानस्य ज्ञानिनां चैव, निन्दाप्रद्वेषमत्सरैः। उपघातैश्च विघ्नैश्च, ज्ञानघ्नं कर्म बध्यते ॥ २ ॥ अयं श्लोकः, प्रतौ प्रथमोऽस्ति ततः पढमं नाणं० आ.। २ ०सिद्धनु० आ.। सा. केषुचिदादर्शेषु दृश्यते श्लोकोऽयमशुभक्रियाया ज्ञानपूर्विकायाः फलवत्ताज्ञापनाय न तदा विरोधः। ३ 'प्रणीतानि' इत्यपि। ४ प्रतीतानि आ. प्रणीतानि इ.।

'समेत्य'-केवलज्ञानेन करतलामलकन्यायेन ज्ञात्वा तथागताः—तीर्थकरत्वं केवलज्ञानं च गताः, 'श्रमणाः'-साधवो 'ब्राह्मणाः'-संयतासंयताः, लौकिकी वा वाचोयुक्तिः, किम्भूतास्त एवमाख्यान्तीति सम्बन्धः; तथा तथेति वा क्वचित्पाठः। यथा यथा समाधिमार्गो व्यवस्थितस्तथा तथा कथयन्ति, एतच्च कथयन्ति—यथा यत्किञ्चित्संसारान्तर्गतानामसुमतां दुःखम्-असातोदयस्वभावं, तत्प्रतिपक्षभूतं च सातोदयापादितं सुखं, तत्स्वयम्-आत्मना कृतं, नान्येन कालेश्वरादिना कृतमिति, तथा चोक्तम्-" सव्वो[1] पुव्वकयाणं कम्माणं पावए फलविवागं । अवराहेसु गुणेसु य णिमित्तमित्तं परो होइ ॥ १ ॥" एतच्चाहुस्तीर्थंकरगणधरादयः, तद्यथा-विद्या—ज्ञानं, चरणं-चारित्रं, क्रिया तत्प्रधानो मोक्षस्तमुक्तवन्तो, न ज्ञानक्रियाभ्यां परस्परनिरपेक्षाभ्यामिति, तथा चोक्तम्—"क्रियां च सज्ज्ञानवियोगनिष्फलां, क्रियाविहीनां च विबोधसम्पदम् । निरस्यता क्लेशसमूहशान्तये, त्वया शिवायालिखितेव पद्धतिः ॥ १ ॥" ॥ ११ ॥ किञ्च-'ते चक्खु लोगंसिह' इत्यादि, 'ते'-तीर्थकर-गणधरादयोऽतिशयज्ञानिनोऽस्मिन् लोके चक्षुरिव चक्षुर्वर्तन्ते, यथा हि चक्षुर्योग्यदेशावस्थितान् पदार्थान् परिच्छिनत्ति एवं तेऽपि लोकस्य यथावस्थितपदार्थाविष्करणं कारयन्ति, तथाऽस्मिन् लोके ते नायकाः-प्रधानाः, तुशब्दो विशेषणे, सदुप-देशदानतो नायका इति, एतदेवाह-'मार्गं'-ज्ञानादिकं मोक्षमार्गं, 'अनुशासति[3]'-कथयन्ति, प्रजानां-प्रजायन्त इति प्रजाः—प्राणिनस्तेषां, किम्भूतं ?, हितं-सद्गतिप्रापकमनर्थनिवारकं च । किञ्च-चतुर्दशरज्ज्वात्मके लोके पञ्चास्तिकायात्मके

१ सा. १ नेदं प्रत्यन्तरे । २ सर्वः पूर्वकृतानां कर्मणां प्राप्नोति फलविपाकं । अपराधेषु गुणेषु च निमित्तमात्रं परो भवति ॥ १ ॥ ३ ०भासंति आ. ।

वा येन येन प्रकारेण द्रव्यास्तिकनयाभिप्रायेण यद्वस्तु शाश्वतं तत्तथा 'तं[1] आहुः'–उक्तवन्तः, यदि वा लोकोऽयं प्राणिगणः संसारान्तर्वर्ती यथा यथा शाश्वतो भवति तथा तथैवाहुः, तद्यथा—यथा यथा मिथ्यादर्शनाभिवृद्धिस्तथा शाश्वतो लोकः, तथाहि–तत्र तीर्थकराहारकवर्ज्या[2]ः सर्व एव कर्मबन्धाः सम्भाव्यन्त इति। तथा[3] च महारम्भादिभिश्चतुर्भिः स्थानैर्जीवा नरकायुष्कं यावन्निर्वर्तयन्ति तावत्संसारानुच्छेद इति। अथवा यथा यथा रागद्वेषादिवृद्धिस्तथा तथा संसारोऽपि शाश्वत इत्याहुः। यथा यथा च कर्मोपचयमात्रा तथा तथैव संसाराभिवृद्धिरिति। दुष्टमनोवाक्कायाभिवृद्धौ वा संसाराभिवृद्धिरवगन्तव्या, तदेवं संसारस्याभिवृद्धिर्भवति। 'यस्मिंश्च'–संसारे, प्रजायन्त इति 'प्रजाः'–जन्तवः, हे मानव!, मनुष्याणामेव प्रायश उपदेशार्हत्वान्मानवग्रहणं, सम्यग्नारकतिर्यङ्नरामरभेदेन 'प्रगाढाः'–प्रकर्षेण व्यवस्थिता इति ॥ १२ ॥ लेशतो जन्तुभेदप्रदर्शनद्वारेण तत्पर्यटनमाह—

जे रक्खसा वा[4] जमलोइया वा, जे वा[5] सुरा गंधव्वा य काया। आगासगामी य पुढोसिया जे[6], पुणो पुणो विप्परियासुवेंति ॥ १३ ॥ जमाहु ओहं सलिलं अपारगं, जाणाहि णं भवगहणं दुमोक्खं। जंसी विसन्ना विसयंगणाहिं, दुहओऽवि लोयं अणुसंचरंति ॥ १४ ॥ न कम्मुणा कम्म खवेंति बाला, अकम्मुणा कम्म खवेंति धीरा। मेधाविणोलोभमयावतीता, संतोसिणो नो पकरेंति पावं ॥ १५ ॥ ते तीयउप्पन्नमणागयाइं, लोगस्स जाणंति तहागयाइं। णेतारो अन्नेसि अणन्नणेया, बुद्धा हु ते अंतकडा भवंति ॥ १६ ॥

१ तथा आहुः आ. । २ °वर्जाः आ. । ३ यथा आ. इ. । ४ या आ. इ. । ५ य आ. इ. । ६ वीरा आ. ।

'जे रक्खसा' इत्यादि, 'ये' केचन व्यन्तरभेदा राक्षसात्मानः, तद्ग्रहणाच्च सर्वेऽपि व्यन्तरा गृह्यन्ते तथा यमलौकिकात्मानः, अ(म्बाम्ब)म्बर्ष्यादयस्तदुपलक्षणात् सर्वे भवनपतयः तथा ये च 'सुराः'–सौधर्मादिवैमानिकाः चशब्दाज्ज्योतिष्काः सूर्यादयः, तथा ये 'गान्धर्वाः'–विद्याधरा व्यन्तरविशेषा वा, तद्ग्रहणं च प्रधान्यख्यापनार्थं, तथा 'कायाः'–पृथिवीकायादयः षडपि गृह्यन्त इति। पुनरन्येन प्रकारेण सत्त्वान्संजिघृक्षुराह—ये केचन 'आकाशगामिनः' संप्राप्ताकाशगमनलब्धयश्चतुर्विधदेवनिकायविद्याधरपक्षिवायवः, तथा ये च 'पृथिव्याश्रिताः'–पृथिव्यप्तेजोवनस्पतिद्वित्रिचतुष्पञ्चेन्द्रियास्ते सर्वेऽपि स्वकृतकर्मभिः पुनः पुनर्विविधम्–अनेकप्रकारं पर्यासंपरिक्षेपमरहट्टघटीन्यायेन परिभ्रमणमुप—सामीप्येन यान्ति–गच्छन्तीति ॥ १२ ॥ किञ्चान्यत्—'जमाहु' इत्यादि, 'यं' संसारसागरम् आहुः–उक्तवन्तस्तीर्थंकरगणधरादयस्तद्विदः, कथमाहुः?, स्वयम्भुरमणसलिलौघवदपारं, यथा स्वम्भुरमणसलिलौघो न केनचिज्जलचरेण स्थलचरेण वा लङ्घयितुं शक्यते, एवमयमपि संसारसागरः सम्यग्दर्शनमन्तरेण लङ्घयितुं न शक्यत इति दर्शयति—'जानीहि'–अवगच्छ, णमिति वाक्यालङ्कारे, भवगहनमिदं—चतुरशीतियोनिलक्षप्रमाणं यथासम्भवं सङ्ख्येयासङ्ख्येयानन्तस्थितिकं दुःखेन मुच्यत इति, दुर्मोक्षं—दुरुत्तरमस्तिवादिनामपि, किं पुनर्नास्तिकानाम्?, पुनरपि भवगहनोपलक्षितं संसारमेव विशिनष्टि—'यत्र'–यस्मिन् संसारे सावद्यकर्मानुष्ठायिनः कुमार्गपतिता असत्समवसरणग्राहिणो 'विषण्णाः'–अवसक्ता विषयप्रधाना अङ्गना विषयाङ्गनास्ताभिः, यदिवा विषयाश्चाङ्गनाश्च विषयाङ्गनास्ताभिर्वशीकृताः सर्वत्र सदनुष्ठानेऽवसीदन्ति, त एवं विषयाङ्गनादिके पङ्के

१ °धर्मा° आ. इ.।

विषण्णा 'द्विधाऽपि'–आकाशाश्रितं पृथिव्याश्रितं च लोकं, यदि वा स्थावरजङ्गमलोकं 'अनुसंचरन्ति'–गच्छन्ति, यदि वा–'द्विधाऽपि' इति लिङ्गमात्रप्रव्रज्ययाऽविरत्या (च) रागद्वेषाभ्यां वा लोकं–चतुर्दशरज्ज्वात्मक स्वकृतकर्मप्रेरिता 'अनुसञ्चरन्ति'–बम्भ्रम्यन्त इति ॥ १४ ॥ किञ्चान्यत्–'न कम्मुणा' इत्यादि, ते एवमसत्समवसरणाश्रिता मिथ्यात्वादिभिर्दोषैरभिभूताः सावद्येतरविशेषानभिज्ञाः सन्तः कर्मक्षपणार्थमभ्युद्यता[1] निर्विवेकतया सावद्यमेव कर्म कुर्वते, न च 'कर्मणा'–सावद्यारम्भेण 'कर्म'–पापं 'क्षपयन्ति'–ऽ[2]पनयन्ति, अज्ञानत्वाद्बाला इव बालास्त इति, यथा च कर्म क्षिप्यते[3] तथा दर्शयति–'अकर्मणा तु'–आश्रवनिरोधेन तु अन्तशः शैलेश्यव[4]स्थायां कर्म क्षपयन्ति 'वीराः'[5]–महासत्त्वाः सद्वैद्या इव चिकित्सयाऽऽमयानिति । मेधा–प्रज्ञा सा विद्यते येषां ते मेधाविनः—हिताहितप्राप्तिपरिहाराभिज्ञा लोभमयं–परिग्रहमेवातीताः परिग्रहातिक्रमाल्लोभातीताः–वीतरागा–इत्यर्थः, 'सन्तोषिणः'–येन केनचित्सन्तुष्टा अवीतरागा अपीति, यदि वा यत एवातीतलोभा अत एव सन्तोषिण इति, त एवंभूता भगवन्तः 'पापम्'–असदनुष्ठानापादितं कर्म 'न कुर्वन्ति'–नाददति क्वचित्पाठः, 'लोभभयादतीताः'–लोभश्च भयं च समाहारद्वन्द्वः, लोभाद्वा भयं तस्मादतीताः सन्तोषिण इति, न पुनरुक्ताशङ्का विधेयेति, अतो ([6]विधेयाऽत्र यतो) लोभातीतत्वेन प्रतिषेधांशो दर्शितः, सन्तोषिण इत्यनेन च विध्यंश इति । यदि वा लोभातीतग्रहणेन समस्तलोभाभावः संतोषिण इत्यनेन तु सत्यप्यवीतरागत्वे नोत्कटलोभा इति लोभाभावं दर्शयन्नपरकषायेभ्यो लोभस्य प्राधान्यमाह, ये च लोभातीतास्तेऽवश्यं पापं न कुर्वन्ति इति स्थितम् ॥ १५ ॥ ये च लोभा-

१ °मप्यु० आ. । २ अपन० आ. इ. । ३ क्षप्यते आ. इ. । ४ °वस्थया आ. इ. । ५ धीरा आ । ६ ××××××× लो० आ. इ. ।

तीतास्ते किम्भूता भवन्ति इत्याह–'ते तीय०' इत्यादि, 'ते'–वीतरागा अल्पकषाया वा 'लोकस्य'–पञ्चास्तिकायात्मकस्य प्राणिलोकस्य वाऽतीतानि—अन्यजन्माचरितानि उत्पन्नानि–वर्तमानावस्थायीनि अनागतानि–च भावान्तरभावीनि सुखदुःखादीनि 'तथागतानि' यथैव स्थितानि तथैव अवितथं जानन्ति, न विभङ्गज्ञानिन इव विपरीतं पश्यन्ति, तथाह्यागमः–"अणगारे णं भंते! माई मिच्छादिट्ठी रायगिहे णयरे समोहए वाणारसीए नयरीए रूवाइं जाणइ पासइ?, जाव से से दंसणे विवज्जासे भवति" इत्यादि, ते चातीतानागतवर्तमानज्ञानिनः प्रत्यक्षज्ञानिनश्चतुर्दशपूर्वविदो वा परोक्षज्ञानिनः 'अन्येषां'–संसारोत्तितीर्षूणां भव्यानां मोक्षं प्रति नेतारः सदुपदेशं वा प्रत्युपदेष्टारो भवन्ति, न च ते स्वयम्बुद्धत्वादन्येन नीयन्ते—तत्त्वार्थबोधं कार्य(धवन्तः क्रिय)न्त इत्यनन्यनेयाः, हिताहितप्राप्तिपरिहारं प्रति नान्यस्तेषां नेता विद्यत इति भावः। ते च 'बुद्धाः'–स्वयंबुद्धास्तीर्थकरगणधरादयः, हुशब्दश्चशब्दार्थे विशेषणे वा, तथा च प्रदर्शित एव, ते च भवान्तकराः संसारोपादनभूतस्य वा कर्मणोऽन्तकरा भवन्तीति॥ १६॥

यावदद्यापि भवान्तं न कुर्वन्ति तावत्प्रतिषेध्यमंशं दर्शयितुमाह—

ते णेव कुव्वन्ति ण कारवंति, भूताहिसंकाइ दुगुंछमाणा। सया जता विप्पणमंति धीरा, विण्णत्ति

सा. १ अनगारो भदन्त! मायी मिथ्यादृष्टिः राजगृहे नगरे समवहतः वाराणस्यां नगर्यां रूपाणि जानाति पश्यति?, यावत्स तस्य दर्शनविपर्यासो भवति। २ वाऽप्रत्यक्षज्ञानिनः आ. इ.। सा. ३ तदा स्वयं पदार्थानां ज्ञातारस्ते इति स्वयमित्यादि। ४ तत्त्वाववोधकार्यं त इत्य० प्र०। ५ xxxxx न्त. आ. इ.। सा. ६ च प्र०।

(णाय) धीरा य हवंति ऐगे[1] ॥ १७ ॥ डहरे य पाणे वुड्ढे य पाणे, ते आत्तओ[2] पासइ सव्वलोए । उव्वेहती लोगमिणं महंतं, बुद्धेऽपमत्तेसु[3] परिव्वएज्जा ॥ १८ ॥ जे आयओ परओ वावि[4] णच्चा, अलमप्पणो होंति अलं परेसिं । तं जोइभूतं च सयावसेज्जा, जे पाउकुज्जा अणुवीति धम्मं ॥ १९ ॥ अत्ताण जो जाणत्ति जोय लोगं, गैइं[5] च जो जाणइ[6] णागइं च । जो सासयं जाण असासयं च, जातिं(च[7]) मरणं च जणोववायं ॥ २० ॥

'ते णेव कुव्वन्ति' इत्यादि, 'ते'-प्रत्यक्षज्ञानिनः परोक्षज्ञानिनो वा विदितवेद्याः सावद्यमनुष्ठानं भूतोपमर्दाभिशङ्कया पापं कर्म जुगुप्समानाः[8] सन्तो न स्वतः कुर्वन्ति, नाप्यन्येन कारयन्ति, कुर्वन्तमप्यपरं नानुमन्यन्ते । तथा स्वतो न मृषावादं जल्पन्ति, नान्येन जल्पयन्ति, नाप्यपरं जल्पन्तमनुजनान्ति; एवमन्यान्यपि महाव्रतान्यायोज्यानीति । तदेवं 'सदा'-सर्वकालं 'यताः'-संयताः पापानुष्ठानान्निवृत्ता विविधं-संयमानुष्ठानं प्रति 'प्रणमन्ति'-प्रह्वीभवन्ति । के ते?[9], 'धीराः'-महापुरुषा इति । तथैके केचन हेयोपादेयं विज्ञायापिशब्दात्[10] सम्यक्परिज्ञाय[11] तदेव निःशङ्कं यज्जिनैः प्रवेदितमित्येवंकृतनिश्चयाः कर्मणि विदारयितव्ये वीरा भवन्ति, यदि वा परीषहोपसर्गानीकविजयाद्वीरा इति पाठान्तरं वा 'विण्णत्तिवीरा ये[12] भवंति

१ तेगे इ. । २ आततो इ. ।, आयओ. आ. । ३ बुद्धप्प० आ. इ. । ४ यावि आ., तावि इ. । ५ आगइं आ. । ६ जाणत आ. । ७ × आ. इ । सा. ८ जुगुप्सन्तः प्र० आ. । जुगुप्सां कुर्वन्त इति नामधातोः चैव शतरि । ९ ××××× के आ. । सा. १० चकारोऽपिशब्दार्थे यद्वा धीरावि इति भविष्यति । ११ ०य वा त० प्र०, आ. । १२ × भ. आ. इ. ।

एगे'' 'एके'–केचन गुरुकर्माणोऽल्पसत्त्वाः विज्ञप्तिः–ज्ञानं, तन्मात्रेणैव वीरा नानुष्ठानेन, न च ज्ञानादेवाभिलषितार्थावाप्तिरुपजायते, तथाहि—"अधीत्य शास्त्राणि भवन्ति मूर्खा, यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान्। संचिन्त्यतामौषधमातुरं हि, न ज्ञानमात्रेण करोत्यरोगम् ॥ १ ॥" ॥ १७ ॥ कानि पुनस्तानि भूतानि ?, यच्छङ्कयाऽऽरम्भं जुगुप्सन्ति सन्त इत्येतदाशङ्कयाह–'डहरे य' इत्यादि, ये केचन 'डहरे'त्ति–लघवः–कुन्थ्वादयः–सूक्ष्मा वा, ते सर्वेऽपि प्राणाः–प्राणिनः ये च वृद्धाः–बादरशरीरिणस्तान्सर्वानप्यात्मतुल्यान्—आत्मवत्पश्यति–सर्वस्मिन्नपि लोके यावत्प्रमाणं मम तावदेव कुन्थोरपि, यथा वा मम दुःखमनभिमतमेवं सर्वलोकस्यापि[1], सर्वेषामपि[2] प्राणिनां दुःखमुत्पद्यते, दुःखाद्वोद्विजन्ति[3], तथा चागमः—"पुढविकाए[4] णं भंते ! अक्कंते समाणे केरिसयं वेयणं वेएइ !" इत्याद्याः सूत्रालापकाः, इति मत्वा तेऽपि नाक्रमितव्या–न संघट्टनीयाः, इत्येवं यः पश्यति स पश्यति। तथा लोकमिमं महान्तमुत्प्रेक्षते, षड्जीवसूक्ष्मबादरभेदैराकुलत्वान्महान्तं, यदि–वाऽनाद्यनिधनत्वान्महान् लोकः, तथाहि–भव्या अपि केचन सर्वेणापि कालेन न सेत्स्यन्तीति, यद्यपि द्रव्यतः षड्द्रव्यात्मकत्वात् क्षेत्रतश्चतुर्दशरज्जुप्रमाणतया सावधिको लोकस्तथापि कालतो भावतश्चानाद्यनिधनत्वात् पर्यायाणां चानन्तत्वान्महान् लोकस्तमुत्प्रेक्षत इति। एवं च लोकमुत्प्रेक्षमाणो बुद्धः–अवगततत्त्वः सर्वाणि[5] प्राणिस्थानान्यशाश्वतानि, तथा नात्रापसदे संसारे सुखलेशोऽप्यस्तीत्येवं मन्यमानः 'अप्रमत्तेषु'–संयमानुष्ठायिषु[6] यतिषु मध्ये तथाभूत एव परिः–समन्ताद्व्रजेत्

सा. १ संवन्धे षष्ठी अपिना देशादिव्यवच्छेदः। २ उपचरितसर्वज्ञत्वव्यवच्छेदाय, भिन्नं वा वाक्यमेतत्। ३ °चोद्वि० आ.। सा. ४ पृथ्वीकायिको भदन्त ! आक्रान्तः सन् कीदृशीं वेदनां वेदयति ?। ५ सर्वाणि स्थाना० प्र०, आ. इ.। ६ सत्संय० आ. इ.।

परिव्रजेत्, यदि वा बुद्धः सन् 'प्रमत्तेषु'–गृहस्थेषु अप्रमत्तः सन् संयमानुष्ठाने परिव्रजेदिति ॥१८॥ किञ्च––'जे आयओ' इत्यादि, 'यः'–स्वयं सर्वज्ञ आत्मनस्त्रैलोक्योदरविवरवर्तिपदार्थदर्शी यथाऽवस्थितं लोकं ज्ञात्वा, तथा यश्च गणधरादिकः 'परतः'–तीर्थकरादेर्जीवादीन् पदार्थान् विदित्वा परेभ्य उपदिशति, स एवंभूतो हेयोपादेयवेदी 'आत्मनस्त्रातुमलं', आत्मानं संसारावटात् पालयितुं समर्थो भवति, तथा परेषां च सदुपदेशदानतस्त्राता जायते, 'तं'–सर्वज्ञं स्वत एव सर्ववेदिनं तीर्थकरादिकं परतोवेदिनं च गणधरादिकं 'ज्योतिर्भूतं'–पदार्थप्रकाशकतया चन्द्रादित्यप्रदीपकल्पमात्महितमिच्छन् संसारदुःखोद्विग्नः कृतार्थमात्मानं भावयन् 'सततम्'–अनवरतम् 'आवसेत्'–सेवेत, गुर्वन्तिक एव यावज्जीवं वसेत्, तथा चोक्तम्––"नाणस्स[1] होइ भागी थिरयरओ दंसणे चरित्ते य। धन्ना आवकहाए गुरुकुलवासं ण मुंचंति ॥ १ ॥" क एवं कुर्युः ?, इति दर्शयति––ये कर्मपरिणतिमनुविचिन्त्य "माणुस्सखेत्तजाइ" इत्यादिना दुर्लभां च सद्धर्मावाप्तिं सद्धर्मं वा श्रुतचारित्राख्यं क्षान्त्यादिदशविधसाधुधर्मं श्रावकधर्मं वा 'अनुविचिन्त्य'–पर्यालोच्य ज्ञात्वा वा तमेव धर्मं यथोक्तानुष्ठानतः 'प्रादुष्कुर्युः'–प्रकटयेयुः ते गुरुकुलवासं यावज्जीवमासेवन्त इति, यदि वा ये ज्योतिर्भूतमाचार्यं सततमासेवन्ति[2] त एवागमज्ञा धर्ममनुविचिन्त्य 'लोकं'–पञ्चास्तिकायात्मकं चतुर्दशरज्ज्वात्मकं वा प्रादुष्कुर्युरिति क्रिया ॥ १९ ॥ किंचान्यत्–'अत्ताण' इत्यादि, यो ह्यात्मानं परलोकयायिनं शरीराद्व्यतिरिक्तं सुखदुःखाधारं जानाति यश्चात्महितेषु प्रवर्तते स आत्मज्ञो भवति। येन चात्मा यथावस्थितस्वरूपोऽहंप्रत्ययग्राह्यो निर्ज्ञातो[3] भवति तेनैवायं सर्वोऽपि लोकः प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपो विदितो भवति, स

सा. १ ज्ञानस्य भवति भागी स्थिरतरो दर्शने चारित्रे च। धन्या यावत्कथं गुरुकुलवासं न मुञ्चन्ति ॥ १ ॥ २ ०सेवन्ते आ.। ३ सा. ०भिज्ञातो प्र०।

एव चात्मज्ञोऽस्तीत्यादिक्रियावादं भाषितुमर्हतीति[1] द्वितीयवृत्तस्यान्ते क्रिया। यश्च 'लोकं'–चराचरं वैशाखस्थानस्थकटिस्थकरयुग्मपुरुषाकारं चशब्दादलोकं चानन्ताकाशास्तिकायमात्रं जानाति, यश्च जीवानाम् 'आगतिम्'–आगमनं कुतः समागता नारकास्तिर्यञ्चो मनुष्या[2]देवाः?, कैर्वा कर्मभिर्नारकादित्वेनोत्पद्यन्ते?, ए[3]वं यो जानाति, तथा 'अनागतिं च'–अनागमनं च, कुत्र गतानां नागमनं भवति?, चकारात्तद्गमनोपायं च सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकं यो जानाति, तत्रानागतिः––सिद्धिरशेषकर्मच्युतिरूपा लोकाग्राकाशदेशस्थानरूपा वा ग्राह्या, सा च सादिरपर्यवसाना। यश्च 'शाश्वतं'–नित्यं सर्ववस्तुजातं द्रव्यास्तिकनया[4]श्रयाद् 'अशाश्वतं'–वाऽनित्यं प्रतिक्षणविनाशै[5]रूपं पर्यायनयाश्रयणात्, चकारान्नित्यानित्यं चोभयाकारं सर्वमपि वस्तुजातं यो जानाति, तथा ह्यागमः–"[6]णेरइया दव्वट्ठयाए सासया, भावट्ठयाए असासया" एवमन्येऽपि तिर्यगादयो द्रष्टव्याः। अथवा निर्वाणं–शाश्वतं संसारः–अशाश्वतस्तद्गतानां संसारिणां स्वकृतकर्मवशगानामितश्चेतश्च गमनादिति। तथा 'जातिम्'–उत्पत्तिं नारकतिर्यङ्मनुष्यामरजन्मलक्षणां, 'मरणं च'–आयुष्कक्षयलक्षणं, तथा जायन्त इति जनाः––सत्त्वास्तेषामुपपातं यो जानाति, स च नारकदेवयोर्भवतीति। अत्र च जन्मचिन्तायामसुमतामुत्पत्तिस्थानं योनिर्भणनीया, सा च सचित्ताऽचित्ता मिश्रा च तथा शीता उष्णा मिश्रा च तथा संवृता विवृता मिश्रा चेत्येवं सप्तविंशतिविधेति। मरणं—पुनस्तिर्यङ्मनुष्योः, च्यवनं–ज्योतिष्कवैमानिकानाम्, उद्वर्तना—भवनपतिव्यन्तरनारकाणामिति ॥२०॥ किञ्च—

१ ०तीत्यादि आ.। २ देवा वा कैः आ. इ.। ३ इत्येवं आ. इ.। ४ °श्रयणादशा० आ। ५ °शस्वरूपं. आ। सा. ६ नैरयिका द्रव्यार्थतया शाश्वता भावार्थतया अशाश्वताः।

अहोऽवि सत्ताण विउट्टणं च, जो आसवं जाणति संवरं च। दुक्खं च जो जाणति निज्जरं च, सो भासिउमरिहइ किरियवादं ॥ २१ ॥ सद्देसु रूवेसु असज्जमाणो, गंधेसु रसेसु अदुस्समाणे। णो जीवितं णो मरणाहिकंखी, आयाणगुत्ते वलया विमुक्के ॥ २२ ॥ त्तिबेमि। इति श्रीसमवसरणाध्ययनं द्वादशमं समत्तं ॥ (गाथाग्र० ५६८) ॥

'अहोऽवि' इत्यादि, 'सत्त्वानां'–स्वकृतकर्मफलभुजामधस्तान्नारकादौ दुष्कृतकर्मकारिणां विविधां विरूपां वा कुट्टनां—जातिजरामरणरोगशोककृतां शरीरपीडां, च शब्दात्तदभावोपायं यो जानाति, इदमुक्तं भवति—सर्वार्थसिद्धादारतोऽधःसप्तमीं नरकभुवं यावदसुमन्तः सकर्माणो विवर्तन्ते, तत्रापि ये गुरुतरकर्माणस्तेऽप्रतिष्ठाननरकयायिनो भवन्तीत्येवं यो जानीते। तथा आश्रवत्यष्टप्रकारं कर्म येन स आश्रवः, स च प्राणातिपातरूपो रागद्वेषरूपो वा मिथ्यादर्शनादिको वेति तं तथा 'संवरम्'–आश्रवनिरोधरूपं यावदशेषयोगनिरोधस्वभावं, चकारात्–पुण्यपापे यो च जानीते तथा 'दुःखम्'–असातोदयरूपं तत्कारणं च यो जानाति, 'सुखं'–च तद्विपर्ययभूतं यो जानाति, तपसा यो निर्जरां च, इदमुक्तं भवति—यः कर्मबन्धहेतून् तद्विपर्यासहेतूंश्च तुल्यतया जानाति, तथाहि—"यथाप्रकारा यावन्तः, संसारावेशहेतवः। तावन्तस्तद्विपर्यासाः, निर्वाणावेशहेतवः ॥ १ ॥" स एव परमार्थतो 'भाषितुं'–वक्तुमर्हति, किं तद्?, इत्याह—क्रियावादम्, अस्ति

१ °माणे आ. इ.। २ असज्ज० इ.। ३ त्तिबेमि। छ। समोसरणं समत्तं। आ. त्तिबेमि छ। समोसरणं सम्मत्तं। छ। द्वादशमध्ययनं समाप्तं। छ। इ. ४ ×निर्ज० आ.।

जीवोऽस्ति, पुण्यमस्ति, पापमस्ति च पूर्वाचरितस्य कर्मणः फलमित्येवंरूपं वादमिति । तथाहि–जीवाजीवाश्रवसंवरबन्धपुण्यपापनिर्जरामोक्षरूपा नवापि पदार्थाः श्लोकद्वयेनोपात्ताः, तत्र य आत्मानं जानातीत्यनेन जीवपदार्थः, लोकमित्यनेनाजीवपदार्थः, तथा गत्यनागतिः[1] शाश्वतेत्यादिना[2]ऽनयोरेव स्वभावो[3]पदर्शनं कृतं, तथाऽऽश्रवसंवरौ स्वरूपेणैवोपात्तौ, दुःखमित्यनेन[4] तु बन्धपुण्यपापानि गृहीतानि, तदविनाभावित्वाद्दुःखस्य, निर्जरायास्तु स्वाभिधानेनैवोपादानं, तत्फलभूतस्य च मोक्षस्योपादानं द्रष्टव्यमिति, तदेवमेतावन्त एव पदार्थास्तदभ्युपगमेन चास्तीत्यादिकः क्रियावादोऽभ्युपगतो भवतीति, यश्चैतान् पदार्थान् 'जानाति'–अभ्युपगच्छति स परमार्थतः क्रियावादं जानाति । ननु चापरदर्शनोक्तपदार्थपरिज्ञानेन[5] सम्यग्वादित्वं कस्मान्नाभ्युपगम्यते ?, तदुक्तपदार्थानामेवाघटमानत्वात्, तथाहि–नैयायिकदर्शनेन तावत्प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानीत्येते षोडश पदार्था अभिहिताः, तत्र हेयोपादेय(निर्वृत्ति[6])प्रवृत्तिरूपतया येन पदार्थपरिच्छित्तिः क्रियते तत्प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणं, तच्च प्रत्यक्षानुमानोपमानशाब्द[7]भेदाच्चतुर्द्धा, तत्रेन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षं, तदत्रेन्द्रियार्थयोर्यः संबन्धस्तस्माद्यदुत्पन्नं, नाभिव्यक्तं[8], ज्ञानं न सुखादिकम्[9], अव्यपदेश्यमिति व्यपदेश्यत्वे शाब्दप्राप्तेः[10], अव्यभिचारि तद्धि द्विचन्द्रज्ञानवद्व्यभिचरतीति, व्यवसायात्मकमिति निश्चयात्मकं प्रत्यक्षं, तत्रास्य प्रत्यक्षता न बुध्य(युज्य)ते, तथाहि–यत्रा-

१ गत्यागतिः आ. । सा. २ आदिनाऽशाश्वतं । ३ अजीवपक्षेऽनागतिः स्थितिः यद्वा जीवानां ते अजीवकृते इति । ४ वैषयिकसुखस्य दुःखरूपत्वान्न दुःखस्य पुण्याविनाभावत्वानुपपत्तिः । ५ ज्ञानाच्छ्रद्धा ततः प्ररूपणेति सम्यग्वादित्वशङ्का । ६ ·××× प्र० आ. इ. । ७ शब्द. इ. । सा. ८ जैनानां ह्यात्मा ज्ञानस्वरूप इतीन्द्रियादिनाऽभिव्यज्यते ज्ञानं तेषां तूत्पद्यते । ९ सुखस्यापीन्द्रियार्थोत्पन्नत्वात् । १० ×× ते आ. इ. ।

त्माऽर्थग्रहणं प्रति साक्षाद्व्याप्रियते तदेव प्रत्यक्षं, तच्चावधिमनःपर्यायकेवलात्मकम्, [1]एतच्चापरोपाधिद्वारेण प्रवृत्तेरनुमानवत्परोक्षमिति, उपचारप्रत्यक्षं तु स्यात्, न चोपचारस्तत्त्वचिन्तायां व्याप्रियत इति । अनुमानमपि पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतो दृष्टमिति त्रिधा, तत्र कारणात् कार्यानुमानं पूर्ववत्[2], कार्यात्कारणानुमानं शेषवत्; सामान्यतो दृष्टं तु चूतमेकं विकसितं दृष्ट्वा पुष्पिताश्चूता जगतीति। यदि वा देवदत्तादौ गतिपूर्विकां स्थानात् स्थानान्तरावाप्तिं दृष्ट्वाऽऽदित्येऽपि गत्यनुमानमिति, तत्राप्यन्यथानुपपत्तिरेव गमिका, न कारणादिकं, तया विना कारणस्य कार्यं प्रति व्यभिचारात्, यत्र तु सा विद्यते तत्र कार्यकारणादिव्यतिरेकेणापि गम्यगमकभावो दृष्टः, तद्यथा–भविष्यति शकटोदयः, कृत्तिकादर्शनादिति; तदुक्तम्–"अन्यथाऽनुपपन्नत्वं, यत्र तत्र त्रयेण किम्?, । नान्यथाऽनुपपन्नत्वं, यत्र तत्र त्रयेण किम्?; ॥ १ ॥" अपि च–प्रत्यक्षस्याप्रामाण्ये तत्पूर्वक[3]स्यानुमानस्याप्रामाण्यमिति। प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानं, यथा गौर्गवयस्तथा, अत्र च सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसंबन्धप्रतिपत्तिरुपमानार्थः, अत्रापि सिद्धायामन्यथाऽनुपपत्तावनुमानलक्षणत्वेन तत्रैवान्तर्भावात् पृथक्प्रमाणत्वमनुपपन्नमेव; अथ नास्त्यनुपपत्तिस्ततो व्यभिचारादप्रमाणतोपमानस्य। शाब्दमपि न सर्वं प्रमाणं, किं तर्हि?, आप्तप्रणीतस्यैवागमस्य प्रामाण्यं, न चार्हद्व्यतिरेकेणापरस्याप्तता युक्तियुक्तेति, एतच्चान्यत्र निर्लोठितमिति । किञ्च–सर्वमप्येतत्प्रमाणमात्मनो ज्ञानं, ज्ञानं [6]चात्मनो गुणः(गुणश्च) पृथक्पदार्थतयाऽभ्युपगन्तुं न युक्तो, रूपरसादीनामपि पृथक्पदार्थताऽऽपत्तेः । अथ प्रमेयग्रहणेनेन्द्रियार्थतया

सा० १ इन्द्रियार्थोत्थं । २ ०वत् तथा आ. । ३ ०स्याप्यनु° क्षा. इ. । ४ ०मानस्य ल० आ. । ५ नास्त्यन्यथानुप° आ. इ. । ६ चात्म×गुणः ××° आ. ।

तेऽप्याश्रिताः, सत्यमाश्रिताः, न तु युक्तियुक्ताः, तथाहि–द्रव्यव्यतिरेकेण तेषामभावात् तद्ग्रहणे च तेषामपि ग्रहणं सिद्धमेवेति न युक्तं पृथगुपादानम् । प्रमेयं त्वात्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गाः, तत्रात्मा सर्वस्य द्रष्टोपभोक्ता चे(स चे)च्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानानुमेयः, स च जीवपदार्थतया गृहीत एवास्माभिरिति, शरीरं तु तस्य भोगायतनं, भोगायतनानीन्द्रियाणि, भोक्तव्या इन्द्रियार्थाः, एतदपि शरीरादिकं जीवाजीवग्रहणेनोक्तमस्माभिरिति । उपयोगो बुद्धिरित्येतच्च ज्ञानविशेषः, स च जीवगुणतया जीवोपादानतयो(नेनो)पात्त एव । सर्वविषयमन्तःकरणं युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिलिङ्ग–मनः, तदपि द्रव्यमनः पौद्गलिकमजीवग्रहणेन गृहीतं, भावमनस्त्वात्मगुणत्वाज्जीवग्रहणेनेति । आत्मनः सुखदुःखसंवेदनानां निर्वर्तनकारणं प्रवृत्तिः, सापि पृथक्पदार्थतया नाभ्युपगन्तुं युक्ता, तथाहि–प्रवृत्तिरित्यात्मेच्छा, सा चात्मगुण एव, आत्माऽभिप्रायतया ज्ञानविशेषत्वाद्, आत्मानं दूषयतीति दोषः, तद्यथा–अस्यात्मनो नेदं शरीरमपूर्वम्, अनादित्वादस्य, नाप्यनुत्तरम्, अनन्तत्वात् सन्ततेरिति, (शरीरेऽपूर्वतया सान्ततया वा)योऽयमात्मनोऽध्यवसायः स दोषो रागद्वेषमोहादिको वा दोषः, अयमपि दोषो जीवाभिप्रायतया तदन्तर्भावीति न पृथग्वाच्यः । प्रेत्यभावः–परलोकसद्भावोऽयमपि ससाधनो जीवाजीवग्रहणेनोपात्तः, फलमपि–सुखदुःखोपभोगात्मकं, तदपि जीवगुण एवान्तर्भवतीति न पृथगुपदेष्टव्यमिति, दुःखमित्येतदपि विविधबाधनयोगरूपमिति न फलादतिरिच्यते, जन्ममरणप्रबन्धोच्छेदरूपतया सर्वदुःखप्रहाणलक्षणो मोक्षः, स चास्माभिरुपात्त एवेति । किमित्यनवधारणात्मकः प्रत्ययः–संशयः, असावपि निर्णयज्ञानवदात्मगुण एवेति, येन प्रयुक्तः

१ °नां या नि० आ. । २ xxxxxxxxxxxx यो आ. इ. । ३ वाधना० आ० इ. । ४ किमेतदित्य० इ. ।

प्रवर्तते तत्प्रयोजनं, तदपीच्छाविशेषत्वादात्मगुण एव, अविप्रतिपत्तिविषयापन्नोऽर्थो दृष्टान्तः, असावपि जीवाजीवयोरन्यतरः, न चैतावताऽस्य पृथक्पदार्थता युक्ता, अतिप्रसङ्गाद्, अवयवग्रहणेन च तस्योत्तरत्र ग्रहणादिति। सिद्धान्तश्चतुर्विधः, तद्यथा—सर्वतन्त्राविरुद्धस्तन्त्रेऽधिकृतोऽर्थः-सर्वतन्त्रसिद्धान्तः १, यथा-स्पर्शनादीनीन्द्रियाणि, स्पर्शादयइन्द्रियार्थाः, प्रमाणैः प्रमेयस्य ग्रहणमिति १; समानतन्त्रसिद्धः-परतन्त्रासिद्धः प्रतितन्त्रसिद्धान्तो यथा साङ्ख्यानां नासत आत्मलाभो न च सतः सर्वथा विनाश इति, तथा चोक्तम्-"नासतो जायते भावो, नाभावो जायते सतः" इति २, यत्सिद्धावन्यस्यार्थस्यानुषङ्गेण सिद्धिः सोऽधिकरणसिद्धान्तः ३, यथेन्द्रियव्यतिरिक्तो ज्ञाताऽऽत्माऽस्ति दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणादिति, तत्रानुषङ्गिणोऽर्थाः १, इन्द्रियनानात्वं २, नियतविषयाणीन्द्रियाणि ३, स्वविषयग्रहणलिङ्गानि च ४, ज्ञातुर्ज्ञानसाधनानि ५, स्पर्शादिगुणव्यतिरिक्तं-द्रव्यं ६, गुणाधिकरणं ७, अनियतविषयाश्चेतनाः ८ इति; पूर्वार्थसिद्धावेतेऽर्थाः सिध्यन्ति, नैतैर्विना पूर्वार्थः संभवतीति ३, अपरीक्षितार्थाभ्युपगमात्तद्विशेषपरीक्षणमभ्युपगमसिद्धान्तः ४, तद्यथा-किं शब्दः?, इति विचारे; कश्चिदाह—अस्तु द्रव्यं शब्दः, स तु किं नित्योऽथानित्यः?, इत्येवं विचारः; स चायं चतुर्विधोऽपि सिद्धान्तो न ज्ञानविशेषादतिरिच्यते, ज्ञानविशेषस्यात्मगुणत्वाद्गुणस्य च गुणिग्रहणेन ग्रहणाद् न पृथगुपादानमिति ४। अथावयवाः-प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि, तत्र साध्यनिर्देशः-प्रतिज्ञा. यथा-नित्यः शब्दोऽनित्यो वेति, हिनोति-गमयति प्रतिज्ञातमर्थमिति-हेतुः, तद्यथा-उत्पत्तिधर्मकत्वात्, साध्यसाधर्म्य[1]वैधर्म्य[2]भावे दृष्टान्तः-उदाहरणं, यथा-घट इति, वैधर्म्योदाहरणं-यदनित्यं न भवति तदुत्पत्तिमदपि न भवति

१ 'र्म्यात्तद्धर्मभावी° आ.। २ मन्नपि × भ० आ.।

यथाऽऽकाशमिति, तथा न तथेति वा पक्षधर्मोपसंहारः—उपनयः, तद्यथा—अनित्यः शब्दः कृतकत्वाद् घटवत्तथा चायं, अनित्यत्वाभावे कृतकत्वमपि न भवत्याकाशवत् न तथाऽयमिति, प्रतिज्ञाहेत्वोः पुनर्वचनं निगमनं, तस्मादनित्य इति, ते चामी पञ्चाप्यवयवा यदि शब्दमात्रं ततः शब्दस्य पौद्गलिकत्वात् पुद्गलानां चाजीवग्रहणेन ग्रहणान्न पृथगुपादानं न्याय्यम्। अथ तज्ज्ञं ज्ञानं ततो जीवगुणत्वात् जीवग्रहणेनैवोपादानमिति, ज्ञानविशेषपदार्थताऽभ्युपगमे च पदार्थबहुत्वं स्याद्, अनेकप्रकारत्वाज्ज्ञानविशेषाणामिति। संशयादूर्ध्वं भवितव्यताप्रत्ययः सदर्थपर्यालोचनात्मकस्तर्कः, यथा भवितव्यमत्र स्थाणुना पुरुषेण वेति, अयमपि ज्ञानविशेष एव, न च ज्ञानविशेषाणां ज्ञातुरभिन्नानां पृथक् पदार्थपरिकल्पनं समनुजानते विद्वांसः। संशयतर्काभ्यामुत्तरकालभावी निश्चयात्मकः प्रत्ययो निर्णयः, अयमपि प्राग्वन्न ज्ञानादतिरिच्यते, किञ्च—अस्य निश्चयात्मकतया प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तर्भावान्न पृथग् निर्देशो न्याय्य इति। तिस्रः कथाः–वादो जल्पो वितण्डा चेति, तत्र प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः, स च तत्त्वज्ञानार्थं शिष्याचार्ययोर्भवति, स एव विजिगीषुणा सार्धं छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः, स एव प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डेति; तत्रा[1]सां तिसृणामपि कथानां भेद एव नोपपद्यते, यतस्तत्त्वचिन्तायां तत्त्वनिर्णयार्थं वादो विधेयो, न [2]छलजल्पादिना तत्त्वावगमः कर्तुं पार्यते, छलादिकं हि परवञ्चनार्थमुपन्यस्यते, न च तेन तत्त्वावगतिः इति सत्यपि भेदे [3]नैवासां पदार्थता, यतो यदेव परमार्थतो वस्तुवृत्त्या वस्त्वस्ति तदेव परमार्थतयाऽभ्युपगन्तुं युक्तम्, वादास्तु पुरुषेच्छावशेन भवन्तोऽनियता वर्तन्ते ([4]तत्)

१ तत्रामी आ. । २ ०जात्यादिना आ. । ३ नै×षां आ, ना×सां इ. । ४ ××न आ. ।

न तेषां पदार्थतेति, किञ्च–पुरुषेच्छानुविधायिनो वादाः कुक्कुटलावकादिष्वपि पक्षप्रतिक्षपरिग्रहेण भवन्त्यतस्तेषामपि तत्त्वप्राप्तिः स्यान्न चैतदिष्यत इति । असिद्धानैकान्तिकविरुद्धा हेत्वाभासाः, हेतुवदाभासन्त इति हेत्वाभासाः, तत्र सम्यग्घेतूनामपि न तत्त्वव्यवस्थितिः किं पुन[1]स्तदाभासानां ?, तथाहि—इह यन्नियतं वस्त्वस्ति तदेव तत्त्वं भवितुमर्हति, हेतवस्तु क्वचिद्वस्तुनि साध्ये हेतवः क्वचिदहेतव इत्यनियतास्त इति । अथ 'छलम्'–अर्थविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्येति, तत्रार्थविशेषे विवक्षितेऽभिहिते वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना––वाक्छलं, यथा––नवकम्बलोऽयं देवदत्तः, अत्र च नवः कम्बलोऽस्येति वक्तुरभिप्रायो विग्रहे च विशेषो न समासे, तत्रायं छलवादी नव कम्बला अस्येत्येतद्भवताऽभिहितमिति कल्पयति, न चायं तथेत्येवं प्रतिषेधयति, तत्र छलमित्यसदर्थाभिधानं, तद्यदि छलं न तर्हि तत्त्वं, तत्त्वं चेन्न तर्हि छलं, परमार्थरूपत्वात्तत्त्वस्येति, तदेवं छलं तत्त्वमित्यतिरिक्ता वाचोयुक्तिः । दूषणाभासास्तु जातयः, तत्र सम्यग्दूषणस्यापि न तत्त्वव्यवस्थितिः, अनियतत्वात्, अनियतत्त्वं च यदेवैकस्मिन् सम्यग्दूषणं तदेवान्यत्र दूषणाभासं, पुरुषशक्त्यपेक्षत्वाच्च दूषणदूषणाभासव्यवस्थितेरनियतत्वमिति कुतः पुनर्दूषणाभासरूपाणां जातीनाम् ?, अवास्तवत्त्वात्तासामिति । वादकाले वादी प्रतिवादी वा येन निगृह्यते तन्निग्रहस्थानं, तच्च वादिनोऽसाधनाङ्गवचनं प्रतिवादिने[2]स्तद्दो(श्रु[3] तत्तद्दो)षोद्भावनं विहाय यदन्यदभिधीयते नैयायिकैस्तत्प्रलापमात्रमिति, तच्च प्रतिज्ञाहानिः, प्रतिज्ञान्तरं प्रतिज्ञाविरोध इत्यादिकम्; एतच्च विचार्यमाणं न निग्रहस्थानं भवितुमर्हति, भवदपि च पुरुषस्यैवापराधं कर्तुमलं, न त्वेतत्तत्त्वं भवितुमर्हति, वक्तृगुणदोषौ हि परार्थेऽनु-

१ °स्तथा° आ. । २ °नस्तव° आ. । ३ ×××× षो॰ आ. इ. ।

मानेऽधिक्रियेते न तु तत्त्वमिति, तदेवं न नैयायिकोक्तं तत्त्वं तत्त्वेनाश्रयितुं युज्यते, तस्योक्तनीत्या सदोषत्वादिति। नापि वैशेषिकोक्तं तत्त्वमिति, तथाहि–द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायास्तत्त्वमिति, तत्र पृथिव्यप्तेजोवायुकाशं कालो दिगात्मा मन इति नव द्रव्याणि, तदत्र पृथिव्यप्तेजोवायूनां पृथग्द्रव्यत्वमनुपपन्नं, तथाहि—त एव परमाणवः प्रयोगविस्रसाभ्यां पृथिव्यादित्वेन परिणमन्तोऽपि न स्वकीयं द्रव्यत्वं त्यजन्ति, न चावस्थाभेदेन द्रव्यभेदो युक्तः, अतिप्रसङ्गादिति। आकाशकालयोश्चास्माभिरपि द्रव्यत्वमभ्युपगतमेव, दिशस्त्वाकाशावयवभूताया अनुपपन्नं पृथग्द्रव्यत्वमतिप्रसङ्गदोषादेव, आत्मनश्च स्वशरीरमात्रव्यापिन उपयोगलक्षणस्याभ्युपगतमेव द्रव्यत्वमिति, मनसश्च पुद्गलविशेषतया पुद्गलद्रव्येऽन्तर्भाव इति [परमाणुवत्], भावमनसश्च जीवगुणत्वादात्मन्यन्तर्भाव इति। यदपि तैरभिधीयते, यथा पृथिवीत्वयोगात् पृथिवीति, तदपि स्वप्रक्रियामात्रमेव, यतो न हि पृथिव्याः पृथग्भूतं पृथिवीत्वमपि येन तद्योगात् पृथिवी भवेद्, अपि तु सर्वमपि यदस्ति तत्सामान्यविशेषात्मकं नरसिंहाकारमुभयस्वभावमिति, तथा चोक्तम्—"नान्वयः स हि भेदत्वान्न भेदोऽन्वयवृत्तितः। मृद्भेदद्वयसंसर्गवृत्तिजा(र्जा)त्यन्तरं घटः॥ १॥" तथा–" न नरः सिंहरूपत्वान्न सिंहो नररूपतः। शब्दविज्ञानकार्याणां, भेदाज्जात्यन्तरं हि सः॥ १॥" इत्यादि। अथ रूपरसगन्धस्पर्शा रूपिद्रव्यवृत्तेर्विशेषगुणाः, तथा सङ्ख्यापरिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे इत्येते--सामान्यगुणाः सर्वद्रव्यवृत्तित्वात्, तथा बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्कारा आत्मगुणाः, गुरुत्वं पृथिव्युदकयोर्द्रवत्वं पृथिव्युदकाग्निषु स्नेहोऽम्भस्येव वेगाख्यः संस्कारो मूर्तद्रव्येष्वेव

१ ×शरीर° आ. इ.। २ ×त्य. आ. इ.।

आकाशगुणः शब्द इति। तत्र सङ्ख्यादयः सामान्यगुणा रूपादिवद्द्रव्यस्वभा([1]वाभा)वत्वेन परोपाधिकत्वाद्गुणा एव न भवन्ति, अथापि स्युस्तथापि न गुणानां पृथक्त्वव्यवस्था, तत्[2]पृथक्त्वभावे द्रव्यस्वरूपहानेः ' गुणपर्यायवद् द्रव्य ' (तत्त्वा० अ०५,सूत्र०३७;)मिति कृत्वा अतो नान्तरीयकतया द्रव्यग्रहणेनैव ग्रहणं न्याय्यमिति न पृथग्भावः। किञ्च–तस्य भावस्तत्त्वमित्युच्यते, भावप्रत्ययश्च यस्य गुणस्य हि भावाद् द्रव्ये शब्दनिवेशस्तदभिधाने 'त्वतला'वित्यनेन भवति, तत्र घटो रक्त उदकस्याहारको जलवान् सर्वैरेव घट उच्यते; अत्र च घटस्य भावो घटत्वं, रक्तस्य भावो रक्तत्वं, आहारकस्य भाव आहारकत्वं, जलवतो भावो जलवत्त्वमित्यत्र घटसामान्यरक्तगुणक्रियाद्रव्यसंबन्धरूपाणां गुणानां सद्भावात् द्रव्ये पृथुबुध्नाकार उदकाद्याहरणक्षमे कुटकाख्ये शब्दस्य घटादेरभिनिवेशस्तत्र त्वतलौ, इह च रक्ताख्यः को गुणो?, यत् सद्भावात्, कतरच्च तद् द्रव्यं यत्र शब्दनिवेशो येन भावप्रत्यः स्यादिति?। किमिदानीं रक्तस्य भावो रक्तत्वमिति न भवितव्यं?, भवितव्यमुपचारेण, तथाहि—रक्त इत्येतद्द्रव्यत्वेनोपचर्य तस्य [3]सामान्यं भाव इति रक्तत्वमिति, न चोपचारस्तत्त्वचिन्तायामुपयुज्यते, शब्दसिद्धावेव तस्य कृतार्थ[4]त्वादिति। शब्दश्चाकाशस्य गुण एव न भवति, तस्य पौद्गलिकत्वाद्, आकाश[5]स्य चामूर्तत्वादिति। शेषं तु प्रक्रियामात्रं न साधनदूषणयोरङ्गम्। क्रियाऽपि द्रव्यसमवायिनी गुणवत्पृथगाश्रयितुं न युक्तेति। अथ सामान्यं, तद्द्विधा–परमपरं च, तत्र परं महासत्ताख्यं द्रव्यादिपदार्थव्यापि, तथा चोक्तम्—"सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता" अपरं च द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वात्मकं, तत्र न तावन्महासत्तायाः पृथक्पदार्थता युज्यते, यतस्तस्यां यः सदिति प्रत्ययः

१ ×× आ. इ। २ °पृथक्भावे आ. इ.। सा. ३ समानस्वभावो भावः। ४ गुणस्य पदार्थस्वरूपत्वान्न पृथक्पदार्थता। ५ °स्या आ.।

स किमपरसत्तानिबन्धन उत स्वत एव ?, तत् यद्यपरसत्तानिबन्धनस्तत्राप्ययमेव विकल्पोऽतोऽनवस्था । अथ स्वत एव ततस्तद्वद् द्रव्यादिष्वपि स्वत एव सत्प्रत्ययो भविष्यतीति किमपरसत्तयाऽजागलस्तनकल्पया विकल्पितया ?, । किञ्च—द्रव्यादीनां किं सतां सत्तया सत्प्रत्यय उतासतां ?, तत् यदि सतां स्वत एव सत्प्रत्ययो भविष्यति किं तया ?, असत्पक्षे तु शशविषाणादिष्वपि सत्तायोगात् सत्प्रत्ययः स्यादिति; तथा चोक्तम्—"स्वतोऽर्थाः सन्तु सत्तावत्सत्तया किं सदात्मनाम् ? । असदात्मसु नैषा स्यात्सर्वथाऽतिप्रसङ्गतः ॥ १ ॥" इत्यादि । एतदेव दूषणमपरसामान्येऽप्यायोज्यं, तुल्ययोगक्षेमत्वात् । किञ्च—अस्माभिरपि सामान्यविशेषरूपत्वाद्वस्तुनः कथञ्चित्तदिष्यत एवेति, तस्य च कथञ्चित्तदव्यतिरेकाद् द्रव्यग्रहणेनैव ग्रहणमिति । अथ विशेषाः, ते चात्यन्तव्यावृत्तिबुद्धिहेतुत्वेन परैराश्रीयन्ते, तत्रेदं चिन्त्यते—या तेषु विशेषबुद्धिः सा नापरविशेषहेतुकाऽऽश्रयितव्या, अनवस्थाभयात्, स्वतः समाश्रयणे च तद्वद् द्रव्यादिष्वपि विशेषबुद्धिः स्यात्किं द्रव्यादिव्यतिरिक्तैर्विशेषैरिति ?, द्रव्याव्यतिरिक्तास्तु विशेषा अस्माभिरप्याश्रीयन्ते, सर्वस्य सामान्यविशेषात्मकत्वादिति । एतत्तु प्रक्रियामात्रं, तद्यथा—नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषाः, नित्यद्रव्याणि च चतुर्विधाः परमाणवो मुक्तात्मानो मुक्तमनांसि च, इति निर्युक्तिकत्वादपकर्णयितव्यमिति । समवायस्तु—अयुतसिद्धानामाधाराधेयभूतानां य इह प्रत्ययहेतुः स समवाय इत्युच्यते, असावपिनित्यश्चैकश्चाश्रीयते, तस्य च नित्यत्वात् समवायिनोऽपि नित्या आपद्येरन्, तदनित्यत्वे च तस्याप्यनित्यत्वापत्तिः, तदा-

सा. १ द्रव्यादिभिन्नया । २ ×कल्पितया आ. । ३ ०वृत्त० आ. । सा. ४ वक्ष्यमाणं । एतत् आ. । सा. ५ एतन्निरूपणं । ६ अपरविशेषभावयोर्दोषात् । ७ °नित्य एक० आ. इ. ।

धाररूपत्वात्तस्य, तदेकत्वाच्च सर्वेषां समवायिनामेकत्वापत्तिः, तस्य चानेकत्वमिति। किञ्च–अयं समवाय संबन्धः, तस्य च द्विष्ठत्वाद् [1]युतसिद्धत्वमेव दण्डदण्डिनोरिव, वीरणानां च कटोत्पत्तौ तद्रूपतया विनाशः कटरूपतयोत्पत्तिर[2]न्वयरूपतया ऽव्यवस्थानमिति दुग्धदध्नोरिवेत्येवं वैशेषिकमतेऽपि न सम्यक् पदार्थावस्थितिरिति। साम्प्रतं साङ्ख्यदर्शने तत्त्वनिरूपणं प्रक्रम्यते–तत्र प्रकृत्यात्मसंयोगात्सृष्टिरुपजायते, प्रकृतिश्च सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था, ततो महान्, महतोऽहङ्कारः, अहङ्कारादेकादशेन्द्रियाणि, पञ्चतन्मात्राणि,तन्मात्रेभ्यः पञ्च भूतानीति, चैतन्यं पुंरुषस्य [3]स्वरूपं, स चाकर्ता निर्गुणो भोक्तेति। तत्र परस्परविरुद्धानां सत्त्वादीनां गुणानां प्रकृत्यात्मनां नियामकं गुणिमन्तरेणैकत्रावस्थानं न युज्यते, कृष्णसितादिर्गुणानामिव, न च महदादिविकारे जन्ये प्रकृतिवैषम्योत्पादने कश्चिद्धेतुः, तद्व्यतिरिक्तवस्त्वन्तरानभ्युपगमाद्, आत्मनश्चाकर्तृत्वेनाकिञ्चित्करत्वात्, स्वभाववै[5]षम्याभ्युपगमे तु निर्हेतुकत्वापत्तेर्नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा स्यादिति, उक्तं च—"नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वाऽहेतोरन्यानपेक्षणात्। अपेक्षातो हि भावानां, कादाचित्कत्वसंभवः ॥ १ ॥" अपि च––महदहङ्कारौ संवेदनादभिन्नौ पश्यामः, तथाहि––बुद्धिरध्यवसायोऽहङ्कारश्चाहं सुख्यहं दुःखीत्येवमात्मकः प्रत्ययः, [6]तयोश्चिद्रूपतयाऽऽत्मगुणत्वं, न जडरूपायाः प्रकृतेर्विकारावेताविति। अपि च–येयं तन्मात्रेभ्यो भूतोत्पत्तिरिष्यते, तद्यथा––गन्धतन्मात्रात् पृथिवी, रसतन्मात्रादापः, रूपतन्मात्रात्तेजः, स्पर्शतन्मात्राद्वायुः, शब्दतन्मात्रादाकाशमिति; साऽपि न युक्तिक्षमा, यतो यदि बाह्यभूताश्रयेणैतदभिधीयते, तदयुक्तं; तेषां

सा. १ युग्मयोर्भिन्नत्वेन। २ ०न्वयिरूप० आ.। ३ स्वं रूपं आ.। सा. ४ पृथग्भूता वर्णा ग्राह्याः, वर्णमयानि द्रव्याणि, तेषां गुणानां वा स्वयं द्रव्यान्तरेण यथा नावस्थानं विरुद्धानां। सा. ५ °वैधर्म्या० प्र०। ६ तयोश्च चि० आ. इ.।

सर्वदा भावात्, न कदाचिदनीदृशं जगदितिकृत्वा। अथ प्रतिशरीराश्रयणादेतदुच्यते, तत्र किल त्वगस्थि कठिनलक्षणा पृथ्वी, श्लेष्मासृग्, द्रवलक्षणा आपः, पक्तिलक्षणं तेजः, प्राणापानलक्षणो वायुः, शुषिरलक्षणमाकाशमिति, तदपि न युज्यते। यतोऽत्रापि केषाञ्चिच्छरीराणां शुक्रासृक्प्रभवोत्पत्तिः, न तत्र तन्मात्राणां गन्[1]धोऽपि समुपलक्ष्यते, अदृष्ट[2]स्यापि कारणत्वकल्पनेऽतिप्रसङ्गः स्यात्। अण्डजोद्भिज्जाङ्कुरादीनामप्यन्यत एवोत्पत्तिर्भवन्ती समुपलक्ष्यते, तदेवं व्यवस्थिते प्रधानमहदहङ्कारादिकोत्पत्तिर्या सांख्यैः स्वप्रक्रिययाऽभ्युपगम्यते तत्तैर्निर्युक्तिकमेव स्वदर्शनानुरागेणाभ्युपगम्यत इति। आत्मनश्चाकर्तृत्वाभ्युपगमे कृतनाशोऽकृ[3]तागमश्च स्यात् बन्धमोक्षाभावश्च, निर्गुणत्वे च ज्ञानशून्यतापत्तिरित्यतो बालप्रलापमात्रं, प्रकृतेश्चाचेतनाया आत्मार्थं प्रवृत्तिर्युक्तिविकलेति। अथ बौद्धमतं निरूप्यते—तत्र हि पदार्था द्वादशायतनानि, तद्यथा—चक्षुरादीनि पञ्च रूपादयश्च विषयाः पञ्च शब्दायत[4]नं धर्मायतनं च, धर्माः—सुखादयो द्वादशायतनपरिच्छेदके प्रत्यक्षानुमाने द्वे एव प्रमाणे, तत्र चक्षुरादी(दिद्रव्ये)न्द्रियाण्यजीवग्रहणेनैवोपात्तानि, भावेन्द्रियाणि तु जीवग्रहणेनेति, रूपादयश्च विषया अजीवोपादानेनोपात्ता न पृथगुपादातव्याः, शब्दायतनं तु पौद्गलिकत्वाच्छब्दस्याजीवग्रहणेन गृ[5]हीतं, न च प्रतिव्यक्ति पृथक्पदार्थतायुक्तिसंगतेति, धर्मात्मकं सुखं दुःखं च यद्यसा(ता[6]सा)तोदयरूपं ततो जीवगुणत्वाज्जीवेऽन्तर्भावः; अथ तत्कारणं कर्म ततः पौद्गलिकत्वादजीव इति। प्रत्यक्षं च तैर्निर्विकल्पकमिष्यते, तच्चानिश्चयात्मकतया प्रवृत्तिनिवृत्त्योरनङ्गमित्यप्रमाणमेव,

---

सा. १ गन्धः सवंन्धलेशयोः। २ तन्मात्रापञ्चकस्य। ३ °कृताभ्याग० आ. इ.। सा. ४ मानसमिति शब्दान्तरं, तस्य शब्दमयविचारात्मकत्वात्। ५ ग्रहणं आ. इ.। ६××तो० आ. इ.।

तदप्रामाण्ये तत्पूर्वकत्वादनुमानमपीति, शेषस्त्वाक्षेपपरिहारोऽन्यत्र सुविचारित इति नेह प्रतन्यत इत्यनया दिशा मीमांसकलोकायतमताभिहिततत्त्वनिराकरणं स्वबुद्ध्या विधेयं, तयोरत्यन्तलोकविरुद्धपदार्थानां[1] श्रयणान्न साक्षादुपन्यासः कृत इति। तस्मात् पारिशेष्यसिद्धा[2] अर्हदुक्ता नव सप्त वा पदार्थाः सत्याः, तत्परिज्ञानं च क्रियावादे हेतुः, नापरपदार्थपरिज्ञानमिति ॥२१॥ साम्प्रतमध्ययनार्थमुपसंजिहीर्षुः सम्यग्वादपरिज्ञानफलमादर्शयन्नाह–' सद्देसु ' इत्यादि, ' शब्देषु '–वेणुवीणादिषु श्रुतिसुखदेषु, ' रूपेषु च '–नयनानन्दकारिषु, ' आसङ्गमकुर्वन् '–गार्ध्यमकुर्वाणः, अनेन रागो गृहीतः; तथा ' गन्धेषु '–कुथितकलेवरादिषु[3], ' रसेषु च '–अन्तप्रान्ताशनादिषु अदुष्यमाणोऽमनोज्ञेषु द्वेषमकुर्वन्; इदमुक्तं भवति––शब्दादिष्विन्द्रियविषयेषु मनोज्ञेतरेषु रागद्वेषाभ्यामनपदिष्यमानो ' जीवितम् '–असंयमजीवितं नाभिकाङ्क्षेत्, नापि परीषहोपसर्गैरभिद्रुतो[4] मरणमभिकाङ्क्षेत्, यदि वा जीवितमरणयोरनभिलाषी संयममनुपालयेदिति। तथा मोक्षार्थिनाऽऽदीयते–गृह्यत इत्यादानं––संयमस्तेन तस्मिन्वा सति गुप्तो, यदि वा––मिथ्यात्वादिनाऽऽदीयते इत्यादानम्–अष्टप्रकारं कर्म तस्मिन्नादातव्ये मनोवाक्कायैर्गुप्तः समितश्च, तथा भाववलयं–माया तया विमुक्तो मायामुक्तः। इतिः–परिसमाप्त्यर्थे। ब्रवीमीति पूर्ववत्। नयाः–पूर्ववदेव ॥ २२ ॥ समाप्तं समवसरणाख्यं द्वादशमध्ययनमिति[5] ॥ १२ ॥

१ °पदार्थाश्र० आ.। २ ०सिद्धा आ० आ.। ३ °कडेवरा० आ. इ.। ४ ०भूतो आ.। ५ ग्रंथतः ८४८ । छ । द्वादशस्वाप्यध्ययनेषु ग्रंथतः–७८५३ । छ । आँ, ग्रंथतः ८०८ । द्वादशस्वाप्यध्ययनेषु ग्रंथतः–७८२३ । छ । इ.।

॥ अथ त्रयोदशं श्रीयाथातथ्याध्ययनं प्रारभ्यते ॥

समाप्तं समवसरणाख्यं–द्वादशमध्ययनं, तदनन्तरं त्रयोदशमारभ्यते । अस्य चायमभिसंबन्धः–इहानन्तराध्ययने परवादिमतानि निरूपितानि तन्निराकरणं चाकारि, तच्च याथातथ्येन भवति, तदिह प्रतिपाद्यते इत्यनेन संबन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति, तत्राप्युपक्रमद्वारान्तर्गतोऽर्थाधिकारोऽयं, तद्यथा—शिष्यगुणदीपना, अन्यच्च—अनन्तराध्ययनेषु धर्मसमाधिमार्गसमवसरणाख्येषु यदवितथं याथातथ्येन व्यवस्थितं, यच्च विपरीतं वितथं तदपि लेशतोऽत्र प्रतिपादयिष्यत इति । नामनिष्पन्ने तु निक्षेपे याथातथ्यमिति नाम, तदधिकृत्य निर्युक्तिकृदाह—

णामतहं ठवणतहं दव्वतहं चेव होइ भावतहं । दव्वतहं पुण जो जस्स सभावो होति दव्वस्स ॥१२२॥
भावतहं पुण नियमा णायव्वं छव्विहंमि भावंमि । अहवाऽवि नाणदंसणचरित्तविणएण[1] अज्झप्पे ॥१२३॥
जह सुत्तं तह अत्थो चरणं चारो[2] तहत्ति णायव्वं । संतंमि [यं][3] पसंसाए असती पगयं दुगुंछाए ॥१२४॥
आयरियपरंपरएण आगयं जो उ छेयबुद्धीए । कोवेइ छेयवाई जमालिनासं स णासिहिति[4] ॥१२५॥
ण करोति दुक्खमोक्खं उज्जममाणोऽवि संजमतवेसुं । तम्हा अत्तुक्करिसो वज्जेअव्वो जतिजणेणं[5] ॥१२६॥

---

१ °विणएय अ. आ. । २ ०ति जहा तहाय ना० अ. आ. । ३ य×सं० अ. आ. । ४ वणासीहिती अ. आ. । ५ आयतहं सम्मत्तं अ. आ. ।

'णामतहं' इत्यादि, अस्याध्ययनस्य याथातथ्यमिति नाम, तच्च यथातथाशब्दस्य भावप्रत्ययान्तस्य भवति। तत्र यथाशब्दोल्लङ्घनेन तथाशब्दस्य निक्षेपं कर्तुर्निर्युक्तिकारस्यायमभिप्रायः—इह यथाशब्दोऽयमनुवादे वर्तते, तथाशब्दश्च विधेयार्थे, तद्यथा—यथैवेदं व्यवस्थितं तथैवेदं भवता विधेयमिति, अनुवादविधेययोश्च विधेयांश एव प्रधानभावमनुभवतीति, यदि वा—याथातथ्यमिति तथ्यमतस्तदेव निरूप्यत इति। तत्र तथाभावस्तथ्यं—यथावस्थितवस्तुता, तन्नामादि चतुर्धा, तत्र नामस्थापने सुगमे। द्रव्यतथ्यं गाथापश्चार्धेन प्रतिपादयति, तत्र द्रव्यतथ्यं पुनर्यो 'यस्य'—सचित्तादेः स्वभावो द्रव्यप्राधान्याद्यद्यस्य स्वरूपं, तद्यथा—उपयोगलक्षणो जीवः, कठिनलक्षणा पृथिवी; द्रवलक्षणा आप इत्यादि। मनुष्यादेर्वा यो यस्य मार्दवादिः स्वभावोऽचित्तद्रव्याणां च गोशीर्षचन्दनकम्बलरत्नादीनां द्रव्याणां स्वभावः, तद्यथा—उण्हे करेइ सीयं सीए उण्हत्तणं पुण करेइ। कंबलरयणादीणं एस सहावो मुणेयव्वो ॥ १ ॥ भावतथ्यमधिकृत्याह—'भावतहं' इत्यादि, भावतथ्यं पुनः 'नियमतः'—अवश्यंभावतया षड्विधे औदयिकादिके भावे ज्ञातव्यं, तत्र कर्मणामुदयेन निर्वृत्त औदयिकः—कर्मोदयापादितो गत्याद्यनुभावलक्षणः, तथा कर्मोपशमेन निर्वृत्त औपशमिकः—कर्मानुदयलक्षण इत्यर्थः, तथा क्षयाज्जातः क्षायिकः—अप्रतिपातिर्ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणः, तथा क्षयादुपशमाच्च जातः क्षायोपशमिको—देशोदयोपशमलक्षणः, परिणामेन निर्वृत्तः परिणामिको—जीवाजीवभव्यत्वादिलक्षणः, पञ्चानामपि भावानां द्विकादिसंयोगान्निष्पन्नः सान्निपातिक इति।

---

१ यथे×दं आ। सा. २ उष्णे कुर्वन्ति शीतं शीते उष्णत्वं पुनः कुर्वन्ति। कम्बलरत्नादीनां एष स्वभावो ज्ञातव्यः ॥ १ ॥ ३ ०भवल० आ. इ. । सा. ४ ज्ञानाद्यनुगतत्वान्न वीर्यादेः पृथगुपादानम्।

यदि वा--' अध्यात्मनि ' आन्तरं चतुर्धा भावतथ्यं द्रष्टव्यं, तद्यथा--ज्ञानदर्शनचारित्रविनयतथ्यमिति, तत्र ज्ञानतथ्यं-मत्यादिकेन ज्ञानपञ्चकेन यथास्वमवितथो विषयोपलम्भः, दर्शनतथ्यं-शङ्काद्यतिचाररहितं जीवादितत्त्वश्रद्धानं, चारित्रतथ्यं-तु तपसि द्वादशविधे संयमे सप्तदशविधे सम्यगनुष्ठानं, विनयतथ्यं-द्वि[1]चत्वारिंशद्भेदभिन्ने विनये ज्ञानदर्शनचारित्रतपऔपचा-रिकरूपे यथायोगमनुष्ठानं; ज्ञानादीनां तु वितथाऽऽसेवनेनातथ्यमिति । अत्र च भावतथ्येनाधिकारः, यदि वा भावतथ्यं प्रशस्ताप्रशस्तभेदाद्द्विधा, तदिह प्रशस्तेनाधिकारं दर्शयितुमाह-' जह सुत्तं ' इत्यादि, 'यथा'-येन प्रकारेण यथा पद्धत्या सूत्रं व्यवस्थितं 'तथा'-तेनैव प्रकारेण, 'अर्थो' व्याख्येयोऽनुष्ठेयश्च एतद्दर्शयति-'चरणम्'-आचरणमनुष्ठातव्यं, यदि वा सिद्धान्तसूत्रस्य चारित्रमेवाचरणम्, अतो यथा सूत्रं तथा चारित्रमेतदेव चानुष्ठेयमेतच्च याथातथ्यमिति ज्ञातव्यम्। पूर्वार्धस्यैव भावार्थं गाथापश्चार्धेन दर्शयितुमाह—यद्वस्तुजातं 'प्रकृतं'-प्रस्तुतं, यमर्थमधिकृत्य सूत्रमकारि तस्मिन्नर्थे 'सति'-विद्यमाने यथावद्व्याख्यायमाने संसारोत्ता[2]रणकारणत्वेन प्रशस्यमाने वा याथातथ्यमिति भवति; विवक्षिते त्वर्थे 'असति'-अविद्यमाने संसारकारणत्वेन वा जुगुप्सायां सत्यां सम्यगननुष्ठीयमाने वा याथातथ्यं न भवति; इदमुक्तं भवति-यदि [यथा] सूत्रं येन प्र[3]कारेण व्यवस्थितं तथैवार्थो यदि भवति व्याख्यायतेऽनुष्ठीयते च संसारनिस्तरणसमर्थश्च भवति, ततो याथातथ्यमिति भवति, असति त्वर्थेऽक्रियमाणे च संसारकारणत्वेन जुगुप्सिते वा न भवति याथातथ्यमिति गाथातात्पर्यार्थः । एतदेव

सा. १ ज्ञानेऽष्टौ दर्शने चारित्रे च तपसि विनयस्य विधेयत्वादेकादश औपचारिके सप्तभेदरूपे, यद्वा क्रमेण पञ्चकसप्तदशद्वादशसप्तभेदरूपे । २ °त्तरण० आ इ. । ३ प्रक्रमेण. आ, ×क्रमेण. इ. ।

दृष्टान्तगर्भं दर्शयितुमाह—'आयरिय०' इत्यादि, आचार्याः-सुधर्मस्वामिजम्बूनामप्रभवार्यरक्षिताद्यास्तेषां प्रणालिका-पारम्पर्यं तेनागतं यद्व्याख्यानं—सूत्राभिप्रायः, तद्यथा-व्यवहारनयाभिप्रायेण क्रियमाणमपि कृतं भवति, यस्तु कुतर्कदर्पाध्मातमानसो मिथ्यात्वोपहतदृष्टितया 'छेकबुद्ध्या'-[1]निपुणबुद्ध्या-कुशाग्रीयशेमुषीकोऽहमितिकृत्वा, 'कोपयति'-दूषयति-अन्यथा तमर्थं सर्वज्ञप्रणीतमपि व्याचष्टे-कृतं कृतमित्येवं ब्रूयात्, वक्ति च-न हि मृत्पिण्डक्रियाकाल एव घटो निष्पद्यते, कर्मगुणव्यपदेशानामनुपलब्धेः, स एवं 'छेकवादी'-निपुणोऽहमित्येवंवादी पण्डिताभिमानी, 'जमालिनाशं'-जमालिनिह्नववत् सर्वज्ञमतविकोपको, 'विनङ्क्ष्यति'-अरहट्टघटीयन्त्रन्यायेन संसारचक्रवाले बंभ्रमिष्यतीति, न चासौ जानाति वराको यथा अयं लोको घटार्थाः क्रिया मृत्खननाद्या घट एवोपचरति, ([2]तत्त्वतः) तासां च क्रियाणां क्रियाकालनिष्ठाकालयोरेककालत्वात् क्रियमाणमेव कृतं भवति, दृश्यते चायं व्यवहारो लोके, तद्यथा-अद्यैव देवदत्ते निर्गते [3]कान्यकुब्जं देवदत्तो गत इति व्यपदेशः, (लोकोक्त्या) तथा दारुणि छिद्यमाने प्रस्थकोऽयं (इति) व्यपदेश इत्यादि। साम्प्रतमन्यथावादिनोऽपायदर्शनद्वारेणोपदेशं दातुकाम आह-'ण करेति' इत्यादि, यो हि दुर्गृहीतविद्यालवदर्पाध्मातः सर्वज्ञवचनैकदेशमप्यन्यथा व्याचष्टे स एवंभूतः सन् संयमतपस्सूद्यमं कुर्वाणोऽपि शारीरमानसानां दुःखानामसातोदयजनितानां मोक्षं—विनाशं न करोति आत्मगर्वाध्मातमानसो, यत एवं तस्मादात्मोत्कर्षः-अहमेव सिद्धान्तार्थवेदी नापरः कश्चित् मत्तुल्योऽस्तीत्येवंरूपोऽभिमानो वर्जनीयः-त्याज्यो 'यतिजनेन'-साधुलोकेन, अपरोऽपि ज्ञानिना जात्यादिको मदो न विधेयः, किं पुनर्ज्ञानमदः ?; तथा

१ xxxxx कु० आ.। २ xxx ता० आ. इ.। ३ कन्य० आ. इ.। ४ xxx तथा आ. इ.। ५ xx व्य० आ. इ.। ६ °त्कषः मु०।

चोक्तम्—"ज्ञानं मददर्पहरं माद्यति यस्तेन तस्य को वैद्यः ?। अगदो यस्य विषायति तस्य चिकित्सा कथं क्रियते ? ॥ १ ॥" [1]गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, साम्प्रतं सूत्रालापकनिष्पन्नस्य निक्षेपस्यावसरः, स च सूत्रे सति भवति, सूत्रं च सूत्रानुगमे, स चावसर[2]प्राप्तः, अतः सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं; तच्चेदम्—

आहत्त[3]हीयं तु पवेयइस्सं, नाणप्पकारं पुरिसस्स जातं। सओ अ धम्मं असओ असीलं, संतिं असंतिं करिस्सामि पाउं ॥ १ ॥ अहो य राओ अ समुट्ठिएहिं, तहागएहिं पडिलब्भ धम्मं। समाहिमाघातम[4]जोसयंता, सत्थारमेवं फरुसं वयंति ॥ २ ॥ विसोहियं ते[5] अणुकाहयंते; जे आतभावेण वियागरेज्जा। अट्ठाणिए होइ बहूगुणाणं, जे णाणसंकाइ मुसं वदेज्जा ॥ ३ ॥ जे यावि पुट्ठा पलिउंचयंति, आयाणमट्ठं खलु [6]वंचयित्ता (यन्ति)। असाहुणो ते इह साहुमाणी, मायण्णि एँसंति अणंतघातं ॥ ४ ॥

'आहत्तहीयं' इत्यादि, अस्य चानन्तरसूत्रेण सहायं संबन्धः, तद्यथा—वलयाविमुक्तेत्यभिहितं, भाववलयं—रागद्वेषौ, ताभ्यां वि[9]निर्मुक्तस्यैव याथातथ्यं भवतीत्[10]यनेन संबन्धेनायातस्यास्य सूत्रस्य व्याख्या प्रतन्यते—यथातथा[11]भावो याथातथ्यं—तत्त्वं परमार्थः, तच्च परमार्थचिन्तायां सम्यग्ज्ञानादिकं, तदेव दर्शयति—ज्ञानप्रकारमिति प्रकारशब्द आद्यर्थे, आदिग्रहणाच्च सम्यग्दर्शनचारित्रे गृह्येते, तत्र सम्यग्दर्शनम्—औपशमिकक्षायोपशमिकं गृह्यते, चारित्रं तु व्रतसमितिकषायाणां

१ इति गतो आ. इ. । २ °प्राप्त्येतः आ. । ३ ०हितं आ. इ. । ४ °झोसयंता इ. । ५ च आ. । ६ वंचयंति आ. इ. । ७ तेहिं आ. । ८ ०घंतं आ. इ. । ९ ××निर्मुक्त० आ. इ. । १० ०र्तीत्याद्यनेन आ. । ११ ०भावोऽयं याथा० इ. ।

धारणरक्षणनिग्रहादिकं गृह्यते, एतत्सम्यग्ज्ञानादिकं, ‘ पुरुषस्य ’–जन्तोर्[1]यज्ज्ञातम्–उत्पन्नं तदहं ‘ प्रवेदयिष्यामि ’–कथयिष्यामि, तुशब्दो विशेषणे, वितथाचारिणस्तद्दोषांश्चाविर्भावयिष्यामि, ‘ नानाप्रकारं ’–वा विचित्रं पुरुषस्य स्वभावम्–उच्चावचं प्रशस्ताप्रशस्तरूपं प्रवेदयिष्यामि । नानाप्रकारं स्वभावं फलं च पश्चार्धेन दर्शयति–‘ सतः ’–सत्पुरुषस्य शोभनस्य सदनुष्ठायिनः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रवतो ‘ धर्मं ’–श्रुतचारित्राख्यं दुर्गतिगमनधरणलक्षणं वा, तथा ‘ शीलम् ’–उद्युक्तविहारित्वं, तथा ‘ शान्तिं ’–निर्वृतिमशेषकर्मक्षयलक्षणां, ‘ करिस्सामि पाउ’त्ति प्रादुष्करिष्ये प्रकटयिष्यामि यथावद् उद्भावयिष्यामि, [ग्रन्थाग्र० ७०००] तथा ‘ असतः ’–अशोभनस्य परतीर्थिकस्य गृहस्थस्य वा पार्श्वस्थादेर्वा, चशब्दसमुच्चितमधर्मं–पापं, तथा ‘ अशीलं ’–कुत्सितशीलमशान्तिं च–अनिर्वाणरूपां संसृतिं प्रादुर्भावयिष्यामीति । अत्र च सतो धर्मं शीलं शान्तिं च प्रादुष्करिष्यामि, असतश्चाधर्ममशीलमशान्तिं चेत्येवं पदघटना योजनीया, अनुपात्तस्य [च] चशब्देनाक्षेपो द्रष्टव्य इति ॥ १ ॥ जन्तोर्गुणदोषरूपं नानाप्रकारं स्वभावं प्रवेदयिष्यामीत्युक्तं तद्दर्शयितुकाम आह–‘ अहो य ’ इत्यादि, ‘ अहोरात्रम् ’–अहर्निशं सम्यगुत्थिताः समुत्थिताः सदनुष्ठानवन्तस्तेभ्यः श्रुतधरेभ्यः, तथा ‘ तथागतेभ्यो ’–वा तीर्थकृद्भ्यो ‘ धर्मं ’–श्रुत–चारित्राख्यं प्रतिलभ्य–संसारनिःसरणोपायं धर्ममवाप्यापि कर्मोदयान्मन्दभाग्यतया जमालिप्रभृतय इहात्[2]मोत्कर्षात्तीर्थकृदा[3]द्याख्यातं, ‘समाधिं’–सम्यग्दर्शनादिकं मोक्षपद्धतिम्, ‘ अजोषयन्तः ’–अ[4]सेवन्तः सम्यग–

१ ×××××तु० आ. इ. । सा. २ इवा० प्र०, आ; इ. । ३ ०दाख्यातं आ. इ. । सा. ४ आत्मनेपदमनित्यं तेन परस्मायपि सिवेः, ध्वनितं चेदं धातुपारायणे ‘ जृग् ’ दीप्तौ इत्यादौ ।

कुर्वाणा निह्नवा बोटिकाश्च स्वरुचिविरचितव्याख्याप्रकारेण निर्दोषं सर्वज्ञप्रणीतं मार्गं विध्वंसयन्ति-कुमार्गं प्ररूपयन्ति, ब्रुवते च-असौ सर्वज्ञ एव न भवति, यः क्रियमाणं कृतमित्यध्यक्षविरुद्धं प्ररूपयति, तथा यः पात्रादिपरिग्रहान्मोक्षमार्गमाविर्भावयति, एवं सर्वज्ञोक्तमश्रद्दधानाः श्रद्धानं कुर्वन्तोऽप्यपरे धृतिसंहननदुर्बलतया यथाऽऽरोपितं संयमभारं वोढुमसमर्थाः क्वचिद्विषीदन्तोऽपरेणाचार्यादिना वत्सलतया चोदिताः सन्तस्तं 'शास्तारम्'-अनुशासितारं चोदकं पुरुषं वदन्ति, 'कर्कशं'-निष्ठुरं प्रतीपं चोदयन्तीति ॥ २ ॥ किञ्च--'विसोहीयं' इत्यादि, विविधम्-अनेकप्रकारं शोधितः-कुमार्गप्ररूपणापनयनद्वारेण निर्दोषतां नीतो विशोधितः-सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राख्यो मोक्षमार्गस्तमेवंभूतं मोक्षमार्गं, 'ते'-स्वाग्रहग्रहग्रस्ता गोष्ठामाहिलवदनु-पश्चादाचार्यप्ररूपणातः कथयन्ति-अनुकथयन्ति। ये चैवंभूता आत्मोत्कर्षात् स्वरुचिविरचितव्याख्याप्रकारव्यामोहिता 'आत्मभावेन'-स्वाभिप्रायेणाचार्यपारम्पर्येणायातमप्यर्थं व्युदस्यान्यथा 'व्यागृणीयुः'-व्याख्यानयेयुः, ते हि गम्भीराभिप्रायं सूत्रार्थं कर्मोदयात् पूर्वापरेण यथावत्परिणामयितुमसमर्थाः पण्डितमानिन उत्सूत्रं प्रतिपादयन्ति। आत्मभावव्याकरणं च महतेऽनर्थायेति दर्शयति-'स' एवंभूतः स्वकीयाभिनिवेशाद् 'अस्थानिकः'-अनाधारो बहूनां ज्ञानादिगुणानामभाजनं भवतीति, ते चामी गुणाः-"[१]सुस्सूसइ पडिपुच्छइ सुणेइ गेण्हइ य ईहए आवि। तत्तो अपोहए वा धारेइ करेइ वा सम्मं ॥१॥" यदि वा गुरुशुश्रूषादिना सम्यग्ज्ञानावगमस्ततः सम्यगनुष्ठानमतः सकलकर्मक्षयलक्षणो मोक्ष इत्येवंभूतानां गुणनामनायतनमसौ भवति, क्वचित्पाठः-'अट्ठाणिए [२]होंति बहूणिवेस'

सं. १ शुश्रूषते प्रतिपृच्छति शृणोति गृह्णाति ईहते चापि। ततोऽपोहते वा धारयति करोति वा सम्यक् ॥ १ ॥ २ होइ आ, होति इ.।

त्ति, अस्यायमर्थः—अस्थानम्—अभाजनमपात्रमसौ भवति सम्यग्ज्ञानादीनां गुणानां, किंभूतो?,—बहुः—अनर्थसंपादकत्वे[1]नासदभिनिवेशो यस्य स बहुनिवेशः[2], यदि वा—गुणानामस्थानिकः—अनाधारो बहूनां दोषाणां च निवेशः—स्थानम्—आश्रय इति, किंभूताः पुनरेवं भवन्तीति दर्शयति—ये केचन दुर्गृहीतज्ञानलवावलेपिनो ज्ञाने—श्रुतज्ञाने शङ्का ज्ञानशङ्का तया मृषावादं वदेयुः, एतदुक्तं भवति—सर्वज्ञप्रणीते आगमे शङ्कां कुर्वन्ति, अयं तत्प्रणीत एव न भवेद्; अन्यथा वाऽस्यार्थः स्यात्। यदि वा ज्ञान[3]शङ्कया पाण्डित्याभिमानेन मृषावादं वदेयुर्यथाऽहं ब्रवीमि तथैव युज्यते नान्यथेति ॥ ३ ॥ किञ्चान्यत्—'जे यावि पुट्ठा' इत्यादि, ये केचनाविदितपरमार्थाः [4]स्वल्पतया समुत्सेकिनोऽपरेण पृष्टाः—कस्मादाचार्यात् सकाशादधीतं श्रुतं भवद्भिरिति, ते तु स्वकीयमाचार्यं ज्ञानावलेपेन निह्नुवाना अपरं प्रसिद्धं प्रतिपादयन्ति, यदि वा मयैवैतत्स्वत उत्प्रेक्षि[5]तमित्येवं ज्ञानावलेपात् 'पलिउंचयंति' त्ति निह्नुवते, यदि वा—सदपि प्रमादस्खलितमाचार्यादिनाऽऽलोचनादिके अवसरे पृष्टाः सन्तो मातृस्थानेनावर्णवादभयान्निह्नुवते। त एवं पलिकुञ्चि[6]का—निह्नवं कुर्वाणा आदीयत इत्यादानं—ज्ञानादिकं मोक्षो वा तमर्थं वञ्चयन्ति—भ्रंशयन्त्यात्मनः, खलुरवधारणे वञ्चयन्त्येव। एवमनुष्ठायिनश्चासाधवस्ते परमार्थतस्तत्त्वचिन्तायाम् 'इह'—अस्मिन् जगति, साधुविचारे वा; 'साधुमानिनः'—आत्मोत्कर्षात् सदनुष्ठानमानिनो मायान्वितास्ते, 'एष्यन्ति'—यास्यन्ति 'अनन्तशो'—बहुशो, 'घातं'—विनाशं संसारं वा, अनवदग्रं संसारकान्तारमनुपरिवर्तयिष्यन्तीति, दोषद्वयदुष्टत्वात्तेषाम्, एकं तावत्स्वयमसाधवो द्वितीयं साधुमानिनः, उक्तंच—"[7]पावं काऊण सयं अप्पाणं सुद्धमेव वाहरइ। दुगुणं करेइ पावं बीयं

१ ०त्वेऽसद० आ.। २ वह्वभिनि० आ.। सा. ३ ज्ञानहीनत्वाविर्भावशङ्कया। ४ तुच्छतया। ५ ज्ञातं। ६ ०कुञ्चका आ. इ.। सा. ७ पापं कृत्वा स्वयं आत्मानं शुद्धमेव व्याहरति द्विगुणं करोति पापं द्वितीयं बालस्य मंदत्वम् ॥ १ ॥

बालस्स मंदत्तं ॥ १ ॥" तदेवमात्मोत्कर्षदोषाद्बोधिलाभमप्युपहत्यानन्तसंसारभाजो भवन्त्यसुमन्त इति स्थितम् ॥ ४ ॥ मानविपाकमुपदर्श्याधुना क्रोधादिकषायदोषमुद्भावयितुमाह--

जे कोहणे होइ जगट्ठभासी, विओसियं [1]जे उ उदीरएज्जा। अंधे व से दंडपहं गहाय, अविओसिए धासति पावकम्मी ॥ ५ ॥ जे विग्गहीए अं[2]न्नायभासी, न से समे होइ अझंझपत्ते। उ(ओ)[3]वायकारी य [4]हरीमणे य, एगंतदिट्ठी य अमाइरूवे ॥ ६ ॥ से पेसले सुहुमे पुरिसजाए, जच्चन्निए चेव सुउज्जुयारे। बहुंपि अणुसासिए जे तहच्चा, समे हु से होइ अझंझपत्ते ॥ ७ ॥ जे आवि अप्पं वसुमंति म[5]त्ता, संखाय वायं अपरि[6]क्खि कुज्जा। तवेण वाहं सहिउँ[7]त्ति मत्ता[8], अण्णं जणं प[9]स्सति बिंबभूयं ॥ ८ ॥

'जे कोहणे' इत्यादि, यो ह्यविदितकषायविपाकः प्रकृत्यैव क्रोधनो भवति, तथा 'जगदर्थभाषी'–यश्च भवति, जगत्यर्था जगदर्था ये यथा व्यवस्थिताः पदार्थास्तानाभाषितुं शीलमस्य–जगदर्थभाषी, तद्यथा–ब्राह्मणं डोडमिति ब्रूयात्तथा वणिजं किराटमिति, शूद्रमाभीरमिति, श्वपाकं चाण्डालमित्यादि; तथा काणं काणमिति, तथा खञ्जं कुब्जं वडभं[10]मित्यादि, तथा कुष्ठिनं क्षयिणमित्यादि[11], यो यस्य दोषस्तं तेन खरपरुषं ब्रूयात् यः स जगदर्थभाषी। यदि वा जयार्थभाषी यथैवाऽऽत्मनो

१ जो उ आ, जे य इ.। २ अण्णाण० इ.। ३ ×वा० आ. इ.। ४ हिरी० आ. इ.। ५ मंता आ. इ.। ६ ०रिच्छ आ. इ.। ७ ०तंति आ. ०तेत्ति इ.। ८ मंता आ. इ.। ९ पासति आ.। १० भं××तथा आ.। ११ ०दि तथा यो आ.।

जयो भवति तथैवाविद्यमानमप्यर्थं भासते तच्छीलश्च--येन केनचित्प्रकारेणासदर्थभाषणेनाप्यात्मनो जयमिच्छतीत्यर्थः। 'विओसियं'ति-विविधमवसितं-पर्यवसितमुपशान्तं द्वन्द्वं-कलहं यः पुनरप्युदीरयेत्[1], एतदुक्तं भवति--कलहकारिभिर्मिथ्यादुष्कृतादिना परस्परं क्षामितेऽपि तत्तद् ब्रूयाद्येन पुनरपि तेषां क्रोधोदयो भवति। साम्प्रतमेतद्विपाकं दर्शयति-यथा ह्यन्धः-चक्षुर्विकलो, 'दण्डपथं'- [2]गोदण्डमार्गं[लघुमार्गं]प्रमुखोज्ज्वलं 'गृहीत्वा'-आश्रित्य व्रजन् सम्यगकोविदतया 'घृष्यते'-कण्टकश्वापदादिभिः पीड्यते, एवमसावपि केवलं लिङ्गधार्यनुपशान्तक्रोधः कर्कशभाष्यधिकरणोद्दीपकः, तथा 'अविओसिए'त्ति अनुपशान्तद्वन्द्वः पापम्-अनार्यं कर्म-अनुष्ठानं यस्यासौ पापकर्मा घृष्यते चतुर्गतिके संसारे यातनास्थानगतः पौनःपुन्येन पीड्यत इति ॥ ५ ॥ किञ्चान्यत्-'जे विग्गहीए' इत्यादि, यः कश्चिदविदितपरमार्थो विग्रहो-युद्धं स विद्यते यस्यासौ विग्रहिको यद्यपि प्रत्युपेक्षणादिकाः क्रिया विधत्ते, तथापि युद्धप्रियः [3]कश्चिद्भवति; तथाऽ[4]न्याय्यं भाषितुं शीलमस्य सोऽ[4]न्याय्यभाषी, यत्किञ्चनभाष्यस्थानभाषी गुर्वाद्यधिक्षेपकरो वा यश्चैवंभूतो नासौ 'समो'-रक्तद्विष्टतया मध्यस्थो भवति, तथा नप्यझञ्झां प्राप्तः-अकलहप्राप्तो वा न भवत्यमायाप्राप्तो वा, यदि वा अझञ्झाप्राप्तैः-अकलहप्राप्तैः सम्यग्दृष्टिभिरसौ समो न भवति यतः, अतो नैवंविधेन भाव्यम्, अपि त्वक्रोधनेनाकर्कशभाषिणा चोपशान्तयुद्धानुदीरकेण [4]न्याय्यभाषिणाऽझञ्झाप्राप्तेन मध्यस्थेन च भाव्यमिति। एवमनन्तरोद्दिष्टदोषवर्जी सन्नुपपातकारी-आचार्यनिर्देशकारी-यथोपदेशं क्रियासु प्रवृत्तः। यदि वा 'उपायकारि'त्ति सूत्रोपदेशप्रवर्तकः, तथा ह्रीः-लज्जा संयमो मूलोत्तरगुणभेदभिन्नस्तत्र

---

१ ०येत् प्रज्वालयेत् एत० आ. इ. । २ ×दण्डमार्ग×××× प्र० इ. । ३ कश्चि० आ. इ. । ४ न्यायं आ. इ. ।

मनो यस्यासौ ह्रीमनाः, यदि वा—अनाचारं कुर्वन्नाचार्यादिभ्यो लज्जते स एवमुच्यते, तथैकान्तेन तत्त्वेषु—जीवादिषु पदार्थेषु दृष्टिर्यस्यासावेकान्तदृष्टिः, पाठान्तरं वा 'एगंतसड्ढि'त्ति एकान्तेन श्रद्धावान् मौनीन्द्रोक्तमार्गे एकान्तेन श्रद्धालुरित्यर्थः, चकारः—पूर्वोक्तदोषविपर्यस्तगुणसमुच्चयार्थः, तद्यथा—ज्ञानापलिकुञ्चकोऽक्रोधीत्यादि [1]तावदक्षञ्ज्ञाप्राप्त इति, स्वत एवाह—'अमाइरूवे'त्ति—अमायिनो रूपं यस्यासावमायिरूपोऽशेषच्छद्मरहित इत्यर्थः, न गुर्वादीन् छद्मनोपचरति नाप्यनेन केनचित्सार्धं छद्मव्यवहारं विधत्त इति ॥ ६ ॥ पुनरपि सद्गुणोत्कीर्तनायाह—'से पेसले' इत्यादि, यो हि कटुसंसारोद्विग्नः क्वचित्प्रमाद[2]स्खलिते सत्याचार्यादिना बह्वपि 'अनुशास्यमानः'—चोद्यमानस्तथैव—सन्मार्गानुसारिण्यर्चा—लेश्या चित्तवृत्तिर्यस्य स भवति तथार्चः, यश्च शिक्षां ग्राह्यमाणोऽपि तथार्चो भवति, स 'पेशलो'—मि[3]ष्टवाक्यो विनयादिगुणसमन्वितः, 'सूक्ष्मः'—सूक्ष्मदर्शित्वात् सूक्ष्मभाषि(वि[4])त्वाद्वा सूक्ष्मः, 'स एव पुरुषजातः'—स एव परमार्थतः पुरु[5]षार्थकारी नापरो योऽनायुधतपस्विजनपराजितेनापि क्रोधेन जीयते, तथाऽसावेव 'जात्यन्वितः'—सुकुलोत्पन्नः, सच्छीलान्वितो हि कुलीन इत्युच्यते, न सुकुलोत्पत्तिमात्रेण, तथा स एव सुष्ठु—अतिशयेन ऋजुः—संयमस्तत्करणशीलः—ऋजु[6]करः, यदि वा 'उज्जुचा[7]रे'त्ति यथोपदेशं यः प्रवर्तते, न तु पुनर्वक्रतयाऽचार्यादिवचनं विलोमयति—प्रतिकूलयति, [8]यश्च तथार्चः पेशलः सूक्ष्मभाषी जात्यादिगुणान्वितः क्वचिदवक्रः, 'समो'—मध्यस्थो निन्दायां पूजायां च न रुष्यति, नापि तुष्यति; तथा अझंझा—अक्रोधो-

१ तावद्यावद० आ. इ. । २ °स्खलने आ. इ. । ३ मृष्ट० आ. इ. । ४ ×त्वा० आ. इ. । ५ ०षकार्यकारी आ. । ६ °कारः आ. । ७ ०चारे आ. । ८ यतश्च आ. ।

ऽमाया वा तां प्राप्तोऽझंझाप्राप्तः, यदि वाऽझंझाप्राप्तैः–वीतरागैः 'समः'–तुल्यो भवतीति ॥ ७ ॥ प्रायस्तपस्विनां ज्ञानतपोऽवलेपो भवतीत्यतस्तमधिकृत्याह–'जे आवि अप्पं' इत्यादि, यश्चापि कश्चिल्लघुप्रकृतिरल्पतयाऽऽत्मानं वसु–द्रव्यं, तच्च परमार्थचिन्तायां संयमस्तद्वन्तमात्मानं मत्वाऽहमेवात्र संयमवान् मूलोत्तरगुणानां सम्यग्विधायी नापरः कश्चिन्मत्तुल्योऽस्तीति, तथा संख्यायन्ते–परिच्छिद्यन्ते जीवादयः पदार्था येन तज्ज्ञानं संख्येत्युच्यते तद्वन्तमात्मानं मत्वा तथा सम्यक्–परमार्थमपरीक्ष्यात्मोत्कर्षवादं कुर्यात् तथा तपसा–द्वादश भेद भिन्ने नाहमेवात्र सहितो–युक्तो न मत्तुल्यो विकृष्ट तपोनिष्टप्त देहोऽस्तीत्येवंमत्वाऽऽत्मोत्कर्षाभिमानीति 'अन्यं जनं'–साधुलोकं गृहस्थलोकं वा, 'बिम्बभूतं' जलचन्द्रवत्तदर्थशून्यं कूटकार्षापणवद्वा लिङ्गमात्रधारिणं पुरुषाकृतिमात्रं वा 'पश्यति'–अवमन्यते। तदेवं यद्यन्मदस्थानं जात्यादिकं तत्तदात्मन्येवारोप्यापरमवधूतं पश्यतीति ॥ ८ ॥ किञ्चान्यत्––

एगंतकूडेण [2]उं से [3]पलेइ, ण विज्जती मोणपयंसि [4]गोत्ते। जे माणणट्ठेण विउक्कसेज्जा, वसुमन्नतरेण अबुज्झमाणे ॥ ९ ॥ जे [5]माहणो खत्तियजायए वा, तहुग्गपुत्ते तह [6]लेच्छई वा। जे पव्वईए परदत्त[7]भोई, गोत्ते ण जे[8] थब्भति (थंभभि) माणबद्धे ॥ १० ॥ न तस्स जाई व कुलं व ताणं, णण्णत्थ विज्जाचरणं सुचिण्णं। णिक्खम्म से सेवइऽगारिकम्मं, ण से पारए होइ विमोयणाए ॥ ११ ॥ [10]णिक्किंचणे भिक्खु

१ तामप्राप्तो आ. इ.। २ च इ.। ३ पलेवि आ.। ४ णाते आ. गुत्ते इ.। ५ माहणे आ. इ.। ६ लच्छए इ। ७ ०भोगी आ.। ८ य आ.। ९ xxxमा० आ. इ.। १० णिगिणेह वि भिक्खू उसु० आ.।

सुल्लूहजीवी, जे गारवं होइ सलोगगामी[1]। आजीवमेयं तु अबुज्झमाणो[2], पुणो पुणो विप्परियासुवेंति[3] ॥१२॥

'एगंतकूडेण'इत्यादि, कूटवत्कूटं यथा कूटेन मृगादिर्बद्धः परवशः सन्नेकान्तदुःखभाग्भवति एवं भावकूटेन स्नेहमयेनैकान्ततोऽसौ संसारचक्रवालं पर्येति, तत्र वा प्रकर्षेण लीयते प्रलीयते–अनेकप्रकारं संसारं बंभ्रमीति, तुशब्दात् कामादिना वा मोहेन मोहितो बहुवेदने संसारे प्रलीयते, यश्चैवंभूतोऽसौ 'न विद्यते'–न कदाचन संभवति, मुनीनामिदं मौनं तच्च तत्पदं च मौनपदं–संयमस्तत्र मौनीन्द्रे वा पदे–सर्वज्ञप्रणीतमार्गे नासौ विद्यते, सर्वज्ञमतमेव विशिनष्टि–गाँ–वाचं त्रायते–अर्थाविसंवादनतः पालयतीति गोत्रं तस्मिन् समस्तागमाधारभूत इत्यर्थः, उच्चैर्गोत्रे वा वर्तमानस्तदभिमानग्रहग्रस्तो मौनीन्द्रपदे न [4]वर्तते, यश्च माननं–पूजनं सत्कारस्तेनार्थः–प्रयोजनं तेन माननार्थेन विविधमुत्कर्षयेदात्मानं, यो हि माननार्थेन–लाभपूजासत्कारादिना मदं कुर्यान्नासौ सर्वज्ञपदे विद्यत इति पूर्वेण संबन्धः, तथा वसु–द्रव्यं तच्चेह संयमस्तमादाय तथाऽन्यतरेण ज्ञानादिना मदस्थानेन परमार्थमबुध्यमानो माद्यति पठन्नपि सर्वशास्त्राणि तदर्थं चावगच्छन्नपि नासौ सर्वज्ञमतं परमार्थतो जानातीति ॥ ९ ॥ सर्वेषां मदस्थानानामुत्पत्तेरारभ्य जातिमदो बाह्यनिमित्तनिरपेक्षो यतो भवत्यतस्तमधिकृत्याह–'जे माहणो' इत्यादि, यो हि जात्या ब्राह्मणो भवति क्षत्रियो वा इक्ष्वाकुवंशादिकः, तद्भेदमेव दर्शयति––'उग्रपुत्रः'–क्षत्रियविशेषजातीयः, तथा 'लेच्छइ'त्ति–क्षत्रियविशेष एव, तदेवमादिविशिष्टकुलोद्भूतो यथावस्थितसंसारस्वभाववेदितया यः 'प्रव्रजितः'–त्यक्तराज्यादिगृहपाशबन्धनः परैर्दत्तं भोक्तुं शीलमस्य परदत्तभोजी–सम्यक्संयमानुष्ठायी, 'गोत्रे'–

१ सिलोय० आ. इ. । २ ०माणे आ. इ. । ३ ०सुवेति आ. इ. ? । ४ विद्यते आ. इ. ।

उच्चैर्गोत्रे–हरिवंशस्थानीये समुत्पन्नोऽपि नैव ' स्तंम्भं '–गर्वमुपयायादिति, किंभूते गोत्रे ?,–' अभिमानबद्धे' –अभिमानास्पदे इति, एतदुक्तं भवति–विशिष्टजातीयतया सर्वलोकाभिमान्योऽपि प्रव्रजितः सन् कृतशिरस्तुण्डमुण्डनो भिक्षार्थं परगृहाण्यटन् कथं हास्यास्पदं गर्वं कुर्यात् ?, नैवासौ मानं कुर्यादिति तात्पर्यार्थः ॥ १० ॥ न चासौ मानः क्रियमाणो गुणायेति दर्शयितुमाह––' न तस्स जाई ' इत्यादि, न हि ' तस्य '–लघुप्रकृतेरभिमानोद्धुरस्य जातिमदः कुलमदो वा क्रियमाणः संसारे पर्यटतस्त्राणं भवति, न ह्यभिमानो जात्यादिक ऐहिकामुष्मिकगुणयोरुपकारीति, इह च मातृसमुत्था जातिः, पितृसमुत्थं कुलम् , एतच्चोपलक्षणम् , अन्यदपि मदस्थानं न संसारत्राणायेति, यत्पुनः संसारोत्तारकत्वेन त्राणसमर्थं तद्दर्शयति–ज्ञानं च चरणं च ज्ञानचरणं, तस्मादन्यत्र संसारोत्तारणत्राणाशा न विद्यते, एतच्च सम्यक्त्वोपबृंहितं सत् सुष्ठु चीर्णं–सुचीर्णं संसारादुत्तारयति, ' ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्ष ' इति वचनात्; एवंभूते सत्यपि मोक्षमार्गे ' निष्क्रम्यापि '–प्रव्रज्यां गृहीत्वापि कश्चिदपुष्टधर्मा संसारोन्मुखः ' सेवते '–अनुतिष्ठत्यभ्यस्यति पौनःपुन्येन विधत्ते अगारिणां–गृहस्थानामङ्गं–कारणं जात्यादिकं मदस्थानं, पाठान्तरं वा ' अगारिकम्मं 'ति अगारिणां कर्म–अनुष्ठानं सावद्यमारम्भं जातिमदादिकं वा सेवते । न चासावगारिकर्मणां सेवकोऽशेषकर्ममोचनाय पारगो भवति, निःशेषकर्मक्षयकारी न भवतीति भावः । देशमोचना तु प्रायशः सर्वेषामेवासुमतां प्रतिक्षणमुपजायत इति ॥ ११ ॥ पुनरप्यभिमानदोषाविर्भावनायाह–' णिक्किंचणे ' इत्यादि, बाह्येनार्थेन निष्किञ्चनोऽपि भिक्षणशीलो भिक्षुः–परदत्तभोजी, तथा सुष्ठु रूक्षम्–अन्तप्रान्तं वल्लचणकादि तेन जीवितुं–प्राणधारणं

१ गोत्रे इति मान० आ. इ. ।

कर्तुं शीलमस्य स सुरूक्षजीवी, एवंभूतोऽपि यः कश्चिद्[1]द्गौरवप्रियो भवति, तथा 'श्लोककामी'–आत्मश्लाघाभिलाषी भवति; स चैवंभूतः परमार्थम[2]बुध्यमान एतदेवाकिञ्चनत्वं सुरूक्षजीवित्वं वाऽऽत्मश्लाघातत्परतया आजीवम्—आजीविकामात्मवर्तनोपायं कुर्वाणः पुनः पुनः संसारकान्तारे विपर्यासं–जातिजरामरणरोगशोकोपद्रवमुपैति–गच्छति, तदुत्तरणायाभ्युद्यतो वा तत्रैव निमज्जतीत्ययं विपर्यास इति ॥ १२ ॥ यस्मादमी दोषाः समाधिमाख्यातमसेवमानानामाचार्यपरिभाषिणां वा तस्मादमीभिः शिष्यगुणैर्भाव्यमित्याह––

जे भासवं भिक्खु सुसाहुवादी, पडिहाणवं होइ विसारए य। आगाढपण्णे सु[3]विभावियप्पा, अन्नं जणं प[4]न्नया परिहवेज्जा ॥ १३ ॥ एवं ण से होइ समाहिपत्ते, जे प[5]न्नवं भिक्खु वि[6]उक्कसेज्जा। अहवाऽवि जे लाभमयावलित्ते, अन्नं जणं खिंसति बालपन्ने ॥ १४ ॥ पन्नामयं चेव तवोमयं च, णिन्नामए गोयमयं च भिक्खू। आजीवगं चेव चउत्थमाहु, से पंडिए उ[7]त्तमपोग्गले से ॥ १५ ॥ एयाइं मयाइं विगिंच धी[8]रा, ण ताणि सेवंति सुधीरधम्मा। ते सव्वगोत्तावगया महेसी, उच्चं अगोत्तं च गतिं व[9]यंति ॥ १६ ॥

'जे भासवं'इत्यादि, भाषागुणदोषज्ञतया शोभनभाषायुक्तो भाषावान् 'भिक्षुः'–साधुः, तथा सुष्ठु साधु–शोभनं हितं मितं प्रियं वदितुं शीलमस्येत्यसौ सुसाधुवादी, क्षीरमध्वाश्रववादीत्यर्थः; तथा प्रतिभा प्रतिभानम्–औत्पत्तिक्यादिबुद्धिगुण-

१ ॰द्गारव॰ आ. इ. । २ ॰मवबुध्य॰ आ., ॰मनवबुध्य इ. । ३ सूयभा॰ इ. । ४ पन्नसा आ. इ. । ५ पण्णसा इ. । ६ विमुक्क॰ आ. । ७ उत्तमे॰ आ. । ८ धीरे आ. इ. । ९ उवेंति आ. ।

समन्वितत्वेनोत्पन्नप्रतिभत्वं तत्प्रतिभानं विद्यते यस्यासौ प्रतिभानवान्–[1]अपरेणाक्षिप्तस्तदनन्तरमेवोत्तरदानसमर्थः। यदि वा धर्मकथावसरे कोऽयं पुरुषः?, कं च देवताविशेषं?; प्रणतः कतरद्वा दर्शनमाश्रित इत्येवमासन्नप्रतिभतया([2]ऽवेत्य) यथायोगमाचष्टे, तथा 'विशारदः'–अर्थग्रहणसमर्थो बहुप्रकारार्थकथनसमर्थो वा, चशब्दाच्च श्रोत्रभिप्रायज्ञः, तथा आगाढा—अवगाढा परमार्थपर्यवसिता तत्त्वनिष्ठा प्रज्ञा–बुद्धिर्यस्यासावागाढप्रज्ञः, तथा सष्ठु विविधं भावितो—धर्मवासनया वासित आत्मा यस्यासौ सुविभावितात्मा, तदेवमेभिः सत्यभाषादिभिर्गुणैः शोभनः साधुर्भवति, [3]यैश्चैभिरेव निर्जराहेतुभूतैरपि मदं कुर्यात्, तद्यथा—अहमेव भाषाविधिज्ञस्तथा साधुवाद्यहमेव च न मत्तुल्यः प्रतिभानवानस्ति, नापि च मत्समानोऽलौकिकः लोकोत्तरशास्त्रार्थविशारदोऽवगाढप्रज्ञः सुभावितात्मेति च, एवमात्मोत्कर्षवानन्यं जनं स्वकीयया प्रज्ञया 'परिभवेत्'–अवमन्येत, तथाहि–किमनेन वाक्कुण्ठेन दुर्दुरूढेन कुण्डिकाकार्पासकल्पेन खसूचिना कार्यमस्ति?, क्वचित्सभायां धर्मकथावसरे वेति, एवमात्मोत्कर्षवान् भवति, तथा चोक्तम्—"अन्यैः स्वेच्छारचितानर्थविशेषान् श्रमेण विज्ञाय। कृत्स्नं वाङ्मयमित इति खादत्यङ्गानि दर्पेण ॥ १ ॥" इत्यादि ॥ १३ ॥ साम्प्रतमेतद्दोषाभिधित्सयाऽऽह–'एवं ण से' इत्यादि, 'एवम्'–अनन्तरोक्तया प्रक्रियया परपरिभवपुरःसरमात्मोत्कर्षं कुर्वन्नशेषशास्त्रार्थविशारदोऽपि तत्त्वार्थावगाढप्रज्ञोऽप्यसौ 'समाधिं'–मोक्षमार्गं–ज्ञानदर्शनचारित्ररूपं–धर्मध्यानाख्यं वा न प्राप्तो भवति, उपर्येवासौ परमार्थोदन्वतः प्लवते, क एवंभूतो भवतीति दर्शयति–यो ह्यविदितपरमार्थतयाऽऽत्मानं सच्छेमुषीकं मन्यमानः स्वप्रज्ञया भिक्षुः 'उत्कर्षेद्'–गर्वं कुर्यात्, नासौ समाधि

१ ×परेणा० आ. इ. । २ ×××य० आ. इ. । ३ यस्त्वेभि० आ. ।

प्राप्तो भवतीति प्राक्तनेन संबन्धः, अन्यदपि मदस्थानमुद्घट्टयति–'अथवे'ति–पक्षान्तरे, यो ह्यल्पान्तरायो लब्धिमानात्मकृते परस्मै चोपकरणादिमुत्पादयितुमलं स लघुप्रकृतितया लाभमदावलिप्तो भवति, तदवलिप्तश्च समाधिमप्राप्तो भवति, स चैवंभूतोऽन्यं जनं कर्मोदयादलब्धिमन्तं 'खिंसइ'त्ति–निन्दति परिभवति, वक्ति च–न मत्तुल्यः सर्वसाधारणशय्यासंस्तारकाद्युपकरणोत्पादको विद्यते, किमन्यैः स्वोदरभरणव्यग्रतया काकप्रायैः कृत्यमस्तीत्येवं 'बालप्रज्ञो'–मूर्खप्रायोऽपरजनापवादं विदध्यादिति ॥ १४ ॥ तदेवं प्रज्ञामदावलेपादन्यस्मिन् जने निन्द्यमाने बालसदृशैर्भूयते यतोऽतः प्रज्ञामदो न विधेयो, न केवलमयमेव न विधेयः, अन्यदपि मदस्थानं संसारजिहीर्षुणा न विधेयमिति; तद्दर्शयितुमाह–'पन्नामयं चेव' इत्यादि, प्रज्ञया–तीक्ष्णबुद्ध्या मदः–प्रज्ञामदस्तं च, तपोमदं च निश्चयेन नामयेन्निर्नामयेद्–अपनयेद्;–अहमेव यथाविधशास्त्रार्थस्य वेत्ता, तथाऽहमेवं विकृष्टतपोविधायी, नापि च तपसो ग्लानिमुपगच्छामीत्येवंरूपं मदं न कुर्यात् । तथा उच्चैर्गोत्रे इक्ष्वाकुवंशहरिवंशादिके संभूतोऽहमित्येवमात्मकं गोत्रमदं च नामयेदिति । आ–समन्ताज्जीवन्त्यनेनेत्याजीवः–अर्थनिचयस्तं गच्छति–आश्रयत्यसावाजीवगः–अर्थमदस्तं च चतुर्थं नामयेत्, चशब्दाच्छेपानपि मदान्नामयेत्, तन्नामनाच्चासौ 'पण्डितः'–तत्त्ववेत्ता भवति, तथाऽसावेव समस्तमदापनोदक उत्तमः पुद्गल—आत्मा भवति, प्रधानवाची वा पुद्गलशब्दः, ततश्चायमर्थः—उत्तमोत्तमो–महतोऽपि महीयान् भवतीत्यर्थः ॥ १५ ॥ साम्प्रतं मदस्थानानामकरणीयत्वमुपदर्श्योपसंजिहीर्षुराह–'एयाइं' इत्यादि, 'एतानि'–प्रज्ञादीनि मदस्थानानि संसारकारणत्वेन सम्यक् परिज्ञाय 'विगिंच'त्ति पृथक्कुर्यादात्मनोऽपनयेदिति-

१ xxxxxअ° आ. इ. । २ ०मच वि० आ. । ३ तपसा आ. इ. ।

यावत्, धीः-बुद्धिस्तया राजन्त इति धीराः-विदितवेद्या नैतानि जात्यादीनि मदस्थानानि सेवन्ति-अनुतिष्ठन्ति, के एते ?,-ये सु[1]धीरः-सुप्रतिष्ठितो धर्मः-श्रुतचारित्राख्यो येशं ते सुधीरध[2]र्माणः, ते चैवंभूताः, परित्यक्तसर्वमदस्थाना महर्षयस्तपोविशेषशोषितकल्मषाः सर्वस्मादुच्चैर्गोत्रादेरपगता गोत्रापगताः सन्त उच्चां-मोक्षाख्यां सर्वोत्तमां वा गतिं व्रजन्ति-गच्छन्ति, चशब्दात् पञ्च[3]महाविमानेषु कल्पातीतेषु वा व्रजन्ति, अगोत्रोपलक्षणाच्चान्यदपि नामकर्मायुष्कादिकं तत्र न विद्यत इति द्रष्टव्यम् ॥ १६ ॥ किञ्च—

भिक्खू मुयँच्चे[4] तह दिट्ठधम्मे, गामं च णगरं च अणुप्पविस्सा। से एसणं जाणमणेसणं च, अन्नस्स पाणस्स अणाणुगिद्धे ॥ १७ ॥ अरतिं रतिं च अभिभूय भिक्खू, बहूजणे वा तँह[5] एगचारी। एगंतमोणेण वियागरेज्जा, एगस्स जंतो गतिरागती य ॥ १८ ॥ सयं समेच्चा अदुवाऽवि सोच्चा, भासेज्ज धम्मं हिँययं[6] पयाणं। जे गरहिया सणियाणप्पओगा, ण ताणि सेवंति सुधीरधम्मा ॥ १९ ॥ केसिंचि तक्काइ अबुज्झ भावं, खुद्दंपि गच्छेज्ज असद्दहाणे। आउस्स कालाइयारं वघाए, लद्धाणुमाणे[7] य परेसु अट्ठे ॥ २० ॥

'भिक्खू मुयच्चे' इत्यादि, स एवं मदस्थानरहितो भिक्षणशीलो भिक्षुः, तं विशिनष्टि-मृतेव स्नानविलेपनादिसंस्काराभावादर्चा-तनुः-शरीरं यस्य स मृतार्चः; यदि वा मोदनं मुत् तद्भूता शोभनाऽर्चा—पद्मादिका लेश्या यस्य स भवति

१ सुधीराः आ. । २ ०कर्माणः आ. । ३ ०महाविमानेषु कल्पेषु कल्पाती० आ, 'महाविदेहेषु कल्पाती० इ. । ४ ०च्चा कंइ दि० आ. ०च्चा सुय दि० इ. । ५ अहवेगचारी, आ. । ६ हितदं आ. । ७ माणं आ. ।

मुदर्चः–प्रशस्तलेश्यः, तथा दृष्टः––अवगतो यथावस्थितो धर्मः–श्रुतचारित्राख्यो येन स तथा, स चैवंभूतः क्वचिदवसरे ग्रामं नगरमन्यद्वा मडम्बादिकमनुप्रविश्य भिक्षार्थमसावुत्तमधृतिसंहननोपपन्नः सन्नेषणां–गवेषणग्रहणैषणादिकां 'जानन्'–सम्यगवगच्छन्ननेषणां च–उद्गमदोषादिकां तत्परिहारं विपाकं च सम्यगवगच्छन् अन्नस्य पानस्य वा 'अननुगृद्धः'–अनध्युपपन्नः सम्यग्विहरेत्, तथाहि–स्थविरकल्पिका द्विचत्वारिंशद्दोषरहितां भिक्षां गृह्णीयुः, जिनकल्पिकानां तु पञ्चस्वभिग्रहो द्वयोर्ग्रहः, ताश्चेमाः—"संसट्ठमसंसट्ठा उद्धड तह [2]होति अप्पलेवा य। उग्गहिया पग्गहिया उज्झियधम्मा य सत्तमिया ॥ १ ॥" अथवा-यो यस्याभिग्रहः सा तस्यैषणा अपरा त्वनेषणेत्येवमेषणानेषणाभिज्ञः क्वचित्प्रविष्टः सन्नाहारादावमूर्छितः सम्यक् शुद्धां भिक्षां गृह्णीयादिति ॥ १७ ॥ तदेवं भिक्षोरनुकूलविषयोपलब्धिमतोऽप्यरक्तद्विष्टतया तथा दृष्टमप्यदृष्टं श्रुतमप्यश्रुतमित्येवंभावयुक्ततया च मृतकल्पदेहस्य सुदृष्टधर्मण एषणानेषणाभिज्ञस्यान्नपानादावमूर्छितस्य सतः क्वचिद् ग्रामनगरादौ प्रविष्टस्यासंयमे रतिररतिश्च संयमे कदाचित्प्रादुष्ष्यात् सा चापनेतव्येत्येतदाह—'अरतिं रतिं च' इत्यादि, महामुनेरप्यस्नानतया मलाविलस्यान्तप्रान्तवल्लचणकादिभोजिनः कदाचित्कर्मोदयादरतिः संयमे समुत्पद्ये[3]त तां चोत्पन्नामसौ भिक्षुः संसारस्वभावं परिगणय्य तिर्यङ्नारकादिदुःखं चोत्प्रेक्षमाणः स्वल्पं च संसारिणामायुरित्येवं विचिन्त्याभिभवेद्, अभिभूय चासावेकान्तमौनेन व्यागृणीयादित्युत्तरेण संबन्धः, तथा रतिं च 'असंयमे'–सावद्यानुष्ठाने अनादिभवाभ्यासादुत्पन्नामभिभवेदभिभूय च संयमोद्युक्तो भवेदिति । पुनः साधुमेव विशिनष्टि–बहवो जनाः—साधवो गच्छवासितया संयमसहाया यस्य स

सा. १ संसृष्टाऽसंसृष्टा उद्धृता तथा भवत्यल्पलेपा च। उद्गृहीता प्रगृहीता उज्झितधर्मा च सप्तमिका ॥ १ ॥ २ हुंति इ. । ३ ०द्यतेऽतस्तां आ. ।

बहुजनः, तथैक एव चरति तच्छीलश्चैकचारी, स च प्रतिमाप्रतिपन्न एकल्लविहारी जिनकल्पादिर्वा स्यात्, स च बहुजन एकाकी वा केनचित्पृष्टोऽपृष्टो वैकान्तमौनेन—संयमेन करणभूतेन व्यागृणीयात् धर्मकथावसरे, अन्यदा संयमाबाधया किञ्चिद्धर्मसंबद्धं ब्रूयात्, किं परिगणय्यैतत्कुर्यादित्याह–यदि वा किमसौ ब्रूयादिति दर्शयति–'एकस्य'–असहायस्य जन्तोः शुभाशुभसहायस्य 'गतिः'–गमनं परलोके भवति, तथा आगतिः–आगमनं भवान्तरादुपजायते कर्मसहायस्यैवेति, उक्तं च– "एकः प्रकुरुते कर्म, भुनक्त्येकश्च तत्फलम्। जायते म्रियते चैक, एको याति भवान्तरम् ॥१॥" इत्यादि। तदेवं संसारे परमार्थतो न कश्चित्सहायो धर्ममेकं विहाय, एतद्विगणय्य मुनीनामयं मौनः—संयमस्तेन तत्प्रधानं वा ब्रूयादिति ॥१८॥ किञ्चान्यत् 'सयं समेच्चा' इत्यादि, 'स्वयम्'–आत्मना परोपदेशमन्तरेण 'समेत्य'–ज्ञात्वा चतुर्गतिकं संसारं तत्कारणानि च मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगरूपाणि तथाऽशेषकर्मक्षयलक्षणं मोक्षं तत्कारणानि च सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राण्येतत्सर्वं स्वत एवावबुध्यान्यस्माद्वाऽऽचार्यादेः सकाशाच्छ्रुत्वाऽन्यस्मै मुमुक्षवे 'धर्मं'–श्रुतचारित्राख्यं भाषेत, किंभूतं ?, प्रजायन्त इति प्रजाः–स्थावरजङ्गमा जन्तवस्तेभ्यो हितं सदुपदेशदानतः सदोपकारिणं धर्मं ब्रूयादिति। उपादेयं प्रदर्श्य हेयं प्रदर्शयति–ये 'गर्हिता'–जुगुप्सिता मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगाः कर्मबन्धहेतवः सह निदानेन वर्तन्त इति सनिदानाः प्रयुज्यन्त इति प्रयोगा–व्यापारा धर्मकथाप्रबन्धा वा ममास्मात्सकाशात्किञ्चित् पूजालाभसंस्कारादिकं भविष्यतीत्येवंभूतनिदानाऽऽशंसारूपास्तांश्चारित्रविघ्नभूतान् महर्षयः सुधीरधर्माणो 'न सेवन्ते'–नानुतिष्ठन्ति। यदि वा ये गर्हिताः सनिदाना वाक्प्रयोगाः, तद्यथा–कुती-

१ ०लतश्चैक० आ.। २ ०संसाररूपा० आ. इ.।

र्थिकाः सावद्यानुष्ठानरता निःशीला निर्व्रता [1]कुण्टलवेण्टलकारिण इत्येवंभूतान् परदोषोद्घट्टनया मर्मवेधिनः सुधीरधर्माणो वाक्कण्टकान् 'न [2]सेवन्ते'–न[3] ब्रुवत इति ॥ १९ ॥ किञ्चान्यत्–'केसिंचि तक्काइ' इत्यादि, केषाञ्चिन्मिथ्यादृष्टीनां कुतीर्थिकभावितानां स्वदर्शनाऽऽग्रहिणां 'तर्क[4]या'–वितर्केण–स्वमतिपर्यालोचनेन 'भावम्'–अभिप्रायं दुष्टान्तःकरणवृत्तित्वमबुद्ध्वा कश्चित्साधुः श्रावको वा स्वधर्मस्थापनेच्छया तीर्थिकतिरस्कारप्रायं वचो ब्रूयात्, स च तीर्थिकस्तद्वचः 'अश्रद्दधानः'–अरोचयन्नप्रतिपद्यमानोऽतिकटुकं भावयन् 'क्षुद्रत्वमपि गच्छेद्'–तद्विरूपमपि कुर्यात्, पालकपुरोहितवत् स्कन्दकाचार्यस्येति। क्षुद्रत्वगमनमेव दर्शयति–स निन्दावचनकुपितो वक्तुर्यदायुस्तस्यायुषो 'व्याघातरूपं'–परिक्षेपस्तभावं कालातिचारं–दीर्घस्थितिकमप्यायुः संवर्तयेत्, एतदुक्तं भवति—धर्मदेशना हि पुरुषविशेषं ज्ञात्वा विधेया, तद्यथा—कोऽयं पुरुषो राजादिः ?, कं च देवताविशेषं नतः ?; कतरद्वा दर्शन[5]माश्रितोऽभिगृहीतोऽनभिगृहीतो वाऽयमित्येवं सम्यक् परिज्ञाय यथार्हं धर्मदेशना विधेया, यश्चैतदबुद्ध्वा किञ्चिद्धर्मदेशनाद्वारेण परविरोधकृद्वचो ब्रूयात् स परस्मादैहिकामुष्मिकयोर्मरणादिकमपकारं प्राप्नुयादिति, यत एवं ततो लब्धमनुमानं येन पराभिप्रायपरिज्ञाने स लब्धानुमानः 'परेषु'–प्रतिपाद्येषु यथायोगं [6]यथार्हप्रतिपत्त्या 'अर्थान्'–सद्धर्मप्ररूपणादिकान् जीवादीन् वा स्वपरोपकाराय ब्रूयादिति ॥ २० ॥ अपि च—

कम्मं च छंदं च[7] विगिंच धीरे, विणइज्ज उ सव्वओ(ह्रा) आयभावं। रूवेहिँ[8] लुप्पंति भयावहेहिं,

१ कुण्ड० आ. । २ °सेवन्ति आ. इ. । ३ न व्रुत इति इ, ×××××× आ. । ४ ०दिकः आ. इ. । ५ °माश्रित्य° आ. इ. । ६ यथार्ह० आ. । ७ ×विविंच आ, च विविंच. इ. । ८ × आ. इ. ।

विज्जं गहाया[1] तसथावरेहिं ॥ २१ ॥ न पूयणं चेव सिलोयकामी,[2] पियमप्पियं कस्सइ णो करेज्जा[3] । सव्वे अणट्ठे परिवज्जयंते, अणाउले[4] या अकसाइ भिक्खू ॥ २२ ॥ आहत्तहीयं समुपेहमाणेसव्वेहिं पाणेहिं णिहाय दंडं । णो जीवियं णो मरणाहिकंखी, परिव्वएज्जा वलयाविमुक्के[5] [मेहावी वलयविप्पमुक्के][6] ॥२३॥ त्तिबेमि ॥ इति श्रीआहत्तहियंनाम[7] त्रयोदशमध्ययनं समत्तं ॥ (गाथा-५९१) ॥

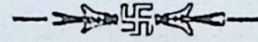
'कम्मं च छंदं च' इत्यादि, 'धीरः'-अक्षोभ्यः सद्बुद्ध्यलङ्कृतो वा देशनावसरे धर्मकथाश्रोतुः 'कर्म'-अनुष्ठानं गुरुलघुकर्मभावं वा, तथा 'छन्दम्'-अभिप्रायं सम्यक् 'विवेचयेत्'-जानीयात्, ज्ञात्वा च पर्षदनुरूपामेव धर्मकथिको धर्मदेशनां कुर्यात् सर्वथा यथा तस्य श्रोतुर्जीवादिपदार्थावगमो भवति, यथा च मनो न दूष्यते; अपि तु प्रसन्नतां व्रजति, एतदभिसंधिमानाह—विशेषेण नयेद्-अपनयेत् पर्षदः 'पापभावम्'-अशुद्धमन्तःकरणं, तुशब्दाद्विशिष्टगुणारोपणं च कुर्यात्, 'आयभावं'ति क्वचित्पाठः, तस्यायमर्थः—'आत्मभावः'; अनादिभवाभ्यस्तो मिथ्यात्वदिकस्तमपनयेत्, यदि वाऽऽत्मभावो-विषयगृध्नुताऽतस्तमपनयेदिति । एतद्दर्शयति-'रूपैः'-नयनमनोहारिभिः स्त्रीणामङ्गप्रत्यङ्गार्द्धकटाक्ष-निरीक्षणादिभिरल्पसत्त्वा 'विलुप्यन्ते'-सद्धर्माद्धाप्यन्ते,[8] किंभूतै रूपैः ?-'भयावहैः'-भयमावहन्ति भयावहानि, इहैव तावद्रूपादिविषयासक्तस्य साधुजनजुगुप्सा नानाविधाश्च कर्णनासिकाविकर्तनादिका विडम्बनाः प्रादुर्भवन्ति जन्मान्तरे च

१ गहाय आ. इ. । २ ०गामी इ. । ३ कहेज्जा इ. । ४ ०दिले आ. । ५ °वेप्पमुक्के आ. । ६ ×××××××××× आ. इ. । ७ आहत्तहितं सम्मत्तं । छ । छ । आ, अहतहं सम्मत्तं । छ । त्रयोदशमध्ययनं । छ । इ. । ८ ०र्माच्च्याव्यन्ते आ. इ. ।

तिर्यङ्नरकादिके यातनास्थाने प्राणिनो विषयासक्ता वेदनामनुभवन्तीत्येवं 'विद्वान्'-पण्डितो धर्मदेशनाभिज्ञो गृहीत्वा पराभिप्रायं—सम्यगवगम्य पर्षदं त्रसस्थावरेभ्यो हितं धर्ममाविर्भावयेत् ॥ २१ ॥ पूजासत्कारादिनिरपेक्षेण च सर्वमेव तपश्चरणादिकं विधेय[१] विशेषतो धर्मदेशनेत्येतदभिप्रायवानाह-'न पूयणं' इत्यादि, साधुदेशनां विदधानो न पूजनं—वस्त्रपात्रादिलाभरूपमभिकाङ्क्षेन्नापि श्लोकं-श्लाघां=कीर्तिम्=आत्मप्रशंसां 'कामयेद्'-अभिलषेत्, तथा श्रोतुर्यत्प्रियं राजकथाविकथादिकं छलितकथादिकं च तथाऽप्रियं च तत्समाश्रितदेवताविशेषनिन्दादिकं न कथयेद्, अरक्तद्विष्टतया श्रोतुरभिप्रायमभिसमीक्ष्य यथावस्थितं धर्मं सम्यग्दर्शनादिकं कथयेत्, उपसंहारमाह—'सर्वाननर्थान्'-पूजासत्कारलाभाभिप्रायेण स्वकृतान् परदूषणतया च परकृतान् 'वर्जयन्'-परिहरन् कथयेद्, 'अनाकुलः'-सूत्रार्थादनुत्तरन् अकषायी भिक्षुर्भवेदिति ॥ २२ ॥. सर्वाध्ययनोपसंहारार्थमाह—'आहत्त[२]हीय'मित्यादि, यथातथाभावो याथातथ्यं--धर्ममार्गसमवसरणाख्याध्ययनत्रयोक्तार्थतत्त्वं सूत्रानुगतं [३]सम्यक्त्वं चारित्रं वा तत् 'प्रेक्षमाणः'-पर्यालोचयन् सूत्रार्थं सदनुष्ठानतोऽभ्यस्यन् 'सर्वेषु'-स्थावरजङ्गमेषु सूक्ष्मबादरभेदभिन्नेषु पृथिवीकायादिषु दण्ड्यन्ते प्राणिनो येन स दण्डः—प्राणव्यपरोपणविधिस्तं 'निधाय'-परित्यज्य, प्राणात्ययेऽपि याथातथ्यं धर्मं नोल्लङ्घयेदिति । एतदेव दर्शयति--'जीवितम्'-असंयमजीवितं दीर्घायुष्कं वा स्थावरजङ्गमजन्तुदण्डेन नाभिकाङ्क्षी स्या(क्षे[४])त् परीषहपराजितो वेदनासमुद्घात(स[५]मव)हतो वा तद्वेदनाम(र्भि[६])सहमानो जलानलसंपातापादितजन्तूप[७]मर्देन नापि मरणाभिकाङ्क्षी स्यात् । तदेवं याथातथ्यमुत्प्रेक्षमाणः सर्वेषु प्राणिषूपरतदण्डो

१ ०विकथा××छ॰आ. । २ ०हिज॑ आ. इ. । ३ सम्यक्चा० आ. इ. । ४ ×त् आ. इ. । ५ ×××हता आ. इ. । ६×सह॰ आ. इ. । ७ ०मर्देनेन आ. ।

जीवितमरणानपेक्षी संयमानुष्ठानं चरेद्-उद्युक्तविहारी भवेत् 'मेधावी'-मर्यादाव्यवस्थितो विदितवेद्यो वा वलयेन-मायारूपेण मोहनीयकर्मणा वा विविधं प्रकर्षेण मुक्तो विप्रमुक्त इति । इतिः-परिसमाप्त्यर्थे । ब्रवीमिति पूर्ववत् ॥ २३ ॥ समाप्तं च याथातैथ्यं[1] त्रयोदशमध्ययनमिति ॥[2] १३ ॥



॥ अथ श्रीचतुर्दशं ग्रन्थनामकमध्ययनं प्रारभ्यते ॥



उक्तं त्रयोदशमध्ययनं, साम्प्रतं चतुर्दशमारभ्यते, अस्य चायमभिसंबन्धः-इहानन्तराध्ययने याथातथ्यमिति सम्यक्चारित्रमभिहितं, तच्च बाह्याभ्यन्तरग्रन्थपरित्यागादवदातं भवति, तत्त्यागश्चानेनाध्ययनेन प्रतिपाद्यत इत्यनेन संबन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराण्युपक्रमादीनि भवन्ति; तत्रोपक्रमद्वारान्तर्गतोऽर्थाधिकारोऽयं, तद्यथा-सबाह्याभ्यन्तरग्रन्थपरित्यागो विधेय इति । नामनिष्पन्ने तु निक्षेपे आदानपदाद्गुणनिष्पन्नत्वाच्च ग्रन्थ इति नाम, तं ग्रन्थमधिकृत्य निर्युक्तिकृदाह-

गंथो पुव्वुद्दिट्ठो दुविहो सिस्सो य होति णायव्वो । पव्वावण सिक्खावण पगयं सिक्खावणाए उ ॥१२७॥

सो सिक्खगो य दुविहो गहणे आसेवणाय णायव्वो । गहणंमि होति तिविहो सुत्ते अत्थे तदुभए य ॥१२८॥

---

१ °तथ्याख्यं आ. इ. । २ ग्रंथतः ३४५ । सर्वग्रंथतः ८१६८ । छ । छ । आ, ग्रंथतः ३४५ । छा. इ ।

आसेवणाय दुविहो मूलगुणे चेव उत्तरगुणे य । मूलगुणे पंचविहो उत्तरगुण[1] बारसविहो[2] उ ॥१२९॥
आयरिओऽविय दुविहो पव्वावंतो व सिक्खवंतो य। सिक्खावंतो दुविहो गहणे आसेवणे चेव ॥१३०॥
गाहावितो तिविहो सुत्ते अत्थे य तदुभए चेव । मूलगुणे[3] उत्तरगुणे दुविहो आसेवणाए ऊ ॥१३१॥[4]

'गंथो पुव्वुद्दिट्ठो 'इत्यादि, ग्रन्थो द्रव्यभावभेदभिन्नः क्षुल्लकनैर्ग्रन्थ्यं नाम उत्तराध्ययनेष्वध्ययनं तत्र पूर्वमेव सप्रपञ्चोऽभिहितः, इह तु ग्रन्थं द्रव्यभावभेदभिन्नं यः परित्यजति, शिष्य आचारादिकं वा ग्रन्थं योऽधीते[5]ऽसौ अभिधीयते । स शिष्यो 'द्विविधो' द्विप्रकारो ज्ञातव्यो भवति, तद्यथा–प्रव्रज्यया शिक्षया च, यस्य प्रव्रज्या दीयते शिक्षां वा यो ग्राह्यते स द्विप्रकारोऽपि शिष्यः, इह [तु] पुनः शिक्षाशिष्येण 'प्रकृतम्'–अधिकारो यः शिक्षां गृह्णाति शैक्षकः तच्छिक्षयेह प्रस्ताव इत्यर्थः । यथा प्रतिज्ञातमधिकृत्याह–'सो सिक्खगो य दुविहो' इत्यादि, यः शिक्षां गृह्णाति शैक्षकः, स द्विविधो–द्विप्रकारो भवति; तद्यथा––ग्रहणे प्रथममेवाचार्यादेः सकाशाच्छिक्षां–इच्छामिच्छातहक्कारादिरूपां गृह्णाति शिक्षति, तथा शिक्षितां चाभ्यस्यति–अहर्निशमनुतिष्ठति स एवंविधो ग्रहणासेवनाभेदभिन्नः शिष्यो ज्ञातव्यो भवति, तत्रापि ग्रहणपूर्वकमासेवनमितिकृत्वाऽऽदावेव ग्रहणशिक्षामाह–शिक्षाया 'ग्रहणे'–उपादानेऽधिकृते त्रिविधो भवति शैक्षकः, तद्यथा–सूत्रेऽर्थे तदुभये च, सूत्रादीन्यादावेव गृह्णन् सूत्रादिशिक्षको भवतीति भावः । साम्प्रतं ग्रहणोत्तरकालभाविनीमासेवनामधिकृत्याह–'आसेवणा य' इत्यादि, यथा-

१ °गुणे अ. आ । २ °विहं तु अ. आ । ३ °गुणे अ. आ । ४ गंथो सम्मत्तो अ. आ । ५ °ते× सो आ. इ ।

वस्थितसूत्रानुष्ठानमासेवना तया करणभूतया द्विविधो भवति शिक्षकः, तद्यथा–'मूलगुणे'–मूलगुणविषये आसेवमानः–सम्यग्मूलगुणानामनुष्ठानं कुर्वन् तथा 'उत्तरगुणे च'–उत्तरगुणविषयं सम्यगनुष्ठानं कुर्वाणो द्विरूपोऽप्यासेवनाशिक्षको भवति, तत्रापि मूलगुणे पञ्चप्रकारः–प्राणातिपातादिविरतिमासेवमानः पञ्चमहाव्रतधारणात् पञ्चविधो भवति मूलगुणेष्वासेवनाशिक्षकः, तथोत्तरगुणविषये सम्यक्पिण्डविशुद्ध्यादिकान् गुणानासेवमान उत्तरगुणासेवनाशिक्षको भवति, ते चामी उत्तरगुणाः– 'पिंडस्स जा विसोही समिईओ भावणा तवो दुविहो । पडिमा अभिग्गहाविय उत्तरगुणमो वियाणाहि ॥१॥' यदि वा सत्स्वप्यन्येषूत्तरगुणेषु प्रधाननिर्जराहेतुतया तप एव द्वादशविधमुत्तरगुणत्वेनाधिकृत्याह–'उत्तरगुणे' । उत्तरगुणविषये तपो द्वादशभेदभिन्नं यः सम्यग् विधत्ते स आसेवनाशिक्षको भवतीति । शिष्यो ह्याचार्यमन्तरेण न भवत्यत आचार्यनिरूपणमा(णाया)ह–'आयरियोऽविय' इत्यादि, शिष्यापेक्षया हि आचार्यो 'द्विविधो' द्विभेदः, एको यः प्रव्रज्यां ग्राहयत्यपरस्तु यः शिक्षामिति, शिक्षयन्नपि द्विविधः–एको यः शिक्षाशास्त्रं ग्राहयति–पाठयत्यपरस्तु तदर्थं दशविधचक्रवालसामाचार्यनुष्ठानतः सेवयति–सम्यगनुष्ठानं कारयति । तत्र सूत्रार्थतदुभयभेदाद् ग्राहयन्नप्याचार्यस्त्रिधा भवति । आसेवनाचार्योऽपि मूलोत्तरगुणभेदाद्द्विविधो भवति । गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, तदनन्तरं कस्तं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारयितव्यं, तच्चेदम्–

सा. १ पिण्डस्य या विशोधिः समितयो भावनास्तपो द्विविधम् । प्रतिमा अभिग्रहा अपि चोत्तरगुणा (इति) विजानीहि ॥ १ ॥ २ सत्स्वप्येते प्र० आ । ३ द्वादशभेदं×××यः° आ. इ । ४ ०पणायाह आ. इ । ६ भवतीति आ. इ ।

गंथं विहाय इह सिक्खमाणो, उट्ठाय सुबंभचेरं वसेज्जा । [१]ओवायकारी विणयं सुसिक्खे, जे [२]छेय विप्पमायं न कुज्जा ॥ १ ॥ जहा दियापोतमपत्तजातं, सावासगा पविउं मन्नमाणं । तमचाइयं तरुणमपत्तजातं, ढंकाइ अव्वत्तगमं हरेज्जा ॥ २ ॥ एवं तु सेहंपि अपुट्ठधम्मं, निस्सारियं वुसिमं मन्नमाणा । दियस्स [३]छायं व अपत्तजायं, हरिंसु णं पावधम्मा अणेगे ॥ ३ ॥ ओसाणमिच्छे मणुए समाहिं, अणोसिए णंत[४]करिंति णच्चा । ओभासमाणे दवियस्स वित्तं, ण णिक्कसे बहिया आसुपन्नो ॥ ४ ॥

'गंथं विहाय' इत्यादि, 'इह'–प्रवचने ज्ञातसंसारस्वभावः सन् सम्यगुत्थानेनोत्थितो ग्रथ्यते आत्मा येन स ग्रन्थो–धनधान्य–हिरण्यद्विपदचतुष्पदादि 'विहाय'–त्यक्त्वा प्रव्रजितः सन् सदुत्थानेनोत्थाय च ग्रहणरूपामासेवनारूपां च शिक्षां [[५]चं] कुर्वाणः– सम्यगासेवमानः सुष्ठु–शोभनं नवभिर्ब्रह्मचर्यगुप्तिभिर्गुप्तमाश्रित्य ब्रह्मचर्यं 'वसेत्'–तिष्ठेत्, यदि वा–'सुब्रह्मचर्य'–मिति संयमस्तद् आवसेत्–[६]तं सम्यक् कुर्यात्, आचार्यान्तिके यावज्जीवं वसमानो यावदभ्युद्यतविहारं न प्रतिपद्यते तावदाचार्यवचनस्यावपातो–निर्देशस्तत्कार्यवपातकारी–वचननिर्देशकारी सदाऽऽज्ञाविधायी, विनीयते –अपनीयते कर्म येन स विनयस्तं सुष्ठु शिक्षेद्–विदध्यात् ग्रहणासेवनाभ्यां विनयं सम्यक् परिपालयेदिति । तथा यः 'छेको'–निपुणः स संयमानुष्ठाने सदाचार्योपदेशे वा विविधं प्रमादं न कुर्यात्, यथा हि आतुरः सम्यग्वैद्योपदेशं कुर्वन् श्लाघां लभते, रोगोपशमं च एवं साधुरपि सावद्यग्रन्थपरिहारी पापकर्मभेषजस्थानभूतान्याचार्यवचनानि विदधदपरसाधुभ्यः साधुकारमशेषकर्मक्षयं चावाप्नोतीति॥१॥

१ उवाय० आ । २ छेदे आ. छेए इ । ३ छावं इ. । ४ °करेति आ. इ ५ × आ. इ । ६ तत् आ ।

यः पुनराचार्योपदेशमन्तरेण स्वच्छन्दतया गच्छान्निर्गत्य एकाकिविहारितां प्रतिपद्यते, स च बहुदोषभाग् भवतीत्यस्यार्थस्य दृष्टान्तमाविर्भावयन्नाह–'जहा दिया०' इत्यादि, 'यथे'ति–दृष्टान्तोपप्रदर्शनार्थः, 'यथा'–येन प्रकारेण 'द्विजपोतः'–पक्षिशिशुरव्यक्तः, तमेव विशिनष्टि–पतन्ति–गच्छन्ति तेनेति पत्रं[1]–पक्षपुटं न विद्यते पत्रजातं–पक्षोद्भवो यस्यासावपत्रजातस्तं तथा स्वकीयादावासकात्–स्वनीडात् प्लवितुम्–उत्पतितुं मन्यमानं तत्र तत्र पतन्तमुपलभ्य तं द्विजपोतं 'अचाइयं'ति पक्षाभावाद्गन्तुमसमर्थमपत्रजातमितिकृत्वा मांसपेशीकल्पं 'ढङ्कादयः'–क्षुद्रसत्त्वाः पिशिताशिनः 'अव्यक्तगमं'–गमनाभावे नंष्टुमसमर्थं 'हरेयुः'–चञ्च्वादिनोत्क्षिप्य नयेयुर्व्यापादयेयुरिति ॥ २ ॥ एवं दृष्टान्तं प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिकं प्रदर्शयितुमाह–'एवं तु सेहंपि' इत्यादि, 'एव'मित्युक्तप्रकारेण, तुशब्दः–पूर्वस्माद्विशेषं दर्शयति । पूर्वं ह्यसंजातपक्षत्वादव्यक्तता प्रतिपादिता इह त्वपुष्टधर्मतयेत्ययं विशेषो, यथा द्विजपोतमसंजातपक्षं स्वनीडान्निर्गतं क्षुद्रसत्त्वा विनाशयन्ति, एवं शिक्षकर्म[2]भिनवप्रव्रजितं सूत्रार्थानिष्पन्नमगीतार्थम् 'अपुष्टधर्माणं'–सम्यगपरिणतधर्मपरमार्थं सन्तमनेके पापधर्माणः पाषण्डिकाः प्रतारयन्ति, प्रतार्य च गच्छसमुद्रान्निःसारयन्ति, निसारितं च सन्तं विषयोन्मुखतामापादितमपगतपरलोकभयमस्माकं [3]वश्यमित्येवं मन्यमानाः, यदि वा 'बुसिम'न्ति चारित्रं तद् असदनुष्ठानतो निःसारं मन्यमाना अजातपक्षं 'द्विजशावमिव'–पक्षिपोतमिव ढङ्कादयः पापधर्माणो मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषायकलुषितान्तरात्मानः कुतीर्थिकाः स्वजना राजादयो वाऽनेके बहवो हृतवन्तो हरन्ति हरिष्यन्ति चेति, कालत्रयोपलक्षणार्थं भूतनिर्देश इति, तथाहि–पाषण्डिका एवमगीतार्थं प्रतार-

१ °पत्रं आ. इ । २ ०मपर्याभिनव० आ. इ. । ३ सा. समाप्ताविति स्तेन न प्रथमा ।

यन्ति, तद्यथा–युष्मद्दर्शने नाग्निप्रज्वालनविषापहारशिखाच्छेदादिकाः प्रत्यया दृश्यन्ते, तथाऽणिमाद्यष्टगुणमैश्वर्यं च नास्ति, तथा न राजादिभिर्बहुभिराश्रितं, याऽप्यहिंसोच्यते भवदागमे साऽपि जीवाकुलत्वाल्लोकस्य दुःसाध्या, नापि भवतां स्नानादिकं शौचमस्तीत्यादिकाभिः शठोक्तिभिरिन्द्रजालकल्पाभिर्मुग्धजनं प्रतारयन्ति, स्वजनादयश्चैवं विप्रलम्भयन्ति, तद्यथा-आयुष्मन्!, न भवन्तमन्तरेणास्माकं कश्चिदस्ति पोषकः पोष्यो वा, त्वमेवास्माकं सर्वस्वं, त्वया विना सर्वं शून्यमाभाति, तथा शब्दादि–विषयोपभोगामन्त्रणेन सद्धर्माच्च्यावयन्ति, एवं राजादयोऽपि द्रष्टव्याः, तदेवमपुष्टधर्माणमेकाकिनं बहुभिः प्रकारैः प्रतार्यापहरेयुरिति ॥ ३ ॥ तदेवमेकाकिनः साधोर्यतो बहवो दोषाः प्रादुर्भवन्ति, अतः सदा गुरुपादमूले स्थातव्यमित्येतद्दर्शयितुमाह– 'ओसाणमिच्छे'–इत्यादि, 'अवसानं'–गुरोरन्तिके स्थानं, तद्यावज्जीवं 'समाधिं'–सन्मार्गानुष्ठानरूपम् 'इच्छेद्'–अभिलषेत् 'मनुजो'–मनुष्यः साधुरित्यर्थः, स एव च परमार्थतो मनुष्यो यो यथाप्रतिज्ञातं निर्वाहयति, तच्च[3] सदा गुरोरन्तिके व्यवस्थितेन सदनुष्ठानरूपं समाधिमनुपालयता निर्वाह्यते नान्यथेत्येतद्दर्शयति,–गुरोरन्तिके 'अनुषित्तः'–अव्यवस्थितः स्वच्छन्दविधायी समाधेः सदनुष्ठानरूपस्य कर्मणो यथाप्रतिज्ञातस्य वा नान्तकरो[4] भवतीत्येवं ज्ञात्वा सदा गुरुकुलवासोऽनुसर्तव्यः, तद्रहितस्य विज्ञानमुपहास्यप्रायं भवतीति, उक्तं च–"न हि भवति निर्विगोपकमनुपासितगुरुकुलस्य विज्ञानम् । प्रकटितपश्चाद्भागं पश्यत नृत्यं[5] मयूरस्य ॥ १ " तथाऽज्ञां गलविलग्नवालुकां पार्ष्णिप्रहारेण प्रगुणां दृष्ट्वाऽपरोऽनुपासितगुरुरज्ञो राज्ञीं

१ °राश्रिता आ. रर्चितो इ । २ ×××× न आ. इ । ३ एतच्च आ. । ४ नान्तकरोऽनन्तकरो भव० आ, नान्तकोऽन्तकरो भव० इ । ५ नृत्तं आ. इ. ।

संजातगलगण्डां पार्ष्णिप्रहारेण व्यापादितवान्, इत्यादयः अनुपासितगुरोर्बहवो दोषाः संसारवर्धनाद्या भवन्तीत्यवगम्यानया मर्यादया गुरोरन्तिके स्थातव्यमिति दर्शयति–'अवभासयन्'–उद्भासयन् सम्यगनुतिष्ठन् 'द्रव्यस्य'–मुक्तिगमनमयोग्यस्य सत्साधो रागद्वेषरहितस्य सर्वज्ञस्य वा वृत्तम्–अनुष्ठानं तत्सदनुष्ठानतोऽवभासयेद्, धर्मकथिकः कथनतो वोद्भासयेदिति। तदेवं यतो गुरुकुलवासो बहूनां गुणानामाधारो भवत्यतो 'न निष्कसेत्'–न निर्गच्छेत् गच्छाद्गुर्वन्तिकाद्वा बहिः, स्वेच्छाचारी न भवेद्, 'आशुप्रज्ञः'–इति क्षिप्रप्रज्ञः तदन्तिके निवसन् विषयकषायाभ्यामात्मानं ह्रियमाणं ज्ञात्वा क्षिप्रमेवाचार्योपदेशात्स्वत एव वा 'निवर्तयति'–सत्समाधौ व्यवस्थापयतीति ॥ ४ ॥ तदेवं प्रव्रज्यामभि उद्यतो नित्यं गुरुकुलवासमावसन् सर्वत्र स्थानशयनासनादावुपयुक्तो भवति, तदुपयुक्तस्य च गुणमुद्भावयन्नाह–

जे ठाणओ य[2] सयणासणे य, परक्कमे यावि सुसाहुजुत्ते। समितीसु गुत्तीसु य [3]आयपन्ने, वियागरिंते य पुढो वएज्जा ॥ ५ ॥ सद्दाणि सोच्चा अदु भेरवाणि, अणासवे तेसु परिव्वएज्जा। निद्दं च भिक्खू न पमाय कुज्जा, कहंकहं [4]वा वितिगिच्छतिन्ने ॥ ६ ॥ डहरेण वुड्ढेणऽणुसासिए उ रातिणिएणावि समव्वएणं। सम्मं [5]तयं थिरतो णाभिगच्छे, णिज्जंतए वावि अपारए से ॥ ७ ॥ विउट्ठितेणं समयाणुसिट्ठे डहरेण वुड्ढेण [6]उ [7]चोइए यँ। [8]अच्चुट्ठियाए घडदासिए वा, अगारिणं वा समयाणुसिट्ठे ॥ ८ ॥

---

१ ××××××××××गुरु० आ. इ। या आ. इ.। २ आसुपण्णे इ। ४ पी ठिइगिंछतिण्णे आ. ×वीतिगिंछतिण्णे इ.। ५ तगं इ.। ६ व आ इ। ७ तु आ. इ। ८ अब्भु० आ. इ.। ९ °रिणा. आ. इ।

‘जे ठाणओ य’ इत्यादि, यो हि निर्विण्णसंसारतया प्रव्रज्यामभि उद्यतो नित्यं गुरुकुलवासतः ‘स्थानतश्च’–स्थानमाश्रित्य तथा शयनत आसनतः, एकश्चकारः समुच्चये, द्वितीयोऽनुक्तसमुच्चयार्थः, चकाराद्गमनमाश्रित्यागमनं च तथा तपश्चरणादौ पराक्रमतश्च, (सु[1])साधोः–उद्युक्तविहारिणो ये समाचारास्तैः समायुक्तः सुसाधुयुक्तः, सुसाधुर्हि यत्र स्थानं—कायोत्सर्गादिकं विधत्ते, तत्र सम्यक् प्रत्युपेक्षणादिकां क्रियां करोति, कायोत्सर्गं च मेरुरिव निष्प्रकम्पः शरीरनिःस्पृहो विधत्ते, तथा शयनं च कुर्वन् प्रत्युपेक्ष्य संस्तारकं तद्भुवं कायं [2]चोदितकाले गुरुभिरनुज्ञातः स्वपेत्, तत्रापि जाग्रदिव नात्यन्तं निःसह इति । एवमासनादिष्वपि तिष्ठता पूर्ववत्संकुचितगात्रेण स्वाध्यायध्यानपरायणेन सुसाधुना भवितव्यमिति, तदेवमादिसुसाधुक्रियायुक्तो गुरुकुलनिवासी सुसाधुर्भवतीति स्थितम् । अपि च—गुरुकुलवासे निवसन् पञ्चसु समितिष्वीर्यासमित्यादिषु प्रविचाररूपासु तथा तिसृषु च गुप्तिषु प्रविचाराप्रविचाररूपासु आगता–उत्पन्ना प्रज्ञा यस्यासावागतप्रज्ञः–संजातकर्तव्याकर्तव्यविवेकः स्वतो भवति, परस्यापि च ‘व्याकुर्वन्’–कथयन् पृथक् पृथग्गुरोः प्रसादात्परिज्ञातस्वरूपः समितिगुप्तीनां यथावस्थितस्वरूपप्रतिपालनं तत्फलं च ‘वदेत्’–प्रतिपादयेदिति ॥ ५ ॥ ईर्यासमित्याद्युपेतेन यद्विधेयं तद्दर्शयितुमाह—‘सद्दाणि’ इत्यादि, ‘शब्दान्’ वेणुवीणादिकान् मधुरान् श्रुतिपेशलान् ‘श्रुत्वा’–समाकर्ण्याथवा ‘भैरवान्’–भयाव[3]हान् कर्णकटूनाकर्ण्य शब्दान् आश्रवति तान् शोभनत्वेनाशोभनत्वेन वा गृह्णातीत्याश्रवो नाश्रवोऽनाश्रवः, तेष्वनुकूलेषु प्रतिकूलेषु श्रवणपथमुपगतेषु शब्देष्वनाश्रवो–मध्यस्थो रागद्वेषरहितो भूत्वा परि-सम-

१ × आ. इ । २ चोदित एव काले आ. इ । ३ नकान्. आ. इ. ।

न्वाद् व्रजेत् परिव्रजेत्-संयमानुष्ठायी भवेत्, तथा 'निद्रां च'-निद्राप्रमादं 'भिक्षुः'-सत्साधुः प्रमादाङ्गत्वान्न कुर्यात्, एतदुक्तं भवति—शब्दाश्रवनिरोधेन विषयप्रमादो निषिद्धो निद्रानिरोधेन च निद्राप्रमादः, चशब्दादन्यमपि प्रमादं विकथाकषायादिकं न विदध्यात्। तदेवं गुरुकुलवासात् स्थानशयनासनसमितिगुप्तिष्वागतप्रज्ञः प्रतिषिद्धसर्वप्रमादः सन् गुरोरुपदेशादेव कथं कथमपि विचिकित्सां—चित्तविप्लुतिरूपां [वि]तीर्णः-अतिक्रान्तो भवति, यदि वा मद्गृहीतोऽयं पञ्चमहाव्रतभारोऽतिदुर्वहः कथं कथमप्यन्तं गच्छेद् ?, इत्येवंभूतां विचिकित्सां गुरुप्रसादाद्वितीर्णो भवति, अथवा यां काञ्चिच्चित्तविप्लुतिं देशसर्वगतां तां कृत्स्नां गुर्वन्तिके वसन् वितीर्णो भवति अन्येषामपि तदपनयनसमर्थः स्यादिति ॥ ६ ॥ किञ्चान्यत्—'डहरेण' इत्यादि, स गुर्वन्तिके निवसन् क्वचित् प्रमादस्स्खलितः सन् वयःपर्यायाभ्यां क्षुल्लकेन—लघुना 'चोदितः'-प्रमादाचरणं प्रति निषिद्धः, तथा 'वृद्धेन वा'-वयोऽधिकेन श्रुताधिकेन वा 'अनुशासितः'-अभिहितः, तद्यथा—भवद्विधानामिदमीदृक् प्रमादाचरणमासेवितुमयुक्तं[1] तथा 'रत्नाधिकेन वा' प्रव्रज्यापर्यायाधिकेन श्रुताधिकेन[2] वा समवयसा वा 'अनुशासितः'-प्रमादस्स्खलिताचरणं प्रति चोदितः कुप्यति यथा अहमप्यनेन द्रमकप्रायेणोत्तमकुलप्रसूतः सर्वजनसंमत इत्येवं[3] चोदित इत्येवमनुशास्यमानो न मिथ्यादुष्कृतं ददाति न सम्यगुत्थानेनोत्तिष्ठति नापि तदनुशासनं सम्यक् स्थिरतः-अपुनःकरणतयाऽभिगच्छेत्-प्रतिपद्येत,चोदितश्च प्रतिचोदयेद्, असम्यक् प्रतिपद्यमानश्चासौ संसारस्रोतसा[4] 'नीयमानः'-उह्यमानोऽनुशास्यमानः कूपितोऽसौ न संसारार्णवस्य पारगो भवति। यदि वाऽऽचार्यादिना सदुपदेशदानतः

१ ०वितुं न युक्तं आ.। २ ××××××सम० आ. इ.। ३ ×एवं आ. इ.। ४ ०श्रोतसा आ. इ.।

प्रमादस्खलितनिवर्तनतो मोक्षं प्रति नीयमानोऽप्यसौ संसारसमुद्रस्य तदकरणतोऽपारग एव भवतीति ॥ ७ ॥ साम्प्रतं स्वपक्षचोदनानन्तरतः (रं)स्वपरचोदनामधिकृत्याह–'विउट्ठिएणं' इत्यादि, विरुद्धोत्थानेनोत्थितो व्युत्थितः–परितीर्थिको गृहस्थो वा मिथ्यादृष्टिस्तेन प्रमादस्खलिते चोदितः स्वसमयेन, तद्यथा–नैवंविधमनुष्ठानं भवतामागमे व्यवस्थितं येनाभिप्रवृत्तोऽसि,यदि वा व्युत्थितः–संयमाद्भ्रष्टस्तेनापरः साधुः स्खलितः सन् स्वसमयेन–अर्हत्प्रणीतागमानुसारेणानुशासितो मूलोत्तर[1]गुणाचरणे स्खलितः सन् 'चोदित':–आगमं प्रदर्श्याभिहितः, तद्यथा–नैतत्त्वरितगमनादिकं भवतामनुज्ञातमिति, तथा अन्येन वा मिथ्यादृष्ट्यादिना 'क्षुल्लकेन'–लघुतरेण वयसा वृद्धेन वा कुत्सिताचारप्रवृत्तश्चोदितः, तुशब्दात् समानवयसा [2]वा तथा अतीवाकार्यकरणं प्रति उत्थिता अत्युत्थिताः, यदि वा–दासीत्वेन अत्यन्तमुत्थिता दास्या अपि दासीति, तामेव विशिनष्टि–'घटदास्या'–जलवाहिन्यापि चोदितो न क्रोधं कुर्यात्, एतदुक्तं भवति–अत्युत्थितयाऽतिकुपितया[3]ऽपि चोदितः स्वहितं मन्यमानः सुसाधुर्न कुप्येत्, किं पुनरन्येनेति?, तथा 'अगारिणां'–गृहस्थानां यः समयः अनुष्ठानं तत्समयेनानुशासितो, गृहस्थानामपि एतन्न युज्यते कर्तुं यदारब्धं भवतेत्येवमात्म[4]भावमेनापि चोदितो ममैवैतच्छ्रेय इत्येवं मन्यमानो मनागपि न मनो दूषयेदिति ॥ ८ ॥ एतदेवाह–

ण तेसु कुज्झे ण य पव्वहेज्जा, ण यावि किंची फरुसं वदेज्जा। तहा करिस्संति पडिस्सुणेज्जा, सेयं खु मे[5]यं ण पमाय कुज्जा ॥ ९ ॥ वणंसि मूढस्स जहा अमूढा, मग्गाणुसासंति हितं पयाणं। [6]तेणेव (तेणावि)

१ गुण×××स्ख० आ.। २ × तथा आ. इ। ३ ××चो० आ. इ। ४ ०धमेनापि आ। ५ एयं आ। ६ ×××तेणावि आ। तेणेव××× इ।

मज्झं इणमेव,सेयं, जं मे वुहा समणुसासयंति ॥ १० ॥ अह तेण मूढेण अमूढगस्स, कायव्व पूंया[1] सविसेसजुत्ता । ऐओवमं[2] तत्थ उदाहु वीरे, अणुगम्म अत्थं उवणेति सम्मं ॥ ११ ॥ णेता जहा अंधकारंसि राओ, मग्गं ण जाणाति अपस्समाणे । से सूरिअस्स अब्भुग्गमेणं, मग्गं वियाणाइ पगासियंसि ॥ १२ ॥

'ण तेसु कुज्झे' इत्यादि, 'तेषु'-स्वपरपक्षेषु स्खलितचोदकेष्वात्महितं मन्यमानो न क्रुध्येद् अन्यस्मिन् वा दुर्वचनेऽभिहिते न कुंप्येद्[3] एवं च चिन्तयेत्-"आक्रुष्टेन मतिमता तत्त्वार्थविचारणे मतिः कार्या । यदि सत्यं कः कोपः?, स्यादनृतं किं नु कोपेन ? ॥ १ ॥" तथा नाप्यपरेण स्वतोऽधमेनापि चोदितोऽर्हन्मार्गानुसारेण लोकाचारगत्या वाऽभिहितः परमार्थं पर्यालोच्य तं चोदकं प्रकर्षेण 'व्यथेत्'-दण्डादिप्रहारेण पीडयेत्, न चापि किञ्चित्परुषं तत्पीडादिकारि 'वदेत्'-ब्रूयात्; ममैवायमसदनुष्ठायिनो दोषो येनायमपि मामेवं चोदयति, चोदितश्चैवं,विधं भवता असदाचरणं न विधेयमेवंविधं च पूर्वर्षिभिरनुष्ठितमनुष्ठेयमित्येवंविधं वाक्यं तथा करिष्यामीत्येवं मध्यस्थवृत्त्या प्रतिश्रुणुयाद् अनुतिष्ठेच्च[4]-मिथ्यादुष्कृतादिना निवर्तेत, यदेतच्चोदनं नामैतन्ममैव श्रेयो, यत एतद्भयात्केंचित्पुनः[5] प्रमादं न कुर्यान्नैवासदाचरणमनुतिष्ठेदिति ॥ ९ ॥ अस्यार्थस्य दृष्टान्तं दर्शयितुमाह 'वणंसि' इत्यादि, 'वने'-गहने महाटव्यां दिग्भ्रमेण कस्यचिद्व्याकुलितमतेर्नष्टसत्पथस्य यथा केचिदपरे कृपाकृष्टमानसा 'अमूढाः'-सदसन्मार्गज्ञाः कुमार्गपरिहारेण प्रजानां 'हितम्'-अशेषापायरहितमीप्सितस्थानप्रापकं 'मार्ग'-पन्थानम् 'अनु-

१ पूता आ । २ एत्तोवमं आ. एवोवमं इ । ३ कुप्येत्××××××× उक्तं च आ° आ । ४ ०ष्ठेत् इ । ५ कश्चित्पु० आ ।

शांसन्ति'–प्रतिपादयन्ति, स च तैः संदसद्विवेकिभिः सन्मार्गावतरणमनुशासित आत्मनः श्रेयो मन्यते, एवं तेनाप्यसदनुष्ठायिना चोदितेन न कुपितव्यम्, अपि तु ममायमनुग्रह इत्येवं मन्तव्यं, यदेतद् बुद्धाः सम्यगनुशासयन्ति–सन्मार्गेऽवतारयन्ति पुत्रमिव पितरः तन्ममैव श्रेय इति मन्तव्यम् ॥१०॥ पुनरप्यस्यार्थस्य पुष्ट्यर्थमाह–'अह तेण' इत्यादि, 'अथे'त्यानन्तर्यार्थे वाक्योपन्यासार्थे वा, यथा 'तेन'–मूढेन सन्मार्गावतारितेन तदनन्तरं तस्य 'अमूढस्य'–सत्पथोपदेष्टुः पुलिन्दादेरपि परमुपकारं मन्यमानेन पूजा विशेषयुक्ता कर्तव्या, एवमेतामुपमाम् 'उदाहृतवान्'–अभिहितवान् 'वीरः'–तीर्थकरोऽन्यो वा गणधरादिकः 'अनुगम्य'–बुद्ध्वा 'अर्थं'–परमार्थं चोदनाकृतं परमोपकारं सम्यगात्मन्युपनयति, तद्यथा–अहमनेन मिथ्यात्ववनाज्जन्मजरामरणाद्यनेकोपद्रवबहुलात्सदुपदेशदानेनोत्तारितः, ततो मयाऽस्य परमोपकारिणोऽभ्युत्थानविनयादिभिः पूजा विधेयेति । अस्मिन्नर्थे बहवो दृष्टान्ताः सन्ति, तद्यथा–गेहंमि अग्गिजालाउलंमि जह णाम डज्झमाणंमि । जो बोहेइ सुयंतं सो तस्स जणो परमबंधू ॥ १ ॥ जह वा विससंजुत्तं भत्तं निद्धमिह भोत्तुकामस्स । जोवि सदोसं साहइ सो तस्स जणो परमबंधू ॥२॥" ॥ ११ ॥ अयमपरः सूत्रेणैव दृष्टान्तोऽभिधीयते 'णेता जहा' इत्यादि, यथा हि सजलजलधराच्छादितबहलान्धकारायां रात्रौ 'नेता'–नायकोऽटव्यादौ स्वभ्यस्तप्रदेशोऽपि 'मार्गं'–पन्थानमन्धकारावृतत्वात् स्वहस्तादिकमपश्यन्न जानाति–

१ ०शासति आ. इ । २ xxxxxxx स० आ. xxसद्वि० इ । ३ ०तरणतोऽनु० आ, ०तारणतोऽनु० इ । ४ धीरः आ । सा. ५ गेहेऽग्निज्वालाकुले यथा नाम दह्यमाने। यो वोधयति सुप्तं स तस्य जनः परमवान्धवः ॥ १ ॥ ६ यथा वा विषसंयुक्तं भक्तं स्निग्धं इह भोक्तुकामस्य योऽपि सदोषं साधयति स तस्य परमवन्धुर्जनः ॥ २ ॥ ७ मिठ आ ।

–न सम्यक् परिच्छिनत्ति । स एव प्रणेता 'सूर्यस्य'–आदित्यस्याभ्युद्गमेनापनीते तमसि प्रकाशिते दिक्चक्रे सम्यगाविर्भूते पाषाणदरिनिम्नोन्नतादिके मार्गं जानाति–विवक्षितप्रदेशप्रापकं पन्थानमभिव्यक्तचक्षुः परिच्छिनत्ति–दोषगुणविचारणतः सम्यगवगच्छतीति ॥ १२ ॥ एवं दृष्टान्तं प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिकमधिकृत्याह–

एवं तु सेहेवि अपुट्ठधम्मे, धम्मं न जाणाइ अबुज्झमाणे । से कोविए जिणवयणेण[1] पच्छा, सूरोदए पासति चक्खुणेव ॥ १३ ॥ उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु, तसा य जे थावरा[2] जे य पाणा । सया जए तेसु परिव्वएज्जा, मणप्पओसं अविकंपमाणे ॥ १४ ॥ कालेण पुच्छे समियं[3] पयासु, आइक्खमाणो दवियस्स वित्तं । तं सोयकारी पुढो पवेसे, संखा इमं केवलियं समाहिं ॥ १५ ॥ अस्सिं सुठिच्चा[4] तिविहेण तायी, एएसु या संति निरोहमाहु । ते एवमक्खंति तिलोगदंसी, ण भुज्जमेयंति पमायसंगं ॥ १६ ॥

'एवं तु सेहे०' इत्यादि, यथा ह्यसावन्धकारावृतायां रजन्यामतिगहनायामटव्यां मार्गं न जानाति, सूर्योद्गमेनापनीते तमसि पश्चाज्जानाति, एवं तु 'शिष्यकः'[5]–अभिनवप्रव्रजितोऽपि सूत्रार्थानिष्पन्नः अपुष्टः–अपुष्कलः सम्यगपरिज्ञातो धर्मः–श्रुतचारित्राख्यो दुर्गतिप्रसृतजन्तुधरणस्वभावो येनासावपुष्टधर्मा, स चागीतार्थः–सूत्रार्थानभिज्ञत्वादबुध्यमानो धर्मं न जानातीति–न सम्यक् परिच्छिनत्ति, स एव तु पश्चाद्गुरुकुलवासाज्जिनवचनेन 'कोविदः'–अभ्यस्तसर्वज्ञप्रणीतागमत्वान्निपुणः सूर्योदयेऽपगतावरणश्चक्षुषेव यथावस्थितान् जीवादीन् पदार्थान् पश्यति, इदमुक्तं भवति–यथा हि इन्द्रियार्थसंपर्कात् साक्षा-

१ ०वयणे वि आ । २ थावर आ. इ । ३ समतं इ. । ४ ०त्ता आ । ५ शिक्षकः आ ।

त्कारितया परिस्फुटा घटपटादयः पदार्थाः प्रतीयन्ते, एवं सर्वज्ञप्रणीतागमेनापि सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टस्वर्गापवर्गदेवतादयः परिस्फुटा निशङ्कं प्रतीयन्त इति। अपि च कदाचिच्चक्षुषाऽन्यथाभूतोऽप्यर्थोऽन्यथा परिच्छिद्यते, तद्यथा—मरुमरीचिकानिचयो जलभ्रान्त्या किंशुकनिचयोऽग्न्याकारेणापीति । न च सर्वज्ञप्रणीतस्यागमस्य क्वचिदपि व्यभिचारः, तद्व्यभिचारे हि सर्वज्ञत्वहानिप्रसङ्गात्, तत्संभवस्य[1] चासर्वज्ञेन प्रतिषेद्धुमशक्यत्वादिति ॥ १३ ॥ शिक्षको हि गुरुकुलवासितया जिनवचनाभिज्ञो भवति, तत्कोविदश्च सम्यक् मूलोत्तरगुणान् जानाति, तत्र मूलगुणानधिकृत्याह—'उड्ढं अहेयं' इत्यादि, ऊर्ध्वमधस्तिर्यग् दिक्षु विदिक्षु चेत्यनेन क्षेत्रमङ्गीकृत्य प्राणातिपातविरतिरभिहिता, द्रव्यतस्तु दर्शयति—त्रस्यन्तीति त्रसाः—तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च तथा ये च स्थावराः—स्थावरनामकर्मोदयवर्तिनः पृथिव्यब्वनस्पतयः, तथा ये चैतद्भेदाः सूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तकरूपा दशविधप्राणधारणात् प्राणिनस्तेषु, 'सदा'—सर्वकालम्, अनेन तु कालमधिकृत्य विरतिरभिहिता, यतः परिव्रजेत्—परिसमन्ताद्व्रजेत् संयमानुष्ठायी भवेत्, भावप्राणातिपातविरतिं दर्शयति—स्थावरजङ्गमेषु प्राणिषु तदपकारे[2] उपकारे[3] वा मनागपि मनसा प्रद्वेषं न गच्छेद् आस्तां तावद्दुर्वचनदण्डप्रहारादिकं, तेष्वपकारिष्वपि मनसाऽपि न मङ्कुलं चिन्तयेद्, 'अविकम्पमानः'—संयमादचलन् सदाचारमनुपालयेदिति, तदेवं योगत्रिककरणत्रिकेण द्रव्यक्षेत्रकालभावरूपां प्राणातिपातविरतिं सम्यगरक्तद्विष्टतयाऽनुपालयेद्, एवं शेषाण्यपि महाव्रतान्युत्तरगुणांश्च ग्रहणासेवनाशिक्षासमन्वितः सम्यगनुपालयेदिति

सा. १ सर्वज्ञप्रणीतागमोक्तपदार्थसंभवस्य, सर्वज्ञसंभवस्येति वा । २ शत्रोरुपकारे वाह्ये वा दुरायतिके स्वस्य, अन्यथोपकारे द्वेषासंभवात् । ३ ऽनपकारे आ ।

॥ १४ ॥ गुरोरन्तिके वसतो विनयमाह–'कालेण' इत्यादि, सूत्रमर्थं तदुभयं वा विशिष्टन–प्रष्टव्यकालेनाचार्यादेरवसरं ज्ञात्वा प्रजायन्त इति प्रजा– जन्तवस्तासु प्रजासु–[1]जन्तुविषये चतुर्दशभूतग्रामसंबद्धं कश्चिदाचार्यादिकं सम्यगितं–सदाचारानुष्ठायिनं सम्यक् वा समन्ताद्वा जन्तुगतं पृच्छेदिति । स च तेन पृष्ट आचार्यादिराचक्षाणः शुश्रूषयितव्यो भवति, यदाचक्षाणस्तद्दर्शयति–मुक्तिगमनयोग्यो भव्यो द्रव्यं रागद्वेषविरहाद्वा । द्रव्यं तस्य द्रव्यस्य–वीतरागस्य तीर्थंकरस्य वा वृत्तम्–अनुष्ठानं संयमं ज्ञानं वा तत्प्रणीतमागमं वा सम्यगाचक्षाणः सपर्ययाऽयं माननीयो भवति । कथमित्याह–'तद्' आचार्यादिना कथितं श्रोत्रे–कर्णे कर्तुं शीलमस्य श्रोत्रकारी–यथोपदेशकारी आज्ञाविधायी सन् पृथक् पृथगुपन्यस्तमादरेण हृदये प्रवेशयेत्–चेतसि व्यवस्थापयेत्, व्यवस्थापनीयं दर्शयति–'संखयाय'–सम्यक् ज्ञात्वा 'इम'मिति वक्ष्यमाणं केवलिन इदं कैवलिकं–केवलिना कथितं समाधिं–सन्मार्गं सम्यग्ज्ञानादिकं मोक्षमार्गमाचार्यादिना कथितं यथोपदेशं प्रवर्तकः पृथग्विविक्तं हृदये पृथग्व्यवस्थापयेदिति ॥१५॥ किंचान्यत्–'अस्सिं सुट्ठिच्चा' इत्यादि, 'अस्मिन्'–गुरुकुलवासे निवसता यच्छ्रुतं श्रुत्वा च सम्यक् हृदयव्यवस्थापनद्वारेणावधारितं तस्मिन् समाधिभूते मोक्षमार्गे सुष्ठु स्थित्वा 'त्रिविधेने'ति मनोवाक्काय[2]कर्मभिः कृतकारितानुमतिभिर्वाऽऽत्मानं त्रातुं शीलमस्येति त्रायी जन्तूनां सदुपदेशदानतस्त्राणकरणशीलो वा तस्य स्वपरत्रायिणः, एतेषु च समितिगुप्त्यादिषु समाधिमार्गेषु स्थितस्य शान्तिर्भवति– अशेषद्वन्द्वोपरमो भवति, तथा निरोधम्–अशेषकर्मक्षयरूपम् 'आहुः'–तद्विदः प्रतिपादितवन्तः, क एवमाहुरित्याह–त्रिलोकम्–ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्लक्षणं द्रष्टुं शीलं येषां ते

१ जन्तुषु वि० आ । २ गुप्तिभिः आ ।

त्रिलोकदर्शिनः–तीर्थकृतः सर्वज्ञास्ते 'एवम्'–अनन्तरोक्तया नीत्या सर्वभावान् केवलालोकेन दृष्ट्वा 'आचक्षते'–प्रतिपादयन्तीति । एतदेव समितिगुप्त्यादिकं संसारोत्तारणसमर्थं ते त्रिलोकदर्शिनः कथितवन्तो न पुनर्भूय एतं(नं) '[1]प्रमादसङ्गं'–मद्यविषयादिकं संबन्धं विधेयत्वेन प्रतिपादितवन्तः ॥ १६ ॥ किञ्चान्यत्–

निसम्म से भिक्खु समीहियट्ठं, पडिभाणवं होइ विसारए य[2] । आयाणअट्ठी वोदाणमोणं, उवेच्च सुद्धेण उवेति मोक्खं ॥ १७ ॥ संखाइ धम्मं च वियागरंति, बुद्धा हु ते अंतकरा भवंति । ते पारगा दोण्हवि मोयणाए, संसोधितं पण्हमुदाहरंति ॥ १८ ॥ णो छायए णोऽविय लूसएज्जा, माणं ण सेवेज्ज पगासणं च । ण यावि पन्ने परिहास कुज्जा, ण याऽऽसि[3]यावाय वियागरेज्जा ॥ १९ ॥ भूताभिसंकाइ दुगुंछमाणे, ण णिव्वहे मंतपदेण गोयं[4] । ण किंचि मिच्छे मणुए पयासुं, असाहुधम्माणि ण संवएज्जा ॥ २० ॥

'निसम्म' इत्यादि, स गुरुकुलवासी भिक्षुः द्रव्यस्य वृत्तं 'निशम्य'–अवगम्य स्वतः समीहितं चार्थं–मोक्षार्थं[5] बुद्ध्वा हेयोपादेयं सम्यक् परिज्ञाय नित्यं गुरुकुलवासतः 'प्रति[6]भानवान्'–उत्पन्नप्रतिभो भवति । तथा सम्यक् स्वसिद्धान्तपरिज्ञानाच्छ्रोतृणां यथावस्थितार्थानां 'विशारदो भवति'–प्रतिपादको भवति । मोक्षार्थिनाऽऽदीयत इत्यादानं–सम्यग्ज्ञानादिकं तेनार्थः स एव वाऽर्थः आदानार्थः स विद्यते यस्यासावादानार्थी, स एवंभूतो ज्ञानादिप्रयोजनवान् व्यवदानं–द्वादशप्रकारं तपो, मौनं-संयमः–आश्रवनिरोधरूपस्तदेवमेतौ तपःसंयमावुपेत्य–प्राप्य ग्रहणासेवनरूपया द्विविधयापि शिक्षया

१ ×प्रमा० आ. इ । २ या आ, ता इ. । ३ ०सिसा० आ । ४ गोए आ, गुत्तं इ । ५ मोक्षाख्यं आ. इ । ६ ०भाववान् आ. इ ।

समन्वितः सर्वत्र प्रमादरहितः प्रतिभानवान् विशारदश्च 'शुद्धेन'–निरुपाधिना उद्गमादिदोषशुद्धेन चाहारेणात्मानं यापयन्न-शेषकर्मक्षयलक्षणं मोक्षमुपैति, न 'उवेइ मारं' ति क्वचित्पाठः, बहुशो म्रियन्ते स्वकर्मपरवशाः प्राणिनो यस्मिन् स मारः–संसारस्तं जातिजरामरणरोगशोकाकुलं शुद्धेन मार्गेणात्मानं वर्तयन् न उपैति, यदि वा मरणं–प्राणत्यागलक्षणं मारस्तं बहुशो नोपैति, तथाहि–अप्रतिपतितसम्यक्त्व उत्कृष्टतः सप्ताष्टौ वा भवान् म्रियते नोर्ध्वमिति ॥ १७ ॥ तदेवं गुरुकुल-निवासितया धर्मे सुस्थिता बहुश्रुताः प्रतिभानवन्तोऽर्थविशारदाश्च सन्तो यत्कुर्वन्ति तद्दर्शयितुमाह–'संखाइ' इत्यादि, सम्यक् ख्यायते–परिज्ञायते यया सा 'संख्या'–सद्बुद्धिस्तया स्वतो धर्मं परिज्ञायापरेषां यथावस्थितं–'धर्मं'–श्रुतचारित्राख्यं 'व्यागृणन्ति'–प्रतिपादयन्ति, यदि वा स्वपरशक्तिं परिज्ञाय पर्षदं वा प्रतिपाद्यं चार्थं सम्यगवबुध्य धर्मं प्रतिपादयन्ति । ते चैवंविधा बुद्धाः–कालत्रयवेदिनो जन्मान्तरसंचितानां कर्मणामन्तकरा भवन्ति, अन्येषां च कर्मापनयनसमर्था भवन्तीति दर्शयति–ते यथावस्थितधर्मप्ररूपका 'द्वयोरपि'–परात्मनोः कर्मपाशविमोचनया स्नेहादिनिगडविमोचनया वा करणभूतया संसारसमुद्रस्य पारगा भवन्ति । ते चैवंभूताः १, 'सम्यक् शोधितं'–पूर्वोत्तराविरुद्धं 'प्रश्नं'–शब्दमुदाहरन्ति, तथाहि–पूर्वं बुद्ध्या पर्यालोच्य कोऽयं पुरुषः कस्य चार्थस्य ग्रहणसमर्थोऽहं वा किंभूतार्थप्रतिपादनशक्त इत्येवं सम्यक् परीक्ष्य व्याकुर्या-

---

१ मारं आ । सा. २ अट्ठभवा उ चरित्ते इति वचनाच्चारित्रयुतं सम्यक्त्वं परं प्रतिपाति तदिति अप्रतिपतितसम्यक्त्व इति, जघन्याराधनया वा जन्माभरष्टत्र्येकैः इति वचनात्, सप्ताष्टाविति मनुष्यकायस्थित्यपेक्षं, सम्यक्त्वभवास्तु पल्योपमासंख्यभागमिताः ।

दिति, अथवा परेण कश्चिदर्थं पृष्टस्तं प्रश्नं सम्यग् परीक्ष्योदाहरेत्–सम्यगुत्तरं दद्यादिति, तथा चोक्तम्–"[1]आयरियसयासा [2]वें धारिएण अत्थेण झरियमुणिएणं । तो संघमज्झयारे ववहरिउं जे सुहं [3]होंति ॥ १ ॥" तदेवं ते गीतार्था यथावस्थितं धर्मं कथयन्तः स्वपरतारका भवन्तीति ॥ १८ ॥ स च प्रश्नमुदाहरन् कदाचिदन्यथापि ब्रूयादतस्तत्प्रतिषेधार्थमाह–'णो छायए' इत्यादि, 'स'–प्रश्नस्योदाहर्ता सर्वार्थाश्रयत्वाद्रत्न–करण्डकल्पः कुत्रिकापणकल्पोवा चतुर्दशपूर्विणामन्य[4]तरो वा कश्चिदा[5]चार्यादिभिः प्रतिभानवान्–अर्थविशारदस्तदेवंभूतः कुतश्चिन्निमित्तात् श्रोतुः कुपितोऽपि सूत्रार्थं 'न छादयेत्'–नान्यथा व्याख्यानयेत् स्वाचार्यं वा नापलपेत् धर्मकथां वा कुर्वन्नार्थं छादयेद् आत्मगुणोत्कर्षाभिप्रायेण वा परगुणान्न छादयेत्, तथा परगुणान्न लूषयेत्–न विडम्बयेत् शास्त्रार्थं वा नापसिद्धान्तेन व्याख्यानयेत्, तथा समस्त[6]शास्त्रवेत्ताऽहं सर्वलोकविदितः समस्तसंशयापनेता न मत्तुल्यो हेतुयुक्तिभिरर्थप्रतिपादयितेत्येवमात्मकं मानम्–अभिमानं गर्वं न सेवेत, नाप्यात्मनो बहुश्रुतत्वेन तपस्वित्वेन वा प्रकाशनं कुर्यात्, चशब्दादन्यदपि पूजासत्कारादिकं परिहरेत्, तथा न चापि 'प्रज्ञावान्'–सश्रुतिकः 'परिहासं'–केलिप्रायं ब्रूयाद्, यदि वा कथञ्चिदबुध्यमाने श्रोतरि तदुपहासप्रायं परिहासं न विदध्यात्, तथा नापि चाशीर्वादं बहुपुत्रो बहुधनो [[7]बहुधर्मो] दीर्घायुस्त्वं भूया इत्यादि व्यागृणीयात्, भाषासमितियुक्तेन भाव्यमिति ॥१९॥ किंनिमित्तमाशीर्वादो न विधेय इत्याह—'भूताभिसंकाइ' इत्यादि, भूतेषु–जन्तुषूपमर्दशङ्का–भूताभिशङ्का तयाऽऽशीर्वादं 'सावद्यं'–

१ आचार्यसकाशाद् अवधारितेनार्थेन स्मारकेण ज्ञात्रा च ततः संघमध्ये व्यवहर्तुं सुखं भवति ॥ १ ॥ २ × धा० आ. इ । ३ होति आ. इ । ४ ०तरो परो वा आ. इ । ५ चार्यादिः प्र० आ. इ । ६ °शास्त्रार्थवेत्ता आ. इ । ७ °××××दी० आ. इ ।

सपापं [1]जुगुप्समानो न ब्रूयात्, तथा गास्त्रायत इति गोत्रं–मौनं वाक्संयमस्तं 'मन्त्रपदेन'–विद्यापमार्जनविधिना 'न निर्वाहयेत्' न निःसारं कुर्यात्। यदि वा गोत्रं–जन्तूनां जीवितं, 'मन्त्रपदेन'–राजादिगुप्तभाषणपदेन राजादीनामुपदेशदानतो 'न निर्वाहयेत्'–नापनयेत्, एतदुक्तं भवति–न राजादिना सार्धं जन्तुजीवितोपमर्दकं मन्त्रं कुर्यात्, तथा प्रजायन्त इति प्रजाः–जन्तवस्तासु प्रजासु, 'मनुजो'–मनुष्यो व्याख्यानं कुर्वन् धर्मकथां वा न 'किमपि'–लाभपूजासत्कारादिकम् 'इच्छेद्'–अभिलषेत्, तथा कुत्सितानाम्–असाधूनां धर्मान्–वस्तुदानतर्पणादिकान् 'न संवदेत्'–न ब्रूयाद्; यदि वा नासाधुधर्मान् ब्रुवन् संवादयेद्, अथवा धर्मकथां व्याख्यानं वा कुर्वन् प्रजास्वात्मश्लाघारूपां कीर्तिं नेच्छेदिति ॥ २० ॥

किञ्चान्यत्—

हासं पि[2] णो [3]संधति पावधम्मे, ओए [4]तहीयं फरुसं वियाणे। णो तुच्छए णो य विकंथइज्जा, अणाइले या अकसाइ भिक्खू ॥ २१ ॥ संकेज्ज याऽसंकितभाव भिक्खू, विभज्जवायं च वियागरेज्जा। भासादुयं धम्मसमुट्ठितेहिं, वियागरेज्जा समया सुपन्ने ॥ २२ ॥ अणुगच्छमाणे वितहं वि[5]जाणे, तहा तहा साहु अकक्कसेणं। ण कत्थई भास विहिंसइज्जा, निरुद्धगं वावि न दीहइज्जा ॥ २३ ॥ समालवेज्जा पडिपुन्नभासी, निसामिया समियाअट्ठदंसी। आणाइ सुद्धं वयणं भिउंजे, [6]अभिसंधए पावविवेग भिक्खू ॥ २४ ॥

'हासं पि' इत्यादि, यथा परमात्मनोर्हास्यमुत्पद्यते तथा शब्दादिकं शरीरावयवमन्यान् वा पापधर्मान् सावद्यान्म-

१ जुगुप्सन् आ. इ। २ च. आ। ३ संधये आ। ४ तहंत आ. तहिंतं इ। ५ भिजाणे आ. इ। ६ संधेज्जया आ।

नोवाक्कायव्यापारान् ‘ न संधयेत् ’–न विदध्यात्, तद्यथा—इदं छिन्द्धि भिन्द्धि, तथा कुप्रावचनिकान् हास्यप्रायं नोत्प्रासयेत्, तद्यथा—शोभनं भवदीयं व्रतं, तद्यथा—“[1]मृद्वी शय्या प्रातरुत्थाय पेया, [2]मध्ये भक्तं पानकं चापराह्णे । द्राक्षाखण्डं शर्करा चार्धरात्रे, मोक्षश्चान्ते शाक्यपुत्रेण दृष्टः ॥ १ ॥” इत्यादिकं परदोषोद्भावनप्रायं पापबन्धकमितिकृत्वा हास्येनापि न वक्तव्यम् । तथा ‘ओजो’–रागद्वेषरहितः सबाह्याभ्यन्तरग्रन्थत्यागाद्वा निष्किञ्चनः सन् ‘तथ्य’[3]मिति परमार्थतः सत्यमपि परुषं वचोऽपरचेतोविकारि ज्ञपरिज्ञया विजानीयात्, प्रत्याख्यानपरिज्ञया च परिहरेत्; यदि वा रागद्वेषविरहादोजाः ‘ तथ्यं ’–परमार्थभूतमकृत्रिममप्रतारकं ‘ परुषं ’–कर्मसंश्लेषाभावान्निर्ममत्वादल्पसत्त्वैर्दुरनुष्ठेयत्वाद्वा कर्कशमन्तप्रान्ताहारोपभोगाद्वा परुषं—संयमं, ‘ विजानीयात् ’–तदनुष्ठानतः सम्यगवगच्छेत्, तथा स्वतः कश्चिदर्थविशेषं परिज्ञाय पूजासत्कारादिकं वाऽवाप्य ‘ न तुच्छो भवेत् ’–नोन्मादं गच्छेत्, तथा ‘ न विकत्थयेत् ’–नात्मानं श्लाघयेत् परं वा सम्यगनवबुध्य[4]मानः ‘नो विकत्थयेत् ’–नात्यन्तं च मढयेत्, तथा ‘ अनाकुलो ’–व्याख्यानावसरे धर्मकथावसरे वाऽनाविलो लाभादिनिरपेक्षो भवेत्, तथा सर्वदा ‘ [5]अकषायः ’–कषायरहितो भवेद् ‘ भिक्षुः ’–साधुरिति ॥ २१ ॥

साम्प्रतं व्याख्यानविधिमधिकृत्याह—‘ संकेज्ज ’ इत्यादि, ‘भिक्षुः’–साधुर्व्याख्यानं कुर्वन्नर्वाग्दर्शित्वादर्थनिर्णयं प्रति अशङ्कितभावोऽपि ‘ शङ्केत ’–औद्धत्यं परिहरन्नहमेवार्थस्य वेत्ता नापरः कश्चिदित्येवं गर्वं न कुर्वीत, किंतु विषममर्थं प्ररूपयन् साशङ्कमेव कथयेद्, यदि वा परिस्फुटमप्यशङ्कितभावमप्यर्थं न तथा कथयेत् यथा परः शङ्केत, तथा विभज्यवादं–

१ XXX मृ° आ. इ । २ भक्तं मध्ये आ. इ । ३ मपि आ. इ । ४ °मानं आ. इ. । ५ अकषायी आ ।

पृथगर्थनिर्णयवादं व्यागृणीयात्, यदि वा विभज्यवादः-स्याद्वादस्तं सर्वत्रास्खलितं लोकव्यवहाराविसंवादितया सर्वव्यापिनं स्वानुभवसिद्धं वदेद्, अथवा सम्यगर्थान् विभज्य-पृथक्कृत्वा तद्वादं वदेत्, तद्यथा—नित्यवादं द्रव्यार्थतया पर्यायार्थतया त्वनित्यवादं वदेत्, तथा स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः सर्वेऽपि पदार्थाः सन्ति, परद्रव्यादिभिस्तु न सन्ति, तथा चोक्तम्- "सदेव सर्वं को [1]नेच्छेत्स्वरूपादिचतुष्टयात् ?, असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥ १ ॥" इत्यादिकं विभज्यवादं वदेदिति । विभज्यवादमपि भाषाद्वितयेनैव ब्रूयादित्याह-भाषयोः—आद्यचरमयोः सत्यासत्यामृषयोर्द्विकं [2]भाषाद्विकं तद्भाषाद्वयं क्वचित्पृष्टोऽपृष्टो वा धर्मकथावसरेऽन्यदा वा सदा वा 'व्यागृणीयात्'-भाषेत, किंभूतः सन् ?, सम्यक्-सत्संयमानुष्ठानेनोत्थिताः समुत्थिताः-सत्साधव उद्युक्तविहारिणो न पुनरुदायिन्नृपमारकवत्कृत्रिमास्तैः सम्यगुत्थितैः सह विहरन् चक्रवर्तिद्रमकयोः समतया रागद्वेषरहितो वा शोभनप्रज्ञो भाषाद्वयोपेतः सम्यग्धर्मं व्यागृणीयादिति ॥ २२ ॥ किञ्चान्यत्—'अणुगच्छमाणे' इत्यादि, तस्यैवं भाषाद्वयेन कथयतः कश्चिन्मेधावितया तथैव तमर्थमाचार्यादिना कथितमनुगच्छन् सम्यगवबुध्यते, अपरस्तु मन्दमेधावितया वितथम्-अन्यथैवाभिजानीयात्, तं च सम्यगनवबुध्यमानं तथा तथा-तेन तेन हेतूदाहरणसद्युक्तिप्रकटनप्रकारेण मूर्खस्त्वमसि, तथा दुर्दूरूढः खसूचिरित्यादिना कर्कशवचनेनानिर्भर्त्सयन् यथा यथाऽसौ बुध्यते तथा तथा 'साधुः'-सुष्ठु बोधयेत् न कुत्रचित्क्रुद्धमुखहस्तौष्ठनेत्रविकारैरनादरेण कथयन् मनःपीडामुत्पादयेत्, तथा प्रश्नयतस्तद्भाषामपशब्दादिदोषदुष्टामपि धिग् मूर्खासंस्कृतमते ! किं तवानेन संस्कृतेन पूर्वो-

१ नेच्छन् आ। २ ×××× त० आ।

त्तरव्याहतेन वोच्चारितेनेत्येवं 'न विहिंस्यात्'–न तिरस्कुर्याद् असंबद्धोद्घट्टनतस्तं प्रश्नयितारं न विडम्बयेदिति। तथा निरुद्धम्–अर्थस्तोकं दीर्घवाक्यैर्महता शब्ददर्दुर्दरेणार्कविटपिकाष्टिकान्यायेन न कथयेत्, निरुद्धं वा–स्तोककालीनं व्याख्यानं व्याकरणतर्कादिप्रवेशनद्वारेण प्रसक्त्यानुप्रसक्त्या[2] 'न दीर्घयेत्'–न दीर्घकालिकं कुर्यात्, तथा चोक्तम्—"[3]सो अत्थो वत्तव्वो जो भण्णइ अक्खरेहिं थोवेहिं। जो पुण थोवो बहुअक्खरेहिं सो होइ निस्सारो ॥ १ ॥" तथा किंचित्सूत्रमल्पार्थं वा इत्यादि चतुर्भङ्गिका, तत्र यदल्पाक्षरं महार्थं तदिह प्रशस्यत इति ॥ २३ ॥ अपि च—'समालवेज्ञा' इत्यादि, यत्पुनरतिविषमत्वादल्पाक्षरैर्न सम्यगवबुध्यते तत्सम्यग्–शोभनेन प्रकारेण समन्तात्[4] पर्यायशब्दोच्चारणतो भावार्थकथनतश्चालपेद्–भाषेत समालपेत्, नाल्पैरेवाक्षरैरुक्त्वा कृतार्थो भवेद्, अपि तु ज्ञेयगहनार्थभाषणे सद्धेतुयुक्त्यादिभिः श्रोतारमपेक्ष्य प्रतिपूर्णभाषी स्याद्–अस्खलितामिलिताहीनाक्षरार्थवादी भवेदिति। तथाऽऽचार्यादेः सकाशाद्यथावदर्थं श्रुत्वा निशम्य अवगम्य च सम्यग्–यथावस्थितमर्थं, यथा गुरुसकाशादवधारितमर्थं–प्रतिपाद्यं द्रष्टुं शीलमस्य स भवति सम्यगर्थदर्शी, स एवंभूतः संस्तीर्थकराज्ञया–सर्वज्ञप्रणीतागमानुसारेण 'शुद्धम्'–अवदातं पूर्वापराविरुद्धं निरवद्यं वचनमभियुञ्जीतोत्सर्गविषये सति उत्सर्गमपवादविषये चापवादं तथा स्वपरसमययोर्यथास्वं वचनमभिवदेत्। एवं चाभियुञ्जन् भिक्षुः पापविवेकं–लाभसत्कारादिनिरपेक्षतया काङ्क्षमाणो निर्दोषं वचनमभिसन्धयेदिति ॥ २४ ॥ पुनरपि भाषाविधिमधिकृत्याह–

१ ०दर्दर्दरेणा० आ. इ। २ प्रशस्ताऽप्रशक्त्या आ. प्रशक्त्यनुप्रशक्त्या इ। सा. ३ सोऽर्थो वक्तव्यो यो भण्यतेऽक्षरैः स्तोकैः। यः पुनः स्तोको बहुभिरक्षरैः स भवति निस्सारः ॥ १ ॥ ४ ००न्तात्तत् आ।

[1]अहावुइयाइं सुसिक्खएज्जा, जइज्जया णातिवेलं वदेज्जा। से दिट्ठिमं दिट्ठि ण लूसएज्जा, से जाणई भासिउं तं समाहिं ॥ २५ ॥ अलूसए णो पच्छन्नभासी, णो सुत्तमत्थं च करेज्ज ताई। सत्थारभत्ती अणुवीइ वायं, सुयं च सम्मं पडि[2]वाययंति ॥ २६ ॥ से सुद्धसुत्ते उवहाणवं च, धम्मं च जे विंदति तत्थ तत्थ। आदेज्जवक्के कुसले वियत्ते, स[3] अरिहइ भासिउं तं समाहिं ॥ २७ ॥ तिबेमि[4] ॥ इति ग्रन्थनामयं चउदसमज्झयणं समत्तं ॥ (गाथाग्रम्–५१८) ॥

९ 'अहावुइयाइं' इत्यादि, यथोक्तानि तीर्थकरगणधरादिभिस्तान्यहर्निशं 'सुष्ठु शिक्षेत'–ग्रहणशिक्षया सर्वज्ञोक्तमागमं सम्यग् गृह्णीयाद् आसेवनाशिक्षया त्वनवरतमुद्युक्तविहारितयाऽऽसेवेत, अन्येषां च तथैव [5]प्रतिपादयेद्, अतिप्रसक्तलक्षण-निवृत्तये त्वपदिश्यते, सदा ग्रहणासेवनाशिक्षयोर्देशनायां यतेत, सदा यतमानोऽपि यो यस्य कर्तव्यस्य कालोऽध्ययनकालो वा तां वेलामतिलङ्घ्य नातिवेलं वदेद्–अध्ययन[6]कर्तव्यमर्यादां नातिलङ्घयेत्स(दँस)दनुष्ठानं प्रति व्रजेद्वा, यथावसरं परस्पराबाधया सर्वाः क्रियाः कुर्यादित्यर्थः। स एवंगुणजातीयो यथाकालवादी यथाकालचारी च 'सम्यग्दृष्टिमान्'–यथा-

१० वस्थितान् पदार्थान् श्रद्दधानो देशनां व्याख्यानं वा कुर्वन् 'दृष्टि'–सम्यग्दर्शनं 'न लूषयेत्'–न दूषयेत्, इदमुक्तं भवति–पुरुषविशेषं ज्ञात्वा तथा तथा कथनीयमपसिद्धान्तदेशनापरिहारेण यथा यथा श्रोतुः सम्यक्त्वं स्थिरीभवति, पुनः शङ्को-

---

१ अह° इ। २ °वातएज्जा इ। ३ से आ. इ। ४ °मि गाथा १४। छ। आ. °मि चतुर्दशमध्ययनं समाप्तं। छ। इ। ५ प्ररूपयेत आ. इ। ६ °ने कर्त्तव्ये म° आ। ७ ××द° आ. इ।

त्पादनतो दूष्यते, यश्चैवंविधः स 'जानाति'-अवबुध्यते, भाषितुं'-प्ररूपयितुं 'समाधिं'-सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राख्यं सम्यक्चित्तव्यवस्थानाख्यं वा तं सर्वज्ञोक्तं समाधिं सम्यगवगच्छतीति ॥ २५ ॥ किंचान्यत्-'अलूसए' इत्यादि, सर्वज्ञोक्तमागमं कथयन् 'नो लूषयेत्'-नान्यथाऽपसिद्धान्तव्याख्यानेन दूषयेत्, तथा 'न प्रच्छन्नभाषी भवेत्'-सिद्धान्तार्थमविरुद्धमवदातं सार्वजनीनं तत्प्रच्छन्नभाषणेन न गोपयेत्, यदि वा प्रच्छन्नं वाऽर्थमपरिणताय न भाषेत, तद्धि सिद्धान्तरहस्यमपरिणतशिष्यविध्वंसनेन दोषायैव संपद्यते, तथा चोक्तम्-"अप्रशान्तमतौ शास्त्रसद्भावप्रतिपादनम्। दोषायाभिनवोदीर्णे, शमनीयमिव ज्वरे ॥ १ ॥" इत्यादि, न च सूत्रमन्यत् स्वमतिविकल्पनतः स्वपरत्रायी कुर्वीतान्यथा वा सूत्रं तदर्थं वा संसारात्रायी-त्राणशीलो जन्तूनां न विदधीत, किमित्यन्यथा सूत्रं न कर्तव्यमित्याह-परहितैकरतः शास्ता तस्मिन् शास्तरि या व्यवस्थिता भक्तिः-बहुमानस्तया तद्भक्त्या अनुविचिन्त्य-ममानेनोक्तेन न कदाचिदागमबाधा स्यादित्येवं पर्यालोच्य वादं वदेत्, तथा यच्छ्रुतमाचार्यादिभ्यः सकाशात्तत्तथैव सम्यक्त्वाराधनामनुवर्तमानोऽन्येभ्य ऋणमोक्षं प्रतिपद्यमानः 'प्रतिपादयेत्'-प्ररूपयेन्न सुखशीलतां मन्यमानो यथाकथंचित्तिष्ठेदिति ॥ २६ ॥ अध्ययनोपसंहारार्थमाह-'से सुद्धसुत्ते' इत्यादि, 'स'-सम्यगदर्शनस्यालूषको यथावस्थितागमस्य प्रणेताऽनुविचिन्त्यभाषकः शुद्धम्-अवदातं यथावस्थितवस्तुप्ररूपणतोऽध्ययनतश्च सूत्रं-प्रवचनं यस्यासौ शुद्धसूत्रः, तथोपधानं-तपश्चरणं यद्यस्य सूत्रस्याभिहितमागमे तद्विद्यते यस्यासावुपधानवान्, तथा 'धर्मं'-श्रुतचारित्राख्यं यः सम्यक् वेत्ति विन्दते वा-सम्यग् लभते, 'तत्र तत्रे'ति य आज्ञाग्राह्योऽर्थः, स आज्ञयैव प्रतिपत्तव्यो हेतुकस्तु सम्यग्घेतुना यदि वा स्वसमयसिद्धोऽर्थः स्वसमये व्यवस्थापनीयः पर-

(संमय)सिद्धश्च परस्मिन्, अथवोत्सर्गापवादयोर्व्यवस्थितोऽर्थस्ताभ्यामेव यथास्वं प्रतिपादयितव्यः, एतद्गुणसंपन्नश्च 'आदेय-वाक्यो'–ग्राह्यवाक्यो भवति, तथा 'कुशलो'–निपुणः आगमप्रतिपादने सदनुष्ठाने च 'व्यक्तः'–परिस्फुटो नासमीक्ष्य-कारी, यश्चैतद्गुणसमन्वितः सोऽर्हति–योग्यो भवति, 'तं'– सर्वज्ञोक्तं ज्ञानादिकं वा भावसमाधिं 'भाषितुं'–प्रतिपादयितुं नापरः कश्चिदिति । इतिः–परिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववत्, गतोऽनुगमो, नयाः–प्राग्वद्व्याख्येयाः ॥ २७॥ समाप्तं चतुर्दशं

५ ग्रन्थाख्यमध्ययनमिति ॥

इति चतुर्दशं श्रीग्रन्थनामकमध्ययनं समाप्तम् ॥



॥ अथ आदाननामकं पञ्चदशमध्ययनं प्रारभ्यते ॥

अथ चतुर्दशाध्ययनानन्तरं पञ्चदशमारभ्यते, अस्य चायमभिसंबन्धः– इहानन्तराध्ययने सबाह्याभ्यन्तरस्य ग्रन्थस्य परि-

१० त्यागो विधेय इत्यभिहितं, ग्रन्थपरित्यागाच्चायतचारित्रो भवति साधुः, ततो यादृगसौ यथा च संपूर्णामायतचारित्रतां प्रतिपद्यते, तदनेनाध्ययनेन प्रतिपाद्यते, तदनेन संबन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराण्युपक्रमादीनि भवन्ति, तत्रोपक्रमा-

१ ××× सिं° आ. इ । २ ०मिति । छ । छ । ग्रंथतः ३५८ । सर्वसंख्या ८५२६ । आ । मिति । ग्रंथतः ३५५ सर्वसंख्या ८५२६ । छ । इ । ३ ××च° आ. इ ।

न्तर्गतोऽर्थाधिकारोऽयं, तद्यथा– आयतचारित्रेण साधुना भाव्यम् । नामनिष्पन्ने तु निक्षेपे आदानीयमिति नाम, मोक्षार्थिनाऽशेषकर्मक्षयार्थं यज्ज्ञानादिकमादीयते तदत्र प्रतिपाद्यत इति कृत्वा, आदानीयमिति नाम संवृत्तम् । पर्यायद्वारेण च प्रतिपादितं सुग्रहं भवतीत्यत आदानशब्दस्य तत्पर्यायस्य च ग्रहणशब्दस्य निक्षेपं कर्तुकामो निर्युक्तिकृदाह–

आदाणे गहणंमि य णिक्खेवो होति दोण्हवि चउक्को[1] । एगट्ठं नाणट्ठं च होज्ज पगयं तु आदाणे ॥१३२॥

जं पढमस्संतिमए बितियस्स उ तं हवेज्ज आदिंमि । एतेणादाणिज्जं एसो अन्नोऽवि पज्जाओ ॥१३३॥

णामादी ठवणादी दव्वादी चेव होति भावादी । दव्वादी पुण दव्वस्स जो सभावो सए ठाणे ॥१३४॥

आगमणोआगमओ[2] भावादी तं बुहा[3] उवदिसंती। णोआगमओ भावो पंचविहो होइ णायव्वो ॥१३५॥

आगमओ पुण आदी गणिपिडगं होइ बारसंगं तु । गंथसिलोगो पदपादअक्खराइं च तत्थादी[4] ॥१३६॥

'आदाणे' इत्यादि, अथवा–'जमतीयं'ति अस्याध्ययनस्य नाम, तच्चादानपदेन आदावादीयते इत्यादानं, तच्च ग्रहणमित्युच्यते, तत आदानग्रहणयोर्निक्षेपार्थं निर्युक्तिकृदाह–'आदाणे' इत्यादि, आदीयते कार्यार्थिना तदित्यादानं, कर्मणि ल्युट्[5] प्रत्ययः, करणे वा; आदीयते–गृह्यते–स्वीक्रियते विवक्षितमनेनेतिकृत्वा, आदानं च पर्यायतो ग्रहणमित्युच्यते, तत

१ चउक्के अ । २ °मिय । अ. आ । ३ दुहा अ, पुहा आं । ४ जमइयं समत्तं (अस्याध्ययनस्य निर्युक्ति–समत्ता) अ. आ । सा. ५ कर्मकरणयोर्भेदात्, यद्वा धातुभेदेनार्थभेदात्, सामान्यं ग्रहणं आदावादानादादानमिति वा भेदः ।

आदानग्रहणयोर्निक्षेपो (पे[1]) भवति द्वौ चतुष्कौ, तद्यथा–नामादानं, स्थापनादानं, द्रव्यादानं, भावादानं च; तत्र नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यादानं वित्तं, यस्माल्लौकिकैः परित्यक्तान्यकर्तव्यैर्महता क्लेशेन तदादीयते, तेन वाऽपरं द्विपदचतुष्पदादिकमादीयत इतिकृत्वा, भावादानं तु द्विधा–प्रशस्तमप्रशस्तं च, तत्राप्रशस्तं क्रोधाद्युदयो मिथ्यात्वाविरत्यादिकं वा, प्रशस्तं तूत्तरोत्तरगुणश्रेण्या विशुद्धाध्यवसायकण्डकोपादानं सम्यग्ज्ञानादिकं वेत्येतदर्थप्रतिपादनपरमेतदेव वाऽध्ययनं द्रष्टव्यमिति, एवं ग्रहणेऽपि नामादिकश्चतुर्धा निक्षेपो द्रष्टव्यः, भावार्थोऽप्यादानपदस्येव द्रष्टव्यः, तत्पर्यायत्वादस्येति। एतच्च ग्रहणं नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रार्थनयाभिप्रायेणादानपदेन सहालोच्यमानं शक्रेन्द्रादिवदेकार्थम्–अभिन्नार्थं भवेत्, शब्दसमभिरूढेत्थंभूतशब्दनयाभिप्रायेण च नानार्थं[2] भवेत्। इह तु 'प्रकृतं'–प्रस्ताव 'आदाने'–आदानविषये यत आदानपदमाश्रित्यास्याभिधानमकारि[3], आदानीयं वा ज्ञानादिकमाश्रित्य नाम कृतमिति। आदानीयाभिधानस्यान्यथा वा प्रवृत्तिनिमित्तमाह–'जं पढमस्स' इत्यादि, यत् पदं प्रथमश्लोकस्य तदर्धस्य च अन्ते–पर्यन्ते तदेव पदं शब्दतोऽर्थत उभयतश्च द्वितीयश्लोकस्यादौ तदर्धस्य वाऽऽदौ भवति, एतेन प्रकारेण[4]–आद्यन्तपदसदृशत्वेनादानीयं भवति, एष आदानीयाभिधानप्रवृत्तेः 'पर्यायः'–अभिप्रायः अन्यो वा विशिष्टज्ञानादि आदानीयोपादानादिति। केचित्तु पुनरस्याध्ययनस्यान्तादिपदयोः संकलनात् संकलिकेति नाम कुर्वते, तस्या अपि नामादिकश्चतुर्धा निक्षेपो विधेयः, तत्रापि द्रव्यसंकलिका निगडादौ, भावसंकलना तूत्तरोत्तरविशिष्टाध्यवसायसंकलनम्; इदमेव वाऽध्ययनम्, आद्यन्तपदयोः संकलनादिति। येषामादानपदेनाभिधानं तन्मतेनादौ यत्पदं तदादानपदम्। अत आदेर्निक्षेपं

१ ×भ० आ. इ। सा. २कर्मकरणयोर्भेदात्, यद्वा धातुभेदेनार्थ भेदात्, सामान्यं ग्रहणं आदावादानादादानमिति वा भेदः। ३ ××माश्रि०आ.। ४ कारणेन आ. इ।

कर्तुकाम आह–'णामादी' इत्यादि, आदेर्नामादिकश्चतुर्धा निक्षेपः, नामस्थापने सुगमत्वादनादृत्य द्रव्यादिं दर्शयति–द्रव्यादिः, पुनः 'द्रव्यस्य'–परमाण्वादेर्यः 'स्वभावः'–परिणतिविशेषः, 'स्वके स्थाने'–स्वकीये पर्याये प्रथमम्–आदौ भवति स द्रव्यादिः, द्रव्यस्य–दध्यादेर्य आद्यः परिणतिविशेषः, क्षीरस्य विनाशकालसमकालीनः, एवमन्यस्यापि परमाण्वादेर्द्रव्यस्य यो यः परिणतिविशेषः प्रथममुत्पद्यते स सर्वोऽपि द्रव्यादिर्भवति । ननु च कथं क्षीरविनाशसमय एव दध्युत्पादः ?, तथाहि–उत्पादविनाशौ भावाभावरूपौ वस्तुधर्मौ वर्तेते, न च धर्मो धर्मिणमन्तरेण भवितुमर्हति, अत एकस्मिन्नेव क्षणे तद्धर्मिणोर्दधिक्षीरयोः सत्ताऽवाप्नोति[1]; एतच्च दृष्टेष्टबाधितमिति, नैष दोषः, यस्य हि वादिनः क्षणमात्रं वस्तु तस्यायं दोषो, यस्य तु पूर्वोत्तरक्षणानुगतमन्वयि द्रव्यमस्ति तस्यायं दोष एव न भवति, तथाहि–तत्परिणामिद्रव्यमेकस्मिन्नेव क्षणे एकेन स्वभावेनोत्पद्यते परेण विनश्यति, अनन्तधर्मात्मकत्वाद्वस्तुन इति यत्किंचिदेतत् । तदेवं द्रव्यस्य विवक्षितपरिणामेन परिणमतो य आद्यः समयः स द्रव्यादिरिति स्थितं, द्रव्यस्य प्राधान्येन विवक्षितत्वादिति । साम्प्रतं भावादिमधिकृत्याह–'आगम०' इत्यादि, भावः–अन्तःकरणस्य परिणतिविशेषस्तं 'बुद्धाः'–तीर्थकरगणधरादयो 'व्यपदिशन्ति'–प्रतिपादयन्ति, तद्यथा–आगमतो नोआगमतश्च, तत्र नोआगमतः प्रधानपुरुषार्थतया चिन्त्यमानत्वात् 'पञ्चविधः'–पञ्चप्रकारो भवति, तद्यथा–प्राणातिपातविरमणादीनां पञ्चानामपि महाव्रतानामाद्यः प्रतिपत्तिसमय इति, तथा–'आगमओ' इत्यादि, आगममाश्रित्य पुनरादिरेवं[2] द्रष्टव्यः, तद्यथा–यदेतद्गणिनः–आचार्यस्य पिटकं–सर्वस्वमाधारो वा तद्द्वादशाङ्गं भवति, तुशब्दादन्यदप्युपाङ्गादिकं द्रष्टव्यं, तस्य

१ °प्राप्नोति. आ. इ । २ °श्रित्यादिरेवं आ ।

च प्रवचनस्यादिभूतो यो ग्रन्थस्तस्याप्याद्यः श्लोकस्तत्राप्याद्यं पदं, तस्यापि प्रथममक्षरम् , एवंविधो बहुप्रकारो भावादिर्द्रष्टव्य इति । तत्र सर्वस्यापि प्रवचनस्य सामायिकमादिस्तस्यापि करोमीति पदं, तस्यापि ककारो, द्वादशानां त्वङ्गानामाचाराङ्गमादिस्तस्यापि शस्त्रपरिज्ञाध्ययनमेस्यापि[1] च जीवोद्देशकस्तस्यापि[2] 'सुयं'ति पदं, तस्यापि सुकार इति, अस्य च प्रकृत्याङ्गस्य समयाध्ययनमादिस्तस्यापि आद्युद्देशकश्लोकपादपदवर्णादिर्द्रष्टव्य इति । गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, तदनन्तरमस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारयितव्यं; तच्चेदम्—

जमतीतं पडुपन्नं, आगमिस्सं च णायओ । सव्वं मन्नति तं ताई, दंसणावरणंतए ॥ १ ॥
अंतए वितिगिच्छाए, से जाणति अणेलिसं । अणेलिसस्स अक्खाया, ण से होइ तहिं तहिं ॥ २ ॥
तहिं तहिं सुयक्खायं, से य सच्चे सुआहिए । सया सच्चेण संपन्ने, मित्तिं भूएहिं कप्पए ॥ ३ ॥
भूएहिं न विरुज्झेज्जा, एस धम्मे बुसीमओ[3] । बुसिमं[4] जगं परिन्नाय, अस्सिं जीवितभावणा ॥ ४ ॥

'जमतीतं' इत्यादि, अस्य चानन्तरसूत्रेण संबन्धो वक्तव्यः, स चायं, तद्यथा—आदेयवाक्यः कुशलो व्यक्तोऽर्हति तथोक्तं[5] समाधिं भाषितुं, यश्च यदतीतं प्रत्युत्पन्नमागामि च सर्वमवगच्छति स एव भाषितुमर्हति नान्य इति । परम्परसूत्रसंबन्धस्तु य एवातीतानागतवर्तमानकालत्रयवेदी स एवाशेषबन्धनानां परिज्ञाता त्रोटयिता वेत्येतद्बुध्येतेत्यादिकः संबन्धो-

१ °नं तस्यापि आ । २ °कस्यापि आ । ३ बुसीमउ आ । बुसीमते इ । ४ बु० आ । ५ य० आ. इ ।

ऽपरसूत्रैरपि स्वबुद्ध्या लगनीय इति । तदेवं प्रतिपादितसंबन्धस्यास्य सूत्रस्य व्याख्या प्रस्तूयते—यत्किमपि द्रव्यजातमतीतं यच्च प्रत्युत्पन्नं यच्चानागतम्—एष्यत्कालभावि तस्यासौ सर्वस्यापि यथावस्थितस्वरूपनिरूपणतो 'नायकः'—प्रणेता, यथावस्थितवस्तुस्वरूपप्रणेतृत्वं च परिज्ञाने सति भवत्यतस्तदुपदिश्यते—'सर्वम्'—अतीतानागतवर्तमानकालत्रयभावतो द्रव्यादिचतुष्कस्वरूपतो द्रव्यपर्यायनिरूपणतश्च मनुते—असौ जानाति सम्यक् परिच्छिनत्ति तत्सर्वमवबुध्यते, जानानश्च विशिष्टोपदेशदानेन संसारोत्तारणतः सर्वप्राणिनां त्राय्यसौ—त्राणकरणशीलः, यदि वा— 'अयवयपयमयचयतयणय गतौ' वित्यस्य धातोर्घञ्प्रत्ययः, तयनं तायः स विद्यते यस्यासौ—तायी, 'सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्थाः' इतिकृत्वा सामान्यस्य परिच्छेदको, मनुते इत्यनेन विशेषस्य, तदनेन सर्वज्ञः सर्वदर्शी चेत्युक्तं भवति, न च कारणमन्तरेण कार्यं भवतीत्यत इदमपदिश्यते— दर्शनावरणीयस्य कर्मणोऽन्तकः, मध्यग्रहणे (नं)तु घातिचतुष्टयस्यान्तकृद् द्रष्टव्य इति ॥ १ ॥ यश्च घातिचतुष्टयान्तकृत्स ईदृग्भवतीत्याह—'अंतए' इत्यादि, विचिकित्सा—चित्तविप्लुतिः संशयज्ञानं तस्यासौ तदावरणक्षयादन्तकृद् संशयविपर्ययमिथ्याज्ञानानामविपरीतार्थपरिच्छेदादन्ते वर्तते, इदमुक्तं भवति— तत्र दर्शनावरणक्षयप्रतिपादनात् ज्ञानाद् भिन्नं दर्शनमित्युक्तं भवति, ततश्च येषामेकमेव सर्वज्ञस्य ज्ञानं वस्तुगतयोः सामान्यविशेषयोरचिन्त्यशक्त्युपेतत्वात् परिच्छेदकमित्येषोऽभ्युपगमः, सोऽनेन पृथगावरणक्षयप्रतिपादनेन निरस्तो भवतीति, यश्च घातिकर्मान्तकृदतिक्रान्तसंशयादिज्ञानः सः 'अनीदृशम्'—अनन्यसदृशं जानीते न तत्तुल्यो वस्तुगतसामान्यविशेषांशपरिच्छेदक उभयरूपेणैव विज्ञानेन विद्यत इति,

१ °xxxx तय आ. इ । २ xxघा° आ । x तु इ । ३ °xx प्रति° आ. इ ।

इदमुक्तं भवति–न तज्ज्ञानमितरजनज्ञानतुल्यम् , अतो यदुक्तं मीमांसकैः– सर्वज्ञस्य सर्वपदार्थपरिच्छेदकत्वेऽभ्युपगम्यमाने सर्वदा [1]स्पर्शरूपरसगन्धवर्णशब्दपरिच्छेदादनभिमतद्रव्यरसास्वादनमपि प्राप्नोति, तदनेन व्युदस्तं द्रष्टव्यं यदप्युच्यते–सामान्येन सर्वज्ञसद्भावेऽपि[2] शेषहेतोरभावादर्हत्येव संप्रत्ययो नोपपद्यते, तथा चोक्तम्–"अर्हं(रु[3]ह)न् यदि सर्वज्ञो, बुद्धो ने[4]त्यत्र का प्रमा ? । अथोभावपि सर्वज्ञौ; मतभेदस्तयोः कथम् ? ॥ १ ॥" इत्यादि, एतत्परिहारार्थमाह–'अनीदृशस्य' अनन्यसदृशस्य यः परिच्छेदक आख्याता च नासौ 'तत्र तत्र' दर्शने बौद्धादिके भवति, तेषां द्रव्यपर्याययोरनभ्युपगमादिति, तथाहि–शाक्यमुनिः सर्वं क्षणिकमिच्छन् पर्यायानेवेच्छति न द्रव्यं, द्रव्यमन्तरेण च निर्बीजत्वात् पर्यायाणामप्यभावः प्राप्नोत्यतः पर्यायानिच्छताऽवश्यमकामेनापि तदाधारभूतं परिणामि द्रव्यमेष्टव्यं, तदनभ्युपगमाच्च नासौ सर्वज्ञ इति। तथा–अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावस्य द्रव्यस्यैवैकस्याभ्युपगमादध्यक्षाध्यवसीयमानानामर्थक्रियासमर्थानां पर्यायाणामनभ्युपगमान्निष्पर्यायस्य द्रव्यस्याप्यभावात् कपिलोऽपि न सर्वज्ञ इति, तथा–क्षीरोदकवदभिन्नयोर्द्रव्यपर्याययोर्भेदेनाभ्युपगमादुलूकस्यापि न सर्वज्ञत्वम् । असर्वज्ञत्वाच्च तीर्थान्तरीयाणां मध्ये न कश्चिदप्यनीदृशस्य–अनन्यसदृशस्यार्थस्य द्रव्यपर्यायोभयरूपस्याख्याता [5]भवतीत्यर्हन्नेवातीतानागतवर्तमानत्रिकालवर्तिनोऽर्थस्य स्वाख्यातेति न तत्र तत्रेति स्थितम् ॥ २ ॥ साम्प्रतमेतदेव [6]कुतीर्थिकानामसर्वज्ञत्वमर्हतश्च सर्वज्ञत्वं यथा भवति, तथा सोपपत्तिकं दर्शयितुमाह—'तहिं तहिं' इत्यादि, तत्र

१ स्पर्शरसगन्धवर्ण० आ। स्पर्शरसवर्ण० इ। २ °पि विशेष आ. इ। ३ °××न् आ. इ। ४ नेवेति आ. इ। ५ भवतीत्यतोऽर्ह० आ. इ। ६ ×तीर्थिका० आ. इ।

तत्रेति वीप्सापदं, यद्यत्तेनार्हता जीवाजीवादिकं पदार्थजातं तथा मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतव इतिकृत्वा संसारकारणत्वेन तथा सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग इति मोक्षाङ्गतयेत्येतत्सर्वं पूर्वोत्तराविरोधितया युक्तिभिरुपपन्नतया च सुष्ठ्वाख्यातं—स्वाख्यातं, तीर्थिकवचनं तु ‘ न हिंस्याद्भूतानी’ति भणित्वा तदुपमर्दकारम्भाभ्यनुज्ञानात् पूर्वोत्तरविरोधितया तत्र तत्र चिन्त्यमानं निर्युक्तिकत्वान्न स्वाख्यातं भवति, स चाविरुद्धार्थस्याख्याता रागद्वेषमोहानामनृतकारणानामसंभवात् सद्भ्यो हितत्वाच्च सत्यः ‘ स्वाख्यातः ’–तत्स्वरूपविद्भिः प्रतिपादितः। रागादयो ह्यनृतकारणं ते च तस्य न सन्ति, अतः कारणाभावात् कार्याभाव इतिकृत्वा तद्वचो भूतार्थप्रतिपादकं, तथा चोक्तम्—“ वीतरागा हि सर्वज्ञा, मिथ्या न ब्रुवते वचः[1]। यस्मात्तस्माद्वचस्तेषां, तथ्यं[2] भूतार्थदर्शनम् ॥ १ ॥ ” ननु च सर्वज्ञत्वमन्तरेणापि हेयोपादेयमात्रपरिज्ञानादपि सत्यता भवत्येव, तथा चोक्तम्–“ सर्वं पश्यतु वा मा वा, तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु। कीटसंख्यापरिज्ञानं, तस्य नः क्वोप्युज्यते ? ॥ १ ॥” इत्याशङ्क्याह—‘सदा’–सर्वकालं ‘ सत्येन ’–अवितथभाषणत्वेन संपन्नोऽसौ अवितथभाषणत्वं च सर्वज्ञत्वे सति भवति, नान्यथा; तथाहि—कीटसंख्यापरिज्ञानासंभवे सर्वत्रापरिज्ञानमाशङ्क्यते, तथा चोक्तम्–“ सद्दशे बाधासंभवे तल्लक्षणमेव दूषितं स्याद् ” इति सर्वत्रानाश्वासः, तस्मात् सर्वज्ञत्वं तस्य भगवत ऐष्टव्यम्[3], अन्यथा तद्वचसः सदा सत्यता न स्यात्, सत्यो वा संयमः सन्तः—प्राणिनस्तेभ्यो हितत्वाद् अतस्तेन तपःप्रधानेन संयमेन भूतार्थहितकारिणा ‘ सदा ’–सर्वकालं ‘ संपन्नो ’–युक्तः, एतद्गुणसंपन्नश्चासौ ‘ भूतेषु ’–जन्तुषु, ‘ मैत्रीं ’–तद्रक्षणपरतया भूत-

१ क्वचित् आ। सा. २ तथा भूतार्थ० प्र०। ३ एव द्रष्टव्यम् इ।

दर्यां ‘ कल्पयेत् ’–कुर्यात्, इदमुक्तं भवति—परमार्थतः स सर्वज्ञस्तत्त्वदर्शितया यो भूतेषु मैत्रीं कल्पयेत्, तथा चोक्तम्–
[“[1]मातृवत्परदाराणि, परद्रव्याणि लोष्टवत् ।] आत्मवत्सर्वभूतानि, यः पश्यति स पश्यति ॥ १ ॥ ” ॥ ३ ॥ यथा भूतेषु
मैत्री संपूर्णभावमनुभवति तथा दर्शयितुमाह–‘भूएहिं’ इत्यादि, भूतैः–स्थावरजङ्गमैः सह ‘विरोधं न कुर्यात्’–तदुपघात-
कारिणमारम्भं तद्विरोधकारणं दूरतः परिवर्जयेदित्यर्थः, स ‘एषः’–अनन्तरोक्तो भूताविरोधकारी ‘धर्मः ’–स्वभावः पुण्या-
८ ख्यो वा ‘ वुसीमओ ’त्ति तीर्थकृतो[2]ऽयं सत्संयमवतो वेति । तथा सत्संयमवान् साधुस्तीर्थकृद्वा ‘ जगत् ’–चराचरभूत-
ग्रामाख्यं केवलालोकेन सर्वज्ञप्रणीतागमपरिज्ञानेन वा ‘ परिज्ञाय ’–सम्यगवबुध्य ‘ अस्मिन् ’–जगति मौनीन्द्रे वा धर्मे
भावनाः पञ्चविंशतिरूपा द्वादशप्रकारा वा या अभिमतास्ता ‘ जीवितभावना ’–जीवसमाधानकारिणीः सत्संयमाङ्गतया
मोक्षकारिणीभावयेदिति ॥ ४ ॥ सद्भावनाभावितस्य यद्भवति तद्दर्शयितुमाह—

भावणाजोगसुद्धप्पा, जले णावा व आहिया । नावा व तीर[3]संपन्ना, सव्वदुक्खा तिउट्टइ ॥ ५ ॥
१० तिउट्टई उ मेधावी, जाणं लोगंसि पावगं । तु[4]ट्टंति पावकम्माणि, नवं कम्ममकुव्वओ ॥ ६ ॥
अकुव्वओ णवं णत्थि, कम्मं नाम विजाण[5]इ । विन्नाय से महावीरे, जेण जाई ण मिज्जई ॥ ७ ॥
ण मिज्जई महावीरे, जस्स नत्थि पुरेकडं । वाउव्व जालमच्चेति, पिया लोगंसि इत्थिओ ॥ ८ ॥

सा. १ नास्ति क्वचिदपि आदर्शे । आ. इ । २ °ऽयं धर्मः सत्सं० आ. इ । ३ °संपत्ता आ. । ४ तिउट्टंति आ. ई. । ५ °णतो इ ।

'भावणा'० इत्यादि, भावनाभिर्योगः–सम्यक्प्रणिधानलक्षणो भावनायोगस्तेन शुद्ध आत्मा–अन्तरात्मा यस्य स तथा, स च भावनायोगशुद्धात्मा सन् परित्यक्तसंसारस्वभावो नौरिव जलोपर्यवतिष्ठते, संसारोदन्वत इति; नौरिव–यथा जलेऽनिमज्जनत्वेन प्रख्याता एवमसावपि संसारोदन्वति न निमज्जतीति । यथा[1] चासौ निर्यामकाधिष्ठिताऽनुकूलवातेरिता समस्तद्वन्द्वापगमात्तीरमास्कन्दत्येवमायतचारित्रवान्[2] जीवपोतः सदागमकर्णधाराधिष्ठितस्तपोमारुतवशात् सर्वदुःखात्मकात् संसारात् 'त्रुट्यति'–अपगच्छति मोक्षाख्यं तीरं सर्वद्वन्द्वोपरमरूपमवाप्नोतीति ॥५॥ अपि च–'तिउट्टई' इत्यादि, स हि भावनायोगशुद्धात्मा नौरिव जले संसारे परिवर्तमानस्त्रिभ्यो—मनोवाक्कायेभ्योऽशुभेभ्यस्त्रुट्यति, यदि वा अतीव सर्वबन्धनेभ्यस्त्रुट्यति[3]–मुच्यते अतित्रुट्यति—संसारादतिवर्तते[4], 'मेधावी'–मर्यादाव्यवस्थितः सदसद्विवेकी वाऽस्मिन् 'लोके'–चतुर्दशरज्ज्वात्मके भूतग्रामलोके वा यत्किमपि 'पापकं'–कर्म सावद्यानुष्ठानरूपं तत्कार्यं वा अष्टप्रकारं कर्म तत् ज्ञपरिज्ञया जानन् प्रत्याख्यानपरिज्ञया च तदुपादानं परिहरन् ततस्त्रुट्यति, तस्यैवं लोकं कर्म वा जानतो नवानि कर्माण्यकुर्वतो निरुद्धाश्रवद्वारस्य विकृष्टतपश्चरणवतः पूर्वसंचितानि कर्माणि त्रुट्यन्ति निर्वर्तन्ते[5] वा नवं च कर्माकुर्वतोऽशेषकर्मक्षयो भवतीति ॥ ६ ॥ केषाञ्चित्सत्यामपि कर्मक्षयानन्तरं मोक्षावाप्तौ [तथापि] स्वतीर्थनिकारदर्शनतः पुनरपि संसाराभिगमनं भवती(ती)दमाशङ्क्याह–'अकुव्वओ' इत्यादि, तस्याशेषक्रियारहितस्य योगप्रत्ययाभावात्किमप्यकुर्वतोऽपि 'नवं'–प्रत्यग्रं कर्म ज्ञानावर्णीयादिकं[6]

१ यथासौ आ. । २ °चरित्र° आ. इ । ३ °भेभ्यस्तुव्यात्ति त्रुट्यति मु० आ, °भेभ्यस्तिउट्टिति त्ति त्रुट्यति मु० इ । ४ अतिवर्त्तन्ते आ. इ । ५° × द° आ. इ । ६ °णादिकं आ. इ ।

'नास्ति'–न भवति, कारणाभावात् कार्याभाव इतिकृत्वा, कर्माभावे च कुतः संसाराभिगमनं ?, कर्मकार्यत्वात् संसारस्य, तस्य चोपरताशेषद्वन्द्वस्य स्वपरकल्पनाऽभावाद्रागद्वेषरहिततया स्वदर्शननिकाराभिनिवेशोऽपि न भवत्येव, स चैतद्गुणोपेतः कर्माष्टप्रकारमपि कारणतस्तद्विपाकतश्च जानाति, नमनं नाम–कर्मनिर्जरणं तच्च सम्यक् जानाति, यदि वा कर्म जानाति तन्नाम च, अस्य चोपलक्षणार्थत्वात्तद्भेदांश्च प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशरूपान् सम्यगवबुध्यते, संभावनायां वा नामशब्दः, संभाव्यते चास्य भगवतः कर्मपरिज्ञानं विज्ञाय च कर्मबन्धं तत्सं[1]वरणनिर्जरणोपायं चासौ 'महावीरः'–कर्मदारणसहिष्णुस्तत्करोति येन कृतेनास्मिन् संसारोदरे न पुनर्जायते तदभावाच्च नापि म्रियते, यदि वा–जात्या नारकोऽयं तिर्यग्योनिकोऽयमित्येवं न मीयते–न परिच्छिद्यते, अनेन च कारणाभावात् संसाराभावाविर्भावनेन यत्कैश्चिदुच्यते–'ज्ञानमप्रतिघं यस्य, वैराग्यं च जगत्पतेः । ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च, सहसिद्धं चतुष्टयम् ॥ १ ॥" इत्येतदपि व्युदस्तं भवति, संसारस्वरूपं विज्ञाय तदभावः क्रियते, न पुनः सांसिद्धिकः कश्चिदनादिसिद्धोऽस्ति, तत्प्रतिपादिकाया युक्तेरसंभवादिति ॥ ७ ॥ किं पुनः कारणमसौ न जात्यादिना मीयते इत्याशङ्क्याह–'ण मिज्जई' इत्यादि, असौ महावीरः परित्यक्ताशेषकर्मा न जात्यादिना 'मीयते'–परिच्छिद्यते, न म्रियते वा, जातिजरामरणरोगशोकैर्वा संसारचक्रवाले पर्यटन् न म्रियते–न पूर्यते ! किमिति?, यतस्तस्यैव जात्यादिकं भवति यस्य 'पुरस्कृ[2](रा[3]कृ)तं' जन्मशतोपात्तं कर्म विद्यते, यस्य तु भगवतो महावीरस्य निरुद्धाश्रवद्वारस्य 'नास्ति'–न विद्यते पुरस्कृ(रा[3]कृ)तं, पु[4]रस्कृ(रा[3]कृ)तकर्मोपादानाभावाच्च न तस्य जातिजरामरणैर्भरणं संभाव्यते, तदाश्रवद्वार-

---

१ °वर×नि० आ. इ। २ पुनरसंस्कृतं इ। ३ ×× आ. इ। ४ पुरसंस्कृतं इ।

निरोधाद्, आश्रवाणां च प्रधानः स्त्रीप्रसङ्गस्तमधिकृत्याह–वायुर्यथा सततगतिरप्रतिस्खलिततया 'अग्निज्वालां'–दहनात्मिकामप्यत्येति–अतिक्रामति–पराभवति, न तया पराभूयते, एवं 'लोके'–मनुष्यलोके हावभावप्रधानत्वात् 'प्रिया'–दयितास्तत्प्रियत्वाच्च दुरतिक्रमणीयास्ता 'अत्येति'–अतिक्रामति–न ताभिर्जीयते' तत्स्वरूपावगमात् तज्जयविपाकदर्शनाच्चेति, तथा चोक्तम्—"स्मितेन भावेन मदेन लज्जया, पराङ्मुखैरर्धकटाक्षवीक्षितैः। वचोभिरीर्ष्याकलहेन लीलया, समस्तभावैः खलु बन्धनं स्त्रियः ॥ १ ॥ तथा स्त्रीणां कृते भ्रातृयुगस्य भेदः, संबन्धिभेदे स्त्रिय एव मूलम्। अप्राप्तकामा बहवो नरेन्द्रा, नारीभिरुत्सादितराजवंशाः ॥ २ ॥" इत्येवं तत्स्वरूपं परिज्ञाय तज्जयं विधत्ते नैताभिर्जीयत इति स्थितम्। अथ किं पुनः कारणं स्त्रीप्रसङ्गाश्रवद्वारेण शेषाश्रवद्वारोपलक्षणं क्रियते न प्राणातिपातादिनेति ?, अत्रोच्यते–केषाञ्चिद्दर्शनिनामङ्गनोपभोग आश्रवद्वारमेव न भवति, तथा चोचुः–" न मांसभक्षणे दोषो, न मद्ये न च मैथुने। प्रवृत्तिरेषा भूतानां, निवृत्तिस्तु महाफला ॥ १ ॥" इत्यादि, तन्मतव्युदासार्थमेवमुपन्यस्तमिति, यदि वा मध्यमतीर्थकृतां चतुर्याम एव धर्मः, इह तु पञ्चयामो धर्म इत्यस्यार्थस्याविर्भावनायानेनोपलक्षणमकारि, अथवा–पराणि व्रतानि सापवादानि इदं तु निरपवादमित्यस्यार्थस्य प्रकटनायैवमकारि, अथवा–सर्वाण्यपि व्रतानि तुल्यानि, एकखण्डने सर्वविराधनमितिकृत्वा येन केनचिन्निर्देशो न दोषायेति ॥ ८ ॥ अधुना स्त्रीप्रसङ्गाश्रवनिरोधफलमाविर्भावयन्नाह—

सा. १ स्त्रीवशताफलस्य नरकादेः दर्शनात् यद्वा स्त्रीणां वशवर्ती न भवतीति प्रागुक्तं, असंभवि चेन्न, तत्स्वरूपेत्यादि, अनर्थकारित्वावगमाद् विरतिः, तत्र प्रमाणं कामजयलभ्यफलदर्शनम् जयोपायस्य भोगजन्यदारुणविपाकस्य च ज्ञानाद्वा। २ समन्तपाशं प्र०। इ। ३ °रुच्छादित० इ। ४ न ताभि० इ।

इत्थिओ जे ण सेवंति, आइमोक्खा हु ते जणा। ते जणा बंधणुम्मुक्का, नावकंखंति जीवियं ॥९॥
जीवितं पिट्ठओ किच्चा, अंतं पावंति कम्मुणं[1]। कम्मुणा संमुहीभूता, जे मग्गमणुसासई ॥ १० ॥
अणुसासणं पुढो पाणी[2], वसुमं पूयणासु[3](स)ते। अणासए जते दंते, दढे आरयमेहुणे ॥ ११ ॥
णीवारे व ण लीएज्जा, छिन्नसोए[4] अणाविले। अणाइले सया दंते, संधिं पत्ते[5] अणेलिसं ॥ १२ ॥

'इत्थिओ' इत्यादि, ये महासत्त्वाः कटुविपाकोऽयं स्त्रीप्रसङ्ग इत्येवमवधारण[त]या स्त्रियः सुगतिमार्गार्गलाः संसारवीथीभूताः सर्वाविनयराजधान्यः कपटजालशताकुला महामोहनशक्तयो 'न सेवन्ते'–न तत्प्रसङ्गमभिलषन्ति, त एवंभूता जना इतरजनातीताः साधव आदौ– प्रथमं मोक्षः–अशेषद्वन्द्वोपरमरूपो येषां ते आदिमोक्षाः, हुरवधारणे, आदिमोक्षा एव तेऽवगन्तव्याः, इदमुक्तं भवति–सर्वाविनयास्पदभूतः स्त्रीप्रसङ्गो यैः परित्यक्तस्त एवादिमोक्षाः–प्रधानभूतमोक्षाख्यपुरुषार्थोद्यताः, आदिशब्दस्य प्रधानवाचित्वात्, न केवलमुद्यतास्ते जनाः स्त्रीपाशबन्धनोन्मुक्ततयाऽशेषकर्मबन्धनोन्मुक्ताः सन्तो 'नावकाङ्क्षन्ति'–नाभिलषन्ति असंयमजीवितम् अपरमपि परिग्रहादिकं नाभिलषन्ते, यदि वा परित्यक्तविषयेच्छाः सदनुष्ठानपरायणा मोक्षैकताना 'जीवितं'[6]–दीर्घकालजीवितं नाभिकाँक्षन्तीति[7] ॥ ९ ॥ किंचान्यत् 'जीवितं' इत्यादि, 'जीवितम्'–

१ कम्मुणा आ. इ। २ पाणे आ. इ।· ३ °सए आ. °सते इ। ४ न सोयमणाविले आ. छिन्नसोत ण अणाइले इ। ५ पत्तमणे० आ. पत्तेमणे० इ। ६ जीवित्वं आ. इ। ७ °काङ्क्षन्त इति आ. इ।

असंयमजीवितं 'पृष्ठतः कृत्वा'–अनादृत्य प्राणधारणलक्षणं वा जीवितमनादृत्य सदनुष्ठानपरायणाः 'कर्मणां' ज्ञानावरणादीनाम् 'अन्तं'–पर्यवसानं प्राप्नुवन्ति, अथवा 'कर्मणा'–सदनुष्ठानेन जीवितनिरपेक्षाः संसारोदन्वतोऽन्तं–सर्वद्वन्द्वोपरमरूपं मोक्षाख्यमाप्नुवन्ति, सर्वदुःखविमोक्षलक्षणं मोक्षमप्राप्ता अपि कर्मणा–विशिष्टानुष्ठानेन मोक्षस्य संमुखीभूता–घातिचतुष्टयक्षयक्रियया उत्पन्नदिव्यज्ञानाः शाश्वतपदस्याभिमुखीभूताः, क एवंभूता इत्याह– ये विपच्यमानतीर्थकृन्नामकर्माणः समासादितदिव्यज्ञाना 'मार्गं'–मोक्षमार्गं–ज्ञानदर्शनचारित्ररूपम्, 'अनुशासन्ति'[1]–सत्त्वहिताय प्राणिनां प्रतिपादयन्ति स्वतश्चानुतिष्ठन्तीति ॥ १० ॥ अनुशासनप्रकारमधिकृत्याह–'अणुसासणं'[2] इत्यादि, अनुशास्यन्ते–सन्मार्गेऽवतार्यन्ते सदसद्विवेकतः प्राणिनो येन तदनुशासनं–धर्मदेशनया सन्मार्गावतारणं तत्पृथक् पृथक् भव्याभव्यादिषु प्राणिषु क्षित्युदकवत् स्वाशयवशादनेकधा भवति, यद्यपि च अभव्येषु तदनुशासनं न सम्यक् परिणमति तथापि सर्वोपायज्ञस्यापि न सर्वज्ञस्य दोषः, तेषामेव स्वभावपरिणतिरियं यया तद्वाक्यममृतभूतमेकान्तपथ्यं समस्तद्वन्द्वोपघातकारि न यथावत् परिणमति, तथा चोक्तम्–" सद्धर्मबीजवपनानघकौशलस्य, यल्लोकबान्धव ! तवापि खिलान्यभूवन् । तन्नाद्भुतं खगकुलेष्विह तामसेषु, सूर्यांशवो मधुकरीचरणावदाताः ॥ १ ॥ " किंभूतोऽसावनुशासक इत्याह—वसु–द्रव्यं स च मोक्षं प्रति प्रवृत्तस्य संयमः तद्विद्यते यस्यासौ वसुमान्, पूजनं–देवादिकृतमशोकादिकमास्वादयति–उपभुङ्क्ते इति पूजनास्वादकः, ननु चाधाकर्मणो देवादिकृतस्य समवसरणादेरुपभोगात् कथमसौ सत्संयमवानित्याशङ्क्याह–न विद्यते आशयः–पूजाभिप्रायो यस्यासावना-

१ ०शासति आ. इ । २ ०सासइ आ. ।

शयः, यदि वा द्रव्यतो विद्यमानेऽपि समवसरणादिके भावतोऽनास्वादकोऽसौ, तद्गतगार्ध्याभावात् , सत्यप्युपभोगे 'यतः'-प्रयतः सत्संयमवानेवासावेकान्तेन संयमपरायणत्वात् , कुतो ?, यत इन्द्रियनोइन्द्रियाभ्यां दान्तः, एतद्गुणोऽपि कथमित्याह-दृढः संयमे, आरतम्-उपरतमपगतं मैथुनं यस्य स आरतमैथुनः-अपगतेच्छामदनकामः, इच्छामदनकामाभावाच्च संयमे दृढोऽसौ भवति, आयतचारित्रत्वाच्च दान्तोऽसौ भवति, इन्द्रियनोइन्द्रियदमाच्च प्रयतः, प्रयत्नवत्त्वाच्च देवादिपूजनानास्वादकः, तदनास्वादनाच्च सत्यपि द्रव्यतः परिभोगे सत्संयमवानेवासाविति ॥ ११ ॥ अथ किमित्यसावुपरतमैथुन इत्याशङ्क्याह-'णीवारे' इत्यादि, नीवारः-सूकरादीनां पशूनां वध्यस्थानप्रवे[1]शनभूतो भक्ष्यविशेषस्तत्कल्पमेतन्मैथुनं, यथा हि असौ पशुर्नीवारेण प्रलोभ्य वध्यस्थानम[2]भिनीय नानाप्रकारा वेदनाः प्राप्यते, एवमसावप्यसुमान् नीवारकल्पेनानेन स्त्रीप्रसङ्गेन वशीकृतो बहुप्रकारा यातनाः प्राप्नोति, अतो नीवारप्रायमेतन्मैथुनमवगम्य स तस्मिन् ज्ञाततत्त्वो 'न लीयेत'-न स्त्रीप्रसङ्गं कुर्यात् ; किंभूतः सन्नित्याह-छिन्नानि-अपनीतानि स्रोतांसि-संसारावतरणद्वाराणि यथाविषयमिन्द्रियप्रवर्तनानि प्राणातिपातादीनि वा आश्रवद्वाराणि येन स छिन्नस्रोताः, तथा 'अनाविलः'-अकलुषो रागद्वेषासंपृक्ततया मलरहितोऽनाकुलो वा-विषयाप्रवृत्तेः स्वस्थचेता एवंभूतश्चानाविलोऽनाकु[3]लो वा 'सदा'-सर्वकालमिन्द्रियनोइन्द्रियाभ्यां दान्तो भवति, ईदृग्विधश्च कर्मविवरलक्षणं भावसंधिम् 'अनीदृशम्'-अनन्यतुल्यं प्राप्तो भवतीति ॥ १२ ॥ किञ्च—

अणेलिसस्स खेयन्ने, ण विरुज्झिज्ज केणइ । मणसा वयसा चेव, कायसा चेव चक्खुमं ॥ १३ ॥

१ ०शनोपायभूतो आ. इ । २ ०मतिनीय आ । ०मातिनीयमानो इ । ३ ०कुलोऽ×° आ ।

से हु चक्खू मणुस्साणं, जे कंखाए यं अंतए । अंतेण खुरो वहती, चक्कं अंतेण लोट्टती ॥ १४ ॥
अंताणि धीरा सेवंति, तेण अंतकरा इह । इह माणुस्सए ठाणे, धम्ममाराहिउं णरा ॥ १५ ॥
णिट्ठियट्ठा व देवा वा, उत्तरीए इयं सुयं । सुयं च मेयमेगेसिं, अमणुस्सेसु णो तहा ॥ १६ ॥

'अणेलिसस्स' इत्यादि, 'अनीदृशः'–अनन्यसदृशः संयमो मौनीन्द्रधर्मो वा तस्य तस्मिन् वा 'खेदज्ञो'–निपुणः, अनीदृशखेदज्ञश्च केनचित्साधं न विरोधं कुर्वीत, सर्वेषु प्राणिषु मैत्रीं भावयेदित्यर्थः, योगत्रिककरणत्रिकेणेति दर्शयति––'मनसा'–अन्तःकरणेन प्रशान्तमनाः, तथा 'वाचा'–हितमितभाषी, तथा कायेन निरुद्धदुष्प्रणिहितसर्वकायचेष्टो दृष्टिपूतपादचारी सन् परमार्थतश्चक्षुष्मान् भवतीति ॥१३॥ अपि च–'से हु चक्खू' इत्यादि, हुरवधारणे, स एव प्राप्तकर्मविवरोऽनीदृशस्य खेदज्ञो भव्यमनुष्याणां चक्षुः–सदसत्पदार्थाविर्भावनान्नेत्रभूतो वर्तते, किंभूतोऽसौ ?, यः 'काङ्क्षायाः'–भोगेच्छाया अन्तको विषयतृष्णायाः पर्यन्तवर्ती । किमन्तवर्तीति विवक्षितमर्थं साधयति ?, साधयत्येवेत्यमुमर्थं दृष्टान्तेन साधयन्नाह––'अन्तेन'–पर्यन्तेन 'क्षुरो'–नापितोपकरणं तदन्तेन वहति, तथा चक्रमपिरथाङ्गमन्तेनैव मार्गे प्रवर्तते, इदमुक्तं भवति–यथा क्षुरादीनां पर्यन्त एवार्थक्रियाकारी एवं विषयकषायात्मकमोहनीयान्त एवापसदसंसारक्षयकारीति ॥ १४ ॥ अमुमेवार्थमाविर्भावयन्नाह–'अंताणि' इत्यादि, 'अन्तान्'–पर्यन्तान् विषयकषायातृष्णायास्तत्परिकर्मणार्थ-

१ तु आ। उ इ। २ पोट्टती आ। ३ इमं आ. इ।

मुद्यानादीनामाहारस्य वाऽन्तप्रान्तादीनि 'धीराः'–महासत्त्वा विषयसुखनिःस्पृहाः 'सेवन्ते'–अभ्यस्यन्ति, तेन चान्तप्रान्ताभ्यसनेन 'अन्तकराः'–संसारस्य तत्कारणस्य वा कर्मणः क्षयकारिणो भवन्ति, 'इहे'ति–मनुष्यलोके आर्यक्षेत्रे वा, न केवलं त एव तीर्थङ्करादयः अन्येऽपीह मानुष्यलोके स्थाने प्राप्ताः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकं धर्ममाराध्य 'नराः-' मनुष्याः कर्मभूमिगर्भव्युत्क्रान्तिजसंख्येयवर्षायुषः सन्तः सदनुष्ठानसामग्रीमवाप्य 'निष्ठितार्था'–उपरतसर्वद्वन्द्वा भवन्ति ॥ १५ ॥ इदमेवाह—'णिट्ठियट्ठा' इत्यादि, 'निष्ठितार्थाः'–कृतकृत्या भवन्ति, केचन प्रचुरकर्मतया सत्यामपि सम्यक्त्वादिकायां सामग्र्यां न तद्भव एव मोक्षमास्कन्दन्ति, अपि तु सौधर्माद्याः पञ्चो(ञ्चानु)त्तरविमानावसाना देवा भवन्तीति, एतल्लोकोत्तरीये प्रवचने श्रुतम्–आगमः एवंभूतः सुधर्मस्वामी वा जम्बूस्वामिनमुद्दिश्यैवमाह—यथा मयैतल्लोकोत्तरीये भगवत्यर्हत्युपलब्धं, तद्यथा–अवाप्तसम्यक्त्वादिसामग्रीकः सिध्यति वैमानिको वा भवतीति । मनुष्यगतावेवैतन्नान्यत्रेति दर्शयितुमाह—'सुयं मे' इत्यादि, पश्चार्द्धं । तच्च मया तीर्थकरान्तिके 'श्रुतम्'–अवगतं, गणधरः स्वशिष्याणामेकेषामिदमाह—यथा मनुष्य एवाशेषकर्मक्षयात्सिद्धिगतिभाग्भवति नामनुष्य इति, एतेन यच्छाक्यैरभिहितं, तद्यथा—देव एवाशेषकर्मप्रहाणं कृत्वा मोक्षभाग्भवति, तदपास्तं भवति, न ह्यमनुष्येषु गतित्रयवर्तिषु सचारित्रपरिणामाभावाद्यथा मनुष्याणां तथा मोक्षावाप्तिरिति ॥ १६ ॥ इदमेव स्वनामग्राहमाह––

---

१ ०प्रान्तानि आ. इ। २ मनुष्य० आ इ। ३ ××त्त० आ. इ। ४ सुयं च मे आ. इ। सा. ५ इष्टितोऽवधारणविधेर्भवतीत्यस्याप्रतो योजनैवकारस्य, तथा चासंभवव्यवच्छेदायैवकारोऽत्र, अन्यथा बुद्धस्यापि मनुष्यत्वादनिर्मोक्षप्रसङ्गः।

अंतं करंति दुक्खाणं, इहमेगेसि आहियं । आघायं पुण एगेसिं, दुल्लभेऽयं समुस्सए ॥ १७ ॥
इओ विद्धंसमाणस्स, पुणो संबोहि दुल्लभा । दुल्लहाओ तहच्चाओ[1], जे धम्मट्ठं वियागरे ॥ १८ ॥
जे धम्मं सुद्धमक्खंति, पडिपुन्नमणेलिसं । अणेलिसस्स जं ठाणं, तस्स जम्मकहा केओ[2] ? ॥ १९ ॥
केओ[2] कयाइ मेधावी, उप्पज्जंति तहागया । तहागया अप्पडिन्ना, चक्खू लोगस्सणुत्तरा ॥ २० ॥

'अंतं करंति' इत्यादि, न ह्यमनुष्या अशेषदुःखानामन्तं कुर्वन्ति, तथाविधसामग्र्यभावात्, यथैकेषां वादिनामाख्यातं, तद्यथा—देवा एवोत्तरोत्तरं स्थानमास्कन्दन्तोऽशेषक्लेशप्रहाणं कुर्वन्ति, न तथेह–आर्हते प्रवचने इति । इदमन्यत् पुनरेकेषां गणधरादीनां स्वशिष्याणां वा गणधरादिभिराख्यातं, तद्यथा–युगसमिलादिन्यायावाप्तकथञ्चित्कर्मविवरात् योऽयं शरीरसमुच्छ्रयः[3] सोऽकृतधर्मोपायैरसुमद्भिर्महासमुद्रप्रभ्रष्टरत्नवत्पुनर्दुर्लभो भवति, तथा चोक्तम्–" ननु पुनरिदमतिदुर्लभमगाधसंसारजलधिविभ्रष्टम् । मानुष्यं खद्योतकतडिल्लताविलसितप्रतिमम् ॥ १ ॥" इत्यादि ॥ १७ ॥ अपि च 'ईओ[4] विद्धंस०' इत्यादि, 'इतः'–अमुष्मात् मनुष्यभवात् सद्धर्मतो वा विध्वंसमानस्याकृतपुण्यस्य पुनरस्मिन् संसारे पर्यटतो 'बोधिः'–सम्यग्दर्शनावाप्तिः सुदुर्लभा उत्कृष्टतः अपार्ध[5]पुद्गलपरावर्तकालेन[6] यतो भवति, तथा 'दुर्लभा'–दुरापा तथाभूता–सम्यग्दर्शनप्राप्तियोग्या 'अर्चा'–लेश्याऽन्तःकरणपरिणतिरकृतधर्मणामिति, यदि वाऽर्चा–मनुष्यशरीरं तदप्यकृतधर्मबीजा-

१ °च्चाणं आ । २ कुतो इ । सा. ३ शरीरमेव पुद्गलसंघातत्वात्समुच्छ्रयः–'उस्सय समुस्सए वा' इति वचनात्, समुच्छ्रय एव वा देहवाचकः शरीरशब्दस्तु विशेषणम् । ४ इयं आ । ५ उपार्ध० आ. इ । सा. ६ वान्तसम्यक्त्वधर्मस्यैतावताऽवश्यं सम्यक्त्वस्य पुनः प्राप्तेः ।

नामार्यक्षेत्रसुकुलोत्पत्तिसकलेन्द्रियसामग्र्यादिरूपं दुर्लभं भवति, जन्तूनां ये धर्मरूपमर्थं[1] व्याकुर्वन्ति, ये धमप्रतिपत्तियोग्या इत्यर्थः, तेषां तथाभूतार्चा सुदुर्लभा भवतीति ॥ १८ ॥ किञ्चान्यत्—' जे धम्मं ' इत्यादि, ये महापुरुषा वीतरागाः करतलामलकवत्सकलजगद्द्रष्टारः त एवंभूताः परहितैकरताः 'शुद्धम् '–अवदातं सर्वोपाधिविशुद्धं धर्मम् ' आख्यान्ति '–प्रतिपादयन्ति स्वतः समाचरन्ति च ' प्रतिपूर्णम् '–आयतचारित्रसद्भावात् संपूर्णं यथाख्यातचारित्ररूपं वा ' अनीदृशम् '–अनन्यसदृशं धर्मम् आख्यान्ति अनुतिष्ठन्ति (च) । तदेवम्–' अनीदृशस्य '–अनन्यसदृशस्य ज्ञानचारित्रोपेतस्य यत् स्थानं–सर्वद्वन्द्वोपरमरूपं तदवाप्तस्य तस्य कुतो जन्मकथा ?, जातो मृतो वेत्येवंरूपा कथा स्वप्नान्तरेऽपि तस्य कर्मबीजाभावात् कुतो विद्यत ?, इति; तथोक्तम्—"दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं, प्रादुर्भवति नाङ्कुरः । कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाङ्कुरः ॥ १ ॥" इत्यादि ॥ १९ ॥ किंचान्यत्—' कओ[2] कयाइ ' इत्यादि, कर्मबीजाभावात् ' कुतः '–कस्मात् कदाचिदपि ' मेधाविनो '–ज्ञानात्मकाः तथा–अपुनरावृत्त्या गतास्तथा गताः पुनरस्मिन् संसारेऽशुचिनि गर्भाधाने समुत्पद्यन्ते ?, न कथञ्चित्कदाचित्कर्मोपादानाभावादुत्पद्यन्त इत्यर्थः,. तथा ' तथागताः '–तीर्थकृद्गणधरादयो न विद्यते प्रतिज्ञा–निदानबन्धनरूपा येषां तेऽप्रतिज्ञा—अनिदाना निराशंसाः सत्त्वहितकरणोद्यता अनुत्तरज्ञानत्वादनुत्तरा ' लोकस्य '–जन्तुगणस्य सदसदर्थनिरूपणकारणतश्चक्षुर्भूता हिताहितप्राप्तिपरिहारं कुर्वन्तः सकललोकलोचन[3]भूतास्तथागताः सर्वज्ञा भवन्तीति ॥२०॥ किञ्चान्यत्—

---

१ ०मर्थं धर्मार्थं व्या° आ. । २ कुओ आ. इ । ३ °लोचनीभू० आ ।

अणुत्तरे य ठाणे [1]से, कासवेण पवेदिते । जं किच्चा णिव्वुडा एगे, निट्ठं पावंति पंडिया ॥ २१ ॥
पंडिए वीरियं लध्धुं, निग्घायाय पवत्तगं । धुणे पुव्वकडं कम्मं, णवं वाऽवि ण कुव्वती ॥ २२ ॥
ण कुव्वती महावीरे, अणुपुव्वकडं रयं । रयसा संमुहीभूता[2], कम्मं हेच्चाण जं मयं ॥ २३ ॥
जं मयं सव्वसाहूणं, तं[3] मयं सल्लगत्तणं । साहइत्ताण तं तिन्ना, देवा वा अभविंसु ते ॥ २४ ॥
अभविंसु पुरा धी(वी)रा, आगमिस्सावि सुव्वता । दुन्निबोहस्स मग्गस्स, अंतं पाउकरा तिन्ने ॥२५॥
त्तिबेमि । इति पनरसमं जंमइयं नामज्झयणं समत्तं ॥ (गाथाग्रम्–६४३) ॥

'अणुत्तरे य' इत्यादि, न विद्यते उत्तरं–प्रधानं यस्मादनुत्तरं स्थानं तच्च [6]तत्संयमाख्यं 'काश्यपेन'–काश्यपगोत्रेण श्रीमहावीरवर्धमानस्वामिना 'प्रवेदितम्'–आख्यातं, तस्य चानुत्तरत्वमाविर्भावयन्नाह—'यद्'–अनुत्तरं संयमस्थानं 'एके'–महासत्त्वाः सदनुष्ठायिनः कृत्वा अनुपाल्य 'निर्वृताः'–निर्वाणमनुप्राप्ताः, निर्वृताश्च सन्तः संसारचक्रवालस्य 'निष्ठां'–पर्यवसानं 'पण्डिताः'–पापाड्डीनाः प्राप्नुवन्ति, तदेवंभूतं संयमस्थानं काश्यपेन प्रवेदितं यदनुष्ठायिनः

१ य इ। २ ०भूते आ. इ। ३ जं मतं आ। तम्मदं इ। ४ तिबेमि। छ। जमती सम्मत्तं। छ। १५। छ। आ, त्तिबेमि। छ। पंचदशमध्ययनं। इ। ५ यस्मात्स्थानात्तदनुत्तरं आ. इ। ६ सत्सं० आ. इ।

सन्तः सिद्धिं[1] प्राप्नुवन्तीति तात्पर्यार्थः ॥ २१ ॥ अपि च–‘ पंडिए ’ इत्यादि, ‘ पण्डितः ’–सदसद्विवेकज्ञो ‘ वीर्यं ’–कर्मोद्दलनसमर्थं सत्संयमवीर्यं तपोवीर्यं वा ‘ लब्ध्वा ’–अवाप्य, तदेव वीर्यं विशिनष्टि–निःशेषकर्मणो ‘ निर्घाताय ’–निर्जरणाय प्रवर्तकं पण्डितवीर्यं, तच्च बहुभवशतदुर्लभं कथञ्चित्कर्मविवरादवाप्य ‘ धुनीयाद् ’–अपनयेत् पूर्वभवेष्वनेकेषु यत्कृतम्–उपात्तं कर्माष्टप्रकारं तत्पण्डितवीर्येण धुनीयात् ‘ नवं च ’–अभिनवं चाश्रवनिरोधान्न करोत्यसाविति ॥ २२ ॥ किञ्च– ‘ ण कुव्वती ’ इत्यादि, ‘ महावीरः ’–कर्मविदारणसहिष्णुः सन्नानुपूर्व्येण मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगैर्यत्कृतं रजोऽपरजन्तुभिस्तदसौ ‘ न करोति ’–न विधत्ते, यतस्तत्प्राक्तनोपात्तरजसैवोपादीयते, स च तत्प्राक्तनं कर्मावष्टभ्य सत्संयमात् संमुखीभूतः तदभिमुखीभूतश्च यन्मतमष्टप्रकारं कर्म तत्सर्वं ‘ हित्वा ’–त्यक्त्वा मोक्षस्य सत्संयमस्य वा सम्मुखीभूतोऽसाविति ॥ २३ ॥ अन्यच्च—‘ जम्मय’मित्यादि, सर्वसाधूनां यत् ‘ मतम् ’–अभिप्रेतं तदेतत्सत्संयमस्थानं, तद्विशिनष्टि–‘ शल्यं ’–पापानुष्ठानं तज्जनितं वा कर्म तत्कर्तयति–छिनत्ति यत्तच्छल्यकर्तनं तच्च सदनुष्ठानं उद्युक्तविहारिणः ‘ साधयित्वा ’–सम्यगाराध्य बहवः संसारकान्तारं तीर्णाः, अपरे तु सर्वकर्मक्षयाभावात् देवा अभूवन्, ते चाप्तसम्यक्त्वाः सच्चारित्रिणो वैमानिकत्वमवापुः प्राप्नुवन्ति प्राप्स्यन्ति चेति ॥ २४ ॥ सर्वोपसंहारार्थमाह–‘ अभविंसु ’ इत्यादि, ‘ पुरा ’–पूर्वस्मिन्ननादिके काले बहवो ‘ महावीराः ’–कर्मविदारणसहिष्णवः ‘ अभूवन् ’–भूताः, तथा वर्तमाने च काले कर्मभूमौ तथाभूता भवन्ति तथाऽऽगामिनि चानन्ते काले तथाभूताः[2] सत्संयमानुष्ठायिनो भविष्यन्ति, ये किं कृतवन्तः

१ सिद्धिमवाप्नु० आ. इ । २ ०भूताः सुव्रताः सत्सं० आ. इ ।

कुर्वन्ति करिष्यन्ति चेत्याह—यस्य दुर्निबोधस्य—अतीव दुष्प्रापस्य(मार्गस्य)ज्ञानदर्शनचारित्राख्यस्य 'अन्तं'—परमकाष्ठामवाप्य तस्यैव मार्गस्य 'प्रादुः'—प्राकाश्यं तत्करणशीलाः प्रादुष्कराः स्वतः सन्मार्गानुष्ठायिनोऽन्येषां च प्रादुर्भावकाः सन्तः संसारार्णवं तीर्णास्तरन्ति तरिष्यन्ति चेति, गतोऽनुगमः। साम्प्रतं नयाः, ते च प्राग्वत् द्रष्टव्याः। इतिरध्ययनपरिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥ २५ ॥ इति आदानीयाख्यं पञ्चदशाध्ययनं समाप्तम् ॥

॥ अथ षोडशं श्रीगाथाध्ययनं प्रारभ्यते ॥

उक्तं पञ्चदशमध्ययनं, साम्प्रतं षोडशमारभ्यते, अस्य चायमभिसंबन्धः—इहानन्तरोक्तेषु पञ्चदशस्वप्यध्ययनेषु येऽर्था अभिहिता विधिप्रतिषेधद्वारेण तान् तथैवाचरन् साधुर्भवतीत्येतदनेनाध्ययनेनोपदिश्यते, ते चामी अर्थाः, तद्यथा—प्रथमाध्ययने स्वसमयपरसमयपरिज्ञानेन सम्यक्त्वगुणावस्थितो भवति, द्वितीयाध्ययने ज्ञानादिभिः कर्मविदारणहेतुभिरष्टप्रकारं कर्म विदारयन् साधुर्भवति, तथा तृतीयाध्ययने यथाऽनुकूलप्रतिकूलोपसर्गान् सम्यक् सहमानः साधुर्भवति, चतुर्थे तु स्त्रीपरीषहस्य दुर्जयत्वात्तज्जयकारीति, पञ्चमे तु नरकवेदनाभ्यः समुद्विजमानस्तत्प्रायोग्यकर्मणो विरतः सत्साधुत्वमवाप्नुयात्, षष्ठे

१ ××× ज्ञान० आ. इ। २ प्रकाश्येतत्क० आ। प्राकाश्येतत्क० इ। ३ पूर्ववत्समाप्तमादानीयाख्यं पञ्चदशमध्ययनमिति। छ। ग्रंथतः ३०८। सर्वसंख्याग्रं ८८३४। छ। आ. इ। ४ यथोक्तानुकूल० आ. इ। ५ समुद्विजंस्त० आ. इ।

तु यथा श्रीवीरवर्धमानस्वामिना कर्मक्षयोद्यतेन चतुर्ज्ञानिनाऽपि संयमं प्रति प्रयत्नः कृतस्तथाऽन्येनापि छद्मस्थेन विधेय इति, सप्तमे तु कुशीलदोषान् ज्ञात्वा तत्परिहारोद्यतेन सुशीलावस्थितेन भाव्यम्, अष्टमे तु बालवीर्यपरिहारेण पण्डित-वीर्योद्यतेन सदा मोक्षाभिलाषिणा भाव्यं, नवमे तु यथोक्तं क्षान्त्यादिकं धर्ममनुचरन् संसारान्मुच्यत इति, दशमे तु संपूर्ण—समाधियुक्तः सुगतिभाग्भवति, एकादशे तु सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राख्यं सन्मार्गं प्रतिपन्नोऽशेषक्लेशप्रहाणं विधत्ते, द्वादशे तु तीर्थिकदर्शनानि सम्यग्गुणदोषविचारणतो विजानन्न तेषु श्रद्धानं विधत्ते, त्रयोदशे तु शिष्यगुणदोषवि[1]ज्ञः सद्गुणेषु वर्तमानः कल्याणभाग्भवति, चतुर्दशे तु प्रशस्तभावग्रन्थभावितात्मा विस्रोतसिकारहितो भवति, पञ्चदशे तु [2]यथावदायतचारित्रो भवति भिक्षुस्तदुपदिश्यत इति। तदेवमनन्तरोक्तेषु पञ्चदशस्वध्ययनेषु येऽर्थाः प्रतिपादितास्तेऽत्र संक्षेपतः प्रतिपाद्यन्त, इत्यनेन संन्बधेनायातस्यास्याध्ययनस्य चत्वार्युपक्रमादीन्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति। तत्रोपक्रमान्तर्गतोऽर्थाधिकारोऽनन्तरमेव संबन्ध-प्रतिपादनेनैवाभिहितः। नामनिष्पन्ने तु निक्षेपे–गाथा[3]षोडशकमिति नाम। तत्र गाथानिक्षेपार्थं निर्युक्तिकृदाह–

णामं ठवणागाहा द[4]व्वगाहा य भावगाहा य। पोत्थग[5]पत्तगलिहिया सा होई द[6]व्वगाहा उ॥१३७॥
होति पुण भावगाहा सागारुवओगभावणिप्फन्ना। महुराभिहाणजुत्ता तेणं गाहत्ति णं बिंति॥१३८॥

---

१ ०विदुः आ। २ यथायतचा० आ, यथायतच० इ। सा ३ गाथैव षोडशं गाथाषोडशं, तदेव गाथाषोडशकं गाथाख्यं षोडशमध्ययनं यत्र तत्तथा वा। ४ दव्वा० आ। ५ ०पत्तयपोत्थ० अ. आ। ६ होइ इमा दव्व अ. आ।

गाहीकया व अत्था अहव[1] ण सामुद्दएण छंदेणं। एएण होति गाहा एसो अन्नोऽवि पज्जाओ॥१३९॥
पण्णरससु अज्झयणेसु पिंडितत्थेसु जो अवितहत्ति। पिंडियवयणेणऽत्थं गहेति तम्हा[2] ततोगाहा॥१४०॥
सोलसमे अज्झयणे अणगारगुणाण वण्णणा भणिया। गाहासोलसणामं अज्झयणमिणं ववदिसंति॥१४१॥[3]

'णामं ठवणा०' इत्यादि, तत्र गाथाया नामादिकश्चतुर्धा निक्षेपः, तत्रापि नामस्थापने क्षुण्णत्वादनादृत्य द्रव्यगाथामाह—तत्र ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्ता द्रव्यगाथा पत्रकपुस्तकादिन्यस्ता, यद्यथा—[4]जयति णवणलिणकुवलयवियसियसयवत्तपत्तल-दलच्छो[5]। वीरो गइंदमयगलसु[6]ललियगयविक्कमो भगवं॥ १ ॥ अथवेयमेव गाथाषोडशाध्ययनरूपा पत्रकपु[7]स्तकन्यस्ता द्रव्यगाथेति। भावगाथामधिकृत्याह—'होति पुण' इत्यादि, भावगाथा पुनरियं भवति; तद्यथा—योऽसौ साकारोपयोगः क्षायोपशमिकभावनिष्पन्नो गाथां प्रति व्यवस्थितः सा भावगाथेत्युच्यते, समस्तस्यापि च श्रुतस्य क्षायोपशमिकभावे व्यवस्थितत्वात्; तत्र चानाकारोपयोगस्यासंभवादेवमभिधीयते इति। पुनरपि तामेव विशिनष्टि—मधुरं—श्रुतिपेशलमभिधानम्—उच्चारणं यस्याः सा मधुराभिधानयुक्ता, गाथाछन्दसोपनिबद्धस्य प्राकृतस्य मधुरत्वादित्यभिप्रायः, गीयते—पठ्यते मधुराक्षरप्रवृत्त्या गायन्ति वा तामिति गाथा, यत एवमतस्तेन कारणेन गाथामिति तां ब्रुवते। णमिति वाक्यालङ्कारे

१ अहवा. अ. आ। २ जम्हा तउ. अ. आ। ३ गाहा सोलसमं अज्झयणं सम्मत्तं। समत्तो सुयगडस्स पढमसुयखंधो। सा ४ जयति नवनलिनी—कुवलयविकसितशतपत्रपत्रलदलाक्षः। वीरो गलन्मदगजेन्द्रसुललितगतिविक्रमो भगवान्॥ १ ॥ ५ ०सरिच्छो. इ। ६ ०सल इ ७ ०xxxन्य० इ।

एनां वा गाथामिति। अन्यथा वा निरुक्तिमधिकृत्याह'–गाहीकया व' इत्यादि, 'गाथीकृताः'–पिण्डीकृता विक्षिप्ताः सन्त एकत्र मीलिता अर्था यस्यां सा गाथेति, अथवा–सामुद्रेण छन्दसा वा निबद्धा सा गाथेत्युच्यते, तच्चेदं छन्दः–"अनिबद्धं च यल्लोके, गाथेति तत्पण्डितैः प्रोक्तम्"। 'एषः'–अनन्तरोक्तो गाथाशब्दस्य 'पर्यायो'–निरुक्तं तात्पर्यार्थो द्रष्टव्यः, तद्यथा– गीयतेऽसौ गायन्ति वा तामिति गाथीकृता वाऽर्थाः सामुद्रेण वा छन्दसेति गाथेत्युच्यते, अन्यो वा स्वयमभ्यूह्य निरुक्तविधिना विधेय इति। पिण्डितार्थग्राहित्वमधिकृत्याह–'पण्णरससु' इत्यादि, पञ्चदशस्वप्यध्ययनेषु अनन्तरोक्तेषु पिण्डितः'–एकीकृतोऽर्थो येषां तानि पिण्डितार्थानि तेषु सर्वेष्वपि य एवं व्यवस्थितोऽर्थस्तम्, 'अवितथं'–यथावस्थितं पिण्डितार्थवचनेन यस्माद् ग्रथ्नात्येतदध्ययनं षोडशं, 'ततः'–पिण्डितार्थग्रं[1]थनाद्गाथेत्युच्यत इति। 'तत्त्वभेदपर्यायैर्व्याख्ये'-तिकृत्वा तत्त्वार्थमधिकृत्याह–'सोलसमे' इत्यादि, षोडशाध्ययने अनगाराः–साधवस्तेषां गुणाः–क्षान्त्यादयस्तेषामनगारगुणानां पञ्चदशस्वप्यध्ययनेष्वभिहितानामिहाध्ययने पिण्डितार्थवचनेन यतो वर्णना[2]ऽभिहिता उक्ताऽतो गाथाषोडशाभिधा[3]नमध्ययनमिदं 'व्यपदिशन्ति'–प्रतिपादयन्ति[4]। उक्तो नामनिष्पन्ननिक्षेपनिर्युक्त्यनुगमः, तदनन्तरं सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यनुगमस्यावसरः, स च सूत्रे सति भवति, सूत्रं च सूत्रानुगमे, असावप्यवसरप्राप्त एवातोऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयं[5], तच्चेदम्—

अहाह भगवं-[6]एवं से दंते दविए वोसट्ठकाएत्ति वच्चे माहणेति वा १, समणेत्ति वा २, भिक्खूत्ति

१ ०ग्रन्थना० आ। २ वर्णना भणितोक्ता आ, इ। ३ ०धानमिदमध्ययनं आ, इ। ४ ०यन्तीति इ। ५ ०चारयितव्यं आ, इ। ६ ×× आ।

वा ३, णिग्गंथेत्ति वा ४; पडिआह–भंते!, [1]कहं नु दंते दविए वोसट्ठकाएत्ति वच्चे माहणेत्ति वा समणेत्ति वा भिक्खूत्ति वा णिग्गंथेत्ति वा !; तं नो बूहि महामुणी ! । इति विरए सव्वपावकम्मेहिं[2] पिज्जदोसकलह० अब्भक्खाण० पेसुन्न० परपरिवाय० अरतिरति० मायामोस० मिच्छादंसणसल्लविरए समिए सहिए सया जए णो कुज्झे णो माणी माहणेत्ति वच्चे ॥ १ ॥

'अहाह' इत्यादि, 'अथे'त्ययं शब्दोऽवसानमङ्गलार्थः, आदिमङ्गलं तु बुध्येतेत्यनेनाभिहितं, अत आद्यन्तयोर्मङ्गलत्वात् सर्वोऽपि श्रुतस्कन्धो मङ्गलमित्येतदनेनावेदितं भवति। आनन्तर्ये वाऽथशब्दः, पञ्चदशाध्ययनान्तरं तदर्थसंग्राहीदं षोडशमध्य[3]यनं प्रारभ्यते । अथानन्तरमाह–'भगवान्'–उत्पन्नदिव्यज्ञानः सदेवमनुजायां पर्षदीदं वक्ष्यमाणमाह,–तद्यथा–एवमसौ पञ्चदशाध्ययनोक्तार्थयुक्तः स साधुर्दान्त इन्द्रियनोइन्द्रियदमनेन द्रव्यभूतो मुक्तिगमनयोग्यत्वात्, 'द्रव्यं च भव्ये' इति वचनात्; रागद्वेषकालिकापद्रव्यरहितत्वाद्वाजात्यसुवर्णवत् शुद्धद्रव्यभूतस्तथा व्युत्सृष्टो निष्प्रतिकर्मशरीरतया कायः–शरीरं येन स भवति व्युत्सृष्टकायः, तदेवंभूतः सन् पूर्वोक्ताध्ययनार्थेषु वर्तमानः प्राणिनः स्थावरजङ्गमसूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तकभेदभिन्नान् मा हणन्ति प्रवृत्तिर्यस्यासौ माहनो नवब्रह्मचर्यगुप्ति[4]गुप्तो ब्रह्मचर्यधारणाद्वा ब्राह्मण इत्यनन्तरोक्तगुणकदम्बकयुक्तः साधुर्माहनो ब्राह्मण [[5]ग्रन्थाग्रम् ८०००] इति वा वाच्यः, तथा श्राम्यति–तपसा खिद्यत इतिकृत्वा श्रमणो वाच्योऽथवा समं–तुल्यं मित्रादिषु मनः–अन्तःकरणं यस्य स समनाः सर्वत्र वासीचन्दनकल्प इत्यर्थः, तथा

१ कहणे आ, कहं × इ । २ °×पि० आ, इ । ३ °नारभ्यते आ, इ । ४ °गुप्त० आ, इ । ५ ×××××××× आ, इ ।

चोक्तम्–“ [1]णत्थि य सि कोइ वेसो ” इत्यादि । तदेवं पूर्वोक्तगुणकलितः श्रमणः सन् [2]समणा वा इत्येवं वाच्यः साधुरिति । तथा भिक्षणशीलो भिक्षुर्भिनत्ति वाऽष्टप्रकारं कर्मेति भिक्षुः स साधुदान्तादिगुणोपेतो भिक्षुरिति वाच्यः । तथा स बाह्याभ्यन्तरग्रन्थाभावा[3]न्निर्ग्रन्थः । तदेवमनन्तरोक्तपञ्चदशाध्ययनोक्तार्थानुष्ठायी दान्तो द्रव्यभूतो व्युत्सृष्टकायश्च [सं] निर्ग्रन्थ इति वाच्य इति । एवं भगवतोक्ते सति प्रत्याह–तच्छिष्यः—भगवन् !, भदन्त !, भयान्त !; भवान्त इति वा योऽसौ दान्तो द्रव्यभूतो व्युत्सृष्टकायः सन् ब्राह्मणः श्रमणो भिक्षुनिर्ग्रन्थ इति वाच्यः, तदेतत्कथं ?, यद्भगवतोक्तं ब्राह्मणादिशब्दवाच्यत्वं साधोरिति, एतन्नः–अस्माकं ‘ ब्रूहि ’–आवेदय, ‘ महामुने ! ’–यथावस्थितत्रिकालवेदिन् ॥ १ ॥ इत्येवं पृष्टो भगवान् ब्राह्मणादीनां चतुर्णामप्यभिधानानां कथञ्चिद्भेदाद्भिन्नानां यथाक्रमं प्रवृत्तिनिमित्तमाह—‘ इति ’–एवं पूर्वोक्ताध्ययनार्थवृत्ति सन् ‘ विरतो ’–निवृत्तः सर्वेभ्यः पापकर्मभ्यः–सावद्यानुष्ठानरूपेभ्यः स तथा, तथा प्रेम–रागाभिष्वङ्गलक्षणं, द्वेषः–अप्रीतिलक्षणः, कलहो–द्वन्द्वाधिकरणमभ्याख्यानम्–असदभियोगः, पैशुन्यं (कर्णेजपत्वं), परगुणासहनतया तद्दोषोद्घट्टनमितियावत् परस्य परिवादः काक्का परदोषापादनं, अरतिः–चित्तोद्वेगलक्षणा संयमे, तथा रतिः–विषयाभिष्वङ्गो, माया–परवञ्चना तया कुटिलमतिर्मृषावाद–असदर्थाभिधानं गामश्वं ब्रुवतो भवति, मिथ्यादर्शनम्––अतत्त्वे तत्त्वाभिनिवेशस्तत्त्वे वाऽतत्त्वमिति, यथा–[6]णत्थि ण णिच्चो ण कुणइ कयं ण वेएइ णत्थि णिव्वाणं । णत्थि य मो-

सा. १ नास्ति तस्य कोऽपि द्वेष्यः । २ समना इ । ३ सन्निर्ग्रन्थः आ, इ । ४ × आ, इ । ५ ×××××प० आ. इ । सा. ६ नास्ति न नित्यो न करोति न कृतं वेदयति नास्ति निर्वाणं । नास्ति च मोक्षोपायः षण्मिथ्यात्वस्य स्थानानि ॥ १ ॥

क्खोवाओ छम्मिच्छत्तस्स ठाणाइं ॥ १ ॥ इत्यादि, एतदेव शल्यं तस्मिंस्ततो वा विरत इति, तथा सम्यगितः समितः–ईर्यासमित्यादिभिः पञ्चभिः समितिभिः समित इत्यर्थः, तथा सह हितेन–परमार्थभूतेन वर्तत इति सहितः, यदि वा सहितो––युक्तो ज्ञानादिभिः, तथा[1] ‘ सदा ’–‘ सर्वकालं ‘ यतः ’–प्रयतः सत्संयमानुष्ठाने, तदनुष्ठानमपि न कषायैर्निःसारीकुर्यादित्याह–कस्यचिदप्यपकारिणोऽपि न क्रुध्येत[2]––आक्रुष्टः सन्न क्रोधवशगो भूयात्, नापि मानी भवेदुत्कृष्टतपोयुक्तोऽपि न गर्वं विदध्यात्, तथा चोक्तम्–“ जइ[3] सोऽवि निज्जरमओ पडिसिद्धो अट्ठमाणमहणेहिं । अवसेसमयट्ठाणा परिहरियव्वा पयत्तेणं ॥ १ ॥ ” अस्य चोपलक्षणार्थत्वाद्रागोऽपि मायालोभात्मको न विधेय इत्यादिगुणकलितः साधुर्माहन इति, निःशङ्कं वाच्य इति ॥ २ ॥ साम्प्रतं श्रमणशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तमुद्भावयन्नाह—

एत्थवि समणे अणिस्सिए अणियाणे आदाणं च, अतिवायं च, मुसावायं च, बहिद्धं च, कोहं च, माणं च, मायं च, लोहं च, पिज्जं च, दोसं च; इच्चेव[5] जओ जओ आदाणं[6] अप्पणो पद्दोसहेऊ तओ तओ आदाणातो पुव्वं पडिविरते पाणाइवाया[7] सिआदंते दविए वोसट्ठकाए समणेत्ति वच्चे २ ॥ एत्थवि भिक्खू अणुन्नए विणीए[8] नामए दंते दविए वोसट्ठकाए संविधुणीय विरूवरूवे परीसहोवसग्गे अज्झप्पजोगसुद्धादाणे

१ ××सदा° आ । २ कुप्येत आ । सा. ३ यदि सोऽपि निर्जरामदः प्रतिषिद्धोऽष्टमानमथनैः । अवशेषाणि मदस्थानानि परिहर्त्तव्यानि प्रयत्नेन ॥ १ ॥ ४ °×××××× ॥ २ ॥ आ । ५ इच्चेवं आ, इ । ६ आदाणाउ आ, आदाणातो इ । ७ ×××××××दंते° आ । पाणाइवायाओ××दंते° इ । ८ विणय आ । नावणए इ ।

उवट्ठिए ठिअप्पा संखाए परदत्तभोई भिक्खूत्ति वच्चे ॥ ३ ॥

अत्राप्यनन्तरोक्ते विरत्यादिके गुणसमूहे वर्तमानः श्रमणोऽपि वाच्यः, एतद्गुणयुक्तेनापि भाव्यमित्याह–निश्चयेनाधिक्येन वा 'श्रितो'–निश्रितः न निश्रितोऽनिश्रितः–क्वचिच्छरीरादावप्यप्रतिबद्धः, तथा न विद्यते निदानमस्येत्यनिदानो-निराकाङ्क्षोऽशेषकर्मक्षयार्थी संयमानुष्ठाने प्रवर्तेत, तथाऽऽदीयते–स्वीक्रियतेऽष्टप्रकारं कर्म येन तदादानं–कषायाः परिग्रहः सावद्यानुष्ठानं वा, तथा[1]ऽतिपातनमतिपातः, प्राणातिपात इत्यर्थः, तं च प्राणातिपातं ज्ञपरिज्ञया ज्ञात्वा, प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेद्, एवमन्यत्रापि क्रिया योजनीया । तथा मृषा–अलीको वादो मृषावादस्तं च, तथा 'बहिद्धं'ति मैथुनपरिग्रहौ तौ च सम्यक् परिज्ञाय परिहरेत् । उक्ता मूलगुणाः, उत्तरगुणानधिकृत्याह–क्रोधम्–अप्रीतिलक्षणं, मानं–स्तम्भात्मकं, मायां[2] च–परवञ्चनात्मिकां, लोभं–मूर्च्छास्वभावं, तथा प्रेम–अभिष्वङ्गलक्षणं, तथा द्वेषं–स्वपरात्मनोर्बाधारूपमित्यादिकं संसारावतरणमार्गं मोक्षाध्वनोऽपध्वंसकं सम्यक् परिज्ञाय परिहरेदिति । एवमन्यस्मादपि यतो यतः कर्मोपादानाद्–इहामुत्र चानर्थहेतोरात्मनोऽपायं पश्यति प्रद्वेषहेतूंश्च, ततस्ततः प्राणातिपातादिकादनर्थदण्डादादानात् पूर्वमेव–अनागतमेवात्महितमिच्छन् प्रतिविरतो भवेत्–सर्वस्मादनर्थहेतुभूतादुभयलोकवि[3]रुद्धाद्वा सावद्यानुष्ठानान्मुमुक्षुर्विरतिं कुर्यात् । यश्चैवंभूतो दान्तः शुद्धो द्रव्यभूतो निष्प्रतिकर्मतया व्युत्सृष्टकायः स श्रमणो वाच्यः ॥ ३ ॥ साम्प्रतं भिक्षुशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तमधिकृत्याह–'अत्रापी'ति, ये ते पूर्वमुक्ताः पापकर्मविरत्यादयो माहनशब्दप्रवृत्तिहेतवोऽत्रापि भिक्षुशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्ते त एवाव-

१ °ऽतिपतन० आ, इ । २ ×पर० आ, इ । ३ °विरोधिनः इ ।

गन्तव्याः, अमी चान्ये, तद्यथा–न उन्नतोऽनुन्नतः, तत्र द्रव्योन्नतः शरीरेणोच्छ्रितः भावोन्नतस्त्वभिमानग्रहग्रस्तः, तत्प्रतिषेधात्तपोनिर्जरामदमपि न विधत्ते। विनीतात्मतया प्रश्रयवान् यतः, एतदेवाह–विनयालङ्कृतो गुर्वादावादेशदानोद्यतेऽन्यदा वाऽऽत्मानं नामयतीति नामकः–सदा गुर्वादौ प्रह्वो भवति, विनयेन वाऽष्टप्रकारं कर्म नामयति, वैयावृत्त्योद्यतोऽशेषं पापमपनयतीत्यर्थः। तथा 'दान्तः'–इन्द्रियनोइन्द्रियाभ्यां, तथा 'शुद्धात्मा'–शुद्धद्रव्यभूतो निष्प्रतिकर्मतया 'व्युत्सृष्टकायश्च'–परित्यक्तदेहश्च, यत्करोति तद्दर्शयति–सम्यक् 'विधूय'–अपनीय 'विरूपरूपान्'–नानारूपाननुकूलप्रतिकूलान्–उच्चावचान् द्वाविंशतिपरीषहान् तथा दिव्यादिकानुपसर्गांश्चेति, तद्विधूननं तु यत्तेषां सम्यक् सहनं–तैरपराजितता, परीषहोपसर्गांश्च विधूयाध्यात्मयोगेन–सुप्रणिहितान्तःकरणतया धर्मध्यानेन शुद्धम्–अवदातमादानं–चारित्रं[1] यस्य स शुद्धादानो भवति। तथा सम्यगुत्थानेन–सच्चारित्रोद्यमेनोत्थितः, तथा स्थितो–मोक्षाध्वनि व्यवस्थितः परीषहोपसर्गैरप्यधृष्य आत्मा यस्य स स्थितात्मा, तथा 'संख्याय'[2]–परिज्ञायासारतां संसारस्य दुष्प्रापतां कर्मभूमेर्बोधेः सुदुर्लभत्वं चावाप्य च सकलां संसारोत्तरण[3]सामग्रीं सत्संयमकरणोद्यतः परैः–गृहस्थैरात्मार्थं निर्वर्तितमाहारजातं तैर्दत्तं भोक्तुं शीलमस्य परदत्तभोजी, स एवं गुणकलितो भिक्षुरिति वाच्यः ॥ ३ ॥ तथाऽत्रापि गुणगणे वर्तमानो निर्ग्रन्थ इति वाच्यः, अमी चान्ये अपदिश्यन्ते, तद्यथा—

एत्थवि णिग्गंथे एगे एगविऊ बुद्धे संछिन्नसोए सुसंजते सुसमिते सुसामाइए आयवायपत्ते विऊ[4] दुहओ[5]वि सोयपलिच्छिन्ने णो पूयासक्कारलाभट्ठी[6] धम्मट्ठी धम्मविऊ णियागपडिवन्ने[7] समि(म्म)यं[1] चरे

१ चरित्रं आ, इ। २ संख्याय सम्यक् परि० आ। ३ ०त्तारण० आ। ४ °त्ते यं विंदू आ, °त्तेअ विदू इ। ५ ०उ य सो° आ। ६ पूतणठी×ला° आ, पूयणठी×ला° इ। ७ ०पडियावण्णे आ। १ ×यं आ, इ।

दंते दविए वोसट्ठकाए निग्गंथेत्ति वच्चे ४ ॥ से एवमेव जाणह जमहं भयंतारो ॥ त्तिबेमि । इति सोलसमं गाहानामज्झयणं समत्तं ॥ पढमो सुअक्खंधो समत्तो ॥ १ ॥

'एको' रागद्वेषरहिततया ओजाः, यदि वाऽस्मिन् संसारचक्रवाले पर्यटन्नसुमान् स्वकृतसुखदुःखफलभाक्त्वेनैकस्यैव परलोकगमनतया[2] सदैकक एव भवति । तत्रोद्यतविहारी[3] द्रव्यतोऽप्येकको भावतोऽपि गच्छान्तर्गतस्तु कारणिको द्रव्यतो भाज्यो भावतस्त्वेकक एव भवति । तथैकमेवात्मानं परलोकगामिनं वेत्तीत्येकवित्, न मे कश्चिद्दुःखपरित्राणकारी सहायोऽस्तीत्येवमेकवित्, यदिवैकान्तविद्[4]–एकान्तेन विदितसंसारस्वभावतया मौनीन्द्रमेव शासनं तथ्यं नान्यदित्येवं वेत्तीत्येकान्तवित्, अथवैको–मोक्षः संयमो वा तं वेत्तीति, तथा बुद्धः–अवगततत्त्वः सम्यक् छिन्नानि–अपनीतानि भावस्रोतांसि–संवृतत्वात् कर्माश्रवद्वाराणि येन स तथा, सुष्ठु संयतः–कूर्मवत्संयतगात्रो निरर्थककायक्रियारहितः सुसंयतः, तथा–सुष्ठु पञ्चभिः समितिभिः सम्यगितः–प्राप्तो ज्ञानादिकं मोक्षमार्गमसौ सुसमितः, तथा सुष्ठु समभावतया सामायिकं–समशत्रुमित्रभावो यस्य स सुसामायिकः । तथाऽऽत्मनः–उपयोगलक्षणस्य जीवस्यासंख्येयप्रदेशात्मकस्य संकोचविकाशभाजः स्वकृतफलभुजः प्रत्येकसाधारणशरीरतया व्यवस्थितस्य द्रव्यपर्यायतया नित्यानित्याद्यनन्तधर्मात्मकस्य वा वाद आत्मवादस्तं प्राप्त आत्मवादप्राप्तः, सम्यग्यथावस्थितात्मस्वतत्त्ववेदीत्यर्थः । तथा–'विद्वान्'–अवगतसर्वपदार्थस्वभावो न

---

१ त्तिवेमि गाहा सत्तसयाणि । पढमो सुयक्खंधो वीयमागमस्स । छ । आ । २ तया च सदै० आ, इ । ३ °xxx । तत्रो० आ, इ । ४ °वैxxxxx-कान्तेन विदि० आ, इ ।

व्यत्ययेन पदार्थानवगच्छति । ततो यत् कैश्चिदभिधीयते, तद्यथा–एक एवात्मा सर्वपदार्थस्वभावतया विश्वव्यापी श्यामाकतण्डुलमात्रोऽङ्गुष्ठपर्वपरिमाणो वेत्यादिकोऽसद्भूताभ्युपगमः परिहृतो भवति, तथाविधात्मसद्भावप्रतिपादकस्य प्रमाणस्याभावादित्यभिप्रायः । तथा–'छिधापी'ति द्रव्यतो भावतश्च, तत्र द्रव्यस्रोतांसि यथास्वं विषयेष्विन्द्रियप्रवृत्तयः, भावस्रोतांसि शब्दादिष्वेवानुकूलप्रतिकूलेषु रागद्वेषोद्भावास्तान्युभयरूपाण्यपि स्रोतांसि संवृतेन्द्रियतया रागद्वेषाभावाच्च परिच्छिन्नानि येन स परिच्छिन्नस्रोताः, तथा नो पूजासत्कारलाभार्थी, किंतु निर्जरापेक्षी सर्वास्तपश्चरणादिकाः क्रिया विदधाति, एतदेव दर्शयति–धर्मः–श्रुतचारित्राख्यस्तेनार्थः, स एव वाऽर्थो धर्मार्थः स विद्यते यस्यासौ धर्मार्थीति; इदमुक्तं भवति––न पूजाद्यर्थं क्रियासु प्रवर्तते अपि तु धर्मार्थीति । किमिति ?, यतो धर्मं यथावत्तत्फलानि च स्वर्गावाप्तिलक्षणानि सम्यक् वेत्ति, धर्मं च सम्यग् जानानो यत्करोति, तद्दर्शयति–नियागो–मोक्षमार्गः सत्संयमो वा तं सर्वात्मना भावतः प्रतिपन्नः नियागपडिवन्नेत्ति, तथाविधश्च यत्कुर्यात् तदाह–'समि(मि)यं'ति समतां समभावरूपां वासीचन्दनकल्पां 'चरेत्'–सततमनुतिष्ठेत्। किंभूतः सन् ?, आह–दान्तो द्रव्यभूतो व्युत्सृष्टकायश्च, एतद्गुणसमन्वितः सन् पूर्वोक्तमाहनश्रमणभिक्षुशब्दानां यत् प्रवृत्तिनिमित्तं तत्समन्वितश्च निर्ग्रन्थ इति वाच्यः । तेऽपि माहनादयः शब्दा निर्ग्रन्थशब्दप्रवृत्तिनिमित्ताविनाभाविनो भवन्ति, सर्वेऽप्येते भिन्नव्यञ्जना अपि कथञ्चिदेकार्था इति ॥ ५ ॥ साम्प्रतमुपसंहारार्थमाह—सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिप्रभृतीनुद्दिश्येदमाह—'से एवमेव' इत्यादि, 'से' इति तद्यन्मया कथितमेवमेव जानीत यूयं, नान्यो मद्वचसि विकल्पो विधेयः, यस्मादहं सर्वज्ञाज्ञया ब्रवीमि । न च सर्वज्ञा भगवन्तः परहितैकरता भयात्रातारो रागद्वेषमोहा-

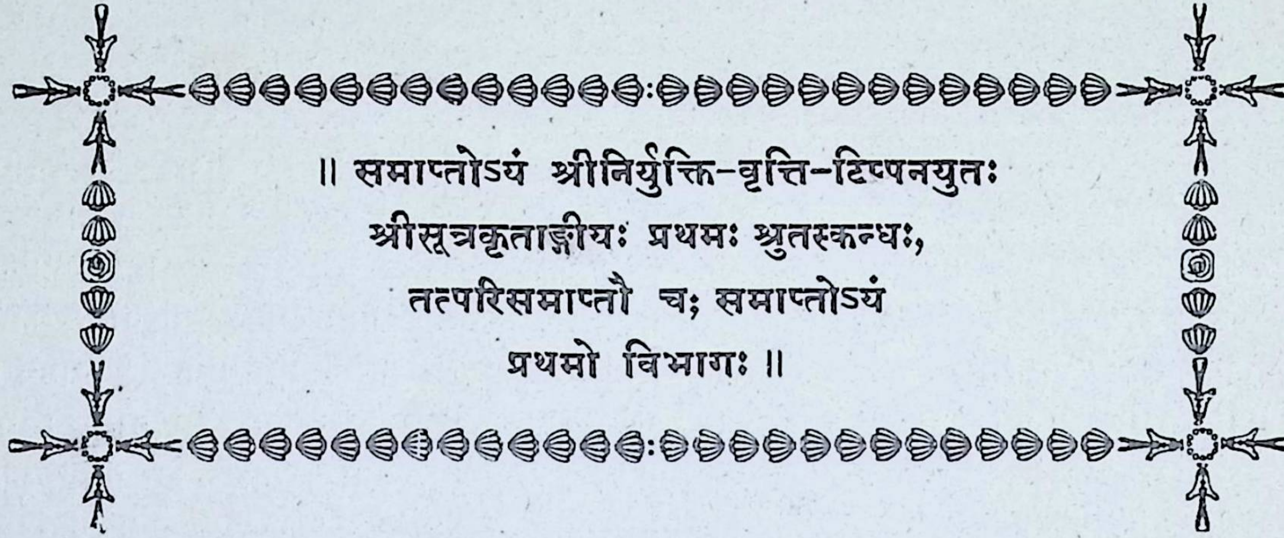
१ धर्मार्थी× आ, इ। २ ×यं आ, इ।

न्यतरकारणाभावादन्यथा ब्रुवते, अतो यन्मयाऽऽदितः प्रभृति कथितं तदेवमेवावगच्छतेति । इतिः-परिसमाप्त्यर्थे । ब्रवीमीति पूर्ववत् । उक्तोऽनुगमः । साम्प्रतं नयाः, ते च नैगमादयः सप्त, नैगमस्य सामान्यविशेषात्मकतया संग्रहव्यवहारप्रवेशात्[1]संग्रहादयः षट्, समभिरूढेत्थंभूतयोः शब्दनयप्रवेशान्नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दाः पञ्च नैगमस्याप्यन्तर्भावाच्चत्वारो, व्यवहारस्यापि सामान्यविशेषरूपतया सामान्यविशेषात्मनोः संग्रहर्जुसूत्रयोरन्तर्भावात् संग्रहर्जुसूत्रशब्दास्त्रयः, [2]ते च द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकान्तर्भावाद्द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकभिधानौ द्वौ नयौ, यदि वा सर्वेषामेव ज्ञानक्रिययोरन्तर्भावात् ज्ञानक्रियाभिधानौ द्वौ तत्रापि ज्ञाननयो ज्ञानमेव [3]प्रधानमाह, क्रियानयश्च क्रियामिति । नयानां च प्रत्येकं मिथ्यादृष्टित्वाज्ज्ञानक्रिययोश्च परस्परापेक्षितया मोक्षाङ्गत्वादुभयमत्र प्रधानं, तच्चोभयं सत्क्रियोपेते साधौ भवतीति, तथा चोक्तम्—"णायम्मि गिण्हियव्वे अगिण्हियव्वंमि चेव अत्थंमि । जइयव्वमेव इति जो उवएसो सो नओ नाम ॥ १ ॥ सव्वेसिंपि णयाणं बहुविहवत्तव्वयं णिसामेत्ता । तं सव्वनयविसुद्धं जं चरणगुणट्ठिओ साहू ॥ २ ॥"त्ति, समाप्तं च गाथाख्यं षोडशमध्ययनं, तत्समाप्तौ च समाप्तः प्रथमः श्रुतस्कन्ध इति ॥ [ग्रन्थाग्रम् ८१०६]

॥ इति श्रीमच्छीलाङ्काचार्यविरचितविवरणयुतः सूत्रकृताङ्गीयः प्रथमः श्रुतस्कन्धः ॥

---

१ ××××षट्° आ । सा. २ तेऽपि च । आ । ३ फलसाधकं, अन्यथा प्रमाणवाक्यतापातात् । ४ ज्ञाते ग्रहीतव्येऽग्रहीतव्ये चैवार्थे यतितव्यमेवेति य उपदेशः स नयो नाम ॥ १ ॥ ५ सर्वेषामपि नयानां बहुविधां वक्तव्यतां निशम्य । तत्सर्वनयविशुद्धं यच्चरणगुणस्थितः साधुः ॥ १ ॥ ६ गाथाषोडशाख्यं षोडशमध्ययनं, ग्रंथतः समस्तश्रुतस्कन्धं नवसहस्राणि अङ्कतोऽपि ९००० । श । श । शुभं भवतु लेखकपाठकस्य । आ । गाथाषोडशाख्यं षोडशमध्ययनं ग्रन्थतः समस्तश्रुतस्कन्धे अङ्कतोऽपि ९००० । इ ।



॥ समाप्तोऽयं श्रीनिर्युक्ति-वृत्ति-टिप्पनयुतः
श्रीसूत्रकृताङ्गीयः प्रथमः श्रुतस्कन्धः,
तत्परिसमाप्तौ च; समाप्तोऽयं
प्रथमो विभागः ॥

॥ शुद्धि–पत्रकम् ॥

पृ.	पुं.	पं.	अशुद्ध	शुद्ध
२	१	१	प्रवृत्त्यर्थ	प्रवृत्त्यर्थं
४	२	३	दुदुंमि	–दुंदुंमि
४	२	१०	भवन्ति	[८]भवन्ति
४	२	१०	चामि	चामी
४	२	१०	[६]छाया	[९]छाया
४	२	१५(टिप्पण)	– ८ भवन्त्येवते आ,	९ छाया च
१३	१	५	ज्ञानसुंक्तं	ज्ञानसुक्तं
१३	२	७	०मवसान०	०मसावन०
१४	२	१०	°त्याम़०	°त्यम०
१९	१	१२	°त्मानेक	°त्मानमेक
२३	१	१०	०मुद्धातेन	०मुद्घातेन
२४	१	११	०चीवधारिणो	०चीवरधारिणो
२४	२	८	°त्तभिाव	°त्तोभाव
२५	१	४	सद्मावात्	सद्भावाद्
३३	२	३	°नियति°	°अज्ञान°
३३	२	१२	०र्वन्धन	०र्बन्धन
३४	२	३	°नियति°	°अज्ञान°
३५	२	३	°नियति°	°अज्ञान°
३६	२	२	कर्तुमसर्थः	कर्तुमसमर्थः
३६	२	३	°नियति°	°अज्ञान°
४३	१	३	°षां सर्वेषां	°षां न सर्वेषां
४५	२	७	ब्राह्म०	ब्रह्म०
४६	१	३	दुःखभ्य	दुःखस्य
४९	१	९	कण्डन	खण्डन
५०	२	५	विपरीतापरम०	विपरीता–परम०
५८	१	९	भवति	भवति
५८	१	१०	°लणम्नि	°लमम्नि
५९	१	९	फवैर्वम्बिताः,	फलैर्वम्बिताः

पृ.	पुं.	पं.	अशुद्ध	शुद्ध
५९	१	१२	वुद्धया	वुद्धया
५९	२	१	तपःसंयये	तपःसंयमे
५९	२	१२	माणेत्युच्यत	माहणेत्युच्यत
६०	२	१	गृहस्थाभा०	गृहस्थभा०
६२	१	७	णाणे सुवि	णाणेसुवि
६२	२	९	°सय°	°संय°
६५	२	१	सुहुमे	सुहुमे
६५	२	७	सुहुहं	सुहुमं
६७	१	१०	तस्यैव०	तस्यैवं०
६७	२	३	करोनि	करोति
६७	२	६	इत्येव	इत्येवं
६८	१	२	छदेण	छंदेण
७५	१	६	सुप्ठु	सुष्ठु
८०	१	४	०याम्वुद	०याम्वुद
८०	२	९	°ष्टान्तिक	°ष्टान्तिक
८८	२	३	कुतस्तवः	कुतस्तव
९२	२	१	सदनुष्ठायिना	सदनुष्ठायिनां
९३	२	२	दुर्वले	दुर्बले
९६	१	१०	राजर्जि०	राजर्षि०
९९	१	६	दोषानुषङ्गः तथा	दोषानुषङ्गः ॥१२॥ तथा
१००	१	१३	विभावावलेपनठितै०	विभवावलेपनहितै०
१००	१	१४	व्यणन्ते	व्यथन्ते
१०१	१	४	संयमान	संयमयान
१०३	१	४	उक्कोसेणंजो	उक्कोसेणं सागरोवमसय पुहुत्तं ति यद्वा जो०
१०४	१	८	धियस्तु	धिगस्तु
१०५	१	३	स्रोणामपि	स्त्रीणामपि
१०५	२	६	दिदर्शनम्	दिग्दर्शनम्
१०६	१	१४	मिच्छति	मिच्छसि
१०८	२	११	क्वचिद्गछेन्नापि,	क्वचिद्गच्छेन्नापि
११५	२	४	स्खलितशील	स्खलितशीलं
११६	,,	,,	,,	,,
११६	२	७	अम्शज्ञाय	अभ्यज्ञाय
११८	१	१०	अलक्ष्वितेर्यो०	अलज्ञितैर्यो०

॥ २७६ ॥

पृ.	पुं.	पं.	अशुद्ध	शुद्ध
१२१	२	१०	स्यादयो	स्वादयो
१२३	२	४	०लेत्तिंआ०	०लेत्तिआ०
१३०	१	६	धर्मस्थानम्	घर्मस्थानम्
१३२	२	८	धर्मप्रधानं	घर्मप्रधानं
१३६	१	७	बहवेदन०	वहुवेदन०
१३६	२	८	આ પંક્તિ પ્રથમ પંક્તિ પછી બીજી પંક્તિ તરીકે વાંચવી.	
१३७	२	१२	फलग[उ]व	फलग[उ]ंव
१४३	२	३	सुधर्मस्वामि	सुधर्मस्वामी
१४७	१	११	तत्त्वात	तत्त्वात्
१४७	२	४	व्पावर्णन	व्यावर्णन
१४९	२	७	उपशात्ता	उपशान्ता
१५०	१	११	तासा	तासां
१५१	१	३	सम्पक्	सम्यक्
१५२	२	१	६ श्रीवीरस्तुत्याख्याऽध्ययने	७ कुशीलपरिभाषाध्ययने
१५४	२	१३	ऽऽसावा	ऽसावा
१५५	२	२	जन्मान्रे	जन्मान्तरे

पृ.	पुं.	पं.	अशुद्ध	शुद्ध
१६४	१	१	हम्माणे	हम्ममाणे
१६५	२	९	तत्राऽऽहारवीर्यं तदुच्यते,	××××××××××××
१७०	२	६	प्रतिज्ञातमेवाह द्रव्यो	प्रतिज्ञातमेवाह ''दव्विए''इत्यादि द्रव्यो
१७४	२	७	श्रीवीरयनाम०	श्रीवीरियनाम०
१७५	२	३	गृत्तिर्विषयेषु	गृद्धिर्विषयेषु
१७८	२	१	पायजरोऊ	पोयजरोऊ
१७९	२	७	मैंथुन०	मैथुन०
१८०	२	१२	शीतोदकपानादिना	शीतोदकादिना
१८०	२	१३	कर्मबन्धनात्येवं	कर्मबन्धनायेत्येवं
१८१	१	१	अपि च–असंयतैः	अपि च 'सपसारी' इत्यादि, असंयतैः
१८१	२	११	पतद्वहधारिण	पतद्ग्रहधारिण
१८१	२	१२	०द्रहः०	०द्ग्रहः
१८३	१	८	मवति	भवति
१८५	२	१०	जस्स [४]सुग्गई	जस्स तवो तस्स [४]सुग्गई
१८६	१	१०	गन्धेषु वा	गन्धेषु रसेषु वा
१८६	१	११	सर्वं तं जमेतत्	सर्वमेतद्

पृ.	पुं.	पं.	अशुद्ध	शुद्ध
१८६	२	८	धर्मोऽभिदितः	धर्मोऽभिहितः
१८६	२	९	वाच्यानि	वाच्यानि
१८७	१	१	०पदणोऽऽ-	०पदेणाऽऽ-
१८७	१	५	आयाणपदणोऽऽ=	आयाणपदेणाऽऽ=
१८७	१	९	०निपन्नस्यैव	०निष्पन्नस्यैव
१८८	१	५	नामनिप्पन्नो	नामनिष्पन्नो
१८९	२	९	विधत्त	विधत्त
१९०	१	१	जीवितार्थी	जीवितार्थी
१९०	२	३	प्रिय–	पिय–
१९१	२	७	करोति उक्तं च	करोतीति उक्तं च
१९१	२	७	परीसहोपसर्गै	परीषहोपसर्गै
१९१	२	८	गार्हस्थ्मप्य–	गार्हस्थ्यमप्य
१९२	२	८	छान्दणं	छन्दणं
१९४	२	८	अट्टेसु	अट्टेसु
१९६	१	२	सूतरां	सुतरां
१९८	२	१	खेत्तमि	खेत्तंमि
१९९	२	४	इड्ढिरसं	इड्ढिरस
१९९	२	९	तवसंजमं	तवसंजम
२००	१	१२	शपाश्रेणि	शमश्रेणि
२०१	१	१	विवरवर्ती	विवरवर्ती
२०१	१	१२	युंष्मान्	युष्मान्
२०१	२	९	चरितलंभो	चरित्तलंभो
२०८	१	११	तद्दुःख,	तद्दुःखं
२०८	२	१	०मिच्छन्ति	०मिच्छति
२०८	२	१०	गर्भाद्गभं	गर्भाद्गर्भं
२१५	१	६	पडिक्क०–	पाडिक्क०
२१६	२	७	सर्वेज्ञ०	सर्वज्ञ०
२१६	२	७	सर्वेज्ञ०	सर्वज्ञ०
२१६	२	८	तत्प्रणीतागमाव०	तत्प्रणीतागमव०
२२०	१	१२	०नुवार्दा	०नुवादी
२२०	२	१	कान्तक०	कान्तिक०
२२१	२	३	०लभ्यन्ते	०लभ्यते
२२२	१	८	वत्स्वभावः	वस्त्वभावः
२२३	१	५	तीर्थिकानां	तीर्थिकानां
२२५	२	३	प्रधान्य०	प्राधान्य०
२२५	२	६	अनेप्रकारं	अनेकप्रकारं

पृ.	पुं.	पं.	अशुद्ध	शुद्ध
२२५	२	८	स्वम्भुर०	स्वयम्भुर०
२२५	२	९	सम्यग्रदर्शन०	सम्यग्दर्शन०
२२६	१	२	०ज्ज्वात्मंक	ज्ज्वात्मकं
२२६	२	२	भावान्त०	भवान्त०
२२८	१	८	कुर्यु:	कुर्युः
२२९	१	९	पुण्यपापे यो च	पुण्यपापे च यो
२३०	१	२	०छेपवत्००	छेषवत्
२३१	१	१३	वैधर्म्योदा०	वैधर्म्योदा०
२३१	२	२	तम्मादनित्य	तस्मादनित्य
२३२	१	१	०प्रतिक्षपरिग्रहेण	०प्रतिपक्षपरिग्रहेण
२३२	१	२	सम्यग्धेतूनामपि	सम्यग्घेतूनामापि
२३२	२	२	वायुकाशं	०वायुराकाशं
२३२	२	३	दिमात्मा	दिगात्मा
२३२	२	९	सर्वमंपि	सर्वमपि
२३४	१	६	गुणिमन्तरे०	गुणिनमन्तरे०
२३६	१	१२	परिणामिको	पारिणामिको
२३७	१	१	आचार्या:	आचार्याः
२३८	२	३	०गमावि०	०र्गमावि०
२४३	२	५	वालसदृशै०	वालसदृशै
२४४	२	६	०मूछित:०	०मूर्छितः०
२४४	२	८	०मूछितस्य	०मूर्छितस्य
२४५	१	९	घमं	धर्म
२४८	२	८	ब्रह्मचर्यगु०	ब्रह्मचर्यगु०
२५०	१	१०	वितिर्गिच्छ०	वितिगिच्छ०
२५४	१	९	सुट्ठिचा	सुठिचा
२५६	१	९	वियागरंज्जा	वियागरेज्जा
२५८	१	११	दृष्टि	दृष्टिं
२५९	१	२	गाह्यक्यो	गाह्यवाक्यो
२६०	१	१	०योर्निक्षेपो०	०योर्निक्षेपो
२६४	१	११	म्रियते	भ्रियते
२६६	१	६	०मेतत्मैथुनं	मेतन्मैथुनं
२६७	२	८	चोक्तत्	चोक्तम्
२७०	१	८	संन्वधेना०	संबन्धेना०
२७०	२	५	मद्यथा	तद्यथा

॥ संपादकीय-प्रकाशनो ॥

	नाम	प्रकाशन-वि. सं.	किंमत	नकल
१	श्रीअक्षयनिधि तपोमहात्म्य.	१९९३	भेट ×	१०००
२	श्रीहेमचन्द्र-कृति-कुसुमावली.	१९९८	,, ×	१०००
३	श्रीजिनचन्द्र-सुधास्यंदिनी.	१९९९	,, ×	१०००
४	श्रीवृहद्-योगविधि.	२०००	,,	१०००
५	श्रीजिनचन्द्रकान्त-सुधास्यंदिनी.	२०००	,, ×	१०००
६	श्रीवर्द्धमान-तपोमहात्म्य.	२००१	,, ×	१०००
७	श्रीपंचप्रतिक्रमणसूत्राणि-विधियुक्त.	२००४	रु. १-२-०	१०००
८	श्रीसिद्धहेमचन्द्र-शब्दानुशासनम्।	२००३	रु. ३०-०-०	१०००
९	श्रीसिरिसिरिवाल-चरित्तं	२००४	रु. ३-०-०	५००
१०	श्रीताम्रपत्रारूढ-सिरिसिरिवाल चरित्तं	२००४	रु २५०१-०-०	१
११	श्रीपंचाशक-शास्त्र-सारांशः विभाग १ लो	२००५	रु ३-०-०	१०००

प्रेसमां.

	नाम	नकल
१	श्रीपंचाशक-शास्त्र-सारांश. विभाग २ जो	१०००
२	श्रीविंशति-विंशिका-सारांश.	१०००
३	श्रीविंशति-विंशिका-रहस्य.	५००
४	श्रीसिद्धहेमचन्द्र-शब्दानुशासनम् विभाग-२ जो.	१२५०
५	श्रीसिद्धहेमचन्द्र-शब्दानुशासन-वृहद्वृत्ति-अवचूर्णि.	५००
६	श्रीवीतरागस्तोत्र मूळ-अवचूर्णि-भाषांतर.	५००
७	श्रीभगवती सूत्रनां व्याख्यानो प्रथम शतक व्याख्याता पू.आगमोद्धारक	१०००
८	,, ,, ,, आठमुं शतक. ,, ,,	६५०
९	श्रीपाक्षिकवृत्ति.	५००
१०	श्रीसूत्रकृतांगसूत्र.	१०००
११	श्रीसुधावर्षा	५००
१२	श्री श्रद्धादिपोषक-सुधाब्धिः	५००

ता. कः—आ सिवाय दर महिने संपादकनी देखरेख नीचे श्री. सिद्धचक्र-मासिकनुं प्रकाशन चालु छे × आ निशानवाळा ग्रंथो सिलकमां नथी.

प्राप्तिस्थान }
श्रीसिद्धचक्र-साहित्य-प्रचारक-समिति, चांल्लागली, सुरत
श्री ऋषभदेवजी छगनीरामजीनी पेढी, खाराकुवा; उज्जैन-(मालवा).
शा. चीमनलाल लवाहचंद. ठे. गळेमंडी, गोळशेरी; मु. सुरत.

